

😘 श्री वीतरागाय नमः 😘

भी प्रभाचन्द्राचार्यं प्रग्रीत

# प्रमेयकमल मार्त्तण्ड

[ द्वितीय भाग ]



त्रनुवादिकाः

पू॰ विदुषी १०५ श्री आर्थिका जिनमती मातानी





मुद्रक : पाँचूलाल जैन कमल प्रिन्टसं मदनगंज—किञ्ञनगढ़ ( राज• )

# इस प्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी द्वय प्रदाता प्रवास प्रवस्ता प

### परमपूज्य, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चक्रवर्ती, आचार्यप्रवर १०८ श्री शांतिसागरजी महाराज



पचेन्द्रियस्निर्दान्त, पंचसंसारभी हकम् । शातिसागरनामानं, सूरि वदेऽघनाशकम् ॥

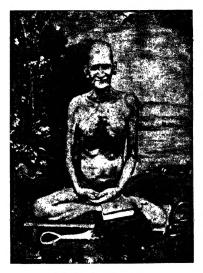
जन्म : ज्येष्ठ कृष्णा ६ वि० सं० १६२६

श्रुक्तक दीक्षा: ज्येष्ठ शुक्ला १३ वि० सं० १६७० उत्तर ग्राम (कर्नाटक) मृति दीक्षा:

फाल्गुन शुक्ला १४ वि० सं० १९७४ यरनाल ग्राम (कर्नाटक)

समाधि : द्वितीय भाद्रपद वि० सं० २०१२ कुन्यलगिरि सिद्धक्षेत्र  परमपूज्य, प्रातःस्मरणीय, आचार्यप्रवर

### १०८ श्री वीरसागरजी महाराज



चतुर्विधगरौः पूज्य, गंभीरं सुप्रभावकम्।

जन्म:	क्षुल्लकदीक्षाः	मुनि दीक्षा:	समाधि:
ग्राषाढ पूर्शिमा	फाल्गुन शुक्ला ७	, गंभीरं सुप्रभावकम् । म, मृरिशुणविभूषितम् ॥ मृति दीक्षाः भ्राप्तिन सुक्ताः ११ वि•सं०१६८१ समडोली (महाराष्ट्र)	भ्राश्विन स्रमावस्या
व० सं० १६३२	वि० सं• १६८०	वि० सं० १६८१	वि० सं० २०१४
र ग्राम (महाराष्ट्र)	कुम्भोज (महाराष्ट्र)	समडोली (महाराष्ट्र)	जयपूर (राज०)

### परम पूज्य तपसी भाचार्यव्रवर १०५ श्री शिवसागरजी महाराज



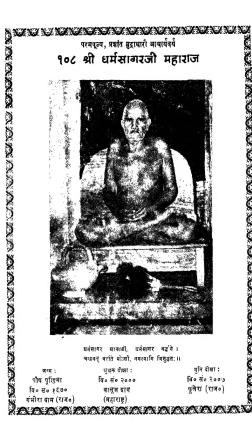
तपस्तपति यो नित्य, कृषागो गुरापीनकः । शिवसिन्धुगुरुं वदे, भव्यजीवहितकरम् ॥

जन्म: वि० सं० १६५८ श्रडग्राम (महाराष्ट्र)

सुह्रकदीका: वि०स०२००१

व०स∙२००१ सिद्धवरक्ट मुनि दीक्षाः जिल्लाम् २००६

वि० सं• २००६ नागौर (राज०) समाधि : फाल्गुन श्रमावस्या फाल्गुन भगावस्या वि० सं० २०२४ श्रीमहावीरजो



THE MANAGEMENT THE PROPERTY OF THE PARTY OF

### विषय परिचय

श्राचार्य श्री प्रभाचन्द्र विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के राष्ट्रभाषानुवाद का यह द्वितीय भाग पाठकों के हाथ में है। मूल संस्कृत ग्रन्थ वारह हजार क्लोक प्रमाण मुविस्तृत है श्रतः इसको तीन भागों में विभक्त किया, प्रथम भाग सन् १९७५ में प्रकाशित हो चुका था, द्वितीय यह है और तृतीय भाग श्रागे प्रकाशित होगा, तीनों में समान समान रूप से ही ( चार चार हजार क्लोक प्रमाण ) संस्कृत टीका समाविष्ट हुई है।

श्री माणिक्यनंदी आचार्य विरिवत परीक्षामुख नामा सूत्र ग्रन्थ की टीका स्वरूप यह प्रमेयकमलमार्तण्ड है, परीक्षामुख के कुल सूत्र २१२ हैं (प्रत्यिभज्ञान के उदाहरणों के एक सूत्र में समाविष्ट करके एवं तर्क के उदाहरणा सूत्र को एकत्र करके २०५ संख्या गिनने की परिपाटी भी है) इनमें से प्रथम भाग में १६ सूत्र समाविष्ट थे, इस द्वितीयभाग में १०६ सूत्र हैं, शेष सूत्र तृतीय भाग में रहेंगे।

जीवादि पदार्थ या घट पट ध्रादि यावन्मात्र विश्व के चेतन अचेतन पदार्थों को 'प्रमेय' कहते हैं उन प्रमेय रूपी कमलों के लिये मार्राण्ड प्रयांत् सूर्यं कीन हो सकता है तो वह प्रमारा ही हो सकता है, हमारे इस ग्रन्थ में प्रमाण का ही मुख्यदृश्या प्रति-पादन है जतः इसका सार्थंक नाम "प्रमेयकमलमार्राण्ड" है। प्रमेयों को जानने वाले प्रमाण के विषय में दार्शनिक जगत् में बिवाद है, नैयायिक कारक साकत्य को (पदार्थं को जानने की बाह्य सामग्री को) और वैशेषिक इन्द्रिय और पदार्थं आदि के सिक्षकर्षं को प्रमाण मानते हैं, ऐसे ही बौद ध्रादि परवादियों के विविध ध्राग्नह हैं, जैन ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं रमें कि पदार्थं को जानने के लिये अज्ञान का विरोधी ज्ञान हो हो सकता है, अज्ञान स्वरूप घटादि को अज्ञान रूप हो से प्रकाश क्या प्रमुख हो सकती है ? क्या प्रप्रकाश स्वरूप वस्तु को प्रप्रकाश रूप पदार्थं प्रकाशित करने के लिये प्रकाश स्वर्भाव वाले प्रदीप आदि ही समर्थ हो सकते हैं उसी तरह घटादि को जानने के लिये ज्ञान स्वर्भाव वाले प्रदीप आदि ही समर्थ हो सकती हैं उसी तरह घटादि को जानने के लिये ज्ञान स्वभाववाला प्रमाण ही समर्थ हो सकता है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम भाग में हो चुका है।

इस द्वितीय भाग में बीस प्रकरण हैं आगे इनमें आगत विषयों का परिचय दिया जाता है—

प्रयं कारणवाद - बौद्ध एवं नैयायिक ज्ञान को पदार्थ का कार्य मानते हैं इनका कहना है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर ही उसको जानता है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो प्रतिकर्म व्यवस्था प्रथात् अमुकज्ञान अमुक पदार्थ को ही जानता है अन्य को नहीं ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए जैनाचार्य ने कहा कि प्रतिकर्म व्यवस्था तो ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के अनुसार हुआ करती है अर्थात् जिस जिस वस्तु को जानने का धातमा में क्षयोपशम हुआ है उसी उसी को वह क्षायोपशमिक ज्ञान जान लेता है अन्य को नहीं। पदार्थ को जानने के लिये प्रकाश की नियम से प्रावश्यकता रहती है ऐसा नैयायिक का मनव्य है इसका निरसन तो सिंह, बिलाव, उल्लू श्रादि के प्रकाश के श्रमाव में ज्ञान होते हुए देखकर ही हो जाता है।

आवरण सिद्धि—संवर निजंरा सिद्धि — आत्मा के ज्ञानादि शक्ति को रोकने वाला कोई पदार्थ अवश्य है किन्तु वह अविद्या या शरीरादिक न होकर सूक्ष्म जड़ स्वरूप पुद्गल नामा तत्त्व ही है। अद्वैतवादो अविद्या को आवरण मानते हैं, नैयायिकादि तो अहण्ट नाम के आत्मा के गुण को ही आवरण मानते हैं। इनका कमशः निराकरण करते हुए कहा है कि अविद्या को अद्वैतवादी ने काल्पनिक स्वीकार किया है अतः वह वास्तविक ज्ञान का आवरण नहीं कर सकती, तथा अहण्ट गुण भी आव ण नहीं हो सकता, आत्मा का ही गुण और आत्मा को ही परतंत्र करे, आवृत करे ऐसा असंभव है। परवादी की यह आशंका है कि अमूर्त ज्ञान गुण वाले आत्मा को मूर्त पुद्गल कमं कैसे आवृत कर सकता है। इसका समाधान नो मदिरा के हट्टांत से हो जाता है, मदिरा मूर्तिक होकर भी आत्मा के ज्ञान को विस्मृत या मत्त करा देनी है वैसा मूर्तिक कमं ज्ञानादि को आवृत करता है। इस प्रभाव आवरण की सिद्धि होने पर उस आवरण को किम प्रकार दूर किया जाय यह प्रका होता है, मीमांसक पूर्ण ज्ञानी मर्वज को नहीं मानते व्योकि ज्ञान का आवरण सर्वेषा नष्ट होना अवस्य है ऐसा उनका कहना है, किन्तु जिस प्रकार अनादिकाल से चला प्राया जलादि का शीत-स्पर्ण अमिन संयोग होने पर नष्ट होता है अथवा प्रमादिकालीन बीज अंकुर की परंपरा

नष्ट होती है उसी प्रकार धनादि प्रवाह रूप से चले आये आवरण कर्म संवर एवं निर्जरा द्वारा नष्ट होते हैं ऐसा सिद्ध होता है।

सर्वज्ञत्ववाद-भारतीय दर्शनों में मीमांसक और चार्वाक ये दो दर्शन ऐसे हैं कि जो सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार नहीं करते । मीमांसा श्लोकवात्तिक में सर्वज्ञ के निषेध करने हेत अनेक युक्तियां दी गयी हैं, उन सबको पूर्व पक्ष में रख कर श्री प्रभावदाचार्य ने बहुत सुन्दर रीति से उन यक्तियों का निराकरण किया है। सर्वज्ञ का वर्त्तमान में ग्रभाव होने के कारण मीमांसक ने उनके द्वारा ग्रभीष्ट छहों प्रमाणों से सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञ के ज्ञान का अभाव करने का असफल प्रयत्न किया है, उनका कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ की उपलब्धि नहीं होती, अनुमान प्रमाएा भी साध्याविनाभावी हेल के नहीं होने से सर्वज्ञ भगवान अथवा सकल विषयों के ग्राहक पूर्ण ज्ञान को सिद्ध नहीं कर सकता है। ग्रागम प्रमाण यदि नित्य है तो उससे ग्रनित्य रूप सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती न नित्य ग्रागम रूप वेद में उसका उल्लेख है, और यदि ग्रनित्य ग्रागम से सर्वज्ञ को सिद्ध करना चाहे तो वह इतना प्रमाणभूत नहीं है। ग्रथीपत्ति एवं उपमा भी सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध नहीं करती अतः अभाव प्रमाण द्वारा सर्वज्ञ का अभाव ही सिंढ होता है। जैनाचार्य ने कहा कि प्रत्यक्षादि प्रमाण से सर्वज्ञ की सिंढि नहीं होती अपित सुनिश्चित अनुमान प्रमाण मे होती है - "सूक्ष्मांतरितादि पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः ग्रनुमेयत्वात अग्निवत" इत्यादि निर्दोष ग्रनुमान द्वारा सर्वज्ञ की सत्ता भली-भांति सिद्ध होती है। सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं होता खतः मीमांसक का यह कहना कि "सर्वज्ञ यदि अशेष पदार्थों को जानता है तो मांस, मल आदि अणुचि पदार्थों का सेवक कहलायेगा, क्योंकि उन पदार्थों को रसना ग्रादि इन्द्रियों से जानता है" सर्वथा हास्यास्पद ठहरता है। मीमांसक ने एक मार्मिक प्रश्न किया है कि सर्वज्ञ के पूर्ण ज्ञान प्रगट होते ही सकल पदार्थ साक्षात हो जाते हैं ग्रत: आगे के समय में या तो वह असर्वज्ञ हो जायेगा या उसका ज्ञान अपूर्वार्थग्राही नहीं होने से अप्रामाणिक कहलायेगा ? इस मार्मिक प्रश्न का उत्तर भी उतना ही मार्मिक दिया गया है कि ... "पूर्व हि भाविनोऽप्रक्षी भावित्वेनोत्पस्यमानतया प्रतिपन्ना न बर्नमानत्वेनोत्पन्नतया वा. सापि उत्पन्नता तेषां भवितव्यतया प्रतिपन्ना न भूततया । उत्तरकालं तू तद् विपरीतत्वेन ते प्रतिपन्नाः यदा हि यद धर्म विशिष्टं वस्त तदा तज्ज्ञाने तथैव प्रतिभासते नान्यथा, ्विभ्रमप्रसंगात्। इति कथं ग्रहीतग्राहित्वेनाप्यस्या प्रामाण्यम् ?" अर्थात् पहले जो पदार्थ भावी थे उन्हें भावी रूप से ज्ञात किया जाता है वर्त्तमान रूप से नहीं। उत्तर काल में इससे विपरीत रूप से ग्रर्थात् वर्त्तमान रूप से ज्ञात किया जाता है, मात्री रूप से नहीं। क्योंकि जो वस्तु जिस समय जिस धर्म विशिष्ट होती है, उसे उस समय वैसा ही ज्ञात किया जाता है, अन्यथा रूप से नहीं इत्यादि।

ईश्वरवाद — विश्व के संपूर्ण पदार्थ ईश्वर द्वारा निर्मित हैं ऐसी नैयायिक वैशेषिक की मान्यता है, पृथ्वी, पर्वत, शरीरादि पदार्थ कार्यरूप हैं ग्रतः इनका कोई कर्त्ता भ्रवश्य होना चाहिये, तथा ये पदार्थ अचेतन होने से स्वयं कार्यशील नहीं हो सकते उनको तो कार्य रूप कराने व ला कोई चेतन रूप पदार्थ चाहिये, जैसे मिट्टी श्चचेतन होने से स्वयं घट रूप नहीं होती किन्तु चेतन कुंभकार द्वारा घट रूप होती है ऐसे ही पथ्वी ग्रादि कार्य किसी चेतन द्वारा निर्मित होने चाहिये। वह चेतन शक्ति. ज्ञान एवं इच्छा व ला होना भी आवश्यक है अन्यथा वह कार्यनहीं कर सकेगा इस प्रकार संपूर्ण पदार्थों को निर्माण करने की शक्ति आदि से संयुक्त जो कोई चेतन है वह ईश्वर है ग्रौर वह ग्रनादि निधन है। ईश्वर वादी के इस मंतव्य का सयक्तिक खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि विश्व का कोई एक सर्व शक्तिमान कर्ता नहीं है किन्त्र प्रत्येक पदार्थ स्रंतरंग बहिरंग कारणों से स्वयं कार्य रूप परिणमन करते हैं, यदि ईश्वर द्वारा सष्टि रची होती तो दीन दुःखी म्रनाथ मनुष्य, कुर पशु, म्रादिकी उत्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती क्योंकि परम दयाल ईश्वर द्वारा ऐसी रचना होना सर्वथा ग्रसंभव है। तथा ईश्वर के शरीर ही नहीं है, केवल इच्छा या ज्ञान मात्र से विश्व का कार्य करना ग्रसंभव है। ग्रचेतन कार्यशील स्वयं नहीं होते ऐसा कहना ग्रसत् है। मेघ इन्द्रधनुष ग्रादि पदार्थ अचेतन होकर भी स्वयं कार्यशील होते हए देखे जाते हैं। पृथिवी आदि कार्यों का कर्त्ता कोई ना कोई होना चाहिए ऐसा जो कहना है सो इनका निर्माण स्वयं के उपादानभूत परमागुधों में एवं बाध्य निमित्तभूत अनेक सामग्री से हो जाया करता है उनके लिये ईश्वर की ग्रावश्यकता नहीं होती इत्यादि ग्रनेक प्रकार से ईश्वरकर्तृत्व का निरास होता है।

प्रकृतिकर्तृत्ववाद — सांख्य प्रकृति को सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं — प्रकृति से महान् ( दुिब्ध ) महान से अहंकार, उससे घोडशगण उससे पंचभूत प्रादुर्भृत होते हैं । सांख्य सत्कार्यवादी कहलाते हैं इनके यहां कारण में कार्य मौजूद ही रहता है ऐसा माना है। ग्राचार्य ने इस बाद का सयुक्तिक निरसन किया है, प्रकृति ग्रीर पुरुष दोनों

ही सवंपा नित्य स्वीकार करने से सांख्य का प्रकृतिकर्तृंत्व कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य में किसी प्रकार परिणमन नहीं हो सकने से किसी के प्रति कारण-पना होना प्रशक्य है। प्रकृति से बुद्धि का प्रायुभिव मानना तो हास्यास्पद ही है क्योंकि प्रवेतन प्रकृति से चेतन के धमं स्वरूप बुद्धि का निर्माण कैसे संभव है ? सत्कायंबाद के सिद्धि के लिये दिये गये असत् अकरणात् इत्यादि पंच हेतु विपक्षभूत असत् कायंबाद को ही सिद्ध कर देते हैं। सांख्यमत में कोई तो केवल प्रकृति को ही सृष्टिकत्तां मानता है ग्रीर कोई प्रकृति और ईश्वर को कर्ता मानते हैं किन्तु चाहे प्रकृति हो, चाहे प्रकृति और ईश्वर हो दोनों हो जक कृत्य्य नित्य हैं तब उनके द्वारा कार्य की संभावना नहीं की जा सकती अंत में यही निर्वाप रीत्य सिद्ध होता है कि विश्व के यावग्यान नहीं की जा सकती अंत में यही निर्वाप रीत्य सिद्ध होता है कि विश्व के यावग्यान वितन अचेतन पदार्थों का कोई एक सवं शक्तिमान कर्ता नहीं है प्रपितु मनुष्यादि के शरीरादिवक्त कर्ता तो कर्म एवं द्वव्यादि सामग्री है एवं अचेतन कार्यों में से कोई कार्य तो स्वयं अचेतन से ही ग्राधिष्टित है किन्तु वह चेतन भी ईश्वर न होकर सामाग्यतः कोई भी प्राणी विशेष है।

कवलाहारिवचार - श्वेताम्बर जैन प्ररहंत प्रवस्था में भगवान के भोजन ग्रहण होना मानते हैं इनका यह ग्राग्रह है कि बिना भोजन के कुछ कग पूर्व कोटि वर्ष तक उत्कृष्ट रूप से केवली का शरीर टिक नहीं सकता । किन्तु यह कथन सिद्ध नहीं होता है भगवान केवल जानी के परम ग्रीदारिक शरीर है हम जैसे का सामान्य ग्रीदारिक नहीं, दूसरी बात उक्त शरीर के लिये प्रतिक्षण दिव्य सुक्ष्म महानपुष्टिकारक ऐसे नोकर्माहार रूप परमागु प्राया करते हैं इन्हीं से उनका शरीर ग्रवस्थित रहता है। केवली के राग द्वेष का सर्वथा ग्रमाब होता है प्रतः वह भोजन नहीं करते, भोजन तो इच्छा पूर्वक किया जाता है, तथा जब उनके प्रनंतवीर्य का सद्भाव है तब भोजन से प्रयोजन भी क्या रहता है ? यदि जबरदस्ती माना या कि वे ग्राहार करते हैं तो गृहस्थ के घर में जाकर भोजन करते हैं या समवशरण में श घर में जाकर करते हैं तो महान का लाम होना है वहीं सीधे जायेंगे तो गोचरिवृत्ति नहीं रही ग्रीर वैसा नहीं जाते तो दीनता एवं अज्ञानता दिखाई देती है, समवशरण में भोजन करते हैं तो महान ग्रासादना हुई ? भोजन करके प्रतिक्रमण करना होगा ग्रवः इनके सदीपता सिद्ध होती है। अंत में मुक्तलाकर यदि यह कहे कि भगवान ग्राहार करते हुए दिखायी नहीं देते क्योंकि उनका ऐसा ही ग्रतिश्वार है तो फिर भोजन नहीं करता रूप ग्रुति

स्रभाव नामका स्रतिक्षय ही क्यों न माना जाय ? स्रतिक्षय ही मानना है तो यही स्रतिक्षय संगत है व्यर्थ के द्राविड़ी प्राणायाम से क्या प्रयोजन ?

मोक्षस्वरूप विचार-मोक्ष का क्या स्वरूप है इस विषय में वैशेषिक आदि परवादियों में विवाद है-वैशेषिक बृद्धि आदि आत्मीक विशेष गुणों के उच्छेद होने को मोक्ष कहते हैं। ग्रह त उपासक वेदांती नित्य भानंद स्वरूप मोक्ष मानते हैं। विश्रद्ध ज्ञान की उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्ध का मंतव्य है। प्रकृति श्रौर पुरुष के भेद का दर्शन होने पर चैतन्य पुरुष का स्व-स्वरूप में अवस्थान होना मोक्ष है जिसमें कि ज्ञानादि का भी स्रभाव है ऐसा सांख्य का कहना है। किन्तू इन सबका प्रतिपादन सिद्ध नहीं होता । इस मोक्ष विचार प्रकरण में प्रथम ही वैशेषिक नैयायिक ने अपने बुद्धि आदि गणों का उच्छेद होना रूप मोक्ष का लक्षण करके ग्रन्य वेदांती आदि के मोक्ष स्वरूप का निरसन किया है फिर जैन ने इन यौग के प्रति प्रपनी स्याद्वादमय सशक्त लेखनी द्वारा प्रतिपादन किया है कि बुद्धि ग्रादि ग्रात्मा के गुणों का उच्छेद होना ग्रसंभव है, क्योंकि गुणी आत्मा से बुद्धि ग्रादि गुण अभिन्न है, यदि इन गुणों का उच्छेद होगा तो भातमा का भी उच्छेद मानना होगा, आत्मा को बुद्धि आदि से पृथकु मानकर समवाय से उनको संयुक्त करने का मंतव्य तो पहले से ही निराकृत हो चुका है। बौद्ध के विशुद्ध ज्ञानोत्पत्ति होने रूप मोक्ष का लक्षण कथंचित ठीक होते हए भी सर्वथा क्षणिकवाद में तत्वज्ञान का ग्रभ्यास, अभ्यास से सरागज्ञान का नाश और उससे विराग ज्ञान उत्पन्न होना इत्यादि कार्य सिद्ध नहीं हो सकते हैं। वेदांती का ग्रानन्द रूप मोक्ष भी इसलिये निराकृत होता है कि वे लोग इस ग्रानन्द को नित्य मानते हैं जब वह नित्य है तब संसार ग्रवस्था में भी संभव है फिर मोक्ष और संसार में भेद ही काहे का ? सांख्या-भिमत मोक्ष का लक्षण भी सदीव है, प्रथम तो यह दोव है कि सर्वथा नित्यवाद में प्रकृति ग्रौर पुरुष के संसर्ग का अभाव होना पुनश्च पुरुष का चैतन्य मात्र में ग्रवस्थान होना इत्यादि परिवर्त्तन होना संभव नहीं, दूसरा दोष यह है कि यौग के समान इन्होंने भी मोक्ष में ज्ञानादि का अभाव स्वीकार किया है ग्रतः ऐसा मोक्ष का लक्षण सिद्ध नहीं होता, न ऐसे मोक्ष के लिये कोई बुद्धिमान प्रयत्नशील ही हो सकता है। इस प्रकार विभिन्न भीक्ष लक्षणों के निराकृत हो जाने पर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सूख एवं ग्रनंत वीर्य इत्यादि ग्रात्मीक गुणों का पूर्ण रूपेण विकसित होना मोक्ष है यही मोक्ष का लक्षण निराबाध एवं निर्दोष सिद्ध होता है।

स्त्रीमुक्तिविचार—उपर्युक्त मोक्ष की प्राप्ति पुरुष को होती है वर्तमान में जो जीव स्त्री का शरीर धारण किये हुए है उसको मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि संयम एवं ध्यान को स्त्री उत्कृष्ट रूप से धारण नहीं कर सकती, वस्त्र त्याग करना प्रसंभव होने से तज्जन्य हिंसा भी ग्रनिवार्य है। क्ष्वेतांवर स्त्री को मुक्ति होना स्वोकार करते हैं श्रोर उसके लिये "पुवेदं वेदंता"" इत्यादि ग्रागमोक्त गाथा को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं किन्तु वह असत् है, उक्त गाथा भाव वेद की अपेक्षा प्रतिपादन कर रही है न कि द्रव्यवेद की ग्रपेक्षा। अतः यह निश्चय करना चाहिये कि स्त्री को उसी भव से उसी स्त्री लिंग रूप द्रव्य प्राकारधारी शरीर से मोक्ष प्राप्ति होना अशक्य है, हां स्त्री पर्याय से अपने योग्य तपश्चरण करके ग्रागामी भव में पुरुष लिंग धारण कर पूर्ण संयमी दिगम्बर मुनि बनकर वह मोक्ष जा सकती है।

स्मृतिप्रामाण्यवाद — बौद्धादिव।दी स्मृतिज्ञान को प्रामाणिक नहीं मानते किन्तु यह मान्यता असत् है, स्मृतिज्ञान को सत्य नहीं माना जाय तो जगत का लेन देन का कार्य समाप्त होगा. अभ्यास भावना विद्यार्थी का विद्याध्यम ग्रादि संपूर्ण कार्य सिद्ध नहीं हो सकेंगे, तथा किसी किसी विषय में स्मरण ज्ञान व्यभिचरित होता है अर्थात् ग्रसत्य सिद्ध होता है इसलिये उस ज्ञान को सर्वया अप्रमाण माना जाय तो प्रत्यक्षादि ज्ञान को भी अप्रमाण मानना होगा? क्योंकि यह भी क्वचित कदाचित् व्यभिचरित होता है।

प्रत्यभिज्ञान—स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान को भी बौद्ध स्वीकार नहीं करते, मोमांसकादि यद्यपि इसे स्वीकार करते हैं किन्तु उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं । इन मतों का निराकरण करते हुए यह सिद्ध किया है कि अनुमान आदि अन्य प्रमाण के समान प्रत्यभिज्ञान भी एक पृथक् प्रविभास बाला प्रमाण है जैसे अनुमान का प्रत्यक्ष में अंतर्भाव नहीं होता वैसे इसका भी नहीं हो, सकता । तथा बौद्ध यदि इस ज्ञान को प्रमाणभूत नहीं मानेंगे तो उनका क्षणिकत्ववाद समान्त होगा क्योंकि जो सत् होता है वह सर्व ही क्षणिक होता है ऐसा संकलात्मक ज्ञान हुए बिना साध्यसाधन रूप अनुमान का जदय हो नहीं हो सकता और अनुमान के बिना क्षणभंगवाद भी सिद्ध नहीं हो सकता ।

तर्क प्रमाण—चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी प्रवादी अनुमान प्रमाण को स्वीकार करते हैं किन्तु साध्यसायन के अविनाभाव को विषय करने वाले तर्क प्रमाण के अभाव में अनुमान प्रमाण का प्रादुर्भाव असंभव है, बात तो यह है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान इन प्रमाणों में पूर्व पूर्व प्रमाणों की आवश्यकता रहती है स्थित प्रत्यक्ष से अनुभूत विषय में ही स्मृति होती है, स्मृति और प्रत्यक्ष का संकलन स्वरूप प्रत्यक्षिज्ञान होता है, तथा तर्क साध्य साधन के सम्बन्ध का स्मरण एवं संकलन हुए बिना प्रवृत्त नहीं हो सकता। ऐसे ही अनुमान को पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा हुआ करती है अत: निश्चय होता है कि अनुमान के साध्य साधन रूप प्रवयवों के सम्बन्ध को अहण करने वाला तर्क एक प्रथक्षुत प्रमाण है।

अनुमान प्रमाण का लक्षण (साधनात् साध्य विज्ञानमनुमानम् ) ग्रीर हेतु का लक्षण (साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ) करते ही बौद्ध प्रपने हेतु का लक्षण उपस्थित करते हैं कि पक्षधर्म सपक्षसत्व ग्रीर विषक्ष न्यावृत्ति इस तरह त्रैक्ष्य (तीन रूप) ही हेतु का लक्षण होना चाहिये श्रन्यथा उक्त हेतु सदीव होता है। इस त्रैक्ष्यवाद का निरसन तो इतिकोदयादि पूर्वचर हेतु मे ही हो जाता है, श्रव्यात् "उदेध्यति सुहूर्तान्ते शकटं इतिकोदयात्" इत्यादि श्रदुमानगत हेतु में पक्ष धर्मादि रूप नहीं होते हुए भी ये श्रपने साध्य के साधक होते हैं श्रतः हेतु का लक्षण कैक्ष्य नहीं है।

पांचरूप खण्डन — नैयायिक हेतु का लक्षण पांच रूप करते हैं – पक्ष धर्म, सपक्षसत्व, विपक्षच्यावृत्ति, ग्रसत्व विपक्षत्व और ग्रवाधित विषयत्व, यह मान्यता भी बौद्ध मान्यता के समान गलत है क्योंकि इसमें भी वही दोष ग्राते हैं, ग्रर्थात् सभी हेतुओं में पांचरूप्यता का होना जरूरी नहीं है। पांचरूप्यता के नहीं होते हुए भी कृतिकोदयादि हेतु स्वसाध्य के साधक देखे जाते हैं।

अनुमान त्रैविध्यनिरास — पूर्वबन्, शेपवत् श्रौर सामान्यतोहष्ट ऐसे स्रनुमान के तीन भेद नैयायिक के यहां माने जाते हैं, इनके केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी झादि विभाग किये हैं किन्तु यह सिद्ध नहीं होता, सभी अनुमानों में अविनाभावी हेतु द्वारा स्वसाध्य को सिद्ध किया जाता है अतः उनमें पूर्ववत् श्रादि को नाम भेद करना व्यर्थ है।

ग्रविनाभावादिका लक्षण एवं हेतुग्रों के सोदाहरण बावीस भेद – ग्रविनाभाव का लक्षण, साध्य का स्वरूप, पक्ष का लक्षण, ग्रनुमान के अंग, उदाहरण, उपनय एवं निगमनों का लक्षण, विधिसाधक एवं प्रतिवेधक साधक हेतुग्रों के भेद, बौद्ध कारण हेतु का नहीं मानता उसका निरसन, पूर्वचर प्रादि हेतु की सार्थकता एवं पृथक्त । अविरुद्ध उपलिब्ध हेतु के विधिसाध्य की अपेक्षा छह भेद, विरुद्ध उपलिब्ध हेतु के प्रतिषेध साध्य की अपेक्षा छह भेद, अविरुद्ध अनुपलिब्ध हेतु के प्रतिषेध साध्य में सात भेद, विरुद्ध अनुपलिब्ध हेतु के विधिसाध्य में तीन भेद, इस प्रकार इन सबका वर्णन इस प्रकरण में है।

वेद ग्रपौरुषेयवाद-मीमांसक ग्रपने वेद नामा ग्रन्थ को ग्रपौरुषेय मानते हैं, इनका कहना है कि सभी पुरुष राग द्वेष युक्त ही होते हैं ग्रत: सत्य अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते, तथा वेद कर्त्ता का स्मरण नहीं है इसलिये वेद पूरुष रचित न होकर अपौरुषेय ही है। किन्तु यह कथन असत् है कोई भी पद एवं वाक्य अपने आप बिना पुरुष प्रयत्न के निर्मित होता हुआ देखा नहीं जाता जब वेद में भारत रामायण आदि के समान वाक्य रचना पायी जाती है तब उसे अपौरुषेय किस प्रकार मान सकते हैं ? अर्थात नहीं मान सकते। कर्त्ता का स्मरण नहीं होने से वेद को अपौरुषेय माना जाय तो बहुत से प्राचीन महल, कृप ग्रादि के कर्त्ता का स्मरण नहीं होता ग्रतः उन्हें भी ग्रपौरुषेय मानना चाहिये १ दूसरी बात कर्त्ता का अस्मरण कहां है ? कालासूर नामा-देव ने अपने बैर का बदला लेने के लिये हिंसापरक इस वेद को रचा था ऐसा हम जैन को भली भांति स्मरण है। तथा मीमांसक वेद को ग्रंपीरुषेय इसलिये मानते हैं कि उससे वह प्रन्थ प्रामाणिक सिद्ध हो किन्तु प्रपौरुषेय प्रामाण्य की कसौटी नहीं है, यदि ऐसा है तो चोरी आदि के उपदेश को भी प्रमाण मानना होगा, क्योंकि वह भी ग्रपौरुषेय है। वेद को ग्रपौरुषेय मानने पर भी उसके व्याख्यान एवं ग्रर्थ करने वाले तो पुरुष ही रहते हैं, यदि व्याख्याता पुरुष वेद के अर्थ का सही प्रतिपादन कर सकते हैं तो कोई पुरुष विशेष उसको रच भी सकता है। अंत में यही सिद्ध होता है कि वेद पुरुष रचित ही है क्योंकि उसके वाक्य पुरुष रचित जैसे ही हैं, पुरुष प्रयत्न बिना ग्रन्थ रचना सर्वथा इसंभव है।

गब्द नित्यत्ववाद — शब्द नित्य व्यापक एवं झाकाश के गुण स्वरूप हुआ करते हैं ऐसा मीमांसक का अभिमत है, शब्द को नित्य माने बिना संकेत ग्रहण पूर्वक होने वाला अर्थ ज्ञान असंभव है, अर्थात् यह घट है, घट शब्द द्वारा इस पदार्थ को कहा जाता है इत्यादि रूप से घट खादि शब्दों में प्रथम संकेत होता है पुनः किसी समय उन शब्दों को सुनकर अर्थ प्रतिभास होता है इस प्रकार संकेत काल से लेकर व्यवहार

काल तक यदि शब्द अवस्थित नहीं रहेगा तो शाब्दिक ज्ञान होना अशक्य है। शब्द की व्यापकता दो कारणों से स्वीकृत की जाती है, एक तो वह ग्राकाश रूप व्यापक द्रव्य का गण है इसरे एक साथ नाना देशों में सुनाई देता है। मीमांसक के इस मंतव्य का सुविस्तृत निरसन किया गया है, संकेत काल से लेकर व्यवहार काल तक वही शब्द नहीं रहता ग्रपित तत् सदश ग्रन्य रहता है, सादृश्य शब्द द्वारा घटादि वाच्य का प्रति-भास होता है, अर्थात् जब कोई बृद्ध पुरुष बालक के प्रति घट वाच्य ग्रीर घट वाचक ्राब्द में संकेत करता है उस समय का शब्द नष्ट होता है अन्य समय में जो घट शब्द . को बालक सुनता है वह श्रन्य तत् सद्दश शब्द है, इस सादृश्य शब्द से होने वाला ज्ञान ग्रसत्य है ऐसा भी नहीं कह सकते ग्रन्यथा धम हेत् से होने वाला ग्रग्नि का ग्रनुमान असत्य ठहरेगा, अर्थात् संकेत काल का शब्द व्यवहार काल में नही होता ग्रतः नज्जन्य ज्ञान आंत है तो रसोई घर के धम अग्नि में साध्य साधन का संकेत ज्ञात कर पूनः पर्वत पर तत्सहश धम को देखकर ग्रग्नि का अनुमान होता है उसको भी भ्रांत मानना होगा ? क्योंकि रसोई घर का धुम तो पर्वतपर है नहीं। तथा मीमांसक ग, क, र म्रादि वर्णों को सर्वत्र एक व्यापक रूप से मानते हैं, किन्तू ऐसा प्रतीति में नहीं स्राता, गकार आदि यावन्मात्र वर्ण पथक पथक अनेकों संख्याओं में एक साथ उपलब्ध हो रहे हैं, विभिन्न देशों में पूर्ण पूर्ण रूपसे अनेकों वर्ण एक साथ उपलब्ध होते हैं, व्यापक पदार्थ इस तरह एक जगह पूर्ण रूपेण उपलब्ध हो हो नहीं सकता धन्यथा वह व्यापक ही काहे का ? व्यापक आकाश क्या एकत्र पूर्ण रूप से उपलब्ध होता है ? शब्द को नित्य मानुकर व्यंजक ध्वनि द्वारा उसका संस्कार होने की मान्यता भी आश्चर्यकारी है। बक्ता के मूख से शब्द निकलकर श्रोता के कर्गुतक ग्राता है तो वह मार्ग में किमी पदार्थ से विच्छिन्न होगा इत्यादि जैन के प्रति दिये गये दूषण मीमांसक के स्रभिव्यंजक बायू में भो लागू होते हैं। तथा यदि शब्द सर्वथा नित्य है तो उसका संस्कार होना या व्यक्त होना मादि नहीं बन सकता, क्योंकि नित्य में पर्व की अव्यक्त दशा से उत्तर कालीन व्यक्त दशा में म्राना रूप परिवर्त्तन संभव नहीं मन्यथा वह मनित्य ही ठहरता है। इत्यादि ग्रनेक प्रकार से शब्द के नित्यत्व का खंडन होता है।

शब्दसम्बन्ध विचार — शब्द और पदार्थ में ऐसी ही सहज स्वामाविक योग्यता है कि गो स्रादि शब्द तदर्थ वाच्यभूत सास्नामान पदार्थ को स्रवभासित कराते हैं, पुनश्च इनमें संकेत भी किया जाता है कि प्रमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, इस वाच्य वाचक सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये कहा गया है कि "सहल योग्यता संकेत वशाव् हि सन्दादयः वस्तु प्रतिपत्ति हेतवः" बौद्ध शब्द और अर्थ में ऐसा वाच्य वाचक सम्बन्य नहीं मानते, उनका कहना है कि ये दोनों भी क्षणिक हैं भ्रतः शब्द द्वारा प्रयंवोघ नहीं होता इत्यादि । किन्तु यह कथन असत् है, प्रथम बात तो यह कि शब्द विलकुल क्षिएक एक समय मात्र का नहीं है अपितु कुछ समय स्थायी है, और पदार्थ तो क्षणिक है नहीं वह चिरकाल स्थायी है, दूसरे शब्द के भ्रतित्यत्व होने पर भी तज्जन्य ज्ञान द्वारा वाच्यार्थ बोध होता ही है । अतः संकेत और स्वाभाविक योग्यता के कारण शास्त्रीय या लौकिक शब्द (वच्क) अर्थ के वाचक होते हैं इनमें बाच्य वाचक लक्षण सम्बन्ध है ऐसा मानना चाहिए।

ग्रपोहवाद -- बौद्ध का कहना है कि शब्द घटादि वाच्यार्थ को न कहकर अपोह को कहते हैं अर्थात गो शब्द सास्नादिमान पदार्थ को नहीं कहता किन्तु मो से अन्य जो अश्वादि हैं उनसे व्यावृत्ति कराता है इसे अगो व्यावृत्ति कहते हैं, ऐसे घट पट इत्यादि शब्दों द्वारा ग्रन्य का ग्रपोह ग्रर्थात ग्रघट व्यावृत्ति अपट व्यावृत्ति मात्र की जाती है। शब्दों को अर्थों का वाचक इसलिये नहीं मानते कि अर्थ के अभाव में भी शब्द की उपलब्धि पायी जाती है। बौद्ध का यह मंतव्य सर्वधा ग्रसंगत है क्योंकि प्रतीति के विरुद्ध है, गो शब्द को सुनते ही हमें सीधे सास्नादिमान पदार्थ की प्रतीति होती न कि अन्य की व्यावृत्ति की । कोई कोई शब्द अर्थ के अभाव में उपलब्ध होते हैं श्रतः सभी शब्दों को अर्थाभिधायक नहीं मानना तो अनुचित ही है श्रन्यथा कोई कोई गोपाल घटिकादिका धम ग्रम्ति के ग्रभाव में उपलब्ध होता है ग्रतः उसे भी ग्रम्ति का कार्य नहीं मानना चाहिये न अग्नि का अनुमापक ही। जब हमें गो शब्द सुनते ही तदर्थ वाच्य की प्रतीति होती है तब कैसे कह सकते कि शब्द ग्रर्थ का वाचक न होकर केवल अन्य का व्यावर्त्तक ही है! यदि कहा जाय कि शब्द अन्य की व्यावृत्ति पूर्वक स्ववाच्य को कहता है तो यह मान्यता भी असंगत है क्योंकि एक ही शब्द अगो का निषेध और गो की विधि इस प्रकार विरुद्ध दो ग्रंथों को कह नहीं सकता न ऐसी प्रतीति ही होती है। तथा यदि गो शब्द अन्य की व्यावृत्ति कराता है ऐसा माना जाय तो गो से अन्य पदार्थ तो असंख्य हैं उनको जाने बिना व्यावृत्ति कैसे हो सकती है ? गवादि शब्द केवल खगो म्नादि का निषेध ही करते हैं तो "न गौ: अगौ:" इस प्रकार के नज समास का ग्रर्थ क्या प्रसज्य प्रतिषेच रूप है ग्रथवा पर्युदास प्रतिषेध रूप है ? प्रथम पक्ष तो अमान्य होने से स्वीकार नहीं कर सकते (नयोंकि बौद्ध ने प्रसच्य प्रतिषेध रूप अमान नहीं माना है) और द्वितीय पक्ष माने तो अगो का अर्थ गो ही होता है, यह तो द्राविडीप्राणायाम मात्र हुआ कि गो शब्द ने सीधे गो बाच्य को क कहकर यह अगो नहीं है ऐसा प्रमाकर गो बाच्य को कहा। अतः प्रतीति का अपलाप नहीं करके ऐसा स्वीकार करना चाहिये कि गो श्रादि शब्द तदर्थवाचक होते हैं।

स्फोटवाद - भर्ज हरि प्रभृति का कहना है कि शब्द पदार्थ का बाचक नहीं है किन्तू स्फोट पदार्थ का वाचक है, अर्थात् गकार आदि वर्णी द्वारा अभिव्यज्यमान नित्य व्यापक ऐसा कोई स्फोट नामा तत्त्व है वही अर्थ का वाचक होता है, गकार म्रादि बर्ण तो उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकते हैं मतः वे मर्थ के वाचक नहीं हो सकते, यदि गो ग्रादि शब्द अर्थ के वाचक होते तो जिस पुरुष ने उस शब्द के संकेत को ग्रहण नहीं किया है उसे भी उस शब्द द्वारा गो अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए थी ? आचार्य ने समभाया है कि सहज योग्यता और संकेत होने से शब्द स्ववाच्य को भ्रवश्य कहते हैं, गकार ग्रादि वर्ण विनष्ट हो चकने पर भी पूर्व पूर्व वर्ण के ज्ञान संस्कार ग्रवस्थित ही रहते हैं और वे अर्थ प्रतीति कराते हैं, गो आदि शब्द और सास्नादिमान पदार्थादि को छोडकर इनके मध्य ऐसा कोई तत्त्व प्रतीति नहीं होता कि जिसे स्फोट नाम दिया है, बात तो यह है कि 'हे देवदत्त ! गां भ्रभ्याज" इत्यादि वाक्य या "घटः" इत्यादि पदों के उच्चारण करते ही अर्थ प्रतीति होती है इसमें क्रम यह है कि पूर्व पूर्व वर्णों के उच्चारण के साथ उन उन वर्णों के ज्ञान संस्कार प्रादर्भत होते जाते हैं और ग्रंतिम वर्ण को सहायता करके पूर्ण वाक्यार्थ या पद के अर्थ का अवभासन कराते हैं, पर्व वर्ण का ज्ञान जिसमें सहायक है ऐसा अंतिम वर्ण ग्रर्थ को प्रस्फृटित कर देता है, शब्द नष्ट हो चकने पर भी उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान या संस्कार बना ही रहता है ग्रथवा ज्ञान संस्कार का ग्राधारभूत ग्रात्मा तो सदावस्थित ही है, उसी से अर्थ बोध होता रहता है, ग्रत: यदि वैयाकरणों को स्कोट सर्वथा इब्ट ही है तो उसी ज्ञान संस्कार युक्त ब्रात्मा को स्फोट नाम देना चाहिए "स्फुटति-प्रकटी भवति श्रर्थ: श्रस्मिन इति स्फोट: चिदातमा" ऐसा व्यूत्पत्तिलभ्य भ्रयं भी सिद्ध है। इस प्रकार स्फोटवाद का खंडन होता है।

वाक्य लक्षण विचार— शब्द ग्रौर ग्रयं का यथार्थ रूप से वाचक बाच्य संबंध सिद्ध होने पर प्रश्न होता है पद एवं वाक्य का लक्षण क्या होना चाहिये? इसके उत्तर में निर्दोष पद और वाक्य का लक्षण बाचार्य द्वारा प्रस्फूटित किया गया है कि "वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्" । पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदाय: बाक्यम्" इति । अर्थात परस्पर में सापेक्ष किन्तु वर्णांतर निरपेक्ष ऐसा जो बर्ण समुदाय है अर्थात देवदत्तः, घटः, जिनदत्तम्, दात्रेण इत्यादि में स्थित जो बर्ण समुदाय है उसे पद कहते हैं। परस्पर में अपेक्षित किन्तू पदांतर से निरपेक्ष ऐसा जो पद समदाय है उसे वाक्य कहते हैं। वाक्य के लक्षण में परवादियों के यहां पर विभिन्न मत हैं कोई गच्छिति आदि किया पद की वाक्य मानते हैं, कोई वर्ण समुदाय मात्र की वाक्य मानते हैं इत्यादि किन्तु ये लक्षण निर्दोष सिद्ध नहीं होते, क्योंकि केवल किया पद या वर्ण समुदाय मात्र पूर्ण वाक्यार्थ का बोध नहीं करा सकते हैं। वाक्य द्वारा जो ग्रर्थ प्रतीति होती है उसमें भी विवाद है कि वाक्य में स्थित जो ग्रनेक पद हैं उनमें से किस पद द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है एक पद द्वारा या संपूर्ण पदों द्वारा ? म्राचार्य ने समक्ताया है कि पूर्व पूर्व पद के म्रथं ज्ञान के संस्कार अंत्य पद के सहायक होते हैं श्रीर उससे वाक्यार्थ प्रतीत हो जाता है। मीमांसक मत के श्रंतर्गत प्रभाकर का कहना है कि एक पद अन्य पदों के वाच्यार्थों से अन्वित ही रहता है अतः पद के श्चर्य की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति भी हो जाती है किन्तू यह अन्वित म्रभिधानवाद युक्त नहीं है इस तरह तो प्रत्येक पद को वाक्यपना हो जाने का प्रसंग ग्राता है। इसी प्रकार भाट ( मीमांसक का एक मत ) ग्राभिहित ग्रन्वयवाद मानते हैं अर्थात पदों द्वारा कहे गये अर्थों का अन्वय ही वाक्यार्थ है ऐसा कहते हैं यह कथन भी पर्वोक्त रीत्या असंगत सिद्ध होता है।

इस प्रकार विविध प्रकरणों से युक्त यह द्वितीय भाग समाप्त होता है। इसमें आमत विषयों का यह संक्षिप्त परिचय है।



### द्वितीय माग् में ग्रागत परीक्षामुख के सूत्र

- ६ नार्थालोको कारगां परिच्छेदात्वात्तमोवत्।
- ७ तदम्बय व्यतिरेकानु विधानाभाव।च्च केशोण्डक ज्ञान वश्रक्तश्वरज्ञानवच्च।
- म्रतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदोपवत् ।
- स्वावरण क्षयोपशमलक्षरण योग्यतया हि
   प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।
- १० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः।
- ११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिल।वरणमती -न्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।
- सावरणात्वे करग्जन्यत्वे च प्रतिबन्ध-सम्भवातः।

### द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः

### अथ तृतीयः परिच्छेदः

- परोक्षमितरत ।
- २ प्रत्यकादिनिमित्तं स्मृति प्रत्यभिज्ञानतर्का-नुमानागमभेदम् ।
- ३ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः।
- ४ सदेवदत्तो यथा।
- ५ दर्शन स्मरण कारणकं सङ्कलनं प्रत्यभि-ज्ञानम्, तदेवेदं, तत्सच्यां, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि।
- ६ यथा स एवायं देवदत्तः।
- ७ गो सहशो गवयः।
- द गोविलक्षणो महिषः।
- ६ इदमस्माद् दूरम्।

- १० बृक्षोऽयमित्यादि ।
- ११ उपलंभानपलंभ निमित्तं व्याप्तिज्ञानमृहः।
- १२ इदमस्मिन्सत्वेव भवत्यसति न भवत्येवेति
- १३ यथाऽग्रावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।
- १४ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्।
- १५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।
- १६ सहक्रमभावनियमोऽविना भावः।
- १७ सहचारिसोव्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः।
- १६ पूर्वोत्तरचारियोः कार्यकारसयोश्च क्रम-भावः।
- १६ तर्कात्तिन्निर्णयः।
- २० इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्।
- २१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्वादित्यसिद्धपदम् ।
  - २ ग्रनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्व माभूदितीष्टाबाधित वचनम् ।
- २३ न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः।
- २४ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।
- २५ साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी।
- २६ पक्ष इति यावत्।
- २७ प्रसिद्धो धर्मी।
- २८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये।
- २६ अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।
- ३० प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधमं विशिष्टता।
- ३१ श्राम्निमानसं देशः परिशामी शब्द इति यथा।

- ३२ व्याप्तौतुसाब्बंधर्मएव।
- ३३ धन्यथा तदघटनात्।
- ३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमान-स्यापि पक्षस्य वचनम् ।
- ३५ साध्यर्धामिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्ष-धर्मोपसंहारवत्।
- ३६ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति।
- ३७ एतद्वयमेवानुमानांगं नोदाहरराम्।
- ३८ न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यंगं तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात्।
- ३९ तदविनाभाव निश्चयार्थं वा विपक्षे वाधकादेव तस्सिद्धेः।
- ४० व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्ति-स्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनस्थानं स्यात् दशन्तरान्तरापेक्षराति।
- ४१ नापि व्याप्ति स्मरणार्थं तथाविध हेतु प्रयोगादेव तत्स्मते।।
- ४२ तत्वरिमिभिघोयमानं साध्यधीमिणि साध्य-साधने सन्देहयति ।
- ४३ कृतोऽन्यथोपनयनिगमने।
- ४४ न च ते तदगे साध्यधीमिणि हेतुसाध्यो-बंचनादेवासशयात ।
- ४५ समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात्।
- ४६ बालव्युत्पत्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनृंगमोगात् ।
- ४७ हष्टान्तो इंधा ग्रन्वयव्यतिरेक भेदात्।
- ४८ साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय-रुष्टान्तः ।

- ४६ साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यक्तिरेकदशान्तः।
- ५० हेतो सपसंहार उपनयः।
- ५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।
- ५२ तदनुमानं द्वेषा।
- **५३ स्वार्थपरार्थभेदात्।**
- ४४ स्वार्थमुक्त लक्षणम्।
- ४५ परार्थंत् तदर्शपरामशिवचनाज्जातम्।
- ४६ तद्वचनमपि तद्धेतुःवात्।
- ५७ स हेत्द्वं घोपलब्ध्यनूपलब्धि भेदात् ।
- ४८ उपलब्धिविधिप्रतिषेश्वयोरनुप**नव्यिक्यः ।**
- ४९ अविरुद्धोपलिविविवि को को अधाप्यकार्य कारण पूर्वोत्तर सहचर भेदात्।
- ६० रसादेकसामप्रघनुमानेन रूपानुमानिमच्छ-द्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र स्नमर्थ्याद्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये।
- ६१ न च पूर्वोत्तर चारिगोस्तादात्म्यं त त्पत्तिर्वाकाल व्यवधाने तदनुपलब्धेः।
- ६२ भाव्यतीतयोर्मरण जाग्रद्बोधयोरुपि नारि-ष्टोदबोधौ प्रति हेतुत्वम् ।
- ६३ तद्वधापाराश्चितं हि तद्भावभावित्वम्।
- ६४ सहचारिःगोरपि परस्परपरिहारेगावस्या-नात्सहोत्पादाच्च ।
- ६५ परिलामी सब्द:, कृतकखात्, य एवं स एवं हष्टो यथा घट:, कृतकस्वायम्, तस्मा-त्परिलामी, यस्तु न परिलामी स न कृतको हष्टो यथा बच्चास्तनन्थ्याः कृतकस्वायम्, तस्मात्परिलामी।
- ६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिव्यहि।रादेः ।
- ६७ सस्त्यत्र छाया छत्रात्।

- ६८ उदेष्यति शकटं कृतिकोदयात् ।
- ६६ उदगाद्भरिएः प्राक्तत एव ।
- ७० श्रस्त्यत्र मातुर्लिंगे रूपं रसात्।
- ७१ विरुद्धतद्पलव्यः प्रतिपेधे तथा।
- ७२ नास्त्यत्र शीतस्पशं औष्ण्यात् ।
- ७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात्।
- ७४ नास्मिन् शरीरिणि सुस्तमस्ति हृदय ' शस्यात।
- ७५ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शक्टं रेवत्युदयात्।
- ७६ नोदगाद्भरिएामुं हूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।
- ७७ नास्त्यत्र भित्तौ परभागामावोऽर्वाग्भाग-दर्शनात्।
- ७८ ग्रविरुद्धानुष्लिब्धः प्रतिषेषे सप्तधा स्वभाव-व्यापक कार्यकारणा पूर्वोत्तर सहचरानु-पलम्भभेदात ।
- ७६ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपनब्धेः।
- ६० नास्त्यत्र शिशपा वक्षानुपलव्येः।
- दश नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामध्योंऽग्निष् मानुप-लब्धेः।
- =२ नास्त्यत्र धूमोऽनम्ने: ।
- न मविष्यति मृह्तान्ते शकटं कृत्तिकोदया-नुपलब्धेः ।
- चथ नोदगाद्भरिएार्मुहृतिस्त्राक् तत एव ।
- ८५ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानु-पलक्षेः।
- ६६ विरुद्धानुपलव्यिविषी त्रेषा विरुद्धकार्यं कारणस्वभावानुपलव्यि भेदात्।

- पथास्मिन् प्राणिनि व्याघि विशेषोस्ति
   निरामयचेष्टानुपलब्धेः।
- चंद्रिन दःलिम्हसंयोगाभावात् ।
- ८६ श्रनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानु-बलब्धेः।
- ६० परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भाव-नीयम्।
- ६१ अभूदत चक्रे शिवकः स्थासात्।
- ६२ कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धी।
- ६३ नारःयत्र गुहायाम् मृगकीडनं मृगारिस-शब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्यो-पलक्षौ यथा।
- १४ व्युत्पन्न प्रयोगस्तु तथोपपत्याऽन्यथानुप-पत्त्र्यैव वा ।
- १५ प्राग्नमानयं देशस्त्रयैव धूमवत्त्वोपपत्ते-धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते र्वा।
- १६ हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहर्ण विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ।
- ६७ तावता च साध्यसिद्धिः।
- ६८ तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्तः।
- ६६ श्राप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।
- ०० सहज योग्यता संकेत वशाद्धि शब्दादयो-वस्तुप्रतिपत्ति हेतवः।
- १०१ यथा मेर्वादयः सन्ति ।

इति तृतीय परिच्छेदः समाप्तः



## विषयानुक्रमणिका

विषय	ds
बौद्ध एवं नैयायिक द्वारा अभिमत अर्थकारुणवादका निरसन तथा	
मालोककाररावादका निरसन	₹ 35 \$
पदार्थ भौर प्रकाश ज्ञानके कारए। नहीं हैं क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं	
घटादि विषयक ज्ञान घटादि पदार्थौका कार्य है यह किसी अन्य प्रमाण-	
द्वारा ज्ञात होता है ऐसा कहना भी शासत् है	¥
पदार्थ ग्रीर पदार्थके साम ज्ञानका भन्वय व्यतिरेक नहीं बाया जाता	
विपर्यय भादि ज्ञानोंमें कौनसा पदार्थ कारण है	3
संशयादि ज्ञान भ्रांत है बतः बिना पदार्थके होते हैं ऐसा कहना बसर् है	9.9
नैयायिकके ईश्वरका ज्ञान नित्य होनेसे पदार्थसे उत्पन्न नहीं हो सकता	8 8
पदार्थ जहां नहीं होते वहां भी प्रतीति होती है	१७
यदि ग्रंथकारका पदार्थरूप स्वीकार नहीं करते तो प्रकाश भी सिद्ध नहीं होगा	₹•
ज्ञानमें वैशदा प्रकाशसे भाया तो जब ज्ञान प्रकाशको विषय बनाता है तब	
जसमें वैशद्य किससे भाता है ?	25
ज्ञान पदार्थ और प्रकाशसे उत्पन्न नहीं हुआ तो भी उनको प्रकाशित करता है	२४
श्रपने धावरणके क्षयोपशमानुसार ज्ञान प्रतिनियत पदार्यको प्रतिभासित	
करता है	28
<b>वो</b> ज्ञानका कारए। वही ज्ञान द्वारा जाना जाता है ऐसा माने तो इन्द्रियोंकं	
साथ व्यभिचार होगा	79
<b>घावर</b> एा विचार, संवर निर्जरा सिद्धि, कर्मौका पुद्गलपना	₹०-४७
द्रव्यादि सामग्री विशेष द्वारा नष्ट हो गये हैं श्रावरण जिसके ऐसे श्रतीन्द्रिय	
ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं	₹•
शरीरादिको स्रावरण नहीं मानते स्रपितु कर्म नामक पुद्गल को कर्म	
मानते हैं	<b>₹</b> ₹
भविद्याको भी भावरण नहीं मानते	₹X
भ्रष्ट नामा धात्माके गुराको सावरण मानना भी सयुक्त है	36
संवर निर्भरा सिद्धि	80-80
सर्वेज्ञत्ववाद	¥8—6=

निषय	पृष्ठ
सर्वज्ञके विषयमें मीमांसकका पूर्वपक्ष	४०—६६
मीमासक—सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि सत्ता ब्राहक पांचों प्रमाणों द्वारा उसकी	
सिद्धि नहीं होतो	ሂ፥
धनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता क्यों कि प्रविनाभावी हेतु का ग्रभाव है	¥ o
सर्वज्ञ सिद्धिमें प्रयुक्त हुमा प्रमेयत्व हेतु भी ग्रसत् है	ХŞ
भागमसे भी सर्वज सिद्धि नहीं होती	ሂሂ
भर्षापत्तिसे भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता	५६
कोई भी प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियोंसे निरपेक्ष नहीं होता	3.8
यदि सर्वज्ञ धर्म अधर्मका ग्राहक है तो वह विद्यमान वस्तुको ग्रहण नहीं	
कर सकेगा	६२
जैन द्वारा मोमांसकके म तब्यका निरसन	<b>६७—€</b> 5
सर्वंत्र प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता श्रपितु धनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है	६७
कोई ग्रात्मा सकल पदार्थीको साक्षात् जानने बाला है इत्यादि भनुमानसे	
उसकी सिद्धि होती है,	₹5-68
सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रियादिकी श्रपेक्षा नहीं रखता	७२
धर्म श्रथमं संज्ञक पदार्थं इन्द्रियोंसे उपलब्ध किस कारणसे नहीं होते ?	७६
मंत्र प्रदनादिसे संस्कारित पुरुष अतीत एवं अनागतको भी ज्ञात करते हैं	
तब कालांतरित सूक्ष्मादि पदार्थोंको सर्वज्ञ क्यों नहीं ज्ञात कर सकता ?	<b>৩৩</b>
उपदेश द्वारा श्रिबल विषयका सामान्य ज्ञान होना संभव ही है	30
<b>भागमादि भ</b> रपष्ट ज्ञानसे स्पष्ट ज्ञान कैसे होगा यह प्रश्न भी ठीक नहीं	50
शीत उष्णादि परस्पर विरोधी पदार्थ एक साथ एक ज्ञानमें प्रतीत होते हैं	5 8
युगपत् अशेष पदार्थ ज्ञात होनेसे द्वितीय क्षणमें असर्वज्ञ बन जायगा ऐसी	
भारांका व्यर्थ है	52
सर्वज्ञका ज्ञान अपूर्वार्यग्राहो ही है	<b>=</b> 2
सर्वज्ञ परगत रागादि को जानने मात्रसे रागी नहीं होता	<b>5 3</b>
सर्वज्ञका ज्ञान विश्रात नहीं होता	<b>5</b> X
सकल पदार्थ साक्षात्कारी सर्वज्ञ है, क्योंकि उसमें कोई बाधक प्रमास नहीं है	<b>50</b>
विवादस्य पुरुष सर्वज्ञ नहीं इत्यादि अनुमानमें प्रयुक्त वक्तृत्व हेनु सदोष है	58
चर्कत्रमें वक्तृत्वका श्रभाव सिद्ध होना असंभव है	6.0

### [ २३ ]

विषय	र्वेड
मापका मागम भी सबंज मभाव नहीं करता वह तो सद्भाव ही लिख करता है	€3
उपमान अर्थापत्ति भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं करते	83
मभाव प्रमाण स्वयं ही स्रभावरूप है स्रतः सर्वज्ञका स्रभाव नहीं कर सकता	ξX
<b>ई</b> स्थरवाद	887-33
ईश्वर सिद्धिके लिये नैयायिक व शेषिकका पूर्व पक्ष	209-33
नैयायिक-पृथ्वी, पर्वतादि पदार्थ किसी बुद्धिमान से निर्मित हैं, क्योंकि वे कार्य हैं	3.5
पृथ्वी मादि कार्य इसलिए कहलाते हैं कि वे सावयव हैं	200
शरीर रहित होने से ईश्वर की उपलब्धि नहीं होती	₹•२
ज्ञान चिकीर्षा ग्रीर प्रयत्नाधारता ये ही कर्तृत्व है	१०२
व्यास ऋषि ईश्वर को मानते हैं	808
स्वरूप प्रतिपादक वेद वाक्य भी इस विषय में ग्रप्रमारण नहीं	808
भगवान करुए। से शरीरादि की रचना करते हैं	8 • #
वात्तिककार का ईव्वर सिद्धि के लिये भनुमान	₹0€
जैन द्वारा ईश्वरवाद का निरसन	\$ • # \$ &&
पृथ्वी ग्रादि में कार्यत्व सिद्धि के लिये प्रयुक्त सावयवत्व हेतु का खंडन	१०५
यौग की विनाश ग्रीर उत्पाद की प्रक्रिया हास्यास्पद है	309
द्यापके यहां सत्ता किस रूप है ?	<b>११</b> २
ई श्वर की बुद्धि क्षरिएक है या नित्य ? दोनों पक्ष गलत हैं	₹ ₹ €
ईरवर भीर हमारी बुद्धिमें बुद्धिपना समान होने पर भी ईरवर की बुद्धि नित्य है ऐसा वि स्वीकार करें तो घटादि भीर पृथ्वी भादि में कार्यत्व समान होने पर भी घटादि कर्ता है	
पृथ्वी ग्रादि का नहीं ऐसा विशेष भी स्वीकार करना चाहिये	११७
पिकाच ब्रादि भी शरीर मुक्त होने से हो शास्त्रामंगादि कार्य करते हैं न कि बिना शरीर	के १२३
ईव्वर का शरीर कार्यरूप है या नित्य ?	१२४
<b>ब्रा</b> काशवन् पृथ्वी ब्रादि में भी कर्त्ता का ब्रभाव है	8 5 %
भवेतन पदार्थ चेतन से श्रविष्ठित होकर ही कार्य करे ऐसा नियम नहीं	१२=
कारणों को शक्ति का ज्ञान होने पर ही कर्ता प्रवृत्ति करता है ऐसा नहीं है कर्ता	
भनेक प्रकार के हैं	१२६
यौग के ईश्वर कतृंत्व सिद्धि के लिये प्रयुक्त प्रतुमान में बुद्धिमान कारण्यपूर्वकत्व साध्य	8
उसके साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति कथमवि सिद्ध नहीं होती	१३१

विषय	āā.
करुगा से खुब्ट रचे तो सुखदायक शरीरादि क्यों नहीं रचता ?	१३२
राजा के समान ईश्वर यदि कर्मानुसार फल देता है तो वह रागी हो वी हो जायगा	<b>*</b> 3%
जो समर्थ स्वभावी होता है वह सहायक की घपेक्षा नहीं करता	155
पृथ्वी पर्वत ग्रादि पदार्थ एक एक स्वभाव पूर्वक नहीं होते, क्योंकि वे विभिन्न देश,	
विभिन्न कास एवं विसिन्न ग्राकार वाले हैं "	₹8•
ब्रकृति कर्तात्ववाद	१४५१७६
सांख्य-स्विटकी प्रक्रिया प्रधानसे प्रसूत है इत्यादि पूर्वपक्ष	१४५-१५२
प्रकृतिसे महान् उत्पन्न होता है, उससे ग्रहंकार उससे ग्यारह इन्द्रियां, उनसे पांच	
तन्मात्रायें	१४६
कारण जिसरूप होता है कार्य तदनुरूप ही होता है	१४७
पांच हेतु शोसे सत्कार्यवादकी सिद्धि	₹¥£
महदादि भेदोंका परिमाग्ग होना इत्यादि हेतुम्रोंसे प्रधानमें ही जगत्का कत्तृ त्व सिद्ध ह	ोता है १५१
जैन द्वारा प्रकृति कर्री त्वका निरसन	9×3-808
महदादि नेद प्रकृतिसे अभिन्न माननेके कारण उनमें कार्य कारण भाव बन नहीं सक	ता १५३
कार्य कारण भाव ग्रन्वय व्यतिरेक द्वारा जाना जाता है किन्तु प्रधान ग्रीव महदादिमें	वह
षटित नहीं होता	१४४
श्वसत् प्रक रुणात् इत्यादि हेतु ग्रनत् कार्यवादके पक्षमें भी समानरूपसे चटित होते हैं	१५७
शक्तिकी अपेक्षा कार्यको सत् माने तो भो ठीक नहीं	१५८
शक्तिकी ग्रमिक्यक्तिके लिये कारकोंका व्यापार मानना भी घटित नहीं होता	9.88
ग्राभिध्यक्ति किसे कहते हैं स्वभावमें प्रतिशय होना या तद् विषयक	
ज्ञान होना, प्रथवा उसके उपलब्धिके ग्रावरणका ग्रपगम होना ?	140 141
कारण शक्तिका प्रतिनियम तो असत् कार्यवादमें भी घटित होता है	188
भेदोंका समन्वय होनेसे एक प्रधान हो कारणारूप सिद्ध होता है ऐसा हेतु भी असिद्ध है	१६ <u>४</u>
समन्वयात् इस हेतुमें श्रनेकांत दूषण है	१६७
निरीव्वर सांख्यका पक्ष भी असत् है	<b>१</b> ६=
प्रधान श्री व ईश्वर सम्मिलित होकर कार्य करते हैं ऐसा कहना भी सिद्ध नहीं होता	800
जगत्को उत्पत्ति स्थिति भौर प्रलय रूप किया करनेकी सामध्य ईश्वर ग्रीर प्रधानमें	•
एक साथ है कि नहीं ?	१७२
सन्बादि गर्गोका साविभविष्टि भी सिद्ध नहीं	2193

विषय	पृष्ठ
कवलाहाय विचार	339-005
जीवन्मुक्त दशामें भ्ररहंत कवलाहार करते हैं ऐसा क्वेतांबर कहते हैं	१७७
प्रमत्त गुरास्थानमें परमार्थभूत बीतरागता नहीं है बतः वहां कवलाहार होना शक्य	{95
विना मिलावाके भाहार होना रूप मतिशय माने तो माहार नहीं करना रूप मतिश	य हो
वयों न माना जाय ?	३७१
कवलाहार ग्रहण करने वालेके घतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं	१८१
लाभांतरायकर्मका सर्वेचा नाश होतेसे दिव्य पदमास्त्रश्रीका श्रागमन प्रतिसमय होता है	हं भी द
उसीसे केवलीके शरीरकी स्थिति बनी रहती हैं	१व४
मोहनीयके घमावमें ग्रसाता कार्य करनेमें ग्रसमर्थ है	<b>१</b> व६
ग्रनाकांकारूप क्षुषा माने तो वह भी दुःखरूप हो घटित होती है	१८१
भगवान्को देवगण ग्राहार कराते हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता	१६२
केवलीके ग्यारह परीषह उपचारसे माने हैं	<b>28</b> X
भोजन करते समय दिखायी न देना रूप अतिश्वय मानते हैं तो भोजन नहीं करना रूप	
श्रतिशय ही क्यों न स्वीकारं ?	984
मोक्षस्वरूप विचार	२००—२५६
वैशेषिकका पक्ष-धनंत चतुष्टय स्वरूप लाभको मोक्ष नहीं कहते अपितु बुद्धि आदि	
नौ ग्रात्मगुणोंके उच्छेद होनेको मोक्ष कहते हैं	
तत्त्वज्ञानको मोक्षका कारण माना है	₹•₹
मिध्यज्ञानके नष्ट होने पर राग द्वेष उत्पन्न नहीं होते उसके शभावमें मन वचनका क	ार्य
समाप्त होता है उनके ग्रभावमें धर्माद नष्ट होते हैं	२०२
तत्त्व ज्ञान साक्षात् कर्म नाशमें प्रवृत्ति नहीं करता	₹•₹
विष्न बाधायें उपस्थित न हो ग्रतः नित्य नैमित्तिक किया की जाती है	२०४
वेदान्ती-वेशेषिक बृद्धि भादि गुर्गोका मीक्षमें भ्रभाव मानते हैं किन्तु हम चैतन्यका	भी वहां
श्रभाव मानते हैं, मोक्ष तो ग्रानंद स्वरूप है	२०६
वंशेषिक द्वारा वेदाताके मोभस्वरूपका निरसन	200-565
भाप वेदान्ती भारमाके सुख नामा गुराको नित्य मानते हैं वा भनित्य नित्य है तो	
सदा रहना चाहिये ग्रीर ग्रनित्य है तो	₹•७
विश्वद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्ध श्राभमत मोक्ष स्वरूप ध्रयक्त है	283

### [ २६ ]

विषय	पुष्ठ
भनेकान्तकी भावनासे विशिष्ट प्रदेशमें ज्ञानरूप शरीरादिका लाभ होना मोक्ष	4-
है ऐसा जैन मानते हैं	388
ब्ह्याद त वादी भारमाके एकत्वका ज्ञान होनेसे परमात्मामें लय होना मोक्ष है	
ऐसा मानतें हैं	२१७
प्रकृति भीर पुरुषके भेद ज्ञान मोक्षका कारण है भीर वह चैतन्यका स्वरूपमें	
भवस्थान हो जाना है ऐसा सांख्य कहते हैं	२१८
जैन द्वारा वेशेषिकके मंतव्यका निरसन	33.
बुद्धि मादि विशेष गुर्गोका मत्यंत उच्छेद होता है क्योंकि ये संतानरूप है ऐसा वैशेषिकका	
हेतु ग्राश्रय।सिद्ध है, संतानत्व हेतु विरुद्ध दोष युक्त भी है	२२४
तस्वज्ञानसे निष्याज्ञान नष्ट होना ग्रादि कथन ग्रयुक्त है	<b>२</b> २६
समाधि के बलसे अनेक शरीरोंको उत्पन्न कर योगीजन कर्मोंका उपभोग कर डासते हैं ऐसा	
कहना असत्य है	२२=
ब्ह्यबादी आनंदरूप मोक्ष कथंचित् इष्ट होता किन्तु उस आनंदका नित्य मानना अयुक्त है	२२६
बौद्धका विशुद्ध ज्ञानोत्पत्ति रूप मोक्ष तब मान्य होता जब वह ज्ञान संतान ग्रन्वय युक्त हो	<b>२३१</b>
सुन्त उन्मत्तादि दशामें ज्ञानकी सिद्धि २३७-	—२ <b>४</b> ६
मुक्तिमें भी बनेकांतकी व्यावृत्ति नहीं है, बनेकांत दो प्रकारका है — कम बनेकांत श्रीर	
धक्रम अनेकांत	२४८
सांख्यके मोक्षस्वरूपका निरसन	2 % 0
	–२ <b>४</b> ६
स्त्रीमुक्ति विवार ५५७-	-२७२
ध्वेतांबरस्त्रियोंके भी मुक्ति होती है, क्योंकि उनके मोक्षके धविकल कारण संभव है	२५७
दिगंधर—स्त्रियोंमें ज्ञानादि गुर्णोका परम प्रकर्ष नहीं होता ग्रतः उनमें ग्रविकल कारगा	
हेतु घसिद्ध है	२४७
स्त्रियोंमें मोक्षक। कारए।भूत संयम नहीं	२६०
बाह्य। स्वंतर परिग्रहके कारसा स्त्रियोंके मोक्षके योग्य जैसा संयम नहीं है	२६२
भागम भी स्त्रीमृक्ति समर्थंक नहीं	२६७
सारांब २७१-	-262
परोक्ष प्रमाराका स्वरूप एवं मेद	२७३
स्मृति प्रामाण्य विचार २७६-	—२ <b>व</b> २
प्रत्यभिज्ञान प्रामाण्य विचार २८३-	-3-3

विष्य	22g
मोमांस्क-प्रत्यभिज्ञानको प्रत्यक्ष स्वरूप मानता है, उसका पक्ष	२८३
जैन द्वारा उसका खंडन	२८४
बौद्ध प्रत्यभिज्ञानको नहीं मार्नेगे तो नैरात्म्य भावनाका श्रम्यास नहीं बनेगा	२८६
प्रत्यभिज्ञान धनुमान प्रमाणरूप नहीं मान सकते	२१६
मीमसांक का सादश्य प्रत्यभिज्ञान को उपमारूप सिद्ध करने का प्रयास	२१७
तकंस्वरूप विचार	\$ * ¥ ₹ ₹ &
तकंप्रमाणाको प्रत्यक्षमें अंतर्भृत करनेका पक्ष	३०⊏
तर्क के विषयभूत व्याप्तिका ज्ञान मानस प्रत्यक्ष द्वारा भी सभव नहीं	₹१२
हेतोस्त्रेरूप्यनिरास	३२०—३२६
भनुमान प्रमास का लक्षण	३२०
हेतु का लक्षरण त्रैरूप्य है ऐसी बौद्ध मान्यता का निरसन करते हुए निर्दोष हेतु का लक्षरण कहते हैं	
सपक्ष सत्व रूप लक्षण के नहीं रहते हुए भी हेतु का धन्वय बन सकता है	<b>३</b> २=
हेतोः पाञ्चरूप्य खण्डनम्	\$30-\$8X
हेतुको पांचरूप मानने वाले यौग का पक्ष	33.
साध्याविनाभावित्व के विना भनाधितविषयत्वादि हेतु के लक्षण असंभव है	333
पूर्ववदाद्यनुमानत्रैविध्यनिरास	385-353
यौग के यहां पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोहष्ट ऐसे अनुमान के तीन भेद माने हैं	486
व्याप्ति तीन प्रकार की है	<b>7 % ?</b>
प्रविनाभाव के दो नेदों का लक्षण	śźA
साध्य का कक्षारा .	३ <b>६६</b>
साध्य के इष्ट और भ्रवाधित इन दो विशेषणों की सार्थकता	३६६
षर्मी का ही पक्ष यह नाम है और वह प्रसिद्ध होता है	३६६३७●
पक्ष प्रयोग की भावश्यकता	₹₩४—₹७६
मनुमान के दो हो अंग हैं	300
उदाहरण प्रनुमान का अंग नहीं	<b>३७७</b> —३≒२
हब्दान्त एवं उपनय, निगमन के लक्षण	3=8
<b>श</b> नुमान के दो भेद-स्वार्थानुमान परार्थानुमान	३⊏४
उपसन्धि भीर श्रनुपसन्धिरूप हेतु	वेदव
पर्वचरादि हेत्यों का कार्य हेत में मन्त्रभवि नहीं हो सकता	रेहर से उहह तक

विषय	ães
<b>श्रविरदो</b> पलब्धि हेतु के छह भेद उदाहरण सहित	800-80
विरुद्धोपलब्ब हेतु के छह भेद सोदाहरए।	8.88.6
धविरुद्ध-धनुपलव्यि हेतु के सोदाहरण सात भेद	¥+5-489
विरुद्ध भनुपलब्धि हेतु के सोदाहरण तीन भेद	X55-X58
परंपरा रूप हेतुमों का भन्तर्भाव	868-86X
हेतुओं का बार्ट	¥
वेद झपीरुपेयबादः	४१६ से ४५६
भागम प्रमाण का लक्षण	888
मागम को मगीरुषेय मानने वाले प्रवादी की शंका	84.
प्रत्यक्ष प्रमास से प्रपौर्षय वेद की सिद्धि नहीं होती	,821
भनुमान प्रमाण से भी नहीं	845
कत्ती का ग्रस्मरण होने से वेद को भ्रपीरुषेय मानते हैं ऐसा मीमांसक का कथन ग्रयुक्त	
वेद का अध्ययन गुरु अध्ययन पूर्वक होता हैइत्यादि	
भनुमान भसत् है	¥38
मागम प्रमास द्वारा भी वेद की मधौरुषेयता सिद्ध नहीं	88.6
वेद के व्याख्याता पुरुष भतीत्विय पदार्थ के जाता है	•
द्माणवा नहीं	886
मनुष्य द्वारा रचित शब्दों के समान ही वेद में शब्द पाये जाते हैं झत: वेद पुरुष रचित	
पौ ध्षेय है	84.
सारांश	<b>የ</b> ጀጀ— <b>ሄሂ</b> ξ
श्रद्ध नित्यत्ववादः	४४७
शब्दों को नित्य मानने में मीमांसक का पूर्वपक्ष	४५७ से ४६७
मीमांसक-शब्द नित्य है, क्योंकि ग्रपने वाच्यार्थ की प्रतिपादन की श्रन्यवानुपपत्ति है	. 880
साहरय शब्द से अर्थ की प्रतीति मानना ठीक नहीं	878
जैन द्वारा उक्त मीमांसक के पक्ष का निराकरण	840
भर्षप्रतिपादकत्व की भ्रन्यथानुवपत्तिरूप मीमांसक का हेतु श्रयुक्त है	*40
यदि सहत्व बन्द द्वारा प्रमं प्रतिपादकत्व होना नहीं मानते तो सहश्च धूम द्वारा पर्वतादि	1
में भग्नि को सिद्ध करना भी नहीं मान सकते	***
उदात्तादि धर्म ग्रस्ट के न कि ध्वनियों के	tim .

विषय	<b>वि</b> ष्ठ
तालु ग्रादि श्रथवा व्वनियां सब्दों के व्यंजक कारण नहीं ग्राप्तु कारक कारण है	¥ = ?
शब्द संस्कार, भोत्र संस्कार ग्रीर उभय संस्कार इस प्रकार शब्द के लिये तीन संस्कार	
मानना भी श्रतिद है	४१२
मौमांसक शब्द को सर्वगत मानते हैं ग्रतः उनका भावरण होने का कथन सिद्ध नहीं होत	33¥
एक ही व्यंजक द्वारा घनेक व्यंग्यभूत पदार्थों का प्रकाशन होता है	Kox
दर्पणादि पदार्थ स्वसामग्री के ग्रभाव में उक्त ग्राकारों को हमेशा घारण नहीं करते	* 13
जंन की मान्यता है कि शब्द श्रोतः के पास जाता है	280
ग्रहष्ट की कल्पना करना रूप दोष क्षो भीमांसक के पक्ष में ही ग्राता है	४ १=
सारांश	ध <b>२</b> १—४२२
शब्द संबंध विचार;	<b>45%—</b>
सहज योग्यता के कारण शब्द मर्थ की प्रतीति कराते हैं	५ २३
शब्द ग्रीर ग्रर्थ का वाच्य वाचक सम्बन्ध ग्रनित्य है	RAX
संकेत पुरुष के श्राश्रित होता है	278
यह शब्दार्थं का नित्य सम्बन्ध इन्द्रियगम्य है ग्रथवा	¥ <b>₹</b> •
शब्द अपने श्रथं को स्वयं नहीं कहते	¥ \$ ₹
म्रपोहवादः	<b>₹</b> ३४—५८२
बौद्ध-पदार्थं के स्रभाव में भी शब्द उपलब्ध होते हैं स्रतः वे स्रथं के प्रतिपादक	
नहीं हैं, शब्द तो अन्य अर्थ का अपोह करते हैं।	¥३४
<b>जैन—सभी शब्द श्रर्थ के ग्र</b> भाव में नहीं <b>होते</b>	***
श≉द केवल भ्रन्यापोह के ही वाचक हैं ऐसा मानना प्रतीति विकद्ध है	४३६
बौद्ध मत में शब्द का बाच्य जो ग्रपोह सामान्य माना है सो वह	×3=
बौद्ध-'ग्रगो' इस पद में स्थित जो गो शब्द है उस गो शब्द से जिस गो ग्रवंका निषेष	
किया जाता है वह विवि रूप है	#8X
र्जनयदि ऐसी बात है तो सभी सन्द का सर्च सपीह हो है ऐसा कहना व्यर्च है	
गो शब्द धश्व शब्द इत्यादि शब्दों द्वारा बाच्य होने वाने छपोहों में परस्पर में	
विलक्षरणता है या	<b>५</b> ५२
माप बौद्ध के यहां कर्ण ज्ञान में प्रतिभासित होने वाला स्वलक्षणा रूप चन्य मर्थ का	
वाचक हो नहीं सकता	XXX
भगोह बन्द द्वारा बाच्य है या सवाच्य	211

विषय	পূষ
बौद्धजिनमें संकेत नहीं किया वे शब्द धर्याभिषायक होते हैं अथवा संकेत वाले शब्द	
भर्याभिवायक होते हैं	344
गोत्व भादि सामान्य रूप जाति में शब्दों का सकेत होता है ऐसा दूसरा विकल्प भी भ्रस	त् है ४६१
<b>जेन</b> — संकेत किये जानेपर ही शब्द अर्थाभिषायक होते हैं	***
उत्पन्न हुए पदार्थीमें संकेत होना सभव है	<b>29</b> %
विशव प्रविभास भीर पविशव् प्रतिभास सामग्रीके भेदसे होता है	४६८
बो जहांपर व्यवहारको उत्पन्न करता है वह उसका विषय होता है	₹ \$
भ्रानिकी प्रतीतिका कार्य स्फोट भादि होना नहीं है	४७१
संपूर्णं बचन विवक्षामात्रको कहते हैं ऐसा माने तो	४७४
यदि शब्दको ग्रप्रवर्त्त क मानेंगे तो प्रत्यक्षादिको भो ग्रप्रवर्त्त क मानना होगा	४७६
म्रभिप्राय भनंत होनेसे गब्द द्वारा ग्रभिप्रायको जानना म्रशस्य है	ধ্ও=
साधारएाता ग्रीर निर्देश्यता मी वस्तुका निजी स्वरूप है	५७€
सारांश	<b>४</b> =१—५=२
स्फोटनाद:	४०३—६०३
पूर्वपक्ष-वर्ण पदादिसे व्यक्त होने वाला नित्य व्यापक ऐसा स्फोट है वही प्रथांका	
वाचक है शब्द नहीं	<b>⊻=</b> 3
स्फोट श्रोतज्ञानमें निरंश एवं सकमरूप प्रतिभासित होता है	४८६
उत्तरपक्ष जेन-स्फोटसे अर्थ प्रतीति नहीं होती अपितु पूर्व वर्णसे विशिष्ट ऐसे अंतिम	
वर्ण द्वारा अर्थ प्रतीति होती है	४८७
पूर्व वर्णके ज्ञानसे उत्पन्न हुमा सस्कार प्रवाह रूपसे अंतिम वर्णको सहायताको प्राप्त	
होता है	**
द्यापने संस्कार तीन प्रकारका माना है वेग, वासना, स्थित स्थापक	प्रदृ
वर्णं द्वारा स्कोटका संस्कार किया जाता है तो वह एक देशसे या सर्वदेशसे	787
स्फोटका मभिव्यंजक संस्कार न होकर वायु है ऐसा कहना भी भयुक्त है	268
यदि शब्दका स्फोट श्रथंप्रतीतिमें निमित्त माना जाय तो गंधका स्कोट, रस का स्कोट	
इत्यादि भी मानने होंगे	<b>₹</b> 8Ę
सार्राश	4.2
धाक्य लक्षमा विचार:	€08 <b>€</b> ₹0
परस्परमें सापेक्ष किन्त वाक्यांतर गत प्रतमे निरपेक्ष होने प्रत्माहको कान्य करने हैं	6.4

### [ 38 ]

विषय	पृष्ठ
प्रकरण मादिसे जो गम्य है, जिसमें पदांतरकी ग्रपेक्षा है तथा प्रकरख-बाह्य पदकी	
अपेक्षासे रहित ऐसे पद मात्रको भी वाक्य कहते हैं	६०५
कोई धातुकिया पद को ही वाक्य मानते हैं, कोई वर्ण संघातको इत्यादि, किन्तु यह ठीक	नहीं ६०६
मीमांसक प्रभाकर-पदके ग्रर्थ के प्रतिपादन पूर्वक वाक्यके ग्रर्थ का ग्रदबोध कराने वाला	
पद हो बाक्य है	६०६
वाक्य लक्षराका निश्चय होनेके झनंतर वाक्यके सर्वपर विचार प्रारंभ होता है	६१०
भाट्टका श्रमिहित ग्रन्वयवाद रूप वाक्यार्थ भी श्रयुक्त है	₹१६
वाक्य के दो भेद हैं द्रव्य वाक्य भीर भानवाक्य	६१=
सारांश	६१६—६२०
उगसंहार	<b>६</b> २१
प्रशस्ति	<b>६२२</b>
परीक्षामुख सूत्र पाठः	<b>६२३—६</b> २=
विशिष्ट शब्दावसी	६२६
भारतीय दर्शनों का श्रति संक्षिप्त परिचय	६३€
যুৱি দঙ্গ	EXE





समर्पण

 A control of the cont जिन्होंने ग्रज्ञान भौर मोहरूपी अंधकार में हुए मुभको सम्यग्ज्ञान ग्रौर सम्यवत्व स्वरूप प्रकाश पूंज दिया एवं चारित्र युक्त कराया, जो मेरी गर्भाधान किया विहीन जननी हैं, गुरु हैं, जो स्वयं रत्नत्रय से अलंकृत हैं ग्रीर जिन्होंने अनेकानेक बालक बालिकाओंको कौमार वृतसे तथा रत्नत्रयसे अलंकृत किया है, जिनकी बृद्धि, विद्या, प्रतिभा ग्रौर जिनशासन प्रभावक कार्योंका माप दंड लगाना ग्रशक्य है उन भायिका रत्न, महान विद्वी, न्याय प्रभाकर परम पुज्या १०५ ज्ञानमती माताजी के पूनीत कर कमलोंमें अनन्य श्रद्धा, भक्ति और वंदामिके साथ यह ग्रन्थ सादर समर्पित है। - व्यर्थिकाजिनमती

# परमपूज्या, विदुषी, न्याय प्रभाकर, आर्थिका रत्न, १०४ श्री ज्ञानमती माताजी



भव्य जोव हितकारी, विदुषी मातृबत्सलाए । बन्दे ज्ञानमती मार्या, प्रमुखां सुप्रभाविकाम् ॥ जन्म : श्रुष्टिका दीक्षा : श्रायिका दीक्षा

दारद् पूरिमा चैत्र कृष्णा १ वि० स० १६६१ वि० सं० २००६ टिकतनगर (उ०प्र०) श्री महाचीरजी भायिका दीक्षा : बैसास कृष्णा २ वि० सं० २०१३ माधोराजपुरा (राज०)

#### **\* मं**गलस्तवः **\***

वर्द्धमानं जिनं नौमि घाति कर्मक्षयंकरम्। वर्द्धमानं वर्त्तमाने तीर्थ यस्य सूखंकरम् ।।१।। श्री सर्वज्ञमुखोत्पन्ने ! भव्य जीव हित प्रदे। श्री शारदे ! नमस्तुभ्य माद्यंत परिवर्जिते ।।२।। मूलोत्तर गुणाढ्या ये जैनशासन वर्द्धकाः । निर्ग्र न्थाः पाणि पात्रास्ते पुष्यन्तु नः समीहितम् ॥३॥ माणिक्यनन्दि नामानं गुण माणिक्य मण्डितम्। वन्दे ग्रन्थः कृतो येन परीक्षामुख संज्ञकः ।।४।। प्रभाचन्द्र मुनिस्तस्य टीकां चक्रे सुविस्तृताम् । मयाभिवन्द्यते सोऽद्य विघ्ननाशन हेतवे ॥५॥ पश्चेन्द्रिय सुनिर्दान्तं पश्चसंसार भीरुकम्। शान्तिसागर नामानं सुरि वन्देऽघनाशकम् ।।६।। वीर सिन्धु गृहं स्तौमि मूरि गुण विभूषितम्। यस्य पादयोर्लव्धं मे क्षुल्लिका वृत निश्चलम् ।।७।। तपस्तपति यो नित्यं कृशांगो गुण पीनकः। शिवसिन्ध् गरुं बन्दे महावतप्रदायिनम् ॥ ६॥ धर्मसागर आचार्यो धर्मसागर वर्द्धने । चन्द्रवत वर्त्तते योऽसौ नमस्यामि त्रिशृद्धितः ॥६॥ नाम्नी ज्ञानमती मार्या जगन्मान्यां प्रभाविकाम । भव्य जीव हितंकारीं विदुषीं मातृवत्सलां ।।१०।। ग्रस्मिश्रपार संसारे मज्जन्तीं मां सूनिर्भरम्। ययावलंबनं दत्तं मातरं तां नमाम्यहम् ।।११।। पार्श्वे ज्ञानमती मातुः पठित्वा शास्त्राण्यनेकशः । संप्राप्तं यन्मया ज्ञानं कोटि जन्म सुदुर्लभम् ।।१२।। तत्त्रसादादहो कूर्वे, देशभाषानुवादनम् । नाम्नः प्रमेय कमल, मार्त्तण्डस्य सूविस्तृतम् ।।१३।।

# प्रमेय कमल मार्त्तण्ड

≋ ×



### श्रीमाणिक्यनन्याचार्यविरचित-परीक्षाम्बद्धत्रस्य व्याख्याह्यः

श्रीप्रमाचन्द्राचार्यं विरचितः

# प्रमेयकमलमार्त ण्डः

[द्वितीय भाग ]

# **ग्रर्थकारणतावादः**

ननु वेन्द्रियानिन्द्रियनिमतः तदिरयसाध्यसम्, श्वास्मार्थालोकावेरिष तस्कारखतयात्राभि-धानाहरवात्; तस्न; आत्मनः समनन्तरप्रत्ययस्य वा प्रत्यवास्तरेप्यविशेवात् अत्रामिभवानम् प्रसा-

श्री मारिष्वयनंदी आचार्य में न्यायका सूत्रबद्ध परीक्षामुख नामा प्रथ रचा इसमें सर्व प्रथम प्रमास्त्रके लक्षस्त्रका प्रस्त्य किया है, पुनः इस लक्षणके विषयमें विशेष विवरस्त किया गया है। इसीप्रकार अन्य विषय जो प्रामाण्य भादिक हैं उनका कथन है। प्रथम परिच्छेदमें तेरह सूत्र हैं, इन सूत्रों पर प्रभावन्द्राचार्यकी पांडिस्यपूर्ण विशाल काय टीका है। दूसरे परिच्छेदमें प्रमास्त्रके भेदोंको बताते हुए पाँचवें सूत्रमें सांव्यवहारिक प्रस्यक्ष प्रमाणको वर्णन किया है। यहांतकके मूल सूत्र तथा उनकी प्रमेय कमल मार्लण्ड नामा टीका इन सबका राष्ट्र भाषाम्य अनुवाद प्रथम भागमें भाया है। अब इस दूसरे भागमें तृतीय परिच्छेद तकके प्रभेयोंका विवेचन रहेगा। इनमें प्रथम ही सांव्यवहारिक प्रस्थक्षके लक्षणमें परवादी शंका उपस्थित करते हैं—

षारस्पकारसम्बेच निरूपितुमित्र तत्वात् । सन्निकर्षस्य चाऽध्यापकत्वावसायकतमत्वाच्चानित-भानम् । प्रचिक्तिकयोस्तवसायारस्पकारसात्वावत्राभियानं तिह् कर्ताव्यम्; इत्यप्यसत्; तयोज्ञीन-कारसात्वस्यैवासिद्धे:।तदाह—

## नार्थाऽऽहोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

शंका:—जो जान इन्द्रिय तथा मनके निमित्तसे होता है उसको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं ऐसा जैनाचार्यने प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण किया है किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रमाणमें घात्मा भी निमित्त होता है तथा पदार्थ एवं प्रकाश भी निमित्त होते हैं, मतः इन सब कारगोंका उल्लेख करना आवश्यक है ?

समाधान — यह शंका ठीक नहीं है, लांव्यवहारिक प्रत्यक्षके लक्षण में जो ध्रसाधारण कारण है उसीको बतलाना इह है, आत्मा या समनंतर प्रत्यय रूप जो अन्य कारण है वह तो परोक्ष प्रमाण में भो पाया जाता है, सिलकर्ष इसलिये प्रमाण के लक्षण में नहीं आता है कि वह प्रव्यापक है, जर्यात् चक्षुद्वारा सिलकर्ष ज्ञान नहीं होता, तथा सिलकर्ष साधकतम भो नहीं है अतः सिलकर्ष प्रमाणका निमित्त नहीं हो सकता।

भावार्थ — सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका साधकतम कारण इन्द्रिय और मन ही हो सकता है अन्य कोई साधकतम कारण नहीं हो सकते, क्योंकि यदि आत्माको कारण मानते हैं तो वह प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोंमें कारण है न कि अकेले प्रत्यक्षमें अतः ग्रसाधारण कारणमें (साधकतममें) वह नहीं आता, तथा सन्निकर्ण भी प्रमाणके प्रति साधकतम नहीं हो सकता, क्योंकि सभी इन्द्रियज ज्ञान सन्निकर्ण से नहीं होते इस विषयको पहले कह आये हैं।

श्रव यहां कोई कहे कि पदार्थ श्रीर प्रकाश में तो प्रमाणके प्रति स्रसाधारए। कारएपपना है ? उनका प्रत्यक्षके लक्षएमें कथन होना चाहिये ? सो यह कथन गलत है क्योंकि पदार्थ श्रीर प्रकाश ज्ञानके कारए। नहीं हो सकते, श्रागे इसी विषयका विवेचन करनेवाला सूत्र कहते हैं—

नार्थालोको कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् ।।६।।

प्रसिद्धः हि तमसो विज्ञानप्रतिबन्धकरवेनातस्कारस्कारणि परिच्छेवासम् । मनु ज्ञानानुत्यत्ति-व्यतिरेकेणान्यस्य तमसोऽनावास्कस्य दृष्टान्ता ? इत्यप्यसञ्जतम् ; तस्यायन्तिरभूतस्यानोकस्येवात्रे-वानन्तर समर्थयिष्यमाण्तवात् । ननु परिच्छेवास्य च स्यात्तयोस्तत्कारणस्य च श्रविरोधात् ; इत्यप्य-पेयासम् ; तत्कारणस्य तयोदनक्षरादिवत्यरिच्छेवास्यविरोधात् ।

सूत्रार्थ—पदार्थ ध्रीर प्रकाश क्षानके कारण नहीं हैं क्योंकि वे परिच्छेख (जानने योग्य) हैं जैसे श्रधकार जानने योग्य पदार्थ है। देखा जाता है कि अंधकार क्षानका प्रतिबधक होनेसे उसका कारण नहीं होते हुए भी उस क्षानका विषय अवस्य है इसीप्रकार पदार्थ धौर प्रकाश हैं, वे ज्ञानके कारण नहीं हैं, मात्र क्षानके द्वारा जानने योग्य हैं।

शंका — ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होना यही तो ग्रंधकार है अन्य कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है इसलिये ग्रंधकारका दृष्टान्त देना गलत है ?

समाधान — ऐसी बात नहीं है, प्रकाशके समान ग्रंथकार भी एक पृथक् वास्तविक पदार्थ है इस बातको हम ग्रागे भलीप्रकार सिद्ध करेगे।

शंका र—पदार्थ और प्रकाश जानने योग्य भी हैं और ज्ञानके कारए। भी हैं कोई विरोधकी बात नही है, अर्थात् भ्रापने कहा कि पदार्थ तथा प्रकाश परिच्छेख होनेसे ज्ञानके कारए। नहीं हो सकते, सो बात नहीं है ?

समाधान—यह कथन असुन्दर है, पदार्थ और प्रकाशको ज्ञानका कारण मानने पर वे परिच्छेद्य नही रह सकेंगे, जैसे कि चक्षु भ्रादि इन्द्रिया ज्ञानका कारण है भ्रतः परिच्छेद्य नहीं है।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान पदार्थका कार्य है (पदार्थके निभिक्त हुआ है)
यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणसे जानी जाती है कि अन्य किसी प्रमाणसे इस बातका निर्णय
करना होगा ? ज्ञान पदार्थका कार्य है इस बातको प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाना जाता है
ऐसा माने तो वह प्रत्यक्ष कीनसा होगा ? जो प्रत्यक्ष जिस घटादिको विषय कर रहा
है वही स्वयं जान नेता है कि क्या मैं इस घट से उत्पन्न हुमा हूं, ग्रयबा अन्य कोई पट

किञ्च, प्रयंकावंतया ज्ञानं प्रत्यक्षतः अतीयते, प्रमाणान्तराद्वा ? प्रश्यक्षतक्ष्वेत्कि तत एव, प्रत्यक्षान्तवाद्वा ? न तावत्तत एव, धनेनार्यमात्रक्ष्यानुभवात् । तद्वेतुत्वविशिष्टार्यानुभवे वा विवादो न स्वान्नीलस्वादिवत् । न खलु प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुष्यपेश्ती दृष्टो विरोधात् । न हि कुम्भकारा-देवंदासिहेतुत्वेतानुभवे सोस्ति । तम्न तदैवारमनोऽर्यकार्यकां द्विषयते । नापि प्रत्यक्षान्तरम् ; तेनाप्य-यंमात्रस्यवानुभवात्, धन्ययोक्तदोषानुषङ्गः, ज्ञानान्तरस्यानेनाष्ठहणाच्य । एकार्यसम्वेतानन्तरक्षान-ष्राह्ममयंज्ञानविश्यम्युर्यययेषि भनेनार्षाष्ठहणम् । न चोभयविषयं ज्ञानमस्ति यतस्तरप्रतिपत्तिः ।

म्नादि पदार्थका प्रत्यक्ष इस बातको कहता है ? प्रयम पक्ष ठीक नहीं है, वह घट विषयक ज्ञान तो मात्र घटका अनुभवन करता है, किससे उत्पन्न हुमा हूं इस बातका उसे अनुभव नहीं है। यदि उस ज्ञानद्वारा कारण सहित (अपने उत्पन्ति का जो कारण है उससे सहित) पदार्थका अनुभवन हो जाता तो उसमें विवाद ही काहेको होता ? जैसे कि नील म्नादि वस्तुका ज्ञानसे अनुभवन होता है तो उसमें विवाद नहीं रहता है। प्रमाणसे जिसका भली भांति निर्णय हो चुका है उस वस्तुमें विवाद होना शक्य नहीं है। बब कुंभकार घटको बनाता है ऐसा हम लोग जानते हैं फिर उसमें विवाद होता है करते कि यह घट किसने बनाया, कैसा है ? इत्यादि। इसप्रकार यह निश्चित होता है कि घटादि विवयक ज्ञान हो अपने कारण को जानता है ऐसा कहना असिद है।

दूसरा पक्ष— घट विषयक ज्ञान घटका कार्य है इसप्रकारकी जानकारी ग्रन्य किसी प्रत्यक्षसे होती है पैसा माने तो भी नहीं बनता, नयों कि वह अन्य प्रत्यक्ष भी मात्र अपने विषयको जानता है, यदि भिन्न विषयक प्रत्यक्ष उस विवक्षित प्रत्यक्ष जानके कारएगको जानता है तो उसमें वही पहले कहे हुए दोष आयेगे अर्थात् अन्य कोई प्रत्यक्ष इस प्रत्यक्षक कारणका निर्णय देता होता तो विवाद ही नयों होता कि इसका कारण पदार्थ है अथवा नहीं है इत्यदि । एक बात ग्रीर जी समक्षतेकी है कि वह ग्रन्य प्रत्यक्ष ज्ञान उस विवक्षित घट विषयक जानको जानता ही नहीं नो कैसे बतायेगा कि यह ज्ञान इस प्रवायंस उत्पन्न हुगा है ? ज्ञान तो ग्रन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण होता ही नहीं।

यहां पर किसीका कहना हो कि भिन्न व्यक्तिके प्रत्यक्ष ज्ञानके कारण्की भिन्न व्यक्तिका प्रत्यक्ष भले ही नहीं जाने किन्तु एक ही व्यक्तिका (किसी विवक्षित पुरुषका) एक प्रत्यक्ष ज्ञान है उसको उसी व्यक्तिमें समवेत जो अन्य अन्य ज्ञान है उसके द्वारा तो जान सकेंगे ही? मतलब एक ही देवदत्तमें समवेत अनेक चटादि श्चय प्रमाणान्तरात्तस्यार्थकार्यता प्रतीयते; तिंक ज्ञानविषयम्, श्चर्यविषयम्, उभयविषयं वा स्यात् ? तत्राव्यविकल्पद्वये तयोः कार्यकारणभावाप्रतीतिः एकैकविषयज्ञानग्राह्यस्त्रात्, कृष्मकार-चटयोरन्यतरिवषयज्ञानग्राह्यत्वे तद्भावाप्रतीतिवत् । नाप्युभयविषयज्ञानात्तरप्रतीतिः; तद्विषयज्ञानस्या-स्माद्यां भवताऽनश्युरगमात् । न खलु 'ज्ञाने प्रवृत्तं ज्ञानमर्थोप प्रवृत्तं तेऽर्थे वा प्रवृत्तं ज्ञाने' इत्यन्यु-पगमो भवतः । श्रभ्युषगमे वा प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिरिति व्याप्तिज्ञानविचारे विचारियष्यते ।

विषयक ज्ञान हैं वे तो एक दूसरेके ज्ञानके कार एको जानते ही होंगे? सो यह कथन भी अयुक्त है, एक ही आरमामें रहनेवाले वे ज्ञाब उस विवक्षित दूसरे ज्ञानको भले ही जामे किन्तु उस पदार्थको नहीं जान सकेंगे जिसे कि वह विषय कर रहा है। उभय विषयक ज्ञान तो है नहीं जिससे उस ज्ञानका कार एा जाना जाय? एक ज्ञान मात्र एक विषयको ही ग्रहण करता है।

अब शुरुमें जो दो पक्ष रखे थे कि शानके पदार्थको कार्यताको प्रत्यक्ष प्रमाण जानता है या अन्य प्रमाण जानता है इनमेंसे प्रत्यक्ष प्रमाण का पक्ष खंडित हुआ अतः दूसरा पक्ष विचारमें जाते हैं — शानकी अर्थ कार्यताको प्रत्यक्ष प्रमाण न जानकर अन्य कोई प्रमाण जानता है, तो फिर पुनः प्रश्न होता है कि वह अन्य प्रमाण कौनसा है ? शान है विषय जिसका ऐसा है अथवा अर्थ विषयवासा है यािक उभय विषयवासा है ? आदिके दो विकल्प लेते हैं तो शानके कार्यकारण भावकी प्रतिपत्ति सिद्ध नहीं होती, भर्षात् विभिन्न प्रमाण सिर्फ शान विषयक है अथवा सिर्फ अर्थ विषयक ही है तो यह शानरूप कार्य इस घट रूप कार्यासे जायमान है ऐसी कार्यकारण भावकी संगतिको बता नहीं सकेगा, क्योंकि उसने दोनोंको प्रहण ही नहीं किया है।

उपयुक्त कथनमें कुंभकार और घटका उदाहरण है कि जिस पुरवने एक घटको हो जाना है धीर एक ने कुंभकार में होनेवाले कार्यकारण भावको बता नहीं सकते हैं, टीक इसीप्रकार झान और उसका कारण जाने बिना कोई भी प्रमाण उसके कार्य कारण भावको बता नहीं सकता है। उभय विषयक झानहारा इस ज्ञानके कारणकी प्रतीति होती है ऐसा कहना भी शक्य नहीं है, क्योंकि धाप नैयायिकने अल्प ज्ञानियोंके झामको उभय विषयक माना ही नहीं। झानको जाननेमें प्रवृत्त ज्ञान, प्रवायको भी जान लेता है ध्रेसा वाननेमें प्रवृत्त ज्ञान, प्रवायको भी जान लेता है ऐसा

भ्रवानुसानात्तरकार्यतावसाय , तथाहि-प्रयानीककार्यं विज्ञान तवन्यव्यतिरेकानुविधानात्, यथस्यान्यव्यविरेकावनुविधत्ते तत्तस्य कार्यम् यथानेपूर्यः, अन्यवव्यतिरेकावनुविधत्ते वार्यानोक-योज्ञानम् इति । न वात्रासिद्धो हेतुस्तत्सद्भावे सत्येवास्य जावादणावे वाशावात् । इत्याखङ्क्षणाह्—

तदन्वयञ्यतिरेकानविधानाभावाञ्च केशोण्डकज्ञानवशक्तञ्चरज्ञानवञ्च ॥७॥

तदस्ययव्यत्तिरेकानुविवानाभावाच्च, न केवल परिच्छेद्यत्वात्तयोस्तदकारस्तताऽपि तु ज्ञानस्य तदस्यव्यतिरेकानुविवानाभावाच्च । नियमेन हि यद्यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यम्

नैयायिक मान नहीं सकते, यदि इस तरह का उभय विषयको जाननेवाला ज्ञान स्वीकार करते हैं तो उसे एक पृथक जातिका प्रमाण मानना होगा? (क्योंकि नैयायिक द्वारा माने गये प्रत्यक्षादि चारो प्रमाणोमेसे एक भी प्रमाण उभय विषय बाला नहीं है सभी एक विषयवाले हैं) इस विषयपर आगे ज्याप्ति ज्ञानकी सिद्धि करते समय विचार करेंगे।

शका—पदार्थं ज्ञानके कारण है इस बातका निर्णय भ्रनुपान प्रमाण द्वारा हो जाया करता है, वह भ्रनुपान इसप्रकार है — ज्ञान पदार्थ एव प्रकाश का कार्य है, क्योंकि इन दोनोंके साथ ज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है, जो जिसके साथ भ्रन्य व्यतिरेक रखता है, जैसे अग्निका कार्य धूम है भ्रतः वह अग्निके साथ भ्रन्यय व्यतिरेक रखता है, ज्ञान पदार्थ और प्रकाशके साथ भ्रन्यय व्यतिरेक रखता है, ज्ञान पदार्थ और प्रकाशके साथ भ्रन्यय व्यतिरेक रखता है, ज्ञान पदार्थ और प्रकाशके साथ भ्रन्यय व्यतिरेक विधानक हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि पदार्थ एव प्रकाशके होनेपर ही ज्ञान होता है और नहीं नेपर नहीं होता? इस प्रकार की शका होनेपर उसका निरसन करते हुए श्रो माणिक्यनदी आचार्य सूत्र का सजन करते हैं—

तदम्बय व्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुक ज्ञानवन्नक्त चर ज्ञान वच्च ।७।

सूत्रार्थ—पदार्थ और प्रकाशके साथ ज्ञानका अन्वय व्यक्तिरेक नही पाया जाता, जैसे मच्छर के ज्ञानका तथा बिलाव ग्रादि रात्रिमे विचरण करनेवाले प्राणियोके क्षानका पदार्थ और प्रकाशके साथ ग्रन्थय व्यक्तिरेक नही पाया जाता ।

पहले छठे सूत्रभे कहा था कि पदार्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नही हैं, क्योंकि वे ज्ञानद्वारा परिच्छेच है, बब इस सातवें सूत्रभें दूसरा और भी हेतु देंतें हैं कि ज्ञानके साथ पदार्थ और प्रकाशका अन्वय व्यतिरेक नहीं पाया जाता, इसलिये भी वे यथोग्नेधूं मः । न चानयोरन्वयव्यतिरेकौ ज्ञानेनानुकियेते ।

भन्नोभयप्रसिद्धहशुन्तमाहु-केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तःचवज्ञानवच्च । कामलाखुनहुजचलुषो हि न केशोण्डुकज्ञानेर्यः कारस्यत्वेन व्याप्रियते । तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारः, नयनपक्षादेवी, तत्केशानां वा, कामलादेवी गत्यन्तराभावात् ? न तावदाद्यविकस्यः; न खलु तज्ज्ञानं केशोण्डुकलक्षणेर्ये सत्येव भवति अयाभावप्रसङ्गात् । नयनपदमादेस्तत्कारस्यत्वे तस्येव प्रतिभावप्रसङ्गात्, गगनतलावनम्बितया पुरःस्यतया केथोण्डुकाकारतया च प्रतिभाक्षो न स्यात् । न स्वन्यदस्यनास्यया प्रत्येतुं शक्यम् । प्रय

दोनों ज्ञानके कारण नहीं हैं। जो जिसका नियमसे अन्वय व्यक्तिरेकी होगा वह उसका कार्य कहलायेगा, जैसे अभिनके साथ घूमका धन्वय व्यक्तिरेक होनेसे घूम अभिनका कार्य माना जाता है, किन्तु ऐसा घन्वय व्यक्तिरेक पदार्थ और प्रकाश के साथ ज्ञानका नहीं पाया जाता है।

इस विषयमें वादी प्रतिवादी प्रसिद्ध दृष्टान्तको उपस्थित करते हैं-पीलिया, मोतिया बादि रोग से युक्त व्यक्तिके ज्ञानमें पदार्थ कारए। नहीं दिखाई देता ब्रर्थात नेत्र रोगीको केश मच्छर आदि नहीं होते हए भी दिखायी देने लग जाते हैं, वह मच्छरा-दिका ज्ञान पदार्थके अभावमें ही हो गया, वहां उस ज्ञानमें पदार्थ कहां कारण हुआ ? तथा बिलाव आदि प्राणियोंको प्रकाशके अभावमें भी रात्रिमें ज्ञान होता है उस ज्ञान में प्रकाश कहाँ कारण हुआ ? हम जैन नैयायिक भ्रादि परवादीसे पूछते हैं कि नेत्र रोगी को केशोण्डुक (मच्छर) का ज्ञान हुआ। उसमें कौनसा पदार्थ कारए। पड़ता है, केशोण्डक ही कारण है या नेत्रकी पलकों; अथवा उसके केश, या कामला भ्रादि नेत्र रोग ? इन कारणों को छोड़कर अन्य कारण तो बन नहीं सकते प्रथम पक्ष की बात कहो तो बनता नहीं दैखिये ! यह ज्ञान केशोण्डुक के रहते हुए नहीं होता, यदि होता तो भ्रम क्यों होता कि यह प्रतिभास सत्य है या नहीं ? दूसरा पक्ष-नेत्रकी पलकें उस ज्ञानमें कारण है ऐसा माने तो उसीका प्रतिभास होना था? सामने आकाश कें निराधार केशोण्डक की शकल जैसा प्रतिभास क्यों होता ? (केशोण्डक शब्दका ग्रर्थ उडनेवाला कोई मच्छर विशेष है, मोतिया बिन्द् ग्रादि नेत्रके रोगीको नेत्रके सामने कुछ मच्छर जैसा उड़ रहा है ऐसा बार बार भाव होता है, वह मच्छर भीरा जैसा, भिगर जैसा, जिस पर कुछ रोम खडे हो जैसा दिखाई देने लगता है वास्तवमें वह दिखना निराधार बिना परार्थके ही होता है) अन्य किसी वस्तुकी ग्रन्यरूपसे ग्रन्थ नयनकेशा एव तत्र तवाऽसन्तोषि प्रतिमासन्ते; तर्हि तद्रहितस्य कामिलनोपि तत्प्रतिमासामावः

स्यात् ।

किया, ससी तह से एव प्रतिमाधी भवेत्र पुनर्देशान्तर । न सलु स्वाणुनिवन्यना पुरुषभ्रान्ति-स्त्रहृशादस्यत्र दृष्टा । कथं च तह सता तदाकारता चाउसती तज्जानं जनवेदातो प्राह्मा स्यात् । भ्रय भ्रान्तिवशासस्केषाएव तत्र तथा तज्जानं जनयन्ति ; सस्माकमपि तींह 'चलुमँनसी रूपज्ञानमुत्यादयेते' इति समानम् । यथैव ह्यस्यविषयजनितं ज्ञानमन्यविषयस्य प्राह्कं तथान्यकारराजनितमपि स्यात् ।

ग्रथ कामलादय एव तज्ज्ञानस्य हेतवः; तेम्यव्योत्पनं तदमदेव केशादिकं प्रतिपद्यते; तर्हि निर्मललोचनमनोमात्रकारणादुरपद्यमानं ज्ञानं सदेव वस्तु विषयीकरोतीति किन्नेष्यते?

जगह प्रतीति आना शक्य नहीं है। नेत्र केश केशोण्डकरूपसे उस ज्ञानमें फलकते हैं पैसी तीसरी मान्यता कहो तो नेत्र केश रहित पीलियादि रोग वाले पुरुषको केशोण्डक का प्रतिभास नहीं होना चाहिये, किन्तु उसको भी वैसा प्रतिभास होता है।

तथा मेत्रके केश यदि केशोण्डुकरूप प्रतीत होते हैं तो वे उस नेत्र स्थान पर ही प्रतीत होते हैं, अन्य स्थान पर (सामने ग्राकाश में) प्रतीत नहीं हो सकते थे। सूखे दुक्षरूप ट्रंट में पुरुषपने की भ्रांति होती है वह उस स्थान पर ही तो होती है, अन्यत्र तो नहीं होती? यह जो नेत्र रोगोको केशोण्डुकका ज्ञान हो रहा है उसमें न तो तद्देशता है अर्थात् नेत्रकेश तो नेत्र स्थान पर है और प्रतीति होती है सामने ग्राकाश में, तथा उस ज्ञानमें तदाकारता भी नहीं अर्थात् नेत्र केश का ग्राकार भी नहीं है, फिर किसप्रकार वह उस केशोण्डुक ज्ञानको पैदा करता है, जिससे वह ग्राह्म हो जाय? तुम कहो कि नेत्रके केश ही भ्रम वश ग्राकाश में केशोण्डुक रूपसे केशोण्डुकका ज्ञान पैदा करते हैं, तो हम जैन कहते हैं कि नेत्र तथा मन ही ऐसे ज्ञानको उत्पन्न करता है? इस तरह समान हो बात हो जाती है? जिस प्रकार अन्य विषयका ग्राहक होता है ऐसा यहां मान रहे हो, उसीप्रकार ग्रन्थ कारए। से ज्ञान ग्रन्थ कार्या है उस प्रमान ग्राहक होता है ऐसा मी मानना चाहिए।

भव चौथे पक्ष पर विचार करते हैं— नेत्र रोगोको केशोण्डुक का ज्ञान होता है उसमें कामला आदि रोग ही कारए। है उन कामलादि से उक्षण हुआ वह असत् ऐसे केशादिको ग्रहण करता है, यदि इसतरह नैयायिक कहे तो हम जैन कहते हैं कि निर्मल नेत्र तथा मन रूप कारए।से उत्पन्न हुआ ज्ञान वास्तविक सत् पदार्थको ग्रहण करता है ऐसा क्यों न माना जाय? भवदय ही मानना चाहिये।

#### तत्कवमयंकार्यता ज्ञानस्य धनेन व्यक्तिचारात् संशयज्ञानेन च ?

न हि तब्यें सस्येव भवति; म्राभान्तस्वानुषङ्गात्, तद्विषयभूतस्य स्थाणुपुरुषलक्षशायद्वयस्येकम सङ्कावासम्भवाच्य । सङ्कावे वारेका न स्यात् । म्रायोज्यते-"सामान्यप्रत्यक्षाद्विषेषाप्रस्थकादुभय-विशेषस्मृतेष्य संशयः" [ वैशे • सू • २।२।१७ ] विश्ययः पुनस्तद्विषरीतविशेषस्मृतेः द्वस्यविवानयो-भावः; तदप्यक्तिमात्रम्; तयोः खलु सामान्यं वा हेतुः स्यात्, विशेषो वा, द्वयं वा ? न तावस्ता-मान्यम्; तत्र संशयाद्यभावास् 'सामान्यत्रत्यकात्' द्वस्यभिवानात्, प्रत्यक्षे च वायादिविरोषात् ।

भावार्थः — नैयायिक आदि परवादौ इन्द्रिय भौर मनके साथ साथ पदार्थ और प्रकाशको भी ज्ञानका कारण मानते हैं उनके लिये जैनाचार्य कह रहे हैं कि कामलादि नैत्रके रोगसे युक्त पुरुषको जो मच्छर आदिका प्रतिभास होता है वह बिना पदार्थके ही होता है उस ज्ञानमें पदार्थ कारण कहां हुआ ? यदि कहा जाय कि उस तरह का ज्ञान होनेमें सदीय नेत्र हो कारण है तब तो यह भलो प्रकार सिद्ध होता है कि निर्दोष नेत्र तथा मन स्वरूप कारण से सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है प्रयात् ज्ञानके लिये पदार्थक्य कारणकी कोई जरूरत नहीं रहती है।

इसप्रकार ज्ञान पदार्थका कार्य है इस कथनका केशोण्ड्रक ज्ञानके साथ व्यक्षिचार आता है तथा संशय ज्ञानके साथ भी व्यक्षिचार आता है। संशय ज्ञान पदार्थके मौजूदगी में तो होता नहीं, यदि पदार्थके सद्भाव में होता तो संशय होता ही नहीं। संशय ज्ञानका विषय स्थाणु तथा पुरुष है वे दोनों पदार्थ एकत्र पाये जाना तो स्रसंभव है। यदि दोनों एक स्थान पर होते तो संशय हो नहीं सकता था।

नैयाधिकः— सामान्य के प्रत्यक्ष होनेसे तथा विशेष के प्रत्यक्ष न होनेसे उभय विषय संबंधी स्मरण रूप जान होता है उसे संशय कहते हैं, धर्षात ट्रंट एवं पुरुष दोनोंमें रहनेवाला सामान्य धर्म जो ऊंबाई है उसका तो प्रहण हुआ और स्थाणु तथा पुरुषका पृथक पृथक जो विशेष धर्म है उसका ग्रहण नहीं हुमा तब संशय जान उत्पन्त होता है, इसलिये जिसमें विशेष है ऐसे सामान्यरूप पदार्थमें ही संशय होता है विना पदार्थके नहीं होता है, तथा विषयं जान विपरीत विशेषकी स्मृति होनेसे उत्पन्न होता है ध्रतः वह भी पदार्थसे होता है, इसप्रकार दोनों ज्ञानोंमें ध्रयंकारणात मौजूद है ?

जैन:—यह कथन ठोक नहीं, धाप यह बताइये कि संशय एवं विपययज्ञानमें कौनसा पदार्थ कारण है, सामान्य है या विशेष अथवा दोनों ही ? सामान्यको कारण विशेषविषयं च संशयितिज्ञानम् । न चास्य सामान्यं जनकं युज्यते । न सान्यविषयं ज्ञानमन्येन कन्यते, रूपज्ञानस्य रसादुत्पत्तिप्रसङ्गात् । यथा च सामान्यादुपबायमानं तदसतो विशेषस्य वेदकं तयेन्द्रिय-मनोभ्यां वायमानं सतः सामान्यादेदपीति व्ययायिस्य तद्धेतुत्करूपना । सामान्यार्यंज्ञते चास्य स्वयान्यंज्ञस्यतिज्ञाविरोधः, कामिनश्च केशोण्डुकादिज्ञानानुत्पत्तः, न सनु तत्र केशोण्डुकादिज्ञमान- धर्मा वर्मी विद्यते यहर्षनात्तस्यात् । तन्तास्य सामान्य हेतुः ।

नापि विशेषस्तत्र तदभावात् । न खलु पुरोदेशे स्थाणुपुरुषलक्षाणो विशेषोस्ति तज्ज्ञानस्या-

बता नहीं सकते, क्योंकि संशय ज्ञानका कारण है तो वह प्रत्यक्ष हो चुका है श्रव उसमें क्या संशय रहेगा ? जो विषय है उसके प्रत्यक्ष होनेपर संशय रहनेमें विरोध श्राता है। संशय आदि ज्ञान तो विशेषको विषय करनेवाले हुआ करते हैं अतः इन ज्ञानोंका जनक सामान्य नहीं हो सकता, यदि धन्य विषय वाला जान अन्य कारणसे उत्पन्न होना मानेंगे तो रूपके ज्ञानकी उत्पत्ति रससे होती है ऐसा भी मानना होगा। तथा आप जिस प्रकार इस ज्ञानको सामान्यसे उत्पन्न हुआ मानकर असत् रूप विशेषकी प्रतीति करनेवाचा स्वीकार करते हैं उसीप्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति तो मन और इन्द्रियसे होती है किन्तु वह ज्ञान जानता है सामान्य आदि विषयोंको, इस तरह स्वीकार करना होगा। इसप्रकार पदार्थको ज्ञानका कारण माननेको कल्पना व्यर्थहो जाती है। तथा ग्राप लोग यदि इस संशय ज्ञानको सामान्य अर्थसे उत्पन्न हुआ मानते हैं तो विरोध आता है. क्योंकि भ्रापका प्रतिज्ञावाक्य है कि स्थारण और पुरुषके अंशरूप ग्रथोंमें एक ग्रंश तो विद्यमान होनेसे अर्थरूप ही है ग्रीर दूसरा विद्यमान नहीं होनेसे ग्रनथंरूप है उन दोनों-मर्थ तथा मनसे संशय ज्ञान पैदा होता है, इसप्रकारका प्रतिज्ञा बाक्य यहां संशय ज्ञानको सामान्यसे उत्पन्न हुन्ना माननेसे नष्ट होता है। तथा पौलियां रोगीको जो केशोण्डकादिका शान होता है वह भी नहीं हो सकेगा? क्योंकि केशोण्डक ज्ञान सामान्यसे उत्पन्न नहीं हुमा है। पीलियां रोगोको जो सामने माकाशमें केशोण्डुकका ज्ञान होता है सो वहां निराधार ग्राकाशमें केशोण्डुक के समान आकृति वाला कोई पदार्थ तो है नहीं जिससे कि उसके देखनेसे केशोण्ड्कका प्रतिभास होवे ? ग्रत: निश्चित हुआ कि संशयादि ज्ञानमें सामान्य धर्म कारण नहीं है।

दूसरा विकल्प—संशय ज्ञानमें विशेष धर्म निमित्त होता है ऐसा कहना भी नहीं बनता, वहां तो विशेषका अभाव है, किसी व्यक्तिको सामने जो श्रम हो रहा है भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । स्वाणुरस्तौति चेत्; कयं ततः कि पुरुषा पुरुष एवेति पुरुषाशावद्याया ? धन्य-यान्यत्रापि ज्ञानेर्थस्य काष्य्यत्वरूपना व्यया । तन्न विशेषापि तद्वेतुः । नाप्युभयम्; उभयपक्षोक्त-क्षेषानुपङ्गात् । ततः संययादिज्ञानस्यार्षाभावेष्युपलस्भात्कवं तदभावे ज्ञानाभावविद्वियंतीर्यकार्यतास्य स्मात् ?

नतु भ्रान्तं तत्ते नापलभ्यते, न चान्यस्य व्यक्तिचारेन्यस्य व्यक्तिचारोऽतिप्रसङ्गात्; इत्यब्ध-समीक्षिताभिधानम्; स्वपरग्रहण्लक्षात् हि ज्ञानम्, तत्र व यथा सत्याभिमतज्ञानं स्वपरश्चाहकं तथा

कि ''यह पुरुष है या स्थाणु'' उस व्यक्तिको अपने सामने पुरुष या स्थाणुका विशेष तो मालूम ही नहीं है, विशेष धर्म वहां है ही नहीं यदि होता तो वह शान अन्नांत कहलाता । स्थाणुत्वरूप विशेष धर्म उस शानमें प्रतीत होता है ऐसा कहना भी ठोक नहीं, क्योंकि यदि विशेष धर्म अलकता लो यह पुरुष है क्या ? पुरुष ही होना चाहिए ! इस तरह पुरुष अंशको प्रतीति क्योंकर होती है ? यदि स्थाणुमें प्रविद्यमान ऐसे पुरुष आंशको प्रतीति हो सकती है तो पदार्थको शानका हेतु मानना ही ध्यं है, अतः संशय शानका कारण विशेष धर्म होता है ऐसा कहना भी सिद्ध नहीं होता है। सामान्य और विशेष दोनों धर्म कारण होते हैं ऐसा मानते हैं तो भी गलत होता है, इस मान्यतामें तो दोनों पक्षके दोष आ आयेंगे। इसलिये संशयादिशान पदार्थके अभावमें उपलब्ध होते हैं ऐसा सिद्ध होता है।

अतः पदार्थके ग्रमावमें शान नहीं होता ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता उसके ग्रसिद्ध होनेसे ''शान पदार्थका कार्य है" इसतरह का कवन असिद्ध हो ही जाता है।

शंका: — ये संशयादि ज्ञान भ्रांत हैं भ्रतः विना पदार्थ के हो जाते हैं, भ्रांत ज्ञानोंमें पदार्थ के साथ रहना व्यभिचरित होनेसे अभ्रांत ज्ञान भी पदार्थके व्यभिचरित होवे ऐसी बात तो है नहीं, यदि अन्यका व्यभिचार भ्रन्यमें लगायेंगे तो भ्रति प्रसंग होगा ? फिर तो गोपालघटिकाके सूमको श्रान्क साथ व्यभिचरित होता हुम्रा देखकर पर्वतपर स्थित अग्निसे होनेबाले सुमको भी व्यभिचरित मानना होगा ?

समाषान:— यह शंका ठीक नहीं, ज्ञानका लक्षण तो स्वपरको जानना है अब इस लक्षराखे युक्त ज्ञानोंमें से जो सत्यरूप स्वीकार किया है वह जिसप्रकार स्वपरका प्राहक है उसप्रकार केशोण्डुकारिका ज्ञान ( ग्रसस्य ज्ञान ) भी स्वपरका प्राहक है, हां इतनी विशेषता है कि कोई ज्ञान विद्यमान वास्तविक पदार्थका ग्राहक है, क्योंकि उस केशोण्डुकाविज्ञानमपि । एतवाँस्तु विश्वेश:-किश्वित्सत्यरं गृह्णांत खंबादसद्भावारिकश्वित्सदिसंवादात्, न चेतावता जास्यन्तरत्वेनानयोरन्यत्वं ताम्यां व्यक्षिचाराभावो वा । घन्यवा 'प्रयत्नानन्तरीयकः खंब्द: कृतकत्वाद् षटादिवत्' इत्यादेरप्यप्रयत्नानन्तरीयकीविद्युद्धनकुसुमादिक्षिनं व्यक्षिचारः, ताल्वादि-द्यव्यदिजनिताच्छव्दघटादेस्तदिवरीतस्य विद्युवारेन्यस्वात् । न चान्यस्य व्यक्षिचारेज्यस्यापि व्यक्षिचारोऽतिवसङ्गत् । तथाप्यत्र व्यक्षिचारे प्रकृतिपि सोऽस्तु विशेषाभावात् ।

ज्ञानके विषयमें संवादका सद्धाव है. और कोई ज्ञान ग्रविद्यमान अवास्तविक पदार्थ का ग्राहक है, क्योंकि उसके विषयमें विसंवाद देखा जाता है। किन्तू इतनेमात्रसे इन दोनोंमें सर्वथा भेद नहीं मान सकते, अन्यथा शब्दकी अनित्य माननेवाले जैनादिके द्वारा उपस्थित किये जाने वाले अनुमानमें परवादी व्यभिचार नहीं दे सकेंगे, अर्थात शब्द प्रयत्नके अनंतर उत्पन्न होता है (पक्ष) क्योंकि वह किया हम्रा है (हेत्) जैसे घटादि पदार्थ (इष्टांत) इस अनुमानमें परवादी दोव देते हैं कि वनके पूष्प, विद्युत आदि श्रनित्य होकर भी बिना प्रयत्नके होते हैं अत: शब्दको भी बिना प्रत्यत्नके होना मानना चाहिये ? किन्तु परवादीका ऐसा अनुमानमें दोष देना ग्रसतु है, क्योंकि ताल आदि के द्वारा उत्पन्न हुमा शब्द एवं दण्ड आदिके द्वारा उत्पन्न हए घट आदिक जो पदार्थ हैं उनसे विपरीत ही विद्यात एवं वनपूष्पादिक है, ग्रर्थात् वन पूष्प भादिकी जाति भिन्न है ग्रीर घटादिकी जाति भिन्न है। वनपुष्पादिमें बिना प्रयत्नके होनेका व्यभिचार देख घट आदि में उसको लगाना तो अतिप्रसंगका कारण होगा । यदि विद्युत भ्रादि पदार्थ भीर घट ग्रादि पदार्थ इनमें भिन्न भिन्न जातिपना होते हुए भी ग्रन्यका व्यभिचार ग्रन्यमें लगा सकते हैं तो यहाँ प्रकरण प्राप्त ज्ञानके विषयमें भी उसकी घढित कर सकते हैं। प्रयात विषयं आदि ज्ञान विना पदार्थके हैं वैसे सत्य ज्ञान भी विना पदार्थके होते हैं भिन्न जातिपना उभयत्र समान है, कोई विशेषता नहीं है ।

विशेषायं: — नैयायिक अभिमत अयंकारए।वादका प्रकरण चल रहा है, ज्ञान पदार्थंसे उत्पन्न होता है ऐसा बौद्धका कहना है, एवं ज्ञानके लिये पदार्थं भी निमित्त हुमा करते हैं ऐसा नैयायिक का कहना है, इस मान्यता का निरसन करते हुए प्राचार्यंने कहा कि नेत्र रोगोको पदार्थंके अभावमें भी ज्ञान होता है तथा संश्वादि ज्ञान पुरुषत्व आदि विशेष धर्म के अभाव में भी प्रायुम्त होते हुए देखे आते हैं, अतः ज्ञानमें पदार्थंक एक कारण मानना वाधित होता है। आवार्यंके इस कथन पर परवादोंने कहा कि

किञ्च, 'कारणमेव परिच्छेवम्' इत्यान्युवामे योगिज्ञानास्त्राक्कालभाविन एवार्थस्यानेन विरिच्छिताः स्पात् तस्येव तत्कारणत्वात्; न पुनस्तत्कालभाविनोऽभाविनो वा, तस्यातत्कारणत्वात्। लग्वात्मनामं हि किचित्कस्यिवत्कारण् नान्यवातिप्रसङ्कात्। तथाप्यनेन तत्परिच्छेदेऽण्यज्ञानेनाप्य-तत्कारणस्याप्यर्थस्य परिच्छेदः स्यात्। तथा चेदमयुक्तम्-"प्रार्थस्वकारितयार्थवद्यमाण्य्" [ ] इति। तदपरिच्छेदे वास्यासवज्ञतानुवङ्गः। ज्ञानान्तरेण् परिच्छेदे तस्यापि ज्ञानान्तरस्य समसमय-भाविनोर्थस्यापरिच्छेदक्षात्वार्थस्य स्वज्ञतिति चिन्त्यम्।

संशयादि ज्ञान भ्रान्त—असत्य है अतः वह बिना पदार्थं के होता है किन्तु प्रभ्रान्त ज्ञान बिना पदार्थं के नहीं होते हैं, संशयादिमें पदार्थं के बिना होने का व्यभिचार आता है तो उस व्यभिचार को सत्य ज्ञानमें नहीं लगाना चाहिये। तब भ्राचार्यं उत्तर देते हैं कि ठीक है, किन्तु प्राप स्वयं ग्रन्यका व्यभिचार ग्रन्यमें लगाते हैं, शब्दको अनित्य मानने वाले किसी दार्शनिकने अनुमान उपस्थित किया कि शब्द प्रयत्नके बाद उत्पन्न होता है वयों कि हतक है। इस श्रनुमानमें श्राप दूषण् देते हैं कि विद्युत श्रादि अनित्य होकर भी बिना प्रयत्नके होते हैं, सो शब्द आदिकी जाति और विद्युत श्रादिकी जाति भिन्न होते हुए भी ग्रापने क्यों कर ग्रन्यका व्यभिचार प्रन्यमें लगाया? यदि यहां ग्रन्यकी बात अन्य में घटित हो सकती है तो ज्ञानके विषयमें भी घटित हो सकती है दोनों जगह समान बात है।

दूसरी बात यह है कि जो ज्ञानका कारण होता है वही परिच्छेख (जानने योग्य) होता है ऐसा नियम बनायेंगे तो योगियों के ज्ञान द्वारा वही पदार्थ जाने जा सकेंगे कि जो उस ज्ञानके पूर्ववर्त्ती है, क्यों कि पूर्ववर्त्ती पदार्थ हो उस ज्ञानकें कारण बन सकते हैं, वर्तमानके पदार्थ एवं भविष्यत के पदार्थ योगीके ज्ञानद्वारा प्रहण नहीं हो सकेंगे ? क्यों कि वे उसमें कारण नहीं हैं, पदार्थ स्वयं स्वभावको प्राप्त करनेके धनंतर ही अन्य के लिये कारण बन सकते हैं अन्यया अतिप्रसंग दोष घाता है। यदि वर्तमान एवं भविष्यत के पदार्थ योगी ज्ञानमें कारण नहीं है तो भी उस ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं ऐसा मानते हैं तो अन्य सामान्य व्यक्तिके ज्ञानद्वारा भी अकारण रूप पदार्थ जाने जाते हैं ऐसा भी स्वीकार करना होगा ? इसप्रकार ज्ञानमें पदार्थ भी कारण हुआ करते हैं ऐसा कहना गलत ठहरता है, अतः ''अर्थ सहकारितया धर्यवत् प्रमाणम'' पदार्थक्प सहकारी कारणसे ज्ञान उत्पन्न होनेकी वजहसे पदार्थका कार्य कहलाता है ऐसा कहना अलीक सिद्ध होता है। इस आपत्तिको दूर करने हेतु परवादी कहे कि

सारिकाले वार्यस्य मानकालेऽसरवात्कचं तेन यहराम् ? तदाकावता वास्य प्रावशस्त्रका । सस्यां वा तस्या एव महरायवसार्यतीर्थस्याम्रहरायतिदाऽसर्वज्ञत्वम् । न सनु चेवसहरो केने हब्दे प्रवास्त्रविकालक्षेत्रो हृष्टो भवत्यन्यवोपचारात् । साक्वी चोपचारेस्य सर्वज्ञत्वक्ष्मना सुगतस्य सर्वस्य विवासक्ष्मकस्यविक्षति वेदने तत्सहस्यस्य सत्वेन सर्वेन्य वेदनसम्प्रवात् । सत्वेन सर्वेस्य

योगीका ज्ञान वर्त्तमान एवं भविष्यतके पदार्थको जानता ही नहीं ! तब तो योगीजनके इसवंत्रपना मानना पडेगा ! जो किसीको इट नहीं है । इस दूषणुको हटाने हेत् कोई प्रखर बदिवाला समाधान करे कि योगोंके अन्य ज्ञान भी होते हैं उनमेंसे किसी ज्ञान द्वारा बत्तंमान भ्रादि पदार्थोंको जानना हो जायगा ? सो यह बात भी असत है, वर्रामान एवं भविष्यतके पदार्थको अन्य ज्ञान जान भी लेवे किन्तू उससे कोई मतलब नहीं निकलता क्योंकि इस अन्य ज्ञानके समान कालमें होने वाले जो पदार्थ हैं उनका जानना तो रह जाता है! अत: सर्वजपना किस प्रकार सिद्ध करना यह प्रवन तो विचारणीय ही रहता है। बहुत से एकांतवादी पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं सो वे क्षणिक पदार्थ ज्ञानके समयमें नष्ट हो जानेसे किसप्रकार ज्ञानद्वारा ग्रहण हो सकेंगे यह भी एक जटिल समस्या है। क्षणिकवादी बौद्ध पदार्थको ज्ञानका कारण मानते हैं खनको क्षिणिक मानते हैं एवं उन पदार्थोंका ज्ञानमें आकार आना भी स्वीकार करते हैं. किन्त यह सारी मान्यता सिद्ध नहीं होती, ज्ञानके तदाकारताको तो प्रथम भागके साकार ज्ञानवाद नामा प्रकरणमें खण्डन कर आये हैं। यदि बौद्धके कदाग्रहसे क्षणभर के लिये उसे मान भी लेवे तो पूर्वोक्त दोष ग्राता है कि सर्वज्ञताके अभावका प्रसंग श्राता है क्यों कि ज्ञान पदार्थके आकार का होकर मात्र उस आकार को जानता है तो उसने परमार्थतः पदार्थको जाना ही नहीं। चैत्र और मैत्र दो समान आकृति वाले परुष हो भीर उनमें मात्र एक चैत्रको देखा तो मैत्र को देखा ऐसा परमार्थसे तो मान -नहीं सकते, उपचार मात्र से कह देना दूसरी बात है कि चैत्रके समान ही सैत्र है ग्रतः मैत्रके देखनेसे चैत्रको देखा हुन्ना समभी। इसप्रकार उपचार मात्रसे सूगतमें सर्वज्ञकी कल्पना करना परवादी बौद्धको इष्ट है तब तो सभी प्राणी सर्वज्ञ बन बैठेंगे ? एक किसी सत्रूप पदार्थको जान लेने से ही अन्य संपूर्ण पदार्थीका जानना हो जायगा, क्योंकि सत् सामान्यसे संपूर्णं पदार्थ सहश हैं ?

सर्वेण वेदनमन्येस्तु वर्मैरवेदनमिति चेत्; तहि [ "ए ] कस्यायंस्वभावस्य" [प्रमाणवा० १।४४] इत्यादिग्रन्यविद्याः। सत्त्वेनापि तदबहणे न सादव्यं ग्रह्णकारण्यिति कथं सुनतस्योपचारेखापि वहिः प्रमेयग्रहण्यः ?

कवं चैववादिनो भावस्योत्पद्यमानता प्रतीयेत-सा ह्युत्पद्यमानार्थसमसमयभाविनाः ज्ञानेन प्रतीयते, पूर्वकालभाविना, उत्तरकालभाविना वा ? न तावत्समसमयभाविनाः; तस्याऽतत्कार्यत्वात् । नापि पूर्वकालभाविनाः; तत्काले तस्याः सत्याभावात् । न चासती प्रत्येतुं शक्याः; अकारएात्वात् ।

बोद्ध:—सभी के सर्वज बन जानेका प्रसंग प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि सक्ता सामान्यरूप वस्तुप्रोंके एक धर्मको लेने पर भी धन्य ग्रन्य नीलस्व पीतत्व धादि धर्म तो जाने नहीं ?

जैन:—ऐसा कहेंगे तो घापकेप्रमाणवात्तिक नामा प्रथके वाक्यके साथ विरोध होगा, क्योंकि उसमें लिखा है कि पदार्थके एक स्वभावको प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा लेने पर ऐसा कौनसा स्वभाव नहीं जाना जाता, प्रधात जाना ही जाता है, इत्यादि । इस दोषको दूर करनेके लिये कहा जाय कि ज्ञान सत् सामान्यसे वस्तुओं को नहीं जानता, सो यह कथन और भी गलत होगा अर्थात् संपूर्ण वस्तुओं को जाननेका कारण साइक्य है सत् सामान्यसे एक वस्तुको जान लेने पर घरोष वस्तु प्रह्मण में बा जाती है ऐसा नहीं कह सकेंगे भीर ऐसी परिस्थित में सुमत के उपचार मात्रसे भी बाह्य पदार्थीका जानना सिद्ध नहीं होता परमार्थकी बात तो दूर ही है।

पदार्थको ज्ञानका कारण मानने वाले वादीगण उस पदार्थको उत्पद्यमानताको किसप्रकार जान सकेंगे यह भी समक्रमें नहीं आता, बताइये कि वस्तुका उत्पद्यमान धर्म उस वस्तुके समान कालमें होने वाले ज्ञान द्वारा जाना जाता है कि पूर्ववर्त्ती ज्ञान द्वारा जाना जाता है शिक्षया उत्तर कालवर्ती ज्ञान द्वारा जाना जाता है ? समान कालवर्ती ज्ञान द्वारा जाना जाता है ? समान कालवर्ती ज्ञान द्वारा जाना जायगा ऐसा कहो तो ठोक नहीं, क्योंकि ज्ञानके समान काल में होनेवाला पदार्थ के उत्पद्यमान धर्मका कार्य ज्ञान नहीं है अर्थात् ज्ञान उससे उत्पन्न नहीं हुआ है । पूर्व कालवर्त्ती ज्ञान वस्तुकी उत्पद्यमानता को जानता है ऐसा दूसरा पक्ष भी गलत है, क्योंकि उस ज्ञानके समयमि उत्पद्यमानता है नहीं; असत् उत्पद्यमानता को जानका इसलिये शक्य नहीं है कि वह उत्पद्यमानता ज्ञानके प्रति कारण नहीं है। पूर्वकालवर्ती ज्ञानके समय पदार्थका वह धर्म उत्पत्यमानता ज्ञानके प्रति कारण नहीं है।

तदा समूत्यत्स्यमानतार्थस्य म तूत्पद्यमानता । नाप्युत्तरकालभाविनाः; तदा विनष्टत्वात्तस्याः । न हि तदोत्पद्यमानतार्थस्य कि तृत्पन्नता ।

नित्येश्वरक्षानपत्ती सिद्धमकारणस्याप्ययंस्थानेन परिच्छेबात्वम् । तद्वत्येमापि स्थात् । प्रमायक्तियंत्वे तद्वन्तिस्यत्वान्तिबिकार्यप्राहित्वानुषङ्गः; न; चक्षुरादिकार्यत्वेनानित्यत्वात् । प्रति-नियतवस्तित्वाच्च प्रतिनियतार्यप्राहित्वम् । न खनु येकस्य वक्तिः सान्यस्यापि, प्रन्यथा सर्वस्य सर्व-

उत्तरकालवर्सी जान द्वारा वह उत्पद्यमानता जानी जाती है ऐसा कहना भी ठीक नहीं उत्तरकालमें तो वह नष्ट हो चुकती है उस समय पदार्थ का वह धर्म उत्पद्यमान न होकर उत्पन्नरूप कहलायेगा।

इसप्रकार बौद्धके पक्षमें ज्ञान पदार्थका कार्य है, पदार्थ ज्ञानमें काररा पड़ता है, इसप्रकार के कथनमें जो दोष आते हैं बतलाइये।

धव नैयायिकको पुनः समन्ताते हैं कि आप पदार्थको ज्ञानका कारए। मानते हैं सो इस मान्यतामें अव्याप्ति नामका दूषण आता है, आप ईदवर तथा उसके ज्ञानको नित्य मानते हैं, जो नित्य होता है वह किसीसे उत्पन्न नहीं होता ग्रतः ईपवर का ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न नहीं हो सकता, वह पदार्थसे उत्पन्न न होकर भी उसको जानता है, ऐसा ग्राप मानते भी हैं फिर इसीप्रकार अन्य प्राशिप्योंके ज्ञान भी पदार्थसे उत्पन्न नहीं पदार्थको जानने वाले हो जावे क्या वाधा है ?

. श्रांका:--- प्रत्य झानोंको पदार्थका कार्य नहीं माने तो वे झान भी ईदवरके झानके समान नित्य हो जानेसे संपूर्ण वस्तुओंको जानने वाले हो जायेंगे ?

समाधानः — ऐसा दोष जैनपर नहीं ब्रा सकता, हम यद्यपि ज्ञानको पदार्थका कार्य नहीं मानते फिर भी उसमें प्रनित्यता सिद्ध होतो है, क्योंकि हम लोग ज्ञानमें इन्हियोंको कारण मानते हैं, चक्षु आदि इन्हियोंका ज्ञान कार्य है। हम जैसे अरुपण जीवोंका ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है, यह प्रतिनियत शक्तिवाला रहता है इसी-कारणसे प्रतिनियत कतिपय पदार्थोंका ग्राहक होता है सब पदार्थोंका नहीं। ऐसा भी नहीं होता कि किसी एक वस्तुमें जो शक्ति है वह प्रन्य वस्तुमें भी होते, यदि एककी शक्ति प्रन्यमें होना स्वौकार करेंगे तो बड़ी भारी आपत्ति आयेगी—फिर तो महेस्वर के समान सब प्राणी सबके कर्ता चर्ता वन बैठेंगे। जिस प्रकार ईश्वर कार्यसमूह द्वारा

कर्तृंत्वानुषञ्जो महेदवरवत् । ययैव हीदवरः कार्यक्षायेखानुपिक्यमाखोप्यविशेवेखा तं करोति तथा कुम्भकाशांवरिषि कुर्वात् । न हि सीपि तेनोषिकयते येन 'उपकारकमेव कुर्यान्नान्यम्' इति नियमः स्यात् । यक्तिप्रतिनियमात्तदिविशेषिप किचत्कस्यचित्कत्तरेयम्युष्यमो बाहकत्वपक्षीप समानः ।

ननु यद्यर्षाभावेषि ज्ञानोत्पत्तिः कुतो न नोनावर्षपहिते प्रदेशे तद्भवति ? भवत्येव नयनमनसोः श्रीराधाने । कदं न नीलावर्षप्रहराम् ? तत्र तदमावात् । कदं 'तहुरुग्नम्' इत्यवगमः ? न हि

उपकृत न होकर भी अविशेष रूपसे उसको करता है। उसीप्रकार कुंभकार म्रादि सभी प्राणी भी अशेष कार्यको कर सकेंगे? (क्यों कि एककी शक्ति अन्यमें हो सकती है ऐसा आपने मान लिया है) कुंभकार भी उस कार्य समुहद्वारा उपकृत तो होता ही नहीं, जिससे कि वह भ्रपने उपकारकको ही करे, श्रन्यको न करे इस्तरह का नियम बन सके। यदि कोई कहे कि कुंभकार आदि प्राणी अल्पनियत शक्ति बाले होते हैं अत: ईश्वरके कार्य द्वारा उपकृत नहीं होते हुए भी किसी किसी कार्यको ही कर सकते हैं, सब कार्यों को नहीं? सो यही बात झानके ग्राहक पक्षमें घटित कर लेनी चाहिये, ग्राम्यत ज्ञान पदार्थके उत्पन्न नहीं होकर भी अपने शक्ति के अनुसार योग्य पदार्थका आहक होता है।

शंका: —यदि पदार्थके ग्रभाव में भी ज्ञान होता है तो नील ग्रादि पदार्थ जहां-पर नहीं हैं ऐसे स्थान पर भी नील आदिकी प्रतीति होनी चाहिये ?

समाधान:—होती है, नेत्र तथा मनसे जो ज्ञान होता है उस स्थानमें पदार्थ रहते ही नहीं, तुम कही कि फिर वहां नीलादिका ग्रहण (प्राप्ति) भी होना चाहिये? सो ऐसी बात नहीं है, वहाँ पदार्थ नहीं होनेसे ग्रहण नहीं होता । फिर शंका होती है कि पदार्थ के नहीं होनेपर जो ज्ञान होता है तो "वह ज्ञान उत्पन्न हुआ" इसप्रकार केसे ज्ञान सकेंगे? जो ज्ञान विषयको नहीं जानता उसको 'हैं' ऐसा कहना युक्त नहीं अन्यथा सर्वत्र सर्वदा सभीको वह ज्ञान होवेगा? सो यह शंका भी ग्रसार है, सामने उपस्थित नील ग्रादि पदार्थको ज्ञान ही ग्रहण करते हुए देखा जाता है। फिर शंका करते हैं कि जब ज्ञान वस्तु को ग्रहण करता है उस वक्त दूसरा ही ज्ञान रहता है? सो यह शंका ठोक नहीं, क्या थाप इस समय प्रकाश स्वरूप ज्ञानमें भेद मानना चाहते हैं? यदि मानेंगे तो दीपक में घट पट ग्रादिको अकाशित करनेकी अपेक्षा भेद मानना

हिष्यमपरिष्ठिन्द्वन् ज्ञानम् 'सस्ति' इति बुक्तम्, धन्यवा सर्वत्र सर्वेदा सर्वस्य तदनिवार्यं भवेदित्व-प्यसादम्; तत्रोपनीतस्य नीलादेस्तेनेव ग्रहणोपनम्भात् । तदेव तदन्यञ्ज्ञात (न) मिति चेत्कि-मिदानीं प्रतिविषयं प्रकाशकस्य भेदः ? तथाभ्युपमभे प्रदीपादेरपि प्रतिविषयमन्यस्वप्रसङ्गः। प्रस्य-पिक्षानमुभयत्र समानम् ।

नम्बर्षाभावेषि ज्ञानसद्भावेऽतीतानागते व्यवहिते च तस्त्यास्त्रभिहितवत् । नतु (नतु) तत्र तस्त्यादिति कोर्यः ? कि तत्रोत्पर्योत, तद्भाहकं वा भवेदिति ? न तावतत्रोत्पर्योत; भारमनि तदु-

पड़ेगा, प्रयात् घट को प्रकाशित करनेवाला टीपक पृथक है और पटको प्रकाशित करनेवाला टीपक प्यक है ऐसा मानना होगा। तुम कहो कि दीपक में तो प्रत्यभिज्ञानके कारण जिस दीपक ने घटको प्रकाशित किया पटको वही प्रकाशित करता है।
"इसप्रकार का एकल सिद्ध होता है, प्रत्येक विषयमें भेद की बात नहीं रहतो ?
सो ठोक है, यही प्रत्यभिज्ञानकी बात ज्ञानके संबंधमें भी सुप्रटित होती है, उसमें
भो "जो आत्मा नील ज्ञानसे परिणत था बही अन्य ज्ञानसे परिणत है" ऐसा एकल
सिद्ध होता है।

शंकाः—पदार्थके स्रभावमें भी ज्ञानका सद्भाव होवेगा तो ग्रतीतके पदार्थमें ग्रनागतके पदार्थमें और व्यवहित के पदार्थ में भी ज्ञान होवेगा, जैसे कि मिकटवर्ती वर्रामानके पदार्थमें होता है ?

समाधान—''ग्रतीत ग्रादिमें नह होवेगा'' इस वाक्यका क्या अर्थ करना इसपर पहले सोचें! अतीत ग्रादिमें जानें उत्पन्न होता है अथवा उनको प्रहण करता है? यदि उत्पन्न होनेका ग्रयं मानते हैं तो गलत है, ज्ञान अतीत ग्रादिमें उत्पन्न होता हो नहीं वह तो आत्मामें होता है तथा ग्रतीत ग्रादिको ग्रहण करता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानके लिये वे ग्रतीतादिक ग्रयोग्य है—जानने योग्य नहीं है।

यह भी बात है कि उत्पन्न हुमा ज्ञान सभी पदाधोंको जाने ही ऐखा नियम नहीं है, ज्ञान तो त्वयोग्य वस्तुका ग्राहक हुमा करता है। कारएकि पक्षमें भी यही प्रदन होता है जो ज्ञानके विषयमें किया है, कुंभकार ग्रादि कर्ता घट ग्रादि पदार्थके कारण है, वह कार्यद्वारा उपकृत हुए विना ही कार्यको करते हैं, सो इस विषयमें प्रकन त्यस्यभ्क्ष्यगमात् । नापि तद्प्राहकं भवेत्; प्रयोग्यत्वात् । न खलु तदुत्पन्नमपि सर्वं वेति; योग्यस्येव वेदनात् । कारवेषि चैतन्त्रोधं समानम् । तत्रापि हि कारशं कार्येणानुपिक्यमाणं यावत्नितिनवतं कार्यमुत्पादयति तावस्यवं कस्मास्रोत्पादयतीति वोद्यं योग्यतेव वारणम् । ततो ज्ञानस्यार्थान्वयव्य-तिरेकानुविधानाभावात्वयं तत्कार्यता यतः "प्रशंवत्प्रमाणम्" [ न्यायमा• पृ० ] १ इत्यत्र भाष्ये "प्रमानुप्रमेयाभ्यामयन्तिस्वययदेव्याऽव्याभिवादिव्यवसायात्मके ज्ञाने कर्राव्येऽयंसहकादितयार्थ-वत्प्रमाणम्" [ ] इति व्यास्था धोनेत ? तन्नार्थकार्यता विज्ञानस्य ।

नाप्यालोककार्यता ; श्रञ्जनादिबंस्कृतचक्षुषां नक्तश्वराणां चालोकाभावेषि ज्ञानीत्पत्ति-

होता है कि कुंभकारादि प्रतिनियत घट आदिको ही क्यों करता है मन्य सभी कार्य को क्यों नहीं करता ? इस प्रस्त का उत्तर देने के लिये परवादीको योग्यता की ही शरण लेनी होगी, प्रयत् कुंभकार आदि कारण में इतनी हो योग्यता है कि वह घट आदि कार्यको हो कर सकता है। मन्यको नहीं। ठोक इसी प्रकार ज्ञान भी खारमासे उत्पन्न होकर अपने योग्य विषयको जानता है सभी को नहीं, ऐसा मानना होगा । इसलिये ज्ञानका पदार्थ और प्रकाशके साथ घन्यव्यतिरेक नहीं होनेसे ज्ञान उनका कार्य नहीं कहला सकता । मतः निम्न लिखित कथन मसत् ठहरता है कि "भ्रषंवत् प्रमाण्म" प्रमाण पदार्थ के सहकारितासे उत्पन्न होता है, इस न्याय सूत्र को व्याख्या है कि जो प्रमाता और प्रमेयसे पृथक् है । अव्याख्यस्थ, निर्मेष, निरुचायक ज्ञान स्वरूप है एवं पदार्थकी सहकारितासे उत्पन्न होता है वह प्रमाण कहलाता है।

इसप्रकार पदार्थ ज्ञानका कारण है ऐसा कथन निराक्तत होता है। श्रव यहां पर जो परवादी प्रकाश को ज्ञानका कारण मानते हैं उनका निरसन किया जाता है ज्ञान प्रकाशका भी कार्य नहीं है, क्योंकि जिनके नेत्र श्रंजन श्रादिसे संस्कारित हैं उन मनुष्योंके तथा विलाव, सिंह ग्रादि पशुश्रों के शानकी उत्पत्ति विना प्रकाशके भी होती हुई देखी जाती है।

शंका:—प्रकाशको शानका कारएा नहीं मानते हैं तो हम लोगोंको अंघकार मैं ही शान हो जाना चाहिये ? किन्तु होता तो नहीं, प्रकाश रहता है तब हमें दिखायी देता है और प्रकाश नहीं होता तो दिखायी नहीं देता ग्रतः उसके होनेपर प्रतीतः । प्रथासोकस्याकाव्यात्वेऽन्वकादावस्यायामध्यस्मदावीनां ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् न चैवम्; तत-स्तद्भावे भावात्तदभावे जाभावात्तत्कार्यताऽस्य । धन्यया धूमोप्यग्निजन्यो न स्यात्, तद्वधतिरेकेगा-न्यस्य तद्वधवस्यापकस्याभावादिति चेत्, किं पुनरन्यकारावस्थायां ज्ञानं नास्ति ? तथा चेत् ; कथ-मन्यकारप्रतीतिः ? तदन्तरेगापि प्रतीतावन्यत्रापि ज्ञानकल्यनानर्थवयम् । 'प्रतीयते, ज्ञानं नास्ति' इति च स्ववचनविद्योवः, प्रतीतेरेव ज्ञानत्वात्।

ग्रथान्धकाराख्यो विषय एव नास्ति यो ज्ञानेन परिच्छिद्येत, ग्रन्थकारध्यवहारस्तु लोके

होना और न होनेपर नहीं होना ऐसा निब्चय होनेसे ज्ञान प्रकाशका कार्य है। इस प्रकार ज्ञान और प्रकाशमें कार्य कारए। भाव होते हुए भी नहीं मानेंगे तो छूम अग्निका कार्य है अग्निसे उत्पन्न हुआ है ऐसा नहीं कह सकेंगे? क्योंकि अन्वय व्यक्तिक को छोड़कर ग्रन्य कोई साधन कार्यकारण भावको सिद्ध करने वाला दिखायो नहीं देता?

समाधान:— ठीक है, किन्तु यह बताइये कि अंधकार में ज्ञान नहीं होता तो उसकी प्रतीति किस प्रकार होती? यदि ज्ञान के विना ही अंधकार जाना जाता हैतो ग्रन्य घट आदि पदार्थ भी ज्ञानके विना जाने जा सकेगे, फिर तो ज्ञानको कल्पना करना ही व्यये हैं? बड़ा आदचर्य है कि इधर कहते हैं कि ग्रंथकार प्रतीत होता है और इधर कहते हैं कि ज्ञान नहीं होता सो यह स्ववचन बाधित कथन है, क्योंकि प्रतीति ही ज्ञान कहलाती है।

नैयायिक: — हम तो भांधकार नामा पदार्थही नहीं मानते हैं, जिससे कि वह ज्ञान द्वारा जाना जाय, लोकमें अंधकारका व्यवहार तो मात्र ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होने रूप है भ्रम्य कुछ नहीं।

जैन:—यदि ऐसी बात कहो तो प्रकाशका भी श्रभाव हो जायगा,हम कह सकते हैं कि निर्मल ज्ञानका होना ही प्रकाश है, अन्य कुछ नहीं, लोकमें प्रकाश-का जो ब्यवहार होता है वह विशद ज्ञानकी उत्पत्ति होने रूप हो है ?

नैयायिक:—क्रानका वैशय [निर्मलता] प्रकाशके अभावमें कैसे हो सकता है ? ज्ञानानुत्पत्तिमात्र इत्युच्यते; यद्येवमान्नोकस्थाय्यभावः स्याद्विश्वदक्षानव्यतिरेकेशान्यस्यास्याय्यप्र-तीतेः। तद्वयवहारस्तु लोके विश्वदज्ञानोत्पत्तिमात्रः। ननु ज्ञानस्य वैशयमेन तदभावे कथम् ? इत्य-य्यज्ञमोद्यम्; नक्तन्यशदौनां रूपेऽस्मदादीनां रसादी च तदभावेषि तस्य वैशयोपत्रक्येः।

ग्रालोकविषयस्य च ज्ञानस्थात एव।लोकाईसायम्, तदन्तराद्धा, ग्रन्थतो वा कुतिस्वत् ? यथन्थतः; न तह्यालोककृतं वंशयम् । न हि ययदभावेषि भवति तत्तत्कृतमतिप्रसङ्गात् । ग्रथा-स्रोकान्तरात्; तद्विषयस्यापि तस्यालोकान्तरात्तिस्यनबस्या । न चालोकान्तरमस्ति । ग्रयास्मादेवा-

जैनः – यह प्रश्न धक्तान पूर्वक किया है, बिलाव, सिंह, आदिको इत्पका (वर्णका) ज्ञान होता है उस ज्ञानका वैशय प्रकाशके ग्रभावमें भी अनुभवमें भ्रा रहा है, तथा उसी ग्रंधकारमें हम जैसे मनुष्यको भी रस ग्रादि विषयका स्पष्ट ज्ञान होता हुआ देखा जाता है।

यहां पर यह भी एक प्रश्न होता है कि ज्ञानमें बैश य प्रकाश के कारण होता है, किन्तु जब ज्ञान प्रकाशको विषय करता है तब उस ज्ञानमें वैशय किस कारण होता है, किन्तु जब ज्ञान प्रकाशको विषय करता है तब उस ज्ञानमें वैशय किस कारण होता कारण होता है, या अन्य किसी कारण हो आवा है, या अन्य किसी कारण हो आवा है, या अन्य किसी कारण हो आवा है तो 'ज्ञान में निमंत्रता प्रकाश द्वारा हो आवी है' ऐसा कहना गलत ठहरता है। जिसके प्रभाव में भी जो होता है उसके द्वारा वह किया जाता है ऐसा कहना तो अशव है इसतरह से कहने में सो अविप्रसंग होगा। यदि कहा जाय कि प्रकाश को विषय करनेवाले ज्ञानकी विशवता अन्य प्रकाश से आवी है तब तो अन्य अन्य प्रकाश की आवश्यकता पड़नेसे अनवस्था दोष आवा है। प्रकाश को जाननेवाले ज्ञानका वैशय उसी प्रकाश से आया करता है ऐसा तीसरा विकल्प माने तो इसका अर्थ हुआ कि ज्ञानमें वैशय प्रकाश से आया करता है, फिर तो जैसे प्रकाश को विषय करने वाले ज्ञानमें वैशय प्रकाश सेही आया वैसे घट ग्रावर इस्ता घट ग्रावर है, फिर तो जैसे प्रकाश को विषय करने वाले ज्ञानमें वैशय प्रकाश सेही आया वैसे घट ग्रावर होगा।

र्शकाः—घटके रूपमें भासुरता नहीं है ग्रतः उस क्रानमें स्वविषयसे वैद्यादा नहीं जापाता ?

समाधान:—यह कथन अयुक्त है, रात्रिमें बहल अंधकार में सिंह ग्रादिको विशद शान होता है वह न हो सकेगा, क्योंकि वहांपर भासुरस्व नहीं है, अतः लोकात्; स्वविषयादेव तर्हि वेषयम्, तथा घटादिरूपायप्यत् । तस्याभायुरस्वात्रातस्तत्; इत्यप्ययुक्तम्; बहुनान्यकारनियोषिन्यां नकत्वराधीनां तत्र वैश्वद्याभावप्रसङ्गात् । 'विश्ववं प्रत्यक्षम्'
इत्यत्र चोक्तं वैश्वद्यकारण्यम् । यद्यं वं प्रदीपाद्युपादानमनर्थकं तदस्तरेणापि शानोध्यतिप्रसङ्गात्;
नाउनर्वकम्, प्रावरणापनयनद्वारेण् विषये याद्यतालसणस्य विशेषस्य इन्द्रियमनसोवि तज्जानजनकसक्षणस्यातोऽञ्जनादेश्विधेत्पतेः । न चेतावता तस्य तत्कारण्या; काण्यपटाखावरणापनेतुहंस्तावेरिष तत्त्वप्रसङ्गात् । ततो यथा ज्ञानानुत्यत्तिस्यतिरेकेण् नान्यसमः वद्या विश्वद्यानोत्पत्तिस्यतिरेकेणालोकोप्यत्यो न स्यात् ।

भामुरत्व विश्वद शानका हेतु नहीं है। विश्वद शानका कारण तो "विश्वदं प्रत्यक्षं" इस सूत्र के व्याख्यानमें कह आये हैं ( शानावरणके क्षय क्षयोपशमसे विश्वद शान उत्पन्न होता है ऐसा पहले प्रतिपादन कर श्राये हैं )

नैयायिकः—यदि शानमें प्रकाश कारण नहीं होता तो दीपक झादिके द्वारा रात्रिमें घट झादि को देखते हैं वह व्यर्थ होगा, फिर तो दीपक के बिना भी शानोत्पत्ति का प्रसंय झायेगा ?

जैन:—दीपक व्यथं नहीं होता, वह तो घावरण स्वरूप को झंघकार है उसको हटाकर घट पट आदि जानके विषयमें ग्राह्मता रूप विशेषता लाता है, अथवा इन्द्रिय और मनमें जानको उत्पन्न करनेकी योग्यता लाता है, जैसे कि नेत्र में भ्रांजन डालनेसे विशय जानको उत्पन्न करनेकी योग्यता बाती है । किन्तु इतने मात्र से उसको जानका कारण नहीं मान सकते, यदि इसतरहसे कारणोंको संग्रहीत करते जायेंगे तो हाथ प्रादिक द्वारा वस्त्र आदिका भ्रावरण हटाकर घट आदिका विशयजान प्रकट होता है धतः उनको भी ज्ञानका कारण मानना होगा ? फिर तो ऐसा कहना होगा कि जानको अनुरात्ति ही भ्रन्यकार है भ्रन्य कोई वस्तु नहीं है ऐसा मानना भ्रायको इष्ट है वैसे विशय ज्ञानको उत्पत्ति ही प्रकाश है अन्य कोई वस्तु नहीं है ऐसा कथन भी मानना होगा।

नैयायिकः—प्रकाशको इसलिये पृथक् परार्थमानते हैं कि लोक व्यवहार में "यहांपर बहुत प्रकाश है, यहांपर ग्रस्य प्रकाश है" इसप्रकार कहा जाता है, अतः विशवज्ञानोत्पत्तिसे पृथक् रूप प्रकाशको सिद्ध करते हैं। नतु 'श्रत्र प्रवेशे बहुल श्रालोकोऽत्र व मन्दः' इति लोकस्थवहारादस्यः सोस्तीति वेत्; तर्हि 'गुहागह्नरादो बहुल तमोन्यत्र मन्दम्' इति लोकस्थवहारः कि काकमेक्षितः ? धत्रास्याऽप्रमाणः स्वेऽन्यव कः समादवातः ? वतु बहिदेशादागय्य गृहान्तः प्रविष्टस्य सस्यय्यालोके तमः प्रतीतेनं पारमाधिकं तत्, न वालोकतमसोविष्द्वयोरेकत्रावस्थानम्, ततो ज्ञानानुत्पत्तिमात्रमेव तिवित वेत्; तिहि नक्त-व्वरादीनामेव (वं) विवरादौ प्रदीपाधालोकामावेषि तत्प्रतीतेः सीषि पारमाधिको न स्यात् । न वेकत्र तमोऽमावेषि तत्प्रतीतेः सर्वत्र तदभावो गुक्तः, ग्रन्ययाऽपीभावेषि कवन्तत्वरातीतेः सर्वत्र तदभावा स्वत्र वालोकाभावेषि कानोस्पत्ति-प्रतीते। । न वत्प्रति तस्य कारण्यत। तन्नाविलोकयोज्ञानं प्रति कादण्यत्य।

जेन: — ठीक है, फिर तो भ्रापको अन्धकार को भी पूथक पदार्थरूप मानना जरूरी होगा, यहां गुफामें, निरिकन्दरा में बहुत ग्रन्थकार है, यहां पर तो श्रन्थ अन्धकार है "इसप्रकारका लोक व्यवहार क्या काक भक्षित है ? यदि धन्धकार संबंधी लोक व्यवहारको प्रामाणिक मानना कैसे सिद्ध होगा ?

नैयायिक:—बात यह है कि जब हम बाजार आदि बाह्य स्थानपर भ्रमण् कर घरमें प्रवेश करते हैं तब प्रकाशके होते हुए भी अध्यकार दिखायी देता है भ्रतः भ्रम्बकारको काल्पनिक मानते हैं, प्रकाश और श्रम्बकार दोवों विरुद्ध स्वभाववाले होनेसे एकत्र अवस्थान होना शक्य नहीं है, इसीलिये ज्ञानकी अमुत्पत्ति को ही अध्यकार कहते हैं ?

जैन:—यही बात हम प्रकाशके विषयमें घटित कर सकते हैं नक्त चर आदि प्राणियोंको विवर मादि स्थान पर प्रदीप मादिका प्रकाश नहीं होते हुए भी उस प्रकाशकी प्रतीति होने लगती है मृतः प्रकाश कोई वास्तविक चीज नहीं है, ऐसा सिद्ध हो जायगा ? किसी एक स्थान पर विना म्रन्थकारके अन्धकार प्रतीत होने से सर्वत्र उसका स्रभाव कर देना गलत है, यदि ऐसा करेंगे तो कहीं एक जगह पदार्थ के बिना उसकी प्रतीति होती है झतः उसका सर्वत्र स्रभाव करना होगा ? इसलिये प्रकाशके समान म्रन्थकार भी एक वास्तविक पदार्थ सिद्ध होता है, उस म्रन्थकार भी शांन उत्पन्न होता है, किन्तु उसको जानोत्पत्तिका कारण नहीं माना जाता । इसम्रकार प्रकाश ग्रीर पदार्थ दोनों भी जानके प्रति कारण नहीं हैं ऐसा सिद्ध हुता।

एवं तर्वि सत्तयो। प्रकाशकमपि न स्य दित्याह-

अतज्ज्ञस्यमपि तत्प्रकाशकम् ॥ ८ ॥

ताम्यामर्थालोकाम्यामजन्यमपि तथोः अकाशकम् । स्रत्रेवार्थे प्रदीपविदृश्यभयप्रसिद्धं दृशान्तमाह---

प्रदीपवत् ॥ ९ ॥

न सनु प्रकाश्यो घटादि। स्वप्रकाशकं प्रधीयं जनयति, स्वकारएकलायदिवास्योत्पत्तेः । 'प्रकाश्यामावे प्रकाशकस्य प्रकाशकस्यायोगास्य तस्य चनक एव' इत्यम्युपगये प्रकाशकस्यामावे प्रकाश्यस्यापि प्रकाश्यत्वाघटनात् सोपि तस्य जनकोऽस्तु । तथा चेतरेतराश्रयः-प्रकाश्यानुपन्तौ

यहां कोई कहता है कि पदार्थ और प्रकाश ज्ञानमें कारए। नहीं हैं तो उनको ज्ञान प्रकाशित भी नहीं करता होगा ? सो उस शंकाका निवारए। करने हेतु सूत्रावतार होता है—

#### अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकम् ॥ = ॥

सुत्रार्थः — ज्ञान पदार्थ और प्रकाश से उत्पन्त न होकर भी उनको प्रकाशित करता है। इस विषयमें वादी प्रतिवादीके यहां प्रसिद्ध ऐसा दृष्टांत देते हैं —

#### प्रदीपवत् ।। ६ ।।

ग्रयं:—जैसे दीपक घटादि पदार्थंसे उरपन्न न होकर भी घटादिको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान पदार्थादिसे उरपन्न न होकर भी उनको प्रतिभासित करता है प्रकाशित होनेयोग्य घटादि पदार्थ अपनेको प्रकाशित करनेवाले दीपकको उस्पन्न नहीं करते हैं, वह दीपक तो अपने कारण कलापसे (बस्ती, तेल आदिसे) उत्पन्न होता है। प्रकाशित करने योग्य वस्तुके प्रभावमें प्रकाशकका प्रकाशकपना ही नहीं रहता, अतः प्रकाश्य जो घटादि वस्तु है वह उस प्रकाशकका जनक कहलाता है? इसतरह कोई परवादी बखान करे तो इसके विपरीत "प्रकाशक के अभावमें प्रकाश्यका प्रकाश्यका हो नहीं रहता, अतः प्रकाशक (दीप) प्रकाशक (पटादि) का जनक है" ऐसा भी मानना पड़ेगा? फिर तो इतरेतराश्रय दोष होगा, अर्थात् प्रकाशक उत्पन्न नहीं होनेसे प्रकाश्य अरी उस्पन्न नहीं होनेसे प्रकाशक्य भी उस्पन्न नहीं होनेसे प्रकाशक अर्थन्न नहीं होनेसे प्रकाशक अर्थनन्न नहीं होनेसे प्रवस्था अर्थन अर्थन नहीं होनेसे प्रकाशक अर्थन नहीं होनेसे प्रकाशक अर्थन करने स्वाधक अर्थन नहीं होनेसे प्रकाशक अर्थन स्वधक अर्थन स्वाधक अर्थन स्वधक स्वध

प्रकाशकानुत्यतः तवनुत्यती च प्रकारयानुत्यत्ते रिति । स्वकारयाक्तागादुत्यन्नयोः प्रवीपघरयोदस्योन्न्यायेवया प्रकाश्यक्षाया प्रकाश्यक्षया प्रकाश्यक्षया । ह्राप्यक्षया । ह्रा

ननु चाजनकस्याप्यर्थस्य ज्ञानेनावमतौ निक्षिलार्थावगतिप्रयञ्जात्क्रतिकमेध्यवस्था न स्यात् । 'यद्वि यतो ज्ञानमुरुपयते तत्तस्यैव ब्राहकं नाम्यस्य' इत्यस्यार्थजन्यत्वे सत्येव हा स्यादिति बदन्त प्रत्याह-स्वावरणभयोपत्रमलभणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ॥ १०॥

तथा हि-यदर्थप्रकाशकं तत्स्वात्मन्यपेतप्रतिबन्धम यथा प्रदीपादि, प्रशंप्रकाशकं व

नैयायिकः — प्रकाशक (दीप) और प्रकाशय (घटादिवस्तु) ये दोनों भी श्रपने प्रपने कारण कलापसे उत्पन्न होते हैं और एक दूसरेकी अपेक्षासे प्रकाशक तथा प्रकाश्य कहलाते हैं, प्रकाशक और प्रकाश्य धर्मकी व्यवस्था तो इसप्रकार है अतः इतरेतराश्यय दोष नहीं प्राता।

जैनः—विलकुल ठीक है यही बात ज्ञान धौर पदार्थके विषयमें है, ज्ञान धौर पदार्थभी अपनी अपनी सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं धौर एक दूसरेकी घपेक्षा लेकर ग्राह्य प्राहक कहलाते हैं ऐसा स्त्रीकार करना चाहिये ? प्रतीतिके अपलाप करनेसे अब बस हो।

संकाः — ज्ञानका भ्रजनक ऐसा जो पदार्थ है वह ज्ञानद्वारा जाना जाता है ऐसा मानेगे तो एक हो ज्ञान संपूर्ण पदार्थ जानने वाला सिद्ध होगा फिर प्रतिनियत विषय व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योकि जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है वह उसीको जानता है भ्रन्यको नहीं ऐसी प्रतिकर्म व्यवस्था (यह इस ज्ञानका विषय है) तो ज्ञानको पदार्थसे जन्य मानने पर ही हो सकती है ?

भव इस शंकाका निवारण करते हुए श्री माणिक्यनंदी भ्राचार्य कहते हैं— स्वावरण क्षयोपक्षम लक्षण योग्यता हि प्रतिनियतमधैव्यवस्थापयति ।।१०।।

सूत्रार्थ:--- प्रपत्ते आवरण के सयोपधाम रूप योग्यताके निमित्तवे प्रतिनियत पदार्थ को जानने का नियम बनता है, जो जिस वस्तुका प्रकाशक होता है वह प्रपने प्रावरणके रुकावटसे रहित होता है, जैसे दीपक आवरण रहित होकर घट प्रादिका क्षानमिति । प्रतिनियतस्वावरस्यक्षयोपद्यम्भ ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थोपक्ष्येदेव प्रसिद्धः । न चान्यो-न्यात्रयः; प्रस्थाः प्रतोतिसिद्धत्वात् । तस्त्वसस्योग्यता च चक्तिरेव । सेव ज्ञानस्य श्रीतियतार्थ-स्यवस्थायामञ्ज नार्थोत्वस्यादिः, तस्य निषिद्धत्वादन्यत्रादर्शनाच्च । न सनु प्रदीपः प्रकाश्यार्थकंन्य-स्तेषां प्रकाशको टष्टः ।

किन्स, प्रदीपोपि प्रकाश्याचांऽजन्यो यावत्काण्डपटाचनावृत्तभेवार्यं प्रकाशयति तावसदावृत-

प्रकाशक होता है। ज्ञान भी स्वयोग्य आवरणसे रहित होकर पदार्थका प्रकाशक होता है। ज्ञानमें इन्हीं प्रतिनियत वस्तुओं को जाननेका क्षयोपशम हुन्ना है इस बातका निरुचय तो प्रतिनियत वस्तुओं जाननेसे ही सिद्ध होता है, इसमें अन्योग्याश्रय दोष भी नहीं आता, क्योंकि प्रतिनियत विषय तो प्रतीतिसे सिद्ध हो रहा है। प्रतिनियत वस्तुओं जाननेकी जो योग्यता है उसीको शक्ति कहते हैं, यही शक्ति ज्ञानमें प्रतिनियत वस्तुओं जाननेकी ज्यवस्था करा देती है इस व्यवस्थाका काण्या यह चार्तिक ही है न कि तहुत्पत्ति आदिक, क्योंकि तहुत्पत्ति तदाकारता आदि का पहले ही निषेध कर आये हैं तथा प्रदीप आदिमें ऐसा देखा भी नहीं जाता कि वह घट आदि से उत्पन्न होकर उसको जानता हो। दीपक प्रकाश्य मृत जो घट आदि पदार्थ है उनसे उत्पन्न होकर उनका प्रकाशक बनता है ऐसा कहीं पर देखा नहीं जाता है।

यदि परवादी नैयाधिकादि को कोई पूछे कि दीपक प्रकाशित करने योग्य पदार्थेसे जन्य नहीं है किन्तु वह वस्त्र ग्रादिसे नहीं ढके हुए पदार्थको ही प्रकाशित करता है, उके हुए पदार्थ को क्यों नहीं प्रकाशित करता ? ऐसा पूछने पर ग्रापको भी जैनके समान योग्यताको ही शारण लेनी होगी।

भावार्ष:—बौद्ध ज्ञानको पदार्थ से उत्पन्न हुआ मानते हैं तथा नैयायिक ज्ञानको पदार्थ और प्रकाशसे उत्पन्न हुआ मानते हैं, इन परवादियोंकी मान्यता का ग्रावार्यने निरसन कर दिया है, पदार्थको यदि ज्ञानका कारण मानेंगे तो सर्वज्ञका अभाव होनेका प्रसंग आता है। वयोंकि जब एक साथ सब पदार्थ वर्त्तमान रहते नहीं हैं तब उन सब पदार्थोंको ज्ञान कंसे जानेगा ! सबको जाने बिना सर्वज्ञ बन नहीं सकता । दूसरी बात पदार्थके जभाव में भी नेत्र रोगीको पदार्थ दिखाई देता है, विक्षिप्त मन वाले को बिना पदार्थ के उसकी प्रतीति होने लग जाती है इत्यादि बातों को देखकर यह निश्चित होता है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता। प्रकाश भी

मपि किन्न प्रकाशयोदिति चोद्ये भवतोय्यतो योग्यतातो न कि विदुत्तरम् ।

#### कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यक्तिचारः ॥११॥

नहीक्षियमदृष्टाविकं वा विज्ञानकारण्यन्यनेन परिच्छेयते । न जूनः—कारणं परिच्छेयमेव किन्तु कारण्येव परिच्छेयन्' इत्यववारयानः; तक्ष योगिविज्ञानस्य व्याप्तिज्ञानस्य वाशेवार्यग्राहिणो-ऽमावप्रचुज्ञात् । न हि विनष्टानुत्पन्नाः समसम्बर्भाविनो वावस्तिस्य कारण्यित्कुक्तम् । केशीण्डुका-

ज्ञानका कारए। नहीं है, रात्रिमें विकाय भादि प्राणियोंको विना प्रकाशके भी ज्ञान होता रहता है तथा मनके द्वारा जानने के लिये भी प्रकाशकी जरूरत नहीं रहती। बौद्धका यह हटाग्रह है कि यदि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता तो प्रतिनियत विषय व्यवस्था कैसे बनती कि अमुक ज्ञान अमुक पदार्थको ही ग्रहण करता है? सो उसका जवाब यह है कि जैसे दीपक घट आदि से उत्पन्न न होकर भी उन प्रतिनियत घट ग्रादिको ही प्रकाशित करता है वैसे ज्ञान है वह भी पदार्थ से उत्पन्न न होकर भी क्षत्रीपणम जन्य योग्यताके श्रनुसार प्रतिनियत विषयको जानता है। इस प्रकार ग्रथंकारणवाद और ग्रालोककारणवादका निरसन किया गया है।

अब ग्रविम सूत्र प्रस्तुत करते हैं-

कारग्रस्य परिच्छेद्यत्वे करग्गादिना व्यभिचारः ॥११॥

सूत्रार्थः — जो ज्ञानका कारण है वही ज्ञानके द्वारा जाना जाता है ऐसा मानेंगे लो इन्द्रियोंके साथ व्यक्षिचार घाता है।

चलुधादि इन्द्रियां एवं घरष्ट आदिक ज्ञानके कारण तो हैं किन्तु ज्ञानद्वारा परिच्छेख (जानने योग्य) नहीं है, अतः जो क्षानका कारण है वही जानने योग्य है ऐसा कहना व्यक्तिचरित होता है।

दांका:—जो ज्ञानका कारण है वह अवस्य क्षी परिच्छेब हो ऐसा नियम नहीं है किन्तु जो भी जाना जाता है यह कारण होकर ही जाना जाता है ऐसा हम बौद्ध अवधारण करते हैं?

समाधान:—इसतरह भी अवधारण नहीं कर सक्ते न्योंकि ऐसा भवधारण करने पर भी अक्षेषार्थ ग्राही योगीका ज्ञान एवं व्याप्ति ज्ञान इन ज्ञानोंका अभाव होवेगा, इसौका खुलासा करते हैं—को पदार्थनट हो चुके है जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, को समकालीन है ये सब पदार्थज्ञानके कारण नहीं है (किन्तु) योगीका दिज्ञानस्य चात्रमकार्थयाहिस्वाभावप्रसङ्घः । कयं च कारणस्वाविधेवेगीन्द्रवादेरप्रकृणम् ? प्रयोग्य-स्वाच्चेत्; योग्यतेव तिंह प्रतिकसँव्यवस्थाकारिष्ठी, धलवन्यकल्पवया । स्वाच्यार्थकस्वाभावाच्चेत्र; झाने स्वाकारार्यकस्वस्याय्यपस्तस्वात् । कयं च कारणस्वाविधेवेषि किश्वित्स्वाकारार्थकं किञ्चिनेति प्रतिनियमो योग्यतां विना सिध्येत् ? कवं च सकलं विज्ञानं सकनार्थकार्यं न स्यात् ? 'प्रतिनियज्ञ धाकिस्वाद्भावानाम्' इत्युत्तरं ग्राह्मग्रहकमावेषि समानम् ।

ज्ञान इन सबको जानता ग्रवश्य है अतः जो ज्ञानका कारए है वही उसके द्वारा जाना जाता है ऐसा कहना गजत होता है ) केशोण्ड्रक ज्ञानमें भी पदार्थ कारए नहीं है वह तो पदार्थसे ग्रजल्य है, उस ज्ञानमें जो ग्रजनकार्थ ग्राहीपना देखा जाता है वह भी नहीं रहेगा। जो ज्ञानका कारए है उसको ज्ञान जानता है तो चक्षु आदि इन्द्रियोंको ज्ञान क्यों नहीं जानता इस बात को परवादी को बताना चाहिये? आप कहो कि इन्द्रियोंमें ज्ञान द्वारा ग्राह्य होनेकी योग्यता नहीं है तो उसी योग्यता को ही क्यों न माना जाय? फिर तो योग्यता हो प्रतिकर्म व्यवस्था करती है ऐसा स्थीकार करना ही अंटर है, व्यर्थकी तदुरपत्ति आदिकी कल्पना करना बेकार है।

बौदः— इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न तो अवश्य होता है किन्तु इन्द्रियां अपना आकार ज्ञानमें अर्पित नहीं करती अतः ज्ञान उनको नहीं जानता।

जैन:—यह कथन ठीक नहीं है, ज्ञानमें वस्तु का आकार प्राता है इस मतका पहले संयुक्तिक खण्डन कर चुके हैं। प्राप वौद्ध को कोई पृछे कि इन्द्रिय प्रौर पदार्थ समान कपसे ज्ञानमें कारण होते हुए भी पदार्थ ही अपना प्राकार ज्ञानमें देता है इन्द्रिया नहीं देती ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर आप योग्यता कहकर ही देते हैं अर्थात कारण समान कपसे हैं किन्तु पदार्थ ही अपना प्राकार ज्ञानमें देते हैं इन्द्रिया नहीं देती क्योंकि ऐसी ही उनमें योग्यता है, तथा सभी ज्ञान प्रविशेषपनेसे सभी पदार्थोंका कार्य क्यों नहीं होता इत्यादि प्रश्न होने पर आपको यही कहना होगा कि पदार्थों में प्रतिनयत शक्ति होती है तब सबके कारण या कार्य नहीं हो सकते, ठीक इसीतरह ज्ञान के विषयमें समक्रता चाहिये, ज्ञानमें जिस विषय को जाननेकी शक्ति अर्थात् ज्ञानवरणका क्षयोपश्चम होता है ( सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को प्रपेक्षा यहां पर जगह जगह स्वयोपश्चम शब्दका प्रयोग हुमा है ) उसी विषय को ज्ञान ज्ञानता है, उसी प्राह्म वस्तुका ज्ञान प्राहक बनता है ऐसा निर्दोष सिद्धांत स्वीकार करना चाहिये।

## प्रयंकारणवाद और प्रालोककारणवाद के खंडन का सारांश



बौद्ध नैयायिकादि प्रवादी पदार्थ को शानका कारण मानते हैं उनका कहना है कि शान पदार्थ से उत्पन्न होता है, किन्तु वह मान्यता सिद्ध नहीं होती है। कामचादि रोग के कारण केशोण्डुक शान होता है ऐसा कहे तो जैसे सदीव नेत्र आन्त शान के हेतु हैं वैसे निर्दोध नेत्र सत्य शान के हेतु हैं ऐसा मानना चाहिये। अर्थकारणवाद की तरह आलोककारणवाद भी असत् है क्योंकि प्रकाश के प्रभाव में शान होता है अंवकार में भी "यह अंवकार है" ऐसा शान होता है। तथा बिल्ली, उत्त्वू, सिंह, शेर मादि प्राणियों को बिना प्रकाश के शान होता है। इस तरह पदार्थ मीर प्रकाश दोनों भी शान के हेतु नहीं हैं ऐसा निश्चय होता है। इस तरह पदार्थ मीर प्रकाश दोनों भी शान के हेतु नहीं हैं ऐसा निश्चय होता है। इस तरह पदार्थ मीर प्रकाश के अभाव में तथा प्रकाश के अभाव में भी शान होता है ऐसा मानना चाहिये।





खयेशानीं मुख्यप्रत्यक्षप्रकरणस्यावसरप्राक्षत्वात् ततुत्पत्तिकारणस्वक्षप्रकरणायाङ्— सामग्रीविशेषविरत्वेषिताखिकावरणमऽतीन्द्रियमश्चेषतो मुख्यम् ॥१२॥ 'विषयं प्रत्यक्षम्' इत्यनुवर्तते । तवावेषतो विश्ववस्तीन्द्रयं यद्विज्ञानं तन्तुश्यं प्रत्यक्षम् । किषिचिष्ट्रं तत् ? सामधीविशेषविश्वेषिकासिकावरणम् । ज्ञानावरणाधिपतिपक्षभूता होहः सम्यन्

श्रव यहां पर मुख्य प्रस्यक्ष के उत्पत्ति काकारण तथास्वरूप सूत्र द्वारा प्रकपित कियाजाताडैः—

> सामग्री विशेष विश्लेषितास्त्रिनावरण---मतीन्द्रिय मशेषतो मुख्यम् ॥१२॥

सूत्रार्थ: — द्रव्यादि सामग्री विशेष के द्वारा नष्ट हो गये हैं संपूर्ण झावरण जिसके ऐसे झतीन्द्रिय तथा पूर्णज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

विश्वद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है ऐसा प्रकरण चल रहा है उसमें जो पूर्णंकप से विश्वद हो तथा अतीन्त्रिय हो वह ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष या पारमाधिक प्रत्यक्ष कहलाता है। वह कैसा है? सामग्री विशेष से नष्ट हो गये हैं संपूर्ण झावरण जिसके ऐसा है। यहां पर ज्ञानावरण आदि कर्मों के प्रतिपक्ष स्वरूप जो सम्यव्यक्षन छादिक है वह अंतरंग सामग्री कहलाती है और सनुभव, योग्य देशका लाभ काल, द्रव्य आदि का होना बहिरंग सामग्री का होना समग्री

दर्यनादिलक्षणान्तरङ्का बहिरङ्कानुमवादिलक्षणा सामग्री गृष्ट्यते, तस्या विशेषोऽविकलस्वय्, तेन विदलेषितं अयोपश्रमक्षयरूपतया विषटितश्रस्तिमवश्रमतःपूर्वश्रकेवलङ्गानसम्बस्धावरणम् श्रस्तिवं निद्योपं बाऽऽवरण् वस्याविषमनःपर्यवकेवसङ्गानत्रयस्य तक्तवोक्तम् ।

विशेष है, इस सामग्री विशेष से नष्ट हो गये हैं ग्रावरण जिसके ऐसा यह प्रत्यक्ष है ग्रथीत् ग्रवधिज्ञान भीर मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा क्षयोपश्चम रूप होना और केवल-ज्ञान की अपेक्षा क्षय होना ऐसे ज्ञानावरण जिसके हुए उसे मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं, ग्रयीत् ग्रवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षयोपश्चम होने से भ्रवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान होता है और केवलज्ञानावरण का नाश हो जाने से केवलज्ञान होता है ये ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

यहां अनुमान के द्वारा इस प्रत्यक्ष ज्ञान की सिद्धि करते हैं:--

जो ज्ञान जिस विषय में स्पष्ट होकर सस्यरूप से जानता है वह उस विषय में पूर्ण रूप से आवरण रहित होता है, जैसे स्वी, कृहरा आदि से ढके हुए वृक्ष आदि पदार्थ हैं। उनका आवरण हटने से जो ज्ञान होता है वह स्पष्ट होकर सस्य कहकाता है, ऐसे ही अविध ज्ञानादिक स्पष्ट और सत्य है। यह मुख्य प्रत्यक्ष इन्द्रियां और मन की अपेक्षा नहीं रखता है अतः अतीन्त्रिय है, अपने आवरण के हटने से इन ज्ञानों में इन्द्रियादिकी अपेक्षा नहीं रहती कर्म का आवरण नष्ट होता है इस बात को अभी इस अध्याय में सिद्ध करने वाले हैं। आवरण के हट जाने से ही वह ज्ञान पूर्णक्प से विशव हो गया है, जो ज्ञान अतीन्त्रिय आदि गुणिविधिष्ट नहीं होता वह पूर्ण विशव या इन्द्रियादि से अवपेक्ष भी नहीं होता, जेसै कि हम जैसे का प्रत्यक्ष ज्ञान ( सांज्या-वहारिक प्रत्यक्षज्ञान ) अवधिज्ञानादि तोनों ज्ञान अतीन्त्रिय आदि विशेषण युक्त होते हैं अतः मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं। अमुमान सिद्ध बात है कि अतीन्त्रिय होने से

तथा चेदम्, तस्मान्युरुयभिति ।

मनु वावरणप्रसिद्धां तदपनमाञ्चानस्योत्पत्तिषुंका, न च तत्प्रसिद्धम् । तदि शरीरम्,
रागादयः, देशकालादिकं ना प्रवेत् ? न तावच्छतीरं रागादयो नाः, तद्भावेष्यधीपलम्भसम्भवात् ।
तदुपतम्मप्रतिवःधक्तेव हि काव्यदादिक लोके प्रसिद्धमावरणम् । ननु मेवदिव् देशका रावणादेश्यकाला परमाण्वादेः सूक्ष्मस्वभावता प्रतकीलोदकादेश्य भूम्यादिः सावरण् प्रसिद्धमेविति
चेत्तदसारम्; तद्भावस्य कत् नशस्यत्वात् । न खनु सातिश्यद्धिनतापि योगिना देशायमाथो
विधातुं खन्यः । न चान्यत् किञ्च्यावरणं प्रतीयते । ततः सामग्रीविशेषविदलेषिकासिलावरणमित्ययुक्तम्;

स्रथवा प्रपत्ने विषय में पूर्ण रूप से विशव होने से ये कान मुख्य प्रस्थक हैं जो अतीन्त्र-यादि विशेषण विशिष्ट नहीं है वह मुख्य प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे हम लोगों का प्रस्थक है, यह ज्ञान नैसा विशिष्ट है बत: मुख्य प्रत्यक्ष है।

परवादी:—ग्राप जैन ने आवरण के विषय में बहुत कुछ कहा किन्तु यह सब कथन प्रावरण नामा कोई पदार्थ होवे तो बने? तथा उस प्रावरण का नाश होने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा कथन बने? प्रावरण किसको कहना चाहिये? शरीर को, या रागद्वेष घाँदि को, या देश कालादिको? धरीर घौर रागादि को घावरण मानना शक्य नहीं, वर्योक शरीर आदि के रहते हुए भी पदार्थों का ज्ञान होता है। लोक में तो ज्ञान को रोकने वाले वस्त्र, परदा, दीवाल घांदि पदार्थ माने गये हैं।

हमारे प्रति यहां कोई शंका उपस्थित करें कि मेर प्राटि का आवरण तो दूर देशता है अर्थातू दूर देश में होने से मेर का आन नहीं होता ग्रतः वह उसका आवरण कहलायेगा ? ऐसे ही रावणाँदि का आवरण अर्थीत कालता, परमाणु भादि का सूक्ष्म स्वभावता तथा पृक्ष की जड़, कील, जल भादि का मावरण पृथ्वी भादिक हैं ये सारे प्रावरण दुनिया में प्रसिद्ध ही हैं, फिर उनको क्यों नहीं मानते ? सो यह प्रतिशंका वेकार है, भला इन पृथ्वी भादि का क्या भभाव कर सकते हैं ? कोई धात्राय ऋदिक्षारी योगीजन भी देश, काल, स्वभावों का भभाव नहीं कर सकते पृथ्वी भादि, या सरीरादि को छोड़कर अन्य कोई जान का आवरण प्रतीति में नहीं ग्राता है, अलः सूनकार माण्वियांदी धावार्य ने जो "सामग्री विशेष"

म्राप्तेच्यते-त वारोराखावरखम् । कि तिंह् ? तद्व्यतिरिक्तं कर्मं । तच्चानुमानतः प्रतिद्वम् ; तवाहि-स्वरप्रभेयवोर्धकस्वभावस्यात्मनो होनगर्भस्यानसरीरविषयेषु विशिष्टाऽभिरतिः म्राप्तत्वत्थ-तिरिक्तकारसपूर्विका तस्वात् कृत्तित्वरपृक्षे कमनीयकृतकामिन्यस्तन्त्राष्ट्रपयोगजनितविशिष्टा-भिरतिवत् । तथा, भवभृतां मोहोदयः द्यारीरादिव्यतिरिक्तसम्बन्ध्यन्तरपूर्वको मोहोदयस्वात् प्रदिरा-ख्रायोगमसस्यारमण्हायौ मोहोदयवत् ।

नन् चातः कर्मबात्रमेव प्रसिद्धं नावरणम्; ततस्तत्सिद्धावेव प्रमाणम्ब्यता तत्रेव विवादा-

जैन:— अब यहां परवादी के अभिप्राय का निरसन किया जाता है, हम जैन गरीरादि को आवरण नहीं मानते हैं, किन्तु शरीर से व्यतिरिक्त कर्म नामक एक पुर्गल है उसे आवरण शब्द से कहा है, वह आवरण रूप कर्म अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है, उसी अनुमान को प्रस्तुत करते हैं—स्व-परको जानने का जिसका स्वभाव है ऐसे इस आत्माके होन स्थान स्वरूप गर्भ, शरीर, पंचेन्द्रिय के विषयों में प्रीति होती है, यह प्रीति तो आत्मा से पृथक कोई अन्य कारण से होती है, क्योंकि वह विशिष्ट अत्यासक्तरूप है, जैसे कोई कुत्सित व्यसनी पर पुरुष है उस पर यदि कोई सुन्दर कुलांगना आसक्त होती है तो उसका कारण कोई विशिष्ट मंत्र, या तंत्र वशीकरण, आदिक जरूर है, उसके बिना कुलवान स्त्री पर पुरुष पर आसक्त नहीं हो सकती है।

जैसे:—इस कुलवान स्त्री के परवश मंत्रादि के कारणा से प्रयोग्य चेटा हुई वैसे ही भारमा की शरीरादि में आसक्ति कमें के कारणा से हुई है। इसी विषय में दूसरा श्रनुमान प्रयोग है कि संसारी जीवों के मोह का उदय होता है वह शरीरादि से भिन्न शन्य कोई निमित्त से होता है, क्योंकि उसमें मोहोदयपना है, जैसे मदिरा पीने से उन्मत्त हुए पुरुष के अपने गृह आदि में मोहोदय रहता है।

दांका:— इन प्रनुमानों से कर्ममात्र की सिद्धि हुई न कि ब्रावरण की, ब्रावरण सिद्ध करने के लिये ही प्रमाण दीजिये, क्योंकि ब्रावरण के प्रस्तित्व में ही विकाद है !

समाधान: ... अच्छा तो सुनिये ! संसारी जीवों का ज्ञान संपूर्ण स्विषय में आवरण सहित दिसायी देता है, क्योॉक यह ज्ञान अपने विषय में प्रवृत्ति नहीं कर पाता है, जो ज्ञान स्विवय में अप्रवृत्तिकण है वह सावरण होता है, जैसे पीलिया दिति चेदुन्यते यज्ज्ञानं स्वविवयेऽप्रवृत्तिमत् तत्सावरराम् यथा कान्निनी लोजनविज्ञाननेकचन्द्रमति, स्वविषये श्रवेषार्थलक्षचेऽप्रवृत्तिमञ्च ज्ञानमिति ।

ननु विज्ञानस्यादोषविषयत्वं कुतः सिद्धम् ? अध्वरणाषाये तरप्रकाशकत्वाच्वेदन्योग्यात्रयः— सिद्धे हि सकसविषयत्वे तस्य आवरणाषाये तरप्रकाशमं सिद्ध्यति, प्रतद्व सकलविषयत्वमितिः। तदप्यसमीक्षिताभिधानम् ; यतोनुमानभिच्छता भवताप्यवस्यं सकलावरण्यकेरुयारोगेव सकलस्य प्राणिनात्रस्यादोषिषययं व्याप्रयादिज्ञानसम्बुषवत्येवे । तथा, यत्स्वविषयेऽस्पष्टं ज्ञानं तस्सावरण्

रोगी का नेत्र से होने वाला ज्ञान अपने संपूर्ण विषयों में प्रवृत्ता नहीं हो पाता है इसीलिये सावररण है।

शंका:—ज्ञान संपूर्ण विषयों को जानता है यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है? यदि कहो कि आवरण के नष्ट होने पर उन सब पदार्थों का प्रकाशक हो जाता है अतः ज्ञान की प्रशेषज्ञता सिद्ध होती है, सो ऐसा तो अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, ज्ञान में संपूर्ण विषयपना सिद्ध होने पर उसके आवरण के अपाय में सफल विषयका प्राहकत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर संपूर्ण विषयपना सिद्ध होगा ऐसे दोनों ही प्रसिद्ध की कोटी में रह जाते हैं?

समाधान:—यह बिना सोचे कहा गया है, आप अनुमान प्रमाण को मानने वाले हैं संपूर्ण आवरण का अभाव होने के पहले भी प्राणिमात्र को अशेष विषय वाले ज्यापित ज्ञान आदिक हुआ करते हैं, किंसु वे सावरण अस्पष्ट हैं इस बात को अनुमान से सिद्ध कर सकते हैं जो ज्ञान अपने विषय में अस्पष्ट होता है वह सावरण होता है, जैसे रज, हिम श्रादि से आच्छादित वृक्ष आदि पदार्थ होते हैं उनका हमें अस्पष्ट ही ज्ञान होता है, इम जैसे अल्पजों का सभी अनुतादिज्ञान अस्पष्ट है। इससे ज्ञान को सावरणना सिद्ध होती है। विपरीत बुद्धिवाले मिथ्यादिथों को जो ज्ञान होता है, वह सावरण होता है, उनका ज्ञान संपूर्ण वस्तुओं में अनेकान्तपना होते हुए भी एकान्तपने का निश्चय कराता है, वयोंकि मिथ्या स्वस्त्य है, इसीलिये वह ज्ञान सावरण सिद्ध होता है, जैसे धत्ररा या अन्य मादक पदार्थ के पोने से पुरुष को मिट्टी के ढेने में भी सुवर्ण की फलक होने लगती है। इन सब अनुमान प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान का धाष्टादक या आवरण करने वाला कोई पदार्थ है। वह सावरण ता पौर्गलिक कर्म है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

यथा रक्षोनीहाराद्यन्तरितत्वनिकराधिज्ञानम्, अस्पर्यः च 'खर्वं भदनेकान्तारमकम्' इत्यादि व्याप्ति-ज्ञानम् । मिथ्याह्यां सर्वत्रानेकान्तास्मके भावे विपदौतज्ञानं सावरत्यं मिथ्याज्ञानत्वात् धत् रकाद्यु-पयोगिनो मुच्छकले काव्यनज्ञानवदिति । घतः सिद्धमावरत्यं पौद्गलिकं कर्मति ।

नतु वाविध वावरणं न पौद्गितकं कर्म, सूर्ते नानेनाभूतं स्य ज्ञानदेरावरणायोगात्, प्रम्थवा शरीराहेरप्याव (वा) रकत्वानुषङ्गात्; इस्यप्यसभीचीनम्; मदिदादिना भूतं नाप्यमूतं स्य ज्ञानादेश-वरण्यदांनात् । प्रमूतं स्य चाव (वा) रकत्वे गणणादेजीनाग्तरस्य च तत्व्वव्यङ्गाः । तद्विव्यद्धत्वात्तस्य तन्ने ति चेत् ; तिह शरीराहेरप्यत एव तन्मा भूतद्विव्यस्यवावरकत्वन्नप्रसिद्धः। प्रवाहेण प्रवत्तं-मानस्य ज्ञानादेरिवद्योदये निरोधातस्यास्त्रद्विरोधगतौ मदिरादिवत्योदगत्विक कर्मणोपि सास्तु

भावार्थ: —परवादी ने पहले ज्ञान के झावरए। का झभाव सिद्ध करना चाहा, जब उसका अभाव नहीं हो सका तब वह आवरए। नामा पदार्थ किस रूप है यह प्रदन हुआ, जैनाचार्य ने समकाया कि वह झावरए। तो कम है जो कि आत्म स्वभाव से भिन्न है, आत्मा से पृषक ऐसे हीन झरीरादि में मोह पैदा करता है इत्यादि।

शंकाः — मावरण को अविद्या रूप मानना चाहिये, पुद्गल रूप नहीं, क्योंकि पुद्गल मूर्तिक पदार्थं है उससे अमूर्तिक आत्माके ज्ञानादि गुर्णों का श्रावरण होना शक्य नहीं है यदि मूर्तिक पदार्थ अमूर्तिक ज्ञानादि पर श्रावरण कर सकता है तो बारीरादि भी आवरण करने वाले वन जायेगे।

समाधानः —यह शंका गलत है, मिदरा आदि मूर्तिक पदार्थ के द्वारा अमूर्तिक ज्ञान प्रादि का आवरण देखा जाता है, यदि प्रावरण को अमूर्तिक मानते हैं तो आकाश आदिक प्रमूर्तिक द्व्य तथा अन्य ज्ञानादिक हैं उनसे भी ज्ञान पर प्रावरण प्राने लगेगा? यदि कहा जाय कि आकाण या ज्ञानादिक ज्ञान के साथ अविकद्धता रखने वाले पदार्थ हैं, प्रतः इनसे ज्ञान का आवरण नहीं हो सकता? सो शरीरादिक भी श्रविकद्ध स्वभाव वाले होने से ज्ञान को घावारक मत होवें? जो ज्ञान के विकद्ध है वही आवरण बन सकता है। यदि प्रवाह रूप से चले प्राये ज्ञान को प्रविद्या रोक देती है, प्रविद्या ज्ञान का विरोधक है, ऐसा मानते हैं तो मिदरा के समान इस पौदुगलिक कर्म को ही अविद्यापना होवें? कोई विवेषका नहीं। कमं भी श्रास्मा या ज्ञानादिका विरोधो हो है। पुनस्व श्रमुमान से आवरण को कर्म भी श्रास्मा या ज्ञानादिका विरोधो हो है। पुनस्व श्रमुमान से आवरण को कर्म

िश्रोवामावात् । तथाहि-म्यात्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुराजविशेषसम्बन्धनिबन्धनः तस्यरूपान्यवामा-यस्वभावत्वात् उन्यत्तकादित्रनितोन्मादादिवत् । न व मिथ्या ज्ञानवनितापरमिथ्याज्ञानेनानेकान्ताः; तस्यापरापरपोद्गणिककर्मोदये सत्येव भावात् भ्रयदापरोन्मतकादिरससद्भावे तत्कृतोन्मादादि-सन्तानवत् ।

नतु चात्वमुण्यत्वात्कर्मणां कवं पौद्वविकत्वमित्यन्ये; तेष्यपरीक्षकाः; तेषामात्मगुण्यते तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वविदोषात् सर्वदात्मनो बन्धानुपपत्तेः सर्वेव मुक्तिप्रसङ्कात् । न सनु यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यानिमित्तन् यथा पृषिक्यादे रूपादिः, घात्मगुण्यत्व वर्माध्यस्यकां कसं परेरम्यू प्रकृष्यते इति न तदात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तं स्यात् । न चैवम्, यात्मनः परतन्त्रतया प्रमाणतः

रूप सिद्ध करते हैं आत्मा में जो मिथ्याज्ञानादि विकार है वह पुद्गल विशेष के संबंध के कारण ही है, क्योंकि ये मिथ्याज्ञानादिक ध्रात्म स्वरूप से भिन्न स्वभाव वाले हैं, जैसे आत्मा से मिन्न उम्मत्तक पदार्थ से आत्मा में उत्पत्ता ध्राती है। इस "तत्क्वरूपयथाभावस्वभावत्व" हेतु का मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हुए दूसरे मिथ्याज्ञान के साथ अनेकांत भी नहीं होता, ध्रथांतू अन्य मिथ्याज्ञान से यह हेतु व्यभिचरित नहीं होता, वह ध्रपर मिथ्याज्ञान भी ग्रपर अपर पौद्गलिक कर्म के उदय से होता है, जैसे उन्मत्त करने वाले अन्य अन्य मदिरा ग्रांदि रस के निमित्त से अन्य अन्य उन्माद की दशा होती है, उसकी परंपरा चलती रहती है।

शंकाः—कर्म को आत्मा का गुग्गमानते हैं ग्रतः उसको पौदूगलिक कैसे कह सकते हैं ?

समाधान: —यह कथन असत् है कर्म को आत्मा का गुगा मानेंगे तो वह आत्मा के परतंत्रता का कारण बन नहीं सवता धौर इस तरह आत्मा के कभी भी बंधन नहीं होवेगा वह तो सदा मुक्त ही रहेगा। श्राप धौग जिस धर्म श्रधमं संज्ञक ग्रह को कर्म कहते हैं वह परतंत्रता का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि उसे आत्मा का गुण मान लिया है। जो जिसका गुण होता है वह उसी के परतंत्रता का कारण नहीं हो सकता जैसे पृथ्वी श्रादि के रूपादि गुण उसी पृथ्वी के विरोधक नहीं होते। श्राप धर्म ग्रधमं संज्ञक ग्रह शातमा के परतंत्रता का कारण धर्म ग्रधमं संज्ञक ग्रह श्रात्म के परतंत्रता का निम्त्त नहीं हो सकता। श्रात्मा परतंत्र नहीं सो भी बात नहीं है

प्रतीते। । तबाहि-परतन्त्रोऽसी हौनस्वानपरिवह्नवस्थात् बलोद्वे कपरतन्त्राशुविस्थानपरिवह्नविशिष्ट पुरुषवत् । होनस्थानं हि बदीदम्, धारमणी दुःखहेतुस्थारकारागारवत् । तत्परिवहनंदिच संवारी प्रतिद्ध एव । न च देववरोरे तद्भावात्पक्षान्याति।; तस्थापि मरणे दुःखहेतुस्थप्रतिद्धः । वत्परत-न्त्रवचासी तस्कर्मं इति तिद्धं तस्य पौदनिकस्वम् । तथा हि-पौदनिककं कर्मं धारमनः पारतन्त्र्यनिमित्त-त्वाधिमन्त्रादिवत् । न च कोषादिभिन्यभिचाषः; तेषां जीवपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वभावस्वात्, कोषादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यनिनत्तम् ।

सत्यम् ; नात्मगुर्गोऽदृष्टं प्रवानपरिस्सामत्वातस्य "प्रवानपरिस्सामः सुक्सं कृष्णं च कर्षे" [ ] इत्यभिधानात् ; इत्यपि मनोरवमात्रम् ; प्रधानस्या-

उसकी परतंत्रता तो प्रमाण से सिद्ध है यह संसारी आस्मा परतंत्र है, क्योंकि इसके हीन-स्थान को ग्रहण किया है, जैसे कि मद्य को उद्रेक के आधीन हुआ पुरुष अधुवि स्थान को ग्रहण करता है, वहीं पड़ा रहता है। यहां होन स्थान तो शरीर है, क्योंकि यह प्रात्मा को दुःख देता है, जैसे काराग्रह देता है। संसारी जीव उस शरीर रूपी परिग्रह को धार रहे, प्रसिद्ध ही है। देव के शरीर में दुःख हेतु का ग्रभाव होने से हेतु प्रक्यापक हुआ ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि देवों को भी मरण के समय शरीर दुःख का काराण हो जाता है, ग्रात्मा के पारतंत्र्य का जो हेतु है वह कमं ही है, इस तरह कमं का पीद्गलिकपना सिद्ध होता है। ग्रीर भी ग्रनुमान सुनिये! कमें पीद्गलिक है क्योंकि वह ग्रात्मा के परतंत्रता का निमित्त है, जैसे केडी ग्रादि परतंत्रता के निमित्त होते हैं। यह परतंत्रता का निमित्त है, जैसे केडी ग्रादि परतंत्रता के निमित्त होते हैं। यह परतंत्रता का निमित्त हण हेतु कोधादि के साथ क्यिभिचरित भी नहीं होता, क्योंकि वे भी पारतत्र्य स्वभाव वाले हैं, कोबादिक परिणाम स्वय पारतन्त्र्य स्वस्प है न कि पारतत्र्य का कारण है। इस प्रकार यहां तक नैयायिकादि ने कमं को ग्रात्मा का गुण मानकर शका की थी उसका खण्डन किया है।

सांख्य:—यह बात तो सत्य है कि ग्रहष्ट या कर्मग्रात्मा का गुरा नहीं है, वह तो जड़ प्रधान का परिसामन है । प्रधान परिसाम के दो भेद हैं एक शुक्ल अरोर एक कुष्णा।

जैन:—यह कथन मन के मनोरथ रूप है, प्रधान ही नहीं तो उसका परिस्ताम क्या होगा ? कुछ भी नहीं । प्रधान का निरसन सभी इसी ग्रध्याय में सस्येन तत्परिस्तामस्थस्य क्षांचिद्यस्यसभावात् । तदसस्यं चात्रेवानन्तरं वस्यामः । तत्पिदस्तामस्येषि वा तस्यात्मपारतन्त्र्यानिमत्तत्वाभावे कर्मत्वायोगात्, स्रन्यचाति प्रसङ्गः । प्रधानपारतन्त्र्यानिमत्त त्वास्यस्य कर्मत्वामित्त वेश्वः, प्रधानस्य तेन बन्धोपगमे मोक्षोपगमे चात्मकरानार्वयय्यंप्रसङ्गात् । वन्ष्यमोक्षफलानुभवनस्यात्मित् प्रतिष्ठानात्र तत्कत्यान्त्रय्यंप्रस्यक्षात् । वन्ष्यमोक्षफलानुभवनस्यात्मित प्रतिष्ठानात्र तत्कत्यात्मित् स्वयत् तत्कत्यात्मित्यस्य तत्कत्यात्मित्यस्य तत्कत्यात्मित्यस्य तत्कत्यात्वस्यापि प्रमास्यावानुव्याः । स्वयास्यात्मित्वस्यापि प्रमास्यावानुव्याः । स्वयास्यात्मत्वास्यात्मित्यस्यापि प्रमास्यान्यस्यात्वात् । तद्ययमुक्तम् ; मुक्तात्सनोपितरफलान्

करने वाले हैं सांख्य ध्रष्टष्ट को प्रधान रूप मान भी लेवे किन्तु उससे आरमा के परतन्त्रता होना नहीं मानते हैं तो उसमें कर्मत्व सिद्ध नहीं होगा। अन्यथा झति-प्रसंग प्राता है।

भावार्थ:— सांख्य आत्मा को सर्वथा अकर्ता निर्विकार मानते हैं, प्रधान के दो परिणामों का कृष्ण युक्त का संसर्ग सुक्ष्म प्रधान से होता है उसी का सारा विकार है, भात्मा सदा एकसा है ऐसा कहते हैं सो यहां घाचार्य ने कहा कि प्रधान को कर्म मान भी लेवे किन्तु उससे आत्मा में पारतन्त्र्य नहीं घाता तो कर्मत्व ही काहे का ? जो आत्मा में विकार नहीं लाता उसको भी कर्म मानेंगे तो घट ग्रादि पदार्थ को भी कर्मत्व संज्ञा हो जायगी।

सांख्यः - कृष्णं शुक्ला रूप प्रधान तत्त्व का जो परिणमन है वह पारतन्त्र्य का कारणं तो है किन्तु प्रधान के ही पारतन्त्र्य का कारण है, ग्रात्मा के नहीं ?

जैन:—यह कथन ध्रयुक्त है, प्रधान परिएाम से प्रधान हो बंधता है मीर प्रधान ही छूटता है मतलब बंध मोक्ष प्रधान के ही होते हैं, ऐसा मानेगे तो म्राह्म तत्व का ही अभाव हो जायगा।

सांख्य:—आरमा का ग्रभाव नहीं होगा, क्योंकि आरमा बंध मोक्ष के फल का ग्रनुभव करता है ?

जैन:-- यह बात गलत है, प्रधान को ही उसका फल भोगना चाहिये, जैसे प्रधान बंध मोक्ष को करता है, उसी प्रकार से उसके फल को भी भोग लेगा, यह तो तर्क सिद्ध बात है, जो करता है वही भोगता है, ग्रन्यथा कृतनाथ और ग्रकुत ग्रम्यागम नाम का दोव ग्राता है, जिसने किया उसको कुछ हुआ नहीं ग्रीर दूसरे को उसका फल भोगना पड़ा सो यह बात बिल्कुल ग्रयुक्त है। नुभवनानुषङ्गात् । तस्य प्रधानसंसर्गाभाषात्र तत्कतानुभवनिति चेत् ; तिह् संसारित्यः प्रधान-संसर्गाद्वन्यफलानुभवनम् । तथा चारमन् एव बन्यः सिद्धः, तत्संसर्गस्य बन्धफलानुभवनिमित्तस्य बन्धरूपत्वात्, बन्धस्यैव 'संसर्गः' इति पुदयलस्य च 'त्रधानम्' इति नामान्तरकरत्यात् ।

ननु प्रसिद्धस्यापि यथोक्तप्रकारस्य कर्मणः कार्यकारस्यप्रवाहेस्य प्रवस्थानस्यानादित्वा-द्विनाशहेतुभूतसामग्रीविशेषस्य चामाशास्कयं तेन विद्यक्षेत्रितासिकावरणस्य ज्ञानस्यः इत्यप्यपेशकम् ; सम्यग्यक्षंनादिवयसक्षरणस्य तद्विनाशहेतुभूतसामग्रीविशेषस्य सुप्रतीतस्यात् । सञ्चितं हि कर्म निर्वरात-भ्रारित्रविशेषस्पायाः प्रलीयते । सा च निर्वरा द्विषदा-उपन्नेमेत्रभेदात् । तत्रीपन्नमिकी तपसा द्वारशिवयेन साध्या । अनुपन्नमा तु यथाकालं संसारिष्णः स्यात् ।

सांख्यः — ग्रात्मा चेतन है अतः वह फलानुभव कर सकता है, प्रधान भोक्ता कैसे वने ? वह तो जड है ?

र्जनः — यह बात भी गलत है, इस तरह से तो मुक्तात्मा के भी भोक्तृत्व का प्रसंग आयेगा?

सांख्य:-मुक्तात्मा में प्रधान का संसर्गनहीं रहता अतः फलानुभव नहीं करता ?

जैन:— ऐसी बात है तो संसारी जीवों के प्रधान का संसर्ग होता है फ्रीर बंध के फल का प्रमुभव भी वे करते हैं यह निश्चय हुआ ? फिर धारमा के बंधन सिद्ध होता है, प्रभान का संसर्ग बंध तथा फलानुभव का निमित्त होता है, ऐसा कहने से तो बंधन को सिद्धि होती है, प्रापने सिर्फ उस बंध का ''संसर्ग' यह नाम घर दिया है ग्रौर पुद्गल का प्रधान नाम घरा है, और कुछ मित्रता की बात नहीं है।

## इति कर्मणां पौद्गलिकस्वं सिद्धम्

कर्म नामा पदार्थ पौद्गलिक है वह सिद्ध होने पर कोई शंका करता है कि— कर्म भले हो पौद्गलिक हो किन्तु वे कार्य कारए। भाव से अनादि काल से ही प्रवाहित हो रहे हैं, उनका नाश होना असंभव है, अतः द्रव्यादि सामग्री विशेष से ज्ञान का कर्मरूप ग्रावरए। नष्ट होता है ऐसा कहना प्रसिद्ध है ?

समाधान:-यह कथन असुन्दर है कर्मों के नष्ट करने का हेतु सम्यग्दर्शन,

कृतः पुनः साकस्येन पूर्वोपालकर्षणां निर्वार निश्चीयते इति वेवनुमानात्; तवाहि-साकस्येन नविवरात्मनि कर्माणि निर्वार्थन्ते विषाकान्तत्वान्, यानि तु न निर्वार्थन्ते न तानि विषाकान्तानि यथा कालादीनि, विषाकान्तानि च कर्माणि, तस्मारशाकस्येन नवचिनिनवीर्यन्ते । न वेदमस्वि साधनम् ; तथाहि-विशाकान्तानि कर्माणि फलाबसानस्वाद्शीह्यादिवत् । न वेदमप्यमिद्धम् ; तैषां निर्यरवामुबङ्गात् न च निर्यानि कर्माणि निर्यं तस्कनामुबदनप्रसङ्गात् ।

भावि पुनः कर्म संवरान्निक्व्येत-"श्रपूर्वकर्मेखामास्रवनिरोधः संवरः" [तत्त्वार्यं सू० ६।१]

सम्यग्जान, सम्यग्चारित्र रूप सुप्रसिद्ध हो है, यही कर्मों को नष्ट करने की सामग्री है। पुराना संचित कर्म चारित्र विशेष रूप निर्जरा से समाप्त होता है, वह निर्जरा दो प्रकार की हैं, उपकम निर्जरा भ्रीर अनुपक्रम निर्जरा। उपक्रम या भ्रीपक्रमिक निर्जरा श्रनशन आदि बारह प्रकार की तपश्चर्या से होती है, तथा अनुपक्रम निर्जरा यथा समय कर्म का उदय भ्राकर ऋड़ने रूप है वह सभी संसारी जीवों के होती है।

शंका:—-पुराकृत कर्मों की पूर्ण रूपेश निर्जराहोती है यह किस प्रमाण से सिद्ध होगा?

समाधान:—-अनुमान प्रमाण से सिद्ध होवेगा, यहां उसी पंचाययव रूप अनुमान को उपस्थित करते हैं किसी विशेष भ्रात्मा में संपूर्ण रूप से कर्मों का नाश होता है, क्योंकि वे कर्म फलदान तक ही रहने वाले हैं, जो निर्जाव नहीं होते, वे फलदान तक ही नहीं रहते, जैसे काल आदि द्रव्य. कर्म अवश्य ही फलदान तक रहते हैं, भ्रतः किसी भ्रात्मा में संपूर्ण नष्ट होते हैं। इस प्रनुमान का विपाकान्तरब-फल देने तक रहना रूप हेलु असिद्ध नहीं है, इसी को कहते हैं—कर्म फलदान तक ही ठहरने वाले हैं क्योंकि उसके बाद नष्ट होते हुये दिखाई देते हैं, जैसे चांवल गेहूँ आदि भ्रमाज हैं, इस अनुमान का फलावसानत्व हेलु भी असिद्ध नहीं। यदि इसको भसिद्ध मानेंगे तो कर्म को नित्य मानना पड़ेगा, किन्तु कर्म नित्य नहीं है, यदि होते तो हमेशा ही उनका फल भोगना पड़ता।

आगे प्राने वाले कर्मों का घ्रभाव तो संवर करता है, नये कर्मों को रोकना संवर कहलाता है, ऐसा तत्वार्थ सूत्र में प्रतिपादन किया है। नया कर्मे जिन कारणों से घ्राता है उसको घ्रास्त्रव कहते हैं उसके पांच भेद हैं, मिघ्यास्त्र, ध्रविरति, प्रमाद, कषाय ग्रीर योग। इनके निमित्त से घ्रात्मा में नये कर्म आते रहते हैं। ग्रास्त्रव को इरयभिकानात् । धालवो हि मिध्यादकंनािबरतिप्रमादकवाययोगिविकलात्पत्रविधः, तस्मिन्सित कर्मणामालवणात् । स व वंबरो गृष्ति समितिषमािनुष्रे कापरीषह्वययचारित्रविधीयते इत्यानमे विस्तरतः प्रकपितं इष्टच्यम् । निर्वरासंवरयोध्य सम्यग्दर्शनाद्यास्मकत्वात्तरक्षवे कर्मणां सन्तान-क्पतवाऽनािवत्विष प्रक्षयः प्रसिष्यत्येव । न सनािवसन्तितरिष श्रीतस्थां विप्रकस्थोष्णस्पर्धस्य प्रकपं निपू तत्वसं प्रस्वयः प्रसिष्यत्येव । न सन्तिवसन्तिरिष श्रीतस्थां विप्रकस्थोष्णस्पर्धस्य प्रकपं निपू तत्वसं प्रस्वयं प्रकपं निपू तत्वसं प्रस्वयं प्रकपं निपू तत्वसं प्रस्वयं प्रकपं निप्यं तत्वसं प्रस्वयं विप्रक्षायः कर्षायं नारणस्पतया बीजांकुरसन्तानो वाऽनादिः प्रतिपक्ष-भूतदहनेन निर्देष्यवीचो निर्देष्याङ्करो वा न प्रतीयते इति वक्तं श्रवयम् ।

रोकने वाला जो संवर है उसके गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, धरीर चारित्र इस प्रकार भेद हैं तथा धरेर भी प्रभेद धायम में विस्तार से कहे हैं, इन सबका स्वरूप वहीं देखना चाहिये।

भावार्य:-भली प्रकार से मन, वचन, काय को बश करना गृष्ति है. उसके मनोगुष्ति, वचनगुष्ति, कायगुष्ति ऐसे तीन भेद हैं। गमन मादि कियामीं को जीवों की रक्षा करते हुए करना समिति है, इसके पांच भेद हैं, ईया समिति, भाषा समिति. एष्या समिति, आदान निक्षेपएा समिति, उत्सर्ग समिति । घर्म-जो जीवों को संसार के दःखों से छड़ाकर उत्तम सुख में पहुँचा देता है उसे धर्म कहते हैं, उसके दश भेद है उत्तम क्षमा, मार्दव, धार्जव, शीच, सत्य, संयम, तप, त्याग, धार्किचन्य भीर बहाचर्य । वैराग्य बढाने के लिये जिनका बार बार चितवन किया जाता है वे अनुप्रेक्षा कहलाती हैं. उनके बारह भेद आगम में कहे हैं, मनित्य अनुप्रेक्षा, अशरएा, संसार, एकत्व. ग्रन्यत्व. ग्रमुचि, ग्रास्नव, संवर, निजंरा, लोक, बोधिदुर्लभ भौर धर्म । मोक्षमार्ग में ग्राडिंग रहने के लिये बिना व्याकुल हुए जो कष्ट सहते हैं उसे परीषहजय कहते हैं। उसके बाबीस भेद हैं, क्षा, पिपासा, शीत, उष्णा, दंशमशक, नग्न. घरति. स्त्री, चर्या. शय्या, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, रोग, तणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, धनान, प्रलाभ भीर भदर्शन । जिन कियाओं से कर्म भाता है ऐसी कियाओं से ज्ञानी विरक्त होते हैं उस ज्ञानी के श्रावरण को चारित्र कहते हैं, उसके पांच भेद हैं, सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना, परिहारविश्चि, सुक्ष्मसांपराय और यथास्यात चारित्र। इन सबका प्रकृ प्रकृ लक्षरा भी सिद्धांत ग्रन्थों में पाया जाता है, उनको वहीं से देखना चाहिये। ये गुप्ति आदिक तथा पूर्वकथित सम्यग्दर्शनादिक संवर निर्जरा के कारण हैं सम्यग्दर्शन के बिना गुप्ति भादिक वास्तविक नहीं कहलाते न उनसे संवरादि ही होते हैं।

ननु तत्प्रकर्षमात्रास्कर्षप्रस्वयमात्रमेव सिष्येष पुनः साकत्येन तत्प्रक्षमा, सम्यग्वर्धनादेः परम-प्रकर्षसम्भवाभावात्; इत्यप्यसङ्गतम्; तत्प्रकर्षस्य क्वलिदात्मानि प्रसिद्धः। तवाहि---यस्य तारत्वस्य-प्रकर्षस्तस्य क्विक्शरमप्रकर्षः यथोष्णस्यत्रस्य, तारतम्यप्रकर्षशासयत्यस्यम्बद्धायौ सम्यग्वर्धनादे-रिति । न च दुःसप्रकर्षेण् व्यभिचारः; सन्तमनरकभूमी नारकाणां तत्परमप्रकर्षशसिद्धोः सर्वावसिद्धौ देवानां सांसारिकसुखपरमप्रकर्षवत्, मिथ्याटष्टिब्बनन्तानुबन्धिकोवादिपरमप्रकर्षशसिद्धोः । नापि ज्ञानहान

जब इन सम्यग्दर्शनादिक गुणों का धारमा में विकास होता है तब अनादि कास का प्रवाहरूप से चला आया कमें संतान भी नष्ट होता है। जैसे जनादि का श्रीत स्पां अनादि संतान से चला धाता है। किंतु उसके प्रतिपक्षी उष्ण स्पर्ध के प्रत्यंत प्रकथ होने पर वह समूल नष्ट होता है। दूसरा उदाहरण बीज और अंकुर में अनादि से कार्य कारण भाव चलता है, किन्तु वह भी प्रतिपक्षी प्रिग्न के द्वारा नष्ट होता है बीज या अंकुर जल आने पर निरक्षेष खतम होता है, यह सब प्रतीति सिद्ध उदाहरण है, इनमें इन्कार नहीं कर सकते।

र्शकाः — ठीत है, किंतु इन अनुमानों से सम्यक्त्व आदि के प्रकर्ष से कर्म सामान्यतः क्षय होना तो सिद्ध होवेगा, किंतु पूर्णक्ष्प से क्षय होना सिद्ध नहीं होता । क्योंकि सम्यक्त्व आदि का परम प्रकर्ष होना ही असंभव है ?

समाधान: —यह कथन असंगत है, रतनत्रय का परम प्रकर्ष किसी किसी आत्मा में होता ही है, इसो बात को सिद्ध करते हैं — जिस वस्तु का तरतम रूप से प्रकर्ष होता है उसका किसी में तो अवक्य ही परम प्रकर्ष होवेगा, जैसे उच्छा स्पर्स में तरतमता और प्रकर्ण दिखाई देता है। असंगतनामा चतुर्ष गुणस्थान वाले सम्यग्दिष्ट जीव को आदि लेकर अग्निम गुणस्थानों में सम्यग्दर आदि का प्रकर्ण बढ़ता हुआ पाया जाता है। कोई शंका करे कि इस कथनका दुःख के साथ व्यिभचार आता है? तो इसको आचार्य समकाते हैं कि दुःख का परम प्रकर्ण सन्तम नरक में नारकी जीवों के है, जैसे सांसारिक सुखों का परम प्रकर्ण सर्वार्थ सिद्ध वाले देवों के है अथवा अनंतानुबंधी को आदि का प्रकर्ण मिथ्यादिष्ट में रहता है। इन सब हेतुओं का ज्ञान की हानिरूप प्रकर्ण के साथ व्यभिचार नहीं आता है, अर्थातु जो घटता बढ़ता है वह पूर्ण नष्ट भी होता है ऐसा एकांत कहेंगे तो जान हावि के साथ हेतु अभिचरित है, नयोंकि ज्ञान की परम हानि तो होती ही नहीं? ऐसा कोई अस्पन्न कहे तो ठीक नहीं, ज्ञान की वात

निप्रकर्षेणानिकान्तः; तस्यापि क्षायोपक्षभिकस्य हीयमानतया प्रकृष्यमाणस्य केवलिनि परमापक्षभै-प्रसिद्धे । आयिकस्य तु हानेवासम्भवास्कृतस्तरप्रकर्षो यतोऽनेकान्तः ।

इत्यं वा साकत्येन कर्मप्रक्षये प्रयोगः कर्तव्यः "यस्यातिशये यद्धान्यतिशयस्तस्यात्यन्तातिगयेऽत्यस्यात्यन्तहानिः यषाग्नेरत्यन्तातिशये शीतत्य, अस्ति च सम्यग्दर्शनादेरत्यन्तातिशयः वविचात्वनिः
इति । यदा, सावरणहानिः कवित्रपुरुवविशेषे परमप्रकर्षप्राप्ता प्रकृष्यमाण्त्वात् विरागण्यत् । न
चात्रासिद्धं साधनम्; तथाहि-प्रकृष्यमाणावरणहानिः धानरणहानित्वात् माण्यिक्याधावरण्हानिवत् । तद्धानिपरमप्रकर्षे च ज्ञानस्य परमः प्रकर्षः सिद्धः । यद्धि प्रकाशात्मकः तस्त्वावरण्वहानिप्रकर्षे प्रकृष्यमाण् इष्टम् यथा नयनप्रदोषादि, प्रकाशात्मकः वानमिति । तदेवमावरण्यसिद्धवत्तदभवोष्यनवयवेन प्रमाण्तः प्रसिद्धः । तत्प्रभवमेव चालेवार्यगोचरं ज्ञानमम्बुत्यन्तव्यम्,

ऐसी है कि वह यदि क्षयोपशम रूप है तब तो हानि का प्रकर्ष कैवली के होता है, क्योंकि केवली में क्षयोपशम रूप जान नहीं है, क्षायिक ज्ञान में हानि नहीं है तो परम प्रकर्ष कहीं से होगा? जिससे कि हेतु को अनेकान्तिक कह सकते हैं? कमें का संपूर्ण क्षय होता है, इसका समर्थक और भी अनुमान है—जिसके म्रतिशय में जिसका हानि का अतिशय होता है, उस प्रतिशय के अत्यंत वह जाने पर उस अन्य की म्रत्यंत हानि होती है। जैसे अभिन के भ्रत्यंत भ्रतिशय में शीत की अत्यंत हानि होती है। किसी म्रात्म में सम्यक्त आदि का अत्यंत भ्रतिशय होता ही है। इस म्रनुमान से कमें का पूर्ण क्षय होना सिद्ध होता है। तथा किसी पुरुष विशेष में मावरण की हानि चरम सीमा को प्राप्त होती है, क्योंकि वह प्रकुष्यमान है, जैसे परिमाण या माप प्रकुष्यमान होता है। यह प्रकुष्यमानत्वात् हेतु असिद्ध नहीं है, उसी को बताते हैं आवरण के हानि कर परम प्रकर्ष सिद्ध है म्रतः ज्ञान का परम प्रकर्ष भी सिद्ध होता है।

जो प्रकाशक होता है वह उसके आवरण हानि के बढ़ने पर बढ़ता ही है, जैसे दीपक या नेज संबंधी आवरण हानि है। जान भी दीपकादि की तरह प्रकाश शील है। इन उपयुक्त अनुमान प्रमाणों से कमं का आवरण ग्रीर अत्यंत सभाव भले प्रकार से सिद्ध होता है। इस आवरण के अत्यंताभाव से संपूर्ण जिकाल, जिकाल गोचर अशेष पदार्थों का जान होता है, ऐसा सिद्ध हुआ। जान में थोड़ा भी आवरण रहेगा तो वह प्रस्तिल वस्तुभों को जान नहीं सकता, जिस विषय में हो आवरण रहेगा उसी में इस जान की रुकाबट हो जावेगी।

लेखनोध्यावरत्तसङ्कावे तस्याक्षेयार्थगोचरत्वासम्भवात्, यत्रैवावदशसङ्कावस्तत्रेवास्य प्रतिबन्ध-सम्भवात् ।

धागमद्वारेणाशेषार्थंभोत्ररं ज्ञानम्; इत्यय्यमुन्दरम्; विश्वदज्ञानस्य प्रस्तुतत्वात्। न नागम-ज्ञानं विश्वदम् । न नागमोप्यशेषार्थंभोत्रसः; प्रवंपयिषु तस्याप्रकृतः। ते नार्थस्य प्रतिक्षणम् 'श्रयं-क्रियःकारित्वात्सस्त्वाद्वा सन्ति' इत्यवसीयन्ते । धन्यथास्याज्वस्तुत्वप्रसङ्गः। करणजन्यत्वे नाशेष-ज्ञानस्यातोन्द्रियार्थेषु प्रतिवन्यः प्रसिद्ध एव, इन्द्रियाणां रूपादिमस्यव्यवहितेऽनेकावयवप्रचयात्मकेऽय प्रवृत्तिप्रतीते। ।

शंका:—आत्माके ब्रावरएाके नाश से ही ब्रखिल पदार्थों का ज्ञान होता है स्रोबात नहीं ? ब्रागम से भी वैसा ज्ञान हो सकता है ?

समाधानः — यह कथन असत् है, यहां प्रकरण तो विदाद जान का है, आगम ज्ञान विदाद नहीं होता, न आगम के द्वारा संपूर्ण वस्तुओं का ज्ञान ही होता है, क्योंकि स्नागम जान से अगुरु लाड़ की पट् हानि दृद्धि रूप अर्थपर्याय नहीं जानो जाती हैं। अर्थपर्याय पदार्थों में होती हैं, इस बात का निर्णय निम्न कथित अनुमान से हो जाता है—पदार्थ प्रतिक्षरण परिणमन दील है। क्योंकि उनमें अर्थिकिया होती है। तथा वे पदार्थ सत्ता स्वरूप भी हैं। यदि वस्तु में प्रतिक्षण अर्थिकया नहीं होवेगी तो वह वस्तु अवस्तु—अभाव रूप हो जावेगी। कोई मूर्खिशरोमणि यदि चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा संपूर्ण वस्तुओं का ज्ञान होना स्वीकार करे, तो वह भी असत्य है, क्योंकि इन्द्रिय जनित ज्ञान अतीन्द्रिय विषयों का प्रारुक नहीं होता। इन्द्रियां तो रूप, रस स्नादि गुण वाले निकटवर्ती स्यूल पदार्थों को हो जानती हैं अन्य विषयों को नहीं।

शंकाः —जब इन्द्रियां योगज धर्म से अनुग्रहीत होती हैं तब आकाश आदि संपूर्ण पदार्थों को जो कि मतीन्द्रिय हैं, उनको जानने में समर्थ होती हैं, (संपूर्ण विषयों को साक्षात् करा देती हैं) ग्रतः अखिल पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से होने पर भी प्रतिबंध कैसे हो सकता है ? अर्थात् योगज धर्मानुग्रहोत इन्द्रियां प्रतिबंध रहित होती हैं ?

समाधान:—यह कथन विना सोचे किया है, इंद्रियों परयोगज धर्मका ग्रनुग्रह होना और उससे संपूर्ण विषयों को जानने की सामर्थ्य ग्राना इन दोनों का प्रथम ग्रष्याय में ही खण्डन कर ग्राये हैं। ननु योगज्ञधर्मानुगृष्ठीतानाभिन्द्रयाणां गगनावशेवात्येन्द्रयावंसाक्षास्कारिज्ञानजनकत्व-सम्भवात् कयं तत्राशेषज्ञानस्येन्द्रियजस्वेपि प्रतिबन्धसम्भवः; इत्यप्यसमोक्षिताभिधानम्; योगज-धर्मानुग्रहस्येन्द्रियाणां प्रथमपरिच्छेदे प्रतिबिहृतस्वात् ।

भावनाप्रकर्षपर्यन्तजरवायोधिविज्ञानस्य नोक्तदोषानुषञ्जः । भावना हि द्विविद्या-श्रृतमयो, विन्तामयी व । तत्र श्रृतमयी श्रृयमाणेभ्यः परार्थानुमानवावयेभ्यः समुराद्यमानज्ञानेन श्रृतशब्द-वाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता परमप्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानज्ञानवक्षराया विन्तया निर्वृत्ता विन्तामयीं भावनामारभते । सा च प्रकृष्यमाराग परं प्रकर्षपर्यन्त सम्प्राप्ता योगिप्रत्यक्षं जनयतीित तत्कयमस्यावरागायप्रभवश्वम् ? इत्यप्यवारम्; क्षास्त्रकर्नरारम्यादाभावनायाविज्ञानस्याः

भावार्थः — च्यान, प्राणायाम आदि योग विशेष से इन्द्रियों में अतिशय पैदा होता है और वह अतीन्द्रिय पदार्थों को भी जानने लग जाती है ऐसा मीमांसकों का कहना है सो इस विषय पर पहले अध्याय में विचार कर आये हैं। इन्द्रियों में योगज धर्म का कितना भी अनुग्रह हो जाय किंतु वे परमाणु आदि पदार्थों को ग्रह्ण नहीं कर सकती न प्रपने विषय को छोड़कर अन्य रूप भादि को ग्रह्ण कर सकती है, क्या योगज धर्मानुग्रहीत नेत्र रसास्वाद का कार्य करेगे १ नहीं कर सकते हैं। अतः योगज धर्मानुग्रहीत इंद्रियों द्वारा संपूर्ण पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ होना शक्य नहीं है।

बौदः—योगज धर्मानुष्रहोत इन्द्रिय से भले ही प्रिष्ठिल वस्तु का ज्ञान नहीं हो किन्तु श्रुतमयो भावना प्रादि का जब परम प्रकर्ष होता है तब उससे होने वाला योगो का ज्ञान प्रदोष पदार्थों का ग्राहक बन जाता है, इसमें कोई आपके कहे हुए दोष नहीं ग्राते ? भावना भो दो प्रकार की है—श्रुतमयी भावना और चिन्तामयी भावना । ग्राचार्य ग्रादि से सुनने में ग्राये हुए जो परार्थानुमान रूप वाक्य हैं उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुत शब्द के द्वारा कहा जाता है, इन गुरु वाक्यों से उत्पन्न हुई तथा परम प्रकर्ष को प्राप्त हुई ऐसी जो श्रुतसम्बन्धी भावना है वह श्रुतमयी भावना कहलाती है. यही भावना स्वर्णानुमान लक्षण वाली चिन्ता में निर्मित चिन्तामयी भावना को उत्पन्न करती है। फिर चिन्तामयी भावना बढ़ते बढ़ते चरम सीमा को प्राप्त होतो है तब योगी प्रत्यक्ष को उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार योगी प्रत्यक्ष कान या पूर्ण ज्ञान स्वरूप मुख्य प्रत्यक्ष तो इन भावनाओं से उत्पन्न होता है, फिर इसकी ग्राप जैन श्रावरण के नाश से होता है ऐसा क्यों मानते हैं?

भृतमय्याश्य निष्यारूपस्थात् । न च मिथ्याज्ञानस्य परमार्यविषययोगिकानजनकत्त्रमतिप्रसङ्गात् । यथा च न अस्मिकत्वं नैरास्त्र्यं शृत्यत्वं वा वस्तुनस्तवा वस्यते :

किन्द्र, प्रक्षित्रप्राधिनां भावनावतां तथाविधज्ञानोत्पत्तिः किन्न स्थान् सुनावव् ? तेषां तथा-भृतभावनाऽभावाच्चेत्; नः प्रतिपन्नतस्थानां भावनाप्रवृत्तमनसां सर्वेषां समाना भावनैव कृतो न स्यात् ? प्रतिबन्धककर्मसाद्भावाच्चेतः; तर्हि भावनाप्रतिबन्धककर्मापाये भावनावत् योगिज्ञानप्रति-बन्धककर्मापाये तज्ज्ञानोत्पत्तिरम्युपगन्तव्या । इति सिद्धं साकत्येनावर्गापाये एवातोन्द्रियम-सेवायेविषयं विवादं प्रत्यक्षम ।

जंन:—यह पक्ष भी बेकार है। धाप बौद्ध के यहाँ क्षणिक नेरात्स्यवाद है, इस क्षिण्किवाद में श्रुतमयी आदि भावना भी मिष्या एवं क्षणिक ही रहेगी, ग्रतः इस क्षिण्क भावना में कुछ प्रकर्ष होना धागे आगे बढ़ना धादि हो नहीं सकता उसके अभाव में बह भावना ही काहे की? वह तो मिथ्या ही है, इस मिथ्या भावना से वास्तविक विषय वाला योगी ज्ञान उत्पन्न होना ध्रशक्य है, यदि मानेंगे तो ग्रतिप्रसंग होगा, फिर दो चन्द्र का ज्ञान भी योगी ज्ञान का जनक बन बैठेगा १ क्योंकि मिथ्याज्ञान से भी योगी ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा ध्रापने मान लिया? तथा आप बौद्ध के सिद्धांत जो क्षाण्किवाद, नैरात्स्यवाद, श्रुत्यवादादि हैं, इनकी सिद्धि नहीं होती, ये सब असत्य सिद्धान्त हैं, ऐसा ध्रापे भी कहेंगे।

हम जैन बौद से पूछते हैं कि संसार के सभी प्राणियों को जो कि इन भावनाओं से संयुक्त हैं उनको, प्रदेश परार्थों का ज्ञान क्यों नहीं होता ? जैसे सुगत को पूर्ण ज्ञान होता है ? तुम कहो कि उन बोवों के श्रुतसयी ग्रादि भावना नहीं होती है अत: पूर्ण ज्ञान का सभाव है ? सो भी ठीक नहीं, जिन्होंने तत्वों का ग्रम्यास किया है, भावना में मनको लगाया है, उन बोवों के समान भावना क्यों नहीं होती ? क्या प्रतिबंधक कर्म का सद्भाव है इसलिये समानता नहीं होती ? यदि यही बात है तब तो भावना को रोकने वाले कर्म का ग्रभाव होने पर जैसे भावना उत्सक्त होती है वैसे ही योगीज्ञान प्रगट होता है ऐसा निर्दोष वक्तव्य मानना चाहिये । इस प्रकार यह निरुचय हुआ कि आवरण का पूर्ण नाश होने पर ही संपूर्ण विषयों का ग्राहक ऐसा विशद ज्ञान उत्यन्न होता है।

## ब्रावरण सिद्धि, कर्म पौद्गलिकत्वसिद्धि तथा संवर निर्जरा सिद्धि का सारांश

ज्ञानावरण आदि कर्मों के पूर्णरूप से नाधा होने पर या क्षयोपशम होने पर मुख्य प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, "किन्तू बौद्ध ग्रावरण को नहीं मानते उनके यहां श्रतमयी और चिंतामयी भावना से ज्ञान प्रगट होता है न कि आवरण के हटने से।" वे कहते हैं कि शरीर, राग ग्रादि को ग्रावरण माने तो उनके सद्भाव में भी भान होता है, अन्य कोई आवरण दिखाई नहीं देता, आचार्य ने उनको समकाया है कि शरीर आदि आवरण नहीं है कर्म आवरण है उस कर्म की अनुमान के द्वारा सिद्धि होती है आत्मा स्व और पर को जानना रूप स्वभाव वाला है ऐसे बाश्मा की होन घरीरादि पदार्थ में घासक्ति हो रही है वह घातमा से भिन्न किसी अन्य कारण से हुई है क्योंकि वह विशिष्ट ग्रासिक है जैसे व्यसनी नीच पूरुष पर किसी कुलवंती स्त्री को ग्रासिक मंत्र तंत्र आदि के हेत् से होती है, इस अनुमान से सामान्य कर्म सिद्ध हुआ, पून: ब्रावरण रूप विशिष्ट कर्म की सिद्धि के लिये दूसरा बनुमान प्रयुक्त होता है संसारी जीवों का ज्ञान सम्पूर्ण विषयों में ग्रावरण युक्त है, क्योंकि सब विषयों में प्रवृत्त नहीं हो पाता, जो अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होता उसका कारण अवश्य होना चाहिए, जो कारण है वही आवरण है। ज्ञान का भावरण कमं न होकर अविद्या है क्योंकि मृतिक भावरण से भ्रमृतिक ज्ञान पर भावरण नहीं आ सकता ऐसी शंका भी मदिरा के हृष्टान्त से दूर हो जाती है, जैसे मदिरा आदि मादक पदार्थ मूर्तिक होकर भी अमृतिक ग्रात्मादि को उन्मत्त करा देते हैं, वैसे कमें हैं तथा यह कमें ग्रनादिकाल से प्रवाहरूप से चला ग्राया है ग्रतः उससे सम्बद्ध ग्रात्मा सर्वथा भर्मातक नहीं है। इस तरह पुरुषाद तवादी आदि के अविद्या रूप ग्रावरण का निरसन किया है। सांख्य प्रधान को ही आवरण मानते हैं भीर वह आवरण भी प्रधान पर आया हुआ मानते हैं, सो यह मान्यता भयक्त है, प्रधान स्वरूप भावरण प्रधान पर भावरण डालता है तो प्रधान के ही बंध और मोक्ष होना सिद्ध होगा, अतः आत्मा को मानना व्यर्थ होता है। बंध तथा मोक्ष का फल ग्रात्मा भोगता है अतः वह व्यर्थ नहीं होता ऐसा कहना भी तर्क संगत नहीं है। इस प्रकार कर्म पौद्गलिक पदार्थ है यह सिख हो जाता है. उस कर्म का समाव संवर सौर निजंरा से होता है, कोई कोई कर्म रूप भावरण का पर्णतया नाश होना नहीं मानते, उनको शीत स्पर्श का दृष्टांत देकर समकाया है कि जैसे अनादि कालीन शील स्पर्ण उसके प्रतिबंधक उच्णा स्वशं के बढ़ जाने से नष्ट होता है, वेसे ही कर्म के प्रतिपक्षी सम्बग्दशंनादि कारणों के वृद्धिगत होने पर कर्म मूल से नष्ट हो जाते हैं बीज शंकुर का दृष्टांत भी बढ़िया है। कर्म का धागामी धाना रुकता संवर है, और वह गुप्ति, समिति ग्रादि के द्वारा होता है। पहले संचित हुए कर्म, तपश्चर्या आदि के द्वारा निर्जीण होते हैं जैसे जैसे सम्यग्दशंनादि प्रकृष्ट होते हैं वैसे वेसे कर्म धावरण, की हानि होती है। इस प्रकार कर्मों का पूर्णतया संवर तथा निर्जरा होना सिद्ध होता है।



नतु वाशेषायंज्ञातुस्त्(ज्ञानस्वत) क्जाननतः कस्यचित्युवयविशेषस्येवासम्भवास्कवं तज्ज्ञान-सम्भवः ? तक्षाहि-न किष्वत्युवयविशेषः सर्वज्ञोस्ति सदुष्तम्भकन्नमाणुष्यकागोचवचारित्या-द्वस्यास्तनम्थयन्त् ; न वायमिद्धद्वो हेतुः, तथाहि-सकलपदार्थवेदी पुरुषविशेषः प्रत्यक्षेण प्रतीयते, भनुमानादित्रमाणेन वा ? न तावत्त्रत्यक्षेणः; प्रतिनियतासक्ररूपादिवययस्येन अन्यसन्तानस्यसंवेदन-मात्रत्यस्य सामर्थ्यं नास्ति, किमङ्ग पुनरनाधनस्तातीतानावतन्तर्यमानसूद्वमादिस्वभावसक्तयदार्थ-साक्षास्कारिसंवेदनविशेषे तद्य्यासिते पुरुषविशेषे वा तस्यात् ? न वातीतादिस्वभावनिक्षवपदार्थ-

मीमांसकः — जैन ने झावरए। कर्म के नाश से पूर्ण झान प्रगट होता है ऐसा सिद्ध किया तथा आवरण की सिद्धि की किन्तु संपूर्ण पदार्थों को जानने वाला झान और उस झान से संयुक्त कोई पुरुष विशेष ही संभव नहीं है, अतः ऐसे झान को सिद्ध करना कैसे सक्य है? इसी को बताते हैं — कोई भी पुरुष विशेष सबंझ नहीं है, क्योंकि वह सत्ताग्राहक पांचों प्रमाएगों के गोचर नहीं होता, जैसे बन्ध्यापुत्र नहीं होता । यह सत्ताग्राहक प्रमाएगों के ग्राचर होना रूप हेतु धसिद्ध नहीं है। कैसे सो बताते हैं — संपूर्ण पदार्थों को जानने वाला जो पुरुष है वह प्रत्यक्ष से प्रतोत होता है या धनुमान से? प्रत्यक्ष प्रमाण से वह पुरुष विशेष जाना जाता है ऐसा कहना तो शक्य नहीं. यह प्रत्यक्ष तो प्रतिनियत तथा निकटवर्ती रूप, रस ग्रादि को जानता है, इस इंद्रिय प्रत्यक्ष में अन्य ग्राहमा में होने वाले झान को जानने की भी सामर्थ्य नहीं है तो फिर जो जान अतीत अनागत एवं वर्तमान कालीन सुक्पादि स्वभावों से संयुक्त ग्रन्तानंत संपूर्ण पदार्थों को साक्षात्कार करने वाला है ऐसे विशिष्ट झान को एवं तिष्ठिशिष्ट पुरुष विशेष को [सर्वंक्ष को] कैसे जान सकता है? [ग्रर्थात् नहीं जान

बहुणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणत्रवृत्तज्ञानग्रहण्म्, प्राह्माग्रहणे तन्निष्ठप्राहकत्वस्याप्य-ग्रहणात् ।

नाप्यनुमानेनासी प्रतीयते; तद्धि निश्चितस्वधान्यप्रतिबन्धाद्धेतोश्वयमासादयरप्रमाणतां प्रतिवद्धते । प्रतिबन्धरचाखिलपदार्यज्ञसत्त्वेन स्वसाध्येन हेतीः किं प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वा ? न तावरप्रत्यक्षेण; प्रस्याज्यक्षज्ञानवरसत्वसाक्षाःकरणाव्यमत्वेन तरप्रतिपत्तिनिम्तिहेतुप्रतिबन्धप्रद्वेणप्यक्षमत्वान् । न ह्यविवश्रसम्बन्धिनस्तद्गवसम्बन्धावगमो युक्तोऽतिप्रसङ्गान् । नाप्यनुमानेन; प्रनवस्येतरेतराध्यदोषानुपङ्गान् । न चात्र वर्षी प्रस्थक्षेण प्रतिवन्नः; प्रनक्षज्ञान्वरयराधौऽष्यक्ष-

सकता है] तथा यह भी बात है कि उन सूक्ष्मादि स्वभाव वाले अनंत ध्रतीतादिकाखीन निक्किल पदार्थों को ग्रहण किये बिना उन पदार्थों को साक्षात करने वाले ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि ग्राह्म को ग्रहण किये विना ग्राहक का ग्रहण होना भी ग्रहण यहै। इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सर्वज की सिद्धि नहीं होती है।

धनुमान प्रमाण के द्वारा भी सर्वज्ञसिद्ध नहीं होता है धनुमान में प्रमाणता का उदय तब होता है जब उसमें साध्य का अविनाभावो हेतू होता है, स्वसाध्य के श्रविनाभावी हेतु से ही अनुमान में प्रामाण्य माना जाता है। यहां पर अशेषार्थ ग्राहक पुरुष विशेष को सिद्ध करना है अतः वह साध्य है इस साध्य के साथ हेत का अविनाभाव किससे जाना जायगा ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से तो शब्य नहीं, क्योंकि इस प्रत्यक्ष में अतीन्द्रिय जानी के जानने की शक्ति नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञानी के सत्व विना उसके प्रतिपत्ति का निमित्तभूत हेतू का ग्रविनाभाव जाना नहीं जायगा, संबंधी की जाने विना उसमें होने वाला संबंध कैसे जाना जाय ? यदि माने तो अतिप्रसंग होगा, फिर तो परमारा को जाने विना ही उसका घट के साथ होने वाला संबंध भी जाना जा सकेगा। किंतु यह शक्य नहीं है। ग्रदोषज्ञ को सिद्ध करने वाले हेतु का ग्रविनाभाव ग्रनुमान से सिद्ध करे तो भी शक्य नहीं है क्योंकि ग्रनवस्था ग्रीर इतरेतराश्रय दोष ग्रायेंगे? कैसे सो ही बताते हैं प्रथम श्रनुमान के हेतू का अविनाभाव निश्चित करने के लिये दूसरा अनुमान चाहिए, पुनः उस दूसरे के लिए तीसरा चाहिये क्योंकि उसका अविनाभाव भी जानना जरूरी है इस तरह ग्रनवस्था ग्राती है। इतरेतराश्रय दोष इस प्रकार होगा-प्रथम ग्रनुमान जो कि सर्वन्न को सिद्ध करता है उसके हेतु के अविनाभाव को दूसरा अनुमान बतायेगा, और दूसरे स्यात्रमृतः । प्रमृतौ वाध्यक्षेतीयास्य प्रतिपन्नत्वात्र किश्विदनुमानेन । नाप्यनुमानेन हितोः पक्षयर्भ-तावगन्नमन्तरेत्यानुमानस्यैवाप्रवृत्ते : । न चात्रतिपन्ने वीमित्ति हेतोस्तरसम्बन्धावनमः । नाप्यप्रतिपन्न-पक्षयर्भत्वो हेतुः प्रतिनिवतसाव्यप्रतिपरयञ्जम् ।

किन्त, सत्तासाधने सर्वो हेतुरसिद्धविरुद्धानेकान्तिकरवलस्राग्यां त्रायाँ दोषज्ञाति नातिवत्ताते । तथाहि-सर्वज्ञसत्त्वे साध्ये भावधर्यो हेतुर, अभावधर्यो वा स्यात्, उत उभयधर्यो वा ? प्रथमपक्षेऽसिद्धः; भावेऽसिद्धे तद्धमेस्य सिद्धिविरोधात् । द्वितीयपक्षे तु विरुद्धः; भावे साध्येऽभावधर्मस्याभावा-

अनुमान के हेतू का प्रविनाभाव प्रथम ग्रनुमान से सिद्ध होगा। अशेषक्ररूप धर्मी का प्रत्यक्ष ज्ञान तो होता नहीं क्योंकि प्रतीनिद्य ज्ञान वाले प्रत्यंत परोक्ष ऐसे उस पुरुष विशेष में प्रत्यक्ष कोन तो होता नहीं क्योंकि प्रतीनिद्य ज्ञान वाले प्रत्यंत परोक्ष ऐसे उस पुरुष विशेष में प्रत्यक्ष को प्रवृत्ति हो नहीं होती, यदि प्रवृत्ति होती तो प्रगुमान की जरूरत ही नहीं रहती, प्रत्यक्ष से हो बह दिखायी देता। सकल पदार्थों का ज्ञायक ऐसा यह पक्ष में लिया हुम्मा धर्मी अनुमान से भी नहीं जाना जाता है क्योंकि जब तक हेतू का पक्ष धर्मत्व गुएा प्रहेए गहीं होगा तब तक अनुमान को प्रवृत्ति अशक्य है, प्रौर पक्ष अर्थात् धर्मी असिद्ध है तो हेतु का पक्ष धर्मत्व क्या सिद्ध होगा? बिना धर्मी की जाने हेतु के प्रविनाभाव को जान नहीं सकते। इस तरह जिसका पक्ष धर्मत्व अज्ञात है वह हेतु अपनि नियत साध्य को सिद्ध करने में निमित्त नहीं बन सकता। भावार्थ — अनुमान के दो अवयव होते हैं एक तो साध्य जहां रहता है वह स्थान जिसे धर्मी या पक्ष कहते हैं वह और दूसरा उसके साथ प्रविनाभाव संबंध रखने वाला हेतु। हेतु पक्ष में प्रवश्य रहता है ऐसा अबिनाभाव तब निष्मित्त होता है कि जब एक्ष जानने में ग्रावे, किन्तु यहां सकलार्थं वेदी पुरुष पक्ष कोटो में है वह प्रत्यक्षगम्य नहीं होने से उसका अबिनाभावों हेतु भी नहीं जाना जाता इस तरह सबंज को सिद्ध करने वाले ग्रनुमान में पक्ष और हेत् दोनों हो प्रसिद्ध हो जाते हैं।

एक बात यह भी है कि सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने में जो भी हेतु दिया जाय उसमें भसिद्ध, विरुद्ध, अनेकान्तिक ये तीनों दोष भाते हैं, कैसे सो बताते हैं सर्वज्ञ को सिद्ध करने में हेतु कौन सा देंगे भाव अर्थात् सद्भाव घमंबाला या अभाव घमंबाला? प्रथवा उभय घमंबाला? प्रथम पक्ष असिद्ध है, क्यों कि भाव ही स्रसिद्ध है तो उसका घमंब्या सिद्ध होगा? हो नहीं सकता। दूसचे पक्ष में तो हेतु विरुद्ध कहलायेगा, साध्य तो सद्भाव स्वरूप है और हेतु है अभाव घमंबाला सो अभाव तो अभाव के साथ रहेगा भतः ऐसा हेतु विरुद्ध कहलायेगा। भाव अभाव दोनों धमंबाला

व्यमिचारित्वेन विरुद्धत्वात् । उभयवर्मोध्यनेकान्तिकः सत्तासाधने; तदुभयव्यभिचारित्वात् ।

ग्रापि चाविशेषेण सर्वज्ञः किष्वस्ताध्यते, विशेषेण वा ? तत्राखपक्षे विशेषतीऽ**वै**रप्रणीता-गमाश्रयणमनुपपन्नम् । द्वितीवयते तु हेवोषपश्सर्वज्ञस्याभावेन दृष्टान्तानुवृत्त्यसम्भवादसाधारणानै-कान्तिकत्वम् ।

किञ्च यतो हेतोः प्रतिनियतोऽहंन सर्वज्ञ साध्यते ततो बुद्धोपि साध्यतां विशेषाभावान्, न

हेतु भ्रनेकान्तिक दोष युक्त होया, वयोंकि सर्वकाता रूप साध्य तो सत्ता स्वभाव वाखा है भ्रौर उसमें हेतु प्रयुक्त किया सत्ता असत्ता दोनों स्वभाव वाखा ।

हम मोमांसक आप जैन से प्रश्न करते हैं कि यह जो सर्वज्ञ सिद्ध किया जा रहा है वह सामान्य से कोई एक पुरुषरूप सिद्ध करेंगे अधवा विशेष रूप से अहुँत पुरुष विशेष सिद्ध करेंगे ? प्रथम पत्न तो ठीक नहीं, क्योंकि इसमें महुँत भगवान के द्वारा प्रणीत आगम हो सत्य है उसी का आश्रय लेते हैं इत्यादि आपकी मान्यता बनती नहीं हैं। मतलब जब सामान्य से सर्वज्ञ सिद्ध किया तो वह पहुँत ही होवे सो बात नहीं, फिर उसी के आपम को मानने का पक्ष खंडित होता है। दूसरा पक्ष विशेष रूप से अहुँत रूप सर्वज्ञ को सिद्ध करते हैं तो उसको सिद्ध करने वाले अनुमान में हष्टान्त नहीं रहता है क्योंकि अहुँत को छोड़कर प्रन्य सुगत आदि को सर्वज्ञ माना नहीं है फिर इष्टान्त किसका देवें ? बिना हष्टान्त के हेतु असाधारण अनेकान्तिक बन

भावार्थ:—हम भीमांसक के यहां ग्रसाधारण ग्रमैकान्तिक हेतु का यह लक्षण है कि जो विषक्ष और सपक्ष दोनों से व्यावृत्त हो, जैसे शब्द ग्रनित्य है, क्योंकि सुनायी देना रूप धर्म उसमें पाया जाता है। इस उदाहरण में जो श्रावणस्व हेतु है वह अपना विषक्षी जो नित्य आत्मादि पदार्थ हैं उनसे व्यावृत्त होता है तथा सपक्षी जो पट ग्रादि पदार्थ हैं उससे भी व्यावृत्त होता है, व्योंकि इनमें श्रावणस्व नहीं है, सो ऐसा हेतु श्रसाधारण ग्रमैकान्तिक कहलायेगा, सर्वज्ञ सिद्धि में भावाभाव धर्म बाला हेतु इसी दोष से दूषित है।

तथा यह भी बात है कि स्नाप जैन जिस हेतु से प्रतिनियत ग्रहीत को सर्वे अ सिद्ध करते हैं उसी हेतु से बुद्ध भी सर्वे अ हो सकता है कोई विशेषता तो नहीं है। सर्वे अपने को सिद्ध करने के खिये जैन के पास कोई विशेष हेतु हो सो बात नहीं है। चात्र सर्वज्ञत्वसाधने हेतुरस्ति ।

यदप्युच्यते-सुक्मान्तरितद्रशर्याः कस्यचित्रत्यकाः प्रमेयस्थात्माकारिवत्; तदप्युक्तिमात्रम्; यतोऽत्रेकज्ञानप्रस्यक्षस्य सृष्टमाधर्यानां साध्यत्वेनाभिभ्रतेन्, प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षस्य वा ? तत्राधकल्पनायां विरुद्धो हेतुः; प्रतिनियत्रस्पादिविषयप्राहकानेकप्रस्ययप्रस्यक्षत्वेन व्याप्तस्याग्यादि-दृष्टान्तर्षामिणि प्रमेयस्वस्योपसम्भात् साध्यविकत्तता च दृष्टान्तस्य । द्वितीयकल्पनायां सिद्धसाम्यता भनेकप्रत्यक्षरतृमानादिभिद्यं तत्परिक्षानाम्युगमात् ।

सर्वज सिद्धि में जैन का प्रसिद्ध अनुमान है-सुक्ष्मांतरित दूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः, प्रमेयत्वात्, पावकादिवत् । सुक्ष्म-परमाणु ग्रादि, अंतरित-राम रावणादिक, दूरार्थ-समेरु पर्वत ग्रादि पदार्थ ये सब किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे प्रमेय हैं (जानने योग्य हैं) जैसे ग्रान्नि ग्रादि पदार्थ प्रमेय हैं। यह अनुमान ठीक नहीं बैठता, इसमें प्रश्न यह है कि सक्ष्मादिक पदार्थों का प्रत्यक्ष होने रूप साध्य है सो क्या वे सभी पदार्थ एक ही ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं सथवा प्रतिनियत विषय वाले भनेक ज्ञानों द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं। ग्रर्थातु एक एक पृथक पृथक ज्ञान के द्वारा सक्ष्मादिक वस्तू जानी जाती है ऐसा मत इष्ट है अथवा सक्ष्मादि सभी का एक ही ज्ञान के द्वारा जानना इष्ट है ? प्रथम पक्ष की बात कहे तो हेतु विरुद्ध होगा क्योंकि ग्रापके अनुमान में हेत् प्रमेयत्व है वह प्रतिनियत रूपादि विषय वाले अनेक प्रत्यक्षों द्वारा ग्रहण में आता है, किन्तु साध्य तो एक ज्ञान से ग्रहण् में श्राने रूप है। तथा दृष्टान्त अग्निका है उसमें भी यह साध्य नहीं है अतः दृष्टान्त भी साध्यविकल कहलायेगा। दूसरा पक्ष सक्ष्मादि पदार्थ अनेक ज्ञानों द्वारा किसी के प्रत्यक्ष होते हैं ऐसा कही तो सिद्ध साध्यता है, यह बात तो हम मीमांसक भी मानते हैं, धनेक प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा तथा धनुमान आदि प्रमाणों द्वारा इन सक्ष्मादि का ज्ञान किसी को हो सकता है ऐसा हमें इष्ट ही है। इसी को बताते हैं — प्रत्यक्ष मादि छहों प्रमाणों द्वारा संपूर्ण वस्तुम्रों को जानकर सर्वज बनता है ग्रर्थात ग्रशेष पदार्थों का ज्ञान अनेक प्रमाणों से होता है जिसकी होता है वह सर्वज्ञ है ऐसा मानते हैं तब तो उसका हम खण्डन नहीं करते, किन्तु एक ही ग्रतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञता ग्राती है, ऐसा मानेंगे तब तो बनता नहीं ।।१।। एक ही प्रमास के द्वारा श्रशेष वस्तुओं को जानेगा तो क्या एक चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सभी रसादि विषयों का ग्राहक होवेगा ? अर्थात् एक ज्ञान से सर्वज्ञ सबको जानता है ऐसा मानने से एक ही इंद्रिय द्वारा सब रसादि विषयों को जानने की विकट समस्या ग्राती है। "यदि षड्भिः प्रमाशीः स्यात्सर्वज्ञः केन वायंते । एकेन तु प्रमाचेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ।।

नृतंस चक्षुषा सर्वान् रसादीन्प्रतिपद्धते।" [मी० स्लो० घोदनासू० स्लो० १११-१२ ] इत्यभिषानात्।

किन्तः, प्रमेयत्वं किमशेषज्ञेवन्यापिप्रमाणप्रमेयत्वन्यक्तिमञ्जणमम्युपगम्यते, अस्मवादिष्रमाण्-प्रमेयत्वन्यक्तिस्वस्यं स्थात्, प्रमयस्वक्षाद्वस्यान् प्रमेयत्वन्यक्तिस्यान् प्रमेयत्वन्यक्तिस्यान् प्रमेयत्वन्यक्तिस्यान् प्रमेयत्वन्यक्तिस्यान् प्रमेयत्वन्यक्षित्वः स्थानित्वद्वान् प्रमयस्य साध्यस्यापि विद्वे हेत्पावानमपार्यकम् । सिन्तव्यक्तिस्यान्तिस्यान्यस्यायं हेतुः स्यात्; तथाभूतप्रमाण्यस्यत्वस्य दृष्टान्तेऽविद्धत्वात् । सिन्तविष्यक्षेत्रस्य हित्तव्यक्ष्यस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य विवादगोन्वस्यक्ष्यस्यन्यस्य स्थानित्वस्य स्थानित्यस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्यानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्वस्य स्यानित्वस्य स्थानित्वस्य स्थानित्यस्य स्थानित्वस्य स्थानित्यस्य स्थानित्यस्य स्थानित्यस्य स्थानित्यस्य स्थानित्यस्य स्थानित्यस्य स्थानित्यस्य स्थानित्यस्य स्यानित्यस्य स्थानित्यस्य स्थानित्यस्यस्य स्थानित्यस्य स्यानित्यस्य स्यानित्यस्य स्यानित्यस्यस्य स्यानित्यस्य स्यानित्यस्यस्य स्यानित्यस्य स्यानित्यस्य स्यानित्यस्य स

यह भी विचार करना है कि सर्वज सिद्धि में प्रस्तुत प्रमेयत्व हेतु है वह किस रूप है ? संपूर्ण जेयों में व्यापी अर्थात् संपूर्ण जेयों को जानने वाला जो प्रमास है उसके द्वारा जानने योग्य जो प्रमेय है वह प्रमेयत्व लेना ग्रथवा हम जैसे व्यक्तियों के प्रभाश के द्वारा जानने योग्य प्रमेयत्व लेना, या उभय व्यक्तियों में साधारश सामान्य स्वभावरूप प्रमेयत्व लेना ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, विवाद में आये हुए सक्ष्मादि पदार्थी में उस प्रकार का प्रमाण प्रमेयपना ग्रसिट है। यदि सिद्ध होता तो साध्य भी (सर्वज्ञता) सिद्ध रहता, फिर हेतुको देनाही बेकार है। स्रशेष ज्ञेय व्यापा प्रमाण प्रमेय व्यक्तिरूप यह हेत् सन्दिग्धान्वय वाला भी हो जाता है, क्योंकि उस प्रकार का प्रमाण प्रमेयपना दृष्टान्त में -ग्राग्न में नहीं है। दूसरा पक्ष-हम जैसे व्यक्ति के प्रमाण का विषय इत्प प्रमेयत्व ही सर्वज्ञ की प्रमेयत्व नामा हेत् सिद्धि करने वाले अनुमान में दिया है ऐसा कही तो वह हेत् असिड दोष वाला होगा ? हमारे प्रमाण का प्रमेयस्व विवाद में स्थित सूक्ष्मादि विषयों में असंभव है, यदि संभव होता तो हम जैसे के प्रत्यक्ष ज्ञान से सिद्ध ही होता, फिर विवाद होता हो नहीं। जिसमें विवाद नहीं है उस विषय में हेतु का देना उपयोगी नहीं रहता। उमय व्यक्ति साधारण सामान्य प्रमेयत्व है अर्थात् सर्वज्ञ और ग्रन्पज्ञ दोनों के प्रमाणों का प्रमेयत्व है ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, ग्रत्यंत विलक्षरा स्वभावरूप ग्रतीन्द्रिय विषय बाले प्रमारा का प्रमेयत्व ग्रीर इन्द्रिय विषय वाले प्रमाणों का प्रमेयस्य इन दोनों में साधारण सामान्यपन होना बिल्कूल असंभव है, इस प्रकार घनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होना शक्य नहीं है।

सिबिरेव स्यात् । तत्र नाविवाबाम् हेतुपन्यावः कतवात् । नान्युसयप्रवेदत्वध्यक्तिसाघारत् प्रमेयत्व-सामान्यं हेतुः, मत्यन्तविवक्षसातीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमात्तप्रमेयत्वव्यक्तिद्वयसाघारत्ससामान्यस्यैदा-सम्भवात् । तन्मानुसानात्तरिबिद्धः ।

नाय्यागमात्; सोपि हि नित्या, मनित्यो वा तत्प्रतिवादकः स्यात् ? न तावनित्यः, तत्प्रतिवादकस्य तस्याभावात्, भावेषि प्रामाण्यासम्भवात् \*कार्येऽयं तत्प्रामाण्यप्रसिद्धेः। प्रानित्योऽपि कि तत्प्रणीताः, पुरुषान्तरप्रणीतो वा ? प्रयमपक्षेप्रयोन्याश्रयः—सर्वज्ञप्रणीतत्वे तस्य प्रामाण्यम्, ततस्तत्प्रप्रतिवादकस्यामाण्यात् । तन्नागमादय्यस्य सिद्धिः।

नाष्युपमानात्; तत्बलूपमानोपमेययोष्नवयवेनाध्यक्षत्वे सति सादृश्यावलम्बनमृदय-

अागम प्रमाण से भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, इसीको बताते हैं, आगम प्रमाण दो प्रकार का है नित्य और ग्रनित्य, इनमें से कौन साआ गम सर्वज्ञ का प्रतिपादन करता है, नित्य ग्रागम सर्वज्ञ का प्रतिपादक है ऐसा कहना ग्रशक्य है क्यों कि ऐसा कोई नित्य आगम ही नहीं है कि जो उसका प्रतिपादक हो । यदि कोई है तो प्रामाणिक नहीं होगा. क्योंकि नित्य ग्रागम (अपौरुषेय वेद) तो कार्य में प्रमाणभूत होता है। अनित्य आगम भी कौन सा है सर्वज्ञ प्रणीत है कि अन्यजन प्रणीत है ? सर्वज्ञ प्रणीत ग्रागम सर्वज्ञ की सिद्धि करता है ऐसा माने तो अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट दिखाई देता है-सर्वज्ञ प्रणीत आगम सिद्ध होने पर सर्वज्ञता सिद्ध होगी भौर उसके सिद्ध होने पर सर्वज्ञ प्रसीत आगम सिद्ध होगा। अन्य किसी पुरुष के द्वारा प्रणीत ग्रागम सर्वज्ञ को सिद्ध करता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, इस तरह के पुरुष के बाक्य प्रामाशिक नहीं होते, जैसे उन्मत्त व्यक्ति के नहीं होते हैं। इस प्रकार ग्रागम प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हुई। उपमा प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती, उपमा प्रमाण कब प्रवृत्त होता है सो बताते हैं-उपमा और उपमेय इनके पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष होने पर साहश्य का अवलंबन लेते हुए उपमा प्रमाण प्रवृत्त होता है भ्रन्यथानहीं होता भ्रर्थात् उपमा और उपमेय में से किसी का ग्रहण नहीं हुन्नाहो तो उपमा प्रमाण प्रवत्त नहीं होता है, यदि मानें तो अतिप्रसंग होगा, यहां उपमानभूत सर्वज है वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है, फिर उसके सहश अन्य किसी में सर्वज्ञता उपमा प्रमारा से कैसे बताई जाय ? नहीं बता सकते ।

माश्रादयतिः; नाम्यवातिप्रसङ्कात् । न चोपमानभूतः कञ्चित्सवंश्रत्वेनाष्यसतः शिद्धो येन तस्साहदवा-दन्यस्य सर्वेशस्यमुपमानात्साच्येत ।

नाध्यर्षापत्तितस्तत्विद्धः; सर्वज्ञसञ्ज्ञावमन्तरेणानुषपदानानस्य प्रमाण्यद्कविज्ञातार्षस्य कस्यविद्यपात्रात् । धर्माद्युपदेशस्य बङ्कलनपदिगृष्टीतस्यान्यवापि भावात् । तथा जीवतम्—

"सर्वेज्ञो दृश्यते ताबन्नेदानीमस्मदादिभिः।

ε	१थत तावन्नदानामस्भदाादामः ।		
	[मी० इलो• ६	नोदनासू॰ श्लो॰	११७
	हब्टो न चैकदेशोस्ति किञ्चं वा योनुमापयेत् ।। १ ।।	1	]
	न चागमविधिः कश्चिन्तिस्यः सर्वेज्ञबोधकः । न च मन्त्रार्थवादानां तालार्यमवकल्पते ॥ २ ॥	ſ	]

ग्रयापित प्रमाण से भी सर्वेज की सिद्धि नहीं होती। सर्वेज के सद्भाव के विना जो अनुपपद्यमान हो ऐसा छह प्रमाणों से ज्ञात कोई पदार्थ ही नहीं है, ग्रतः प्रयापित से सर्वेज सिद्ध नहीं होता है।

भावार्थं — म्रायंपित प्रमाण के खह भेद हैं, प्रत्यक्ष पूर्विका अर्थापित, १ म्राम्मन पूर्विका अर्थापित २ उपमा पूर्विका अर्थापित ३ म्रागम पूर्विका प्रयापिति ४ अर्थापिति पूर्विका प्रयापिति १ कोर प्रमाव पूर्विका अर्थापिति ६ हनमें नामों के म्रमुसार लक्षण पाये जाते हैं, इन सबका विशद वर्णन प्रयम भाग में हो चुका है। अर्थापित प्रत्यक्षादि खहाँ प्रमाणों के द्वारा ज्ञात विषयों में प्रवृत्त होती है, अतः यहां "प्रमागा- षट्किवज्ञातार्थस्य" पैसा पाठ है।

सर्वज धर्मादि का उपदेश देता है पत: उसको मानते हैं ऐसा कहना भी बनता नहीं, धर्मोपदेश तो बहुत से व्यक्ति देते हैं। सर्वज के बिना भी वह हो सकता है, कोई कहे कि धर्म ध्रममंख्य अहष्ट का (पुण्य-पाप) उपदेश सर्वज देते हैं ध्रत: उनको मानते हैं सो भी ठीक नहीं, इनका उपदेश ध्रन्य भी देते हैं। सर्वजाभाव को ध्रन्यत्र भी कहा है—वर्वभान में हम लोगों को सर्वज दिखाई नहीं देता है, ध्रमुमान से ध्रतीतादिकाल में सिद्ध करना चाहे तो उसका हेतु ख्य एक देश दिखाई नहीं देता, जो उस सर्वज्ञ को सिद्ध कर देता।।१।। नित्य ध्रागम सर्वज्ञ को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि यह ध्रागम होम ध्रमुष्ठान ग्रादि को कहता है, पंत्रवाद ग्रादि को कहता है, उससे सर्वज्ञ की सत्ता निश्चत नहीं हो सकती है।।२।। नित्य आगम वेद है उसमें

न चान्यार्थप्रघानैस्तैस्तदस्तित्वं विघीयते ।		
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरंबोधितः ।। ३ ।।	ſ	1
ग्रनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ श्रादिमान् ।	-	
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ।। ४ ।।	[	1
धय तद्व चनेने व सर्वज्ञोऽन्येः प्रतीयते ।		
प्रकल्पेत कथं सिद्धिक्न्योन्याश्रययोस्तयोः ? ।। १ ॥	[	1
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदक्थिता।		
कथं तदुभयं सिद्ब्येत सिद्धमूनान्तवाहते ॥ ६ ॥	[	]
भ्रसर्वजप्रसीतात्तु वचनाम्मूलवर्जितात् ।		
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किन्त जानते ? ।। ७ ।।		
सर्वज्ञसट्दां किच्छदि पश्येम सम्प्रति।		
उपमानेन सर्वंज्ञ जानीयाम ततो वयम् ॥ ८ ॥	[	

अन्य अन्य अनुष्ठान मादि प्रधान अर्थ वाले वाक्य हैं, उन वाक्यों से सर्वज्ञ का मस्तित्व सिद्ध नहीं होता, जब तक अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वज्ञ का वस्तित्व ज्ञात नहीं है तब तक उन वाक्यों का अनुवादन कर उससे सर्वज्ञ सिद्ध का ग्रम्य निकालना भी अशक्य है।।३।। नित्य ग्रागम तो अनादि है और सर्वज्ञ पुरुष प्रादिमान है, इसलिये भी उससे सर्वज्ञ सिद्ध होना संभव नहीं है। कृत्रिम-ग्रानित्य ग्रागम तो असस्य है, उससे सर्वज्ञ का प्रतिपादन कैसे हो सकता है ?।।४।।

सर्वज्ञ के बचन से श्रयांत् सर्वज्ञ प्रणोत ग्रागम से हम जैसे को सर्वज्ञ प्रतीति में ग्राता है ऐसा कहना भी दोष भरा है ऐसे तो सर्वज्ञ और सर्वज्ञ प्रणीत ग्रागम की सिद्धि में अन्योन्याश्रय दोष प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।।।।।

मन्योन्याश्रय दोष कैसे है सो बता रहे हैं कि सर्वज का कहा हुआ होने से उनके वचन प्रमाराभूत कहलायेंगे और वचन प्रमारागक होने से सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध होगा ? जब तक स्वयं सिद्ध नहीं है तब तक उससे मन्य की सिद्धि करना शक्य नहीं है।।६।। मूल रहित जयात् प्रामाण्य रहित ऐसे असर्वज्ञ प्रणीत आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि करेंगे तो, भ्रपने मन चले वाक्यों से भी सर्वज्ञ की सिद्धि क्यों नहीं होगी ?।।७।। सर्वज्ञ के समान यदि कोई पुष्य वर्तमान में देखा जाता तो उपमा प्रमारा के द्वारा उस सर्वज्ञ की सिद्धि कर सकते थे।।६।। धमं अधर्मरूप म्बट्ट का प्रतिपादन सर्वज्ञ विका

उपदेशो हि बुद्धादेवीम्ऽधर्मादिगीचरः ।		
ग्रन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ' यदि नाऽभवत् ।। १ ।।	[	]
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषा वेदादसम्भवः ।		
उपदेशः कृतोऽतस्तैव्यमोहादेव केवलात् ।। १० ।।	[	1
ये तुमन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम् ।		
त्रयोविदाधितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥ ११ ॥"	[	]

इति ।

न च प्रमाणान्तरं सद्पलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति ।

मा भूदत्रत्येदानीस्तनस्मदादिजनाना (नां) सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्येक्षाद्यन्यतमं देशान्तर-कालान्तरवित्तना केषाश्विद्धविष्यतीति चाऽमुक्तम्;

"यज्जातीयै. प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थंदर्शनम् । हष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालास्तरेप्यभूत् ।।" [ मी० दलो० चोदनासू० दलो० ११३]

इत्यभिषानात् । तथा हि-विवादाध्यामिते देशे काले च प्रस्थक्षादिप्रमाणम् श्रव्यदानीस्तन-प्रस्यक्षादिप्राह्मकातोयार्थप्राहकं तदिजातीयसर्वज्ञाद्ययेत्राहक वा न भवति अस्यक्षादिप्रमाणस्वात् स्रव्यदेवानीस्तनप्रस्यक्षादिश्रमाण्यवत् ।

नहीं बन सकता, इस प्रकार को अर्थापित से बुढ़ादिक में सर्वज्ञता सिद्ध करना चाहे तो भी ठोक नहीं है। १६११ बुढ़ यादिक पुरुष वेद को जानते नहीं यतः उनका उपदेश वेदकृत नहीं है वे तो सिर्फ व्यामोह या प्रज्ञानता से ही उपदेश देते हैं उस उपदेश से कुछ मतलब नहीं निकलता ।१९०१ त्रयीवेदी पुरुष मनु आदि के ग्रन्थों को मानते हैं, सो वे ग्रंथ वेद से उत्पन्न हुए हैं अतः मान्य हैं।१९११ इन प्रत्यक्षादि पांचों प्रमाणों को छोड़कर ग्रन्थ कोई प्रमाण तो शेष नहीं रहा कि जो सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध कर सके। कोई जैन शंका करे कि वर्तमान के हम जैसे जीवों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि मत होवे किन्तु किसी देश वाले के किसी काल में होने वाले पुरुष विद्येष के प्रमाण द्वारा तो सर्वज्ञ सिद्ध होवेगा? सो यह प्रमिमत भी मान्य नहीं है, कहा है कि—वर्तमान में जिस प्रकार की प्रमाण की जाति द्वारा जिन वस्तुओं का ग्रहण होता है वैसे हो तो अन्य देश तथा काल संबंधी प्रमाण में होता है, ग्रीर क्या विद्यापात होगी? ।।१।। विद्यादास्पद किसी देश या काल में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण, यहां के वर्तमान काल के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानने योग्य विद्याग के ही सजातीय हैं उनसे अन्य विज्ञातीय परायं जो सर्वज्ञादिक हैं उनके आहक नहीं हैं, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षादि प्रमाण होते हैं।

शंका — आपने इस धनुमान में प्रत्यक्षादि प्रमाणों को पक्ष बनाया है सो जिस प्रकार का इन्द्रियदि से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षादिक है जो कि सर्वन्न आदि पदार्थों का ग्रसाधक देखा गया है ठीक वैसा ही विभिन्न देख और काल वाले प्रमाणों में सर्वन्न का ग्रसाधकपना सिद्ध करते हैं या कोई विभिन्न जाति का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में सर्वन्न का ग्रसाधकरवा सिद्ध करते हैं ? प्रथम विकल्प कहो तो सिद्ध साधन है, क्योंकि वर्तमान का जैसा प्रत्यक्ष ग्रतीतादि काल में होवे तो वह सर्वन्न को क्या सिद्ध करेंगे ? अन्य कोई जाति का प्रत्यक्ष ग्रतीतादि काल में होवे तो वह सर्वन्न को क्या सिद्ध करने में सन्तिवेगा, जैसे कि जयत को बुद्धिमान सृष्टि कर्ता के द्वारा रचा हुमा सिद्ध करने में सन्तिवेश विश्वष्टत्व ग्रादि हेतु देते हैं, वे अप्रयोजक होते हैं ? [जो हेतु सपक्ष में तो हो भ्रीर पक्ष से हटा हो तथा "प्रतिनियत विषय का ग्राही होने पर" ऐसे विश्वष्ण से उत्पन्न हुआ है निकट संबंध जिसमें वह हेतु अप्रयोजक कहलाता है]

समाधान —यह जैन की शंका ठीक नहीं है, हम मोमांसक सर्वज्ञ का असाधक प्रमाण मानते हैं वह प्रमाण वर्तमान जैसा है, ऐसा मानने में जो सिद्ध साधन दोय बताया वह ठोक नहीं है, इसी का खुलामा करते हैं —िवबादाग्रस्त विभिन्न देश काल वर्ती प्रस्थकादि प्रमाण, इन्द्रियादि सामग्री की अपेक्षा से रहित नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, जैसे वर्तमान में यहां के जीवों को प्रत्यक्षादि प्रमाण होते हैं, इस उपर्युं क ग्रनुमान में गृद्ध पक्षी के प्रस्थक्षज्ञान से ग्रनेकान्तिकता भी नहीं आतो ग्रयात् गृद्धपक्षी, चींटी आदि जीवों का प्रत्यक्षज्ञान निकट देशादि में पदार्थों को ग्रयेक्ष किये बिना ही उत्पन्न होता है, तथा नक्तं चर—सिंह, बिलाव ग्रादि जीवों को प्रकाश की ग्रयेक्ष किये बिना ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है अतः "प्रस्थक्षादि प्रमाण इंद्रिय सन्निहित पदार्थ तथा प्रकाश दि सामग्री की ग्रयेक्षा लेकर ही

कात्यायना**ष्टनु**यानातिशयेन, जैनिन्याखायमातिशयेन वा; तस्यायीन्द्रयादिप्रणिषानसामग्री विशेष-मन्तरेस्सासम्भवात्, श्रतीन्द्रयाननुमेयाखपीविषयस्त्रेन स्वायतिलङ्कनाभावात् । तथा चोक्तम्—

''यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्कनात् ।	
दूरसूक्ष्मादिदृष्टी स्याल रूपे श्रोत्रवृत्तितः (ता) ।। १	11
[मी∙ इल	ो० वोदनासू० इलो० ११४
येपि सातिशया हष्टाः प्रज्ञामेवादिभिनंराः :	
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥ २ ॥	[
प्राज्ञोपि हिनरः सूक्ष्मानर्थान्त्रदुंक्षभोपि सन् ।	
संजातीरनतिकामस्नितिशेते परान्नरान् ॥ ३ ॥	1

]

उत्यन्त होते हैं" ऐसा साध्ययुक्त पक्ष एवं "प्रत्यक्षादि प्रमाण्यः" हेतु बाधित होता है ? इस प्रकार की आर्थका करना ठीक नहीं है । तथा कात्यायनी घादि के मत का ग्रतिशय युक्त आगम प्रमाण के साथ भी प्रत्यक्षादि प्रमाण्यत नामा हेतु व्यभिचरित नहीं होता है, क्योंकि ये सब प्रमाण इंद्रियादि सामग्रो से ही उत्पन्न होते हैं, इंद्रियादि के बिना नहीं होते । वे प्रमाण भी इंद्रिय से अतीत तथा अनुमान से ग्रतीत ऐसे विषयों को म्रह्ण नहीं कर सकते, क्योंकि वे यपने विषयों का उल्लंघन नहीं करते हैं । यही बात आगम में लिखी है—

जिस किसी के इन्द्रियों में अतिशयपना दिखाई देता है वह अपने विषय का उल्लंघन नहीं करते हुए ही दिखाई देता है, गृद्ध पक्षी के नेत्र दूर में स्थित वस्तु को देखते हैं, तो केवल देखने का ही काम करते हैं? कर्ण आदि अन्य अन्य इन्द्रियों के विषयों में तो प्रवृत्त नहीं होते? ॥१॥ जिस किसी पुरुष विशेष में प्रज्ञा, मेघा आदि का अतिशय देखा जाता है वह कुछ हो अंतर को लिये हुए रहता है, अर्थात् किसी अ्यक्ति में अर्थ को समक्षने की शांक्त होतो है उसे प्रजाशालो कहते हैं, जिसमें शीधना से पाठ याद करने की बुद्धि रहती है उसे मेघावी कहते हैं, किन्तु ये सब ज्ञान क्या इन्द्रियों के विना हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते ॥२॥ कोई बहुत हो बुद्धिमान पुरुष है जो कि सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ को समक्ष्ता है, किन्तु इन्द्रिय ज्ञान के सजातीयता का उल्लंबन करके अन्य पुरुष से बढ़कर नहीं होता अर्थात् उसे भी इंद्रिय जिनत ज्ञान हो होता है ॥३॥ किसी पुरुष में एक व्याकरणादि विषयक शास्त्र का बहुत अधिक

एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।		
न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेरोव लभ्यते ।। ४ ।।	[	
ज्ञात्वा व्याकरसां दूर बुद्धिः शब्दापशब्दयोः।		
प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहरानिर्राये ।। ५ ।।	[	
उग्रोतिर्विच्च प्रकृशोपि चन्द्राकंग्रहणादिषु ।		
न भवत्यादिशञ्दानां साधुस्वं ज्ञातुमहंति ॥ ६ ॥	[	
तथा वेदेतिहासादिजानातिषयवानिष ।		
न स्वर्गदेवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥ ७ ॥	ſ	
दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।		
न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ।। = ॥''	[	

इति । प्रसङ्कविषयेषाभ्यां चास्याशेषार्थविषयस्यं बाध्यते , तषाहि--सर्वज्ञस्य ज्ञानं प्रस्यक्षं यद्यभ्युग-

ज्ञान है, अभ्यास है, ठीक है, किन्तु वह अभ्यास का धतिशय उसी विषय में काम ग्रायेगा, ग्रन्य सिद्धांतादि शास्त्रों का ज्ञान तो उससे हो नहीं सकता ॥४॥ शब्द संबंधी ज्ञान अर्थात् ये शब्द व्याकरण से सिद्ध हैं, सत्य हैं, और ये अशुद्ध हैं असत्य हैं इत्यादि व्याकरण संबंधी ज्ञान को किसी ने प्राप्त किया है वह ज्ञान उस विषय के चरम सीमा तक भले ही पहुँचे किन्तू उस व्याकरण के ज्ञान से तिथि, नक्षत्र, ग्रहण आदि ज्योतिष संबंधी शास्त्र का ज्ञान तो हो नहीं सकता ।।१।। तथा कोई बहत बढ़िया ज्योतिषी है, चन्द्रग्रहरा, सर्वग्रहरा ग्रादि का विशेष ज्ञान है, किन्तु वह ज्योतिषी "भवति" ग्रादि पदों की सिद्धि करने में तत्संबंधि विशेष बोध करने में समर्थ नहीं हो सकेगा।।६।। इसी तरह जो भलो प्रकार से वेद, इतिहास, पूराएगादि को अतिशयरूप से जानता है किंतु अहष्ट स्वर्ग, देवता आदि को तो साक्षातु देख नहीं सकता ।।७।। जो व्यायाम प्रिय व्यक्ति आकाश में दस हाथ उछलकर गमन कर सकता है, दस हाथ ऊंचाई तक जिसकी छलांग जाती है, तो क्या वह सैकडों अम्यास करने पर भो एक योजन की छलांग मार सकता है ? एक छलांग में एक योजन जा सकता है ? अर्थात नहीं जा सकता।। द। सर्वज्ञ का ज्ञान सकल बस्तुओं को विषय करता है ऐसा जो जैन का हटाग्रह है वह प्रसंग और विपर्यय से भी बाधित होता है। सर्वज्ञ के ज्ञानको प्रत्यक्ष रूप स्वीकार करते हैं तो वह धर्म अधर्म आदि को जान नहीं सकेगा, न्यों कि प्रत्यक्ष

गम्यते तदा तद्वमदिश्राहुकं न स्याद्विष्ठामानोपलम्भनत्वात् । विद्यमानोपलम्भनं तत् सरसम्प्र-योगजस्यात् । सरसम्प्रयोगजंतत्, प्ररथक्षत्राज्यस्यादस्यादिप्ररयक्षत् । द्वद्वमदिप्राहुकं चेत् न विद्यमानोपलम्भनं वमदिरविद्यमानस्यात् । तस्ये चासरसम्प्रयोगजस्ये चाऽप्ररथक्षावस्याच्यत्यम् ।

धर्मज्ञत्वनिषेषे चान्याशेषार्धप्रत्यक्षत्वेषि न प्रेरणाप्रामाण्यप्रतिबन्धो धर्मे सस्या एव प्रामाण्यात् । तदक्तम् —

> "सर्वप्रमानुसम्बन्धिप्रत्यक्षाधिनिवारणात् । केवलागमगम्यत्वं लम्यते पुण्यपापयोः ॥ १ ॥'' [ ] सर्मज्ञत्वनिषेषस्तु केवलोत्रोपगुज्यते । सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते । २ ॥" [ ]

तो केवल विद्यमान की उपलब्धि कराता है, प्रत्यक्ष प्रमाण संप्रयोग से उत्पन्न होता है भतः विद्यमान मात्र को ग्रहरण करता है, इस ज्ञान को संप्रयोगज इसलिये मानते हैं कि वह प्रत्यक्ष नाम से कहा जाता है, जैसे हमारा प्रत्यक्ष प्रमाएा प्रत्यक्ष शब्द से वाच्य होने से संप्रयोगज है। यदि सर्वज्ञ के ज्ञान को धर्म अधर्मादिका ग्राहक मानते हैं तो वह विद्यमान (वर्तमान) पदार्थ का ग्राहक नहीं बनेगा, क्योंकि धर्मादिक तो अविद्यमान है, इस तरह विद्यमान ग्राहक तथा संप्रयोजक न होवे तो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कह ही नहीं सकते, वह तो अप्रत्यक्ष या परोक्ष शब्द से कहा जायगा। कोई सर्वज्ञवादी इस प्रकार मानता हो कि सर्वज्ञ का ज्ञान धर्म अधर्म को (पुण्य पाप को) छोड़कर अन्य अशेष पदार्थों को साक्षात् जानने वाला है ? सो इस तरह की मान्यता में वेद की प्रमाराता में कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है, धर्म ग्रादि विषय में तो वेद वाक्य ही प्रमासाता की कोटि में ब्राते हैं, इसी प्रकरण का निम्नलिखित व्लोकार्य से खुलासा होता है। संसार भर में जितने भी प्रमाता हैं उन प्रमाता संबंधी प्रत्यक्षादिप्रमाए। घर्म आदि विषय में प्रवृत्त नहीं होते हैं अतः इन धर्म-प्रधर्म को जानने का अधिकार आगम प्रमाण को है आगम से ही पुण्य पाप का ज्ञान होता है अन्य प्रमाण से नहीं ।।१।। हम तो पुरुष मात्र में पुण्य-पाप को जानने वाले का ही निषेध करते हैं, उनको छोड़कर शेष सर्वको जानने वाला कोई पुरुष होवे तो हम मना नहीं करते। मतलब किसी भी जीवको घर्म ग्रथमं को छोड़कर ग्रन्य शेष पदार्थों का ज्ञान होना शक्य है धर्म ग्रथमं को छोड ग्रन्य सबको जानकर ही सर्वज्ञ बन जायगा ऐसा माने तो उसका निषेध नहीं है ।।२।।

किन्त, प्रस्य कार्य वाकृत्विकितं वर्मीदिग्नाहुक्य, ब्राम्यासजनितं वा स्थात्, शब्दप्रभवं वा, प्रमुमानाविभूंतं वा ? प्रथमपक्षे धर्मादिग्नाहुक्तवायोगम्बलुराबीनां प्रतिनियतक्पादिविषयत्वेन तश्क्षमवज्ञानस्याप्यत्रैव प्रकृते: । ब्रथाम्यासजनितम्, ज्ञानाम्यासादिप्रकर्षत्रत्तादिक्रमेरण तरप्रकर्ष-सम्भवे सकलस्वभावातिशवपर्यन्तं संवेदनमवाप्यते; इत्यपि मनोरबमात्रम्; ब्राम्यासो हि कस्य-विस्प्रतिन्यतिशवपक्तवादौ तदुपदेशाद् ज्ञानाच्य हष्टः । न वाशेषाभ्रापदेशो ज्ञानं वा सम्भवति । तत्सम्भवं किमभ्यासप्रयासेनाशेषार्यज्ञानस्य तिद्वत्वात् । प्रम्थोन्यास्प्रयस्य-अभ्यासात्तक्शानम्, ततोऽभ्यास हति । शब्दप्रभवं तदियययुक्तम्; पश्चरास्यस्यागुत्रज्ञान्-सर्वज्ञप्रस्थातत्वन हि

भावायं:— घमंत्र और सर्वज्ञ के विषय में पर्याप्त चर्चा है, धमंत्र शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक तो जो आत्मा के कल्याण का कारण है ऐसा किया काण्ड रूप व्यवहार धमं और दूसरा आत्मा के स्वभावरूप धमं इस अर्थ को जो जाने सो धमंत्र इस अर्थ वाले धमंत्र का यहां कथन नहीं है। दूसरा धमंत्र शब्द का अर्थ — धमं मायने पुण्य और उसी के उपलक्षण से उसका सहचरी अधमं मायने पाप, इन पुण्य पाप को जो जानता है वह धमंत्र है यही अर्थ यहां प्रकरण में इष्ट है, मीमांसक का कहना है कि धमंत्र तो कोई बन ही नहीं सकता, नयोंकि धमं अधमं का ज्ञान मात्र वेद में है उस वेद को पढ़कर परोक्ष से भले ही शब्द मात्र में धमं प्रधमं को कोई जान लेवे, किन्तु इनका साक्षात ज्ञान तो किसी को भी नहीं होता, इन पुण्य पाप को छोड़कर अशेष पदार्थों को कोई जानने वाला होवे तो निषेध नहीं है उसको जैनादिक सर्वज्ञ नाम रख देते हैं तो ठोक है ऐसा सर्वज्ञ निष्ध नहीं है, किन्तु ''सर्व जानाति इति सर्वज्ञ'' इस निरुक्त के महुसार सर्व में घमं प्रधमं पदार्थ भी प्राते हैं उनका किसी पुष्य के द्वारा जानता हो नहीं सकता प्रतः हम भीमांसक सर्वज्ञ का निष्येध करते हैं, जैन सर्वज्ञ को अतीष्ट्रियदर्शों भी मानते हैं सो हमें इष्ट नहीं है क्योंकि बिना इंद्रिय के जान नहीं हो सकता। अस्त ।

मीमांसक जैन से पूछते हैं कि सर्वज धर्म अधर्म को भी जानता है ऐसा आपका कहना है सो वह धर्मीदि को जानने वाले सर्वज का जान चक्षु झादि इंद्रियों से उत्पन्न हुआ है, या अभ्यास से, कि शब्द प्रभव अर्थात अगाम से, अथवा अनुमान से उत्पन्न हुआ है? चक्षु आदि इंद्रिय से सर्वज का जान उत्पन्न हुआ है और वह धर्मीदि का म्राहक है ऐसा कहना मसंभव है, चक्षु आदि इन्द्रियां अपने प्रतिनियत रूप, रस झादि विषयों में प्रकृत होती हैं धर्मीदि विषयों में नहीं, खतः उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान

तत्प्रामाण्येऽक्षेत्रार्थविषयज्ञानसम्भवः, तत्सम्भवे चःशेषज्ञस्य तवाञ्चतश्चवप्रवेतृत्वमिति । धभ्युपगम्यते च प्रोरसाप्रभवज्ञानवतो धर्मशत्वम्,

"चौदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सुक्षमं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुः मुक्तं नान्यत् किचनेन्द्रियादिकमः" [ शावरथा॰ १।१।२ ] इत्यनिधानात् ।

श्रनुमानाविभू तमिरयप्यसञ्जतम्, धमदिरतीन्द्रयत्वेन तज्जापकशिङ्गस्य तेन सह सम्बन्धा-सिद्धे रसिद्धसम्बन्धस्य नाज्ञापकत्वात् ।

किन्द्र, प्रनुमानेनाशेषज्ञस्वेऽस्मदादीनामि तत्त्रसङ्गः, 'भावाभावोभवरूपं जगत्प्रमेयस्वात्'

भी उसी रूपादि का ग्राहक होगा। ग्रम्यास से कहना भी मनोरय मात्र है। प्रम्यास तो किसी व्यक्ति के प्रतिनियत शिल्पकला आदि में उपदेश या ज्ञान से होता है, किंतू संपूर्ण विषयों कान तो कोई उपदेश ही दे सकता है और न किसी को उससे ज्ञान ही हो सकता है। यदि अशेषार्थं का उपदेश और ज्ञान होता तो अभ्यास का प्रयास ही व्यर्थ ठहरता क्योंकि भशेषार्थ का ज्ञान तो हो चका है ? तथा इसमें ग्रन्थोन्याश्रय दोष भी आता है, अम्यास से अशेषायं का ज्ञान होना और उस ज्ञान से अम्यास होना इस प्रकार एक की भी सिद्धि नहीं होगी। आगम से धर्मीदि को ग्रहण करने वाला ज्ञान होता है ऐसा कहना भी अन्योन्याश्रय दोष युक्त है सर्वज्ञ प्रशीत होने से आगम में प्रामाण्य माने पर तो अशेषार्थ का ज्ञान होना संभव होगा, और उसके संभव होने पर सर्वज्ञ के अशेषार्थ विषय का प्रणेतृत्व सिद्ध हो पायेगा। इस तरह दोनों ही ग्रसिद्ध रहेंगे। हम लोग वेद से जिनको ज्ञान हुग्रा है ऐसे ज्ञानी पूरुषों के धर्मज्ञपना तो स्वीकार करते ही हैं, अर्थात यह बात पहले भी कही थी कि बेद से अर्म ग्राधमीटि का ज्ञान भले ही होवे किंतू साक्षात ज्ञान नहीं हो सकता । वेद तो ऐसा पदार्थ है कि वह भूत, भविष्यत, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित, विष्रकृष्ट इत्यादि जातीय पदार्थी को जानने में बिलकुल पूर्ण समर्थ है, वेद को छोड़कर अन्य इद्रियादि इस तरह के ज्ञान के कारगा नहीं हो सकते, इस तरह शाबरभाष्य में प्रतिपादन किया है। सर्वज्ञ का ज्ञान धर्मादि का ग्राहक है ऐसा जैन कहते हैं उसमें हमने चार प्रश्न किये थे कि सर्वज्ञ का ज्ञान धर्मादि का ग्राहक है सो वह इंद्रिय जनित है, अभ्यास जनित है, आगम जनित है या अनुमान जनित है ? इनमें से पहले के तीनों विकल्प खण्डित हुए। अब चौथा विकल्प = प्रनुमान जनित शान धर्मादि का ग्राहक है, सो यह कथन भी असत् है, धर्मादिक ग्रतीन्द्रिय पदार्थ हैं, उनका शायक कोई हेतु हो नहीं सकता, क्योंकि इरयाद्यनुमानस्यास्मदादीनामपि भावात् । अनुमानायमञ्जानस्य चास्पष्टत्वात्तरुजनितस्याप्यवैशय-सम्भवान्न तज्जानवान्सवंज्ञी युक्तः।

न च नक्तव्यम्-'पुनःपुनर्भाव्यमानं भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामासादयसद्वै शद्यभाग् भविष्यति । दृश्यते चाम्यासबलात्कामशोकाद्यूपप्तुतज्ञानस्य वैश्वद्यम्' इति; तद्वदस्याय्युपप्तुतस्व-प्रसङ्कात् ।

कि श्व. ग्रस्याखिलार्थं ग्रह्मां सकलज्ञत्वम्, प्रधानभूतकतिपयार्थं ग्रह्मां वा ? तत्राखपक्षे क्रमेण् तद्ग्रहणम्, युगपद्वा ? न तावत्क्रमेणः; ग्रतोतानागतवत्तं मानार्थानां परिसमाप्त्यभावात्तःक्रानस्याप्य-परिसमाप्तेः सर्वेजत्वायोगात् । नापि युगपत्; परस्वरविरुद्धशीतोष्णाद्यर्थानामेकत्र ज्ञाने प्रतिभाक्षा-

अतीन्द्रियायं के साथ हेतु का अविनाभाव सिद्ध होना अश्वस्य है, बिना अविनाभाव संबंध सिद्ध हुए हेतु साध्य का शायक (सिद्ध करने वाला) नहीं होता । दूसरी वात यह है कि अनुमान से अशेषायं का शान होना शक्य है तो हम जैसे व्यक्ति भी सर्वश वन सकते हैं, क्योंकि हम लोग भी ''यह जगत भाव, अभाव उभयरूप है, क्योंकि वह प्रमेय हैं' इत्यादि अनुमान प्रमाण से सकलायं को जानते हैं यह भी बात है कि अनुमान शान तथा आगम शान ये तो अस्पष्ट होते हैं उनसे उत्पन्न हुआ शान विश्वद नहीं होता, अतः इस शान के धारक पुरुष सर्वश नहीं कहला सकते।

कोई कहे कि घागम या घ्रमुमान जिनत ज्ञान की पुनः पुनः भावना करने से भावना की चरम सीमा होगी और उस भावना प्रकर्ष के होने पर योगी के ज्ञान पने को प्राप्त होता हुया विशद रूप से प्रगट होवेगा, देखा भी जाता है कि ग्रभ्यास के बल से काम, शोक ग्रादि से ब्याप्त ज्ञान विशद रूप से ग्रमुभव में आने लगता है? सो यह कहना अधुक्त है, भावना ज्ञान के समान इस सर्वज्ञज्ञान में विशदता मानेंगे तो वह भावना के समान ही उपप्लत व्याहन बन जायेगा।

दूसरो बात यह है कि सर्वज को सर्वजता संपूर्ण वस्तुमों को जानने वालो है या मुख्य मुख्य कुछ पदार्थों को जानने वालो है ? प्रथम पक्ष कहो तो वह सकलार्थ का प्रहुए। कम से होता है या युगपत होता है ? कम से कहना नहीं, ग्रतीत, अनागत, वर्तमान इन तीनों कालों में होने वाले पदार्थों का कम ने जानकर अंत ग्रा ही नहीं सकता, अंत ग्राये बिना पूरा सभी का ज्ञान नहीं होता ग्रीर उसके बिना सर्वज बनता नहीं यह ग्रापत्ति है। युगपत अशेष पदार्थों का ग्रहए। होना भी शक्य नहीं है, परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले, श्रीत उपण ग्रादि पदार्थों का एक ही ज्ञान में एक साथ प्रतिभास

सम्भवात् । सम्भवे वा प्रतिनियतार्थस्य रूपप्रतीतिविरोधः ।

किन्त, एकक्षरा एवःशेषायेषहरााद द्वितीयक्षयेऽकिन्त्विज्ञः स्यात् । तथा परस्थरागादि-साक्षास्करणाद्वागादियान्, अन्यथा सकलार्थसाक्षास्करएाविरोधः ।

नापि प्रधानभूतकतिपयार्थग्रहराम्; इत्तरार्थव्यवच्छेदेन 'एतेपामेव प्रयोजननिष्यादक-स्वास्त्राचान्यम्' इति निश्चयो हि सकलार्थज्ञाने सत्येव चटते, नान्यया । तच्च प्रागेव कृतोत्तरम् ।

कथं वातीतानागतग्रहणं तस्त्वरूपासम्भवाद ? प्रस्तो ग्रहणे तैमिरिकज्ञानवरप्रामाण्याभावः । सत्त्वेन ग्रहणेऽतीतादेवं तैमानस्त्रम् । तथा चात्र्यकालस्थान्यकालतथा वस्तुनो ग्रहणात्त्रज्ञानस्याऽ-प्रामाण्यम् ।

होना असंभव है। यदि संभव माने तो उन पदायों के स्वभावों को विभिन्न प्रतीति नहीं आयेगी। जैनादिवादी का सर्वज एक ही क्षणा में संपूर्ण पदायों को जान लेता है अतः दूसरे आदि स्वणों में वह असर्वज वन वेठेगा तथा अन्य रागी द्वेषी पुरुषों के विकारों को साक्षात करने से स्वयं भी रागी द्वेषी हो जायगा। यदि सर्वज रागादि को जानते समय राग आदि रूप नहीं होता तो उसने सकलार्थ को साक्षात् ही क्या किया? अर्थात् नहीं किया। मुख्य मुख्य कुछ पदायों को जानकर सर्वज होता है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, जगत में पदार्थ अनंतानंत है उनमें से अन्य का व्यवच्छेद करके अन्य ही किसी को जानना, इतने पदार्थ मुख्य हैं इन्हों से मोक्षादि प्रयोजन सिद्ध होते हैं, इस्यादि निश्वय तो सभी पदार्थों के जानने पर हो हो सकेगा? अन्यया नहीं, सभी पदार्थं का जान सभव नहीं है, इस विषय में पहले ही जवाब दे चुके हैं।

सर्वज अतीत अनागत पदार्थों को जानता है ऐसा कहते हैं किन्तु उन अतीतादि का ग्रहरा की होवे ? पदार्थ तो हैं नहीं, बिना होते असत् को ही ग्रहरा करता है तब तो वह सर्वज का ज्ञान नेत्र रोगों के विपरीत ज्ञान के समान हुन्ना। उसमें प्रामाण्य संभव नहीं। यदि अतीत आदि को सत्ता रूप से ग्रहण करे तो अतीतादि वर्तमान रूप हो जायेंगे, इस प्रकार से अन्य काल के वस्तु को अन्य काल रूप से ग्रहरा करेगा तो वह ज्ञान अप्रमारा हो जायगा। तथा यह सर्वज संपूर्ण वस्तुओं को जानने वाला है ऐसा उसी के समय होने वाले अन्य असर्वज पुरुषों द्वारा किस प्रकार जाना जा सकेंगा? क्योंकि असर्वज पुरुष सकलायं को जानते नहीं। कहा भी है— "यह सर्वज पुरुष है" ऐसा तरकालीन पुरुष भी कैसे जान सर्कों, क्योंकि वे प्रन्य पुरुष सर्वज प्रवस्त सुरुष हैं" ऐसा तरकालीन पुरुष भी कैसे जान सर्कों, क्योंकि वे प्रन्य पुरुष सर्वज प्रवस्त सुरुष हैं" ऐसा तरकालीन पुरुष भी कैसे जान सर्कों, क्योंकि वे प्रन्य पुरुष सर्वज सर्वज पुरुष सर्वज स्वास्त स्वास स्वास

कथं चासौ तद्ग्राह्याखिलार्थाज्ञाने तत्कालेप्यसर्वजैर्जातुं शक्यते ? तदुक्तम् ---

"सर्वजोयमिति ह्येतत्तत्कालेषि बुधुत्सुषिः । तज्जानजेयविज्ञानरहितंगंन्यते कथम् ॥ १ ॥ कस्यनीयाश्च मर्वजा भवेधुबंहवस्तव । य एव स्यादसर्वजः स सर्वजः न बुद्धयते ॥ २ ॥ सर्वजो नावबुद्धस्य येनेव स्याप्त तं प्रति । तद्वाक्यानां प्रमास्यस्य मुलाजानेज्ययाक्यवत् ॥ ३ ॥"

[मो• श्लो• चोदनासु• श्लो॰ १३४-३६ } र्हात ।

के जान को नहीं जानते हैं ग्रीर न उसके जेयों को हो जानते हैं।।।। सर्वज्ञ को तो सबंज्ञ हो जान सकेगा ऐसा माने तो बहुत सारे सबंज्ञ होवंगे, क्योंकि असबंज्ञ है वह सबंज्ञ को जान नहीं सकता।।२।। जिस किसी ने भी सबंज्ञ को नहीं जाना हो वह उस सबंज्ञ के वाक्य को प्रमाण नहीं मान सकता, क्योंकि आगम का हेतु जो सबंज्ञ है उसका शान नहीं हुआ है, जैसे रथ्या पुरुष के वाक्य को प्रमाण नहीं मानते हैं। इस प्रकार सबंज्ञ को सिद्धि नहीं होती है उसके विशिष्ट ज्ञान की सिद्धि भी नहीं होतो, अत: हम मीमांसक सबंज्ञ की सिता स्वोकार नहीं करते हैं।

जैन—अब यहां मीमांसकका सर्वशाभाव को सिद्ध करने वाला मंतव्य खण्डित किया जाता है—पूर्व पक्ष में कहा कि सत्ता प्राहक पांचों प्रमाएगों द्वारा सर्वज्ञ को नहीं जाना जाता है, सो यह बात असिद्ध है, सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले अनुमानादि प्रमाएग मौजूद हैं। उसी अनुमान प्रमाएग प्रस्तुत करते हैं—कोई प्रात्मा सकल पदार्थों को सहात जानने वाला है क्योंकि उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव वाला होकर उसके प्रतिबंधक कमों का अभाव हो चुका है, जो जिसके ग्रहण करने का स्वभाव वाला होकर प्रक्षीएगावरएग वन जाता है वह उसका साक्षात जानने वाला होता ही है, जैसे तिमिर ग्रादि रोग का नाश होने पर नेत्र ज्ञान रूप को साक्षात जानता है, किसी आत्मा में सकल पदार्थों का ग्रहएग करने का स्वभाव होकर साथ ही ग्रावरण कर्म का नाश भी हो गया है। ग्रात्मा में सकल पदार्थों के ज्ञानोत्पत्ति की ग्रन्थायनुपपत्ति से ही वह स्वभाव सिद्ध हो जाता है।

भत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्-सदुपलम्भकप्रमाण्यप्यकाविषयत्वं साधनम्; तदसिद्धम्; तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादेः सद्भावात् । तथाहि-कश्चितात्मा सकलपदार्थसासास्कारी तद्महण-स्वभावत्वे सति प्रक्षोत्पप्रतिवन्धप्रत्यव्यत्वत्वत्, यद्यद्वहण्त्वभावत्वे सति प्रक्षोत्पप्रतिवन्धप्रत्ययं तत्त्वस्यात्वात्वे सति प्रक्षोत्त्वप्रयापतिविधातवन्वं लोचनविज्ञानं कासाक्षात्वात्तित्वत् एवत्वमावत्वे सति प्रवीणप्रतिवन्धप्रयापवक् विद्वात्तेति । न तावत्सककार्ययहण्यस्वात्वत्वसात्मात्तेव्वस् ; वोश्चनाव्वविद्यात्तिकाप्रयापवक् वत्त्वत्यवानुपपत्ते स्तस्यविद्यद्वः, 'सकलमनेकान्तात्मक सत्यात्' इत्यादिव्याप्ति-ज्ञानोत्त्वत्वं । यद्वि यद्विषयं तत्त्वप्रहणस्वमावम् यथा कारिविद्यात्ते त्वात्वयं रासनविज्ञानं रस्यहणस्वमावम्, सक्वार्थविवयव्यात्वान्याप्यामम्।

"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विष्कृष्टभित्येवजातोयकमर्थयवनमयितुमल पुरुषान्" [ शावरमा॰ ११९१२ ] इति स्वयं बुवासो विषिश्रतिषेषविचारसानिबन्धनं साकस्येन व्याधिज्ञानं च प्रतिपद्यमानः सकलायंग्रहस्यभावतामात्मनो निराकरोतीति कथ स्वस्यः ? प्रक्षीसप्रतिबन्ध-प्रस्थयत्वं च प्रापेष प्रसाधितत्वाञ्चासिद्धम् ।

भावार्थ: -- मीमाँसक वेद के द्वारा संपर्ण पदार्थों का ज्ञान होना स्वीकार करते हैं ग्रत: आत्मा में सकल पदार्थों को साक्षात करने का स्वभाव ग्रपने ग्राप सिद्ध हो जाता है, क्योंकि मात्मा में वैसा स्वभाव है तभी तो वेदाध्ययन से पूर्ण ज्ञान होता है, आत्मा में यह गूरा नहीं होता तो वेद से क्या ज्ञान हो सकता था ? नहीं हो सकता था। "संसार के सभी पदार्थ अनेकांत स्वभाव वाले हैं, क्योंकि वे सत्यरूप हैं" इत्यादि व्याप्ति ज्ञान से भी ब्रात्मा के सकलार्थ ग्राहक स्वभाव की सिद्धि होती है। आत्मा संपूर्ण वस्तुओं को ग्रहण करने के स्वभाव से यक्त है, क्योंकि सकलार्थ विषय वाला है, जो जिसका विषय होता है वह उसके ग्रहण करने के स्वभाव के कारण ही होता है, जैसे रस संबंधी ज्ञान रूपादि का परिहार करके मात्र रस को जानता है वह उसके जानने का स्वभाव होने के कारण ही है, ग्रतः व्याप्ति ज्ञान और आगम ज्ञान के द्वारा ग्रात्मा सकलार्थ को जानने वाला है इतना तो मीमांसक कहते ही हैं अर्थात वेद भूत, भावी, वर्तमान, विष्रकृष्ट इत्यादि विषयों को जानने में पूरुषों को समर्थ करता है, ऐसा स्वयं कह रहे हैं तथा व्याप्ति ज्ञान के द्वारा विधि निषेध मुख से तत् तत् विषयक साध्य साधन का पर्ण ज्ञान होना भी बता रहे हैं, ग्रीर फिर भी आत्मा में सकलार्थ ग्रहरण स्वभाव का निराकररण करते हैं सो वे कैसे स्वस्य कहलायेंगे ? ग्रात्मा के प्रतिबंधक आवरण कर्म का क्षय होता है इस विषय को तो पहले ही सिद्ध कर चुके हैं,

1

साध्यसाधनयोध्य प्रतिबन्धो न प्रत्यक्षानुमानाम्यां प्रतिज्ञावते येनोक्तदोषानुपङ्गः स्यात्, तकांच्यप्रमाणान्तरात्तिसद्धेः।

यच्चाप्रतिपन्नपक्षधर्मस्वो हेतुर्ने प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्यङ्गमित्युक्तम्; तदःयपेशलम्; न हि सर्वेज्ञोत्र घमित्वेनोपात्तो येनास्यासिद्धे रयं दोषः । किं तर्हि ? कश्चिदात्मा । तत्र चाविप्रतिपत्ते : । न चापक्षधर्मस्य हेतीरगमकत्वम् ;

> ''पित्रोश्च ब्राह्मण्ह्येन पुत्रबाह्मणतानुमा । सर्वेलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते ॥''

इति स्वयमभिधानात् ।

यदप्युक्तम्-सत्तामाधने सर्वो हेतुस्त्रयी दोषजाति नातिवर्त्तत इति; तस्प्रवीतुमानोच्छेद-कारिःवादयुक्तम्; शक्यं हि वक्तं धूपस्वादियंद्योग्नमत्पर्वतधर्मस्तदाऽसिद्धः को हि नामाग्निमत्पर्वत-धर्म हेतुमिच्छत्रग्निमस्वमेव नेच्छेत् । तद्विपरीतधर्यस्वोद्धस्दः; साध्यविष्ठस्वसाधनात् । उभगधर्म-

अतः वह असिद्ध नहीं तथा सबंज रूप साध्य के साथ हेतु का घविनाभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता है इस तरह हम स्वीकार नहीं करते हैं, हम तो तर्क नामा एक प्रथक प्रमाण मानते हैं उसी के द्वारा घविनाभाव संबंध जाना जाता है घतः वे अनवस्थादि दिये हुए दोष लागू नहीं हो सकते।

जिस हेतु का पक्ष धमंत्व नामा गुग नहीं जाना है वह प्रतिनियत साध्य को सिद्धि का कारण नहीं हो सकता है ऐसा कहा वह गलत है, हमने इस प्रनुमान भें सवंज्ञ को धर्मी नहीं बनाया है जिससे उसकी प्रसिद्धि से यह दोष प्रावे । हम तो किसी एक आहमा को पक्ष बना रहे हैं. उसमें किसी का विवाद नहीं है, तथा प्राप हेतु में पक्ष धमंत्व नहीं होना दोष बता रहे हैं वह भी ठोक नहीं है, पक्ष धमंत्व रहित हेतु भी अगमक नहीं होता, माता पिना के ब्रह्मिंग होने से पुत्र को ब्राह्मणमता का अनुमान हो जाता है यह सर्व लोक प्रसिद्ध बात है यहां पक्ष धमंत्व को अपेक्षा नहीं है। ऐसा आप स्वयं मानते हैं। ग्रीर भी जो कहा है कि सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने में जो भी हेतु होंगे वे सभी ग्रीसद्धादि तीन दोषों से रहित नहीं होवेंगे? सो यह कथन संपूर्ण ग्रनुमानों का विच्छेद करने वाला होने से ग्रमुक्त है, कोई कह सकता है कि स्नमत्व ग्रादि हेतु यदि ग्रामिनमान पर्वत का धमं है तो वह असिद्ध दोष युक्त होगा? क्योंकि ऐसा कौन

रचेद्वचिष्णवारी सपलेतरयोवंत् नात् । विमन्यविकरसाधावायस्वविषयेत्वे भूमवस्वादेः सर्वे सुस्यम् । यया चाचलस्याचलस्वादिना प्रसिद्धस्ताकस्य सन्दिग्वानिमस्वादिष्ठाच्यवमस्य वर्मो हेतुनं विरुध्यते, तया प्रमिद्धारमस्वादिविशेषस्यस्याप्रसिद्धसर्वजस्योपाधिशत्ताकस्य च धर्मिस्यो वर्मः प्रकृतो हेतुः कयं विरुष्येत ?

यदिष ग्रविशेषेण सर्वज्ञा किश्चरसाध्यते विशेषेण वेत्याखऽभिहितम्; तदश्यभिषानमात्रम्; सामान्यतस्तरसाधानात्त्रत्रेव विवादात् । विशेषवित्रतिपत्तौ पुनर्दं ध्टेष्टाविरुद्धवानस्वादह्तं एवाशेषार्थ-

बुद्धिमात है कि जो अगिनमान पर्वत का धर्म रूप हेतु को मानकर उसमें प्रांग्नानात्व नहीं होगा ? प्रधांत् पर्वत अगिनवाला सिद्ध है तो उसका घर्म प्रमत्व भी सिद्ध है, स्रतः उस पर हेतु से प्रांग्नात्व सिद्ध करना वेकार है। तथा ध्रूमत्व हेतु प्रांग्नरिहत पर्वत का घर्म है तो विरुद्ध होगा क्योंकि साध्य को विरुद्ध सिद्ध करने वाला है ? प्रांग्नामान प्रोग्नामान दोनों प्रकार के पर्वतों का धर्मत्व रूप ध्रूमत्व हेतु है तो ध्र्यानमान प्रोग्नामान दोनों प्रकार के पर्वतों का धर्मत्व रूप ध्रूमत्व हेतु है तो ध्राम्पान के क्योंक सपक्ष और विषक्ष दोनों में रह गया। यदि किसी एक विवाद प्रस्त धर्मी स्वरूप पर्वत का धर्म ध्रूमत्व हेतु है ऐसा मानते हैं तब तो सब ठीक हो जाता है। जिस प्रकार पर्वत स्थिपपना, स्थूलवना आदि रूप प्रपंने स्वरूप से प्रसिद्ध है उसमें सन्दिग्ध अग्निमान है उसको पक्ष बनाते हैं तो पक्ष का धर्म रूप जो ध्रमत्व हेतु है वह विरुद्ध नहीं पड़ता है, क्योंकि पर्वतरूप पक्ष प्रयम् पर्वत पने से तो प्रसिद्ध सत्ता वाला ही है, बिल्कुल उसी प्रकार सर्वजन्द की सिद्धि में आत्मत्व, प्रमूतंत्व आदि विशेषणों से प्रसिद्ध सत्ता वाला पुरुष विशेष है, उसमें केवल सर्वजना संदिग्ध है, उसको साध्य बनाकर 'तद्द पहुण स्वभावत्वे सित प्रक्षीए। प्रतिबंध प्रत्ययद्याता है हो प्रमुक्त करते हैं तो यह हेतु किस प्रकार विरुद्ध पड़ेशा ? धर्धात् नहीं पड़ सकता है।

विशेषार्थः — सर्वंत्र सिद्धि में जो कोई हेतु देवे तो वह धर्मी असिद्ध होने से प्रसिद्ध ही कहलायेगा ऐसा मीमांसक ने कहा था सो उसको आचार्य ने समक्षाया कि ऐसा कहने से प्रसिद्ध प्रसिद्ध धूमस्वादि हेतु यसिद्ध होवेगे फिर तो अनुमान नामक चीज ही खतम हो जायगी। "यहां पर्वंत पर अनिन है क्योंकि धूम है" इस जगत प्रसिद्ध अनुमान में पर्वंत धर्मी है वह पर्वंतपने से तो सिद्ध ही है और अनिनमानपने से प्रसिद्ध है सो इतने मात्र से उसे कोई आसिद्ध धर्मी नहीं मानते, उसी प्रकार कोई प्रात्मा सकल पदार्थों का साक्षात करने वाला है इत्यादि प्रमुमान में पक्ष या धर्मी "कोई

ज्ञस्यं सेरस्यति । कथं वा तत्प्रतिषेवः ग्रजाप्यस्य बोयस्य समाभरवात् ? श्रहंतो हि तथ्वतिषेधसाधनेऽ-प्रसिद्धविद्येषसाः पक्षो व्याप्तित्व न सिच्येत्, दृष्टान्तस्य साध्यक्ष्यतानुषङ्गात् । धनहंतत्वेत्; स एव दोषो बुद्धादेः परस्यामिद्धे ।, धनिष्टानुषङ्गश्चाहंतस्तदप्रतिषेधात् । सामान्यतस्तत्व्रतिषेवे सर्वं सुरथम् ।

यञ्चोक्तम्-एकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सुक्ष्माद्यर्थानां साध्यत्वेनाभिन्नेतं प्रतिनियतविषयानेकज्ञान-प्रत्यक्षत्वं वेत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सुक्ष्माद्ययांनां प्रत्यक्षत्वसाधनात् ।

आत्मा" यह है सो आत्मत्व ग्रादि वर्म से पहले से ही प्रसिद्ध है, ग्रब उसमें सर्वज्ञत्व सिद्ध करना है वह प्रक्षीगावरणत्व इत्यादि हेत् से सिद्ध करेंगे, सो इस हेत् को ग्रसिद्ध कहना बनता नहीं, यदि सर्वज्ञ को पक्ष बनाते तब तो वह ग्रसिद्ध है ग्रीर उसके ग्रसिद्ध होने से हेतू भी ग्रसिद्ध धर्मवाला कहलाता, इस प्रकार प्रक्षोग्गावरगुरुव ग्रादि हेतु की धुमत्व हेत् के समान निर्दोष सिद्ध किया है। मीमांमक ने पूछा था कि सामान्य से कोई एक सर्वज्ञ सिद्ध करना है कि विशेष से निश्चित किसी परुष विशेष को सर्वज्ञ सिद्ध करना है, सो यह प्रश्न भी ठीक नहीं, हम प्रथम तो सामान्य से ही सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं क्योंकि सर्वज्ञपने में ही ग्रभी विवाद है। जब सामान्य से सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है तब विशेष प्रतिपत्ति के लिये उसको सिद्ध करते हैं कि प्रत्यक्ष ग्रीर परोक्ष प्रमारा के ग्रविरोधी वचन बोलने वाले होने से ग्रहत देव ही सर्वाज्ञ हैं, उसी, में सकलार्थ साक्षात्कारित्व हो सकता है। आप मीमांसक सर्वज्ञ का प्रतिषेध करते हैं उसमें जो अनुमान उपस्थित करते हैं उसमें भी वही सर्वज्ञ सिद्धि वाले अनुमान के दोष आते हैं। इसी का खुलासा करते हैं - अहंत को पक्ष बनाते हैं तो वह अप्रसिद्ध विशेषए। वाला हो जायगा ग्रथीत् ग्रहंत सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि वह पुरुष है, जैसे रथ्यापूरुष है। अब आपके इस अनुमान प्रयोग में पक्ष श्रर्हत को बनाया, हेतु पुरुषत्व, ग्रीर साध्य सर्वज्ञ नहीं, तथा दृष्टान्त रथ्या पुरुष है, इसमें अर्हत नामा जो पक्ष है वह प्रसिद्ध नहीं होने से अनुमान सदोष पक्ष वाला हुआ तथा इसमें व्याप्ति भी सिद्ध नहीं है कि जो जो पुरुष हो वह वह अर्हत होकर सर्वज्ञन हो इस तरह की व्याप्ति नहीं होने से हष्टान्त साध्य से विकल ठहरता है। इसी तरह अनहंन्त (बुद्धादि) को पक्ष बनाते हैं तो वही दोष धायेगा क्योंकि आपके यहां बुद्ध आदि को माना नहीं, तथा श्रनिष्ट बात भी सिद्ध होगी अर्थातु "अनहंन्त सर्वज्ञ नहीं है" ऐसा कहने से अहंन्त के सर्वज्ञत्व का निषेध नहीं रहेगा। क्योंकि आपने अनर्हन्त को पक्ष बनाकर उसमें प्रसिद्धे च तेषां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे तत्प्रत्यक्षस्येकत्वमिनिद्रयानिन्द्रयानपेक्षरवास्तिष्ट्रयेत् तद्येक्षस्यैवास्यानेकत्वप्रसिद्धेः। तद्ययेक्षस्यं च प्रमाग्यान्तरास्सिद्धघेत्; तयाहि-योगिप्रत्यक्षमिनिद्ध-यानिन्द्रयानपेक्षं सूरुमाद्यर्थविषयत्वात्, यत्युनिरिन्द्रयानिन्द्र्यापेक्षं तन्त्र सूक्ष्माद्ययैविषयम् यद्या-स्मरादिष्रत्यक्षम्, तद्या च योगिनः प्रत्यक्षम्, तस्मात्त्रयेति ।

किञ्च, एवं साष्यविकल्पनेनानुमानोच्छेदः । शक्यते हि वक्तुम्-साध्यविमधर्मोऽग्निः साध्य-

सर्वज्ञता का निषेष किया है। यदि सामान्य से कोई भी धारमा सर्वाज नहीं है ऐसा पक्ष बनाते हैं तो बात बनतो है, सो तुम्हारे सर्वाज के अभाव की सिद्धि करने में प्रनुमान प्रयोग की जैसी बात है वैसी हमारे सर्वाज को सिद्धि करने में अनुमान की बात है, सर्वाज सिद्धि बाले अनुमान में जो दोष देंगे तो वही दोष आपके सर्वाज के प्रभाव सिद्धि बाले अनुमान में आयेगे।

एक ज्ञान से सुक्ष्मादि पदार्थी का प्रत्यक्ष होना इष्ट है अथवा नियत विषय वाले अनेक ज्ञानों से सुक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना इष्ट है ? इत्यादि सर्वज्ञ के ज्ञान के विषय में कहना था वह अयुक्त है, किसी एक प्रत्यक्ष को सामान्य से सुक्ष्मादि अर्थी का प्रकाशक साधा है, प्रत्यक्ष सामान्य से उन सुक्ष्मादि पदार्थों का ग्रहण होना सिद्ध करके फिर उसमें एकत्व सिद्ध करेगे कि यह ज्ञान इन्द्रिय मन आदि की अपेक्षा नहीं रखता श्रतः सुक्ष्मादि पदार्थों का प्रकाशक एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। जो ज्ञान इन्द्रियादि की अपेक्षा रखता है वही स्रनेक प्रकार का होता है यह बात प्रसिद्ध है। सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं है इस बात का निर्णय तो दूसरे प्रमाण से सिद्ध करके बता सकते हैं, योगी ( सर्वंत्र या दिव्यज्ञानी ) का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियां भीर मन की अपेक्षा से रहित है, (पक्ष) क्यों कि वह सूक्ष्मादि विषयों को जानता है (हेतु) जो इंद्रिय तथा मन की अपेक्षा से युक्त है वह सूक्ष्मादि को नहीं जानता है, जैसे हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान है, योगी प्रत्यक्ष सुक्ष्मादि का ग्राहक है ग्रतः इन्द्रियादि की ग्रपेक्षा से रहित है। दूसरी बात यह है कि एक ज्ञान रूप प्रत्यक्ष को साध्य बनाया है या अनेक ज्ञान रूप प्रत्यक्ष को साध्य बनाया है इत्यादि प्रश्न किये हैं उससे तो अनुमान का ही उच्छेद होता है। ग्रन्य भग्नि ग्रादि साध्य में तुम्हारे जैसे प्रश्न कर सकते हैं कि साध्य धर्मी के अर्थात् पक्ष के धर्म रूप अग्नि को साध्य बनाया है अथवा दृष्टान्त धर्मी के धर्मको ? या उभय चदृष्टांत और पक्ष दोनों के धर्मको ? प्रथम पक्ष

त्वेनाभिन्नेतः, दष्टान्तर्घामधर्मः, उभयवर्मो वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः, तद्विरुद्धेन दष्टान्तर्धामिण् तद्धमेंणाग्निना वृसस्य व्याप्तिप्रतीतेः। साध्यविकलक्व च्छान्तः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु प्रत्यक्षादि-विरोधः। प्रथोभयगताग्निसामान्यं साध्यते तर्हि सिद्धसाध्यता।

यच्चात्यदुक्तम्-प्रमेयत्वं किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाएणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षारामस्मदादिप्रमाराप्रप्रमेयत्व-व्यक्तिस्वरूपं वेत्यादिः, तद्ध्यादिसकलसाधनोन्मूलनहेतुत्वात्र वक्तव्यम् । तथाहि-साध्यर्धामधर्मो धूमो हेतुःवेनोपात्तः, रष्टान्तधर्मिघर्मो वा स्यात्, उभयगतसामान्यरूपो वा ? साध्यधर्मिघर्मत्वे रष्टान्ते तस्याभावादनन्वयो हेतुदोषः । रष्टान्तधर्मिघर्मत्वे साध्यधर्मिण्यभावादसिद्धता । उभयगतसामान्यरूप-

में धूम हेतु विरुद्ध होगा, क्योंकि साध्य धर्मी के विरुद्ध हष्टान्त धर्मी में उसका धर्म जो अग्नि है उसके साथ धूम हेतु की व्याप्ति देखी जाती है महानस का हष्टान्त भी साध्य विकल होवेगा। द्वितीय पक्ष में तो प्रत्यक्षादि से ही विरोध स्रायेगा तथा तीसरा पक्ष वचा लेते हैं प्रर्थात् पर्वत और रसोई घर दोनों में स्थित अग्नि सामान्य को साध्य बनाते हैं, तो सिद्ध साध्यता है।

विशेषार्थ:-इस पर्वत पर ग्राग्नि है; क्योंकि धुम निकल रहा है जैसे रसोई घर । यह अनुमान है इसमें साध्य अग्नि है उसके विषय में कोई बेकार के प्रश्न करे कि ग्रग्नि को जो साध्य बनाया है वह कौनसी ग्रग्नि है ? पर्वत पर होने वाली या रसोई घर में होने वाली ? पर्वत पर की अग्नि को साध्य बनाते हैं तो धुमत्व हेतू विरुद्ध पडता है क्योंकि वह हप्टान्त में स्थित अग्नि के साथ व्याप्ति नहीं रखता है। यदि हष्टान्त की ग्रग्नि को साध्य बनाते हैं तो प्रत्यक्ष से विरोध होगा क्योंकि पर्वत पर श्रग्नि है ऐसा कहते जा रहे हैं और श्रग्नि तो रसोई घर की इष्ट है इत्यादि। पर्वत और महानस दोनों में स्थित मात्र अग्नि सामान्य को साध्य बनाना तो बेकार है? ग्रग्नि सामान्य तो सिद्ध ही है सो ये सब बेकार के प्रश्न ग्रनुमान का नाण कर देते हैं. ठीक इसी प्रकार सर्वज्ञ सिद्धि के अनुमान में किसको साध्य बनाया है इत्यादि प्रश्न ग्रनमानोच्छेदक है। मीमांसक ने पछा था कि ग्रशेष ज्ञेय व्यापि प्रमाण का जो प्रमेयत्व है उसको हेत बनाया है अथवा हम जैसे व्यक्ति के प्रमाण का जो प्रमेयत्व है उसको बनाया है ? सो इस पर हम जैन का कहना है कि ये प्रश्न भी संपूर्ण जगत प्रसिद्ध धमत्व ग्रादि हेतु श्रों का नाश करने वाले हैं, इसी का खुलासा करते हैं - पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करने में धुम हेत् देते हैं वह घुम कौन सा है साध्य धर्मी का धर्म है या हब्दान्त धर्मी का धर्म है, ग्रथवा उभयगत धर्म है ? साध्य धर्मी के धर्म को हेत् त्वेच्यसिद्धतेव, प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वेनात्यन्तविलक्षरागम्हानसाचलप्रदेशव्यक्तिद्वयाश्रितसामान्यस्यैवा-सम्भवात् । प्रथ कष्ठाक्षिविक्षेपादिलक्षराग्रमंकलापसाधम्यात्र महानसाचलप्रदेशश्रितस्प्रम-व्यक्त्योरत्यन्तवेलक्षण्यं येनोभयगतसामान्यासिद्धे रसिद्धता स्यात्; तर्हि स्वापूर्वार्धव्यवसायात्मकत्वादि-धमंकलापसाधम्यस्यातीन्द्वयेन्द्रयनिषयप्रमाराज्यक्तिद्वयेऽत्यन्तवेलक्षण्यनिवत्तं कस्य सम्भवादुभय-साधारसामाग्रस्यसिद्धेः कथं प्रमेयत्वसामान्यस्यासिद्धिः ?

यन्चेदमुक्तम्-प्रसङ्गविषर्ययाम्यां चास्याशेषार्थविषयत्वं बाध्यतः इत्यादिः तन्मनोरथमात्रम्; साध्यसाधनयोध्यप्यिक्यापकभावसिद्धौ हि व्याप्याम्युपगमो व्यापकाम्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदश्येते

बनावे तो हष्टान्त में उसका ध्रभाव होने से अनन्वयी नामा सदीष हेतु कहलायेगा। हष्टान्त धर्मी के धर्म को हेतु बनावे तो साध्य धर्मी में उसका अभाव होने से वह ग्रसिद्ध हेत्वाभास हो जायगा। उभयगत सामान्य धर्म को हेतु बनावे तो भी ग्रसिद्ध नामा हेत्वाभास दोष आता है, कैंमे सो बताते हैं— महानस और पर्वत के प्रदेश प्रत्यक्ष ग्रीर प्रप्रत्यक्ष दो तरह के हैं अर्थात् महानस प्रत्यक्ष है ग्रीर पर्वतगत ग्रग्निप्रदेश ग्रप्रत्यक्ष है ग्रतः पृथक है, इन दोनों में रहने वाला सामान्य सम्भव नहीं है।

शंका — मानस का धूम हो चाहे पर्वत का दोनों कंठ तथा नेत्र में विक्षेप करना आदि धर्म समूह से युक्त होते हैं अतः इनमें अत्यन्त वैलक्षण्य नहीं है इसलिये धूम हेतु उभयगत सामान्य से रहित होने से असिद्ध हेत्वाभास है ऐसा कहना ठीक नहीं?

समाधान — तो फिर श्रतीन्द्रियविषयक प्रमाण हो चाहे इन्द्रियविषयक प्रमाण हो दोनों में स्व और अपूर्वार्थ का निश्चय करना श्रादिरूप समान धर्मसमूह है, श्रतः अत्यन्त वैलक्षण्य तो इनमें भी नहीं है, उभयगत सामान्य की दोनों ज्ञानोंमें सिद्धि है, इसलिये उनमें प्रमेयत्व सामान्य की किसप्रकार ग्रसिद्धि हो सकती है ? श्रयांत् नहीं हो सकती।

सर्वज्ञ के ज्ञानको अशेषपदार्थ को विषय करने वाला मानना प्रसंग और विषयंय से बाधित होता है इत्यादि मीमांसक का कथन मनोरथ मात्र है पहले प्रसंग साधन और विषयंय किसे कहते हैं इस बात को देखे, साध्य और साधन में व्याप्य-व्यापकभाव सिद्ध होने पर जहां व्याप्य स्वीकार किया वहां व्यापक अवश्य स्वीकार करना होगा ऐसा दिखाना "प्रसंग साधन" अनुमान कहलाता है। तथा व्यापक के निवृत्त होता है ऐसा दिखाना "विषयंय"

तत्प्रसङ्गसाधनम् । व्यापकनिवृत्तौ चावस्यं भाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्ययः। न च प्रत्यक्षत्व-सत्सम्प्रयोगजस्वविद्यमानोपलम्भनत्वधर्माद्यनिमित्तत्वानां व्याप्यव्यापकभावः ववित् प्रतिपन्नः। स्वात्मन्येवासौ प्रतिपन्न इत्यप्यसङ्गतम्, चलुरादिकरणमामप्रभवप्रत्यक्षस्याव्यवहितदेशकालस्वभावा-विप्रकृष्टप्रतिनियतरूपादिविषयत्वाम्युपगमात्, नियमस्य चाभावाद्विप्रकृष्टार्यम्राहकेपि प्रत्यक्षगब्दवाच्य-स्वदर्शनात्। तथाहि—प्रनेकयोजनशतव्यवहितार्यपाहि वैनतेयप्रत्यक्षं रामायणादौ प्रसिद्धम्, लोके चातिदूरार्यमाहि गृध्यराहादिप्रत्यक्षम्, स्मरणसम्बपेकेन्द्रियादिजन्यप्रत्यभिक्षाप्रत्यक्षं च कालविष्रकृष्ट-स्यातीतकालसम्बन्धित्वस्यातीतदर्शनसम्बन्धित्वस्य च म्राहि पुरोवस्थितार्षे भवतैवाम्युपगम्यते।

कहलाता है। इस प्रकार के प्रसंग श्रौर विषयंय की यहां श्रद्योधार्थ — विषयत्व श्रादि में उपस्थित नहीं है क्योंकि यहां प्रत्यक्षत्व और सत्सप्रयोगजत्व इन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव है ऐसा कहीं जाना नहीं गया है, ऐसे ही विद्यमानोपलंभतत्व श्रौर धर्मादि श्रतिमित्तत्व इन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव भी निश्चित नहीं है, जिससे कि एक के होने पर दूसरा होना भी जरूरी है श्रौर एक के नहीं होने पर दूसरा भी नहीं होना जरूरी है।

शंकाः — प्रत्यक्षत्व ग्रीर संप्रयोगजल्व का व्याप्य-व्यापक भाव ग्रपने में ही जाना हम्रा है ?

समाधान:—यह कथन असंगत है, चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान अव्यहित देश, काल, स्वभाव और अविप्रकृष्ट नियत रूपादि विषय को जानता है, किंतु सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष तो ऐसा नहीं है। यह भी नियम नहीं है कि जो निकटवर्ती देश काल आदि को जाने वही प्रत्यक्ष शब्द के द्वारा वाच्य हो, दूरवर्ती देशादि विषयों को जो जाने उसे भी प्रत्यक्ष कहते हैं कैसे सो बताते हैं आपके यहां ही रामायणादि में कथन पाया जाता है कि अनेक योजनों दूर देश में स्थित पदार्थ को वैनतेय (गरुड) देख लेता था। लोक में भी देखा जाता है कि ग्रुध वराह आदि जीव दूर दूर के वस्तु का ज्ञान कर लेते हैं। स्मरण की जिसमें अपेक्षा है तथा जो इन्द्रियादि से उत्पन्न हुआ है ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामा प्रत्यक्ष भी आपने माना है वह प्रत्यभिज्ञान काल से दूर प्रतित काल संबंधी वस्तु का या अतीत दर्शन संबंधी का ग्राहक ज्ञान पुरोवर्ती पदार्थ में प्रयुत्त होता है ऐसी आपकी मान्यता है। अतः निकट देशादि को जानने वाला इन्द्रिय ज्ञान ही प्रत्यक्ष शब्द का वाच्य है ऐसा कहना असत्य है। प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार नहीं करेंगे तो आपका निम्नलिखित ग्रंथ का कथन विरुद्ध होगा कि—प्रत्यभिज्ञान का

ग्रन्यथा---

''देशकालादिभेदेन तत्रास्त्यवंसरो मितेः। इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वेषिया गतम्॥''

[मी० इलो० प्रत्यक्षसु० इलो० २३३**-३**४ ]

FATE:

इत्यादिना तस्यागृहीताथिभगन्तृस्यं पूर्वापरकालसम्बन्धित्वलक्षणिनत्यत्वमाहकस्यं च प्रति-पाद्यमानं विरुष्येत । प्रातिभं च झानं शब्दलिङ्गाक्षस्याधारानपेक्षं 'क्वो से भ्राता श्रागन्ता' इत्याद्याकार-मनागतातीन्द्रियकालविषेषसार्थप्रतिभास जाग्रहशायां स्फटतरमन्थ्यते ।

किञ्च, धर्मादेरतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिनानुपलम्भः, अविद्यमानत्बाद्वा स्यान्, अविशेषणात्वाद्वा ?

विषय यद्यपि पूर्व प्रमाण से गृहीत है किन्तू उसमें देश, कालादि के निमित्त से अपूर्वार्थ विषय रहता है, क्योंकि पूर्व प्रमारा से वर्तमान में इस समय का अस्तित्त्व ग्रहरा नही होता ।।।।। इस प्रकार से उस प्रत्यभिज्ञान में ग्रनधिगतार्थगन्तृत्व सिद्ध होता है, तथा यह ज्ञान पूर्वकाल और उत्तरकाल में अवस्थित नित्य वस्तू का ग्राहक है, इत्यादि कथन अन्यथा विरुद्ध होगा । एक प्रतिभा ज्ञान होता है जिसमें हेत्, श्रागम, इन्द्रियादि की श्रपेक्षा नही रहती । जैसे "कल मेरा भाई श्रायगा" इत्यादि रूप प्रतिभाज्ञान होता है यह जान ग्रनागत को विषय कर रहा है. तथा ग्रतीन्द्रिय काल विशेषणार्थ का प्रतिभास कराता हुआ जाग्रत दशा में ही स्पष्ट रूप से अनुभव में आता है, सो ये सब प्रत्यिभ ज्ञान, व्याप्तिज्ञान, प्रतिभाज्ञान इन्द्रियों से रहित अनागतादि के ग्राहक माने हैं कि नहीं ? ऐसा ही सकलार्थग्राही अतीन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान भी मानना होगा । मीमांसक का खास करके धर्म-अधर्म की उपलब्धि में विवाद है कि वे दोनों प्रत्यक्ष स्नादि से गम्य नहीं हैं, सो इस पर जैन पूछते हैं कि धर्म-अधर्म नामा पदार्थ ग्रतीन्द्रिय होने के काररा च अ आदि इन्द्रियों से उपलब्ध नहीं होते कि अविद्यमान होने से, ग्रथवा विशेषरा रहित होने से ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आपने ग्रभी स्वीकार किया है कि प्रत्यभिज्ञानादिक अतीन्द्रिय ऐसे ग्रतीत कालादि को ग्रहरा करते हैं । अविद्यमान होने से धर्म-प्रधर्म उपलब्ध नहीं होते ऐसा दूसरा विकल्प कहना भी गलत है, जिस तरह अतीत कालादिक अविद्यमान होकर भी ज्ञान से उपलब्ध होते हैं वैसे भावी कालीन धर्म-अधर्म भी उपलब्ध हो सकते हैं। विशेषण रहित होने से धर्म-अधर्म का अनुपलंभ है ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, सकल प्रारिएयों के उपभोग्य वस्तुश्रों का जनक तथा द्रव्य, गुरुए, कर्म से जन्य होने से धर्म-अधर्म में तो सकलार्थ के विशेषरा न ताबदाधः पक्षःः प्रतीन्द्रियस्याप्यतीतकालादेरुपलम्भाम्पुरामात् । नाप्यविद्यमानत्वातः भाविष्यमीदेरतीतकालादेरिवाविद्यमानत्वेप्पुपलम्भसम्भवात् । अविशेषणात्वं तु तस्यासिद्धं सकललोकोपभोग्यार्थजनकत्वेन द्रव्यमुणकर्मजन्यत्वेन चास्याखिलार्थविशेषणात्वसम्भवात् । अतीताद्यतीन्द्रियकालादेरिवास्यापि विशेषणग्रहणग्रकृतचसुरादिना ग्रहणोपपत्तः कथं धर्मं प्रत्यस्यानिमन्तत्वसाधने प्रसङ्कविषयंयसम्भवः ? प्रश्नादिमन्त्रादिना च संस्कृतं चलुर्येषा कालविष्रकृष्टार्थस्य द्रव्यविशेषसंस्कृतं च निर्जीवकादिचक्षुर्जलाद्यन्तरितार्थस्य ग्राहकं रष्टम्, तथा पुण्यविशेषसंस्कृतं सुद्धाद्यशेषार्यम् । भविष्यतीति न
किष्वदृष्टस्वभावातिकमः । 'स्वारमनि च यावद्भिः कारणैर्जनितं यथाभूतार्थग्राहि प्रत्यक्षं प्रतिपन्नं
तथा सर्वत्र सर्वेदा प्राण्यन्तरेपि' इति नियमे नक्तञ्चराणामनालोकान्धकारव्यवहितस्पाद्युपलम्भो न

मौजद हैं, प्रश्नीत यह ग्रहष्ट इस प्राणी का है क्योंकि इसको यह उपभोग्य बस्तु प्राप्त है इत्यादि रूप से अनेकों विशेषस धर्मादि में हो सकते हैं। जैसे अतीत आदि भ्रतीन्द्रिय काल आदि का ग्रहण होता है (प्रत्यिभज्ञान के द्वारा) वैसे ही विशेषण एहण करने में प्रवृत्त चक्र ग्रादि इंद्रियों से धर्म-ग्रधर्म का ग्रहण होना संभव है. ग्रतः आपने सर्वज्ञज्ञान के प्रति धर्मादिक निमित्त नहीं हैं. धर्मादि को सर्वज्ञ ज्ञान नहीं जानता, इत्यादि कहा था तथा प्रसंग विपर्यय दोष उपस्थित किया था वह कैसे घटित हो सकता है ? अर्थात नहीं हो सकता । विप्रकृष्ट, सुक्ष्म आदि पदार्थ का सर्वज्ञ साक्षात्कार कर लेते है इस विषय में समभाने के लिये ग्रापके प्रति और भी हष्टांत उपस्थित करते है। प्रश्न, यंत्र स्नादि से जब कोई व्यक्ति संस्कारित होते हैं अर्थात किसी ज्योतिषी से किसी ने अतीतादि विषय में प्रश्न करने पर या किसी मंत्र वादी के द्वारा मंत्र करने पर उस ज्योतिषी या मंत्रवादी के नेत्र ग्रतीत आदि काल विप्रकार वस्तु को देखने में समर्थ होते हैं, अंजन आदि द्रव्य विशेष से संस्कारित नेत्र वाले मल्लाह जल से अंतरित पदार्थ को देख लेते हैं, यह सब संभव है तो वैसे ही पूण्य विशेष से संस्कारित योगीजन की दिव्य चक्ष सुक्ष्मादि अशेष पदार्थों की ग्राहक होती है। इसमें कोई स्वभाव ग्रतिक्रम नहीं होता। इतने उदाहरण दिखाने पर भी सुक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार नहीं करे मात्र वर्तमान में हम जैसे को ग्रपने स्वयं में जितने कारएगों से जनित जैसा यथार्थ बस्त का ग्राहक जितना प्रत्यक्ष होता है वैसा ही हमेशा सभी जगह अन्य प्राणी में भी प्रत्यक्ष होता है, इस तरह का नियम बनायेंगे तो नक्तंचर-सिंह ग्रादि प्राणियों को बिना प्रकाश के अंधकार आदि से व्यवहित रूप ग्रादि का ज्ञान होना संभव नहीं रहेगा क्योंकि हमारे में बैसा

स्यात्स्वात्मनि तथाञ्जुपलम्भात् । प्राण्यन्तरे स्वात्मन्यनुपलब्धस्यानालोकात्म्यकारव्यवहितरूपाखुप-लम्भलक्षसानिकायस्य सम्भवे सूक्ष्माबुपलम्भलक्षसानिकायोपि स्यात् । जात्यन्तरत्वं चोभयत्र समानम् । श्रम्युपगम्य चाक्षजन्वं सर्वज्ञज्ञानस्यातीन्द्रियार्थसाक्षारित्वं सर्मावतं नार्थतः, तज्ज्ञानस्य घातिकर्म-चतृष्टयक्षयोद्भृत्तरवात् ।

यच्चास्य ज्ञानं चक्षुरादिजनितं वेत्याद्यभिहितम्; तदप्यचारु; चक्षुरादिजन्यत्वेऽप्यनन्तरं

धर्मादिग्राहकत्वाविरोधस्योक्तत्वात् ।

यच्चाम्यासजनितत्वेऽभ्यासो हीत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; "उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्"

उपलब्ध नहीं है ? यदि ग्रन्थ प्राणियों में हमारे में नहीं होने वाला ऐसा अंधकार आदि से ब्यवहित पदार्थ की उपलब्धि रूप ग्रतिशय मानते हैं, तो फिर सर्वज में सूक्ष्मादि का जानने रूप अतिशय क्यों न माना जाय ? मानना ही होगा । यदि कहा जाय कि नक्तं चर आदि का ज्ञान भिन्न जातीय है ? सो वैसे सर्वज में भी माने तथा सर्वज का ज्ञान ग्रतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कारी ग्रवश्य है किन्तु वह परमार्थतः इन्द्रिय जनित नहीं है, वह ज्ञान तो चार घातिया कर्म-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय ग्रीर अंतराय इनके नाश से उत्पन्न होता है ।

सर्वज्ञ का ज्ञान चक्षु आदि इंद्रियों से उत्पन्न हुआ है प्रथवा अन्य किसी प्रकार से उत्पन्न हुआ है इत्यादि, कथन अयुक्त है आपका लक्ष सर्वज्ञ ज्ञान का अभाव करने में है किन्तु चक्षु स्नादि इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी धर्मादि श्रष्टष्ट का ग्राहक है, कोई विरोध की बात नहीं ऐसा स्रभी बता चुके हैं।

 [तस्वार्वसू० १।३० ] इत्यक्षिलार्थविषयोपदेशस्याविसंवादिनो ज्ञानस्य व सामान्यतः सम्भवात् । न व तज्ज्ञानवत एवाशेषज्ञत्वाद्वधर्योग्यासः, तस्य सामान्यतोऽस्पष्टस्पस्यैवाविर्भावात्, प्रश्यासस्य तत्प्रतिवन्धकापायसहायस्याशेषविशेषविषयस्यष्टज्ञानोत्पत्तौ व्यापारात् । नाप्यन्योन्याश्रयः, प्रभ्यासा-देवाखिलार्थविषयस्पष्टज्ञानोत्पत्ते रनम्युगगमात् ।

शब्दप्रभवपक्षेप्यन्योन्याश्रयानुषङ्कोऽसङ्गतः; कारकपक्षे तदसम्भवात्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवं ह्यो तस्याशेषायंज्ञानम्, तस्याप्यन्यसर्वज्ञागमप्रभवम् । न चैवमनवस्थादोषानुङ्कः; बीजांकुरवदनादि-त्वेनाम्यपगमादागमसर्वज्ञपरम्परायाः।

तथा उस उपदेश से सामान्य रूप से श्रविसंवादी ज्ञान होता हुआ भी देखा जाता है, अभिप्राय यह है कि गुरुपदेश से श्रविलार्थ का सत्य ज्ञान होना संभव ही है। जिसको उपदेश से ज्ञान हुआ है वह उस ज्ञान से ही अशेषज्ञ बन जायगा, उसे अभ्यास की क्या ग्रावण्यकता है? ऐसा भी नहीं कहना, उपदेश से सामान्यरूप ज्ञान हुआ है वह अस्पष्ट है, पुन: अभ्यास विशेष के कारण संपूर्ण विषयों के स्पष्ट ज्ञान को रोकने वाले कर्म का नाश होता है और इस तरह अशेष पदार्थों में विल्कुल स्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होनी है, इसका भावार्थ यह हुआ कि प्रथम तो कोई मुमुञ्ज श्रीगुरु के उपदेश से संपूर्ण तत्व संबंधी ज्ञान प्राप्त करता है जिसे श्रुतज्ञान या प्राप्तमज्ञान कहते हैं, फिर उसमें मनन, चिन्तन आदि रूप अभ्यास करते रहने से उस ज्ञान तथा वैराग्य संपन्न अर्थात् रत्नग्रय से युक्त पुरुष के सकल पदार्थ का ग्राहक ऐसा जो स्पष्ट ज्ञान है उसको रोकने वाले कर्मों का नाश होता है और वह पूर्ण ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ बन जाता है, इस प्रकार संपूर्ण पदार्थ का जपदेश, प्रभ्यास और स्पष्ट ज्ञान तीनों ही सिद्ध होते है।

श्रभ्यास से अशेषार्थ का ज्ञान होना मानेंगे तो श्रन्योन्याश्रय होगा सो भी बात नहीं है, हम जैन मात्र अभ्यास से ही अशेशार्थ श्राही ज्ञान होता है ऐसा नहीं मानते हैं। भाव यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यवचारित्र, सम्यवत्तप आदि भी सकलार्थ ग्राही ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है अकेला अभ्यास ही नहीं, अतः अन्योग्याश्रय दोष नहीं ग्राता है कि अभ्यास होवे तब श्रशेषार्थ ग्राही ज्ञान होवे और श्रशेषार्थ ग्राही ज्ञानी का उपदेश होवे तो श्रभ्यास होवे।

द्यागम से अशेषार्थ ग्राही ज्ञान हुआ है ऐसा मानने में अन्योग्याश्र्य दोष देना भी अयुक्त है, कारक पक्ष ग्रर्थात् सर्वज्ञ आगम का कर्त्ता है ऐसा माने तो अन्योन्याश्रय यच्चानुमानाविश्रावितत्वपक्षे सम्बन्धासिङ रित्युक्तयः, तदसमीचनमः, प्रमास्मान्तरास्सम्बन्ध-सिङ रम्यूपगमात् । न स्रतु कश्चित्तस्यागोचरोस्ति सर्वत्रेन्द्रियातीन्द्रियविषये प्रवृत्ते रन्यथा तत्रानु-मानाप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तस्य तिश्वन्धनत्वात् ।

यक्चानुमानागमज्ञानस्य चास्पष्टःबादित्यभिहितम्ः तदप्यसमीक्षिताभिधानम्ः न हि सर्वेषा कारणस्यामेव कार्य विलक्षणस्याप्यंकुरादेवींजादेरुत्यत्तिदर्शनात् । सर्वत्र हि सामग्रीभेदात्कार्यभेदः । ग्रत्राप्यापमादिज्ञानेनाम्यासप्रतिवन्धकापायादिसामग्रीसहायेनासादिताशेषविशेषवैशवः विज्ञानमा-विभावस्यते ।

भावनाबलाद्वैशस्ये कामास्त्रुपप्लुतज्ञानवत्तस्याप्युपप्लुतत्वत्रसङ्गः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतौ

नहीं होता, हमने तो ऐसा माना है कि पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम है उसके अभ्यासादि से जो पुरुष तपश्चर्या आदि के द्वारा कर्मों का नाश करता है उसके सकलार्षप्राही ज्ञान होता है, पूर्ववर्ती सर्वज्ञ के भी अन्य पूर्ववर्ती सर्वज्ञागम से पूर्ण ज्ञान उत्पन्त हुआ है, इस तरह मानने में अनवस्था दोष की आशंका भी नही करना क्योंकि आगम और सर्वज्ञ की परंपरा बीज और अंकुर के समान अनादि कालीन है, अनादि व्यवस्था में प्रनवस्था का कोई स्थान नहीं है।

सर्वज्ञ के ज्ञान को अनुमान जिनत माने तो संबंध की असिद्धि है'''इत्यादि दोष बताये वे भी असत हैं, हम जैन अविनाभाव संबंध की सिद्धि तक प्रमाण से होना स्वीकार करते हैं, तक प्रमाण के कोई ग्रगोचर नहीं है, उसकी तो सर्वत्र अतीन्द्रिय विषयों में भी प्रवृत्ति होती है, यदि नहीं मानें तो ग्रनुमान की भी उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेंगी। क्योंकि अनुमान की प्रतिष्ठा तो तक प्रमाएा में निष्ठ है। ग्रागम तथा अनुमान अस्पष्ट ज्ञान है इत्यादि कथन किया है वह विना विचारे ही किया है अर्थात् आगमादि अस्पष्ट ज्ञान से सर्वज्ञ का स्पष्ट ज्ञान केंसे उत्यन्त होगा? ऐसा जो कथन है वह ठीक नहीं, क्योंकि कारण के समान ही कार्य होता हो सो बात नहीं है, कारण से विलक्षण भी कार्य उत्पन्न होता हुया देखा जाता है, बीज से विलक्षण ही ग्रनुर उत्पन्न होता है वात यह है कि सर्वत्र सामग्री के मिन्न होने से कार्य में भिन्नता दिखाई देती है। यहां सर्वज्ञ ज्ञान के विषय में आगमादि का ज्ञान, ग्रम्याम, प्रतिबंधक कर्मों का ग्रपाय इत्यादि सामग्री है, इनकी सहायता से सकलार्थ विषयों का विशव ज्ञान प्रमय्होता है। भावना के बल से सर्वज्ञ के ज्ञान में विशवता माने तो कामी जन के समान यह ज्ञान उपयुक्त काल्यनिक बन बैटेगा। इत्यादि कथन भी ग्रमत है, भावना ज्ञान ज्ञान के बल से सर्वज्ञ के ज्ञान में विशवता माने तो कामी जन के समान यह ज्ञान उपयुक्त काल्यनिक बन बैटेगा। इत्यादि कथन भी ग्रमत है, भावना ज्ञान

'भावनावलार् ज्ञानं वैशयमनुभवति' इत्येतावन्मात्रेण तज्ज्ञानस्य दृष्टान्तोपपत्तः । न चाशेषदृष्टान्त-धर्माणां साध्यधर्मिण्यापादनं युक्तं सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । न चाशेषज्ञज्ञानं क्रमेणाशेषार्यप्राहोष्यते येन तत्पक्षनिक्षप्रदोषोपनिपातः, सकलावरणपरिक्षाये सहस्रकिरणवद्युगपन्निविलार्योद्योतनस्वभाव-त्वात्तस्य कारणक्रमव्यवधानातिर्वत्तित्वाच्च ।

यच्चोक्तम्-युगपत्परस्परविषद्धशीतोष्णाद्यर्घामेकत्र ज्ञाने प्रतिभासासम्भवः; तदप्यसारम्; तत्र हि तेषामभावादप्रतिभासः, ज्ञानस्यासामय्यद्धाः ? न तावदभावात्; श्रीतोष्णाद्यर्थानां सकृत्सम्भ-वात् । ज्ञानस्यासामर्थ्योदित्यसत् ; परस्परविषद्धानामन्यकारोद्योतादीनामेकत्र ज्ञाने श्रुगपत्प्रतिभास-

पदार्थ के निकटवर्ती नहीं होने पर भी उसको स्पष्ट प्रतिभासित करता है। उस ज्ञान का दृष्टात सर्वज्ञ ज्ञानकी स्पष्टता समक्ष में खाने के लिये देते हैं किन्तु इतने मात्र से सर्वज्ञ ज्ञान भी भावना ज्ञान के समान काल्पनिक होवे सो बात नहीं है "न हि दृष्टान्तस्य सर्वे धर्माः दाप्टन्ति भवितु महिति" दृष्टांत के सभी गुण धर्म दाष्टान्त में नही होते, यदि मानेगे तो सकल अनुमानों का उच्छेद ही हो जायगा। तथा सर्वज्ञ का ज्ञान कम से अशेवार्थ का ग्राहक नहीं माना है जिससे उस पक्ष के दिये हुए दांव लागू होवें प्रधात सर्वज्ञ यदि कम कम से जानते हैं तो पदार्थ अनंत होने से कभी संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान नही होगा। ऐसा कहा था वह बेकार है हम तो सर्वज्ञ ज्ञान को सकल आवरण का क्षय होने से सूर्य के समान एक साथ संपूर्ण पदार्थों का प्रकाशन करने वाला मानते हैं, इस ज्ञान में न तो इन्द्रियों का कम है न बीच बीच में रुकावट है, यह तो अप्रतिहत स्वाभाविक ज्ञान है।

सर्वज्ञ को दोषयुक्त ठहराने के लिये मीमासक ने कहा था कि एक माथ परस्पर विरोधी शीत उष्ण ग्रादि पदार्थों का एक ज्ञान में प्रतिभास होना ग्रज्ञक्य है, सो यह कथन ग्रसार है, विरोधी पदार्थों का ग्रभाव होने से एक ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता, ग्रथबा एक ज्ञान की सामर्थ्य नहीं होने से परस्पर विरुद्ध पदार्थों का प्रतिभास नहीं होता? "अभाव होने से प्रतिभास नहीं है" ऐसा कहना तो गलत है, शोत उष्ण ग्रादि पदार्थ एक साथ उपलब्ध होते ही हैं ग्रभाव कहां है? ज्ञान की सामर्थ्य नहीं है इसलिये एक साथ उपलब्ध होते ही हैं ग्रभाव कहां है। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है परस्पर विरोधी ग्रंथकार और प्रकाश ग्रादि पदार्थ एक साथ एक ही ज्ञान में प्रतित होते हुए देखे जाते हैं। यदि परस्पर विरोधी पदार्थों एक साथ एक ज्ञान में प्रतिन होते हुए देखे जाते हैं। यदि परस्पर विरोधी पदार्थों का एक साथ एक ज्ञान में प्रति-

संवेदनात् । सक्नदेकत्र विरुद्धार्थानां प्रतिभासासम्भवे 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इत्यादिन्यापिश्चः न स्यात्, साध्यसाधनरूपतया तथोविरुद्धत्वसम्भवात् । नाप्येकत्र तेषां प्रतिभासे तज्ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थ-म्राह्मकत्विदरोषः; भ्रन्थकारोद्द्योतादिविरुद्धार्यग्राहिणोऽपि प्रतिनियतार्यग्राहकत्वप्रतीतेः ।

यन्त्रात्यदुक्तम्-एकक्षणः एवाशेवार्यश्रह्णादृद्धितीयक्षरोऽज्ञः स्यात्; तदप्यसम्बद्धम्; यदि हि द्वितीयक्षरोऽर्थानां तज्ज्ञानस्य चाभावस्तदाऽयं दोषः। न चैवम्, श्रनन्तरवात्तदृद्धयस्य। पूर्वं हि भाविनोऽर्था भाविरवेनोरिपन्ततया प्रतिपन्ना न वेत्तं मानत्वेनोरिपन्ततया वा। साप्युप्पन्तता तेषां भवितव्यतया प्रतिपन्नाः। यदा हि यद्धमं-

भास नहीं होगा तो जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, इत्यादि व्याप्ति कैसे बनेगी ? क्योंकि इनमें एक जो कुत्कत्व है वह तो साधन है ग्रीर ग्रनित्य है वह साध्य है इस तरह दोनों में विरुद्धत्व है। एक ज्ञान में अनेक विरोधी वस्तुओं का प्रतिभास द्रोना माने तो वह ज्ञान प्रतिनियत ग्रथों का ग्राहक नहीं हो सकता ऐसा कहना भी नहीं बनता, श्रंथकार श्रौर प्रकाश श्रादि विरोधी वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान भी प्रतिनियत वस्तू का ग्राहक होता हुआ देखा जाता है। ग्रीर भी जो कहा था कि एक क्षण में ही संपूर्ण पदार्थों का ग्रहण हो जाने से दूसरे क्षण में वह सर्वज्ञ ग्रज्ञ ही बन जायगा । इत्यादि सो यह कथन असंबद्ध है, यदि दूसरे क्षण में पदार्थों का अभाव हो जाता या उसको जानने वाले ज्ञान का ग्रभाव होता तब तो यह दोष होता, किंतू ऐसा है नहीं, दोनों ही पदार्थ ग्रौर ज्ञान भ्रनंत है। इसी विषय का खुलासा करते है-सर्वज्ञ के ज्ञान ने पूर्व क्षण में भावी वस्तुश्रो की उत्पन्नता है वह भवितव्यता रूप से "होवोंगे" इस रूप से जानी थी, भूतरूप से नहीं । ग्रब वह क्षण बदला, उत्तर काल में, इससे विपरीत रूप से वे पदार्थ ग्रहण में स्रायेंगे, क्योंकि जब जिस धर्म से विशिष्ट वस्त होती है तब सर्वज के ज्ञान में उसी रूप से प्रतीति में ग्राती है, ग्रन्यथा रूप से प्रतीत होगी तो भ्रम सा हो जायगा, इस प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान ग्रहीतग्राही होने से अप्रमाण है ऐसा कोई कहे तो उसका निराकरण भी उपर्युक्त कथन से हो जाता है।

भावार्थ:—मीमांसक ने प्रश्न किया था कि सर्वज्ञ एक क्षण में ही ग्रशेष पदार्थ को ग्रहण करता है तो दूसरे अण में जानने के लिये कोई पदार्थ नहीं रहता है ग्रतः वह ग्रज्ञ बन जायगा ? इसपर प्रभावन्द्राचार्य कहते हैं कि द्वितीयादि क्षण में ज्ञान का नाश होता है, कि पदार्थों का नाण होता है ? दोनों का नाश नहीं होता है, पदार्थ विशिष्टं वस्तु तदा तज्ज्ञाने तर्षेव प्रतिभासते नान्यवा विश्वमप्रसङ्गात् इति कथं गृहीतप्राहित्वेनाप्य-स्याप्रामाण्यम् ?

यच्चेदं परस्वरागदिसाक्षात्कररणाद्वागदिमानित्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; तथापरिरणामो हि तत्त्वकाररणं न संवेदनमात्रम्, अन्यथा 'मद्यादिकमेवंविषरसम्' इत्यादिवाक्यात्तच्छ्रोत्रियो यदा प्रतिपद्यते तदाऽस्यापि तद्वसास्वादनदोषः स्यात् । अरसनेन्द्रियज्ञत्वात्तस्यादोषोयम्; इत्यन्यत्रापि समानम्। न हि सर्वज्ञज्ञानमिन्द्रियप्रभवं प्रतिज्ञायते । किश्वाङ्गनानित्कृतसेवनाद्यभिनायस्येन्द्रियोद्धेक-हेतोराविभावाद्वागदिमत्त्वं प्रसिद्धम् । न नासौ प्रक्षीणमोहे भगवत्यस्तीति कथं रागदिमत्त्वस्यान् सङ्कापि ।

ग्रीर जान तो अनंत हैं अंत रहित हैं। जो पदार्थ प्रथम क्षण में भावी रूप था वह द्वितीय क्षण में वर्तमानरूप हो जाता है तथा जो वस्तु वर्तमान रूप थी वह प्रतीत हो चुकी वस्तु जिस समय जिस धर्म से विशिष्ट होती है वह उसी रूप से ही तो ज्ञान में भजकेगी ? अन्यथा रूप नहीं तथा प्रतिक्षण वस्तु में अपूर्वता आती है इसलिये सर्वज का जान ग्रहोतग्राही होने से अप्रमाण है ऐसा कहना भी शक्य नहीं है। सर्वज पर के रागादि को जानेगा तो स्वयं भी रागीद्वेषी वन जायगा ऐसा कहा था वह भी अप्रक्त है। उसी प्रकार परिणमन कर जाने से रागी होता है जानने मात्र से नहीं। यदि जानने मात्र से उसी रूप होना जरूरी है तब तो "मदिरा आदि में इस तरह का रस होता है" इत्यादि वाक्य कहने या सुनने या जानने मात्र से श्रोतिय ब्राह्माग् ग्रादि को उस मिदरा रस का स्वाद लेने का दोष आवेगा।

शंका — मदिरा के रस का ज्ञान रसनेन्द्रिय से नहीं हुआ है अतः रसास्वाद लेने का दोष नहीं आता है  $\Omega$ 

समाधान — यही बात सर्व ज में है, सर्व ज भी यह रागी है, यह हो घी है इत्यादि रूप से मात्र जानता है, उस रूप से परिएामन नहीं करता। सर्व ज का जान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है ऐसा हम नहीं कहते हैं। श्राप प्रवंज को रागी सिद्ध करना चाहते हैं, किंतु स्त्री के ग्रालिंगन सेवन आदि की जिसके इच्छा है ऐसे कामी पुरुष के इन्द्रियों के उद्दे के के कारण उपस्थित होने पर रागीपना होता है, ऐसा रागोद्र के, मोह का नाश जिसके हुआ है ऐसे सर्व ज के कैसे संभव है ? ग्राथांत् नहीं है।

यदम्यभिद्दितम्-कथं चातीतादेगं हुणं तत्त्वक्ष्पासम्भवादित्यादिः तदप्यसारम्; यतोऽतीतादेरती-तादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वम्, तज्जानकालसम्बन्धित्वेन वा ? नाद्यः पक्षो युक्तः; वर्तं मानकालसम्ब-न्धित्वेन वर्त्तं मानस्येव स्वकालसंबन्धित्वेनातीतादेरिष सत्त्वसम्भवात् । वर्त्तं मानकालसम्बन्धित्वेन त्व-तीतादेरसत्त्वमभिमतमेव, तत्कालसम्बन्धित्वतस्त्वस्याः परस्परं भेदात् । न चैतत्कालसम्बन्धित्वेनास्त्त्त्वे स्वकालसम्बन्धित्वेनाप्त्यतेतादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वे स्वकालसम्बन्धित्वेनाप्तत्वे सत्त्वेन यहणे वर्त्तमात्वानुपङ्गः । न चातोतादेः सत्त्वेन यहणे वर्त्तमात्वानुपङ्गः; स्व-कालनियतसत्त्वस्यत्वेव तस्य प्रहृणात् । ननु चातीतादेस्तज्जानकाले प्रसिक्षानात्कयं प्रतिभासः, सिन्न-माने वा वर्त्तं मानत्वप्रमङ्गः प्रसिद्धवर्त्तं मानवन् ; इत्यिषि मन्त्रादिसंस्कृतलोचनादिज्ञानेन व्याप्तिज्ञानेन

मीमांसक ने कहा था कि अतीतादि विषयों का ग्रहण कैसा होगा? क्योंकि उन विषयों का स्वरूप तो अभी मौजूद नहीं है इत्यादि सो वह वक्तव्य असार है, अतीत पदार्थ का अतीत काल के संबंधी रूप अभाव है अथवा सर्वज्ञ ज्ञान के काल संबंधी रूप से अभाव है? प्रथम पदा ठीक नहीं, अतीत का अतीत काल संबंधी सत्व था ही। जैसे वर्तमान काल संबंधी रूप से वर्तमान काल संबंधी रूप से वर्तमान काल संबंधी पर से अतीतार्थ का असत्व—अभाव होता है। तत्काल संबंधीपना और तत्सत्वपना इनमें परस्पर भेद है, इस काल संबंधी रूप से वस्तु का असत्व है अतः स्वकाल संबंधी क्य से भी अतीत वस्तु का असत्व है ऐसा तो कह नहीं सकते। जो वर्तमान संबंधी क्य से भी अतीत वस्तु का असत्व है ऐसा तो कह नहीं सकते। जो वर्तमान संबंधी वस्तु है उसका भी अतीत काल संबंधीपने से असत्व था? मतलब वर्तमान कालीन वस्तु का अतीत में असत्व था और अतीत कालीन वस्तु का वर्तमान में अमत्व है यदि एक काल में वस्तु का अभाव होने से अन्य समय भी उसका अभाव मानेंगे तो सकल शूप्यता का प्रसग होगा। कोई शंका करे कि अतीत का सत्व रूप से ग्रहण करंगे तो वह वस्तु वर्तमान रूप हो जायगी? सो भी बात नहीं है। अतीत वस्तु का अतीत त्य हव स्वतु वर्तमान रूप हो जायगी? सो भी बात नहीं है। अतीत वस्तु का अतीत त्या से नियत सत्व रूप से ही जानना होता है।

शंका:—प्रतीतादि पदार्थों का उनके ज्ञान के काल में तो सन्निधान होता नहीं, फिर उनका प्रतिभास कैसे होवे ? यदि उन पदार्थों का ज्ञान काल में सन्निधान है तब तो उन्हें वर्तमानपना ब्रा ही जायगा ? जैसे कि प्रसिद्ध वर्तमान का सन्निधान होता है ?

भ्रयोच्यते — 'पूर्व पश्चाद्वा यदि ववचित्कदाचित्रिखिलद्यांनी विज्ञानं विश्वान्तं तर्हि तावन्मात्र-त्वात्संसारस्य कृतोऽनाद्यनन्तता ? श्रय न विश्वान्तं तर्हि नानेकयुगसहस्रे एापि सकलसंसारसाक्षात्कर-एाप् ' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः किमिदं विश्वान्तत्वं नाम ? कि किञ्चत्परिच्छेद्वाऽपरस्यापरिच्छेदः, सकलविषयदेशकालगमनासामर्थ्यादवान्तरेऽवस्थानं वा ववचिद्विषये उत्पद्य विनाशो वा ? न तावदाद्य-विकल्पो युक्तः; अनम्युपगमात्। न खलु सर्वज्ञज्ञानं क्रमेए।।थेपरिच्छेदकम् युगपदशेषार्थोद्घोतकस्वान्तस्य येरयुक्तम् । द्वितीयविकल्पोप्यनम्युपगमादेवायुक्तः। न हि विषयस्य देशं कालं वा गस्वा ज्ञानं तत्परिच्छे-दकमिति केनाप्यम्युपगतम्, अत्राप्यकारिएस्तस्य क्वचिद्गमनाभावात्। केवलं यथाऽनाद्यनन्तरूपत्या

समाधान:— इस णंका का परिहार पहले हो चुका है, मंत्रादि से संस्कारित चश्च आदि के द्वारा आतीतादि का ग्रहण होता है, तथा व्याप्ति ज्ञान के द्वारा भी वर्तमान में वस्तु का सिन्धान नहीं होते हुए भी काल विश्रक्टण्ट वस्तु का ग्रहण होता है। व्याप्ति ज्ञान के दृष्टांत से यह स्पष्ट हो जाता है कि जानते समय उस वस्तु का निकट होना जरूरी नहीं है।

गंका:—पहले या पीछे यदि कदाचित् उस सर्वज्ञ का ज्ञान किसी विषय में विश्रांत हो जायगा तो संसार भी उतना रह जायगा उसमें अनादि ग्रनंतता सिद्ध नहीं होगी ? तथा यदि सर्वज्ञ का ज्ञान विश्रांत नहीं होता है तब तो ग्रनेक सहस्रकाल व्यतीत होने पर भी सारे संसार का जानना नहीं होगा, संसार तो ग्रनंत है ?

समाधान: — यह कथन अयुक्त हैं — विश्रांत होना किसे कहते हैं ? कुछ को जानकर शेष को नहीं जानना, संपूर्ण देश संपूर्ण काल संबंधी विषयों के निकट गमन की शक्ति नहीं होने से बीच में रुक जाना, अथवा किसी विषय में उत्पन्न होकर नष्ट होना ? प्रथम विकल्प का विश्रांत ठीक नहीं, हमने ऐसा माना ही नहीं कि कुछ को जानकर अन्य को नहीं जानता । तथा सर्वज्ञ का ज्ञान कम से वस्तु को नहीं जानता है जिससे कि कुछ को जानकर अन्य को नहीं जान सकैगा, वह ज्ञान तो एक साथ अशेष पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है । दूसरा विकल्प भी स्वीकार नहीं करने से अयुक्त है, वस्तु के पास ज्ञान जाता है या काल के पास जाता है फिर उसको जानता है ऐसा किसी भी वादी प्रतिवादी ने नहीं माना है, ज्ञान तो अप्राप्यकारी है वह कहीं पर नहीं जाता है । ज्ञान का काम तो इतना है कि पदार्थ जैसे अनादि अनंतरूप अवस्थित है उसी रूप से उनको जानना । तीसरा विकल्प भी अयुक्त है, किसी विषय में उत्पन्न हुआ ज्ञान नष्ट नहीं होता है क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है ( वस्तु का स्वभाव नहीं है)

स्थितोर्थस्तपैव तत्प्रतिपद्यते । तृतीयविकल्पोप्ययुक्तः; ववचिद्विषये तस्योत्पन्तस्यात्मस्वभावतया विना-शासम्भवात् । न हि स्वभावो भावस्य विनस्यति स्फटिकस्य स्वच्छतादिवत्, ग्रन्यथा तस्याप्यभावः स्यात् । ग्रीपाधिकमेव हि रूपं नश्यति यथा तस्यैव रक्तिमादि । कथं चैवंवादिनो वेदस्यानाद्यनन्तताप्रति-पत्तिस्तत्रप्रपुक्तविकल्पानामवतारात् ? कथं वा साध्यसाधनयोः साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तिः, सामान्येन व्याप्तिप्रतिपत्तावप्यनाद्यनन्तसामान्यप्रतिपत्तावुक्तदोधानुषङ्ग एव ।

यञ्चोक्तम्-'कथं चासौ तत्कालेप्यऽसर्वज्ञैर्जात् शक्यते ? तदिप फल्गुप्रायम्; विषयापरिज्ञाने वि-

पदार्थ का जो स्वभाव होता है वह नष्ट नहीं होता जैसे स्फटिक का स्वभाव स्वच्छता है यह नष्ट नहीं होता है। यदि स्वभाव का नाश होगा तो पदार्थ का नाश हो जायगा। हां जो उपाधि से ग्राया हुआ स्वरूप है वह नष्ट होता है। जैसे उसी स्फटिक में जपा कुमुम रूप उपाधि से आयी हुई लालिमा नष्ट होती है। सर्वज्ञ के ज्ञान में इस प्रकार के प्रश्न करने वाले आप मीमांसक के वेद में अनादि अनंतता की प्रतिपत्ति की सिद्धि किस प्रकार सिद्ध हिस प्रकार सिद्ध किस प्रकार सिद्ध किस प्रकार सिद्ध किस प्रकार सिद्ध हिस प्रकार सिद्ध होगी ? क्योंकि वहां पर भी यही प्रश्न होंगे ?

भावार्थ:—सर्वज का ज्ञान पहले या पीछे कदाचित् विश्वांत हो जायगा तो संसार की अनादि अनंतता कैसे सिद्ध होगी ? इत्यादि प्रश्न सर्वज के ज्ञान के विषय में किये थे, ठीक यही प्रश्न बेद के विषय में हो सकते हैं वेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान यदि पहले या पीछे कदाचित् विश्वांत हुआ तो संसार की अनादि अनतता कैसे सिद्ध होगी ? बेद ज्ञान विश्वांत नहीं होता ऐसा माने तो भी अनेक युग सहस्र काल में भी सकल संसार का जानना नहीं होगा, क्योंकि वेद ज्ञान किमक है ? इस प्रकार इन प्रश्नाविलसे मीमांसक का छुटकारा नहीं हो सकता।

सर्वज्ञ ज्ञान के विषय में विश्रांतत्व का विचार करते हैं सो व्याप्ति ज्ञान में भी वही विचार श्रायेगा, उसमें भी साध्य साधन की पूर्ण रूप से प्रतीति होती है, सामान्य से व्याप्ति को जानने पर भी अनादि अनंत के सामान्य का ज्ञान होने में वही विश्रांति का प्रश्न श्राता है, क्योंकि सर्वदेश और सर्वकाल संबंधी साध्यसाधन के श्रविनाभाव का ज्ञान कराना व्याप्ति ज्ञान का कार्य है सो यदि वह पहले या पीछे कदाचित् विश्रांत हो जाय तो कैसे होगा ? इत्यादि प्रश्नों का जवाब कैसे देंगे ?

सर्वज्ञ कालोन ग्रसर्वज्ञ पुरुष सर्वज्ञ को कैसे जान सकेंगे ऐसा मीमांसक ने पूछा था, वह ठीक नहीं है, जिसको किसी विषय का ज्ञान नहीं है तो क्या उस विषय को षयिगोप्यपरिज्ञानाम्युपगमे कथं जैमिन्यादेः सकलवेदार्थपरिज्ञाननिश्चयोऽसकलवेदार्थविदाम् ? तदिन-श्चये च कथं तहचास्यातार्थाश्र्ययगादिनहोत्रादावनुष्ठाने प्रवृत्तिः ? कथं वा व्याकरणादिसकलशास्त्रार्था-परिज्ञाने तदर्थज्ञतानिद्वयो व्यवहारिगाम् ? यतो व्यवहारप्रवृत्तिः स्यात् ।

मुनिहिचतासम्भवद्बाधकप्रमाण्यवाच्चशेषायेवेदिनो भगवतः सत्त्वसिद्धः । न चेदमसिद्धम् ; तथाहि—सर्वविदोऽभावः प्रत्यक्षेणाचिगम्यः, प्रमाणान्तरेण् वा ? न तावरप्रत्यक्षेणः; तद्धि सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न भवतीत्येवं प्रवत्तं ते, ववचित्कदाचित्कविद्याः ? प्रथमपक्षे न सर्वज्ञाभावस्तज्ज्ञानवत

जानने वाले व्यक्ति का भी ज्ञान नहीं हो सकता है ? यदि नहीं तो आपके "जैमिनी महर्षि अदि को संपूर्ण वेदार्थ का ज्ञान था" ऐसा निश्चय वेद ज्ञान से रहित पुरुषों को कैसे हो सकेगा? तथा यदि जैमिनी आदि के ज्ञान का निश्चय नहीं है तो उनसे व्याख्यान सुनना, वेद कथित अनुष्ठान अग्निहोत्र ग्रादि का करना इत्यादि कार्यों में कैसे प्रवृत्त हो सकेंगे? लोक में व्याकरण आदि सकल शास्त्रों का परिज्ञान किसी को नहीं होता तो भी वह व्यक्ति उन व्याकरण ग्रादि शास्त्रों को जानने वाले विद्वान का निश्चय कैसे करता है? उनके पास पढ़ना ग्रादि व्यवहार किस प्रकार होता? यह सब होता है, इसी से मालूम होता है कि संपूर्ण पदार्थों को नहीं जानने पर भी उन पदार्थों को जो जानता है उम पुरुष को हम जान सकते है।

भावार्थ: — यहां विशेषरूप से यह समक्षाया है कि किसी ब्यक्ति के ज्ञान के विषयों को भी जानना जरूरी हो सो बात नहीं है, देखा जाता है कि किसी को ज्योतिषी शास्त्र पढ़ना है तो वह व्यक्ति ज्योतिषी के पास चला जाता है, किंतु उसको उस ज्योतिषी संबंधी विषयों का नक्षत्र प्रहण, नारा म्रादि का ज्ञान तो है नहीं, यदि होता तो पढ़ने को जाता ही नहीं, ऐसे ही सर्वज्ञ को जानने के लिये सर्वज्ञ के ज्ञान के सारे विषयों को जानने के लिये

ग्रव सर्वज्ञ की सिद्धि निर्दोष अनुमान प्रमाण से करते हैं - सकल पदार्थों को जानने वाले भगवान सर्वज्ञ हैं (साध्य) क्योंकि सुनिश्चितरूप से उसमें कोई वाधा देने वाला प्रमाण नहीं है। यह अनुमान ग्रसिद्ध नहीं है, इसी बात को कहते हैं-मीमांसक सर्वज्ञ का अभाव करते हैं वह अभाव क्या प्रत्यक्ष से जाना जाता है, या अन्य प्रमाण से ? प्रत्यक्ष से जाना जाता है, या अन्य प्रमाण से ? प्रत्यक्ष से जाना जाता है ऐसा तो कह नहीं सकते, प्रत्यक्ष के विषय में प्रश्न है कि प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करता है सो "सब जगह हमेशा सभी पुरुष सर्वज्ञ

एवाशेवज्ञस्वात् । न हि सकलदेशकालाश्रितपुरुषपरिवत्साक्षात्कररणमन्तरेण प्रत्यक्षतस्तदाधारमसर्वज्ञ-स्वं प्रत्येतुं शक्यम् । द्वितीयपक्षे तु न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धिः ।

श्रय न प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावसाधकं किन्तु निवर्तमानम् । नतु काररास्य व्यापकस्य वा निवृत्तौ कार्यस्य व्याप्यस्य वा निवृत्तिः प्रसिद्धा नान्यनिवृत्तावन्यनिवृत्तिरतिप्रसङ्कात् । न चाशेषस्य प्रस्यक्षं काररां व्यापकं वा येन तन्निवृत्तौ सर्वज्ञस्यापि निवृत्तिः । न चैवं घटाद्यभावासिद्धिः एकज्ञानसं-

नहीं होते हैं, इस तरह सर्वज्ञ का ग्रभाव करता है, अथवा किसी जगह 'कदाचित्' कोई सर्वज्ञ नहीं होता" इस तरह का ग्रभाव सिद्ध करता है ? प्रथम पक्ष कहो तो सर्वज्ञ का ग्रभाव हो नहीं सकता, क्योंकि जिसने "सब जगह सब काल में सभी सर्वज्ञ नहीं होते" इतनी बात जान ली वही सर्वज्ञ हुआ। तथा संपूर्ण देश काल में होने वाले सभी पुरुषों को जाने बिना प्रत्यक्ष रूप से उन पुरुषों में होने वाली ग्रसर्वज्ञता जानना शक्य नही है। इसरा पक्ष कहो तो सर्वाथा एकांत से मर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही हुआ किन्तु क्वचित् कदाचित् ही हुआ।

मीमांसक:—सर्वज्ञ के ग्रभाव को सिद्ध करने वाला जो प्रत्यक्ष है वह प्रवर्त्त-मान नहीं निवर्त्तमान है ?

जैन:— निवर्त्तमान प्रत्यक्ष किसके निवर्त्तमान होने पर निवृत्त होता है यह बताना होगा । कारण (ग्रुग्नि ग्रादि) के निवृत्त होने पर या व्यापक (वृक्षस्वादि) के निवृत्त होने पर कार्य या व्याप्य (ग्रुग्न या िषणपा) निवृत्त होता है, यह तो प्रसिद्ध बात है, कोई ग्रुग्य के निवृत्त होने से अन्य निवृत्त नहीं होता, यदि मानेंगे तो अति प्रसंग होगा, चाहे जिसके निवृत्त होने पर चाहे जो निवृत्त हो जायगा । अतः निवर्त्तमान की बात तो ग्रुग्नि-धूम वृक्षस्व-शिशपात्व के समान, व्याप्य व्यापक, कार्यकारण, संबंध होने पर ही संभव है, किन्तु सर्वज्ञ का निवर्त्तमान प्रत्यक्ष कोई कारण या व्यापक तो है नहीं जिससे कि प्रत्यक्ष के निवृत्तमान होते ही सर्वज्ञ की भी निवृत्ति हो १ कोई कहे कि इस तरह सर्वज्ञ के ग्रुग्नाव की सिद्धि नहीं मानेंगे तो घट ग्रादि के ग्रुग्नाव की सिद्धि भी नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें भी प्रश्न उपस्थित होंगे कि घट के अभाव की साधक प्रवर्त्तमान प्रत्यक्ष है कि निवर्त्तमान प्रत्यक्ष ? इत्यादि, सो बात नही, घट का ग्रुग्नाव तो सिद्ध हो जायगा, क्योंकि एक ज्ञान संसर्गि अर्थात् एक ही व्यक्ति के ज्ञान से जाने हुए अन्य पदार्थ की यहां उपलिक्ष होती है, मतलब घट और उसका आश्रय भूतल दोनों को एक ज्ञानसे

सर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात् क्वचित्तसिद्धेः । न वात्राप्ययं न्यायः समानस्तरसंस्गिरा एव कस्यचिदभा-वात्, प्रन्यथा सर्वत्र तरभावविरोषो घटादिवत् । तन्न प्रत्यक्षेग्राधिगम्यस्तदभावः ।

नाप्यनुमानेन; विवादाध्यासित: पुरुष: सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वाद्रध्यापुरुषवेदित्यनुमाने हि प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वं हेतुः, तद्विपरीतस्य वा स्यात्, वक्तृत्वमात्रं वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः; प्रमाणान्तरसंवादिसूक्ष्माचर्यवक्तृत्वस्याचेषक्रं एव भावात् । द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाधनम्, तथाभूत-

अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना भी शक्य नहीं, अब इसी विषय में चर्चा करते हैं — विवादाध्यासित पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह बोलता है, जैसे रथ्या-पुरुष, यह अनुमान सर्वज्ञका ग्रभाव सिद्ध करता है ऐसा अनुमान मीमांसक उपस्थित करें तो इस अनुमान का हेतु वक्तृत्व अर्थात् बोलना है, सो वक्तृत्व किस प्रकार का है ? प्रमाणांतरसे संवादक ऐसा सत्याथं विषयक वक्तृत्व है, या इससे विपरीत वक्तृत्व है, अथवा वक्तृत्व मात्र है ? प्रथम पक्ष कहों तो हेतु विरुद्ध होगा, क्योंकि जिसमें प्रमाणांतर से संवादकता है ऐसे सूक्ष्मादि पदार्थों के विषय में वक्तृत्व तो सर्वज्ञ में ही होगा, मतलब सत्यार्थ वचन बोलता है अतः सर्वज्ञ नहीं ऐसा कह ही नहीं सकते, सत्यार्थ वचन वाले में तो सर्वज्ञपने की सिद्ध ही होती है, सो वक्तृत्व हेतु दिया था सर्वज्ञाभाव के लिए और उल्टे उसने सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध किया ग्रतः यह वक्तृत्व हेतु विरुद्ध हा ।

द्वितीय पक्ष — विपरीत वचन बोलता है श्रतः यह पुरुष सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कहें तो सिद्धसाधन है, क्योंकि हमने भी इस तरह का विपरीत वचन बोलने वाले पुरुष को ग्रसर्गज्ञ ही माना है। वक्तृत्व सामान्य को हेतु बनाया है ऐसा मानें तो साघ्य से विपरीत सर्गज्ञ के साथ भी इसकी श्रनुपलब्धि सिद्ध नहीं हो सकेगी ग्रर्थात् सर्गज्ञ में वक्तृत्व सामान्य का विरोध है ऐसा सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्गज्ञ और वक्तृत्व स्य वक्तु रसर्वक्रत्वेनास्माभिरम्युपगमात् । वक्त्त्वमात्रस्य तु हेतोः साध्यविपर्ययेणः सर्वक्रत्वेनानुपलब्धेन सह सहानवस्थानपरस्परपरिहारस्थितिलक्षणिवरोधासिद्धं स्ततो व्यावृत्यभावान्न स्वसाध्यनियतत्वं यतो गमकत्वं स्यात् । सर्वज्ञे वक्तृत्वस्यानुपलब्येस्ततो व्यावृत्तिरित्यप्यसम्यक्ः सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भ-स्यासिद्धेः, तेनैव सर्वज्ञान्तरेण् वा तत्र तस्योपलम्भसम्भवात् । सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावास्यवसम्बन्धिन नोऽनुपलम्भस्य सिद्धिरित्यसञ्ज्ञतम्, प्रमाणान्तरात्तिसद्धावस्य वैयय्यात् । अतः सिद्धौ चक्रकानुपञ्जः ।

सामान्य इनमें सहानवस्था विरोध, या परस्पर परिहार स्थिति लक्षण विरोध नहीं है, इसलिये यह वक्त्व सामान्य हेनु सर्वज्ञ सद्भाव से व्यावृत्त नहीं होने से अपने साध्य का अविनाभावी होकर गमक नहीं होता, अर्थान् साध्य ( सर्वज्ञाभाव ) को सिद्ध नहीं करता है।

शंका—सर्वज में वक्तृत्व का ब्रमुपलंभ सिद्ध करके फिर उससे व्यादृत्ति सिद्ध करेंगे ?

समाधान — यह कथन ठीक नहीं, सभी पुरुष सर्वज्ञमं वक्तृत्वका अभाय स्वीकार करते हैं इस प्रकार सिद्ध होना असंभव है कोई सर्वज्ञ हो नहीं है अा. सर्व संबंधि अनुपलंभ की सिद्धि होगो ऐसा कहना भी ठीक नहीं यदि अन्य प्रमाण से (अनुपलंभ हेतु से) उसकी मिद्धि मानंग तो यह वक्तृत्व हेतु वाला अनुमान केकार ठहरेगा। कहो कि इससे उसकी सिद्धि हो जायगी, तब ती चक्रक दोष प्रावेगा, यह इस प्रकार होगा प्रथम तो वक्तृत्व हेतुवाल अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होगा, उसके सिद्ध होने पर सर्वज्ञ से हेतु की व्यावृत्ति की सिद्धि होगी, फिर उससे अनुमान सिद्ध हो जायगा इस तरह तीनों को प्रमात जाना किसी की भी मिद्धि संभव नहीं है। स्वसंबंधी अनुपलंभ मात्र से वक्तृत्व के व्यतिरेक का निश्चय नहीं हो सकता, क्यों कि स्वसंबंधि अनुपलंभ मात्र से वक्तृत्व के व्यतिरेक का निश्चय नहीं हो सकता, क्यों कि स्वसंबंधि अनुपलंभ नहीं है तो भी वह चीज उपलब्ध हो सकती है, परके मन की प्रवृत्ति हमें उपलब्ध नहीं है तो भी वह चीज उपलब्ध हो सकती है, परके मन की प्रवृत्ति हमें उपलब्ध नहीं होती, किन्तु वह है तो सहीं? अतः अपने को अनुपलंभ होने मात्र से किसी के व्यतिरेक का निश्चय होना शक्य नहीं है। वक्तृत्व के इस प्रकारसे सदोष सिद्ध करने से सारे अनुमानों के हेतुओं में यही दोष हो सकने से अनुमान नाम ही खतम होगा। ऐसा भी नहीं कहना, अन्य धूम आदि हेतु में अनुपलंभ के बिना विपक्ष व्यावृत्ति में सिद्ध करने से सारे अनुमान नाम ही खतम होगा। ऐसा भी नहीं कहना, अन्य धूम आदि हेतु में अनुपलंभ के बिना विपक्ष व्यावृत्ति

नापि स्वसम्बधिनोऽनुपलस्भात्तद्वयितरेकनिश्चयः; ग्रस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात् ।

न चास्तिलसाधनेषु दोषस्यास्य समानत्वान्तित्तिलानुमानोच्छेदः, तत्र विपक्षव्यावृत्तिनिमित्त-स्यानुपलस्भव्यतिरेकेण प्रमाणान्तरस्य भावात् । न चात्र कार्यकारणभावः प्रसिद्धः; असर्वकात्वधर्मानु-विधानाभावाद्वचनस्य । यद्धि यत्कार्ये तत्त्रद्धभौनुविधायि प्रसिद्धः वन्द्यादिसामग्रीगतसुरभिगन्धायनुविधा-यिष्ममवत् । तथाहि असर्वकात्वं सर्वकात्वादन्यत्यपुँ दासवृत्त्या किञ्चिक् कत्वमभिधीयते । न च तत्तरतमभा-वाद्वचनस्य तथाभावो इत्यते तद्विष्ठकृष्टमत्यल्पकानेषु कृम्यादिषु, न च तत्र वचनप्रवृत्तेः प्रकर्षो स्थयते । अय प्रसम्यग्रतियेषकृत्या सर्वकात्वाभावोऽसर्वकात्वं तत्कार्यं वचनम् : सिंह ज्ञानरहितं मृतशरीरादौ तस्योप-

का निमित्त प्रमाणांतर मौजूद है। यहां ग्रसर्वज्ञत्व ग्रौर वक्तत्व में कार्यकारण भाव तो दिलाई नही देता, वक्तृत्व असर्वज्ञके साथ अन्वय नहीं रखता। जो जिसका कार्य होता है वह उसके धर्म का अनुविधान करता है, जैसे ग्रग्नि आदि सामग्रीमें होने वाला सुगंधित गंध आदि धर्मका अनुविधान धुम भी कर लेता है, अर्थात् अग्नि में यदि चंदन को लकड़ो है तो उस ग्रग्निरूप कारण का कार्यजो घम है वह भी सुगंधित होवेगा। ऐसा अनुविधान वक्तृत्व हेतु में नहीं है, इसी को बताते हैं-जो सर्वज्ञत्व से अन्य हो उसे ग्रसर्वज्ञत्व कहते हैं, "न सर्वज्ञत्वं ग्रसर्वज्ञत्वं" इस प्रकार पर्युदासवृत्ति से असर्वज्ञत्व पद का अर्थ अल्पज्ञत्व होता है। इस ग्रल्पज्ञत्व की तरतमता से वचन की तरतमता होती है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ग्रति अल्पज्ञान वाले कृमि ग्रादि जीवोंमें ग्रल्पज्ञपना ग्रधिक है किन्तू वचन का श्रधिकपना नहीं है। "न सर्वज्ञत्वं ग्रसर्वज्ञत्वं" इस समास में नकार का अर्थ सर्गथा ग्रभाव रूप प्रसज्य-प्रतिषेध करते हैं ग्रथीत सर्वज्ञत्व के ग्रभाव को असर्वज्ञत्व मानते हैं और उसका कार्य बचन है ऐसा कहते हैं तो ज्ञानरहित मृतक शरीर ब्रादि में उसकी उपलब्धि होने का प्रसंग ब्रायेगा. और जो ब्रतिशय ज्ञानवान हैं, ग्रखिल शास्त्रों के व्याख्याता हैं उनमें वचनातिशय उपलब्ध न हो सकेगा । किन्तू ऐसा नहीं होता अतः वचन में ज्ञान के प्रकर्ष की तरतमता का अनुविधान दिखाई देने से वह ज्ञानातिशय का कार्य है, जिस प्रकार बुद्धिमान बढई स्रादि रूप कारण धर्म का स्रनु-विधान उनके महल ग्रादि कार्य में दिखाई देता है, ग्रर्थात बढई ग्रादि शिल्पी तथा ग्रन्य साधन जितने उत्तम होंगे उतना ही प्रासाद सुन्दर बनेगा, उसी प्रकार जितना ज्ञाना-तिशय होगा उतना वक्तृत्व में सातिशयपना होगा ग्रतः वक्तृत्व हेतुवाले अनुमान द्वारा सर्वज्ञ का ग्रभाव सिद्ध नहीं होता है। आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ का ग्रभाव नहीं कर सकते । वह स्नागम सर्वज्ञ प्रणीत है, या अन्य अल्पज्ञ प्रणीत है, अथवा स्रपौरुषेय है ? लम्भप्रसङ्गो ज्ञानातिशयबस्यु वालिलबास्त्रश्याख्यातृषु वचनातिशयोपलम्भो न स्यात् । न चैवम्, ततो ज्ञानप्रकर्षतरतमाद्यपुविधानदर्शनात्तस्य तत्कार्यता सातिशयतक्षादिकारराधर्मानुविधार्मिप्रासादादि-कार्यविशेषवत् । तन्नानुमानात्त्वसावसिद्धिः ।

नाष्यागमात्, स हि तत्प्रणीतःः अन्यप्रणीतः, अपौरुषेयो वा तदभावसाधकः स्पात् ? तत्र यद्यागमप्रणेता सकलं सकलज्ञविकलं साक्षात्र्यतिपद्यते युक्तोसौ तत्र प्रमाण्म, किन्तु विद्यमानीपि न प्रकृतार्थोपयोगो, तथा प्रतिपद्यमानस्य तस्यैवाशेषज्ञस्वात् । न प्रतिपद्यते चेत्ः तिह् रथ्यापुरुषभणीताममवद्यासौ तत्र प्रमाण्यः । न ह्यविदितार्थस्वरूपस्य प्रणेतुः प्रमाणभूतागमप्रणयनं नामातिप्रसङ्गात् ।
द्वितीयविकल्पेयोतदेव वक्तव्यम् ।

ग्रपौरुयेयोप्यागमो जीमन्याधिच्यो यदि सर्वत्र सर्वदा सर्वत्राभावं प्रतिपादयेत्तर्हि सर्वस्मै प्रतिपादयेत् केनचित् सह प्रत्यासत्तिविप्रकर्षविष्हात् । तथा च—

उनमें यदि श्रागम का प्रएायन करने वाला संपूर्ण जगत को सर्वज्ञ मे रहित साक्षात् ज्ञान से जानता होता तो उसका कथन प्रमाणभूत होता किन्तु ऐसा कोई होवे तो भी प्रकृत में सर्वज्ञाभाव करने में उपयोगी नहीं होगा क्योंकि जो ऐसा सर्व जगतको जानता है वही सर्वज्ञ बन जाता है। यदि कहो कि "सकल जगत सर्वज्ञता से रहित हैं" ऐसा वह आगम प्रणेता नहीं जानता है तो उसका श्रागम रथ्यापुरुष प्रणीत श्रागम के समान होने से सर्वज्ञाभाव सिद्धि में प्रामाणिक नहीं माना जायगा। जिसने तत्व स्वरूप को भली प्रकार नहीं जाना है वह प्रणेता प्रामाणिक श्रागम की रचना नहीं कर सकता, यदि कर सकता है तो रथ्यापुरुष भी कर सकेगा। श्रागम की रचना नहीं के र सर्वज्ञाभाव करते हैं तो उस पक्ष में भी यही उपर्युक्त दोप श्राति हैं। अपौरुप्रणाम से सर्वज्ञाभाव करते हैं तो उस पक्ष में भी यही उपर्युक्त दोप श्राति हैं। अपौरुप्रणाम से सर्वज्ञाभाव होना मानें तो वह आगम जैमिनि श्रादि को सर्वज्ञाभाव कताता है तो सभी व्यक्ति के लिए सब जगह हमेशा सर्वज्ञाभाव को बतलायेगा, किसो के साथ उस प्रमीरुपेय श्रागम की निकटता श्रीर दूरता तो है नहीं इसलिये सबको हो सर्वज्ञाभाव की सिद्धि होनी थी ? किन्तु निम्नलिखित श्रागम वावयों से सर्वज्ञ सिद्ध होता है:—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो, विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् ।। संबाहुन्यां घमति संपतत्रैः, द्यावा भूमि जनयन् देव एकः ।।१।। अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम् ।।२।। "विश्वतश्चक्तुरुत बिश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्।" [श्वे तास्वत० ३/३ ]

स वेति विश्वं न हि तस्य वेता तमाहरयायं पृष्णं महान्तम् ।" [कोताश्वतः ३/१६] "हिर-ण्यगर्भं" [ऋग्वेद मष्टः ५ मं ० १० सू० १२१ ] प्रकृत्य "सर्वजः" इत्यादौ न न कस्यविद्विप्रतिपत्तिः स्यात्-'किमनेन सर्वजः प्रतिपाद्यते कर्मविशेषो वा स्तूयते' इति । न खलु प्रदीपप्रकाशिते घटादौ कस्य-चिद्विप्रतिपत्तिः—'किमयं घटः पटो वा' इति । न च स्वरूपेऽस्याप्रामाण्यम् । घविसंवादौ हि प्रमास्-लक्षस् कार्ये स्वरूपे वार्षे, नात्यत् । यत्र सोस्ति तत्प्रमास्म् । न चाशेषज्ञाभावावेदकं किञ्चिद्वे दवावय-मस्ति, तस्तःद्वावावेदकस्यव ध्रतेः । बन्नागमादप्यस्याभावसिद्धः ।

नाप्युपमानातः; तत्स्वलूपमानोपमेययोरघ्यक्षत्वे सति साद्ययावलम्बनमृदयमासादयति नान्यथा।

जिसके सब ओर चक्षु हैं तथा सब ओर मुख सब ओर हाथ सब ओर पाद भी हैं, पुण्य तथा पाप के द्वारा जगत की रचना करता है तथा परमाणुओं के द्वारा भी पृथ्वी और स्वर्ग को वही एक ईश्वर उत्पन्न करता है।।१।। हस्त पाद रहित होकर भी शीघ्रगामी है, ग्रहीता है, चखुरहित होकर देखता है, कर्ण रहित होकर सुनता है ऐसा ईश्वर है, वह सबको जानता है किन्तु उसको कोई नहीं जानता ऐसे श्रनादि प्रधान महान 5 हुए को ईश्वर कहते हैं।।२।।

ऋग्वेद में उस सर्वज को हिरण्यगर्भ नाम से पुकारा है। सर्वज्ञः इत पद में किसी को विवाद नहीं है, इस प्रकार वेद, पुराण आदि में कहा जाता है। इन प्रागम वाक्यों से क्या सर्वज्ञ का प्रतिपादन किया जा रहा है प्रथवा कर्म विशेष का प्रतिपादन है? यदि सर्वज्ञ का प्रतिपादन है तो विवाद ही नहीं रहा। दीपक के द्वारा घटादि के प्रकाशित होने पर किसी को विवाद नहीं होता है कि "यह क्या घट है, प्रथवा पट हैं" इत्यादि। ग्राप वस्तु के स्वरूप के विषय में वेद वाक्य को प्रमाण मानते हैं, श्रूतिवाक्य को नहीं मानते, सो यह मान्यता ठीक नहीं है, प्रमाण का लक्षण तो प्रविसंवादी होना है।

दोनों में यही प्रमाण का लक्षण है अन्य अन्य लक्षण नहीं है जिसमें वह अवि-संवादीपना है वह प्रमाण है, फिर चाहे वेद वाक्य हो चाहे अृतिवाक्य हो । यह भी एक बात है कि सर्वज्ञका ग्रभाव बतलाने वाला वेद वाक्य नहीं है । श्रुति में तो सर्वज्ञ का सद्भाव ही सद्भाव बताया है । इसलिये ग्रागम प्रमाण से सर्वज्ञ का ग्रभाव सिद्ध करना शक्य नहीं है । उपमा प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना भी शक्य नहीं है । उपमा न चात्रत्येदानीन्तनोषमानभूताञ्चेषपुरुषप्रत्यक्षत्वम् उपमेयभूताञेषान्यदेशकालपुरुषप्रत्यक्षत्वं चाम्युपग-म्यते; सर्वज्ञसिद्धिप्रसङ्कात्, निक्षिलार्यप्रत्यक्षत्वमन्त्ररेणाञ्चेषपुरुषपरिषत्साक्षात्कारिरत्वासम्भवात् ।

नाप्यविक्तं स्तदभावावगमः; सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुषजायमानस्य प्रमाण्षद्कविज्ञातस्य कस्य-चिदर्यस्यासम्भवात् । वेदप्रामाण्यस्य गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वे सत्येव भावात् । प्रपौरुषेयत्वस्याग्रे विस्तरतो निषेषात् । न चार्थापत्तिरनुमानाध्प्रमाणान्तरिमत्यग्रे वक्ष्यते । तद्वदत्रापि व्याप्त्यादिचिन्तायां दोषान्तरं चापादनीयस् ।

[मी • इलो० स्रभावप० इलो० ११]

प्रमाण तो उपमा ग्रीर उपमेय के प्रत्यक्ष होने पर साहश्य का अवलंबन लेकर प्रगट होता है, अन्यथा नहीं । किन्तु ऐसा उपमा उपमेय का यहां सर्वज्ञ के विषय में प्रत्यक्ष होना शक्य नहीं है यहां के वर्तमान समय के अशेष पुरुषोंका प्रत्यक्ष ज्ञान, तथा उपमेय-भूत अशेष अन्य देशकाल में होनेवाले पुरुषों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा स्वीकार नहीं कर सकते, यदि करेंगे तो सर्वज्ञ की सिद्धि होवेगी किन्तु सकल पदार्थींका प्रत्यक्ष ज्ञान हुए बिना सकल पुरुष समूह का साक्षात्कार भी संभव नहीं है। स्रत: उपमा प्रमाण सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नहीं कर सकता । अर्थापत्ति प्रमारा से भी सर्वज्ञाभाव करना शक्य नहीं, सर्वज्ञाभाव के बिना नहीं होने वाले, प्रमाण पटक से विज्ञात ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। भतलब ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो कि सर्गज्ञ का ग्रभाव होने पर ही हो सकता हो, ग्रतः भ्रन्यथानुपपद्यमानत्वरूप ग्रर्थापत्ति सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नहीं कर पाती । वेद में प्रमाणता तो तब मानेंगे जब उसको गुणवान पुरुषकृत स्वीकार किया जाय ? ग्रापके ग्रपौरुषेय वेद या ग्रागम का ग्रागे विस्तार से खण्डन करने वाले हैं। तथा यह भी बात है कि अर्थापत्ति अनुमान से कोई पृथक प्रमाण नहीं है । जैसे अनुमान से सर्वज्ञाभाव सिद्धि करनेमें व्याप्ति का ग्रभाव, सपक्ष का ग्रन्वय नहीं होना इत्यादि दोष माते हैं ऐसे ही दोष मर्यापत्ति में भी आवेंगे। अभाव प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं होता, क्योंकि स्वयं अभाव प्रमाण ही सिद्ध नहीं है, अभाव प्रमाणका लक्षण गलत होने से उसकी सिद्धि नहीं होती प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अभाव होना प्रमाणाभाव

इत्यादै: प्रागेव विस्तरतो निराकरएगासिखा । इत्यलमतिव्रसंगेन । न चानुमाने तत्सद्भावावेदके सत्ये-तस्त्रवर्षाते---

> "प्रमारापञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते । वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाराता ॥"

> > मि। इलो० श्रभावप० इलो० १ ]

इत्यभिधानात् किञ्च, श्रभावप्रमासं

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् । मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥"

[मी० इलो० स्रभावप० इलो० २७]

इति सामग्रोतः प्रादुर्भवति । न चारोषज्ञनास्तिताथिकरणाधिलदेशकालप्रत्यक्षता कस्यचिदस्त्यतीन्द्रया-र्थदशित्वप्रसङ्गात् । नाप्यशेषज्ञः क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रतिपन्नो येनासौ स्मृत्वा निषेध्येत, सर्वत्र

कहलाता है, तथा आत्मामें ग्रपरिणमन होना ग्रभाव प्रमाण है, ग्रौर अन्यवस्तु में विज्ञान होना ग्रभाव प्रमाण है, ये अभाव प्रमाण के भेद हैं इनके भेद तथा लक्षणों का प्रथम परिच्छेद में "अभावस्य प्रत्यक्षादावर्तभावः" इस प्रकरण में विस्तार से निराकरण कर चके हैं। ग्रतः इस विषय में ग्रधिक नहीं कहते।

अनुमान प्रमाण श्रभाव प्रमाण वा सद्भाव बतलाता है ऐसा कहना भी शक्य नहीं है, क्योंकि प्रमाण पंचक-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमा, श्रयंपित्त ये जिस वस्तु में प्रवृत्त नहीं होते वहां वस्तु सत्ता का अवबोध (अभाव) कराने के लिए श्रभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है।।१।। ऐसा कहा है अर्थात् प्रत्यक्ष या अनुमान ग्रादि कोई भी प्रमाण जिसमें प्रवृत्त न हो उस विषयमें अभाव प्रमाण है इस तरह मानने से अनुमान ग्रमाण को कैसे सिद्ध करेगा? नहीं कर सकता। अभाव प्रमाण का लक्षण वस्तु के सद्भाव को जानकर तथा प्रतियोगी का स्मरण कर, इंद्रिय अपेक्षा से रहित मन से "नहीं है" इस प्रकार का नास्ति का ज्ञान होना ग्रभाव प्रमाण है। इस तरह की सामग्री में वह उत्पन्न होता है ऐसा माना है सो यहां सर्वज्ञाभाव बतलाने के लिए सर्वज्ञ के नास्तिता का अधिकरण रूप संपूर्ण देश तथा काल का प्रत्यक्ष होना तो अशवय है, यदि शक्य है तो वही अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञानी वन जायगा। सर्वज्ञ को भी किसी ने कभी कहीं पर प्रत्यक्ष नहीं देखा, जिससे कि स्मरण कर उसका निषेष कर सके। सर्वज्ञ सर्वादा उसका निषेष करना भी श्रशक्य है जब तक निषेष्य ग्रौर निषेष का ग्राधार दोनों

सर्वदा तिनवेश्वविरोधात् । न च निवेध्वनिवेध्याधारयोरप्रतिपत्तौ निवेधो नामातिप्रसङ्गात् । न ह्यप्रतिपन्ने भूतले घटेच घटनिवेधो घटते । यथा चाभावप्रमासस्योत्पत्तिः स्वरूपं विषयो वा न सम्भवति तथा प्राव्यपञ्चनोक्तामिति कृतमतिप्रसंगेन ।

तन्नाभावप्रमासार्विष्याभावसिद्धिः । तदेवं सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमासार्विमप्य-शेषज्ञस्य प्रसाधकम् इत्यलमतिप्रसंगेन ।

नहीं जाने हैं तब तक उनका निषेष करना असंभव है अन्यथा अतिप्रसंग होगा, घट और भूतल जाना नहीं तो घट का निषेष घटित नहीं होता, अभाव प्रभाण की उत्पत्ति, उसका स्वरूप तथा उसका विषय ये सब संभव नहीं हैं इसका पहले ही विस्तृत विवेचन कर दिया है, अब इस विषय पर अधिक नहीं कहते। इस तरह अभाव प्रमाण से सर्व ज्ञाभाव की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार कोई भी प्रमाण सर्व ज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सका। उसके सद्भाव को सिद्ध करनेवाला सुनिश्चित असंभवत बाधक प्रमाण रूप हेतुवाला अनुमान प्रमाण है, वह सर्व ज को भले प्रकार से सिद्ध कर देता है। अब इस सर्व ज सिद्ध प्रकरण को समाप्त करते हैं।

## ॥ सर्वज्ञत्ववाव समाप्त ॥

## सर्वज्ञवाद का सारांश

पूर्व पक्ष--मीमांसक सर्व ज्ञ को नहीं मानते हैं उनका अनुमान वाक्य है कि सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह सत्ता ग्राहक पांचीं प्रमाणों का विषय नहीं है । प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमा, ग्रर्थापत्ति ये पांच प्रमाण वस्तु के सद्भाव को सिद्ध करने वाले हैं इनमें से प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ को सिद्ध करना शक्य नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष तो निकटवर्ती रूपादि विषय को ग्रहण करता है, ग्रतीन्द्रिय सर्वज्ञ को नहीं। अनुमान के द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध तब हो जब सर्वज्ञ का ग्रविनाभावी कोई हेत् उपस्थित हो सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये जैन का दिया गया अनुमान ठीक नहीं है ग्रर्थात् सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष है क्योंकि वे प्रमेय हैं इत्यादि अनुमान का हेतु असिखादि दोष युक्त है। ग्रागम प्रमाण से भी सर्व ज की सिद्धि नहीं होती क्योंकि उसमें ग्रन्योन्याश्रयादि दोष ग्राते हैं। उपमा उपमेय की सहशता न होने से उपमा प्रमाण भी सर्वज्ञ को सिद्ध नहीं कर सकता। ग्रर्थापत्ति भी ग्रन्थथानुपपद्यमानत्व शक्ति के बिना प्रवृत्त नहीं होता । आप जैन का कहना है कि अभ्यास करते करते सकल पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। सो अभ्यास अन्य विषयक अतिशय को पैदा कर सकता है ? नहीं कर सकता, अर्थात जिस विषय का श्रभ्यास करेंगे उसी का विशेष या पूर्ण ज्ञान होगा ग्रन्य का नहीं। ग्रनंत विषयों का न श्रभ्यास ही संभव है ग्रौर न उसमें निपुणता रूप ग्रतिशय भी ग्रासकता है। सर्वज्ञ यदि सभी को जानता है तो दूसरे के रागादि को जानते समय खुद भी रागी देखी बनेगा । सर्वज्ञ अतीत कालवर्ती वस्तु को ग्रहण करता है किन्तु उस समय वस्तु नहीं होने से ग्रसत के ग्रहण करने का प्रसंग भी होगा। इस प्रकार सर्वज्ञ की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है।

उत्तर पक्ष—जैन इस ग्रसव जवादी मीमांसक का खंडन करते हैं प्रत्यक्ष के द्वारा सर्व ज का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि वह इस समय इस क्षेत्र में (भरत क्षेत्र में पंचम काल में) नहीं हैं। प्रतुमान द्वारा सर्व ज सिद्धि होनी है—कोई आत्मा समस्त पदार्थों को साक्षात् जानने वाला है क्योंकि उसका सम्पूर्ण पदार्थों को जानने का स्वभाव है, नच्ट हो गये हैं प्रतिबंध कारण जिससे ऐसा है, जो जिसके ग्रहण रूप स्वभाव वाला होने पर प्रक्षीण प्रतिबंध कारण होता है कह उसको जानता ही है, जैसे रोग रहित नेत्र

पीत ग्रादि वर्ग को साक्षातु करता है। इस ग्रनुमान में सर्वज्ञ को धर्मी न बनाकर कोई ग्रात्मा को बनाया है। आपने ग्रभ्यास के पूर्ण ज्ञान होने का खंडन किया किन्तु वह ग्रयुक्त है, आगम का ग्रभ्यास ग्रौर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री को प्राप्त करके यह भव्यात्मा सम्पूर्ण आवरण कर्म का क्षय करने में समर्थ होता है। ग्रस्पष्ट भागम ज्ञान से स्पष्ट प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न हो सकता है ऐसी शंका भी उचित नहीं, क्योंकि यह सर्वथा नियम नहीं है कि कारण सदृश ही कार्य हो, बीज कारण से अन्य अंक्र रूप कार्य होता हुम्रा देखा गया है, ग्रापका यह जबरदस्त हटाग्रह है कि सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान किसी को नहीं हो सकता किंतू यह कथन ग्राप खद के भी विरुद्ध होगा, क्योंकि ग्राप मीमांसक भी वेद के द्वारा सकल पदार्थ का बोध होना मानते हैं तथा व्याप्ति के द्वारा भी सामान्यतः सम्पूर्ण साध्य साधन का ज्ञान होना हम जैसे निकृष्ट व्यक्ति को भी संभव है तो योगी जन को स्पष्ट रूप से सकलार्थ का बोध होवे इसमें क्या संदेह है ? सर्वज्ञ देव क्रम से वस्तु को न जानकर सूर्य के समान संपूर्ण पदार्थी को प्रकाशित करते हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान प्रथम समय में सब वस्तुओं को ग्रहण करेगा तो द्वितीयादि समय में जानने योग्य वस्तू के ग्रभाव में असर्वज्ञ बन जायगा ऐसी शंका भी व्यर्थ है, पदार्थ प्रतिक्षण अपने ग्रर्थ पर्याय को परिवर्तित करके रहते हैं, जो पदार्थ अभी भविष्यत रूप जाना था वही द्वितीयादि क्षणों में वर्तमान रूप हो जायगा तथा जो वर्तमान रूप जाना था वह अतीतरूप धारण करेगा. अतः पदार्थ में प्रतिसमय नवीनता रहती है। रागादि को जानने से सर्वज्ञ को भी रागादि मान हो जाने का दोष अनुचित है यदि दूसरे के रागादि को जानने से रागी द्वेषी होंगे तो ब्राह्मणादि कुलीन पुरुष को मदिरा आदि पदार्थ का वर्णन करने या सुनने मात्र से मदिरापेयी होने का प्रसंग प्राप्त होगा। वक्तृत्व हेत् के द्वारा सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करना तो बिल्कुल गलत है, क्योंकि यदि सर्वज्ञ सत्य परस्पर अविरुद्ध वाक्य बोलता है तो क्या बाधा है, सर्वज्ञ का ग्रीर वक्तत्व का परस्पर में विरोध होता हो सो भी बात नहीं है। म्रापके म्रागम प्रमाण, म्रथवा मर्थापत्ति आदि प्रमारा सर्वज्ञ के बाधक नहीं हैं, क्योंकि उनका वह विषय नहीं है। इस प्रकार आप सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं कर पाते हैं, और हम जैन निर्दोष अनुमान प्रमाण से उसे सिद्ध कर देते हैं अतः आपको सर्वज्ञ भगवान भ्रवश्य स्वीकार करना चाहिये।

## ।। सर्वज्ञवाद का सारांश समाप्त ।।



ननु चावरराविदलेषादशेषवेदिनो विज्ञानं प्रभवतीरयशम्प्रतम्; तस्यानादिमुक्तत्वेनावररास्यै-वासम्भवादिति चेत्; तदयुक्तम्; श्रनादिमुक्तत्वस्यासिद्धेः। तथाहि-नैदवरोऽनादिमुक्तो मुक्तत्वात्तद-न्यमुक्तवत्। वन्धापेक्षया च मुक्तव्यपदेशः, तद्रहिते चास्याप्यभावः स्यादाकाग्नवत्।

नतु चानादिमृक्तत्वं तस्यानादेः क्षित्यादिकार्यपरम्परायाः कर्तृत्वास्तिद्वम् । न चास्य तत्कतृंत्वमसिद्धम्; तथाहि— क्षित्यादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वात्, यत्कार्यं तद्बुद्धिमद्धेतुकं ष्टम् यथा

योग-नैयायिक वैशेषिक श्रनादि एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, ग्रव यही प्रकरण गुरू होता है।

यौग-जैन ने सबंज को सिद्ध किया है। उसमें हमारा यह कहना है कि सबंज का ज्ञान श्रावरण के नाश से उत्पन्न नहीं होता सबंज तो अनादि से मुक्त ही है अनादि सिद्ध के श्रावरण संभव नहीं है।

जैन-यह कथन अयुक्त है, अनादि मुक्त की सिद्धि नहीं हो पाती अनुमान से सिद्ध होता है कि ईश्वर अनादि मुक्त नहीं है, क्योंकि वह मुक्त हुआ है जैसे अन्य मुक्तात्मा अनादि से मुक्त नहीं है। बंध की अपेक्षा से ही मुक्त नाम पाता है यदि बंध रहित है तो उमे मुक्त नहीं कह सकते जैसे आकाश को मुक्त शब्द से नहीं कहते हैं क्योंकि वह बेंधा नहीं था।

यौग-ईश्वर में अनादि मुक्तपना स्ननादि कालीन पृथ्वी द्यादि कार्य परम्परा के कर्तृत्व से सिद्ध होता है ईश्वर का यह कर्तापन असिद्ध भी नहीं है। पृथ्वी, पर्वत वृक्ष ग्रादि पदार्थ किसी बुद्धिमान से निर्मित हैं, क्योंकि ये कार्य हैं, जो कार्य होता है वह बुद्धिमान के द्वारा निर्मित होता है जैसे घट, पृथ्वी श्रादिक भी कार्य हैं, अतः बुद्धिमान निमित्तक हैं। इस अनुमान का कार्यत्व हेतु प्रसिद्ध नहीं है। ग्रव कार्यत्व हेतु घटादि, कार्यं चेदं क्षित्यादिकम्, तस्माद्बुद्धिमञ्जेतुकम्। न चात्र कार्यंत्वमसिद्धम्; तथाहि—कार्यं क्षित्यादिकं स्ववयवत्वात् । यत्सावयवं तत्कार्यं प्रतिपन्नम् यथा प्रासादादि, सावयवं चेदम्, तस्मात्कार्यम् ।

ननु क्षित्यादिगतात्कार्यस्वात्सावयवत्वाञ्चान्यदेव प्रासादादौ कार्यत्वं सावयवत्वं च यदक्रिया-दर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकम्, तत्तो दृष्टान्तदृष्टस्य हेतोष्रस्म्प्रयावादसिद्धत्वम्; इत्यसमीक्षिताभिधानम्; यतोऽब्युत्पन्नान्यत्वितृत्विकृत्येवमुच्यते, ब्युत्पन्नान्वा ? प्रथमपक्षे भूभादावप्यसिद्धत्वभसङ्गात्सकला-

की सिद्धि करते हैं—पृथ्वी म्रादि पदायं कार्य रूप हैं, क्योंकि वे मवयव सहित हैं, जो म्रवयव युक्त होता है वह कार्य होता है जैसे प्रासादादि, पृथ्वी म्रादि भी सावयव हैं म्रतः कार्य हैं।

शंका—पृथ्वी ब्रादि में होने वाला कार्यपना ब्रीर सावयवपना पृथक् है और प्रासाद ब्रादि का कार्यपना पृथक् है। प्रासादादि की रचना करना रूप किया नहीं देखी है तो उसमें भी किये हुए की बुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिये प्रासाद रूप हप्टान्त में देखा हम्रा हेत् पक्ष में नहीं रहने से ब्रासिद्ध है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, यह कथन श्रव्युत्पन्न व्यक्तियों के लिये किया जा रहा है श व्युत्पन्न व्यक्तियों के लिये किया जा रहा है श श्रयम पक्ष कहो तो श्रव्युत्पन्न व्यक्ति के प्रति धूम श्रादि हेतु भी श्रसिद्ध होने से सारे ही श्रव्युमानों का व्युक्खेद हो जायगा। दूसरे पक्ष की बात कहो तब तो कार्यत्व हेतु में श्रमिद्धपना नहीं रहता है, क्योंकि व्युत्पन्न व्यक्ति ने कार्यत्व का बुद्धिमान कारपाल्व के साथ श्रविनाभाव है ऐसा जाना है, वह प्रासादादिवत् पृथ्वी श्रादि में भी कार्यत्व का निश्चय कर लेता है, जैसे पर्वत श्रादि में धूम का निश्चय कर लेते हैं। यदि कहा जाय कि हण्टान्त में देखे गये कार्यत्वादि धर्म पृथ्वी आदि के कार्यत्व से भिन्न है तो पर्वत आदि का धूम श्रीर महानस का धूम इनमें भी भेद मानना होगा।

संका-कार्यत्व हेतु का बुद्धिमान कारणत्व के साथ स्रविनाभाव नहीं है, स्रथित् जो कार्य हो वह बुद्धिमान कृत ही होवे सो बात नहीं है क्योंकि बिना बोये दुक्ष स्रादि कार्यत्व का बुद्धिमान कारणत्व के साथ स्रविनाभाव नहीं देखा जाता है र

समाधान–ऐसा नहीं है, जो हेतु साघ्य के बिना भी होवे उसे व्यभिचारी कहते हैं, बिना बोये उत्पन्न हुए बुझादिक में कर्ताका ग्रभाव निष्चित नहीं है, किंतु नुमानोच्छेदः । द्वितीयपक्षे तु नासिद्धत्वम् ; कार्यत्वादेबुं द्विमत्काररापुर्वकत्वेन प्रतिपन्नाविनाभावस्य क्षित्यादौ प्रसिद्धः पर्वतादौ धूमादिवत् । च्छान्तोपलब्बकार्यत्वादेस्ततो भेदे पर्वतादिधूमान्महान-सञ्चमस्यापि भेदः स्यात् ।

ननु कायत्वस्य बुद्धिमत्काररणपूर्वकत्वेनाविनाभावोऽसिद्धः, श्रकृष्टप्रमत्वैः स्थावरादिभिन्य-भिचारात्, तस्नः, साध्याभावेषि प्रवत्तंमानो हेतुर्व्यभिचारीरयुच्यते, न च तत्र कर्त्रभावो निश्चितः किन्तवप्रहरणम् । उपलिब्यलक्षरणप्राप्तत्वे हि ततः कर्त्तरभावनिश्चयः, न च तत्तस्येष्यते ।

श्रथ विस्पाद्यन्यव्यतिरेकानुविधानोपलम्भारोषां नातिरिक्तस्य काररात्वकल्पना श्रति-प्रसङ्गात्; तिह् धर्माधर्मयोरिष तत्र कारराता न भवेत्। न च तयोरकारणतैव; तस्तृत्यादीनां सुक-दु:ससाधनत्वाभावप्रसङ्गात्, धर्माधर्मनिरपेक्षोत्पत्तीनां तदसाधनत्वात्। न चैवम्, न हि कि स्त्रज्ञय-त्यस्ति वस्तु यत्साक्षात्परम्परया वा कस्यचित्सुबदु:ससाधनं न स्यात्।

उसका ग्रहण नहीं होता है जिसकी उपलब्धि संभव है ऐसे कर्ताका अभाव निश्चित कर सकते हैं, यहां ईश्वररूप कर्ताको उपलब्धि संभव नहीं है।

शंका-पृथ्वी ग्रादि के ग्रन्वय व्यतिरेक का अनुविधान उपलब्ध होने से उनसे ग्रातिरिक्त अन्य कारण की कल्पना नहीं करनी चाहिये अन्यथा अति प्रसंग होगा ?

समाधान-ऐसा माना जायगा तो उन पृथ्वी ब्रादि में धर्म अधर्म रूप कारए। भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे किंतु वे कारण न हों ऐसी बात नहीं है, अन्यथा वृक्ष तृण ब्रादि में सुख दुःख के कारणपने का अभाव होता है क्योंकि धर्म अधर्म की ब्रपेक्षा के बिना जिनकी उत्पत्ति होती है वे सुख दुःख के साधन नहीं होते हैं, किंतु ऐसा देखा नहीं जाता है, जगत में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है कि जो साक्षात या परम्परा से किसी के सुख दुःख का कारण नहीं होती हो।

शंका—पृथ्वी आदि सामग्री से उत्पन्न होने वाले स्थावर ग्रादि में जो बुद्धिमान कर्ता की उपलब्धि नहीं हो रही है वह स्रभाव के कारण नहीं हो रही है या सद्भाव होते हुए भी अनुपलब्धि लक्षण वाला होने से नहीं हो रही है इस प्रकार संदेह होने से कार्येत्व हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला है ?

समाधान–यह कथन ग्रसत् है, इस तरह तो सभी श्रनुमान समाप्त हो जायेंगे, जहां पर ग्रग्नि के अदर्शन में घूम दिखता है, वहां शंका होगी कि यहां अभाव होने से ग्रग्नि नहीं दिखायी देती है ग्रथवा ग्रनुपलब्घ नक्षरा वाली होने से नहीं दिखती है। ननु कित्यादिसामग्रीप्रभवेषु स्थावरादिषु 'बुद्धिमतोऽभावादग्रहर्णं भावेष्यनुपलिक्षलकारण-प्राप्तत्वाद्या' इति सन्दिरघो व्यतिरेकः कार्यत्वस्यः, इत्यप्यपेशलसः, सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । यत्र हि बह्ने रदर्शने भूमो स्थाते तत्र-'किं बह्ने रदर्शनमभावादनुपलिक्षलक्षराप्राप्तत्वाद्या' इत्यस्यापि सन्दिरमध्यतिरेकत्वान्न गमकत्वम् । यया सामग्रभा भूमो जन्यमानो च्छस्तां नातिवर्त्तते इत्यन्यत्रापि समानम्-कार्यं कर्तं करणादिपुर्वकं कथं तदतिकस्य वर्तेतातिप्रसङ्गात् ?

इस तरह धुम हेतु भी संदिग्ध व्यतिरेको होने से साध्य का गमक नहीं हो सकेगा। कोई कहे कि जिस सामग्री से धुम उत्पन्न होता हुआ रसोई में देखा था वह अपनी सामग्री का उल्लंघन नहीं कर सकता है ऐसा समभकर जहां पर्वत पर अग्नि नहीं दिखती है वहां भी उसका निश्चय हो जाता है ? सो यही बात कार्यत्व हेतु में घटित कर लेनी चाहिये जो कार्य होता है वह कर्ता करण ग्रादि पूर्वक होता है, ग्रत: पृथ्वी ग्रादिक कार्यपना कर्ता का उल्लंघन कैसे कर सकता है ? ग्रन्यथा अतिप्रसंग होगा। ईश्वर का जो श्रनुपलंभ है वह शरीरादिक नहीं रहने के कारण है न कि ग्रभाव के कारण है। शरीरधारी कुंभकार खादि का कर्तापन प्रत्यक्ष से उपलब्धि होना यक्त है. किंतु यहां स्थावर पृथ्वी आदि में चैतन्य मात्र से प्रेरित होकर कार्य होता है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं है। शरीर का अभाव होने से ईश्वर में कर्तापन नहीं बन सकता है, ऐसा कहना भी गलत है क्योंकि कार्य का शरीर के साथ अविनाभाव संबंध नहीं है, देखा जाता है कि शरीरांतर से रहित होकर भी सभी चैतन्य श्रपने शरीर में प्रवृत्ति या निवृत्ति करते हैं। प्रयत्न ग्रौर इच्छा से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप कार्य होता है ऐसा माने तो पृथ्वी स्नादि में भी प्रयत्न और इच्छा से कार्य का कर्तापना मानना चाहिये। ज्ञान चिकीर्षा ग्रीर प्रयत्नधारता यह कर्नृत्व का लक्षण है, शरीर सहित या शरीर रहित होना कर्ज़ त्व नहीं है । इसी को सिद्ध करते हैं - कोई व्यक्ति सशरीरी होकर भी घट कार्य करना नहीं जानता है तो उसमें कर्तृत्व नहीं दिखाई देता है ग्रीर कोई पुरुष कार्य करना जान रहा है किंतु इच्छा नहीं है, तो भी कार्य नहीं करता है तथा इच्छा है किंतू प्रयत्न का ग्रभाव है तो भी कार्य नहीं होता है इस

प्रयत्नाधारता हि कर्नृत्वम् न सशरीरेतरता, घटादिकायं कर्त्तुमजानतः सशरीरस्यापि तत्कर्तृत्वा-दर्शनात्, जानतोपीच्छापाये तदनुपलम्भात्, इच्छतोपि प्रयत्नामावे तदसम्भवात्, तत्त्रयमेव कारक-प्रयुक्ति प्रत्यङ्गं न शरीरेतरता ।

न च त्ष्टान्तेऽनीश्वरासर्वज्ञकृत्रिमज्ञानवता कार्यस्व व्याप्तं प्रतिपन्नमित्यत्रापि तथाविधमेवा-विष्ठातारं साध्यतीति विशेषविरुद्धता हेतोः इत्यभिधातव्यम्, बुद्धिमस्काररापूर्वकत्वमात्रस्य साध्यत्वात् । भूमाधनुमानेपि चैतत्समानम्-भूमो हि महानसादिदेशसम्बन्धिताराप्पारादिविशेषा-धारेसामिनना व्याप्तः पर्वतेपि तथाविधमेवामिन साधयेदिति विशेषविषदः। देशादिविशेषस्यागेना-मिनमात्रेसास्य व्याप्ते नं दोषः इत्यन्यत्रापि समानम् ।

सर्वज्ञता चास्याशेषकार्यकरणास्तिद्धा । यो हि यस्करोति स तस्योपादानादिकारणकलापं प्रयोजनं चावद्यं जानाति, श्रन्यया तस्क्रियाऽयोगात्कुम्भकारादिवत् । तथा "विश्वतश्चशूः" [श्वेता-श्वतरोप० २।२ ] इत्यागमादप्यसौ सिद्धः

प्रकार ज्ञान, प्रयत्न और इच्छा ये तीन कर्ता के अंग हैं, अर्थात् कार्य कर्ता में ये तीन हों तो कार्य कर सकेगा अन्यथा नहीं। अतः शरीरी होना या भ्रशरीरी होना कर्ता के भ्रंग नहीं है।

शंका—पृथ्वी प्रादि ईश्वरकृत हैं ऐसा सिद्ध करने में "घटादिवत्" यह हष्टांत दिया है। घट का कार्यत्व अधीश्वर, असर्वज्ञ, अनित्य ज्ञानी के साथ व्याप्त है फ्रतः कार्यत्व हेतु पृथ्वी आदि में वैसे ही प्रनीश्वर असर्वज्ञ आदि विशेषएा वाले कर्ता को सिद्ध करता है इसलिये यह हेतु विशेष विरुद्ध दोष वाला है।

समाधान—ऐसा नहीं कहना, हम यौग ने यहां पर सामान्यतः बुद्धिमत् कारण पूर्वकत्व को साध्य बनाया है शंकाकार ने हमारे कार्यत्व हेतु के विषय में जो कहा उसको बूमत्व आदि हेतु के विषय में भी कह सकते हैं— धूम हेतु महानस ग्रादि स्थानों पर तृण की अग्नि, परो को ग्राम्न आदि विशेष ग्राधार से व्याप्त था ग्रतः पर्वत पर उसी प्रकार की ग्राम्न को सिद्ध करेगा ग्रतः धूमत्व हेतु भी विशेष विरुद्ध होता है। यदि कहा जाय कि देश ग्रादि विशेष से रहित मात्र सामान्य ग्राम्न के साथ धूम हेतु की व्याप्त रहती है ग्रतः कोई दोष नहीं है, तो यही बात कार्यत्व हेतु में है दोनों में समान ही दोष ग्रीर परिहार है ईश्वर में सर्वजता इसलिये सिद्ध होती है कि वह संपूर्ण कार्यों को करता है, जो जिसको करता है वह उस कार्य के उपादान ग्रादि कारण कलाप को तथा प्रयोजन को ग्रवश्य ही जानता है, ग्रन्यथा कार्य को कर नहीं

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरस्थाक्षर एव च । क्षरः सर्वारिए भूतानि क्रुटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १ ॥ उत्तमः पुरुषस्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य विभन्त्यंव्यय ईश्वरः॥ २ ॥"

[भगवद्गी० १४।१६-१७]

इति व्यासवचनसङ्गावाच्च ।ः

न च स्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्यम्; प्रमाजनकत्वस्य सद्भावात् । प्रमाजनकत्वेन हि प्रमाणस्य प्रामाण्यं न प्रवृत्तिश्रवकत्वेन, तच्वेहास्त्येव । प्रवृत्तिनवृत्ती तु पृरुषस्य सुखदुःससाधनत्वा-व्यवसाये समर्थस्याचित्वाद्भवतः । विधेरङ्गत्वादमीषां प्रामाण्यं न स्वरूपार्वत्वात्; इत्यसत्, स्वार्य-

सकता है, जैसे कुंभकार घट के कारण कलाप को जानकर घट को बनाता है। तथा विश्वतस्वस्तु इत्यादि स्नागम वाक्य से भी ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होती है। संसार में दो पुरुष हैं एक (क्षर) प्रानित्य है एक प्रक्षर (नित्य) है, क्षर तो सभी संसारी जीव हैं और स्रक्षर मात्र एक (ईश्वर है)।।१।। जो स्रक्षर है वह उत्तम पुरुष है, उसी को परमात्मा कहते हैं, ईश्वर तथा स्रव्यय भी कहते हैं, जो कि तीनों लोकों में प्रवेश कर उनको धारण करता है।। २।। इस प्रकार के ईश्वर के विषय में व्यास ऋषि के वचन हैं।

स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले वेद वाक्य भी इस विषय में अप्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे वाक्यप्रमा को (यथार्थ अनुभव को) उत्पन्न करते हैं। जो प्रमा को उत्पन्न करता है वह प्रमाण है, उसी के निमित्त से प्रामाण्य आता है न कि प्रवृत्ति को उत्पन्न करने से। ऐसी प्रमाणता तो वेद वाक्य में मौज्द ही है, प्रवृत्ति और निवृत्ति तो सुख दुःख के साधनों का निक्क्य होने के बाद तदर्थ इच्छुक समर्थ पुरुष की होती है।

र्णका⊸वेद वाक्यों में विधि का अंग होने से प्रमाणता है न कि स्वरूप प्रति-पादक होने से ?

समाधान-ऐसा नहीं है, स्वार्थ प्रतिपादक होने से वेद वाक्य विधि का अंग बने हैं इसी को बताते हैं-स्तुति के बाक्य स्वार्थ प्रतिपादक होने से प्रवर्तक हैं और निंदा के वाक्य निवर्त्तक हैं, भ्रन्यथा उन वाक्यों के भ्रर्थ के परिज्ञान के स्रभाव में उपादेय और निषिद्ध कार्यों में समान रूप से ही प्रवृत्ति या निवृत्ति हो जायगी। दूसरी प्रतिपादकत्वेन विध्यक्करवात् । तथाहि-स्तुतैः स्वाधंप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तकत्वं निन्दायास्तु निवर्तकत्वय्, ध्रन्यथा हि तदर्थापरिज्ञाने विहितप्रतिषेधेष्वविद्येषेण प्रवृत्तिनिवृत्तिर्वा स्थात् । तथा विधिवाद्यस्यापि स्वाधंप्रतिपादनद्वारेशैव पुरुषप्रेरकत्वं ख्येमेवं स्वस्पपरेष्विय वाक्येषु स्थात्, वाक्यकपताया धविशेषा-दिषेषहेतोरुवाभावात् । तथा स्वरूपायानाम्प्रामाध्ये "भेष्या आपो दर्भः पवित्रममेष्यमसुत्व" इत्येवंस्वरूपापरिज्ञाने विध्यक्षतायामविशेषेण प्रवृत्तिनवृत्तिप्रसङ्गः । न चतदिस्त, मेध्येप्वेव प्रवर्तते प्रमेष्येप्यु च निवर्तते इत्युपनम्भात् ।

एवं प्रमाणप्रसिद्धो भगवान् कारुष्याच्छरीरादिसर्गे प्राणिनां प्रवस्ति । न चैवं सुच्याचन एव प्राणिसर्गोऽनुषज्यते; प्रदृष्टसहकारिएाः कर्तृं त्वात् । यस्य यथाविष्रोऽदृष्टः पुण्यक्षोऽपुष्यरूपो वा तस्य तथाविष्रक्रतोषभोगाय तत्सापेक्षस्तथाविषशसरीरादीन्तृजतीति । ब्रद्धप्रक्षयो हि पत्नोपभोगं विना न शक्यो विधात्म ।

बात यह है कि जो लोग वेद वाक्य का अर्थ विधि रूप करते हैं उनके यहां भी स्वार्थ प्रतिपादन द्वारा ही पुरुष के प्रेरकपना देखा जाता है अतः स्वरूप प्रतिपादक वाक्यों में भी इसी प्रकार घटित होता है। विधि परक वाक्य और स्वरूप प्रतिपादक वाक्य इनमें वाक्यपना तो समान ही है, भेद कारक विशेष हेतु भी नहीं है। तथा यदि स्वरूपणं प्रतिपादक वेद वाक्यों में अप्रामाण्य माना जायगा तो "जल पिवत्र है," "दर्भ पिवत्र है" "अशुनि पदार्थ अपवित्र है" इत्यादि वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से दोनों में विधि रूपता की समानता होने से प्रवृत्ति होती है और अपवित्र में ही निवृत्ति होती है।

इस प्रकार प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध ऐसे भगवान करुणा भाव से प्रार्णियों के शरीरादि की रचना में प्रवृत्ति करते हैं। करुणा से प्रवृत्ति करता है तो सुख साधन रूप ही प्राणियों को पैदा करना चाहिये ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्राणियों के शरीर आदि के कर्नृत्व में ईश्वर को अहुष्ट की सहायता रहती है, जिस प्राणी का जिस प्रकार का अहुष्ट पुण्य रूप या पाप रूप होता है उसको वैसे फल भोगने के लिये ईश्वर उसी प्रकार के अहुष्ट की अपेक्षा से वैसे ही शरीरादि की रचना करता है। अहुष्ट का नाश फल भोगे बिना नहीं हो सकता है। ऐसा भी नहीं कहना कि—अहुष्ट से ही सकल कार्य की उत्पत्ति होती है अतः ग्रन्य कर्ता की कल्पना क्यों करना ? अहुष्ट से ही सकल कार्य की उत्पत्ति होती है अतः ग्रन्य कर्ता की कल्पना क्यों करना ? अहुष्ट

न चारष्टादेवासिकोत्पत्तिरस्तु कि कर्नु कल्पनयेति वाध्यम्; तस्याप्यचेतनतयाधिष्ठात्रपेक्षो-पपत्ते: । तथाहि-धर्च्य चेतनाधिष्ठतं कार्ये प्रवस्तिऽचेतनत्वात्तत्वादिवत् । न चारमदाद्यात्मैवाधि-ष्ठायकः; तस्यारष्ट्यरमाध्वादिविषयविक्षानाभावान् । न च (चा) चेतनस्याकस्मात्मवृत्तिरुपलव्काः, प्रवृत्तौ वा निष्पन्तिप कार्ये प्रवर्त्तेत विवेकसून्यत्वान् ।

तथा वार्त्तिककारेगापि प्रमागढ्यं तत्सिढयेऽम्यघायि—"महाभूतादि व्यक्तं चेतनाधिक्षतं प्राग्तिनां सुखदुःखनिमित्तं रूपादिमत्त्वानुर्यादिवत् । तथा पृथिव्यादीनि महाभूतानि दृढिमत्कारगा-चिक्षितानि स्वासु धारगाद्यासु क्रियासु प्रवत्तिऽनित्यत्वाद्वात्यादिवत् ।" [न्यायवा० पृ० ४६७]

तथाऽविद्धकर्णेन च—"तनुकररणभुवनोपादानानि चेतनाधिष्ठितानि स्वकार्यमारमन्ते रूपादि-मरवात्तस्वादिवत् ।" तथा "डीन्द्रियग्राह्याज्ञाह्या विमतिभावापन्नः बुद्धिमरकाररणपूर्वकं स्वारम्भका-

अचेतन होने से अधिष्ठायक चेतन की अपेक्षा रखता है इसी का खुलासा करते हैं—
अहण्ट चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य में प्रवृत्त होता है क्योंकि वह अचेतन है, जैसे
तंतु आदि पदार्थ अचेतन हैं। इस पर जैनादि परवादी शंका करते हैं कि हम जैसे
प्राणियों का आरमा ही अहण्ट का अधिष्ठायक होता है, तो यह शंका गलत है, हमारे
आरमा को अहण्ट परमाणु आदि विषयों का जान नहीं होता है, तथा अचेतन के विना
कारण के प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, यदि होगी तो निष्णन्म कार्य में भी होती रहेगी
क्योंकि अचेतन विवेक शून्य होता है। वार्तिककार ने भी ईश्वर सिद्धि के लिये २
प्रमाण उपस्थित किये हैं, प्रथम प्रमाण—महाभूत आदि कार्य चेतन से अधिष्ठित होकर
प्राणियों के मुख दुःख का निमित्त बनता है क्योंकि वह स्पादिमान है जैसे बाद्य
चेतनाधिष्ठित होकर ही बजने का कार्य करता है। दूसरा प्रमाण—पृथ्वी आदि महाभूत
बुद्धिमान कारण से अधिष्ठित होकर अपने धारण आदि कियाओं में प्रवृत्त होते हैं,
क्योंकि वे अनित्य हैं, जैसे वसूला आदि अपने काटने स्प किया में देवदत्त से अधिष्ठित
होकर ही प्रवृत्त होता है जो बुद्धिमान कारण है वही ईश्वर है। इन दो अनुमान
प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि होती है।

श्रविद्धकर्णं नामा गुरु ने भी कहा है कि शरीर, जगत, इन्द्रियां झादि उपादान रूप कारण चेतन से श्रविष्ठित होकर स्वकार्यं का झारंभ करते हैं, क्योंकि वे रूपा-दिमान हैं, जैसे तन्तु, तन्तुवाय से श्रविष्ठित होकर वस्त्ररूप कार्यं करते हैं, दूसरा अनुमान द्वीन्द्रिय ग्राह्म (स्पर्शन और चक्षु से ग्राह्म) पदार्थं और इनसे ग्रग्नाह्म पदार्थ वयवसन्तिवेशविशिष्टताद् घटादिवत् । वैषम्योंग परमागावो यथा" [ ] द्वाभ्यां दर्शनस्पर्शने-न्द्रियाम्यां प्राह्मं पृष्पिव्यप्तेजोलक्षगां त्रिविधं द्रव्यमग्राह्मं वाय्वादिकम् । वायौ हि रूपसंस्काराभावा-दनुष्तविष: रूपसंस्कारो रूपसमवायः । द्वषगुकादीनां त्वऽमहत्वात् । उक्तं च-"महत्यनेकद्रव्यत्वा-द्वपविषेपाच्च रूपोपलविषः" [वैद्ये० सू० ४)१।६]

प्रशस्तमितिना च; "सर्गादी पुरुषार्णा व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थ-नियतस्वादप्रसिद्धवाग्व्यवहारार्णा कुमारार्णा गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथा मात्राद्यु-पदेशपूर्वकः" [ ] इति ।

जो कि विवादयस्त हैं वे बुद्धिमान कारण पूर्वक होते हैं, क्योंकि अपने आरम्भक परमाणु रूप अवयवों की रचना स्वरूप हैं, जैसे घटादि पदार्थ परमाणुओं की रचना विशेष होने से चेतन अधिष्ठित है। व्यतिरेक हष्टांत में परमाणु को ले लीजिये, अर्थात् जो रचना विशेष रूप नहीं है वह चेतनाधिष्ठित भी नहीं है जैसे परमाणु रचना विशेष रूप नहीं है अतः चेतनाधिष्ठित नहीं है। दर्शन तथा स्पर्शनेन्द्रिय साह्य पदार्थ पृथ्वी जल और अग्नि ये तीन द्रव्य हैं। वायु आदिक अश्राह्य द्रव्य हैं। रूप संस्कार का अभाव होने से वायु की उपलब्धि नहीं होती है, रूप का समवाय होने को रूप संस्कार कहते हैं। द्वि अणुक आदि पदार्थ अमहत्व रूप होने से अग्राह्य होते हैं। कहा भी है महान में अनेक द्रव्यपना होने से तथा रूप विशेष होने से रूप की उपलब्धि होती है। प्रशस्तमित ने भी कहा है कि मुष्टि के प्रारम्भ में पुरुषोंका व्यवहार अन्य उपदेश पूर्वक होता है क्योंकि उत्तरकाल में प्रवृद्ध पुरुषों का अर्थ के प्रति नियमितपना देखा जाता है जैसे जिनको वचन बोलना नहीं आता है ऐसे कुमारों का गो आदि अर्थ में नियतरूप वचन व्यवहार होता है वह माता पिता के उपदेश पूर्वक होता है।

भावार्थ — बालक को शुरुश्रात में माता पिता वचन बोलना एवं वस्तु का नाम निर्देश ग्रादि सिखाते हैं कि यह गाय है इसे गाय कहना यह पुस्तक हैं इत्यादि उस शिक्षा से ही बालकों का प्रत्येक पदार्थ में निश्चित वचन व्यवहार होने लगता है, उसी प्रकार सृष्टि के शुरुआत में पुरुषों का कार्यों में प्रवृत्ति होना श्रादि व्यवहार होता है वह अन्य पुरुष के उपदेश से ही होता है इस तरह अनादि एक ईश्वर सिद्ध होता है उद्योतकर नामा टीकाकार ने भी कहा है कि जगत के कारणभूत प्रधान परमाणु तथा श्राहण्ट ये सब स्वकार्य की उत्पत्ति में श्रातशय बुद्धिमान श्रीष्ठाराता की श्रीपक्षा रखते

उद्घोतकरेण चः ''भुवनहेतवः प्रधानपरमाण्वदृष्टाः स्वकार्योत्पतावितशयवदृबुद्धिमन्तमधि-श्वितारमपेक्षन्ते स्थित्वा प्रवृत्तेस्तन्तुतृर्यादिवत् । तथा, बुद्धिमत्कारसाधिक्ष्तं महाभूतादि व्यक्तं सुख-दुःखिनिमत्तं भवत्यचेतनत्वात्कार्यत्वाद्विनाशित्वाद्वृत्तादिमत्वाद्वा वास्यादिवत् ।'' [न्यायवा० पृ० ४५७ ] हत्यनवद्यं भगवतः प्रलयकालेऽप्यलुप्तज्ञानाद्यतिशयस्य साधनम् ।

भ्रत्र प्रतिविधीयते-सावयवस्वात्कार्यस्वं क्षित्यादैः प्रसाध्यते । तत्र किमिदं सावयवस्वं नाम ? सहावयवैर्वनंत्रमानस्वम्, तैर्जन्यमानस्वं वा, सावयविधित बुद्धिविषयस्वं वा ? प्रथमपक्षे सामान्यादिना-नेकान्तः; गोत्वादि साधान्यं हि सहावयवैर्वर्तते, न च कार्यम् । द्वितीयपक्षेप्यसिद्धो हेतुः; परमाण्वाद्य-

हैं क्योंकि ये स्थित होकर कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, जैसे तन्तु (धागे) वाद्य ब्रादिक पदार्थ स्थित होकर कार्य करते हैं अतः बुढिमान अधिष्ठाता जुलाहा ब्रादि की अपेक्षा रखते हैं। दूसरा अनुमान महाभूत पृथ्वी आदि बुढिमान कारण से अधिष्ठित होकर सुख दुःख का निमित्त हुआ करते हैं, क्योंकि वे सब अचेतन हैं, कार्यक्ष हैं, नाशशील हैं, तथा रूपादिमान हैं, जैसे वसूला आदि शस्त्र चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं। इस प्रकार यहां तक अनादि ईश्वर को सिद्ध करने वाल ब्रमेकों प्रमाण बताये गये हैं उनसे भगवान ईश्वर की निर्दोष रूप से सिद्ध होती है तथा उनमें प्रलय काल में भी ज्ञान का अतिशय सर्शजपना बना रहता है, ऐसा सिद्ध होता है।

जैन — ईश्वरवादी यौग का यह कथन ग्रसत्य है, पृथ्वी ग्रादि में श्रवयवपना होने से कार्यत्व को सिद्ध करते हैं, सो प्रश्न होता है कि सावयवपना किसे कहते हैं ? ग्रवयवों के साथ रहना, श्रवयवों से उत्पन्न होना "यह सावयव है" ऐसा बुद्धि का विषय होना ? प्रथम पक्ष में सामान्य ग्रादि के साथ ग्रनेकांत दोष ग्राता है क्योंकि गोत्व ग्रादि सामान्य श्रवयवों के साथ तो रहता है किन्तु कार्य नहीं है। दूसरे पक्ष में कार्यत्व हेतु ग्रसिद्ध दोष संगुक्त होता है क्योंकि परमाणु श्रादि अवयव प्रत्यक्ष से श्रसिद्ध हैं ग्रतः उनसे पृथ्वी ग्रादि का उत्पन्न होना भी ग्रसिद्ध रहेगा किसी भी पदार्थ का कार्य कारण भाव प्रत्यक्ष ग्रौर ग्रनुषलंभ प्रमाण द्वारा जाना जाता है ग्रन्यया नहीं।

शंका — द्वचिणुक ब्रादि पदार्थ अपने से अल्प परिमाण वाले परमागुरूप कारण से किये हुए हैं, क्योंकि वे कार्य हैं, जैसे पटादिक कार्य हैं इस अनुमान से परमागु ब्रादि की सिद्धि हो जाती है ?

समाधान — इस तरह मानने से चक्रक दोष ग्राता है परमाणु के प्रसिद्ध होने पर उनसे पृथ्वी ग्रादि का उत्पन्न होना रूप सावयवत्व सिद्ध होगा ग्रौर उनके सिद्ध वयवानां प्रत्यक्षतोऽसिद्धौ कित्यादेस्तज्जन्यमानत्वस्यान्यसिद्धः। प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनस्य कार्यकारत्यः भावः। उपगुक्षादिकः स्वपरिमाणादल्यपरिमाणोपेतकारत्यार्त्रव्धः कार्यत्वात्यदादिवदित्यनुमानात्येषां प्रसिद्धः; इत्यन्यसमित्रीनम्; चक्रकससङ्गात्—परमाणुप्रसिद्धौ हि क्षित्यादेस्तैजन्यमानत्वत्रसग्रसा-वयवत्वसिद्धः, तित्वद्धौ च कार्यत्वसिद्धः, तत्त्रत्र परमाणुप्रसिद्धिरितः। महापरिमाणोपेतप्रशिवद्य-वयवत्वसिद्धः, तित्वद्धौ च कार्यत्वसिद्धः, तत्त्रत्र परमाणुप्रसिद्धिरितः। महापरिमाणोपेतप्रशिवद्य-वावयवकप्रतिपण्डोपादानेन प्रतिनिविद्यावयत्वपरिमाणोपेतकपित्रपण्डेन प्रमेकान्त्रस्य। स्वाप्रस्त्रप्रत्यस्यप्रत्यस्य प्रतिन्दिव्यावस्य क्ष्योत्यस्य प्रमाण्यात्वस्य मित्रविद्यान्यस्य स्वाप्तिक्षः स्वाप्ति व्याप्तिक्षः स्वाप्तिक्षः स्वाप्तिक्षः स्वाप्तिक्षः स्वाप्तिक्षः स्वाप्तिक्षः स्वाप्तिक्षः स्वाप्तिक्षः स्वाप्तिक्षः स्वाप्तिक्षः स्वाप्तिकः स्वापित्वः स्वाप्तिकः स्वापतिकः स्वापतिकः

होने पर कार्यस्व हेतु सिद्ध होगा फिर परमाणु की प्रसिद्धि होगी। आपने कहा कि जो कार्य होता है वह अपने से अल्प परिमाण वाले कारण से होता है, सो यह कथन महान परिणामरूप शिथिल अवयव वाले कार्पास पिण्डसे अति निविड ( धनिष्ट ) सम्बन्ध रूप अवयवों का अल्प परिमाण वाला कार्पास पिण्ड बनता हुआ दिखाई देने से अनैकान्तिक होता है, क्योंकि यहां महान परिणाम रूप कार्पास से अल्प परिमाण वाला कार्पास पिण्ड उत्पन्न हुआ है।

यौग — बलवान पुरुष के प्रयत्न से प्रेरित हाथ ग्रादि के भ्राघात से अवयवों में किया उत्पन्न होती है, उससे भ्रवयवों का विभाग होता है उस विभाग से संयोग का नाण होता है और उससे महाकार्पास पिण्ड नष्ट होता है, ग्रस्प कार्पास पिण्ड का उत्पाद तो भिन्न कारण से ही होता है, उसमें पहले तो उस पिण्ड के आरम्भक जो भ्रवयव हैं उनमें किया होती है, उस किया से संयोग विशेष होता है और उससे भ्रव्य परिमाण वाला कार्पास पिण्ड तैयार हो जाता है ?

जैन—यह विनाश और उत्पाद की प्रक्रिया का वर्णन असत् है, क्योंकि प्रमाण से ऐसी प्रतीति नहीं होती है प्रमाण से तो एक ही कार्पास द्रव्य महापरिमाण पिण्डाकार को छोड़कर अल्प परिमाण पिण्डाकार रूप से उत्पन्न होता हुआ प्रतीति में आता है। अतिशीझ पूर्व संयोग का नाश होकर नवीन पिण्ड तैयार होता है अतः भेद मालूम नहीं देता है ऐसा समाधान देना भी असंगत है इस तरह तो सभी पदार्थ क्षणिक सिद्ध हो जावेंगे क्षणिकवादी कह सकते हैं कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं उनमें अभेद का अध्यवसाय सहश अपर अपर पदार्थ के उत्पन्न होने से होता है, इस प्रकार

नास्त्रपरिमास्त्रपिण्डाकाकारतयोत्पद्धमानं प्रमास्त्रतः प्रतीयते । प्राज्ञुत्पत्ते भेदानवधारस्मात्त्रपात्त्रया प्रतीति-रित्यप्यसङ्गतम् ; सकलभावानां क्षस्त्रिकत्वानुषङ्गात् । स्रभेदाध्यवसायस्तु सहशापरापरोत्पत्तिविप्रस-म्भादित्यनिष्टसिद्धिप्रसंगत् । नाप्यागमात्परमाण्यादिप्रसिद्धिस्तत्प्रामाण्याप्रसिद्धे : ।

सावयविमिति बुद्धिविषयत्वर्माप्, ग्रात्मादिनानैकान्तिकं तस्याकार्यत्वेषि तत्प्रसिद्धेः । सावय-वार्षसंयोगान्तिरत्वयवत्वेष्यस्य तद्बुद्धिविषयत्विमस्यौपचारिकम्; तदप्यसंगतम्; तस्य निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात् परमाग्रुवत् । तदिप ह्मौपचारिकमेव स्यात् । तदेवं सावयवत्वासिद्धेः कयं ततः सित्यादेः कार्यत्वसिद्धिः ?

म्रनिष्ट तत्व की सिद्धि होने का प्रसंग ग्राता है। ग्रागम से भी परमाणु ग्रादि की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि उसमें प्रामाण्य की ग्रसिद्धि है। सावयत्व का तीसरा अर्थ किया था "सावयव है ऐसा बुद्धि का विषय होना" यह पक्ष भी आत्मादि प्रव्यों से ग्रनेकांतिक होता है, ग्रात्मादिक पदार्थ कार्यनहीं होते हुए भी सावयव हैं ऐसी बुद्धि के विषय हैं।

योग—सावयवी पदार्थों के संयोग होने से निरवयवी आत्मादि में सावयव की बुद्धि का विषयपना आ जाता है श्रतः यहां का सावयवत्व मात्र औपचारिक है।

जैन—यह बात असंगत है, आत्मा को निरवयवी मानेंगे तो परमाणु के समान उसके व्यापकत्व में विरोध आयेगा अथवा आत्मा में सावयवत्व के समान व्यापकत्व भी औपचारिक सिद्ध होगा। इस प्रकार सावयव शब्द का अर्थ सिद्ध नहीं होता है अतः उससे पृथ्वी आदि का कार्यपना कैसे सिद्ध हो सकता है ?

यौग—जो पहले असत् रूप है उसके स्वकारण का समवाय होने से अथवा सत्ता का समवाय होने से पृथ्वी आदि का कार्यपना सिद्ध होता है।

जैन—यदि ऐसी बात है तो किससे पहले ग्रस्त् थे ? कारण समवाय से पहले कहो तो कारण समवाय के समय में पहले के समान स्वरूप सत्व का अभाव था कि नहीं ? यदि अभाव था तो प्राग् इस प्रकार का विशेषण व्यर्थ होता है क्योंकि प्रथम तो यह बात होती है कि समवाय के समय में कार्य का स्वरूप से सत्त्व होना संभव है तो कारण के समान कार्य का सत्त्व भी पहले था ग्रतः कार्य में कार्यपना सिद्ध नहीं होता, जिससे कि प्राग् विशेषण अर्थवान होता, तथा दूसरी बात यह होती है कि पहले के समान कारण समवाय के समय में भी इस (कार्य) के स्वरूप सत्व का

प्रागसतः स्वकारणसम्बायात्, सत्तासमवायाद्वा तिस्विद्धिश्चेत्; कुतः प्राक्? कारण-समवायाज्येत्; तत्समवायसमये प्राणिवास्य स्वरूपसन्वस्याभावः, न वा ? प्रभावे 'प्राक्' इति विशेषणमन्यंकम् । कार्यस्य हि कारणसम्बायसमये स्वरूपेण सन्वसम्भवे तद्वस्थागिप सत्त्वे कार्यता न स्यात् । ततः प्राणित्ययंवत्स्यात् । प्राणिव तत्समवायसमयेष्यस्य स्वरूप-सत्त्वाभावे तु 'प्रसतः' इत्येवाभिभात्य्यम् । न चासतः कारणसमवायः; खरविषाणादेरि तत्प्रसंगात् । न चास्य कारणाभावान्न तत्प्रसंगः; इत्यिभावाव्यम्; श्चित्यादेरिप तदभावप्रसंगादसत्त्वाविशेषात् । श्चित्यादेः कारणोपलस्मान्न दोषः; इत्यप्यसारम्; कार्यकारणयोज्ञतन्तस्य तज्जनकत्वविरोधात् वदिमिति प्रति (वि)भागः स्यात् । न च प्रत्यक्षतः क्षित्यादेरुपलम्भोऽसतस्तस्य तज्जनकत्वविरोधात् वरविषाणवत् । न चाजनकं विषयः, उपलम्भकारणमुपलस्भविषय इत्यस्युपगमात् ।

ग्रभाव है तो उसको ग्रसत् इस प्रकार कहना होगा। ग्रसत् में कारण का समवाय होना निषिद्ध है, यदि माने तो गधे के सींग ग्रादि में भी मानना होगा। गधे के सींगादि के कारण का ग्रभाव होने से समवाय नहीं होता है, ऐसा भी नहीं कहना, इस तरह तो असत्व की ग्रविशेषता होने से पृथ्वी आदि में भी कारण समवाय का अभाव मानने का प्रसंग ग्राता है। पृथ्वी आदि का कारएा उपलब्ध होता है अतः कोई दोष नहीं है ऐसा कहना भी सार रहित है, जब कारण ग्रीर कार्य उपलब्ध होवें तब यह इसका कारण है और यह इसका कार्य है ऐसा विभाग कर सकते हैं, किंतु पृथ्वी ग्रादि के कारणों की उपलब्ध प्रत्यक्ष से नहीं होती है, ग्रसद्भूत पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान के जनक नहीं होते हैं, जैसे खरविषण नहीं होते। जो ग्रजनक है वह विषय भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो प्रत्यक्ष का कारण है वह प्रत्यक्ष का विषय होता है ऐसा आपने स्वीकार किया है।

प्राग् श्रसत् के सत्ता समवाय होने से पृथ्वी ग्रादि के कार्यत्व की सिद्धि होती है ऐसा पक्ष कहना भी पहले के समान दोष युक्त है।

यौग— इस पक्ष में पहले के समान बात नहीं है, पृथ्वी ग्रादि के कार्य ग्रौर खरिबिषाण इनमें विशेषता है, खरिबिषाण तो ग्रत्यन्त ग्रसत हैं किन्तु पृथ्वी ग्रादिक न सत् है न असत् है, वह तो सत्ता संस्वन्य से सत् है ।

जैन — यह कथन मनोरथ मात्र है सन् ग्रीर श्रसत् का एक साथ एक में ही प्रतिषेत्र नहीं हो सकता है। सत नहीं है, ऐसा कहने से सत्ता सम्बन्ध के पहले उसका प्रागभाव था ऐसा सिद्ध होता है क्योंकिन सत् का अर्थ सत्का प्रतिषेध है। ग्रसत् षांगसतः सत्तासम्बन्धेप्येतस्तवं समानम् । न समानम् ; बरश् गादेः क्षित्यादिकायस्य, विशेष-सम्मवात् । तद्वत्यन्ताऽसत् क्षित्यादिकं न सन्नाऽप्यसस्तत्तासम्बन्धात् सत् ; इत्यपि मनोदबमात्रम् स सस्वासस्वयोरेकत्रैकदा प्रतियेषविरोधात् । 'न सत्' इत्यभिधानात्तस्य सत्तासम्बन्धात्प्रागमावः स्यास्तत्प्रतियेषस्वस्यात्वादस्य, 'नाप्यसत् इत्यभिधानात्, भावः, असत्वप्रतियेषस्यप्तात्तस्य रूपान्त-रामावात् । ततोऽसदेव तदम्युपगन्तव्यम् । तन्नास्य खरश् गादेविश्वेषः ।

किन्त, सत्ता सती, प्रसती वा ? यदाऽसती; कथं तया वन्ध्यामुतयेव सम्बन्धादन्येषां सत्त्वम् ? सती चेत्स्वतः, प्रन्यसत्तातो वा ? यद्यन्यसत्तातोऽनवस्या । स्वतःचेत् पदार्थानामपि स्वत एव सत्त्वं स्यादिति व्ययं तत्परिकल्पनम् ।

एतेन द्वितीयविकल्पोप्यपास्तः। कार्यस्य हिस्वतः सत्त्वोपगमे कि तत्कल्पनया साध्यम् ? भ्रनवस्थाप्रसंगात्। तदेवं कार्यस्वासिद्धे रसिद्धो हेतुः।

नहीं है ऐसा कहों तो सद्भाव रूप वस्तु का ग्रहण होता है क्योंकि सद्भाव असत्व का प्रतिषेघ रूप है। असत्व और सत्व को छोड़कर तीसरा रूप नहीं है। ग्रतः सत्ता सम्बन्ध के पहले पृथ्वी ग्रादि असत् थे ऐसा ग्रापको मानना पड़ेगा। इस तरह पृथ्वी ग्रादि की खरविषाण से कोई विशेषता सिद्ध नहीं होती।

आप योग की सत्ता भी किस जाति की है ? असत् है कि सत् है ? यदि असत् है तो बन्ध्या पुत्र के समान उसके सम्बन्ध से अन्य में सत्य कैसे आयेगा ? अर्थात् नहीं आ सकता है। यदि सत् है तो स्वतः सत् है या अन्य से सत् है ? "अन्य से सत् है" तो अनवस्था आती है और स्वतः ही सत् है तो पृथ्वी आदि पदार्थों में भी स्वतः सत्य होना चाहिये इस तरह सत्ता समवाय की कल्पना करना व्यर्थ हो जाता है।

णुरू में प्रश्न हुआ था कि पृथ्वी आदि में कारण समवाय के समय स्वरूप सत्व का अभाव है कि नहीं सो इसमें अभाव का पक्ष समाप्त हुआ, अब "अभाव नहीं है" ऐसे दूसरे विकल्प में विचार करें तो प्रथम पक्ष के समान इसमें भी दोध हैं क्योंकि पृथ्वी आदि में कारण समवाय के समय स्वरूप का सत्व है तो स्वतः सत्व रूप उन पदार्थों में कारण समवाय अथवा सत्ता समवाय की कल्पना करते से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? उल्टा अनवस्था दोष का प्रसंग प्राप्त होता है, इस प्रकार पृथ्वी आदि में कार्यत्व सिद्ध होता है । किंच, पृथ्वी आदि को कर्षांचित् कार्यत्व हेतु में असिद्ध दोष सिद्ध होता है । किंच, पृथ्वी आदि को कर्षांचित् कार्यत्व रूप मानते हैं या सर्वथा ? सर्वथा कहो तो वही

किञ्च, कथञ्चित्कार्यस्व क्षित्यादेः, सर्वथा वा ? सर्वथा चेत्पुनरप्यसिद्धस्वं द्रव्यतोऽशेषार्था-नामकार्यस्वात् । कथञ्चित् चेद्विरुद्धस्वम्; सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वात्साध्याद्विपरीतस्य कथञ्चिद्बुद्धि-मन्निमित्तत्वस्य साधनात ।

धनैकान्तिकं च ग्रात्मादिभिः; तेषां बृद्धिमन्तिमित्तत्वाभावेषि तत्सम्भवात् । कथञ्चिदय-कार्यत्वे चैतेषां कार्यकारित्वस्याभावस्तस्याञ्कत् कपत्यायेन कर्तृ रूपोपादानाविनाभावित्वात् । तत्त्या-गोपादानयोहचैकरूपे वस्तुन्यसम्भवात्सिद्धं कथित्वत् कार्यत्वं तेषाम् । कत्त् "त्वाकत्त्र्" त्वरूपयोरात्मा-दिम्योऽर्यान्तरत्वान्न तद्विनाशोत्पादाम्यां तेषामि तथाभावो यतः कार्यत्वं स्यात्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्, तयोस्ततोऽर्यान्तरत्वे सम्बन्धासिद्धिन्नसङ्कात् । समवायादेश्च क्रतोत्तरत्वादित्यव्यमत्तिन्नसङ्कोत् ।

हेरवाभास का प्रसंग होगा क्योंकि द्रव्य रूप से सभी पदार्थों को स्रकार्य रूप (कथंचित् कार्यरूप) माना है ऐसा कहो तो विरुद्ध हेत्वाभास होगा, क्योंकि पृथ्वी स्नादि सर्वथा बुद्धिमान निमित्तक है ऐसा आपका साध्य था किंतु हेतु उससे विपरीत कथंचित् बुद्धिमान निमित्तक हो ऐसा आपका साध्य था किंतु हेतु उससे विपरीत कथंचित् बुद्धिमान निमित्तक को सिद्ध कर रहा है। यह कार्यर्व्य हेतु स्नत्नकांतिक दोष युक्त भी है, आरमा स्नादि पदार्थ बुद्धिमान निमित्तक नहीं होकर भी कार्य हैं। यदि आरमादि को कथंचित् रूप से भी कार्य स्वरूप नहीं मानेंगे तो वे कार्यकारी नहीं रहेंगे। कार्यकारी पदार्थ तो वे ही होते हैं जो अपन सकर्नृत्व का परित्याग कर कर्नृत्व को धारण करते हैं सर्वथा एक रूप वस्तु में स्रकर्नृत्व त्याग और कर्नृत्व ग्रह्मा रूप परिएामन असंभव होने से आरमा आदि पदार्थों में कथंचित् कार्यत्व है ऐसा सिद्ध होता है।

शंका – भ्रात्मा भ्रादि पदार्थों में जो कर्तृत्व भ्रीर अकर्तृत्व रूप होता है वह उनसे पृथक् है श्रतः उनके उत्पाद भ्रीर नाश से आत्मादि का भी उत्पाद भ्रादि होने का प्रमंग नहीं श्राता, इसलिये श्रात्मादि में कार्यत्व सिद्ध नहीं होता है।

जैन-यह कथन श्रद्धामात्र है, कर्तृत्व ग्रादि से ग्रात्मादि को पृथक् मानेंगे तो उनका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा समवाय सम्बन्ध ग्रादि के विषय में पहले कह चुके हैं, ग्रव ग्रतिप्रसंग से बस हो।

दूसरी बात यह है कि "बुद्धिमान कारण है" इस शब्द में मतुप् प्रत्यय अर्थ वाला साध्य का विशेषण अनुपपन्न है। क्योंकि बुद्धिमान से बुद्धि भिन्न है कि श्रमिन्न है ? दोनों पक्ष में से पहली बात माने कि बुद्धि बुद्धिमान से सर्वेषा भिन्न है तो "बुद्धिमान की बुद्धि है" ऐसा संबंध सिद्ध नहीं होता है। तथा बुद्धि बुद्धिमान का गुए। बुद्धिमत्कारण्मित्यत्र च मत्वर्षस्य साध्यविषेषणस्यानुपपत्तिः। बुद्धिमतो हि बुद्धिव्यंतिरिक्ता वा, भ्रव्यतिरिक्ता वा ? तत्र तस्यास्ततो व्यतिरेकैकान्ते तस्येति सम्बन्धस्याभावः। सा हि तस्य तदगुणत्वात्, तत्समवायाद्वा, तत्कायंत्वाद्वा, तदाधेयत्वाद्वा स्यात् ? न तावन्तदगुणत्वात्सा तस्येत्यभिभा-तव्यम्, ततो व्यतिरेकैकान्ते सा तस्यंव गुणो नाकाशादेरिति व्यवस्थापिनुमशक्तेः। नािप तत्सम-वायात्; तस्यैवासम्भवात्। सम्भवे वा तस्य ताम्यां भेर्दकान्ते व्यवस्थापकत्वायोगात्सर्वत्राविशेषाच्च । तत्कार्यत्वासम्भवात्। सम्भवे वा तस्य तस्य तस्य तिक्षान्तात् आकाशादौ प्रसङ्गः। तद्वभोवत्व-स्वाचाच्चेकः, नित्यव्यापित्वाम्यां तस्य तदयोगात्। तदायेयत्वात्ता तस्येति चेत्; क्रानम्युपगमात्। सम्बन्ध-मात्रेण वर्तानं चेत्; तर्हि षटादेभू तलादिगुणत्वप्रसङ्गः, सम्बन्धमात्रेण वर्त्तामानस्य तस्य तद्ययेत्व-सम्भवात्।

होने से उसको कहलाती है या उसमें समवाय होने से, उसका कार्य होने से, अथवा उसका ग्राधेय होने से उसकी कहलाती है ? बुद्धि बुद्धिमान का गूण होने से उसकी कहलाती है ऐसा प्रथम विकल्प नहीं मान सकते क्योंकि बुद्धिमान से सर्वथा भिन्न उस बुद्धि को बुद्धिमान का ही गुण है स्राकाशादि का नहीं है इस प्रकार व्यवस्था करना भ्रमन्य है। उसमें समवाय होने से बद्धिमान की वद्धि कहलाती है, ऐसा द्वितीय विकल्प भी समवाय का ग्रसंभव होने से ठीक नहीं है। संभावना हो भी जाय तो उसका बुद्धि और बुद्धिमान से सर्वथा भेद होने के एवं सर्वत्र अविशेष रूप से व्यापक होने के कारण यह इस बुद्धिमान की बुद्धि है ऐसा व्यवस्थित नहीं होता है। बुद्धि बृद्धिमान कार्य होने से उसकी कहलाती है ऐसा तीसरा पक्ष कहें तो बृद्धिमान का कार्य बुद्धि है यह किस हेतु से सिद्ध होगा ? उसके होने पर होना रूप हेतु से कहो तो श्राकाशादि हेतु चला जाता है। उसके न होने पर नहीं होना रूप हेतू द्वारा बुद्धि बुद्धिमान का कार्य है ऐसा सिद्ध होता है इस तरह कहना भी गलत है, क्योंकि नित्य . और व्यापक होने से इसके न होने पर नहीं होता ऐसा बुद्धिमान में घटित नहीं हो सकता है। उसका आधेय होने से बुद्धि बुद्धिमान की कहलाती है ऐसा कहो तो बताइये कि उसका ग्राधेयपना क्या है ? समवाय से बुद्धिमान में रहना तदाधेयत्व है ऐसा कहना शक्य नहीं क्योंकि इस विषय में उत्तर दे चुके हैं । तादात्म्य रूप से रहना तदावेयत्व है ऐसा कहना भी भ्रशक्य है क्योंकि यौग के यहां तादात्म्य को नहीं माना है । सम्बन्ध मात्र से रहना तदाधेयत्व है, ऐसा कहो तो घट स्नादि पदार्थ भूमि म्नादि ' किश्व, व्याप्त्या तेनास्यास्तत्र वर्शनम्, प्रव्याप्त्या वा ? न ताबहुघाप्त्याः प्रात्मविशेषगुण्-त्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवत्। परममहापरिमाणेन व्यभिचारःः इत्ययुक्तम्ः तत्र विशेषगुण्त्वाभावात्। नन्वेवमस्मदादिबुद्ध्यादौ सक्लार्थयाहित्वाभावो द्धः सोषि तत्र स्यादिति चेत्ः प्रस्तु नाम, द्धान्ते व्याप्तिदर्शनमात्रात्सवंत्र साध्यसिद्धं भवताभ्युगगमात्। कथमन्यया प्रकृतसिद्धिः ? यथा चास्मदादिबुद्धि वैलक्षण्यं तद्बुद्धं रदष्टं परिकल्प्यते तथा घटादौ कर्मकत् करण् निवंत्यंकार्यत्वं दष्टं वने वनस्पत्यादिषु चेतनकत्त्रं रहितमिष स्यादित्यतैव्यंभिचारो हेतोः। ग्रथाऽव्याप्त्याः तर्हि देशान्तरोत्पत्तिमस्कार्येषु कथं तस्या व्यापारः ग्रसिक्षमानात् ? तथाषि व्यापारेऽद्धस्याप्यग्यादिदेशेऽसिन्नहितस्योध्यंव्यवनादिहेतुता

के गुण कहलाने लगेंगे क्योंकि सम्बन्ध मात्र से रहना रूप तदाधेयत्व घटादि में भी पाया जाता है।

किंच, बुद्धिमान में बुद्धि रहती है वह समस्त रूप से व्यापक होकर रहती है प्रथवा असमस्त रूप से ? समस्त रूप से रहना शक्य नहीं, क्योंकि वह आत्मा का विशेष गुण है, जैसे—हमारे बुद्धि आदि गुण होते हैं। जो विशेष गुण होता है वह अव्यापक होता है ऐसा माने तो परम महापरिणाम के साथ व्यभिचार आता है ऐसो आशंका करना भी अयुक्त है, क्योंकि परम महापरिणाम में विशेष गुणत्व का अभाव है।

यौग-हमारी बुद्धि में समस्त रूप से रहना रूप विशेषता नहीं है धतः ध्रन्य के (ईश्वर की) बुद्धि में भी वह विशेषता नहीं है, इस तरह घटित करेंगे तो हमारी बुद्धि में सकलार्थ ग्राहित्व नहीं है अतः ईश्वर में भी नहीं है ऐसा विपरीत ध्रर्थ सिद्ध होवेगा ?

जैन-यह आपित ग्रापको है क्योंकि ग्रापने हष्टांत में व्याप्ति को देखने मात्र से सर्वत्र साध्य की सिद्धि हो जाया करती है ऐसा माना है अन्यथा प्रकृत बुद्धिमत्कार-णत्व की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है १ यदि ग्राप हमारे जैसे सामान्य पुरुषों की बुद्धि से ईश्वर की बुद्धि में विलक्षणता है ऐसा बिना देखे स्वीकार करते हैं तो घट ग्रादि में कर्ता, कर्म, करण द्वारा कार्यत्व देखा जाता है िक्नु बन में वनस्पित ग्रादि में चेतन कर्ता से रहित कार्यत्व होता है ऐसा स्वीकार करना होगा। इस प्रकार कार्यत्व हेतु इनके द्वारा व्यभिचरित होता है। बुद्धिमान में बुद्धि असमस्तपने से रहती है, ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो देशदेशांतरों में उत्पन्न शील कार्यों में उस श्रव्यापक बुद्धि

स्यादिति-"ग्रानेरूप्त्रंज्वलनम्" [ प्रशः व्यो० पृ॰ ४११ ] इत्याद्याराससर्वगतत्वसाघनमगुक्तम् । प्रथ्यतिरेक्षेकान्ते चात्ममात्रं बुद्धिमात्रं वा स्यात्, तत्कयं मत्वर्षः ? न हि तदेव तेनैव तद्वद्भृदति ।

किन्त, स्रसौ तद्बुद्धिः क्षांणका, स्रक्षाणका वा ? यदि क्षांणका; तदा तस्याः कयं द्वितीयक्षणे प्रादुर्भावः कारण्वयाधीनत्वात्तस्य ? न चेरवरेऽसमवायिकारणमात्ममनःसंयोगस्तच्छ्ररीरादिकं च निमित्तं कारण्यसित् । कारण्ययाभावेष्यस्मदादिबुद्धिवैत्तक्षण्यात्तस्याः प्रादुर्भवि क्षित्यादिकार्यस्य घटादिकार्यवैत्वक्षण्याद्बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाप्युत्पत्तिः किन्न स्यात् ? महेश्वरबुद्धिवच्च मुक्तात्मनाम-प्यानन्वादिकं शरीरादिनिमित्तकारणमन्तरेणाप्युत्पत्यत इति कथं बुद्ध्यादिविकलं जडात्मस्वरूपं मुक्तिः स्यात् ?

का असिन्नधान होने से किस प्रकार व्यापार होगा श असिन्नधान होते हुए भी व्यापार कर सकती है तो अपिन आदि के देश में असिनिहित रहकर अट्टर भी ऊर्ध्वंज्वलनादि का हेतु हो सकता है। इस तरह असीनिहित पदार्थ में कार्यटव मानने पर आत्मा को सर्वगत सिद्ध करने के लिये दिये गये हेतु अयुक्त ठहरते हैं। बुद्धिमान से बुद्धि सर्वथा अपृथक् है ऐसा एकांत कहेंगे तो केवल आत्म तत्व का अस्तित्व, या केवल बुद्धि तत्त्व का अस्तित्व रह जाने से बुद्धिमान इस प्रकार का मतुप् प्रत्यय का अर्थ किस प्रकार सिद्ध होगा श वही पदार्थ उसीसे तद्धान नही कहलाता है।

दूसरी बात यह है कि बुद्धिमान ईश्वर की बुद्धि क्षणिक है या अक्षणिक १ क्षणिक माने तो द्वितीय क्षण में कैसे उत्पन्न हो सकेगी क्योंकि उत्पन्ति तीन कारणों के (समवायी कारण, श्रसमवायी कारण, श्रीर निमित्त कारण) ग्रधीन है ईश्वर में इन कारणों में से श्रात्मा श्रीर मन का संयोगरूप श्रसमवायी कारण तथा शरीरादि रूप निमित्त कारण तथा शरीरादि रूप निमित्त कारण नहीं होता है। ईश्वर की बुद्धि शस्मदादि की बुद्धि से विलक्षण होने के कारण तीन कारणों के श्रभाव में भी उत्पन्त होती है ऐसा कहें तो घटादि कार्य से विलक्षण ही पृथ्वी श्रादि कार्य हैं अतः वे बिना बुद्धिमान निमित्त के उत्पन्त हो जाते हैं, ऐसा भी क्यों न माना जाय १ तथा जैसे महेश्वर में कारण के बिना क्षण-क्षण में बुद्धि उत्पन्त होती है, वैसे अन्य मुक्तात्माश्रों के श्रानंदादिक गुण शरीरादि निमित्त कारण के बिना ही उत्पन्त हो सकेंगे। ईश्वर की बुद्धि को अक्षणिक मानने के पक्ष में भी दोष है, शब्द क्षणिक है क्योंकि वह हम जैसे के प्रत्यक्ष होने पर "विश्व द्वव्य का विशेष गुण है" जैसे सुल आदिक। इस श्रनुमान में इसी बुद्धि द्वारा हेतु की श्रनैका-

श्रयाऽश्वरिणका तद्बुद्धिः। नन्वत्रापि 'क्षिणकरशब्दोस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विश्वद्रव्यविशेष-गुराल्वात् सुखादिवत्' इत्यत्रानुमानेऽनयैव हेतोरनेकान्तोऽस्या इव विश्वद्रव्यविशेषगुरालेऽन्यस्यास्मदादि-प्रत्यक्षत्वेपि नित्यत्वसम्भवात्। तथा 'क्षारिणका महेरवरबुद्धिबुं द्वित्वादस्मदादिबुद्धिवत्' इत्यनुमानविरो-धश्च। श्रय बुद्धित्वाविशेषेपि ईशास्मदादिबुद्धघोरक्षारिकत्वेतरलक्षराो विशेषः परिकल्पने तथा घटादिक्षित्यादिकार्ययोरप्यकन्त् कन्त्' पूर्वकत्वलक्षराो विशेषः किन्नेध्यते ? तथा च कार्यत्वादिहेतोर-नेकान्तः। तदेवं बुद्धिमत्त्वासिद्धेः कथं तत्काररात्वेत कार्यत्वं क्याप्येत ?

मस्तु वाऽविचारितरमणीयं बुद्धिसत्कारणत्वव्याप्तं कार्यत्वम्, तथाप्यत्रः याद्यभूतं बुद्धिम-त्कारणत्वेनाऽभिनवकूपप्रासादादौ व्याप्तं कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं यदक्रियाद्यिनोपि जीर्णकूपप्रा-

न्तिकता होती है, क्योंकि बुद्धि के विश्व द्रव्य गुएत्व और अस्मवादि प्रत्यक्षत्व होने पर भी नित्यपना संभव है। बुद्धि को अक्षणिक मानने में दूसरे अनुमान से भी विरोध स्राता है-महेश्वर की बुद्धि क्षणिक है, क्योंकि वह बुद्धिरूप है, जैसे हम लोगों की बुद्धि है।

योग-ईश्वर श्रोर हमारी बुद्धि में बुद्धिपना समान हो किन्तु ईश्वर की बुद्धि नित्य ग्रीर हमारी बुद्धि श्रनित्य है ऐसा विशेष माना गया है ?

जैन-ऐसा ही घटादि में श्रौर पृथ्वी आदि में कार्यत्व तो समान है किन्तु एक कर्ता सहित है श्रौर एक कर्ता रहित है ऐसा विशेष भी क्यों नहीं माना जाय ? इस तरह कार्यत्व हें, अनैकांतिक सिद्ध होता है । इस तरह बुद्धिमानपना ही श्रसिद्ध है तो उसके निमित्त से होने वाला कार्य भी असिद्ध है, अतः बद्धिमान कारण रूप साध्य के साथ पृथ्वी आदि कार्य रूप हेतु की व्याप्ति किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ?

श्राप के श्राप्रह से अविचारितरमणीय ऐसा कार्यत्व हेतु बुढिमान कारणत्व के साथ व्याप्त है ऐसा मान भी लेवे तथापि जिस प्रकार का कार्यपना नये कूप प्रासाद प्रादि में बुढिमान कारणत्व के साथ व्याप्त होता हुआ प्रमाण से सिद्ध है जो कि जीएाँ कूप प्रासादादि में अक्रियादर्शी होने पर भी लौकिक एवं परीक्षक पुरुषों को कृतकपने की बुढि उत्पन्न कराता है, उस प्रकार की व्याप्ति पृथ्वी भ्रादि में दिखायी नहीं देने से हेतु असिद्ध ही रहता है। इस कार्यत्व हेतु को सिद्ध मानें तो भी जैसे जीएाँकूप महल आदि में रचना को नहीं देखने पर भी किये हुए हैं ऐसी बुढि होती है वैसे पृथ्वी, बुक्ष ग्रादि में कृतकपने की बुढि होनी चाहिये रे जो धर्म स्वभाव से

साचादी लौकिकेतरयोः कृतबुद्धिजनकं ताहम्भूतस्य क्षित्यादावसिद्धे रसिद्धो हेतुः। सिद्धौ वा जीर्ग्य-कृपप्रासादादाविवाऽक्रियादाँचानीप कृतबुद्धिप्रसङ्गः। न च प्रकृत्याऽत्यन्तिभिक्षोपि धर्मः शब्दमात्रेगा-भेदी हेतुत्वेनोपादीयमानोऽभिमतसाध्यसिद्धये समर्थो भवत्यन्यत्राप्यस्याविरोधेनाशङ्काऽनिवृत्येः। यथा वल्मीके धर्मिण् कृम्भकारकृतत्वसिद्धये मृद्धिकारत्वमात्रं हेतुत्वेनोपादीयमानम्।

नन्वेतत्कार्यसमं नाम जात्युत्तरम् । तदुक्तम्-"कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शनं तत्कार्यसमम्" [ ] इति । प्रस्य चासदुत्तरत्वान्नातः प्रकृतसाध्यसिद्धित्रतिबन्धोऽन्यया सकलानुमानोच्छेदः। शब्दानित्यत्वे हि साध्ये कि घटादिगतं कृतकत्वं हेतुत्वेनोपादीयते, कि वा शब्दगतम्, उभयगतं वा ? प्रथमपक्षे हेतोरसिद्धिः; न ह्यन्यगतो धर्मोऽन्यत्र वर्तते । द्वितीये तु

मत्यन्त भिन्न है शब्द मात्र से अभेद रूप है उसको हेतु रूप से ग्रहरा किया जाने पर अभिमत साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इसका अन्यत्र (विपक्ष में) रहने में विरोध नहीं होने के कारण शंका की निवृत्ति नहीं हो पाती । जिस प्रकार वत्मीक को पक्ष बनाकर उसमें कुंभकार कृतकत्व साध्य को सिद्ध करने के लिये मृद् विकारत्व को हेतु रूप से ग्रहण करने पर अभिमत सिद्धि नहीं होती है।

भावार्थ-सर्प की बामी, कुम्भकार ने की है, क्योंकि मिट्टी का विकार स्वरूप है, इस श्रनुमान में मृद्विकारत्व को [ मिट्टी का विकारपना ] हेतु बनाया है किन्तु इसमें यांका रहती है कि यह घट के समान कुम्भकार कृत है श्रथवा अन्य प्राणी कृत है, वैसे ही कार्यत्व हेतु में शंका रहती है।

यौग-इस तरह कार्यत्व हेतु को सदोप ठहराना गलत है, यह तो कार्य सम नामा जात्युत्तर है, इसका लक्षण बताया है कि कार्यत्व का थोड़ा सा ग्रन्यपना दिखा-कर साध्य की श्रसिद्धि दिखाना कार्य समनामा जाति है "असदुत्तरं जातिः" असत् जत्तर को जाति दोष कहते हैं, ग्रतः इसके द्वारा प्रकृत साध्य की सिद्धि में प्रतिबंध नहीं हो सकता, अन्यथा संपूर्ण अनुमानों का उच्छेद होवेगा। इसी को बतलाते हैं— शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है, इस अनित्यत्व साध्य में कृतकत्व को हेतु रूप से ग्रहण किया गया है वह कृतकत्व घटगत वमं है या शब्दगत धमं है श्रथवा उभयगत धमं है ? प्रथम पक्ष कहे तो हेतु श्रसिद्ध होता है, क्योंकि अन्यगत धमं ग्रन्थ में नहीं रहता है। साधनविकली दृष्टान्तः । तृतीयेप्युभयदोषानुषङ्कः; इत्यप्यसारम्; कारणमात्रजन्यतालक्षणस्य कृतक-त्वस्य विपक्षे बाधकप्रमाणवलादनित्यत्वमात्रव्याप्तत्वेनाऽवधारितस्य शब्देप्युपलम्भात् तत्रोक्तदूषण्-स्यासदुत्तरस्वाध्वात्युत्तरत्वत्र । न वैवं कार्यसामान्यं वृद्धिमत्कारण्यत्वमात्रव्याप्तं क्षित्यादावुपलम्यते, विपक्षे बाधकप्रमाणामावेन सन्दिग्धानैकान्तिकत्वात्तस्य, अन्यवाऽक्रियादिशिनीणि कृतबुद्धिप्रसङ्कः। यदि च घटादिलक्षरणं विशिष्टकार्यं तन्मात्रव्याप्तं प्रतिपद्याऽविशिष्टकार्यस्यापि क्षित्यादेस्तत्यूर्वकत्वं साध्यते; तर्हि पृथ्वीलक्षणभूतस्य रूपरसगन्धस्पर्शवन्त्वं प्रतिपद्यं भूतत्वादेव वायोरणि तत्साध्यत।म् । प्रषाऽत्र प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधः, सोन्यत्रापि स्मानः।

दूसरा पक्ष कहें तो हष्टांत साधन विकल बनता है, प्रर्थात् घट हष्टांत में शब्दगत कृतकत्व धर्म नही पाया जाता उभयगत कृतकत्व धर्म को हेतु माने तो उभय पक्ष के दोष ग्रावेंगे।

जैन-यह कथन असार है कारण मात्र से उत्पन्न होना है लक्षण जिसका ऐसा कृतकपना विपक्ष में बाधक प्रमाण होने के कारण प्रनित्यत्व के साथ ही ब्याप्त है। इस प्रकार अनित्य के साथ जिसकी ब्याप्त निष्कत हो चुकी है उस कृतकत्व की शब्दों में भी उपलब्धि पायी जाती है, उसमें पूर्वोक्त दूषण देना असत् है। अतः इसमें प्रमत् उत्तर होने से जात्युत्तर दोध युक्त है, किन्तु ऐसा कार्यत्व हेतु में नहीं है, कार्य सामान्य बुद्धिमान कारण मात्र के साथ ब्याप्त होता हुआ पृथ्वी आदि में उपलब्ध नहीं होता है क्योंकि विपक्ष में बाधक प्रमाण का अभाव होने से कार्यत्व हेतु सन्दिष्ध अनीकार्तिक होता है, अन्यथा पृथ्वी आदि पदार्थों में भी अक्रियादर्शी होने पर कृत बुद्धि उत्पन्न होने का प्रसंग ग्राता है। यदि घटादि लक्षणभूत विशिष्ट कार्य की अक्रियादर्शी पुष्प के कृत बुद्धि उत्पादक के साथ ब्याप्ति होती हुई देखकर अविशिष्ट कार्यभूत पृथ्वी ग्रादि में भी उस ब्याप्ति को सिद्ध किया जाय तो पृथ्वी क्ष्य भूत में रूप, रस, गंध ग्रीर स्पर्शवानपने की ब्याप्ति देखकर उसी भूतत्व हेतु द्वारा वायुरूप भूत में स्पर्शादि चारों की ब्याप्ति सिद्ध करनी चाहिंगे। यदि कहा जाय कि वायु में रूपादि को मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधा ग्राती है।

पहले कहा था कि व्युत्पन्न बुद्धि वालों को कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं होता है सो वह अुक्त है, व्युत्पन्न पुरुषों की व्युत्पत्ति अविनाभाव सम्बन्ध को जानन रूप होती है, अथवा इससे अतिरिक्त कोई होती है ? प्रथम पक्ष कहो तो प्रकृत साध्य यदप्युक्तम्-चृरपन्नप्रतिपत्तीरां नासिद्धत्वं कार्यत्वादैः; तदप्ययुक्तम्, यतः प्रतिबन्धप्रतिपत्ति-लक्षत्याः व्युत्पत्तिस्तेवाम्, तद्वधितिरिक्ताः वा स्यात् ? प्रथमपक्षे क्षित्यादिगतकार्यत्वादौ प्रकृतसाध्य-साधनाभिप्रेते व्युत्पर्यसम्भवः, यथोक्तसाध्यव्याप्तस्य तत्र तस्याभावात् । भावे वा सशरीरस्यास्मदादी-न्द्रियशाह्यस्यानित्यबुद्धधादिधमंकलापोपेतस्य घटादौ तद्वधापकत्वेन प्रतिपन्नस्यात्र ततः सिद्धिः । न स्रतु हेतुव्यापकं विद्यायाच्यापकस्यात्यन्तविलक्षणसाध्यक्षमंस्य धर्मिण् प्रतिपत्तौ हेतोः सामर्थ्यम् । कारस्यमात्रप्रतिपत्तौ तु सिद्धसाध्यता ।

ननु बुद्धिमत्कारण्मात्रं ततस्तत्र सिध्यराक्षधमेतावलाद्विशिष्टविशेषाधारमेव सेत्स्यति, तिर्विशेषस्य सामान्यस्यासम्भवात् घटादौ प्रतिवक्षस्य वास्मदादेस्तक्षिमाँणासामर्थ्यात् । नन्वेवं क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारण्यवासिद्धिरेव स्यादस्मदादेस्तिक्षमींणासामर्थ्यादन्यस्य च हेतुब्यापकत्वेन कदाचनाप्यप्रतिपत्तेः सरविषाणवत्, निराधारस्य च सामान्यस्यासम्भवात् । न हि गोत्वाधारस्य सण्डादिक्यक्तिविशेषस्यासम्भवे तद्विलक्षण्यसिद्ध्याद्याश्चितं गोत्वं कृतश्चित्रद्यिति ।

साधन भूत पृथ्वी ब्रादि में पाये जाने वाले कार्यत्वादि में व्युत्पन्त बुद्धि होना असंभव है, यदि संभावना मानेंगे तो सजरीरी अस्मदादि इन्दिय ग्राह्म, अनित्य बुद्धि वाला इत्यादि, धर्म समूह से युक्त ऐसे कार्यत्व का घटादि में व्यापकपना जानकर उसकी इस पृथ्वी ब्रादि में सिद्धि होगी, अर्थात् घटादि के समान पृथ्वी ब्रादि का कर्ता भी सशरीरी ब्रादि धर्म युक्त सिद्ध होगा । क्योंकि हेतु में ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वह व्यापक को छोड़कर अत्यन्त विलक्षण ऐसे अव्यापक धर्मभूत साध्य की धर्मी में प्रति-पत्ति करा देवे । यदि कहा जाय कि कार्यत्व हेतु कारण मात्र की प्रतिपत्ति कराता है तो सिद्ध साध्यता है ।

यौग-कार्यत्व हेतु द्वारा प्रथम तो बृद्धिमान कारण मात्र की सिद्धि होती है फिर उसके पक्ष धर्मता के बल से विशिष्ट विशेषाधार (ईण्डर रूप बृद्धिमान कारणत्व) सिद्ध होगा, क्योंकि विशेष रहित सामान्य का होना असंभव है। घटादि में पाया जाने वाला कार्यत्व तो अस्मदादि का है, अस्मदादि से उस पृथ्वी आदि का निर्माण कार्यं नहीं हो सकता ?

जैन-ऐसा मानेंगे तो पृथ्वी आदि में बृद्धिमान कारणत्व का ग्रभाव हो ही जायगा क्योंकि ग्रस्मदादि में तो उन पृथ्वी ग्रादि के निर्माण करने की शक्ति नहीं है ग्रीर ग्रन्य जो ग्रशरीरी ईश्वर है उसकी हेतु के व्यापकपने से कभी भी प्रतीति नहीं

होती जैसे कि खरविषाण की नहीं होती। तथा निराधार सामान्य का होना भी ग्रसंभव है, क्योंकि गोत्व सामान्य के ग्राघार भत खंडादि व्यक्ति विशेष का ग्रसंभव होने पर उससे विलक्षण महिष आदि में गोत्व सामान्य ग्राश्रित रहता हम्रा किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। यदि पथ्वी ग्रादि का कर्ता हम जैसा है कि ग्रन्य प्रकार का है इत्यादि विशेषका विचार न करके सामान्य से कोई एक कर्ता है ऐसा अनुमान से सिद्ध करना चाहते हैं तो चेतन ग्रीर अचेतन ऐसे विशेष कारगों को छोड़कर सामान्य से पृथ्वी ग्रादि का कोई कारण मात्र है (परमारा आदिक) ऐसा क्यों न माना जाय ? जैसे सामान्य धम को देखकर सामान्य ही श्रम्नि का अनुमान होना मानते हैं। पीत आदि धर्म से संयुक्त जिस प्रकार की अग्नि को कण्ठ और नेत्र में पीडा पहुंचाने वाले तथा सफेद ग्रादि धर्म युक्त धुम सामान्य के साथ महानसादि स्थान पर प्रमाण द्वारा सर्वोपसंहार रूप व्यापकपने से ज्ञात किया था उसी प्रकार की ग्रम्नि को ग्रन्य स्थान पर भी ज्ञात करते हैं, अतः सामान्य हेतू से ग्रत्यन्त विलक्षण का ग्रनुमान नहीं होता, क्योंकि इसमें केवल व्यक्ति के सम्बन्धीपने का भेद रहता है। तथा यह व्यक्तियों का भेद भी ग्रात्यन्तिक भेद नहीं हुआ करता, क्योंकि महानसादि के समान पर्वतादि व्यक्तियों में भी दृश्यता स्वीकार की गयी है। विशेष कर्ता के बिना विशेष कार्य उपलब्ध नहीं हो सकता, अतः सामान्य कार्य को विशेष कर्ता का अनुमापक मानना ग्रयुक्त है। सामान्य कार्य तो सामान्य कारण के साथ ही अविनाभावी हुआ करता है, जैसे सामान्य धुम सामान्य मन्ति का भविनाभावी होता है। जो घटादि विशेष कार्य होता है उसका विशेष कारण के साथ श्रविनाभाव निश्चित होता है, जैसे चंदन संबंधी तरकालबन्धानिनामावोपसम्भाद् धूमवटिकादौ तन्मात्रं तत्कालबन्धानुमापकं स्थात्। अप्य तत्र सत्कालबन्धानुमाने प्रत्यक्षविरोधः; सोऽकृष्टजाते भूक्हादौ कत्रंऽनुमानेषि समानः। तत्कर्षुं रतीन्द्रिय-स्वात्तद्विरोधे धूमघटिकादौ बह्ने रप्यतीन्द्रियत्वास्त्रोस्तु। आस्वररूपसम्बन्ध्ययविद्वव्यत्वान्नाती-निद्वसत्वं तस्येति चेत्; एतदेव कुतोऽवस्तित्य ? महानक्षादौ तथाश्रुतस्यास्योपनम्भाच् तुः तिह सित्या-विकर्तः। शरीरसम्बन्धिनोऽतीन्द्रियत्वं मा श्रृत्कृम्यकारादौ तथाश्रुतस्यास्योपनम्भात्।

ननु बृक्षसालामङ्गादौ पिलाचादिः, स्वशरीरावयवश्ने रखे चात्माऽशरीरोऽपि कर्त्तोपलब्धः; इत्यप्यसुन्दरम्; पिलाचादेः शरीरसम्बन्धरहितस्य कार्यकारित्वानुपपरोर्मु कात्मवत् । तत्सम्बन्धेनैव हि

विशेष धुम का विशेष अग्नि के साथ अविनाभाव निश्चित होता है। इस प्रकार सामान्य कार्य सामान्य कारण का और विशेष कार्य विशेष कारण का अनुभाषक होता है ऐसा सिद्धांत निश्चित होता है, फिर भी सामान्य कार्य को विशेष कारण का अनुभाषक माना जायगा तो महानसादि में विशेष धूम तत्काल में अग्नि का अविनाभावी होता हुआ देखकर गोपाल घटिकादि में सामान्य धूम तत्काल में अग्नि का अनुमापक होने लगेगा।

यौग—गोपाल घटिका में तत्काल ग्राग्नि का अनुमान होने में प्रत्यक्ष से विरोध ग्राता है।

जैन—स्वयं उगने वाले बृक्षादि में कर्ता का ब्रमुमान लगाने में भी प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

यौग-चुक्ष आदि का कर्ता अतीन्द्रिय है अतः कर्ता को सिद्ध करने वाले अनुमान में प्रत्यक्ष विरोध नहीं आता है।

जैन-तो गोपाल घटिकादि में होने वाली ग्रानि भी अतीन्द्रिय है अतः उसको सिद्ध करने वाले श्रनुमान में प्रत्यक्ष विरोध नहीं ग्राता है, ऐसा मानना चाहिये।

यौग-ग्रन्नि भासुर रूप वाला अवयवी द्रत्य है अतः अतीन्द्रिय नहीं है।

जैन–यह कैसे जाना ? महानस झादि में उसी प्रकार की ब्रग्नि देखी है, ऐसा कहो तो पृथ्वी झादि का कर्ताभी शरीर का सम्बन्ध करने वाला होने से स्रतीन्त्रिय नहीं होना चाहिये ? क्योंकि कुंभकार झादि कर्तामें झतीन्द्रियत्व की झनुपलन्धि है। कुम्भकारादी कार्यकारित्वं दृष्टं नान्यया । तत्सम्बन्धोपगमे वास्य दृष्यत्वप्रश्वक्कः कुम्भकारादिवत् । तच्छरीरस्य दृष्यत्वप्रश्वक्कः विशासादिविपर्ययादिति चेत्; नतु शरीरत्वाविशेषेण ययास्मदादि- शरीरिविलक्षणं तच्छरीरमम्युपगम्यते तथा घटादिकार्यविलक्षणं मूदहादिकार्यं कार्यत्वाविशेषेयम्युप- गम्यताम् । तथा चानेन प्रकृती हेतुर्व्यभिचारी । तथास्मदादेः द्यरीरसम्बन्धमात्रेर्गेव तद्वयवानां प्रेरकत्वोपपरोनांपरद्यरोरसम्बन्धस्तत्रोपयोगी 'तत्सम्बन्धमन्तरेण हि चेतनस्य स्वश्रदीरावयवेष्यस्यत्र वा कार्यकारित्वयद्यर्यत्र वा कार्यकारित्वयद्यप्रम्य वा कार्यकारित्वयद्यप्रम्य वा कार्यकारित्वयस्य वा कार्यकारित्वयस्य ।

तच्छरीरं च तत्कृतं यद्मम्युपगम्यते; तर्हि शरीरान्तरं तस्याम्युपगन्तव्यमित्यनवस्थातः

यौग—हुक्ष को शास्त्रा भंग होना ग्रादि में पिशाचादि कर्ता तथा ग्रपने शरीर के श्रवयवों की प्रेरणा में आत्मा कर्ता शरीर रहित होकर भी उपलब्ध होता है।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, पिशाचादि के शरीर का सम्बन्ध नहीं रहेगा तो वे कार्य को नहीं कर सकते, जैसे मुक्तात्मा शरीर रहित होने से कोई कार्य नहीं करते हैं। कुम्भकारादि में शरीर सम्बन्ध से कार्यकारित्व देखा जाता है प्रन्यधा नहीं। यदि ईश्वर के शरीर का सम्बन्ध मानते हैं तो वह दृश्य बन जायगा जैसे कुम्हार आदि कर्ता दृश्य है।

यौग-कुम्हारादि का शरीर दृश्य है ग्रतः वे दृश्यमान हैं, किंतु पिशाचादि इससे विपरीत हैं ग्रर्थात् उनके शरीर दृश्य नहीं है।

जैन—तो गरीरपना उभयत्र समान होते हुए भी जैसे हमारे शरीर से विलक्षण ईश्वर का शरीर मान लिया जाता है वेसे कार्यपना समान होते हुए भी वृक्षादि कार्य घटादि कार्य से विलक्षण है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ? इस प्रकार सिद्ध होने पर इसी वृक्षादि कार्यरव द्वारा प्रकृत कार्यरव हेतु व्यभिचारी होता है। तथा ग्रात्मा में शरीर के सम्बन्ध विना स्वशरीर के अवयवों में ग्रथवा ग्रन्थत्र कार्यकारीपना नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा उपलब्ध नहीं होता है इतना सिद्धांत निश्चित किया जाता है इसलिये महेश्वर के भी शरीर का सम्बन्ध होकर ही कार्यकारीपना होता है ऐसा मानना चाहिये।

म्रब यदि उस ईश्वर के शरीर को ईश्वरकृत मानते हैं तो उसके लिये अन्य शरीर स्वीकार करना होगा, इस तरह अनवस्था होने से प्रकृत कार्य में (पृथ्वी आदि प्रकृतकार्ये तस्वाऽध्यापारोऽपरापरशरीरिनवंती एवोपक्षीए।शक्तिकत्वात् । तदिन्व्यायः वेत्; तिस्क कार्यम् नित्यं वा ? प्रवमपक्षे तेनैव हेताव्यंभिचारस्तस्य कार्यत्वेप्यबृद्धिमद्भवंकत्वात् । बुद्धिमत्काररणा-स्तरपूर्वेकत्वे वानवस्या, तच्छरीरस्याप्यपरबुद्धिमत्काररणान्तरपूर्वेकत्वात् । नित्यं वेत्; तिंह तच्छ-रीरस्य शरीरत्वाविशेषेपि नित्यत्वलक्षार्णः स्वभावातिक्रमो यथाम्युपमस्यते, तथा भूरहादेः कार्यत्वे सत्यप्यकतृं पूर्वेकत्वलक्षराप्यम्यताम् इति स एव तैव्यंभिचारः कार्यत्वादेः । तन्न प्रतिबन्धप्रति-पत्तिकक्षरा। व्युत्पत्तिस्तयम् ।

भ्रय तद्वचितिरिक्ता ब्युत्पत्तिः; सा स्वदुरागमाहितवासनावतां भवतु, न पुनस्तावन्मात्रेस्य कार्यस्वादेः साध्यं प्रति गमकत्वम् । श्रन्यथा वेदे मोमांसकस्य वेदाध्ययनवाष्यस्वादेरपौष्ठयेयत्वं प्रति गमकत्वं स्यात् ।

के निर्माण में ) उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि ग्रन्य ग्रन्य शरीर के निर्माण में ही उसकी शक्ति समाप्त हो जायगी। यदि कहा जाय कि वह शरीर स्रनिष्टपाद्य होता है तो वह कार्यरूप है अथवा नित्य है ? प्रथम पक्ष माने तो उसीसे कार्यत्व हेतु व्यभिचारी होगा क्योंकि कार्य रूप होते हुए भी उसको प्रबुद्धिमान पूर्वक स्वीकार कर लिया। यदि उस शरीर को बुद्धिमान कारण पूर्वक माने तो अनवस्था आती है क्योंकि वह शरीर भी अन्य बुद्धिमान हेतू पूर्वक होगा यदि उस शरीर को नित्य मानते हैं तो जैसे ईश्वर के शरीर में शरीरपना समान रूप से होते हुए भी नित्य रूप स्वभाव का अति-कम स्वीकार करते हैं वैसे वृक्ष ग्रादि में कार्यपना समान रूप से होते हुए भी प्रकर्तृत्व रूप स्वभाव का ग्रतिक्रम स्वीकार करना चाहिये, इस प्रकार कार्यत्वादि हेतु में वही पूर्वोक्त व्यभिचार दोष ग्राता है । इसलिये व्यूत्पन्न पुरुषों की व्युत्पत्ति ग्रविनाभाव सम्बन्ध को जानने रूप होती है ऐसा पक्ष सिद्ध नहीं हो पाता है। वह व्युत्पति ग्रविनाभाव सम्बन्धी प्रतिपत्ति से ग्रतिरिक्त स्वभाव वाली है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो इस तरह की व्युत्पत्ति ग्रपने कुशास्त्र की वासना से संसक्त हुए यौग के ही रह स्रावे, इस व्युत्पत्ति द्वारा कार्यत्व आदि हेतु का साध्य के प्रति गमकपना कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है अन्यथा वेद में मीमांसक द्वारा प्रयुक्त हुग्रा वेदाध्ययन वाच्यत्वादि हेतू भी ग्रपौरुषेयत्व साध्य के प्रति गमक होंगे।

भावार्थ-अपने ग्रागमादि को जानने सात्र से ब्युरपक्ष मित होते हैं उसी से श्रनुमान हेतु श्रादि को सिद्ध कर सकते हैं ऐसा मानें तो बहुत गड़बड़ी मचेगी, सभी वादी प्रतिवादी अपने अपने श्रागमादि से अपना मत स्थापित कर सकेंगे, मीमांसक वेद यश्चोक्तम्-'साध्याभावेषि प्रवर्तमानो हेतुर्व्यक्षिचारीरबुच्यते । न च तत्र कर्त्रभावो निश्चितः किन्त्वग्रहणम्' इति; तदुक्तिमात्रम्; प्रमाणाविषयत्वेषि स्यावरादौ कर्त्रग्रमावानिष्ठच्ये गतानादौ रूपा- धमावानिष्ठच्यः स्यात् । तत्र रूपादीनां वाधकप्रमाणसद्भावेनाभावनिष्ठच्ये श्रत्रापि तथा कर्त्रभाव- निष्ठच्योस्तु । न चास्यानुपलव्धिलक्षराणप्राप्तत्वादभावानिष्ठच्यः; शरीरसम्बन्धेन हि कर्तृत्वं नात्यया मुक्तात्मवत्, तत्सम्बन्धे चोपलव्धिलक्षराणप्राप्तत्वप्रसङ्गः कुम्भकारादिवत् । तस्य हि शरीरसम्बन्ध एव स्त्यत्वं नात्यत्व, स्वरूपेणात्मनोऽद्दश्त्वात् पिशाचादिश्वरीरवत् । तच्छरीरस्याद्ययस्थोपगमे च किन्धि- स्वार्थमप्यबुद्धिपूर्वकं स्वादियुक्तम् ।

यत्तूक्तम्-क्षित्याद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तेषामेव कारणत्वे धर्माधर्मयोरिप तन्न स्यात्; तन्न

को अपौरुषेय सिद्ध करता है उसमें वेदाघ्ययन वाच्यत्व हेनु देता है किन्तु वह हेतु अपने अपौरुषेयत्व रूप साघ्य को सिद्ध नहीं कर पाता है, ऐसा स्वयं योग कहते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि स्व आगम के ज्ञान मात्र से व्युत्पक्ष मित नहीं होता, अनुमान के विषय में तो विल्कुल नहीं होता वहाँ तो अनुमान सम्बन्धी साध्य, पक्ष, हेतु अविनाभाव सम्बन्ध आदि विषयों में ज्ञान प्राप्त करना होगा। हेत्वाभास आदि दोषों की जानकारी भी प्राप्त करनी होगी तभी वह अनुमान में व्युत्पन्न मितवाला कहलायेगा। जो हेतु साध्य के अभाव में भी रहता है उसे व्यभिचारी कहते हैं, वहां पृथ्वी आदि के विषय में कर्ता का अभाव नहीं है किन्तु वह ग्रहण में नहीं आता है इत्यादि पूर्वोक्त कथन वक्तवास मात्र है, दुक्ष आदि स्थावरों का कर्ता प्रमाण का अविषय होते हुए भी उसके अभाव का अनिश्चय मानेंगे तो आकाश आदि में रूपादि के अभाव का अनिश्चय है ऐसा मानना होगा।

यौग-ग्राकाश में रूपादि के ग्रभाव का निश्चय तो वाधक प्रमाण के सद्भाव से हो जाता है।

जैन-इसी तरह पृथ्वी ग्रादि में कर्ता के ग्रभाव का निश्चय होवे।

यौग-पृथ्वी आदि में कर्ता के अभाव का अनिश्चय इसलिये रहता है कि वह कर्ता अनुपलब्धि लक्षण वाला है।

जैन–यह बात बिल्कुल असत्य है, शरीर के सम्बन्ध से ही कर्तापन हो सकता है ग्रन्यथा नहीं जैसे मुक्तात्मा के नहीं है। ग्रतः यदि ईश्वर के शरीर का सम्बन्ध है तो कुंभकारादि के समान वह उपलब्धि लक्षण वाला ही सिद्ध होता है। उसके दृश्यत्व सूक्तमः, जनद्वी विश्यान्यवानुपपस्या तयोस्तरकारस्यस्वशसिद्धः। भूम्यादेः खलु सकलकार्यं प्रवि साधारसम्बन्धाः स्वाद्यस्यविविज्ञकारसम्बन्धाः तद्वीवश्यानुषपत्तिः सिद्धाः।

यदप्युक्तम्-तत्र बुद्धिमतोऽभावादप्रदर्गः भावेष्यनुपलिधलक्षग्रप्राप्तस्वाद्वेति सन्दिग्धव्यतिरे-कित्वे सकलानुमानोच्छेदः। यया सामप्रधा धूमादिजन्यमानो दृष्टस्तां नातिवर्तत इत्यन्यत्रापि समानमः, तदप्यप्रकृतम्, यादग्रुतं हि घटादिकायं यादग्रुतलामग्रीप्रभवं दृष्टं तादग्रुतस्यैव तदिकिमा-भावो नान्यादीवषस्य धूमादिवदेवेष्युक्तं प्राक् ।

का भ्रयं शरीर का सम्बन्ध होना हो है अन्य नहीं। क्योंकि आ्रात्मा तो स्वरूप से ही ग्रदृश्य है : यदि ईश्वर के शरीर को अदृश्य मानते हैं तो कोई कोई कार्य बुद्धिमान कर्ता के बिना भी होता है ऐसा भी मानना चाहिये। पूर्व में कहा गया था कि यदि पथ्वी आदि का भ्रन्वय व्यतिरेक पथ्वी आदि के साथ ही है भ्रतः वे ही कारण हैं ऐसा मानने पर तो धर्म अधर्म भी पृथ्वी आदि के कारण सिद्ध नहीं हो सकेंगे इत्यादि, सो वह कथन अयुक्त है, धर्म अधर्म के कारणपने की सिद्धि तो जगत विचित्रता के श्रन्य-थानुपपत्ति से हो जाती है। पथ्वी कारण तो सकल कार्य के प्रति सर्व साधारण है, ध्रहष्ट नामक विचित्र कारण के बिना जगत वैचित्र्य की सिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् संपूर्ण कार्य के प्रति पथ्वी ग्रादि पदार्थ सामान्य कारण हैं ग्रीर धर्म ग्रधर्म विशेष कारण है। कार्यों की विभिन्नता देखकर ही धर्म अधर्म की सिद्धि होती है। यौग ने पहले कहा था कि बुद्धिमान कर्ता का ग्रभाव है भ्रथवा सद्भाव होने पर भी भ्रनुपलव्यि लक्षण वाला है अतः स्रग्रहरण होता है। इस प्रकार कहकर कार्यत्व हेतू को संदिग्ध व्यतिरेकी माना जाय तो सकल अनुमानों का उच्छेद हो जायगा। जिस सामग्री से धुमादि हेतु उत्पन्न हुम्रा देखा जाता है वह उसका उल्लंघन नहीं करता ऐसा कहे तो कार्यत्वादि हेतु में भी यही बात है इत्यादि सो यह यौग का कथन अयक्त है जिस तरह का घटादि कार्य जिस तरह की सामग्री से जायमान है वह उसी प्रकार की सामग्री का ही ग्रतिक्रमण नहीं करता है, उसमें अन्य प्रकार की सामग्री का तो ग्रतिक्रमण होता ही है, जैसे घुमादि कार्य हेत् होता है, इस विषय में पहले कह चके हैं।

और जो कहा था कि ''ज्ञान, चिकीर्घा और प्रत्यन म्राधारता, ये तीन प्रकार की कर्तृता है, इस कर्तृत्व के लिये शरीर होना या नहीं होना जरूरी नहीं है सो यह म्रयुक्त है, शरीर के म्रभाव में कर्तृत्व का आधार होना भ्रसंभव है, जैसे मुक्तात्मा में यश्चेदमुक्तम्-ज्ञानिकिर्निषयंत्र्याचारता हि कर्नृता न स्वरौरेतरता; इत्ययसञ्जतय; शरीराभावे तदाधारत्वस्याप्यसम्भवान्मुक्तारमवन् । तेवां खलूत्वतौ झात्मा समयायिकारण्म् प्रात्म-मनःसंयोगोऽसमयायिकारण्म्, शरीराविकं निमित्तकारण्म् । न च कारण्णयामावे कार्योत्पत्तिरन-म्युप्नमान् । प्रत्यथा मुक्तात्वनोषि ज्ञानादिगुणोत्पत्तिप्रवक्ष्या ("नवानां गुणानामत्यन्तोच्छेदो मुक्तिः" [ ] इत्यस्य व्याचातः । निमित्तकारणमन्तरेणायेवामृत्यतौ च बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाय्येवामृत्यतौ च बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाय्येक्षम्, प्रमाणविरोधान् । तथाविरोधान् । वस्त्रानादयो । नित्यास्तत्वावस्मदादिकानादिवन् । तज्ज्ञानादीनां इष्टस्वभावातिक्रमे भूरु-हादीनामित संस्यान् ।

घरीर नहीं होने से कर्तृ त्वाधार नहीं है। कार्यों की उत्पत्ति में म्रात्मा समवायी कारण है, आत्मा थ्रौर मन का संयोग होना ग्रसमवायी कारण है थ्रौर शरीरादिक निमित्त कारण हैं, इन तीन कारणों के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती ऐसा धापने स्वयं स्वीकार किया है। यदि कारण के ग्रभाव में कार्य की उत्पत्ति मानेंगे तो मुक्तात्मा के ज्ञानादि गुए। उत्पन्न होने का प्रसंग भ्राता है फिर ज्ञानादि नव गुणों का अत्यन्त विच्छेद होना मुक्ति है ऐसा ग्रापका ग्रागम वाक्य खण्डित हो जाता है। यदि निमित्त कारण के विना कार्यों की उत्पत्ति होना स्वीकार करते हैं तो बुद्धिमान कारण के विना अंकुर ग्रादि पदार्थों की उत्पत्ति होना क्यों स्वीकार नहीं करते।

यौग—ईश्वर के ज्ञान चिकीर्षा आदि को नित्य माना है ग्रतः कोई दोष नहीं स्राता ?

जैन-यह बात प्रमाण से विरुद्ध है, ईश्वर के ज्ञानादिक नित्य नहीं है, क्योंकि बे ज्ञानादि रूप है, जैसे हमारे ज्ञानादिक नित्य नहीं है। तुम कहो कि "ईश्वर के ज्ञानादि में दृष्ट स्वभाव का ग्रतिकम है श्रर्थात् उनमें श्रतिशय है या हमारे ज्ञानादि से पृथक् स्वभाव रूप है" तो वृक्ष आदि में भी दृष्ट स्वभावातिकम मानो, ग्रर्थात् घटादि में बुद्धिमान कर्तृत्व और वृक्षादि में श्रबुद्धिमान कर्तृत्व है ऐसा मानना पड़ेगा।

यौग-अचेतन पदार्थ चेतन से अधिष्ठित हुए बिना कार्य में प्रवृत्ति नहीं कर सकते, जैसे बसूला आदि अचेतन पदार्थ नहीं करते, अचेतन पदार्थ यदि कार्य करेंगे तो आन शून्य होने के कारए। निश्चित स्थान, समय आदि में कार्य नहीं कर सकेंगे किन्तु ऐसा नहीं है, अचेतन पदार्थों का कार्य भी समय पर सम्पन्न होता हुआ देखा जाता है न त्वाञ्चेतनस्य श्रेतनानिषश्चितस्य वास्यादिवत्त्रवृत्यसम्मवात्, सम्भवे वा निरिम्नशयाणां देवादिनियमामावप्रसङ्कात् तदिविद्यातेरवरः सकलजगदुपादानादिज्ञाताम्यूपगन्तव्यः इत्यिभिधातव्यम्; तज्ज्ञत्वेनास्याद्याप्यसिद्धः। न चास्य तत्कत्तृ त्वादेव तज्ज्ञत्वम्; इतरेतराश्रयानुषङ्कात्-सिद्धे हि सकलजगदुपादानाद्यभिज्ञत्वे तत्कत्त् त्वसिद्धः, तिसद्धौ च तदिभज्ञत्वसिद्धः। अवेतनवज्ञ्चे तनस्यापि चेतनात्तराधिष्ठतस्य विष्टिकमंकरादिवत् प्रवृत्युपलम्भात्, महेश्वरेप्यधिष्ठात् चेतनात्तरं परिकत्य-नीयम्। स्वामिनोऽनिषष्ठितस्यापि प्रवृत्युपलम्भोऽकृष्टोत्पनांकुराज्ञ्वादाने समानः। घटाज्ञुपादान-स्यानिषिक्तस्याश्रवृत्युपलम्भात् तथाकुत्याद्यपत्यस्यापि कत्यने विष्टिकमंकस्यदेः स्वास्यनिष्ठितस्या-प्रवृत्तमे व्यात्त्रस्यात्वस्याप्यपत्वनात् तथा चानवस्या। चेतनस्याप्यपरचेतनािषष्ठितस्य प्रवृत्त्यम्युवगमे च

म्रत: इन पृथ्वी आदि का म्रधिष्ठाता ईश्वर माना है जिसको जगत के उपादान आदि कारणों का भले प्रकार से ज्ञान है।

जैन-ऐसा कथन ठीक नहीं है, सकल जगत का ज्ञान ईश्वर को है यह अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है। जगत का कर्ता होने से ही ईश्वर के सकल ज्ञातत्व सिद्ध होता है ऐसा माने तो इतरेतराश्रय दोष श्राता है-ईश्वर के सकल जगत के उपादान श्रादि कारणों का ज्ञान है ऐसा सिद्ध होने पर उस जगत का कर्तापन सिद्ध होगा श्रीर उसके सिद्ध होने पर सकल जगत ज्ञातुत्व सिद्ध होगा। ग्राप ग्रचेतन को चेतन से ग्रिधिष्ठित होकर कार्य करना मानते हो सो वैसे चेतन को भी ग्रन्य चेतन से ग्रिधिष्ठित होकर कार्य करना मानना चाहिये ? देखा भी जाता है कि पालकी चलाने वालों को स्वामी की प्रेरणा रहती है ग्रतः महेश्वर में भी ग्रन्य प्रेरक की कल्पना करनी होगी। यदि कहा जाय कि स्वामी की प्रेरणा के बिना भी कार्य होता है ? सो यही बात बिना बोये धान्यांक्रर आदि की उत्पत्ति में माननी होगी, यदि घट ग्रादि उपादान की चेतन ब्रधिष्ठान के बिना प्रवृत्ति नहीं होती है ब्रतः अंकुरादि में भी चेतन अधिष्ठान की कल्पना करते हैं, तो कर्मचारी ग्रादि की स्वामी के बिना प्रवृत्ति नहीं होती अतः महेश्वर में भी अन्य चेतन अधिष्ठायक की कल्पना करनी होगी, इस तरह अनवस्था म्राती है। तथा चेतन की प्रवृत्ति भी भ्रन्य चेतन से अधिष्ठित होकर होती है तो भ्रापके अनुमान प्रयोग में जो पक्ष है कि "अचेतन पदार्थ चेतन से अधिष्ठित होते हैं" इसमें घर्मी का अचेतन विशेषण और हेतु का श्रचेतनत्वात् विशेषणा व्यर्थ होगा, क्योंकि व्यवच्छेद्य का ग्रभाव है ग्रर्थात् मात्र ग्रचेतन को ही चेतनाधिष्ठान की जरूरत 'श्रचेतनं चेतनाधिष्ठितम्' इत्यत्र प्रयोगेऽचेतनमिति धर्मिविशैयणस्याचेतनत्वादिति हेतोश्चापार्धकत्वम्, व्यवच्छेद्याभावात् । स्वहेतुप्रतिनियमाच्च प्रचेतनस्यापि देशादिनियमो ज्यायान्, तस्य भवताप्यव-स्याम्युपगमनीयत्वात्, प्रन्यथा सर्वत्र सर्वदा सर्वकार्याणामुत्पत्तिः स्यात्, चेतनस्याधिष्ठार्तुनित्यव्यापि-त्वाम्यां सर्वत्र सर्वदा सन्निधानात् ।

न च कारकशक्तिपरिज्ञानाविनाभावि तत्प्रयोक्तृत्वम्, तस्यानेकधोपलस्मात् । किश्वित्वलूपा-दानाद्यपरिज्ञानेपि प्रयोक्तृत्वं दृष्टम्, यथा स्वापमदमूर्ण्यादस्थायां शरीरावयवानाम् । किश्वित्युनः कतित्यकारकपरिज्ञाने; यथा कुस्भकारादेः करादिव्यापारेल दश्डादिप्रयोक्तृत्वम् । न खलु तस्याखिल-कारकोपलस्भोस्ति; धर्माधर्मयोस्तद्वे तुभूतयोरनुपलस्भात् । उपलस्भे वा तथोदेंशादिनियतेषु कार्ये-

होती तो कह सकते थे कि अचेतन चेतनाधिष्ठान के बिना कार्य नहीं करते, किंतु यहां चेतन को भी अन्य चेतनाधिष्ठान की जरूरत पड़ती है तो दोनों में क्या विशेषता हुई १ कुछ भी नहीं। फिर तो अचेतन पदार्थ भी अपने कार्य के उपादान कारणादि के नियमित होने से प्रतिनियत देश काल आदि में कार्यों को करते हैं उन्हें कोई चेतन कर्ता की जरूरत नहीं है ऐसा आपको अवश्य मानना चाहिये, अन्यथा सर्वत्र हमेशा सभी कार्यों को उत्पत्ति होने लगेगी। क्योंकि आपका चेतनाधिष्ठाता ईश्वर नित्य तथा व्यापक है सर्वत्र हमेशा मौजद है।

यह भी बात नहीं है कि कारक शक्ति का ज्ञान होने पर ही उनको प्रयुक्त किया जाता है कार्य के प्रयोक्ता अनेक प्रकार के होते हैं, कोई प्रयोक्ता तो उपादान आदि कारणों का ज्ञान नहीं होते हुए भी प्रेरक होता है, जैसे निद्रा, मद, मूच्छी आदि अवस्था में शरीर के अवधवों का हिलना, करवट लेना आदि होता है। कोई प्रयोक्ता ऐसे होते हैं कि उनको कतिपय कारकों का परिज्ञान रहता है, जैसे कुंभकार आदि प्रयोक्ता के हाथ की किया से दण्डे को चलाना, चाक पर मिट्टी का पिण्ड रखना इत्यादि कार्य कतिपय कारणों के परिज्ञान से होता है। उस कुंभकार को अखिल कारकों का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि उसको घट के धर्म अधर्म रूप कारणों का ज्ञान नहीं है, यदि होता तो प्रतिनियत देश, काल आदि में होने वाले कार्यों में इच्छा का व्याघात नहीं होता, अर्थात् इस व्यक्ति के अष्टण्ट से यह कार्य निष्पन्न प्रवश्य होगा, इसका नहीं होता, वर्थात्व इस व्यक्ति के कारकों का पूरा पूरा ज्ञान है, ऐसा माने तथा यदि कार्य प्रयोक्ता कुंभकार आदि को कारकों का पूरा पूरा ज्ञान है, ऐसा माने तो संसार के सभी जीव अतीन्द्रिय ज्ञानी हो लायों। ऐसा कोई बुद्धिमान नहीं है जो

ष्टिबच्चाव्याधातो न स्यात्, सर्वत्वाऽतीन्द्रियार्षदर्शी स्यात् । न हि किश्वतादशी बुद्धिमानस्ति यो न किब्बरकरोति कार्यं वा तास्थां विद्यते यत्राऽस्त्र नोषयुज्यते । कारएशक्तेश्वातीन्द्रियत्कात्तदपरिज्ञानं सर्वप्रारिणनां सुप्रसिद्धम् । यद्यास्थानं नास्याः सद्भावो निवेदितः । ग्रन्यत् । शरीराऽनायासतो वाण्य्या-पारमात्रेणः, यद्या स्वामिनः कर्मकरादिप्रयोक्तृत्वम् । श्रस्तु वा कारकप्रयोक्तृत्वस्य परिज्ञानेनाविना-भावः, तथाप्यशरीरेखरे तस्यासम्भवः, सर्वत्र शरीरसम्बन्धे सत्येवास्योपसम्भात् ।

यदप्यभ्यषायि-बुद्धिमत्काररापूर्वकत्वमात्रस्य साध्यत्वात्र विशेषविरुद्धता कार्यत्वस्य, प्रन्यया प्रमाखनुमानोच्छेदः; तदप्यप्रिधानमात्रम्, कार्यमात्राद्धि काररामात्रानुमाने विशेषविरुद्धताऽसम्भव-स्तस्य तेन व्याप्तिप्रसिद्धेः, न पुनर्बुं द्धिमत्कारराणानुमाने तस्य तेनाव्याप्तेः प्रतिपादितत्वात् । व्याप्तौ वा

कुछ नहीं करता हो, तथा बैसा कोई कार्यभी नहीं है जहां ग्रहण्ट नहीं होता हो। इससे सिद्ध होता है कि कारकों का ज्ञान नहीं होते हुए भी कर्ता कार्यको का करता है। कारकों की शक्ति ग्रतीन्द्रिय होती है इसलिये उनका ज्ञान सर्वप्राणियों को नहीं हो सकता यह बात भी प्रसिद्ध ही है।

भावार्य-कार्य कर्ता किसी कार्य को करते हैं किंतु वह कह देते हैं कि भाई! प्रयस्त तो कर रहे किल्नु सफलता होना भाग्याधीन है, विद्यार्थी विद्यालय में पढ़ते हैं सफलता होना जरूरी नहीं है, दुकानदार दुकान खोलता है किल्तु लाभ होना निश्चित नहीं है, प्रनेकों उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि प्रयोक्ता को कारकों का पूरा ज्ञान नहीं होता है।

पदार्थों में प्रतीन्द्रिय शक्ति होती है इस बात का निश्चय इस ग्रंथ के प्रथम भाग में "शिक्ति स्वरूप विचार" नामा प्रकरण में भली प्रकार हो चुका है। कोई प्रयोक्ता ऐसे भी होते हैं जो शरीर के प्रयास के बिना वचन मात्र से ही कार्य करते हैं, जैसे स्वामी अपने सेवक को वचन से कार्य में लगाते हैं। दुर्जन संतीय त्याय से मान लेवे कि कारक प्रयोक्त का ज्ञान के साथ अविनाभाव है तो भी ग्रशरीरी ईश्वर में उसका होना संभव है वर्थोंकि सर्वत्र शरीर सम्बन्ध होने पर ही कारक प्रयोक्त्रत्व होता है। आपने कहा था कि हमने बुद्धिमान कारण पूर्वकत्व सामान्य को ही साध्य बनाया है अतः कार्यत्व हेतु विशेष विरुद्ध नामा दोष संयुक्त नहीं होता अन्यया धूमादि हेतु वाले ग्रनुमानों का उच्छेद होवेगा। किन्तु यह कथन ग्रयुक्त है, कार्यमात्र से काररण मात्र का अनुमान होना मानते तब तो विशेष विरुद्ध नहीं होता, कारण मात्र की

श्रनीस्वरासर्वज्ञस्वादिवर्मकलापोदेत एव कत्तांत्र सिद्ध्येत्, तथामृतेनैव घटादौ व्याप्तिप्रसिद्धेः, न पुनरी-स्वरस्वादिविरुद्धवर्मोपेतः, तस्य तद्व्यापकत्वेन स्वप्नेप्पप्रतिपरोः । तथाप्यस्य तं प्रति गमकत्वे महानस-प्रदेशे वन्हिव्याप्तो धूमः प्रतिपक्षो गिरिशिखरादौ प्रतीयमानो वन्हिविरुद्धधर्मोपेतोदकं प्रति गमकः स्यात् । धूमाद्यनुमानोच्छेदासम्भवस्य प्राक्तप्रवन्धेन प्रतिपादितः ।

यच्चान्यदुक्तम्-'सर्वेज्ञता चाशेषकार्यकार्रणात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; कार्यकारित्वस्य कारणपरिज्ञानाविन।भावासम्भवस्योक्तत्वात् । एकस्य।शेषकार्यकारिणो ध्यवस्थापकश्रमाणाभावात्, कार्यत्वादेश्च कृतोत्तरत्वात्कथमतः सर्वज्ञतासिद्धिः ?

यञ्चोक्तम्-'तथा विश्वतश्चशुः इत्यागमादप्यसौ सिद्धः; तदप्युक्तिमात्रम्; प्रन्योन्याश्रयानु-षङ्गात्-प्रसिद्धप्रामाण्यो ह्यागमस्तत्वसाधको नान्यथातित्रसङ्गात् ततस्तरप्रामाण्यप्रसिद्धौ महेस्वर-

कार्यमात्र के साथ व्याप्ति तो प्रसिद्ध ही है। किन्तु ग्रापके अनुमान में ऐसी बात नहीं है वहां तो बुद्धिमान कारण पूर्वकत्व साध्य है इस साध्य की कार्यत्व हेतु के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है इस विषय का भी पहले प्रतिपादन कर दिया है। यदि बुद्धिमान कारण के साथ कार्यत्व की व्याप्ति माने तो वह बुद्धिमान कारएा, भ्रनीश्वर, ग्रसर्वज्ञ आदि स्वभाव वाला ही सिद्ध होगा, क्योंकि घट आदि में वैसा ही दिखायी देता है उसी के साथ कार्यत्व की व्याप्ति है. ईश्वर ग्रादि विरुद्ध स्वभाव वाले के साथ नहीं है। कर्तत्व की ईश्वर आदि के साथ व्याप्ति होते हुए स्वप्न में भी प्रतीत नहीं होता, व्याप्ति नहीं होते हुए भी इस कार्यत्व हेतु को साध्य का गमक मानो तो, महानस में प्रग्नि के साथ व्याप्त धूम को देखा था, फिर पर्वत शिखर पर प्रतीति में श्राया सो अब अग्नि से विरुद्ध धर्मवाला जो जल है उसका गमक बन जाय ? किन्त बनतातो नहीं। परवादी ने कहाथा कि "यदि हमारे कार्यत्व हेतु को गलत सिद्ध करेंगे तो सारे ही धुमादि हेतू वाले अनुमानों का उच्छेद हो जावेगा सो इस विषय में विस्तार से कह दिया है। पहले कहा था कि "ईश्वर में सर्वज्ञता संपूर्ण कार्यों को करने से म्राती है, यह बात अयक्त है, हमने सिद्ध कर दिया है कि कार्यकर्ता को कारणों का परिज्ञान होना जरूरी नहीं है, तथा एक ही कर्ता ग्रशेष कार्यों को करता है यह बात भी प्रमाण सिद्ध नहीं है। कार्यत्वादि हेत् सदोष है इसके लिये बहत कुछ कह दिया है इसलिये उससे सर्वज्ञता कैसे सिद्ध हो सकती है। ईश्वर की सर्वज्ञता को सिद्ध करने के लिये आगम प्रमाण "विश्वतश्च्युः" इत्यादि उपस्थित किये थे, किन्तु सिक्षिः, तस्तिद्धौ च तत्प्रशीतत्वेनागमप्रामाण्यप्रसिद्धः । प्रत्येश्वरप्रशीतागमात्तसिद्धौ तस्याप्यन्थे-श्वरप्रशीतागमात्तिद्धावीश्वरागमानवस्या । पूर्वेश्वरप्रशीतागमात्तिस्द्धौ परस्पराश्रयः । स्वप्रशीता-गमात्तत्तिद्धौ चान्योन्यसंश्रयः । नित्यस्य त्वागमस्य परैः प्रामाण्यं नेष्यते महेश्वरकत्पनानर्थक्यप्रस-ङ्कात्, प्रामाण्यस्योत्पत्तौ क्षतौ वेश्वरस-द्भावस्याकित्वत्करत्वात् ।

यदप्युक्तम्-कारुष्याच्छरीरादिसर्गे प्राणिनां प्रवत्तंतैः, तदप्ययुक्तम्ः, सुखोत्पादकस्यैव शरीरा-दिसर्गस्योत्पादकस्य प्रसङ्गात् । न हि करुणावतां यातनाशरीरोत्पादकत्वेन प्राणिनां दुःखोत्पा दकत्वं युक्तम् । धर्माधर्मसहकारिरणः कन्-ैत्वात्सुखवददुःखस्याप्युत्पादकोऽसौ, कलोपभोगेन हि तयोः प्रक्षयादपवर्गे प्राणिनां स्यात् इति करुणयापि तद्विधाने प्रवृत्यविरोधः; इत्यप्यसङ्गतम्; तयोरीश्वरा-

वे ठीक नहीं हैं, इससे तो अन्योग्याश्रय दोष आता है क्योंकि प्रमाण प्रसिद्ध आगम ही ईश्वर का प्रसाधक हो सकता है, अन्यथा श्रति प्रसंग होगा । ईश्वर द्वारा रिवत होने के कारण श्रागम में प्रामाण्य है ऐसा कहो तो अन्योग्याश्रय होगा—प्रागम प्रामाण्य की सिद्धि होने पर महेश्वर की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उसके द्वारा प्रणीत होने के कारण श्रागम प्रामाण्य की सिद्धि होगी । इस दोष से बचने के लिये अन्य ईश्वर द्वारा प्रणीत आगम से इस ईश्वर की सिद्धि करने हैं तब तो अनवस्था खड़ी होगी । पूर्व ईश्वर प्रणीत आगम से इस ईश्वर की सिद्धि होना भी अन्योग्याश्रय दोष के कारण असंभव है । तथा खुद के रचे भ्रागम से ही ईश्वर में सर्वज्ञना सिद्ध होना कहें; तो वही अन्योग्याश्रय दोष होता है । आप योग मीमांसक के समान तित्य आगम की प्रामाण्य नहीं मानते हैं, अन्यथा महेश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि नित्य आगम के प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञिन होने में ईश्वर के सद्भाव की आवश्यकता नहीं रहती है ।

श्रापने कहा था कि "ईश्वर करुणा बुद्धि से प्राणियों के शरीरादि की रचना करता है" किन्तु यह असत् है, यदि करुणा से करता तो सुखदायक शरीरादि को ही रचता देव्यों कि करुणाशाली पुरुष प्राणियों को यातना पहुंचाने वाले शरीरादि को निर्माण कर दुःख को उत्पन्न नहीं कराते हैं।

यौग-इंग्वर धर्म तथा अधर्म दोनों की सहकारिता से कार्य करता है अतः सुख और दुःख दोनों का उत्पादक है, जब इन धर्म अधर्म का फल भोग करके नाश होता है तब प्राणियों को मोक्ष होता है, अतः ईश्वर करुणा से भी सुख दुःख को करा सकता है?

नायत्तत्वे कार्यत्वे च ग्राम्यामेव कार्यत्वादरनेकान्तिकत्वप्रसङ्गात्, तदुत्पत्तौ तस्याव्यापारे च विनासे-प्यव्यापारोस्तु, कारस्यान्तरोत्पन्नमुखदुःखलक्षस्यक्रलोपभोगेनानयोः प्रक्षयसम्भवात् । न हीदवरस्यापि तत्कलोत्यादनादन्यत्तयोः क्षयकत्तृ त्वम् ।

किञ्च, धर्माधर्मी निष्पाद्य पुनस्तयोः क्षयकर्रणे किमुत्पत्तिकररणप्रयासेन ? न हि प्रे झाकारी खात्वा पुनः समीकरण्-यायेनात्यानमायासयति "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्धनं वरम्" [ ] इति प्रसिद्धे आ । प्रन्यवा प्रक्षाविताशुचिमोदकपरित्यागन्यायानुसरणप्रसङ्गः ।

अपवर्गविधानार्थं चास्य प्रवृतौ कथमपूर्वकर्मसञ्चयकक्त्र्ंत्वम् ? तत्सहकारिराध्र्यास्य सुख-दुःचोत्पादकगरीरोत्पादकत्वे वरं तत्कलोपभोक्त् प्राणिगस्पत्येव तत्सक्यपेक्षस्य तदुत्पादकत्वमस्तु किम-

जैन-यह कथन ग्रयुक्त है, यदि वे धर्म, ग्रधमं ईश्वराधीन न होकर के भी कार्य है तो उन्हों के साथ कार्यंव हेतु ग्रनैकांतिक हो जायगा। तथा धर्म अधर्म की उत्पत्ति में ईश्वर कारण नहीं है तो उनके नाश में भी ईश्वर को कारण नहीं मानना चाहिये, क्योंकि विभिन्न कारणों से उत्पन्न हुए मुख दुःख रूप फलों का उपभोग करके उन धर्माधर्म का नाश होना संभव है। यह विषय विचारणीय है कि पहले धर्म ग्रधमं को उत्पन्न कराना फिर उनका नाश करना यह प्रयास किसलिये किया जाता है? प्रक्षावान पुरुष "खात्वा पुनः समीकरण ग्यायः" जमीन में गृष्ठा खोदकर पुनः उसको भर देने के समान व्यर्थ के कार्य में प्रवृत्ति नहीं करते हैं लोकोक्ति भी है कि "प्रक्षान्तात् हि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" अन्यथा प्रक्षालिता शुचि मोदक परित्याग न्यायानुसरण प्रसंगः। ग्रधीत् कीचड़ में पैर देकर धोने की अपेक्षा पहले पैर नहीं देना ही ध्रेष्ठ है वरना वह व्यक्ति हंसी का पात्र होगा जैसे कोई व्यक्ति हाथ में लडू ले जा रहा था वह नाली में गिर गया लोभ के कारण उसको निकालकर धोया फिर ग्लानि झाने से या लोगों के हंसने से उसको फेंक दिया वैसे धर्म ग्रधमं को पहले बताना फिर उनको नष्ट करना व्यर्थ का कार्य है।

यदि कहा जाय कि अपवर्ग के विधान के लिये ईप्वर की प्रवृत्ति हुआ करती है तो वह अपूर्व कर्मो के संचय का कारण किस प्रकार हो सकता है ? तथा यदि सुख दुःख के उत्पादन में और शरीर के उत्पादन में ईप्वर को सहकारी माना तो उससे अच्छा यह होता कि उन धर्मादि के फलों को भोगने वाले प्राणी गण स्वयं ही उनकी अपेक्षा लेकर सुखादि के उत्पादक होते हैं, व्यर्थ के अप्रसिद्ध ईप्रवर की परिकल्पना से

ख्टेश्वरपरिकल्पनया ? सर्वत्र कार्येऽड्टस्य व्यापारात् । तथाहि-यद्यदुपभोग्यं तत्तदरङ्गपूर्वकम् यथा सुखादि, उपभोग्यं च प्रास्तिनां निखिलं कार्यामिति ।

ननु यथा प्रभुः सेवामेदानु रोघात्फलप्रदो नाप्रभुस्तथेदवरोपि कमिष्ठः फलप्रदो नान्यः; इत्यपि मनोरयमात्रम्; राह्रो हि सेवायत्तफलप्रदस्य यथा रागादियोगो नैर्चृष्यं सेवायत्तता च प्रतीता तथेश-स्याप्येतत्सर्वं स्यात्, भ्रन्यथाभूतस्य भ्रन्यपरिहारेण् क्वचिवेव सेवके सुखादिप्रदत्वानपरिः ।

ष्णय यथा स्थपत्यादीनामेकसूत्रधारनियमितानां महाप्रासादादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः, तथात्रा-प्येकेश्वरनियमितानां सुलाबनेककार्यकरणे प्राणिनां प्रवृत्तिः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; नियमाभावात् । न स्ययं नियम:-निखिलं कार्यमेकेनैव कत्तं व्यम्, नाप्येकनियतंबंद्विभिर्तितः, स्रनेकधा कार्यकर्त्तृत्वी-

क्या प्रयोजन है ? क्योंकि सब कार्य में घर्मादि का ही व्यापार होता हुम्रा देखा जाता है। जगत का कार्य प्राणियों के ग्रहष्ट से होता है, क्योंकि वह उन्हीं के द्वारा उपभोग्य है, जो जिसके द्वारा उपभोग्य होता है वह उसी के ग्रहष्ट से निर्मित है, जैसे सुखादिक प्राणियों का ग्राखिल कार्य उपभोग्य है, अतः ग्रहष्ट निर्मित है।

शंका—जिस प्रकार स्वामी नौकर को सेवा विशेष के अनुसार फल देता है, उस सेवा फल को ग्रस्वामो नहीं दे सकता है, उसी प्रकार ईश्वर कर्म के अनुमार फल देता है, अन्य नहीं दे सकता है ?

समाधान-यह कथन मनोरथ मात्र है राजा सेवानुसार फल देता है किन्तु उसमें रागद्वेष है, कृपराता है वह सेवा के अधीन भी हो जाता है, ऐसे रागद्वेष आदि अवगुण ईश्वर में भी मानने होंगे। रागद्वेषादि नहीं होते तो अन्य का परिहार करके किसी सेवक विशेष को ही सुखादि को देने की बात नहीं बनती है।

यौग-जैसे स्वपति आदि शिल्पिकार एक सूत्रधार के नियम में बद्ध होकर महाप्रासाद आदि कार्य को करते हैं, उसी प्रकार एक ईश्वर के नियम में बद्ध होकर सुख दुःख आदि अनेक कार्य करने में प्राणीगण प्रवृत्त होते हैं ?

जैन-यह कथन ध्रसत् है, ऐसा नियम नहीं है कि ग्रवेष कार्य एक ही व्यक्ति करे, तथा ऐसा भी नियम नहीं है कि ध्रनेक व्यक्ति एक से प्रनुबढ़ होकर ही कार्यों को करे, किन्तु कार्यों का कर्तापना ध्रनेक प्रकार से उपलब्ध होता है, इसी की बताते हैं कहीं पर एक कार्य को एक ही व्यक्ति करता है, जैसे जुलाहा वस्त्र रूप कार्य को करता है। कहीं पर एक कर्ता ध्रनेक कार्यों को करता है, जैसे एक ही कुंभकार घट, सुरई, पलम्भात् । तथाहि-क्वविदेक एवैककार्यस्य कर्त्तोपलम्यते यथा कृतिन्दः पटस्य । क्विविदेकीप्यनेकका-र्याणाम् यथा घटघटीश्वराबोदःचनादीनां कृतालः । क्विविदोकोप्यनेककार्याणाम् यथा घटपटमकुट-शकटादीनां कुलालादिः । क्विविदेकोप्येककार्यस्य यथा शिविकोद्वहनादिकार्यस्यानेकपुरुवसंघातः । न चानेकस्यपत्यादिनिष्पाद्ये प्रासादादिकार्येऽवश्यतयैकसूत्रवारिनयमितानां तेषां तत्र व्यापारः; प्रतिनिय-ताभित्रायाणामप्येकसूत्रवाराऽनियमितानां तत्करणावि रोषात् ।

किञ्च, प्रदृष्टापेक्षस्यास्य कार्यकर्ृत्वे तत्कृतोपकारोऽवस्यंभावी धनुपकारकस्यापेक्षायोगात्। तस्य चातो भेदे सम्बन्धासम्भवः। सम्बन्धकस्पनायां चानवस्या। प्रभेदे तत्कर्र्णे महेस्वर एव कृत इत्यरृष्टकायंतास्य। नाऽस्यारृष्टेन किञ्चित्कियते सम्भूय कार्यमेव विधीयते सङ्कारित्वस्यैककार्यकारि-

सकोरा, भारी ब्रादि ब्रनेक कार्यों को करता है, तथा कहीं पर अनेकों कर्ता धनेकों कार्यों को करते हैं, जैसे घट, पट, मुकुट, शकट आदि को कमशः कुम्हार, जुलाहा, सुनार और बढ़ई करते हैं। कहीं पर अनेक पुरुष मिलकर एक ही कार्य करने में संलग्न हो जाते हैं, जैसे शिविका ढोना आदि एक कार्य में अनेक पुरुष लग जाते हैं। अनेक बढ़ई आदि के द्वारा जिसका निर्माण होना है ऐसे प्रासाद आदि कार्य एक सूत्र-धार से नियमित होकर ही होवे सो भी बात नहीं है अपने अपने कार्य में नियमित अभिप्राय वाले बढ़ई आदि पुरुष एक सूत्रधार के नियम में बंधे विना भी अपना अपना कार्य सम्पन्न कर सकते हैं, कोई विरोध की बात नहीं है।

जैन का याँग के प्रति प्रश्न है कि ईश्वर ग्रहष्ट की श्रपेक्षा लेकर कार्यों को करता है उसमें ग्रहष्टकृत उपकार जरूर रहता होगा, क्योंकि अनुपकारक की अपेक्षा नहीं हुग्रा करती है, ग्रव यदि उस उपकार को ईश्वर से भिन्न मानते हैं तो दोनों का सम्बन्ध नहीं बनता है और सम्बन्ध की कल्पना करें तो अनवस्था आती है तथा उस उपकार को ईश्वर से अभिन्न मानते हैं तो उसके करने में ईश्वर को किया ऐसा ग्रयं होता है ग्रीर इस तरह ईश्वर अदृष्ट का कार्य है ऐसा सिद्ध होता है।

यौग-म्रहष्ट द्वारा ईश्वर का कुछ नहीं किया जाता सिर्फ ये दोनों मिलकर कार्य को करते हैं सहकारी कारण उसीको कहते हैं जो मिलकर एक ही कार्य को करें ?

जैन–यह कथन असत् है, सहकारी की ग्रपेक्षा लेकर कार्यों को उत्पन्न करना यह ईश्वर का स्वभाव है, ग्रव यदि वह स्वभाव ग्रहष्ट ग्रादि सहकारी के मिलने के स्वलक्षर्णस्वात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; सहकारिसव्यपेक्षो हि कार्यजननस्वभावः तस्यादद्दादसहकारिसकि-धानाद्यदि प्रागय्यस्ति तदोत्तरकालभाविसकलकार्योत्पत्तिस्तदेव स्यात् । तथाहि-यद्यदा यज्जननसमर्थ तत्तदा तज्जनयस्यव यथान्त्यावस्थाप्राप्तं वोजमंकुरम्, प्रागण्युत्तरकालभाविसकलकार्यजननसमर्थस्व-कस्वभावतवाम्युपगतो महेश्वर इति । तदा तदजनने वा तज्जननसामध्योभावः, यद्वि यदा यक्ष जनयित न तत्तदा तज्जनसमर्थस्वभावम् यथा कुसूलस्यं बीजमंकुरसजनयन्न तज्जननसमर्थस्वभावम्, न जनयित चीत्तरकालभावि सकलं कार्य पूर्वकार्योत्पत्तिसमये महेश्वर इति ।

तज्जनसमयंस्वभावोप्यसौ सहकायंऽभावात्तया तन्न जनयति; इत्यपि वात्तमः, समयंस्वभाव-स्यापरापेक्षाऽयोगात् । 'समयंस्वभावङ्चापरापेक्षस्य' इति विरुद्धमेतत्, धनायेयाऽप्रहेयातिदायत्वात्तस्य ।

पहले भी है, तो आगामी काल में होने वाले जितने कार्य हैं वे सारे उसी समय हा जायेंगे इसका खुलासा—जो जिस समय जिसको उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उस समय उस कार्य को अवश्य करता है, जैसे—अंतदशा को प्राप्त हुआ बीज अंकुर को उत्पन्न करा देता है, ईश्वर में पहले से ही उत्तरकालीन सकल कार्यों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहती है, क्योंकि वह सदा एक सा स्वभाव वाला है, यदि उस समय सकल कार्यों को उत्पन्न नहीं करता है तो ईश्वर में कार्योत्पत्ति के सामर्थ्य का अभाव हो जायगा। क्योंकि जो जिस समय जिसको उत्पन्न नहीं करता है उस समय उत्तरकालीन संकल कार्यों को जत्य अभाव हो है, ईश्वर भी पूर्व कार्योत्पत्ति के समय उत्तरकालीन सकल कार्यों को नहीं करता है औत: उसमें उन कार्यों को उत्पन्न कराने की सामर्थ्य नहीं है।

यौग-ईश्वर में सकल कार्योत्पत्ति की सामर्थ्य रहती है किन्तु सहकारी का ग्रभाव होने से उत्पन्न नहीं करता है।

जैन~यह बात असंगत है, जो स्वयं समयं स्वभाव वाला है वह पर की अपेक्षा नहीं रखता है, समयं स्वभावी हो और पर की अपेक्षा भी रखने वाला हो यह विरुद्ध बात है। ईश्वर तो अनाधेय और अप्रहेय अतिशयवान है। [ अर्थात् आरोपित करने में नहीं आना अनाधेयता है और भेद नहीं कर सकना अप्रहेय है, यौग मत में ईश्वर को ऐसे अतिशय से युक्त माना जाता है ] तथा ये अहष्टादिक सहकारी ईश्वर के अथीन होकर उत्पन्न होते हैं या बिना अभीन हुए उत्पन्न होते हैं ? प्रथम पक्ष कहो तो किन्न, एते संहकारिएः कि तदायत्तीरपत्यः, अतदावत्तीरपत्तयो वा ? प्रथमपक्षे कि नैकदैवी-त्यद्यन्ते ? तदुत्पादकान्यसहकारियैकल्यान्ने दनवस्था । तथा चास्यापरापरसहकारिजनने एवोपक्षीर्ए-शक्तिकरवान्न प्रकृतकार्ये व्यापारः । बीजांकुरादिवदनादित्वात्तरअवाहस्य नानवस्था दोषायेत्यस्युपगमे महेहवरकल्यनावैयर्थ्यम्, स्वसामग्रमधीनोत्यन्तितया पूर्वपूर्वसामग्रीविशेषवशादपरापराखिलकार्योत्पत्ति-प्रसिद्धे: । अथातदावत्तीरत्त्वाः, तर्हि तैरेव कार्यत्वादिहेतवोऽनैकान्तिकाः इति ।

एतेन 'महाभूतादि व्यक्तं चेतनाचिक्ठितं प्राणिनां सुखदुःसनिमित्तं रूपादिमस्वानुर्यादिवत्' इत्यादीनि वार्त्तिककारादिभिरुपन्यस्तप्रमाणानि निरस्तानिः, यादशं हि रूपादिमस्वमनित्यत्वं च चेतनाधिक्षितं वास्यादी प्रसिद्धं तादशस्य क्षित्यादावसिद्धेः। रूपादिमस्वमात्रस्य च चेतनाधिक्षितःवेन

एक काल में ही सबकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? उनके उत्पादक अन्य सहकारी कारण नहीं रहने से एक काल में सबकी उत्पत्ति नहीं होती ऐसा कहे तो अनवस्था म्राती है, तथा इस प्रकार ईश्वर अन्य अन्य सहकारों को उत्पन्न करने में ही क्षीण शक्ति वाला होने से प्रकृत कार्य में व्यापार नहीं कर सकता है।

यौग—बीज श्रौर अंकुर के समान अनादि प्रवाह रूप सहकारी कारणों का मिलने की श्रौर कार्य होने की परंपरा चलती है श्रतः कोई दोष नहीं है ?

जैन-फिर महेश्वर को मानना ही ब्यर्थ है, सभी कार्यों की उत्पत्ति ग्रपनी सामग्री के ग्रधीन है, पूर्व पूर्व सामग्री विशेष से उत्तर उत्तर अखिल कार्य होते रहते हैं ऐसा सिद्ध होता है, यदि दूसरे पक्ष की बात करें कि वे सहकारी कारण ईश्वर के ग्रधीन न हाकर कार्योत्पत्ति करते हैं, तब तो उन्हीं सहकारी कारणों के साथ कार्यत्व ग्रादि हेतु व्यभिचरित होते हैं। [ ग्रर्थात् सब कार्य ईश्वर ही करता है ऐसा यौग का कहना था किन्तु यहां सहकारी की उत्पत्ति होना रूप कार्य बिना ईश्वर के होना स्वीकार किया ग्रत: पूर्वोक्त कथन ग्रमैकांतिक होता है ]

इस प्रकार ईश्वर को जगतकर्ता सिद्ध करने में दिये गये कार्यत्वादि हेतु का निरसन हुग्ना इसी प्रकार महाभूतादि व्यक्त प्रधान चेतन से श्रिधिष्ठित होकर प्राणियों के सुख दुःखादि का निमित्त होता है, क्योंकि वह रूपादि मान है, जैसे बादित्र ग्रादिक, इत्यादि वार्तिककार द्वारा प्रयुक्त हुए अनुमान भी निराकृत हुए समक्ष्मा चाहिये, क्योंकि बादित्र, वसूला ग्रादि में जिस प्रकार का रूपादिमत्व एवं अनित्यत्व चैतन्य से श्रिधिष्ठत है उस प्रकार का पृथ्वी ग्रादि में नहीं है तथा रुपादिमत्व हेतु का चेतना-

प्रतिबन्धासिद्धः प्राशिङ्कतविपक्षवृत्तितयाऽनैकान्तिकत्वम् । प्रतिबन्धाम्युपगमे नेष्टविपरीतसाधनाद्धि-रुद्धमित्यादि पुर्वोक्तः सर्वमत्रापि योजनीयम् ।

किञ्च, ईरुवरबुद्धे रिनित्यत्वप्रसाधनात्तदिभिन्नस्येश्वरस्यानित्यत्वप्रसिद्धे स्तस्याप्यषरबुद्धिमद-चिष्ठितस्वप्रसङ्गः स्यादित्यनवस्था । तदनिविष्ठितत्वे वा तेनैवानेकान्तो हेतोः ।

यञ्चोक्तम्-'सर्गादौ पुरुषारागं व्यवहारः' इत्यादिः, तत्रोत्तरकालं अबुद्धानामित्येतद्विशेषराम-सिद्धम् । न खलु प्रलयकाले प्रलुप्तजानस्मृतयो वितनुकररागः पुरुषाः सन्ति, तस्यैव सर्वधाऽप्रसिद्धः । सिद्धौ वा स्वकृतकार्यवाद्यविष्ठकानान्तरेषु (न्तरो)त्यत्तेस्त्रोषां कथं वितनुकरराग्त्यं प्रलुप्तज्ञानस्मृतित्वं वा ? सन्दिरखविषक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्त्विकस्य हेतुः ।

घिष्ठित के साथ अविनाभाव सिद्ध नहीं है अतः इसमें शंकित विपक्ष वृत्ति होने से अनैकांतिक हेरवाभासपना भी है। यदि चेतन के साथ रूपादिमस्व हेतु का अविनाभाव मानेंगे तो इष्ट साध्य से विपरीत साध्य सिद्ध होने के प्रसंग प्राप्त होना इत्यादि पूर्वोक्त दोष इस अनुमान में भी आते हैं।

दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर की बुद्धि को अनित्य सिद्ध करेंगे तो उस बुद्धि से अभिन्न रहने वाला ईश्वर भी अनित्य सिद्ध होता है फिर अनित्य ईश्वर का अन्य कोई बुद्धिमान अधिष्ठायक मानना होगा क्योंकि जो अनित्य होता है वह बुद्धिमान द्वारा ही निर्मित होता है ऐसा यौग के यहां नियम है अतः अनवस्था आती है। अनित्य ईश्वर रूप कार्य को अन्य बुद्धिमान से अधिष्ठत (निर्मित) नही मानते हैं तब तो पूर्वोक्त कार्यत्वादि हेतु स्पष्ट रूप से अनैकांतिक सिद्ध होते हैं।

पहले जो कहा था कि सर्ग के ग्रादि में पुरुषों का व्यवहार ग्रन्योपदेश पूर्वक होता है इत्यादि इस कथन में "उत्तर कालं प्रबुद्धानां" ऐसा जो विशेषण है वह प्रसिद्ध है, क्योंकि प्रलयकाल में ज्ञान, स्मृति, शरीर और इन्द्रियां जिनकी लुप्त हुई हैं ऐसे पुरुष नहीं हैं, क्योंकि प्रलय की सर्वया ग्रसिद्धि है यदि सिद्ध भी हो तो प्रलयकाल के ग्रनंतर तत्काल ही पुरुषों के ग्रपने कर्मानुसार ज्ञावांतर की उत्पत्ति हो ज्याती है, ग्रतः उनके शरीर रहितपना, विलुप्तज्ञान, स्मृतिपना मानना कैसे सिद्ध होवेगा ? नहीं हो सकता है, तथा हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्त वाला होने से अनेकांतिक भी है [ अर्थात् सर्ग के ग्रादि में ग्रन्य उपदेश पूर्वक ही कार्य में प्रवृत्ति होती है क्योंकि वह कार्य है, इस ग्रनुमान का कार्यत्व हेतु साध्य से विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि संसारी कार्य अन्य

किञ्च, अन्योपदेशपूर्वकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता; अनादेव्यंवहारस्याशेषपुरुषाणामन्योपदे-शपूर्वकत्वेनष्टस्वात् । ईश्वरोपदेशपूर्वकत्वे तु साध्येऽनैकान्तिकता, अन्ययापि तत्सम्भवात् । साध्यवि-कलता च दृष्टान्तस्य । न चास्योपदेष्ट्रत्वसम्भवो विमुखत्वान्युक्तात्मवत् । तच्च वितनुकरण्तयोपग-मारप्रसिद्धम् ।

'स्थित्वा प्रवृत्तेः' इति चेश्वरेष्णैवानेकान्तिकम्, स हि क्रमवत्कार्येषु स्थित्वा प्रवर्तते न च चेतनान्तराधिक्रतोऽनवस्थाप्रसङ्गान् इति ।

म्रनयेव दिशा 'सप्तशुवनान्येकबुढिमिन्निमिता एकवस्त्वन्तर्गतत्वादेकावसयान्तर्गतापवर-कवत्' इत्यादिपरकीयप्रयोगोऽम्यूह्यः । न ह्यो कावसयान्तर्गतानामपवरकादीनामेकसूत्रधारनिर्मित-त्वनियमः येनेदवरः सकलसुवनैकसूत्रधारः सिद्धघे त्, यनेकसूत्रधारनिर्मितत्वस्याप्युपलम्भात् ।

उपदेश पूर्वक ही होवे सो बात नहीं है चोरी आदि श्रसत कार्यों में बिना परोपदेश के भी प्रवृत्ति होती है | तथा यौग को इतना ही इष्ट हो कि कार्य में पूरुष की प्रवृत्ति ग्रन्य उपदेश पूर्वक ही होती है, तो यह सिद्ध साध्यता है। क्योंकि व्यवहार श्रनादि कालीन है, सभी पुरुषों की कार्य में प्रवृत्ति सामान्यतः ग्रन्य किसी के उपदेश पूर्वक होती है यह बात तो इष्ट है, किन्तू आप अन्योपदेश का अर्थ ईश्वर पूर्वक ही करें भौर उसा को नाव्य बनावे तब तो साध्य में अनैकान्तिकता होगी, क्योंकि अन्य प्रकार से भी उपदेश संभव है, हप्टांत भी साध्य विकल है। ईश्वर का उपदेश देना भी शक्य नहीं है. क्यों के वह विमुख है जैसे मुक्तात्मा विमुख होने से उपदेशक नहीं है, उसका विमुखपना शरीर एवं इन्द्रिय रहित स्वीकार करने से प्रसिद्ध ही है। जगत के कार्य चेतानान्तर से अधिष्ठित होकर ही प्रवर्तते हैं ऐसा सिद्ध करते समय 'उद्योत करने' "स्थित्वा प्रवृत्तेः" यह हेत् दिया है किन्त् वह ईश्वर से ही व्यभिचरित है, ईश्वर कमिक कार्यों में ठहरकर प्रवृत्ति करता है, किन्तु अन्य चेतन से अधिष्ठित होकर नहीं करता ग्रन्यथा ग्रनवस्था का प्रसंग आयेगा । यहां तक ग्रन्य अन्य ग्रंथकारों द्वारा रचित ईश्वर सिद्धि सम्बन्धी आगम वाक्यों का खंडन हुआ, इसी तरह "सातों भुवन एक बृद्धिमान के द्वारा निर्मित हैं" क्योंकि वे एक वस्तु के अन्तर्गत हैं, जैसे महल के अन्तर्गत कमरे होते है, इत्यादि अनुमान वाक्य भी निराकृत समभना । एक महल के अन्तर्गत जो ग्रनेक कमरे हैं उनको एक सुत्रधार ने ही बनाया हो सो बात नहीं है ग्रतः उसके समान ईश्वर भी सकल भवन का एक सुत्रधार है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता, महल के कमरे ग्रनेक सत्रधार निर्मित भी हो सकते हैं।

एकाधिष्ठाता ब्रह्मादयः पिशाचान्ताः परस्परातिशयवृत्तित्वात्, इह येषां परस्परातिशयवृत्तित्वं तेषामेकायसता दृष्टा यथेह लोके गृहश्रामनगरदेशा विपतीनामेकस्मिन्तावंभौमनरपती, तथा शुजगर-क्षोयक्षप्रभृतीनां परस्परातिशयवृत्तित्वं च, तेन मन्यामहे तेषामेकस्मिन्नीश्वरे पारतन्त्र्यम्; इत्यसम्यक्; भ्रत्र हि 'ईदवराक्ष्येनाधिष्ठायकेनैकाधिष्ठानाः' इति साध्यऽनैकान्तिकता हेतीविपर्यये बाधकप्रमाणाभा-वात् प्रतिबन्धासिद्धे:। दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता । 'अधिष्ठायकमात्रेण साधिष्ठानाः' इति साध्ये सिद्धसाध्यताः स्विनकायस्वामिनः शक्कादेर्भवान्तरोपात्ताऽष्टस्य चाधिष्ठायकत्याम्युपगमात् ।

यौग-ब्रह्मा से लेकर पिशाच तक जितनी देवयोनि हैं वे सब एकाधिष्ठान स्वरूप ईश्वराधिष्ठित हैं, क्योंकि परस्पर में अतिशय वृत्ति वाले हैं इह लोक में जिनका परस्पर में अतिशयितपना होता है वे एक प्रमुखाधीन देखे जाते हैं, जैसे गृहपति, प्रामपति, नगरपति आदि एक सार्वभौम ( चक्रवर्ती के ) अधीन हैं, ऐसे ही नागेन्द्र, राक्षस, यक्ष आदि में परस्पर में अतिशयपना है, इसलिये एक ईश्वर में अधिष्ठित हैं ऐसा हम मानते हैं ?

जैन-यह कथन अयुक्त है इस अयुमान में एक ईश्वर नाम के अधिष्ठाता से अधिष्ठित ब्रह्मादिक होते हैं ऐसा जो साध्य है, उसमें हेनु की अनैकांतिकता है, क्योंकि इस हेनु के साथ अविनाभाव नहीं होने से विपक्ष में जाना सम्भावित है, कोई बाधक प्रमाग् नहीं है। तथा ब्रह्मादिक अधिष्ठान मात्र से अधिष्ठित हैं ऐसा साध्य बनाते हैं तो सिद्ध साध्यता है क्योंकि हम लोग स्वगं के देवों का स्वामी इन्द्र को पूर्वभव के पुण्यरूप अधिष्ठायक से अधिष्ठित मानते ही हैं इस प्रकार ईश्वर ही अकेला सकल जगत का कर्ता है ऐसा कथन किसी भी निवांप प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है अतः ईश्वर के अनादि मुक्तपना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है जिससे कि उसको सर्वज माना जाय।

भ्रव यहां जगत कर्नृत्व का निरसन करने वाला अनुमान उपस्थित करते हैं—
पृथ्वी, पर्वत ग्रादिक पदार्थ एक एक स्वभाव पूर्वक नहीं होते हैं, क्योंकि विभिन्न देश,
विभिन्न काल एवं विभिन्न भ्राकार वाले हैं जो इस प्रकार हैं वे ऐसे ही होते हैं, जैसे—
घट, पट, मुकुट, शकट विभिन्न विभिन्न देश ग्रादि विशेष रूप रहते हैं, श्रतः एक
स्वभाव पूर्वक नहीं होते हैं, पृथ्वी पर्वत आदि पदार्थ भी भिन्न भिन्न देश, काल श्रीर
ग्राकार से युक्त हैं ग्रतः ये भी एक स्वभाव पूर्वक नहीं हैं। यह विभिन्न देश काल
ग्राकारकार हेतु ग्रसिद्ध भी नहीं है, क्योंकि इन पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष ग्रादि पक्ष में, भिन्न

ततो महेश्वरस्याशेषजगत्कर्गृ त्वप्रसाधकस्यानवद्यप्रमाग्गस्यासम्भवात् कृतोऽनादिभुक्तत्वसिद्धि-यतोऽनाद्योषज्ञत्वमस्य स्यात् ? प्रयोगः-क्षित्यादिकं नैकैकस्वभावभावपूर्वकं विभिन्नदेशकालाकार-त्वात्, यदित्यं तदित्यम् यया घटपटमकुटशकटादि, विभिन्नदेशकालाकारं चेदम्, तस्मान्नं कैकस्यभाव-भावपूर्वकमिति। न चेदमसिद्धं साधनम्, उर्वीपर्वतत्वादी धर्मिण् विभिन्नदेशकालाकारत्वस्य सुप्रसिद्ध-त्वात्। नाष्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा; विपक्षस्यैकदेशे तत्रैव वा वत्तरभावात्।

नन्वेकस्याप्यनेककार्यंकर शकुशलस्य कर्त्तुं विचित्रसहकारिसान्निच्ये विचित्रकार्यकारित्वं दृश्यते, म्रतीऽनेकात्तः; इत्यप्यनुपपन्तमः, तत्राप्येकस्वभावत्वस्यासिद्धः, स्वरूपमभेदयतां सहकारित्वस्यासम्भ-वप्रतिपादनात् । नापि कालात्ययापदिष्टमः, प्रत्यक्षागमान्यां पक्षस्याबाध्यमानत्वात् । न हि श्चित्यादौ विचित्रकार्ये प्रत्यक्षेत्रौकैकस्वभावः कर्त्तापलयते, तस्यातीन्त्रियतया प्रत्यक्षागोचरत्वस्य प्रागेव प्रति-पादनात्, स्रागमस्यापि तत्प्रतिपादकस्य प्रागेव प्रतियेषात् । नापि सत्प्रतिपक्षमः, विपरीतार्योपस्था-पकस्यानुमानात्तरस्याभावात्, कार्यत्वादिहेतुनां चात्रैवानेकदोषदृष्टत्वप्रतिपादनादिति ।

भिन्न देश, काल आकारत्व प्रत्यक्ष से ही प्रसिद्ध है। तथा यह हेतु अनैकांतिक भी नहीं है और विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि विपक्ष के देश में रहना या मात्र विपक्ष में रहना इत्यादि हेतु सम्बन्धी दोषों से रहित है।

यौग-एक पुरुष भी अनेक कार्य करने में कुशल होता है, उसको जब विचित्र विचित्र सहकारी कारण मिलते हैं तब वह ग्रनेक कार्य करता ही है, अतः ग्रापके अनुमान अनेकान्तिक दोष आता है।

जैन — यह कथन ठीक नहीं है, एक पुरुष में एक स्वभाव नहीं है किन्तु ग्रनेक स्वभाव हैं, तथा यह भी बात है कि जिसके स्वरूप में सर्वथा ग्रभेद (एकरव) रहता है उसमें सहकारी कारणों की सम्भावना होना अशक्य है ऐसा पहले सिद्ध कर चुके हैं। यह विभिन्न देश काल आकारत्व हेतु कालात्यापादिष्ट भी नहीं है, वर्धों कि इस हेतु के पक्ष में प्रत्यक्ष ग्रीर आगम प्रमाण से बाधा नहीं ग्राती है। पृथ्वी ग्रादि अनेक कार्यों का कर्ता एक ईश्वर है, ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत नहीं होता है क्यों कि अतीन्द्रिय होने से ईश्वर प्रत्यक्ष के ग्रगोचर है ऐसा पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं, ग्रीर ईश्वर का प्रतिपादन करने वाले आगम का खण्डन हो चुका है। यह हेतु सत्प्रतिपक्षी भी नहीं है, क्योंकि साध्य से विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला कोई अनुमान नहीं है कार्य-त्वादि हेतु वाले ग्रनुमान ग्रनेक दोषों से ग्रुक्त है ऐसा पहले ही सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार करने वाले ग्रनुमान ग्रनेक दोषों से ग्रुक्त है ऐसा पहले ही सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार करने तक्ष्य ईश्वर की सिद्ध नहीं होती है।

### ईश्वरवाद का सारांश

पूर्वपक्ष-नैयायिक वैशेषिक सृष्टि कर्ता को मानते हैं उनका कहना है कि सर्वज्ञ कर्मों का नाश करके बनता हो ऐसी बात नहीं है, एक अनादि महेश्वर है वही सर्वज्ञ है. उसकी सर्वज्ञता जगत की रचना से सिद्ध होती है पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान के द्वारा निर्मित है, क्योंकि वे कार्य हैं, जैसे घटादि कार्य हैं, यह अनुमान हमारे अनादि ईश्वर को सिद्ध कर देता है, पृथ्वी म्रादि हमेशा से रहते हैं तो उसका निर्माता भी हमेशा से रहना चाहिये। कोई जैनादि कहे कि घटादि का कर्ता सशरीरी है वैसे ही ईश्वर होना चाहिये सो बात नहीं, कार्य करने के लिये शरीर की जरूरत नहीं होती वहां तो ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न की जरूरत होती है पथ्वी भ्रादि कार्य है यह बात उनके अवयव यक्त होने के कारण सिद्ध होती है, जो सावयव होता है वह कार्य है जैसे प्रासाद । पथ्वी ग्रादि का सावयव पना ग्रीर महल ग्रादि का सावयवपना भिन्न भिन्न है ऐसा भी नहीं समभना । यदि कहे कि स्रकृष्ट प्रभव तृणादि का कर्ता नहीं है, सो बात भी नहीं, ६नमें जो कर्ता का ग्रहण नहीं होता उसका कारण वह भ्रतीन्द्रिय है। स्राप पृथ्वी स्रादि के परमाणुत्रों को कर्त्ता मानते हैं किन्तू ऐसा करने से इन पथ्वी ग्रादि का ग्रहष्ट नामा कारण ग्रसिद्ध हो जाता है। स्थावरादि पदार्थों का बुद्धिमान कर्त्ता नहीं है इसलिये दिखायी नहीं देता है अथवा कर्त्ता है तो भी वह अनुपलब्धि लक्षण वाला है (अदृश्य) इसलिये दिखाई नहीं देता है इस तरह कर्ता के बारे में संशय रहने से कार्यत्व हेत् संदिग्ध अनेकान्तिक मिद्ध करोगे तो सभी अनुमान के हेतू इसी दोष के शिकार बन जायेंगे, जहां कहीं भी अग्नि न दिखकर धम दिखेगा तो शंका होगी कि क्या मालूम यहां पर अग्नि नहीं दिखायी देती वह नहीं है इसलिये अथवा ग्रनुपलब्धि स्वभाव वाली है इसलिये ? इत्यादि रूप से प्रसिद्ध हेतू भी गलत ठहरेंगे । यह सर्वज्ञ करुणा के सागर है ग्रतः जगत को रचता है तो सुखी प्राणी को बनाते दुखी को काहे को बनाया ? सो उसमें बड़ा रहस्य छिपा हम्रा है प्राणिश्रों का जो ग्रहष्ट पुण्य पाप है उनको भोगे बिना मोक्ष नहीं मिलता ग्रर्थात पुण्य पापादि भोग कर ही नष्ट हो सकते हैं ग्रन्थया नहीं, इसीलिये तो जल्दी से वे प्राणी उन्हें भोग कर नष्ट करें इस हेतू से ईश्वर भोग के साधनभूत पदार्थों को दोनों सुख दुख के रूप

से निर्माण करता है (यदि सुख साधन ही बनाता तो दुख रूप पाप श्रदृष्ट का नाश न होता फिर मोक्ष भी कैसे मिलता) यह जैन का कहना भी ठीक नहीं कि सारा काम अटष्ट ही करे क्योंकि अटष्ट अचेतन है, वातिकाकार अविद्धकर्ण, प्रशस्तमति, उद्योतकर इत्यादि महान व्यक्तियों ने भी उस ईश्वर का अनादि सर्वज्ञपना स्वीकार किया है।

उत्तरपक्ष-जैन इनके मंतव्य का निरसन करते हैं, ग्राप यौग के कार्यत्व और सावयवत्व हेत् सदोष है। पहले ग्रापने कार्यत्व हेत् से बुद्धिमान कर्ता को सिद्ध किया, फिर कार्यत्व को भी सावयवत्व के द्वारा सिद्ध किया अब यह बता दो कि सावयवत्व किसे कहते हैं ? अवयवों के साथ रहना या अवयवों से उत्पन्न होना ? अवयवों के साथ रहना कहो तो सामान्य के साथ व्यभिचार है क्योंकि वह भ्रवयवों के साथ रहकर भी किसी का कार्य नहीं है, इस तरह दूसरा पक्ष भी बेकार है। आप ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न को ही कार्य का कर्ता मानते हैं किन्तु वह आपको ही घातक होगाा मुक्तात्मा में ज्ञानादि हैं वे भी सुष्टि रचना शुरू कर देगें ? तथा ऐसा बिना शरीर के कार्य करते हुए जगत में देखा भी नहीं जाता है। बुद्धिमान में बुद्धि व्याप्त होकर रहती है या ग्रव्याप्त यह भी एक जटिल प्रश्न है ? ग्रापने कहा कि ग्रहण्ट की सहायता से कार्य करता है सो उनके परतंत्रता का ही सुचक है, धमादि सभी हेतुओं को संदिग्धानैकान्तिक बताना अज्ञानता है, धमादि हेतू सामान्य अग्नि को ही सिद्ध करते हैं, न कि विशेष किसी ग्रग्नि को, सारांश यह है कि सामान्य हेत् विशेष साध्य को सिद्ध नहीं करता । श्रापने कार्यत्व सामान्य तो हेत दिया और उससे विशेष बृद्धि-मान कारण रूप (ईश्वर) साध्य को सिद्ध करना चाहा सो कैसे संभव हो ? कार्यत्व सामान्य तो सामान्य कारण मात्र को सिद्ध करता है, इसी तरह का कार्य कारण भाव सभी वादी प्रतिवादिश्रों ने स्वीकार किया है। ईश्वर की बुद्धि को क्षणिक कहते हो तो उसको बनाने वाला कौन है ? अन्य बृद्धिमान है तो अनवस्था होगी और स्वतः ही बुद्धि पैदा होती है कहो तो उसी से कार्यत्व हेतु व्यभिचारी हुआ ? क्योंकि बुद्धि, कार्यरूप होते हुए भी अपने भ्राप उत्पन्न हुई ! फिर तो सारे ही पृथ्वी भ्रादि पदार्थ स्वत: क्यों न होवे । यदि बृद्धि को ग्रक्षिणिक मानों तो शब्द को क्षणिक सिद्ध करने वाला अनुमान गलत ठहरेगा अर्थात "शब्द क्षणिक है, हमारे प्रत्यक्ष होकर अमूर्त द्रव्य का विशेष गूण है" यह जो ग्रनुमान है इसका हेतू ग्रनेकान्तिक है क्योंकि इसमें तो जो

हमारे प्रत्यक्ष होकर अमूर्त द्रव्य का विशेष गुण होता है उसे क्षांगिक सिद्ध किया है भ्रौर ईश्वर की बुद्धि स्रमूर्त्त द्रव्य का विशेष गुण होते हुए भी उसे नित्य मान दिया सो व्यभिचार हुया।

श्रचेतन द्रव्य चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्य करें ऐसा नियम नहीं है चेतन भी चेतन से ग्रधिष्ठित होकर कार्य करते हैं जैसे पालकी ढोने वाले पुरुष अपने स्वामी के अधिष्ठित रहते हैं यह भी कोई जरूरी नहीं कि कारण सामग्री का पूरा ज्ञान होने के बाद ही कार्य करते हैं, हम लोगों को तो पूरी सामग्री का बोध होना ही संभव नहीं, क्योंकि कारण सामग्री से परमार्ग ग्रहष्टादि तो कभी हमारे ज्ञान के विषय हो ही नहीं सकते । तमने कहा था कि ईश्वर परम दयालु है, किन्तु वह क्या करे जीवों के अहष्ट के अनुसार उन्हें सुख दुख ग्रादि सामग्री को पैदा करना पडता है सो ऐसे क्यों? क्या ईश्वर आधीन वह ग्रहष्ट नहीं है ? उस ग्रहष्ट को ही पाप रूप क्यों बनावें ? सभी कार्य को एक ही करें सो भी हटाग्रह गलत हैं, एक कार्य को एक व्यक्ति भी करता है जैसे वस्त्र को जुलाहा बनाता है एक व्यक्ति अनेक कार्यों को भी जैसे कूंभकार घड़ा मटकी सकोरादि को बनाता है, अनेक मिलकर एक कार्य करना भी कहा है जैसे चार पुरुष एक पालकी ढोने का कार्य करते है। तथा ईश्वर यदि कार्य करने में स्वतः समर्थ है तो एक क्षण में ही सारे कार्य कर डालेगा, किन्तु ऐसा है नहीं, सहकारी की ग्रपेक्षा लेता है तो वे सहकारी कारण ईश्वर निर्मित हैं ग्रथवा नहीं ? ईश्वर निर्मित हैं तो वही एक साथ कार्य करना रूप ग्रापति खड़ो है और ईश्वर के द्वारा निर्मित नहीं है तो वही कार्यत्व हेत् व्यभिचारी हुम्रा क्योंकि सहकारी तो कार्य होते हुए भी ईश्वर कृत नहीं है। इस प्रकार ईश्वर अनादि निधन सिद्ध नहीं हुआ, वह तो ग्रावरण कर्म के नाश करने से ही सिद्ध होता है वह कोई एक नहीं, न अनादि है जो कोई भी अन्य जीव ग्रपने परुषार्थ से कर्म को नष्ट करेगा वह सर्वज्ञ बनेगा। इस तरह सुष्टि रचना ग्रौर उसका कर्ता ईश्वर दोनों ही खण्डित हुए। सृष्टि तो अपने ग्राप स्वभाव से श्वनादि निधन है श्रीर ईश्वर (भगवान सर्वज्ञ) कर्मों का नाश करके होते हैं यह बात निर्विवाद सिद्ध हुई।

#### । ईरवरवाद का सारांश समाप्त ॥



ननु साञ्चक्तमावरएगायो सर्वज्ञत्वमिति । तत्तु प्रकृतेरेव श्रत्रैवावरएग्सम्भवात्, नात्मनस्तस्या-वरएगभावात् "प्रधानपरिएगमः शुक्लं कृष्णं च कर्षं" [ ] इत्यभिधानात् । निखलजग-त्कृतृ त्वाच्चास्या एवाशेषज्ञत्वमस्तु; तदेतदम्यसमीक्षिताभिधानम्, कर्मएगः प्रधानपरिएगमताप्रतिवेधात् सकलजगत्कृतृ त्वस्य चासिद्धेः । ननु श्रकृतिप्रभवेवेयं जगतः सृष्टिप्रक्रिया, तत्कयं तस्यास्तत्कृतृ त्वा-सिद्धिः ? तथा हि—

> "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गग्णश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पश्चम्यः पश्च भूतानि ॥"

[सांख्यका० २१]

सांख्य-जैन ने उचित ही कहा कि आवरण के अपाय होने पर सर्वज्ञता प्रगट होती है। किन्तु वह प्रकृति के होती है, क्योंकि इसी पर आवरण आना संभव है, आत्माके नहीं, उसका भी कारण यह है कि आत्माके आवरण होना असंभव है। कहा भी है कि प्रकृति के परिणाम कर्म कहते हैं, उसके कृष्ण कर्म और णुक्ल कर्म ऐसे दो भेद हैं। तथा सकल जगत का कत्ती होने से प्रकृति के ही सर्वज्ञता सिद्ध होती है।

जैन-यह कथन अविचार पूर्ण है, कर्म में प्रधान परिणाम होने का प्रतिषेध कर चके हैं, तथा इसके सकल जगत के कर्तापन की भी असिद्धि है।

े सांस्थ-यह सृष्टि की प्रक्रिया प्रधान से ही प्रसृत है, उसके कर्त्तृत्वकी असिद्धि किसप्रकार कर सकते हैं ? सृष्टि के विषयमें कहा है कि—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्चषोङशकः । तस्मादिप षोडशकात् पंचभ्यः पंच भृतानि ॥१॥

ग्रर्थ-प्रकृति से महान् (बुद्धि) महानसे श्रहंकार, अहंकार से सोलह गण सोलह गण से पंचभूत प्रादुर्भूत होते हैं। श्रर्थात् सर्व प्रथम प्रकृति से विषय का प्रयमं हि प्रकृतेमंहान्-विषयाच्यवसायलक्षणा बुद्धिरुत्यवते । बुद्धे श्चाहंकारोऽहं सुभगोऽहं दर्शनीय इत्याद्यभिमानलक्षणः । ग्रहङ्कारात्यव्य तत्मात्राणि शब्दस्यग्रंकपरसगन्धात्मकानि, इन्द्रियाणि चैकादश पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक् चर्लुाज्ञहाप्राण्मस्यागिन, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणि-पादपायुपस्यसंज्ञानि, मनश्च सङ्कृत्यलल्लाण्म्-भोजनार्षं हि तत्र गृहे यास्यामि कि दिष भविष्यति गुडी वा भविष्यति इत्येवं सङ्कृत्यवृत्तिमंनः । पञ्चम्यद्व तत्मात्रेम्यः पञ्च भूतानि-शब्दादाकार्यः, स्यविद्यानु, स्यालेजः, रसादायः, गन्यात्युच्वीति । पृद्धश्चेति । पञ्चविद्यतितत्त्वानि ।

प्रकृत्यात्मकाश्चेते महदादयो भेदाः न त्वऽतोऽत्यन्तभेदिनो लक्षराभेदाभावात् । तथाहि—

"त्रिगुर्गमिववेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि । ब्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तवा च पूमान् ॥"

[सांख्यका०११]

अध्यवसाय करने वाली बुद्धि (जान) उत्पन्न होती है, उससे महंकार होता है, वह महंकार मैं सुभग हूं, इत्यादि म्रिभान स्वरूप हुम्रा करता है। म्रहंकार से शब्द, स्पर्ण, रूप, रस, संघात्मक पांच तन्मात्राएँ, श्रोत्र, स्पर्णन, लखु, जिह्वा, घ्राण ये पांच बुद्धी- विद्या, वचन, हस्त, पाद, पायु (जननेन्द्रिय) उपस्थ (योनि) ये पांच कर्मेन्द्रियां, संकल्प स्वरूप मन जो संकल्प कराता है कि भोजनके लिये उस घरमें आऊ गा उसमें भोजन में गुड़ होगा या दही होगा इत्यादि, ये सब एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। पांच तन्मात्राम्नोंसे पंचभूत पैदा होते हैं गब्द तन्मात्रासे स्राकाश, स्पर्णसे वायु, रूपसे अग्नि, रससे जल, एवं गंधसे पृथिवी म्राविभूत होती है। ये प्रधान स्वरूप २४ तस्व हैं पच्चीसवां पुरुषतत्त्व है।

ये महान आदि भेद प्रकृत्यात्मक हैं इनमें लक्ष्मण भेद का स्रभाव होने से स्रत्यन्त भिन्नता नहीं पायी जाती है, आगे इसीको स्पष्ट करते हैं-प्रधान त्रिगुणात्मक होता है स्रयांत् सत्व रज और तमोगुणयुक्त होता है, तथा यह प्रधान स्रविवेकी स्रयांत् प्रकृतिसे स्रभिन्न है, क्योंकि कारण से कार्य स्रभिन्न ही होता है, तथा विषय स्रयांत् ज्ञानका विषय है, सामान्य है स्रयांत् सर्व पुरुषोंका भोग्य है, स्रवेतन स्रयांत् जड़ है, प्रसवधर्मी स्रयांत् बुद्धि स्रादिको उत्पन्न करने वाला है, किन्तु पुरुष (आत्मा ) इससे विपरीत है अर्थात् सत्वादि गुण रहित, विवेकी इत्यादि स्वभाव वाला है।

लोके हि यदात्मकं कारणं तदात्मक्षेत्र कारँगुपलच्यते यथा कृष्णैस्तन्तुभिरारुक्षः पटः कृष्णः । एवं प्रधानमपि त्रिगुणात्मकम्, तथा बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभुतात्मकं व्यक्तमपि । तथाऽवि-वेकि—'इमे सत्त्वादय इदं च महदादि व्यक्तम्' इति पृथककत् न शक्यते । किन्तु 'ये गुणास्तद्ध्यक्तं यद्व्यक्तं ते गुणाः' इति । तथा व्यक्ताव्यक्तद्वयमपि विषयो भोग्यस्वभावस्वात् । सामान्यं च सर्वपुरुवाणां भोग्यस्वारपण्यस्त्रीवत् । क्रवेतनात्मकं च सुलदुःखमोहावेदकत्वात् । प्रसवधाम तथाहि-प्रधानं बुद्धि जनयित, बुद्धिरप्यहङ्कारम्, अहङ्कारोपि तन्मात्राणीन्द्रियाणाः चैकादश, तन्मात्राणि च महाभूतानीति ।

प्रकृतिविकृतिभावेन परिगामविशेषाह्रक्षणभेदोप्यविरुद्धः । यथोक्तम्--

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरोतमव्यक्तम् ॥''

[सांख्यका० १०]

लोकमें देखा जाता है कि जिसरूप कारण होता है उसीरूप कार्य उपलब्ध होता है, जिसप्रकार कृष्ण तंतुश्रोंसे बना हुआ पट कृष्ण रहता है। इसीप्रकार प्रधान भी त्रिगुणात्मक है, तथा व्यक्त प्रधान भी बृद्धि, ग्रहंकार, तन्मात्रायें, इन्द्रियां पंचभूत इन रूप है। ये सत्वादि गुण हैं और यह महदादि व्यक्त है ऐसा विभाग करना श्रशक्य होनेसे प्रधान को श्रविवेकी कहते हैं। प्रधानमें जो गुण है वही व्यक्त है और जो व्यक्त है वही गुण है ग्रत: विवेचना रहित होनेके कारण यह श्रविवेकी है। सर्व पुरुषोंको भोग्य होनेसे पण्य स्त्री (वेश्या) के समान प्रधान को सामान्य कहा जाता है। मुख, दुःख एवं मोह का वेदन नहीं करने से प्रधान श्रवतन है। प्रधान प्रसव धर्मी भी है, ग्रर्थात् प्रधान बुद्धिको उत्पन्न करता है, बुद्धि ग्रहंकारको, ग्रहंकार तन्मात्राओं को श्रोर ग्यारह इन्द्रियोंको उत्पन्न करता है, श्रीर तन्मात्रायों ही पंच महाभूतों को [पृथ्वी जल वायु अग्नि श्राकाश को] उत्पन्न करती हैं।

इन महदादिमें प्रकृतिका विकृतिभाव होनेके कारण परिणाम विशेषसे लक्षणों का भेद होना भी श्रविरुद्ध है, जैसा कि कहा है—व्यक्त प्रधान हेतुमत् है, श्रनित्य, अव्यापि, क्रियावान, श्रनेक, श्राश्रित, लिंग, सावयव, एवं परतन्त्र है, इससे विपरीत ग्रव्यक्त प्रधान है। व्यक्त प्रधान ही कारणवान् [हेतुमान] है, ग्रागे इसीको स्पष्ट करते हैं—प्रधानसे हेतुमान बुद्धि ग्राविर्णुत होती है, बुद्धिसे श्रहंकार, ग्रहंकार से पंच व्यक्तमेव हि कारएवत्; तवाहि-प्रधानेन हेतुमती बुद्धिः, बुद्ध्या चाहङ्कारः, ग्रहङ्कारेए पञ्च तन्मात्राध्येकादशः चेन्द्रियाणि, भूतानि तन्मात्रैः। न त्येवसव्यक्तम्-तस्य कृतव्यवदनुत्ततः। तथा व्यक्तमित्यम् उत्पक्तियमंकत्वात्, गाव्यक्तम् तस्यानुत्पत्तिमस्यात्। यथा च प्रधानपुरुषौ दिवि चान्त-रिस्तेऽत्र सर्वत्र व्यापितया वर्तेते न तथा व्यक्तम् । यथा च संसारकाले त्रयोदश्विकेन बुद्ध्यऽङ्क्कारिन्द-यक्तस्योत संयुक्तः सुक्ष्मश्चरीरादिकं व्यक्तः संसरितः, नैवमव्यक्तः तस्य विभुवेन सक्रियत्वायोगात्। बुद्ध्यहङ्कारादिभेदेन चानेकविषं व्यक्तम्, नाव्यक्तम् तस्यक्तस्य तत्ताकारणस्यात् । प्राप्तितं च व्यक्तम्, यद्यस्मादुत्यवते तस्य तदाश्वितत्वत्वत्। न त्वेवमव्यक्तम् तस्याकार्यत्वत्। लिङ्कं च 'लयं गच्छति' इति कृत्वा, "प्रक्षयकाले हि भूतानि तन्मात्रेश्च लीयन्ते, तन्मात्राग्रीन्द्रियाणि चाहङ्कारे. ग्रहङ्कारो बुद्धौ, बुद्धस्य प्रधाने। न चाव्यक्तं व्यविद्यित्व यं गच्छतीति तस्याविद्यमानकारए।त्याद्याद्यः स्व

तन्मात्रायें और ग्यारह इन्द्रियां एवं उन्हीं तन्मात्रात्रोंसे पंचभत होते हैं, ग्रत: उत्तरी-त्तर हेत्मान होनेसे प्रधानको हेतुमान कहते हैं। ग्रव्यक्त प्रधान इस तरह का नहीं है, क्योंकि उसकी किसी से उत्पत्ति नहीं हुई है। तथा उत्पत्ति धर्मवाला होनेसे व्यक्त प्रधान तो ग्रनित्य है ग्रीर अव्यक्त प्रधान उत्पत्तिमान नहीं होनेसे नित्य है। तथा जिसप्रकार प्रधान और पुरुष स्वर्गमें ग्राकाशमें, यहां पर सर्वत्र व्याप्त होकर रहते हैं उस प्रकार व्यक्त नहीं रहता । जिसप्रकार संसार कालमें बुद्धि ग्रहंकार एवं एकादश इन्द्रियां इन तेरह प्रकार के लक्षण से संयुक्त सूक्ष्म शरीरादि को व्यक्त प्रधान प्राप्त होता है उसप्रकार ग्रन्यक्त प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह व्यापक होनेसे सिक्तय नहीं हो सकता। बुद्धि ग्रहंकारादि के भेद से व्यक्त ग्रनेक विघ है, ग्रव्यक्त ऐसा नहीं है वह एक ही लोकत्रयका कारण है। व्यक्त ब्रैंब्राश्रित रहता है, क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसके ग्राश्रित रहता ही है। ग्रव्यक्त ग्रकार्य होने से ऐसा नहीं है। व्यक्त लिंग भी कहलाता है, "लयं गच्छति इति लिंग" अर्थात् प्रलय कालमें पंचभूत तन्मात्राग्रोंमें विलीन हो जाते हैं, तन्मात्रायें और इन्द्रियां ग्रहंकारमें विलीन होते हैं, ग्रहंकार बृद्धि में भ्रौर बुद्धि प्रधानमें विलीन होती हैं ग्रतः व्यक्त को लिंग कहते हैं। किन्तु ग्रव्यक्त किसी में भी विलीन नहीं होता क्योंकि उसका कारण अविद्यमान है। व्यक्त अवयव सहित होता है, क्योंकि वह शब्द स्पर्श रूप रस गंधात्मक अवयवों से युक्त हुन्ना करता है। अव्यक्तमें अवयव नहीं होते, क्योंकि अव्यक्त प्रधान में शब्दादि की उपलब्धि नहीं पायी जाती है । जिसप्रकार पिताके जीवित रहते हुए पुत्र स्वतंत्र दीनामनुष्तन्वेः । यथा च पितरि जीवति पुत्रो न स्वतन्त्रो भवति तथा व्यक्तं सर्वदा कारणायत्तत्वा-स्परतन्त्रम् । न त्वेवमध्यक्तं तस्य नित्यमकारणाधीनत्वात् ।

ननु प्रधानात्मिन कुतो महदारीनां सद्भावसिद्धिर्यतः प्रागुत्पत्तेः सदेव कार्यमिति चेत्;

''ग्रसदकररणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकररणात्काररणभावाच्च सत्कार्यम् ॥''

[सांख्यका० ह]

इति हेतुपञ्चकात् । यदि हि कारसारमित प्रागुत्यत्ते : कार्यं नाभविष्यत्तदा तम्न केनचिदक-रिष्यत । यदसत्तम्न केनचित्क्रियते यथा गगनाम्भोष्ट्यम्, ग्रसच्च प्रागुत्यत्तेः परमते कार्यमिति । क्रियते च तिलादिभिस्तैलादिकार्यम्, तस्मात्तच्छक्तितः प्रागिष सत्, व्यक्तिरूपेस्य तु कार्यिलेरिप प्राक् सत्त्व-स्यानिष्टस्वात् ।

नहीं होता उसप्रकार व्यक्त सर्वदा कारणाधीन होनेसे परतंत्र रहता है। ग्रन्थक्त ऐसा नहीं है, क्योंकि वह नित्य होनेसे कारणाधीन नहीं है।

शंका−प्रधान स्वरूप में महदादिके सद्भावकी सिद्धि किस हेतु से होती है जिससे उत्पत्तिके पहले कार्य सद् रूप ही कहा जाता है ?

समाधान—पांच हेतु से सद्रूपकार्यकी सिद्धि होती है, अर्थात् असत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है, प्रतिनियत कार्यके लिये प्रतिनियत कारण को ग्रहण किया जाता है, सभी कारणोंसे सभी कार्योंकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है, समर्थ कारण ही शक्य कार्यको करता है अशक्यको नहीं, और पदार्थोमें कार्यकारणभाव देखा जाता है। यदि उत्पत्तिके पहले कारणमें कार्य नहीं होगा तो वह किसी के द्वारा किया नहीं जा सकता। जो असत् होता है वह किसीके द्वारा नहीं किया जाता जैसे आकाश का पुष्प, जैनादिप्रवादीके यहां उत्पत्तिके पहले कार्यको असत् माना है अतः वह किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता। किन्तु तिल आदिके द्वारा तैलादिकार्य किया जाता है अतः वह किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता। किन्तु तिल आदिके द्वारा तैलादिकार्य किया जाता है अतः वह सिक्ति पहले भी सद्रूप रहता है, हां व्यक्तिरूपसे पहले उसका सत्व मानना तो हम सांख्यको भी अनिष्ट है।

यदि कार्य श्रसत् होता तो पुरुषों द्वारा प्रतिनियत उपादानका ग्रहण नहीं होता । क्योंकि जिसप्रकार शालि ग्रादि का श्रसत्व शालि ग्रादि के बीजादि में है उस यदि वासक्रवेत्कार्यं तर्हि पुरुषाणां प्रतिनियतोपादानग्रहणं न स्यात् । यथाहि-शालिबोजा-चिपु शाल्यादीनामसत्त्वं तथा कोद्रवबोजादिष्वपि । तथा च कोद्रवबीजादयोपि शालिफलाचिमिरुपा-दीयरन् । न चैवम्, तस्मात्तत्र तत्कार्यमस्तीति गम्यते ।

यदि वासदेव कार्यं सर्वस्मान्त्णपाशुलोष्टादिकात्सवं सुवर्गरजतादि कार्यं स्यात्, तादात्म्य-विगमस्य सर्वस्मिन्नविशिष्टत्वात् । न च सर्वं सर्वतो भवति तस्मात्तत्रैव तस्य सङ्कावसिद्धः ।

ननु कारणानां प्रतिनियतेष्वेव कार्येषु प्रतिनियताः शक्तयः। तेन कार्यस्यासस्वाविशेषेपि किञ्चिदेव कार्यं कुर्वन्तिः इत्यप्यनुत्तरम्; शक्ता प्रपि हि हेतवः शक्यक्रियमेव कार्यं कुर्वन्ति नाशक्य-क्रियम् । यच्चासत्तक्ष शक्यक्रियं यथा गगनाम्भोष्टतम्, प्रसच्च परमते कार्यमिति ।

प्रकार कोद्रव स्रादि के बीजादि में भी है इसलिये शालि धान्यके इच्छुक पुरुष कोद्रव स्रादिके बोजोंको भी ग्रहण कर सकते हैं ? किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, स्रतः शालि बीजमें शालि अंकूर रूप कार्य है ऐसा निश्चित होता है।

तथा यदि कार्यंको स्रसत् ही माना जाय तो तृरा, धूल, लोष्ट झाबि सभीसे सुबर्गा रजत झादि सभी कार्य सम्पन्न होगा, वयोंकि तादात्म्यका स्रभाव होनेसे सब कारणमें समानता रहेगी। किन्तु सब कारणसे सब कार्य नहीं होता अतः उसी एक कारणमें उसके कार्यका सद्भाव सिद्ध होता है।

शंका-कारणोंकी प्रतिनियतकायोंमें ही प्रतिनियत शक्तियां हुम्रा करनी है अतः कार्यके भ्रसत् रहते हुए भी कोई एक कारण किसी एक कार्यको ही करता है ?

समाधान-यह कथन अयुक्त है, शक्त कारण शक्य कार्यको ही करते हैं, अशक्य कार्यको नहीं, जो असत् होता है वह अशक्य कार्य है जैसे गगनकुसुम, परवादी के यहां कार्यको असत् माना है अतः वह अशक्यकार्य है।

बीजादिके कारणभावसे भी सत्कार्यवादकी सिद्धि होती है, क्योंकि कार्यका असत्व होता तो बीजादिमें कारण भाव नहीं देखा जाता । इसीको स्पष्ट करते हैं, कार्य अविद्यमान रहनेसे वीजादिमें कारणपना नहीं है, जैसे खरविषाण अविद्यमान रहनेसे किसीमें उसका कारणभाव नहीं देखा जाता । अतः उत्पत्तिके पहले कारणमें कार्य रहता है ऐसा सिद्ध होता है ।

बीजादेः कारणञ्जाबाच्च सत्कार्यं कार्यासत्त्वे तदयोगात् । तथाहि-न कारणभावो बीजादेः म्रविद्यमानकार्यंत्वात्वरविद्याणवत् । तत्त्विद्वमृत्यत्ते : प्राक्कारणे कार्यम् ।

तच्च कारगां प्रधानमेवेत्यावेदयति हेतूपञ्चकात्-

"भेदानां परिमागात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तोश्च । कारग्यकार्यविभागादिवभागादैश्वरूप्यस्य ।।''

[सांख्यका० १५]

लोके हि यस्य कक्ती भवति तस्य परिमाणं दृष्टम् यथा कुलालः परिमितान्मृत्पिण्डात्परिमितं प्रस्थग्राहित्गमाढकग्राहित्गं च घटं करोति । इदं च महदादि व्यक्तं परिमितं दृष्टम्-एका बुद्धिः, एको-इहङ्कारः, पञ्च तन्मात्रात्गि, एकादशेन्द्रियाित्गं, पञ्चभूतानीति । म्रतो यत्परिमितं व्यक्तनुत्पादयित् तत्प्रधानमित्यवगमः ।

वह कारण प्रधान ही है ऐसा पांच हेतुओंसे प्रतिपादन करते हैं—महदादि भेदोंका परिमाए। होनेसे, भेदोंका समन्वय होनेसे शक्तिक अनुसार प्रवृत्ति होनेसे, कार्यकारणका विभाग होनेसे एवं वैश्वरूपका श्रविभाग होनेसे कारणमें कार्यका सद्भाव सिद्ध होता है। लोकमें देखा जाता है कि जो जिस कार्यका कर्त्ता होता है वह उसके परिमाणका होता है, जैसे कुंभकार परिमित मृत् पिंडसे परिमित ही प्रस्थप्राही या आढक ग्राही घटको बनाता है। यह महदादि व्यक्त भी परिमित है, एक बुद्धि है, एक अहंकार है, पांच तन्मात्रायें हैं, ग्यारह इन्द्रियां हैं एवं पंचभूत हैं। अतः निश्चय होता है कि जो परिमित व्यक्तको उत्पन्न कराता है वह प्रधान है।

भेदोंका समन्वय दिखायी देनेसे भी प्रधान तत्व का ग्रस्तित्व जाना जाता है, जो जिस जातिसे समन्वित उपलब्ध होता है वह तन्मयकारणसे उत्पन्न होता है, जैसे घट, सकोरा श्रादि भेद मिट्टीरूप जातिसे समन्वित उपलब्ध होते हैं अतः मिट्टी स्वरूप कारणसे उत्पन्न हुए माने जाते हैं यह व्यक्त भी सत्व रज तमो गुण रूप जातिसे समन्वित उपलब्ध होता है अतः तन्मय कारणसे संभूत है। सत्वगुणका कार्य प्रसाद, लाघव, उत्सव, प्रीति ग्रादिक है, रजोगुणका ताप, शोष, उद्वेगादि कार्य है, तमोगुण का कार्य दैन्य, बीभत्स, गौरवादि है। अतः महदादिका प्रसाद, दैन्य, ताप ग्रादि कार्य उपलब्ध होनेसे उनकी प्रधानके साथ अन्वयपनेके सिद्धि होती है।

इतस्वास्ति प्रधानं भेदानां समन्वयदर्शनात् । यज्ञातिसमन्तितं हि यदुपलम्यते तत्तन्मय-काररणसम्भूतम् यथा घटशरावादयो भेदा भृज्ञातिसमन्तिता मृदात्मककाररणसम्भूताः, सन्दरजस्त-मोजातिसमन्तितं चेदं व्यक्तमुपलम्यते । सन्तस्य हि प्रसादलाघवोद्धवंप्रीत्यादयः कार्यम् । रजसस्तु तापशोषोद्वे गादयः । तमसर्व दैन्यवीभत्सगौरवादयः । भ्रतो महदादीनां प्रसाददैन्यतापादिकार्योपल-स्भारप्रधानाचितन्वविद्विः ।

इतस्वास्ति प्रधानं शक्तितः प्रवृत्ते ः। क्षोके हि यो यस्मिन्नवें प्रवर्त्तते स तत्र शक्तः यया तन्तुवायः पटकररो, प्रधानस्य चास्ति शक्तियया व्यक्तमृत्पादयति, सा च निराधारा न सम्भवतीति प्रधानास्तित्वसिद्धिः।

कार्यकारणविभागाच्च; दृष्टी हि कार्यकारणयीविभागः, यथा मृत्पिण्डः कारणं घटः कार्यम् । स च मृत्पिण्डाद्विभक्तस्वभावी घटो मद्योदकादिधारणाहरणसम्यो न तु मृत्पिण्डः । एवं महदादि कार्ये दृष्ट् वा साधयामः--'भस्ति प्रधानं यतो महदादिकार्यमुत्पकम्' इति ।

शक्तिक अनुसार प्रवृत्ति होनेसे भी प्रधानका अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंिक लोकमें देखा जाता है कि जो जिस अर्थमें प्रवृत्त होता है वह उसमें शक्त रहता है, जिसके द्वारा व्यक्त को उत्पन्न करता है वह शक्ति प्रधानके अवक्य है वह निराधार नहीं रहती, इस तरह प्रधान का अस्तित्व सिद्ध होता है। कार्य कारणके विभागसे भी प्रधान तत्त्व सिद्ध होता है, क्योंिक कार्य और कारणमें विभाग हिंटगोचर हो रहा है, जैसे मिट्टीका पिंड कारण है घट कार्य है। वह घट स्वभाव मृत पिंडसे विभिन्न स्वभाव मुक्त है, इसीलिये घट मद्य, जल म्रादिको धारणा ग्रहण करने की सामर्थ्य गुक्त होता है किन्तु मृत् पिंड उस सामर्थ्य गुक्त नहीं होता, इसप्रकार महदादि कार्यको देखकर सिद्ध करते हैं कि प्रधान तत्व है, क्योंिक महदादि कार्य उत्पन्न हुआ है।

वैश्व रूपका अविभाग होनेसे भी प्रधानका श्रस्तत्व ज्ञात होता है तीन लोकको वैश्वरूप्य कहते हैं, वह प्रलयकालमें कहीं श्रविभावको प्राप्त होता है, जैसा कि कहा है—पहले पंचभूत पंच तन्मात्राओं मेंश्रविभाग को प्राप्त होते हैं, यहां अविभागका अर्थ अविवेक है, जैसे दुग्ध अवस्थामें दुग्ध अन्य है और दही अन्य है ऐसा विवेक करना शक्य नहीं, वैसे प्रलयकालमें यह व्यक्त है और यह अव्यक्त है ऐसा विवेक करना शक्य नहीं, वैसे प्रलयकालमें यह व्यक्त है और यह अव्यक्त है ऐसा विवेक करना शक्य नहीं है। अतः हम मानते हैं कि प्रधान है जिसमें कि महदादि अविभाग को प्राप्त होते हैं।

इत्रश्चास्ति प्रधानं वैदवरूप्यस्याविभागात् । वैदवरूप्यं हि लोकत्रयमिभधीयते । तच्च प्रलयकाले व्यविद्यायां गच्छति । उक्तं च प्राक्-पंचभूतानि पंचसु तन्मात्रेश्वविभागं गच्छति । उक्तं च प्राक्-पंचभूतानि पंचसु तन्मात्रेश्वविभागं गच्छति । प्रविभागो हि नामाविवेकः । यथा क्षीरावस्थायाम् 'श्वन्यस्थीरमन्यद्धि' इति विवेको न शच्यते कक्तुं तद्धस्यलयकाले व्यक्तमिदमव्यक्तं चेदमिति । भ्रती मन्यामहेऽस्ति प्रधानं यत्र महदाद्यश्वभागं गच्छतीति ।

भन प्रतिविधीयते-प्रकृत्यात्मकत्वे मह्वादिमेदानां कार्यतया ततः प्रवृत्तिविरोधः। न स्रत् यद्यस्मात्सर्वेथाऽव्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारणं वा युक्तं भिन्नलक्षणुत्वात्तयोः। श्रन्यथा तद्व्यवस्था सङ्कीयते। तथा च यद्भवद्भिभू लप्रकृतेः कारण्ऽत्वमेव, भृतेन्द्रियलक्षण्योडशकगण्स्य कार्यत्वमेव, बुद्ध-घहङ्कारतन्मात्राणां पूर्वोत्तरापेक्षया कार्यत्वं कारण्ऽत्वं चेति प्रतिज्ञातं तम्न स्थात्। तथा चेदमसङ्गतम्-

> "मूलप्रकृतिरविकृतिमेहराद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्तः। षोडशक्रश्च विकारो न प्रकृतिनै विकृतिः पुरुषः॥" [सांस्यका० ३ व डिति ।

जैन—यहां उपगुंक्त सांस्थके मंतव्यका निराकरण किया जाता है, महदादि भेदोंको प्रकृति स्वरूप माननेपर कार्यपनेसे प्रकृतिसे प्रवृत्ति होनेमें विरोध म्नाता है, क्योंकि जो जिससे सर्वथा म्राभिन्न होता है वह उसका कारण या कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्य भ्रीर कारण भिन्न भिन्न लक्ष्मण वाले होते हैं, अन्यथा उनको व्यवस्थामें सांकर्य होगा, भ्रीर इस प्रकार सांकर्य होने पर आपने जो मूल प्रकृतिको कारण ही माना है एवं पंचभूत, एकादश इन्द्रियां रूप सोलह गणको कार्य ही माना है, तथा बुद्धि ग्रहंकार श्रीर तन्मात्राभ्रोंको पूर्वोत्तरकी अपेक्षा कार्य कारण दोनों रूप माना है वह श्रसिद्ध होगा, तथा यह भी असंगत होगा—मूल प्रकृति श्रविकृति रहती है, महदादि सात भेद प्रकृतिकी [व्यक्तके] विकृतियां हैं एवं सोलह विकार हैं, पुरुष तत्व न प्रकृति है और न विकृति हैं। तथा सभी पदार्थोंका परस्परमें अव्यतिरक स्वीकार करते हैं तो वे कार्यरूप या कारण रूप ही सिद्ध होंगे, क्योंकि कार्य कारणभाव ग्रापे- क्षिक होता है, किन्तु रूपांतर स्वरूप भ्रपेक्षणीय वस्तुका भ्रभाव होनेसे सभी पदार्थोंक पुरुषके समान प्रकृतिका विकृतियां होनेका अभाव हो जाता है, ग्रन्यथा पुरुषको भी प्रकृतिके विकृतिको संज्ञा प्राप्त होगी।

ग्रोर जो कहा कि व्यक्त हेतुमल् ग्रनित्य आदि धर्म युक्त है और अय्यक्त इससे विपरीत धर्म युक्त है, वह भी बाल प्रलाप है, क्योंकि जो जिससे ग्रमिन्न स्वभावी सर्वेषामेव हि परस्परमध्यतिरेके कार्यत्वं कारणत्वं वा प्रसज्येत । भ्रापेक्षिकत्वाद्वा तद्भावस्य, रूपान्तरस्य चापेक्षायीयस्याभावात्सर्वेषां पुरुषवत्प्रकृतिविकृतित्वाभावः । भ्रन्यया पुरुषस्यापि प्रकृति-विकृतिव्यपदेवः स्यात ।

यच्चेदम्-हेतुमस्वादिधमयोगि व्यक्तं विपरीतमध्यक्तम्; तदिप बालप्रलापमात्रम्; न हि यद्यसमादभिन्नस्वभावं तत्तद्विपरीतं युक्तं भिन्नस्वभावलक्षरण्यविष्ठपरीतत्वस्य । ग्रन्यथा भेदव्यवहारो-च्छेदः(दः) स्यात् । सस्वर्यस्तमसां चान्योग्यं भिन्नस्वभावनिवन्धनो भेदो न स्यादिति विश्वमेकरूप-मेव स्यात् । ततो ध्यक्तरूपाव्यतिरेकादव्यक्तमपि हेतुमस्वादिधमयोगि स्यात् व्यक्तस्वरूपवत् । व्यक्तं बाङ्गेतुमस्वादिधमयोगि स्यादव्यक्तस्वरूपाव्यतिरेकातस्वरूपविद्योकान्तः ।

किञ्च, म्रन्थयव्यत्तिरेकनिक्चयसमधिगम्यो लोके कार्यकाररणभावः प्रसिद्धः। नच प्रधाना-दिम्यो महदायुर्वित्तिन्थ्वयेऽन्वयो व्यतिरेको वा प्रतीतोस्ति येन प्रधानान्महान्महतोऽहङ्कार इरवादि सिद्धयेत्।

होता है वह उससे विपरीत नहीं होता, क्योंकि भिन्न स्वभावी होना ही विपरीत का लक्षण है। यदि ऐसा न हो तो भेद का व्यवहार ही समाप्त होगा। तथा विपरीत [भिन्न स्वभावी] न हो तो सत्व रज और नमका परस्परमें भिन्न स्वभावके निमित्तसे होने वाला भेद नहीं रहेगा और संपूर्ण विश्व एक रूप हो जावेगा। ग्रतः व्यक्तरूपसे ग्रभिन्न जो ग्रव्यक्त है उसके भी व्यक्त स्वरूपके समान हेतुमत्व, ग्रनित्यत्वादि धर्मोंका योग स्वीकार करना होगा। ग्रयवा व्यक्तके ग्रहेतु मत्व भादि धर्मोंका योग स्वीकार करना होगा। श्रयवा व्यक्तके ग्रहेतु मत्व भादि धर्मोंका योग स्वीकार करना होगा, क्योंकि वह ग्रव्यक्त स्वरूपसे ग्रव्यतिरक्त है जैसे उसका स्वरूप ग्रव्यतिरिक्त है, इसग्रकार एक ही व्यक्त अथवा ग्रव्यक्त रूप प्रधानको माननेका प्रसंग ग्राता है।

तथा लोकमें कार्यकारण भाव अन्वय व्यतिरेक द्वारा ज्ञात होता है, किन्तु प्रधानादि से भहदादिके उत्पत्ति के निश्चयमें अन्वय अयवा व्यतिरेक प्रतीत नहीं होता है जिससे प्रधानसे महान उत्पन्न होना, महानसे अहंकार उत्पन्न होना इत्यादि मिद्ध हो सके।

क्टस्थ नित्य पदार्थ में कारणभाव भी असिद्ध है, क्योंकि नित्यमें कम अथवा श्रकमसे अर्थ किया होनेमें विरोध है।

शका-जिसप्रकार कुंडलादि आकारका [आँटो देकर समेटकर बैटना ] कारण सर्प है ऐसा कहा जाता है उसप्रकार महदादिरूपसे परिणामको प्राप्त होते हुए न च नित्यस्य कारणभावोस्ति, क्रमाऽक्रमान्यां तस्यार्षक्रियाविरोधात् । नतु नित्यमपि प्रधानं कुण्डलादौ सर्यवन्मदृदादिक्षेण परिणामं गच्छते वां कारणमित्युच्यते, ते च तत्परिणामरूपत्वात्त-त्कार्यतया व्यपदिश्यन्ते । परिणामस्वैकवस्त्वऽधिष्ठानत्वादमेदेपि न विरुध्यते; इत्यप्यनेकान्तावलम्बने प्रमाणोपपन्तं नित्येकान्ते परिणामस्यैवासिद्धे :। स हि तत्र भवन् पूर्वकपत्यागाद्वा भवेत्, प्रत्यागाद्वा ? यद्यत्यागात्; तदाऽवस्थासाङ्कर्यं नृद्धाद्यवस्थामपि युवाद्यवस्थोपलिक्षप्रसङ्कात् । मथ त्यागात्; तदा स्वभावहानिप्रसङ्कः ।

किन्त, सर्वया तत्त्यागः, कथन्तिद्वा ? सर्वया चेत्; कस्य परिएगमः ? पूर्वरूपस्य सर्वथा स्यागादपूर्वस्य चोत्पादात् । कथन्तित् चेत्; न किन्तिद्विरुद्धम्, तस्यैवार्थस्य प्राच्यरूपत्यागेनान्यथा-भावलक्षरापरिएगमोपपत्तः । निरयेकान्तता तु तस्य व्याहन्येत । प्रत्र हि नैकदेशेन तत्त्यागो निरंश-स्यैकदेशाभावात् । नापि सर्वात्मनाः; नित्यत्वव्याघातात् ।

उन महदादिका कारण प्रधान है ऐसा कहा जाता है एवं वे महदादि उसके परिणाम स्वरूप होनेसे उसके कार्यं कहलाते हैं। और परिणाम एक वस्तुमें अधिष्ठित होनेसे स्रभेदमें भी हो सकता है, कोई विरोध नहीं है।

समाधान-यह कथन अनेकांतका अवलम्बन लेनेपर प्रामाणिक हो सकता है, क्योंकि नित्य एकांत में परिणामका होना ही असिद्ध है। नित्यमें परिणामका होना माना जाय तो वह पूर्वरूपके त्यागसे होगा या बिना त्यागके होगा दै यदि बिना त्यागके होगा तो अवस्थाओंका सांकर्य होनेसे दृद्धादि अवस्थामें भी अुवादि अवस्थाकी उपलब्धि का प्रसंग आता है। और यदि पूर्वावस्थाका त्याग करके परिएगम होता है तो स्वभाव हानिका प्रसंग आता है।

दूसरी बात यह भी है कि पूर्वरूपका त्याग भी कथंचित् होता है या सर्वथा होता है। सर्वथा कहो तो किसका परिणाम होगा ! क्योंकि पूर्वरूपका तो सर्वथा त्याग हो चुका है और अपूर्वका उत्पाद हुआ है। पूर्वरूपका कथंचित् त्याग होता है ऐसा कहो तो कुछ भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उसी अर्थके पूर्व रूपके त्यागसे अन्यथा भाव लक्षरास्वरूप परिणाम उपपन्न होता है। किन्तु ऐसा होने पर उसकी नित्य एकांतता नष्ट हो जाती है। क्योंकि नित्य एकांत में एक देशसे पूर्व रूपका त्याग होना अशक्य है, क्योंकि निरंश वस्तुमें एक देशका अभाव है। सर्व देशसे पूर्वरूपका त्याग होता है ऐसा कहो तो नित्थपनेका व्याषात होता है।

किंक, प्रवर्त मानो निवर्त मानस्व धर्मो धर्मिणोऽर्थान्तरभूतो वा स्याप्, अनथन्तरभूतो वा ? यद्यधान्तरभूतः; तिह् धर्मी तदबस्य एवेति कथमसी परिण्तो नाम ? न ह्यधान्तरभूतयोरर्थयोस्त्याद-विनाशे सत्यविवित्तात्वात्तस्य एवरिणामां भवित, अन्ययाऽऽत्मापि परिणामो स्यात् । तस्यम्बद्ध-योर्थमंबोस्त्रपादिवनाशात्तस्य परिणामः; इत्यप्यसुन्दरम्; धर्मिणा सदसतोः सम्बन्धभागात् । सम्बन्धो हि धर्मस्य सतो भवेत्, असतो वा ? न तावत्स्ततः; त्वातन्त्र्येण प्रसिद्धाशेषस्वभावसम्यत्ते र-नपेक्षतया कवित्तरात्रत्र्यासम्भवात् । नाप्यसतः; तस्य सर्वोगाक्याविरहलक्षणतया कवित्यमा-श्चितरबानुपपत्तेः । न स्रनु सरविषाणादिः वविद्याश्रितो युक्तः । न वप्रवत्तीमानाप्रवर्त्तं मानधर्मद्वय व्यतिरिक्तो धर्मी उपलब्धिनक्षणप्राप्तो दर्शनप्यप्रस्थायो कस्यविदिति । ग्रतः स तास्योऽसहप्यवहार-

किंच, प्रवत्तंमान और निवत्तंमान धर्म धर्मीसे भिन्न है कि श्रिभन्न है ? यदि भिन्न है तो धर्मी तदवस्थ ही रहेगा अतः वह परिणमित हुआ ऐसा किसप्रकार कह सकते हैं ? क्योंकि अर्थान्तरभूत वस्तुओं का उत्पाद और विनाश होनेपर नित्य वस्तुका परिणाम हुआ ऐसा नहीं कहते हैं, अन्यथा आत्मा भी परिणामी होत्रेगा।

शंका−नित्य वस्तुमें संबद्ध हुए धर्मोंका उत्पाद ग्रौर विनाश होनेसे नित्यका परिणाम माना जाता है।

समाधान—यह कथन अमुन्दर है, धर्मीके साथ सत् असत् का सम्बन्ध होना असंभव है, सम्बन्ध सत् रूप धर्मका होता है ? सत्का होना श्रम्सभव है, सम्बन्ध सत् रूप धर्मका होता है ? सत्का होना श्रम्सभव है, सम्बन्ध सत् रूप धर्मका होता है ? सत्का होना श्रम्य नहीं, क्योंकि जो स्वतंत्रतासे प्रसिद्ध अशेष स्वभावों की संपत्तिसे युक्त है वह अनपेक्ष होनेके कारण कहीं पर परतंत्र नहीं हो सकता। असत् रूप धर्मका सम्बन्ध होता है ऐसा कहना भी अयुक्त है, असत् संपूर्ण धर्मोसे रहित होनेसे कहीं पर भी आक्षित नहीं हो सकता, जैसे कि असत् अत खरविषाणादि कहीं आश्रित नहीं होता है। तथा उपलब्ध लक्षण वाला धर्मी प्रवत्तमान और अप्रवर्तमान दो धर्मोसे अतिरिक्त किसीके हिण्टगोचर नहीं होता है। अतः उसप्रकार का धर्मी विद्वानोंके लिये असत् व्यवहारका हो विषय है,। प्रवत्तं मानादि धर्म धर्मीसे अभिन्त है ऐसा माने तो भी एक धर्मी स्वरूपसे अभिन्त होनेके कारण उन दोनोंमें एकपना ही होवेगा अतः धर्मीका परिणाम किसप्रकार सिद्ध हो सकता है ? अथवा धर्मोका विनाश और प्रादुर्भाव भी—किसप्रकार हो सकता है, क्योंकि धर्मीके स्वरूपके समान वे भी उससे अभिन्त होनेसे एक रूप है। अथवा उन उभय धर्मोके साथ धर्मीका अनुस्थान होनेसे अभिके स्वरूपके

विषय एव विदुषाम् । अयानर्थान्तरभूतः; तथाप्येकस्माद्धमिस्वरूपादव्यतिरिक्तस्वात्तयोरेकस्वमेवेति कथं परिणामो वर्मिगः: घर्मयोवी विनाशप्रादुर्भावी धर्मिस्वरूपवत् ? वर्माभ्यां च वर्मिग्णोऽनन्यत्वाद्धमं-स्वरूपवत्युर्वस्योत्पादः पूर्वस्य विनाश इति नैव कस्यचित्परिणामः सिध्यति । तस्मान्न परिणामवशा-दिप भवतां कार्यकारराज्यवहारो युक्तः ।

यच्चे दमुत्परोः प्राक्कार्यस्य सस्वसमर्थनार्थमसदकरणादिहेतुपःबकमुक्तमः; तद् श्रसत्कार्यवादपः क्षेपि तृत्यम् । शक्यते ह्यं वमप्यभिषातुम्-'न सदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।' न सत्कार्यभिति सम्बन्धः ।

किञ्च, सर्वथा सत्कार्यस्, कथंचिद्वा ? प्रयमपक्षोऽसम्भाव्यः; यदि हि क्षीरादौ दघ्यादिका-र्यागा सर्वथा विशिष्टरसर्वीयंविषाकादिना विभक्तरूपेण मध्यावस्थावत्सन्ति, तर्हि तेषां किमुत्पाद्यसन्ति येन तानि कारगौः क्षीरादिश्चिजंन्यानि स्युः? तथा च प्रयोगः– यत्सर्वाकारेणः सत्तप्तक केनचिक्तस्यस् यथा प्रधानमात्मा वा, सच्च सर्वत्मना परमते दध्यादीति न महदादैः कार्यता। नापि प्रधानस्य

समान श्रपूर्वका उत्पाद एवं पूर्वका विनाश होनेसे किसीका भी परिणाम होना सिद्ध नहीं होता, इसलिये श्रापके यहां परिणामके निमित्तसे भी कार्य कारएाका व्यवहार सिद्ध नहीं है।

उत्पत्तिके पहले कार्यके सत्वका समर्थन करनेके लिये असत् अकरणात् इत्यादि पांच हेतु कहे थे वे असत् कार्यवादके पक्षमें भी समान रूपसे घटित होते हैं। क्योंकि ऐसा कह सकते हैं कि सत्को न कर सकतेसे, उपादानका प्रहण होनेसे, सर्वमें मर्व संभव न होनेसे, शक्तका शक्य करण होनेसे और कारणभाव होनेसे उत्पत्तिके पहले कार्य सत् नहीं था, इसप्रकार "सत्कार्यं न" ऐसा सम्बन्ध जोड़कर प्रतिपादन कर सकते हैं।

दूसरी बात यह कि आपके यहां कार्यको सर्वथा सत् माना है या कथंचित् सत् माना है ? प्रथमपुक्ष असंभव है, क्योंकि यदि दूच आदिमें दही आदि कार्य विशिष्ट रस, वीर्य, विपाक ग्रादि विभक्त रूपसे मध्य अवस्थाके समान विद्यमान है तो अब उनका कौनसा धर्म उपाद्य रह जाता है जिससे वे दूध ग्रादि कारणों द्वारा उत्पन्न किये जा सकते हैं ? अतः निश्चय होता है कि जो सर्वाकारमें सत् है वह किसोके द्वारा जन्य नहीं होता, जैसे प्रधान अथवा आत्मा किसीके द्वारा जन्य नहीं होता, पर मतमें दही ग्रादि पदार्थ सत्रूप है अनः किससे जन्य नहीं है, इसप्रकार महदादिमें कार्यपना सिद्ध नहीं होता। तथा प्रधानके कारणपना भी सिद्ध नहीं होता। वया प्रधानके कारणपना भी सिद्ध नहीं होता। वया प्रधानके कारणपना भी सिद्ध नहीं होता। वया प्रधानके कारणपना भी सिद्ध नहीं होता।

कारएगताः स्रविद्यमानकार्यस्वात् । यदविद्यमानकार्यं तम्न कारएग्य् यद्यारमा, ग्रविद्यमानकार्यं च प्रघान मिति । क्षीराद्यवस्थायामपि दघ्यादीनां पश्चादिवोपसम्मप्रसंगश्च । प्रथ कर्षचिच्छक्तिरूपेएग सत्कार्यम् । नतु शक्तिर्व्वयमेव, तद्वृपतया सतः पर्यायरूपतया चासतो घटादेरुत्पस्यम्युपगमे जिनपतिमतानु-सरराप्रसङ्गः ।

किंच, तच्छत्तिरूपं दघ्यादेभिष्ठम्, प्रभिश्चं वा ? भिन्नं चेत्; कथं कारले कार्यसद्भावसिद्धः? कार्यव्यतिरिक्तस्य शक्त्याख्यपदार्थान्तरस्यैव सद्भावास्युपगमात् । प्राविभू तविशिष्टरसादिगुरणोपेतं हि बस्तु दघ्यादि कार्यमुच्यते । तच्च क्षीराखवस्थायामुणकव्यिकसरणशासानुपकव्येनोस्ति । यच्चास्ति । यात्तिः

द्यमान है। जिसका कार्य अविद्यमान होता है वह कारण नहीं कहलाता, जैसे आत्माके कारणपना नहीं है, प्रधानका कार्य भी अविद्यमान है अतः वह कारण नहीं है। तथा यदि कारएगमें कार्य मौजूद रहता है तो दुग्धादि अवस्थामें भी दही आदि पश्चात् के समान उपलब्ध होने चाहिये।

शंका-कथंचित् शक्तिकी ग्रपेक्षा कार्यको सत् माना जाय ?

समाधान–शक्ति तो द्रव्य ही है, उस द्रव्यरूपसे सत् श्रौर पर्याय रूपसे श्रसत् ऐसे घटादि कार्यकी उत्पत्ति होना स्वीकार करे तो जिनेन्द्र मतका श्रनुसरए। हो जाता है।

धीर वह शक्ति दही ब्रादि से भिन्न है कि अभिन्न है ? भिन्न है तो कारणमें कार्यका सद्भाव किसप्रकार सिद्ध होगा ? क्योंकि कार्यसे अतिरिक्त शक्ति नामके पदार्थांतर का ही सद्भाव स्वीकार किया गया । जिसमें विशिष्ट रसादिगुण प्रगट हुआ है ऐसी दही ग्रादि वस्तु कार्य कहलाती है, और वह कार्य दुग्धादि श्रवस्थामें उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी अनुपलब्ध रहता है तो वह नहीं है, तथा जो शक्तिरूप है उसे कार्य ही नहीं कहते हैं, क्योंकि अन्यके सद्भावमें अन्य किसीका होना सिद्ध नहीं होता, प्रन्यथा अतिप्रसंग आता है । शक्तिका रूप उससे श्रभिन्न है ऐसा द्वितीयपक्ष लेते हैं तो दही आदिका नित्यपना सिद्ध होनेसे उनके लिये कारण ब्यापार की ग्रावश्यकता नहीं रहती है ।

शंका−सत्कार्यकी प्रभिव्यक्ति करनेमें कारणोंका व्यापार होना श्रावश्यक है अतः वह न्यर्थ नहीं होता । रूपं तत्कार्यमेव न भवति । न चान्यस्य भावेऽन्यदस्त्यतिप्रसङ्गात् । ग्रथाभिन्नम्; तिह् दघ्यादेनित्य-स्वात्कारराज्यापारवैयर्थ्यम् ।

श्रमिञ्यक्तौ कारणानां व्यापाराभ वैयय्येम्; इत्यप्यसत्; यतोऽभिव्यक्तिः पूर्वं सती, श्रसती वा ? सती चेत्; कथं क्रियेत ? श्रन्यया कारकव्यापारानुपरमः स्यात् । श्रयासती; तथाप्याकाशकुक्षे-शयवत्कथं क्रियेत ? श्रसदकरणादित्यम्युपगमाच्च ।

सर्वस्य सर्वथा सत्त्वेन च कार्यत्वासम्भवादुपादानपरिष्रहोपि न प्राप्नोति । सर्वसम्भवाभावोपि प्रतिनियतादेव क्षीरादेदेच्यादीनां जन्मोच्यते । तच्च सत्कार्यवादपक्षे दूरोत्सारितम् । जन्तस्य शक्य-कर्रणादिति चात्रासम्भाव्यम्, यदि हि केनचित् किचिक्रिष्पाद्येत तदा निष्पादकस्य शक्तिव्यंवस्थाप्येत निष्पाद्यस्य च कर्रण् नान्यया । कारण्भावोष्यर्थानां न घटते कार्यत्वाभावदिव ।

समाधान-यह कथन अयुक्त है, इसमें प्रश्न होता है कि अभिव्यक्ति पूर्वमें सत्थी अथवा असत्थी ? सत्थी तो उसको किसप्रकार किया जाय ? यदि सत्को भी किया जाता है तो कारकों को व्यापार किसी कालमें भी नहीं रुक पायेगा। यदि अभिव्यक्ति पूर्वमें असत्थी तो आकाश पुष्पके समान उसको किसप्रकार किया जा सकता है ? असत्को नहीं किया जाता ऐसा आपने माना भी है।

दूसरी बात यह भी है कि सब पदार्थ सर्वथा सत् रूप हैं तो उनमें कार्यपना असमव होनेसे उपादान कारण का ग्रहण होना भी नहीं बनता है। सबसे सब समव नहीं है ऐसा जो कहा उसका श्रथं यही है कि प्रतिनियत दुग्धादिसे दही श्रादिकी उत्पत्ति होना, किन्तु यह सत्कार्य वादके पक्षमें घटित नहीं होता है। तथा सत्कार्यवादमें शक्तका शक्य करण भी असमव है, क्योंकि यदि किसीके द्वारा कोई निष्पादक करने योग्य होवे तो निष्पादककी शक्ति व्यवस्थापित की जा सकती है एवं निष्पादक किया जा सकता है, किन्तु निष्पाद्य श्रोदिक अभावमें शक्तका शक्य करण कौनसा होगा, ग्रथींत् सत्कार्यवादमें पहलेसे ही सब निष्पन्न होनेसे शक्यका करना ग्रादि नहीं वनता। ग्रीर कार्यत्वका ग्रभाव होनेसे पदार्थोंने कारण भाव भी सिद्ध नहीं होता है।

तथा अरुपके यहांपर असत् अकरणात् आदि हेतु दिये जाते हैं वे प्रवृत्त होकर क्या करते हैं ? क्योंकि प्रपने विषयमें प्रवृत्त हुआ हेतु दो कार्योंको करता है एक तो प्रमेयार्थ विषयमें उत्पन्न हुए संशय और विषयांस को दूर करता है और दूसरे निश्चय को उत्पन्न करता है। किन्तु यह सब सत्कार्यवादमें संभव नहीं है। क्योंकि आपके किंच, एते हेतवो भवत्यक्षे प्रवृताः किं कुर्वन्ति ? स्विषये हि प्रवृत्तं सामनं द्वयं करोति—

श्रमेयार्थविषये प्रवृत्तो संवयिवपर्यातो निवतंयित, निरुचयं चोत्पादयित। तज्ज सत्कार्यवादे त

सम्भवित । संवयिवपर्यातो हि भवतां मते चैतन्यात्मकौ, बृद्धिमनःस्वभावो वा ? पक्षद्वयेषि न तयो
तिवृत्तिः सम्भवितः चैतन्यबृद्धिमनसां नित्यत्वेनानयोरिष नित्यत्वात्। नापि निरुचयस्योत्पत्तिः;

तस्यापि सदा सर्वात्, इति साधनोपन्यासवयय्यं । तस्मात्साधनोपन्यासस्यायंबर्वमम्बद्धाः

निरुचयोऽसम्भे व साधनेनोत्पावत इत्यङ्गीकत्तं व्यम् । तथा चासदकरणादित्तंतुगण्यानेनैवानैकानितकता । यथा चासतोषि निरुचयस्य करणम्, तन्निष्पत्तये च यथा विविष्टसाधनपरिष्यहः, यथा चास्य न

सर्वस्मात्साधनाभासादेः सम्भवः, यथा चासावसन्निप शक्तं हेंतुभिः क्रियते, तत्र च हेतूनां कारणभावोत्तित तथान्यत्रापि भविष्यति ।

मतमें संशय ग्रीर विपर्यासको चैतन्यात्मक माना है अथवा बुढि ग्रीर मनका स्वभाव माना है ? दोनों पक्षमें भी उन संशय विपर्यासका प्रादुर्भाव होना असंभव है, क्योंकि चैतन्य, बुढि ग्रीर मन नित्य होनेसे संशय विपर्यास भी नित्य सिद्ध होते हैं। असत् ग्रकरणात् ग्रादि हेतु निश्चयको उत्पन्न करते हैं ऐसा पक्ष भी ग्रयुक्त है, क्योंकि निश्चय भी सदा सत्रूक्प होता है। इसप्रकार ग्रापके मतमें हेतुओंका उपन्यास व्ययं होता है, ग्रतः हेतुके उपन्यास की सार्यकताको चाहने वाले ग्रापको निश्चय ग्रसत् है ग्रीर वह हेतु द्वारा उत्पन्न किया जाता है ऐसा स्वीकार करना होगा। ग्रीर ऐसा स्वीकार करने पर ग्रसदकरणात् ग्रादि हेतु पंचक की इसीके साथ ग्रनेकान्तिकता ग्रातो है, क्योंकि जिसप्रकार निश्चय ग्रसत् वा और उसको किया गया एवं उसको निष्पत्तिके लिये जैसे विशिष्ट साधनका ग्रहण हुआ, तथा जैसे इस निश्चयका सभी साधनाभास आदिसे होना संभव नहीं है, तथा जैसे यह निश्चय ग्रसत् होकर भी शक्त हेतु द्वारा किया जाता है एवं उसमें हेतुओंका कारणभाव भी है, ठीक इसीप्रकारसे ग्रन्यत्र भी ग्रसत्तको किया जा सकना, विशिष्ट उपादान ग्रहण आदि आदि सब संभव हो सकेगा।

शंका—यद्यपि साधन प्रयोगके पहले निश्चय सत् ही रहता है फिर भी उसके लिये साधनका प्रयोग व्यर्थ नहीं जाता, क्योंकि निश्चयको ग्रामि व्यक्ति के लिये उसका व्यापार होता है प्र

समाधान-अभिव्यक्ति किसे कहते हैं स्वभावमें अतिशयकी उत्पत्ति होना या तद्विषयक ज्ञान होना अथवा उसके उपलब्धिके आवरणका अपगम होना १ स्वभाव प्रथ यद्यपि साथनप्रयोगात्प्राक्सस्त्रे व निश्चयः, तथापि न तत्प्रयोगवेयस्यं तदिभव्यक्तो तस्य व्यापारात् । तत्र केयमभिन्यक्तिः—कि स्वभावातिवायोत्पत्तिः, तद्विषयमानं वा, तद्वुपलम्भावररणापगमो वा ? न तावरस्वभावातिवायः; स हि निश्चयस्त्ररूणादिभिन्नः भिन्नो वा ? यद्यभिन्नः; तिह निश्चयस्त्ररूपत्रस्यः स्वभावः । स ह्याधाराधेयभावन्त्रस्यत् स्वस्त्रात्रोपत्तिः सम्बन्धभावः । स ह्याधाराधेयभावन्त्रस्यत् साथनभावन्त्रस्या वा ? तत्रावायक्षेत्रस्य सम्वन्त्रस्या वा तस्याप्ययन्तित्रस्य ति तत्रवायाचित्रस्य वा । भ्रम्यन्त्रस्य साथनप्रयोगवेयस्य निश्चयाविष्यस्य वा । सम्बन्धात्तियस्यापत्तिः । समूर्तत्वाच्चातिवायस्याधेगमनाभावान्त्र तस्य कश्चित्वाद्यार् वेष्ठक्षात्रस्य स्वाप्तिवायस्याधेगमनाभावान्त्र तस्य कश्चित्वाद्यार् युक्तः, प्रयोगविष्यविष्यस्य निश्चयस्ति स्वयान्त्रस्य स्वाप्तिवायस्यापत्तिः । नापि जन्यजनकभावन्तस्याः, सर्वदेव निश्चयास्यानिक्षयाः सन्तिहत्त्वेन निश्यमतिवायोत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च साधनप्रयोगापेक्षया निश्चयस्यातिक्षयाः सन्तिहत्त्वेन निश्यमतिवायोत्पत्तिप्रसङ्गात् । न च साधनप्रयोगापेक्षया निश्चयस्यातिक्षयास्तिः व युक्वद्यास्य सन्तिहत्वस्याः च ।

में अतिशय होनेको अभिव्यक्ति कहते हैं ऐसा प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि वह स्वभावा-तिशय निश्चयके स्वरूपसे अभिन्न है कि भिन्न है ? यदि अभिन्न है तो निश्चयके स्व-रूपके समान सर्वदा सत्व रहनेसे उसकी उत्पत्ति मानना अयुक्त है। ग्रौर यदि वह स्वभावातिशय भिन्न है तो उसका यह स्वभावातिशय है ऐसा सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। यदि सम्बन्ध माना भी जाय तो वह कौनसा होगा, आधार आध्यभाव सम्बन्ध, अथवा जन्य जनकभाव सम्बन्ध ? प्रथम पक्ष श्रयुक्त है, क्योंकि परस्परमें अनुपकार्य-अनुप-कारक स्वरूप निश्चय ग्रीर स्वभावातिशयमें ग्राधार आध्यभाव सम्बन्ध का होना असंभव है। यदि निश्चय द्वारा ग्रतिशयका उपकार होना माने तो वह उपकार भी भिन्न होनेके कारण सम्बन्ध नहीं हो सकेगा तथा इस तरह अनवस्था भी होगी। यदि निश्वय द्वारा किये जाने वाले अतिशयके उपकार को अभिन्न माना जाय तो साधनका प्रयोग व्यर्थ होता है, क्योंकि निष्चय द्वारा ही उपकार से ग्रभिन्नभूत ग्रतिशय की उत्पत्ति हो जाती है। तथा यह भी बात है कि स्वभावातिशय अमूर्त होनेसे अधोगमन तो कर नहीं सकता ग्रतः उसका ग्राचार मानना ही युक्त नहीं है। क्योंकि ग्राघार ग्रधोगमनका प्रतिबन्धक होता है। निश्चय और स्वभावातिशयमें जन्यजनकभाव सम्बन्ध मानना भी गलत है, क्योंकि निश्चय नामका कारण सर्वदा सन्निहित रहता है ग्रत: सर्वदा श्रतिशयकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग श्राता है। साधन प्रयोग की ग्रपेक्षा. लेकर निश्चय भतिशयका उत्पादक होता है ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि अनुप-कारकको प्रपेक्षा नहीं होती है। यदि निश्वधको उपकारक माना जाय तो उसके हारा . ग्रपि चायमतिशयः सत्, ग्रसस्या क्रियेत ? श्रसस्ये पूर्ववस्तावनानामनैकान्सिकंतार्पेतः । सस्ये ज्ञ. साध्यवयय्यं । तत्राप्यभित्यकावनवस्या । तन्त्र स्वमावातिशयोत्पत्तिरिमध्यक्तिः ।

नापि तद्विषयज्ञानम्; सत्कार्यवादिनो मते तस्यापि नित्यत्वात्, द्वितीयज्ञानस्य।सम्प्रवाच्च। एकमेव हि भवतां मते विज्ञानम्-"श्रासगैप्रलयादेका बुद्धिः" [ ] इति सिद्धान्त-स्वीकारात्।

तदुपलम्भावरणापगमोप्यभिब्यक्तिनं युक्ताः तदावरणस्य नित्यत्वेनायगमासम्भवात् । तिरो-भावसक्षरणोप्यपगमो न युक्तःः भ्रत्यक्तपूर्वरूपस्य तिरोभावासम्भवात् । द्वितीयोपलस्भस्य वासम्भवा-त्कृषं तदावरणसम्भवो येनास्यापगमोभिज्यक्तिः स्यात् ? न क्कावरणमस्ततो युक्तं सद्वस्तु-विवयत्वात्तस्य ।

किया जाने वाला उपकार उससे भिन्न है कि ग्रभिन्न इत्यादिः पूर्वोक्त दोष एवं ग्रनवस्था ग्राती है।

श्रीर यह स्वभावका अतिशय सत् होकर किया जाता है या असत् होकर किया जाता है ? असत् होकर कहो तो पहले के समान हेतुओंका श्रनैकान्तिक होना रूप दोष श्राता है। यदि वह श्रतिशय सत् होकर किया जाय तो सत् के लिये साधन का उपन्यास व्ययं होता है। तथा उसमें अभिव्यक्ति का पक्ष स्वीकार किया जाय कि साधन द्वारा प्रतिशयको अभिव्यक्त किया जाता है तो भी पूर्वोक्त अनवस्था दोष प्राता है श्रतः स्वभावके अतिशय को उत्पत्ति होने को अभिव्यक्ति कहते हैं, ऐसा प्रथम पक्ष सिद्ध नहीं होता।

निश्चयविषयक ज्ञान का होना ग्राभिव्यक्ति कहलाती है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सत्कायंवादी के मतमें उस ज्ञानको भी नित्य माना है [अत: उसकी ग्राभिव्यक्ति के लिये हेतु के व्यापार की ग्रावश्यकता नहीं हो सकती] तथा दूसरा ज्ञान ग्रसंभव भी है, क्योंकि ग्रापके मतमें ज्ञान एक ही माना है। विश्व को प्रावुर्भूति से लेकर प्रलय तक बुद्धि एक होती है ऐसा सिद्धांत ग्रापने स्वीकार किया है।

निष्चय की उपलब्धिका मावरण दूर होने को अभिव्यक्ति कहना भी प्रयुक्त है क्योंकि वह मावरण भी नित्य है भ्रतः उसका दूर होना श्रशक्य है। तिरोभाव होते को दूर्कर्सा,कदले हैं ऐसा माने तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जिसने पूर्व स्वरूप बन्धभोकाभावश्च सत्कायंवादिनोऽनुष्वश्यते । बन्धो हि मिध्याक्षावात्, तस्य च सर्वदावस्थित-त्वेन सर्वदा सर्वेदां बद्धत्वारकुतो मोक्षः? प्रकृतिपुरुवयोः कैवल्योपलस्थलसम्।तरवक्षानाञ्च मोक्षः, तस्य च सदावस्थितत्वेन सर्वदा सर्वेदां मुक्तत्वारकुतो बन्धः? सक्तस्व्यवहारोज्वेदप्रसङ्ग्रस्य; लोकः सनु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्षं प्रवर्तेते । सत्कार्यवादपक्षे तु न किञ्चिदप्राप्यमहेगं चास्तीति निरोहमेव जगरस्यात् ।

यदससम्न केनचित्क्रियते इति चासञ्ज्ञतम्; हेतोविषक्षे वाधकप्रमाणामावेनानेकान्तात् । कारण्यस्तिप्रतिनियमाद्धि किञ्चिदेवासिक्रयते यस्योत्पादकं कारणमस्ति । यस्य तु गगनाभ्भोषहादै-

छोड़ा नहीं है उसका तिरोभाव होंना भी असंभव है, और दूसरे प्रकार की उपलब्धि होना भी असंभव है अतः उसका धावरण भी किसप्रकार होवेगा जिससे कि उसके अपगम हो जाने को अभिव्यक्ति कह सकेंगे ? क्योंकि असत् का आवरण मानना अधुक्त है, उसका भी कारए। यह है कि आवरण सत् रूप वस्तुका होता है। सत्कार्यवादी सांस्थके यहां बंध और मोक्ष के अभाव का प्रसंग भी आता है क्योंकि मिध्याज्ञान से बन्ध होता है और उसके सदा अवस्थित रहने के कारण हमेशा सभी प्राणियों की बद्ध अवस्था होने से मोक्ष किस प्रकार हो सकता है? तथा प्रकृति और पुरुष के विवेक की उपलब्धि स्वस्थ तरव ज्ञान के होने से मोक्ष होता है ऐसा आप मानते हैं सो वह तत्वज्ञान सदा अवस्थित रहने के कारण हमेशा सभी प्राणियों का मुक्तपना होने से बन्ध किस प्रकार हो सकता है? संपूर्ण लोक व्यवहार का उच्छेद होने का प्रसंग भी आता है, क्योंकि लोक हित प्राप्ति और प्रहित परिहार के लिये ही प्रवृत्ति किया करते हैं, किन्तु सत्कार्यवाद के पक्षों न कोई अप्राप्य है और न कोई अहेय है अतः अखिल विश्व निरोह हो जायगा।

जो श्रसत् होता है वह किसी के द्वारा नहीं किया जाता ऐसा कहना भी श्रसंगत है, क्योंकि इस हेतु का विपक्षमें जानेमें बाबा करने वाला प्रमाण नहीं है श्रतः यह श्रनै-कान्तिक है। श्रसत् को करने की बात ऐसी है कि कारण के शक्ति का प्रतिनियम हुआ करता है उसके नियमानुसार किसी किसी असत् को ही किया जा सकता है जिसका कि उत्पादक कारण मौजूद है, किन्तु जिस झाकाश पुष्प झादिका कारण नहीं है उसको नहीं किया जाता। हम जैन सबको सबका कारण नहीं मानते हैं, न हमारे यहां ऐसा नियम है कि जो जो असत् हो वह वह किया ही जाता हो, किन्तु जो किया जाता है वह उत्पत्तिक पहले कथंबित् श्रसत् ही रहता है ऐसा हमारा सिद्धांत है।

निर्मत कर्यस्यं तम्र क्रियते । न हि सर्व सर्वस्य कारणमिष्टम् । नापि 'यद्यदसत्ततिक्रयते एव' इति 
स्वम्रक्तिरिद्धा । कि तिहि ? 'यिक्तयते तरप्रामुखतः कषञ्चित्रदस्येव' इति । नतु तुष्येप्यसंस्कारित्वे 
स्वम्रद्भानां किमिति सर्व सर्वस्यासतः कारणं न स्यादित्यस्थानिष समानम् । समाने हि सत्कारित्वे 
किमिति सर्व सर्वस्य सतः कारणं न स्यात् ? कारणशिक्तप्रतिनियमात् 'सद्यात्मादि न क्रियते' 
इत्यत्यत्रापि समानम् । प्रतिपादितप्रकारेण सर्वथा सतः कार्यत्वासम्भवात्कष्विदसत्कार्यवादे एवं 
क्रोपादानमहत्पादित्यादेहेंतुचतुद्धयस्य विद्यता साम्यनिष्ययसाधनात् । तन्नोत्यत्तः प्राक्कारण(ऐ) 
कार्यस्यद्वाविसिद्धः ।

सांस्य-कारणों का ग्रसत्कारीपना [ग्रसत् को करना] तुल्य होते हुए भी सभी कारण सभी ग्रसत को करने वाले क्यों नहीं होते ?

जैन-यह प्रश्न ग्रापके प्रति भी है, सत्कार्यपना समान होने पर भी सभी कारण सभी सतुको करने वाले क्यों नहीं होते हैं ?

सांख्य-कारण शक्तिका प्रतिनियम होने से सत् होते हुए भी स्रात्मा आदि को नहीं किया जाता ?

जैन-यह बात असत् कार्यवाद में भी समान रूपसे सुघटित होती है, अर्थात् कारण शक्तिका प्रतिनियम होने से असत् होते हुए भी किसी खरविषाणादि को तो नहीं किया जाता और घटादि को किया जाता है। तथा अभी तक जैसा हमने प्रतिपादन किया है तदनुसार यह निश्चित होता है कि सर्वथा सत् पदार्थ के कार्यपना असंभव है, कथंचित् असत् कार्यवाद में ही कार्यपना संभव है, और उपादान ग्रहण श्रादि शेष चार हेतुओं का विरुद्धपना भी होता है, क्योंकि ये हेतु श्रापके साध्यसे विपरीत जो असत् कार्यत्व है उसको सिद्ध करते हैं। अतः उत्पत्ति के पहले कारण में कार्यका सद्भाव मानना सिद्ध नहीं होता है।

स्रीर जो सांस्थ ने कहा था कि भेदों का परिमाण इत्यादि हेतु से एक प्रधान रूप कारण ही सिद्ध होता है, वह भी प्रलाप मात्र है, क्योंकि "भेदों के परिमाण से" यह जो हेतु है उसका एक कारण पूर्वकत्व के साथ प्रविनामाव नहीं है, भेदों के परिमाणका सनेक कारण पूर्वक होने में भी प्रविरोध है, क्योंकि इनका तो मात्र कारण पूर्वक होने में भी प्रविरोध है, क्योंकि इनका तो मात्र कारण पूर्वक होने में भी प्रविरोध है, क्योंकि इनका तो मात्र कारण पूर्वक होने साथ ही प्रविनामाव है, यदि उसीको सिद्ध करना है तो सिद्ध साधन है, प्रविष्ठित हम मानते ही हैं।

यच्चीकंथ्-भैदानां परिमाणादित्यादिहेतोः कारण् च प्रधानमैवैकं सिद्ध्यति; तदप्युक्तिमात्रम्; भैदानां परिमाणात् इत्यस्यैककारणपूर्वकत्वेनाविनाभावासिद्धेः, प्रनेककारणपूर्वकत्वेप्यस्याविरो-धात् । कारणमात्रपूर्वकत्वेनैव हि तस्याविनाभावः, तत्साधने च सिद्धसाधनम् ।

भेदानां समन्वयदर्शनात्' इति चासिद्धम्, न खलु सुखदुःखमोहसमन्वितं प्रमास्त्रतः प्रसिद्धम्, शब्दादित्यक्तस्याचेतनतया चेतनसुखादिसमन्वयविरोधात् । प्रयोगः ये चैतन्यरहिता न ते सुखादिसमन्वयाः यथा गगनाम्भोजादयः, चैतन्यरहितास्य शब्दादय इति ।

नतु चैतन्येन मुलादिसमन्वयस्य यदि व्याप्तिः प्रसिद्धा, तदा तिन्नवत्तं मानं शब्दादिषु सुक्षा-दिसमन्वयस्य निवर्त्तं येत् । न चार्तौ सिद्धा, पुरुषस्य चैतनत्वेषि मुलादिसमन्वयासिद्धेः; इत्यप्यपेशलम्; स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे सुलादिस्वभावतयास्मनः प्रसाधनात् ।

भेदों का समन्वय होने से एक प्रधान कारण ही सिद्ध होता है ऐसा हेतु भी असिद्ध है, क्योंकि प्रधान का सुख दुःख भोह से समन्वितपना प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, शब्दादि व्यक्त प्रधान का अचेतनपना होने से चेतन के धर्मरूप सुख दुःखादिसे समन्वय होने में विरोध आता है, अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है कि—जो चेतन रहित होते हैं, वे सुखादि से समन्वित नहीं होते हैं, जैसे आकाश पुष्पादि वस्तु, शब्द आदि व्यक्त भी चैतन्य से रहित हैं अत: सुखादि से समन्वित नहीं हो सकते।

सांख्य-यदि जैतन्य के साथ सुखादि के समन्वयकी व्याप्ति सिद्ध होती तब तो उस जैतन्य के निर्वात्ति होने से शब्द थ्रादि में मुखादि का समन्वयत्व निर्वात्ति होता, किन्तु वह व्याप्ति सिद्ध नहीं है, क्योंकि पुरुषके चेतनपना होते हुए भी सुखादि के साथ समन्वयपना नहीं है शिभिप्राय यह है कि जैतन्य के साथ सुखादि का अविनाभाव नहीं है।

जैन-यह कथन ग्रसत् है, हम जैन ने स्वसंवेदन सिद्धि के प्रकरण में यह भली भांति सिद्ध कर दिया है कि सुखादि स्वभाव चैतन्य ग्रात्मा के ही हैं।

ग्रीर जो कहा कि प्रसाद ताप दैन्य ग्रादि कार्यों की उपलब्धि होने के कारण प्रधानसे ग्रन्वितपना सिद्ध होता है, इत्यादि, सो यह श्रयुक्त है, क्योंकि इस कथन में ग्रमैकान्तिक दूषण श्राता है, इसीको स्पष्ट करते हैं—पुरुषको प्रकृतिसे भिन्नरूप आवना करने वाले कापिल योगियों के पुरुषका ग्रवलम्बन लेकर जब श्रम्यस्त योग्हों जाता, है तब प्रसाद ग्रीर प्रीति होती है, जो अनम्यस्त योगी हैं उनको शीग्रता से ग्रात्माका

यश्वात्यदुक्तम्-प्रसादतापदैन्यादिकार्योपलम्भारत्रधानान्वितत्वसिद्धिः, तदप्यदुक्तम्, घनेका-न्तात्, कापिलयोगिनां हि पुरुषं प्रकृतिविभक्तं भावयतां पुरुषमालम्ब्य स्वस्यस्त्यगेगानां प्रसादो भवति प्रीतिक्र, धनम्यस्तयोगानां क्षिप्रतरमात्मानमपत्यतामुद्धे गः, प्रकृत्या जडमतीनां मोहो जायते, न वासौ पुरुषः प्रधानान्वितः परेरिष्टः । सङ्कृत्यात्प्रीत्याखुत्पत्तिनं पुरुषादिति शब्दादिव्वपि समानम् । सङ्कृत्यमात्रभावित्वे व प्रीत्यादीनामात्मरूपताप्रसिद्धिः, सङ्कृत्यस्य ज्ञानरूपत्वात्, ज्ञानस्य चात्मधर्म-तयाः स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे प्रतिपादितस्वात् इत्यलमतिप्रसङ्को न ।

ग्रस्तु वा प्रीत्यादिसमन्वयो व्यक्तं, तथापि न प्रधानप्रशिद्धः, साधनस्यान्वयासिद्धः। न खतु यवाभूतं त्रिगुणात्मकमेकं नित्यं व्यापि चास्य कारणं साधियतुमिष्टं तथाभूतेन क्वचिद्धंतोः प्रतिबन्धः सिद्धः। नापि यदात्मकं कार्यमुगलम्यते कारणेनाप्यवस्यं तदात्मना भाव्यम्, ध्रन्यथा महदादौ हेतुमस्वानित्यत्वाव्यापित्वादिधर्मोपलम्भात् प्रथानेपि ताद्रूप्यप्रसिद्धिप्रसङ्गाद्धेतोबिरुद्ध-तानुषङ्गः।

दर्शन न होने के कारण उद्घेग होता है, श्रीर जो प्रकृतिसे जडबुद्धि हैं उनको मोह होता है, सो यह प्रमाद भादि का अनुभवन करने वाला पुरुष [आत्मा] प्रधान से श्रन्वित है ऐसा मानना श्राप स्वयं को इस्ट नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रीति श्रादि की उत्पत्ति संकल्प से होती हैं न कि पुरुष से १ सो यह शब्दादि में भी समान रूप से घटित होता है। तथा प्रीति भादिको संकल्पमात्रसे उत्पन्न होना माने तो वे श्रात्मारूप सिद्ध होंगे, क्योंकि संकल्प जानरूप होता है और ज्ञान श्रात्माका धर्म है ऐसा स्वसंवेदन सिद्धि के प्रस्ताव में प्रतिपादन कर आये हैं, अब श्रधिक कहने से बस हो।

प्रीति आदि का समन्वय व्यक्त में होता है ऐसा मान लेवे तो भी प्रधान की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि समन्वय दर्शनात् इत्यादि हेतु का ग्रन्वय ग्रसिद्ध है, ग्रापको इस प्रधान में जिस प्रकार का त्रिगुणात्मक एक, व्यापि ग्रौर नित्य कारणपना सिद्ध करना इष्ट है उस प्रकारका कारणपना कहीं पर हेतु के अविभाव रूपसे प्रसिद्ध नहीं है। तथा कार्य जिस रूप उपलब्ध होता है उस रूप कारण को भी होना ग्रावश्यक नहीं है, यदि ऐसा माने तो महदादिमें हेतु मस्त, ग्रीनत्यस्त, ग्रव्यापिस्त ग्रादि धर्म उपलब्ध होने से प्रधान में भी हेतुमस्त ग्रादि की सिद्धि होने का प्रसंग ग्राता है और इस तरह प्रधान को नित्य ग्रादि रूप सिद्ध करने के लिये दिये गये सत्वादि हेतु विरुद्ध-पनेको प्राप्त होते हैं।

# प्रकृतिकतृ त्ववादः

यज्जेद निदर्शनमुक्तम्-'यथा घटश्चराबावयो मुज्जातिसमन्तिताः' इतिः तक्ष्यसञ्जतमः, साध्यसाधनविकलत्वादस्य । न हि भुत्वसुवर्गत्वादिजातिनित्यनिर्शस्याभ्येकरूपा प्रमारातः प्रसिद्धा येन तदात्मककारणसम्भूतत्वं तत्समन्वतत्वं च प्रसिद्धये त्, प्रतिब्धक्ति तस्याः प्रतिभासभेदाङ्कदेनित्यः । विस्तरेरण जास्याः सिद्ध्यभागं सामान्यविचारमस्योवं प्रतिपाद्यिष्याम इत्यलमतिविस्तरेरण ।

्तया 'समन्वयात्' इत्यस्यानेकान्तः; चेतनत्वभोक्तृत्वादिषमैः पुरुवारणाम्, प्रधानपुरुवारणां च नित्यत्वादिषमैः समन्वितत्वेपि तथाविषैककारणपूर्णकत्वानम्युपगमात् ।

एतेन शक्तितः प्रवृतो रित्याखप्यनैकान्तिकत्वादिदोषदुष्टत्वादेककारण्यूर्वकत्वासाधनमित्यव-सातव्यम् । तथा हि-प्रेक्षावत्कारणमेतेच्यः प्रसाध्यते, कारणमात्रं वा ? प्रवमक्किक्ये अनेकान्तः, विनापि हि प्रेक्षावता कर्वा स्वहेनुसामर्थ्यप्रतिनियमात्प्रतिनियतकार्यस्योत्पत्यविरोधात् । न च प्रधानं

श्रीर जो इष्टांत दिया था कि जिस प्रकार घट सकोरा आदि मिट्टीरूप जाति से समन्वित हैं इत्यादि वह असंगत है, क्योंकि यह इष्टांत साध्य और साधन से विकल है, मिट्टीरूप जाति या सुवर्णरूप जाति नित्य, निरंश, व्यापी एक रूप हो ऐसा प्रमाण से सिद्ध नहीं है, जिससे कि नित्य आदि घमं युक्त उस जातिरूप कारण से उत्पन्न होना और उससे कार्यों का समन्वित होना सिद्ध हो सके, प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिभासका भेद होने से उस जाति का भिन्न भिन्नपना ही सिद्ध होता है। नित्य, एक रूप इस जाति का आगे सामान्य विचार प्रकरणमें विस्तार पूर्वक निरसन करने वाले हैं अतः अब अधिक कथनसे विराम लेते हैं।

समन्वयात् इस हेतु में भी अनेकांत दूषण हैं, क्योंकि चेतनत्व भोक्तृत्वादि धर्मों के साथ पुरुषों का [आत्माओं का] तथा नित्यत्वादि धर्मों के साथ प्रधान और पुरुषों का समन्वय होने पर भी उस प्रकार के एक कारए। पूर्वकपना उनमें नहीं माना है। अर्थात् जिनमें भेदों का समन्वय है वे सब एक नित्य कारण से होते हैं अथवा भेदों का समन्वय होने से सबका कारण एक ही है ऐसा जो कहा था वह व्यभिचरित होता है। भेदानां परिमाणात् और समन्वयात् इन दो हेतुओं के निरसन से ही शक्तितः प्रवृत्तेः इत्यदि हेतुओं का निरसन हुआ समक्ता, क्योंकि इनमें भी अनैकान्तिक आदि अनैक दोष हैं अतः एक कारण पूर्वक साध्यको सिद्ध करने में ये सब असाधन हैं। आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—इन हेतुओं द्वारा बुद्धिमानकारणको सिद्ध किया, जाता है। कि सामान्य से कारण मात्रको सिद्ध किया जाता है। प्रयम विकल्प कही तो अनै-

प्रेसावयुक्त तस्याचेतनत्वात् प्रेक्षायात्र्य चेतनाययीयत्वात् । अय कारणमात्रं साध्यते, तिह् सिद्धसा-घ्यता । न ह्यस्माक्तं कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पादोऽभीष्टः । कारणमात्रस्य च 'प्रधानम्' इति सञ्चा-करणे न किश्विद्धिक्ष्यतेऽवेशेदाभावात् ।

किंच, शक्तितः प्रवृत्ते रित्यनेन यदि कथिचित्य्यतिरिक्तशक्तियोगिकारणमात्रं साध्यते; तदा सिद्धसाध्यता । प्रथ व्यतिरिक्तविचित्रशक्तियुक्तमेकं नित्यं कारणम्; तदानैकान्तिकता हेतोः । तथा-भूतेन क्विचित्रयासिद्धे रिसद्धता च, न सल् व्यतिरिक्तशक्तिवशात् कस्यचित्कारणस्य क्विचत्कार्ये प्रवृत्तिः प्रसिद्धा, शक्तीनां स्वास्मभूतत्वात् ।

कारितक दौष आयेगा, क्योंिक प्रेसावान कत्ताक बिना भी अपने हेतुके सामर्थ्य के प्रति-नियमसे प्रतिनियत कार्य की उत्पत्ति होनेमें अविरोध है। दूसरी बात यह भी है कि आप प्रधानको कारण मानते हैं किन्तु प्रधान अचेतन होने से बुद्धिमान कारण नहीं हो सकता, बुद्धि तो चेतन की पर्याय है। यदि कहे कि कारण मात्रको सिद्ध किया जाता है तब तो सिद्धसाध्यता है। क्योंिक हम जैन को भी कारण के बिना कार्यकी उत्पत्ति मानना इष्ट नहीं है। यदि आप इस कारण मात्र को ही प्रधान ऐसा नामकरण करते हैं तो कोई विरोध नहीं है, क्योंिक अर्थमें भेद भाव नहीं है।

किंच, शक्तितः प्रवृत्तोः इस हेतु द्वारा यदि कथंचित् अव्यतिरिक्त शक्ति योगी कारण मात्र को सिद्ध किया जाता है तब तो सिद्धसाध्यता है, और यदि व्यति-रिक्त [सिन्न] शक्ति युक्त एक नित्य कारणको सिद्ध किया जाता है तो हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त होता है, क्योंकि उस प्रकारके हेतु का कहीं पर अन्वय सिद्ध नहीं होने से असिद्धता होती है, क्योंकि अपने से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न शक्ति से किसी कारण की कार्य में प्रवृत्ति होती हुई नहीं देखी जाती, शक्तियां तो स्वात्मभूत हुआ करती हैं।

ग्रीर भी जो कहा था कि वैश्वरूप्यका ग्रविभाग होने से सब कार्यका एक कारण है ऐसा भी अयुक्त है, वर्योकि वैश्वरूपके ग्रविभाग [ग्रन्तलीन] का कारण जो प्रलयकाल बताया उसकी ही ग्रसिद्धि है, यदि कदाचित् वह सिद्ध हो जाय तो भी महदादिका लय पूर्व स्वभाव से प्रच्युत होने पर होता है ग्रयवा अप्रच्युत रहते हुए होता है १ यदि प्रच्युत होने पर होता है हो ग्रविध्य को ग्रविध्य हो बिनाश की सिद्धि होवेगी, क्योंकि स्वभाव की प्रच्युति होना ही बिनाश कहलाता है। ग्रीर यदि

यश्चे दमुक्तम्-प्रविभागार्द्धैदवरूप्यस्य; तदप्यसाम्प्रतम्; प्रलयकालस्यैवाप्रसिद्धे: । सिद्धौ वा तदासौ महदादीनां लयो भवन् पूर्वस्वभावप्रच्युतौ अवेत्. धप्रच्युतौ वा ? यदि प्रच्युतौ; तिंह तेषां तदा विनाशसिद्धिः स्वभावप्रच्युतैविनाशरूपत्वात् । ध्रयाप्रच्युतौ; तिंह लयानुपपन्तिः; निह श्रविकलमारमन्स्तत्त्वमनुभवतः कस्यचिद्धयो युक्तोऽतिप्रसङ्गात् । परस्परविषद्धः चेदम् 'श्रविभागो वैश्वरूप्यम्' इति च । वैश्वरूप्यं च प्रधानपूर्वस्व नोषपद्यत एव, तन्मयत्वेन सर्वस्य जगतस्तस्थरूपवेकस्वप्रसङ्गात्, इति कस्याऽविभागः स्यादिति ? तम्र प्रधानस्य सर्वज्ञता, कर्तृंत्वस्य कारएशक्तियित्रानाविनाभावासिद्धे रित्युक्तं प्रागोश्वरिनराकरऐ, तदलमितप्रसङ्गेन ।

एतेन सेश्वरसाङ्ख्येर्यं दुक्तम्-'न प्रधानादेव केवलादमी कार्यभेदाः प्रवर्तन्ते तस्याचेतन-

ग्रप्तुभवन करते हुए किसी वस्तुका लय मानना सर्वथा अयुक्त है, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। तथा यह परस्पर विरुद्ध है कि अविभाग है पुनश्च वैश्वरूप्प है, तथा प्रधान होगा। तथा यह परस्पर विरुद्ध है कि अविभाग है पुनश्च वैश्वरूप्प है, तथा प्रधान पूर्वत्वमें वैश्वरूप्प वता ही नहीं, क्योंकि प्रधानसे तन्यय होनेके कारण संपूर्ण जगत को उसके स्वरूपके समान एक रूप होने का प्रसंग ग्राता है और इस प्रकार जगतक एक रूप हो जानेसे किसका अविभाव होवेगा? अतः प्रधानका सकल जगत् कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है जिससे यह माना जा सके कि प्रधान जगतका कर्ता होनेसे सर्वज्ञ है प्रधात् जगत कर्तृत्व हेतुसे प्रधानमें सर्वज्ञता सिद्ध करना ग्रसंभव है क्योंकि कर्तृत्वका कारणकी शक्तिक परिज्ञानके साथ ग्रविनाभाव सिद्ध नहीं है ग्रथीत् कर्ताको कारणकी शक्तिक परिज्ञानके साथ ग्रविनाभाव सिद्ध नहीं है, इस विषय में पहले ईश्वरवाद का निराकरण करते समय बहुत कुछ प्रतिपादन हो चुका है, अतः ग्रधिक नहीं कहते हैं।

इस निरीश्वर सांस्थके प्रकृतिकर्तृत्ववादके निराकरणसे ही सेश्वरवादी सांस्थ द्वारा जो कहा गया है उसका भी निराकरण होता है। उनका कहना है कि केवल प्रधानसे ये महदादि कार्यभेद नहीं हो सकते हैं, क्योंकि प्रधान अचेतन है, अचेतन पदार्थ अधिष्ठायकके बिना कार्यको प्रारंभ करते हुए नहीं देखे जाते। ईश्वरसे अन्य सामान्य आत्माको अधिष्ठायक माने तो भी युक्त नहीं, क्योंकि सृष्टि कालमें वह अज्ञानी रहता है, कहा भी है कि बुद्धि द्वारा संसर्गित होकर ही आत्मा पदार्थ को जानता है। बुद्धिके संसर्ग होनेके पूर्व तो यह आत्मा अज्ञ ही रहता है अत: किसी भी

स्वात् । न ह्यचेतनोऽिषष्ठायकमन्त्ररेण कार्यमारभमाणो रष्टः । न चान्यात्माऽिषष्ठायको युक्तः; सृष्टि-काले तस्याज्ञत्वात् । तथा हि-बुद्ध्यय्यवसितमेवायं पुरुषक्रतेत्रयते । बुद्धिसंसगीस् पूर्वमसावज्ञ एव, न जातु किस्बिदयं विजानाति न चाज्ञातमयं किष्यत्कत्त् शक्तः । अतो नासी कर्ता । तस्मादीघ्वर एव प्रधानापेक्षः कार्यभेदानां कर्ता, न केवलः । न सन्तु देवदत्तादिः केवलः पुत्रम्, कुम्भकारो वा घटं जनयति 'इति; तदिष प्रतिव्युवस्; प्रत्येकं तयोः कर्नु त्वस्यासम्भवे सहितयोरप्यसम्भवात्, अन्यथा प्रत्येकपक्षनिक्षिप्रदोषानुषङ्गः ।

ग्रथोच्यते-यदि नाम प्रत्येकं तयोः कर्नृंत्वासम्भवस्तथापि सहितयोः कथं तदभावः? न हि केवलानां बक्षुरादीनां रूपादि ज्ञानोत्पत्तिसामध्यांभावे सहितानामप्यसौ युक्तः; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः

पदार्थको नहीं जानता । यह बात निश्चित है कि अज्ञात पदार्थको करनेके लिये कोई भी पुरुष समर्थ नहीं हो सकता, अतः सामान्य आत्मा कार्योका कर्ता सिद्ध नहीं होता है, इसप्रकार यह निश्चय हुआ कि प्रधानकी अपेक्षा रखते हुए ईश्वर ही कार्यभेदोंका कर्ता है। अकेला आत्मा नहीं। लोक व्यवहारमें भी देखते हैं कि अकेले देवदत्तादि पुरुष पुत्रको उत्पन्न कर देते हो या अकेला कुम्हार घटको बना देता हो ऐसा नहीं होता। सो यह सेश्वर सांस्थका कथन असत् है, जब प्रधान और ईश्वर इनमेंसे प्रत्येक में सुष्टिका कर्तृंत्व संभव नहीं है दोनों सम्मिलित अवस्थामें भी उस कार्यको नहीं कर सकते, यदि सम्मिलित अवस्थामें कर्तृंत्व 'संभव है ऐसा माने तो प्रत्येकके पक्षमें दिये गये अविलय दोष आ जायेंगे।

सांख्य-प्रधान और ईश्वर श्रकेले रहकर कार्यको नहीं कर सकते तो न सही किन्तु दोनों सम्मिलित होकर क्यों नहीं कर सकेंगे ? बखु ध्रादि इन्द्रियां श्रकेली रहकर रूपादि विषयोंमें ज्ञानको नहीं कर सकती तो [कमजोर होनेके कारण] क्या उनके सहायक प्रकाश नेत्रांजनादिके सम्मिलित श्रवस्थामें भी नहीं करती ? अर्थात् श्रवस्य कर सकती है, इसीप्रकार अकेले प्रधान और ईश्वर भले ही मृष्टि कार्यको न करें किन्तु दोनों मिलकर तो कर सकते हैं ?

जैन-यह कथन अयुक्त है, सिम्मिलित होकर करना, सिहत होकर करना इस वाक्यका प्रयं होता है एक दूसरेका सहकारी बनना, अब बताइये कि प्रधान और ईश्वरमें किसप्रकारका सहकारीपना है परस्परमें यतिशयत्व लाना या एकमेक होकर कार्य करना ? प्रथमपक्ष श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि प्रधान और ईश्वर दोनों ही नित्य हैं साहित्यं नामानयोरन्योन्यं सहकारित्वम् । तच्चान्योन्यातिश्वयाधानाद्वा स्यात्, एकार्यकारित्वाद्वा ? न तावदाध्यकल्पना युक्ताः; नित्यत्वेनानयोविकाराभावात् । नापि द्वितीयकल्पना युक्ताः; कार्याणां यौगपद्य-प्रसङ्गात् । यप्रतिहतसामर्थ्यस्थेन्वरप्रधानास्थकारणस्य सदा सन्निहितत्वेनाविकलकारणस्वात्तेषाम् । तथाहि-यद्यदाऽविकलकारणं तत्तदा भवस्येव यथाऽन्त्यक्षणप्राप्तायाः सामग्रीतोऽकुरः, श्रविकलकारणं चाशेषं कार्यमिति ।

ननु यद्यपि का स्एउयमेतक्षित्यं सिन्निहितं तथापि क्रमेर्संवामी कार्यभेदाः प्रवित्तिष्यन्ते । महेरवरस्य हि प्रधानगताः सत्त्वादयस्त्रयो ग्रुगाः सहकारिगः, तेषां च क्रमवृत्तिस्वात्कार्याणामिप क्रमः । तथाहि-यदोद्भृतवृत्तिना रजसा युक्तो भवत्यसौ तदा सगेहेतुः प्रजानां भवति प्रसवकार्यस्वा-द्रजसः, यदा तु सत्त्वमुद्भूतवृत्ति संश्रयते तदा लोकानां स्थितिकारण् भवति सत्त्वस्य स्थितिहेतुस्वात्, यदा तमसोद्भूतवाक्तिना समायुक्तो भवति तदा प्रलयं सर्वजगतः करोति तमसः प्रलयहेतुस्वात् । तदक्तम्—

प्रतः उनमें प्रतिशयरूप विकृति होना असंभव है। दूसरा पक्ष भी प्रयुक्त है, इस तरह मानने पर सभी कार्य युगपत् उत्पन्न हो जानेका प्रसंग आता है, जिनकी सामर्थ्य प्रप्रतिहत हैं ऐसे प्रधान और ईश्वर रूप कारणोंके सदा विद्यमान रहनेसे वे कार्य प्रविकल कारण वाले सिद्ध ही हो जाते हैं। अनुमान सिद्ध बात है कि जब जिसका प्रविकल [संपूर्ण] कारण मौज्द रहता है तब उसकी उत्पत्ति हो ही जाती है, जैसे प्रत्यक्षणको प्राप्त सामग्रीसे अंकुर उत्पन्न हो जाता है, जगत्के श्रशेषकार्य भी प्रविकल कारण सहित हैं श्रतः उनको उत्पत्ति भी युगपत हो जानी चाहिये।

सांस्य-यद्यि दोनों कारण नित्य एवं सिन्निहित [निकटवर्त्ता] हैं तथापि नाना कार्यभेद तो कम से ही सम्पन्न होते हैं, आगे इसीका खुलासा करते हैं—महेश्वर के सहकारी कारण प्रधानमें होने वाले सत्व आदि तीन गुण हैं, ये गुण कमसे होने वाले हैं अतः इन गुणोंकी सहायतासे होने वाले कार्य भी क्रिमक सिद्ध होते हैं। आगे इसीका विवरण किया जाता है—जब यह ईश्वर आविर्भूत रजोगुरासे युक्त होता है तब वह प्रजाके उत्पत्तिका कारण होता है, क्योंकि रजोगुराका कार्य उत्पत्ति कराना है। और जब वह ईश्वर सत्वगुणका आश्रय लेता है तब लोकोंकी स्थितिका कारण होता है, क्योंकि सत्वगुण स्थितिका हेतु है, तथा जब वही ईश्वर तमोगुरासे युक्त होता है तब संपूर्ण जगतका प्रलय कर डालता है, क्योंकि तमोगुण प्रलयका हेतु माना गया है। यही कथन कार्बंबरी अंथमें पाया जाता है कि जब ईश्वर रजोगुणसे युक्त होता है "रजोजुवे जन्मनि सत्त्ववृतये स्थितौ प्रजानां प्रत्ये तमःस्पृशे । ग्रजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः॥१॥"

[कादम्बरी पृ०१]

इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः प्रकृतीक्वरयोः समेस्थितिप्रलयानां मध्येज्यतमस्य क्रियाकाले तदपर-कार्यद्वयोत्पादने सामध्यमस्ति, न वा ? यथस्ति; तर्हि मृष्टिकालेषि स्थितिप्रलयप्रसङ्गोऽविकलकारएा-स्वादुःयादवत् । एवं स्थितिकालेप्युत्पादविनावायोः, विनाशकाले च स्थित्युत्पादयोः प्रसङ्गः, न चैत-श्चु क्तम् । न खलु परस्परपरिहारेगाविस्थतानामुत्पादादिधर्माणामेकत्र धर्मिण्येकदा सद्भावो युक्तः । प्रय नास्ति सामध्यम्; तदैकमेव स्थित्यादिनां मध्ये कार्यं सदा स्थान् यदुत्पादने तथोः सामध्यंमस्ति,

तब प्रजाके उत्पत्तिका हेतु होता है, सत्वगुण युक्त होनेपर स्थितिका एवं तमोगुण युक्त होनेपर प्रलयका हेतु होता है, इसप्रकार उत्पत्ति स्थिति और नाशका हेतु, त्रिवेदसूर्त्ति , त्रिगुणात्मक म्रज नाम संयुक्त ईश्वरके लिये नमन हो ।।१।। [कादंबरी पृष्ट १]

जैन-यह संपूर्ण कथन युक्तिशून्य है, उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय इन तीनोंमें से किसी एक कियाका संपादन करते समय प्रधान धौर ईश्वरमें अन्य दो कार्योको संपन्न करतेका सामर्थ्य है अथवा नहीं १ यदि है तो जगतकी उत्पत्तिके समयमें ही स्थिति और नाश भी हो जाना चाहिये १ क्योंकि उत्पत्तिके समान उनका भी अविकल कारण मौजूद है। इसीप्रकार स्थितिकालमें उत्पत्ति और विनाशका तथा नाशकालमें स्थिति और उत्पत्ति हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है, किन्तु यह सब युक्त नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति आदि धमं परस्परका परिहार करके रहने वाले धमं हैं, इनका एक धर्मीमें एक कालमें सद्भाव पाया जाना असंभव है। यदि यह माना जाय कि ईश्वरादिमें उत्पत्ति आदि की किया करते समय अन्य दो कार्योके सपादनकी सामर्थ्य नहीं होती तो उन स्थिति आदि कार्योमें से कोई एक ही कार्य सदा हो होता रहेगा, जिसका कि सामर्थ्य उन्दित्त शादि कोनों कारणोंमें मौजूद है, शेव दो कार्य तो कभी भी नहीं हो सकेंगे, क्योंकि उनके उत्पादनकी सामर्थ्यका सदा हो अभाव है। तथा प्रधान और ईश्वर दोनों हो अविकारी पदार्थ हैं इनमें नयी सामर्थ्य उत्पन्न होना तो अशक्य अन्यया इनकी नित्य एक स्वभावताका व्याघात हो जानेका प्रसंग प्राप्त होगा ।

सांख्य-यद्यपि ईश्वर ग्रीर प्रधान नित्य एक स्वभाव वाले हैं तो भी प्रधानमें सत्व मादि गुणींमेंसे जो भी ग्राविभूत वृत्तिक होता है वही कारणपने को प्रास्त होता ना<mark>परं कदाचनापि तदु</mark>त्पादने तयोः सदा सामर्थ्याभावात् । ग्रविकारिएगोश्च प्रकृतोश्वरयोः पुनः सामर्थ्योत्पत्तिविरोषात्, ग्रन्थया निर्येकस्वभावताव्याधातः ।

श्रथ तस्वभावेषि प्रधाने सत्त्वादीनां मध्ये यदेवोद्भूतवृत्ति तदेव कारणतां प्रतिपद्यते नान्यत्, तत्कयं स्थित्यादीनां यौगपद्यभ्रसङ्ग इति ? अत्रोच्यते—तेषामुद्भूतवृत्तित्वं नित्यम्, प्रनित्यं वा ? न ताविभ्रत्यम्; कादाचित्रक्तवात्, स्थित्यादीनां यौगपद्यभ्रद्भृत्वाः । श्रथानित्यम्; कृतोऽस्य प्रादुर्भावः ? प्रकृतीश्वरादेव, श्रन्यतो वा हेतीः, स्वतन्त्रो वा ? प्रथमपक्षे सदास्य सङ्कावभ्रसङ्गः, प्रकृतीश्वराद्यस्य हेतीन्त्यरूपत्या सदा सिन्निहत्वात् । न चान्यतस्तत्प्रादुर्भावो युक्तः; प्रकृतीश्वर्यव्यतिरैकेणापरका-रणस्यानम्यूगगमात् । तृतीयपक्षे तृ कादाचित्रकत्वविरोधोऽस्य स्वातन्त्र्येण् भवतो देशकालनिव्यमा-

है ग्रन्य नहीं, ग्रतः स्थिति उत्पत्ति आदि एक साथ हो जायेंगे ऐसा ग्रति प्रसंग दोष किसप्रकार आ सकता है ?

जैन-उन सत्वादि गुणोंका स्नाविर्भूत वृत्तिपना नित्य है या स्रनित्य है ? नित्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह वृत्तिपना कदाचित हो होता है, तथा उन गणों का स्राविर्भ तपना नित्य माना जाय तो उत्पत्ति स्थिति स्रादिके यगपत हो जाने का प्रसंग उपस्थित होता है। यदि उन गुणोंकी आविर्भूत वृत्तिको अनित्य माना जाय तो प्रकृत होता है कि वह किस कारणसे प्रादुर्भूत हुई ? प्रकृति और ईक्ष्वरसे ग्रथवा अन्य किसो हेत्से, या स्वतंत्रतासे ? प्रथमपक्ष माने तो इस वृत्तिका सदा ही सद्भाव मानना होगा क्योंकि प्रकृति और ईश्वर नामके हेत् नित्य होनेसे सदा सिन्नहित ही रहेंगे। द्वितीयपक्ष-ईश्वर श्रीर प्रधानसे प्रथक अन्य किसी हेत्से उन गणोंकी वृत्ति प्रादुर्भावित होती है ऐसा मानना भी अयुक्त है, प्रधान और ईश्वर इन दोनोंको छोडकर अन्य किसीको ग्रापके यहां कारण रूपसे स्वीकार नहीं किया गया है। तीसरापक्ष स्वतंत्रता का है सो स्वतंत्रतासे होने वाली उद्भूतवृत्ति कभी कदाचित होनेमें विरोध आता है, क्योंकि जो कार्य स्वतंत्रतासे होता है उसमें अमुक क्षेत्र और कालमें ही होना ऐसा नियम नहीं बन सकता, जो पदार्थ स्वभावसे स्वभावांतरको प्राप्त होते हैं वे कादाचित्क होते हैं, क्योंकि स्वभावांतरके होनेपर ही कादाचित्क संभव है स्वभावांतरके न होनेपर कादाचित्क संभव नहीं है, दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जो पदार्थ कारणोंके ग्रधीन होते हैं वे ही कादाचित्क होते हैं स्वतंत्रतासे होने वाले पदार्थ कारणोंके ग्रधीन नहीं होते, क्योंकि स्वतंत्रतासे जायमान पदार्थमें अपेक्ष करने योग्य कोई वस्तू ही नहीं है।

योगात् । स्वभावान्तरायत्तवृतयो हि भावाः कादाचित्काः स्युः तद्भावाभावप्रतिबद्धत्वात्तस्त्रस्वास-स्वयोः, नान्ये तेषामपेक्षर्गीयस्य कस्यचिदभावात् ।

किश्व, घात्मानं जनयित भावो निष्पश्वः, धनिष्पश्नो वा ? न तावश्चिष्पश्चः; तस्यामवस्याया-मारमनोपि निष्पश्चखाव्यविरेकितया निष्पश्चलानिष्पन्तस्वरूपवत् । नाप्यनिष्यन्तः; ध्रनिष्पन्तस्व-रूपस्वादेव गगनाम्भोजवत् । तस्मारप्रकारान्तरेणाशेषज्ञस्वासिद्धरेगवरणापाये एवाशेषविषयं विज्ञानम् । तज्वात्मन एवेति परीक्षादर्भः प्रतिपत्तव्यम् । तज्व विज्ञानमनन्तरर्शनसुखवीर्याविनाभावि-स्वादनन्तवतृष्टयस्वभावस्वमात्मनः प्रसाधयतीति सिद्धो मोक्षो जीवस्यानन्तवतृष्टयस्वरूपलाभलक्षराः, तस्यापेतप्रतिवन्धकस्यात्मस्वरूपतया जीवन्धृक्तवत्परममुक्तावप्यभावासिद्धेः ॥

दूसरी बात यह है कि अपने स्वरूपको उत्पन्न करने वाले वह पदार्थ निष्पन्न है अथवा अनिष्पन्न है ? निष्पन्न तो नहीं हो सकता, क्योंकि उस पदार्थके निष्पन्न अवस्थामें होनेपर उसका स्वरूप भी निष्पन्न रूपसे अभिन्न होनेके कारण निष्पन्न ही रहेगा, जैसा कि स्वयंका रूप निष्पन्न है। अपने स्वरूपको उत्पन्न करने वाला पदार्थ अनिष्पन्न है ऐसा दूसरापक्ष स्वीकार करे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अनिष्पन्न पदार्थ म्नाकाश पुष्पकी तरह स्वयंके स्वरूपसे म्नानष्पन्न है [स्वरूप रहित है]

इसप्रकार सर्वक्रत्वके प्रस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये सांख्यादि द्वारा प्रदत्त प्रकृतिकर्तृ त्व ग्रादि हेतु सदोष सिद्ध होते हैं, ग्रतः सर्वक्र सिद्धिके लिये प्रकारांतरका ग्रमाव होनेसे प्रावरणका ग्रमायरूप हेतु द्वारा उसकी सिद्धि होती है ग्रयांत् संपूर्णं विषयोंको जानने वाला ज्ञान श्रावरणके नष्ट होनेपर ही उत्पन्न होता है ऐसा निक्चय हुग्रा। तथा ऐसा संपूर्णं विषयोंका जानने वाला ज्ञान श्रात्माके ही होता है ऐसा परीक्षादक्ष पुरुषोंको स्वीकार करना चाहिये। इसप्रकारका संपूर्णं विषयोंका जानने वाला जो ज्ञान है वह श्रनंतदश्चन, श्रनंतसुख, श्रौर श्रनंतवीयंका श्रविनाभावी होनेसे अनंतस्वपुष्ट्यस्वरूप श्रात्माको सिद्ध कर देता है, अतः निश्चित होता है कि इस जीवके अनंतस्वपुष्ट्यस्वरूप स्वरूपका लाभ होना मोक्ष है। यह ग्रनंत चतुष्ट्य स्वरूपका लाभ प्रतिबंधक कर्मोसे ग्रपेत है ग्रपना निजी शाश्वत स्वरूप होनेके कारण जीवन्मुक्त दशाके समान [श्रीरहंत अवस्थाके समान] परममुक्त दशामें [सिद्धोंमें] भी सदा विद्यमान रहता है, उसका परममुक्त दशामें ग्रभाव नहीं होजाता है।

#### । इति प्रकृतिकत् त्ववाद समाप्त ।।

## प्रकृति कर्तृत्ववाद के खण्डन का सारांश

सांस्य के निरीप्त्वर सांस्य और सेप्त्वर सांस्य ऐसे दो भेद हैं, निरीप्त्वर सांस्य प्रकृति को जगत कर्त्ता मानते हैं और सेप्त्वर सांस्य ईक्ष्तर और प्रकृति दोनों को कर्त्ता मानते हैं पहले निरीप्त्वर सांस्य का पूर्वपक्ष रखकर आचार्य ने सिवस्तार खंडन किया है। सांस्य सम्पूर्ण जगत का कर्त्ता प्रकृति है म्रतः वही सर्वज्ञ है, सारी मृष्टि प्रकृति से निर्मित है, ऐसा मानते हैं, आगे इसीको कहते हैं—

प्रकृते मेहांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादिष षोडकात् पंचभ्यः पंच भूतानि ॥१॥

प्रकृति से विषय का निश्चय कराने वाली बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धि से मैं सुभग हं इत्यादि ब्रहंकार पैदा होता है, ब्रहंकार से शब्द रस गन्ध रूप स्पर्श ये पंच तन्मात्रायें एवं ग्यारह इन्द्रियां प्राद्भूत होती हैं, पांच तन्मात्रा से पांच भूत होते हैं, शब्द से श्राकाश, स्पर्श से वायू, रस से जल, रूप से तेज, गन्ध से पृथ्वी इसप्रकार ये सब प्रधान के २४ भेद हैं और पुरुष मिलाने से २५ तत्व होते हैं। प्रकृति के दो भेद है व्यक्त और ग्रव्यक्त, व्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मक, ग्रविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन, प्रसवधर्मी होता है तथा हेतूमत्व, श्रनित्य, श्रव्यापि सिकय, अनेक, श्राश्रित, लिंग, सावयव एवं परतंत्र होता है। भौर अव्यक्त प्रकृति इससे विपरीत है। इस प्रकार महान ग्रहंकार पंचभूत ग्रादि सभी तत्व प्रकृतिसे प्रादुर्भुत होने के कारण सृष्टि का कत्ती प्रकृति है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता है । जैन-यह सांख्य का कथन प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है, आपने महान ग्रादि को प्रकृत्यात्मक माना है, फिर वे प्रकृति के कार्य कैसे हो सकते हैं ? जो जिसरूप तन्मय होता है वह उसका कार्य या कारण नहीं होता, क्योंकि कारण और कार्य भिन्न भिन्न लक्षण वाले होते हैं तथा आप प्रत्येक वस्तू को नित्य मानते हैं नित्य वस्तु में कार्य कारण भाव होना शक्य नहीं, क्योंकि विना परिणमन हुए कोई वस्तु किसी का कारण नहीं बन सकती तथा अचेतन स्वभाव वाली प्रकृति से बुद्धि भ्रष्टंकार श्रादि चेतन स्वभाव रूप कार्य प्राद्रभूत होना असंभव है, मूर्तिक शब्द से अमूर्तिक आकाश होना भी असंभव है। शब्द अमूर्तिक है ऐसा कहनी। भी अशक्य है, क्योंकि मूर्तिक पर्वत वायु आदि से शब्द का अभिघात होने से निश्चित

होता है कि शब्द अमृतिक नहीं है इस विषय का आगे प्रतिपादन होने वाला है। इस प्रकार प्रकृति को सृष्टि का कर्त्ता मानना सिद्ध नहीं होता है। सेश्वर सांख्य-ईश्वर ग्रीर प्रकृति दोनों सच्टि को करते हैं क्योंकि प्रकृति अचेतन होने से श्रकेली कार्य को नहीं कर सकती। ग्रकेला ईश्वर भी नहीं कर सकता क्योंकि प्रकृति के संसर्ग बिना वह ग्रज्ञ है, दोनों मिलकर सुष्टि के कार्य को करते हैं जैसे-पुत्र को माता पिता दोनों करते हैं। सत्व, तम, रज इन गुणों की अपेक्षा लेकर ईश्वर जगत की स्थिति, नाश तथा उत्पत्ति को करता है अर्थात ईश्वर में जब प्रकृति के रजो गण का संसर्ग होता है तब वह प्रजाको उत्पन्न करता है जब सत्व का संसर्ग होता है तब स्थिति ग्रीर जब तमो गण का संसर्ग होता है तब प्रलय कर देता है इसीलिये दोनों मिलकर सिष्ट कार्य करते हैं। सो सेश्वर सांख्य का यह कथन भी चारु नहीं है सतत् रूप से कार्य होने की ग्रापत्ति ग्राती है, क्योंकि ईश्वर ग्रीर प्रधान ये दोनों ही समर्थ कारण मौजद हैं तो सभी कार्य एक साथ होने में कोई बाधा नहीं रहती । ईश्वर ग्रीर प्रधान दोनों ही कारण नित्य हैं फिर सुष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और नाश कम से क्यों होता है। एक साथ ही होना चाहिये। इस प्रकार सेश्वर सांख्य का सुधारा हुन्रा पक्ष भी बाधित होता है इस तरह प्रकृति को सुष्टि का कर्त्ता भानना या ईश्वर ग्रौर प्रकृति उभय को कर्तामानना बाधित हआ।

#### ।। प्रकृतिकर्तुत्ववाद का सारांश समाप्त ।।



ये त्वारमनो जोवन्मुक्तौ कवलाहारमिच्छन्ति तेषां तत्रास्यानन्त्रचष्ट्रयस्वभावाभावीऽनन्तसुख-विरहान् । तद्विरहश्च बुशुक्षात्रभवपीडाक्रान्तत्वान् । तत्पीडाप्रतीकारायों हि निक्लिजनानां कवला-हारप्रहणप्रयासः प्रसिद्धः । ननु भोजनादेः सुलाद्यनुक्रलस्वात्कषं भगवतीऽतोऽनन्तसुलाद्यभावः ? स्थ्यते सुस्मदादौ क्षुत्पीडिते निद्यक्तिके च भोजनसद्भावे सुलं वीयं चोत्पद्यमानम्; इत्यप्ययुक्तम्; भस्मदादि-

जीवन मुक्ति और परम मुक्ति इसप्रकार परमात्माओं को दोनों श्रवस्थाओं में श्रवत्वतुष्टय विद्यमान रहते हैं, जीवन मुक्तको अरहंत भगवान कहते हैं और परम मुक्तको सिद्ध भगवान कहते हैं। श्रेवतांवर जैन जीवन्मुक्त अरहंतके कवलाहारका सद्भाव मानते हैं जैसे सामान्य संसारीजीव कवल [ग्रासवाला] आहार करते हैं वैसे अरहंत भगवान भी करते हैं ऐसा श्रेवतांवर मानते हैं, इस मान्यता में यह बाधा है कि अरहंतके अनंतचतुष्टय गुणोंमेंसे अनंतमुख नामा गुणका अभाव होनेका प्रसंग आता है, जब चारोंमेंसे एकका अभाव स्वीकार करेंगे तो शेष तोनोंका भी अभाव होवेगा, वयोंकि इन चारोंका परस्परमें अविनाभाव है। केवलीके कवलाहार माननेसे अनंतमुखका अभाव कैसे हो जाता है ऐसा प्रश्न होनेपर उसका उत्तर यह है कि वे श्रुधा वेदनासे पीड़ित होकर भोजन करते हैं, अतः अरहंत भोजन करते हैं तो उनको पीड़ा होती है ऐसा स्वतः सिद्ध होता है। क्षुधाको पीड़ा दूर करनेके लिये ही सभी जीव कवलाहार ग्रहण करते हैं यह सुप्रसिद्ध ही है।

श्वेतांबर जैन–भोजनादिके द्वारा तो सुख होता है, भोजन सुखके अनुकूल है न कि प्रतिकूल ! फिर उस भोजनका सद्भाव माननेसे अरहंतके ग्रनंत सुखादिका ग्रभाव कैसे हो सकता है ใ देखा जाता है कि हम जैसे व्यक्ति भूखसे पीड़ित होते हैं शक्ति हीन हो जाते हैं तो भोजनके मिलने पर सुखी ग्रौर शक्तिमान हो जाते हैं ใ सुलादेः कादाचिरकतया विषयेम्य एवोत्पत्तिसम्भवात् । भगवरसुलादेश्च तत्सम्भवेऽनन्तताव्याघातः । तथाहि-सुत्सामकुश्चिनिक्शक्तिकश्चातो यदा कवलाहारश्वहणे प्रवृत्तस्तवैव तदीयसुलवीययोगेष्टत्वा-तकुतोऽनन्तता ? बीतरागढे पत्वाद्यास्य तद्ग्रहणप्रयासायोगः । प्रयोगः-केवली न शुक्ते रागढेषा-भावानन्तवीयसङ्कावान्यथानुपपतेः । ननु समिनवात्र्यणां साधूनां भोजनादिकं कुर्वतामपि वीतराग-ढेष्वत्यसम्भवादनैकान्तिको हेतुः, इत्यप्यसाम्प्रतम्, भोहनीयकर्मणः सद्भावे भोजनादिकं कुर्वतां प्रमत्त-गुण्यास्यानप्रवृत्तानां साधूनां प्रमत्ते वीतरागत्वासम्भवात् । तन्नानैकान्तिकोयं हेतुः । नापि विरुद्धो विषये वृत्तरभावात् ।

कवताहारित्वे चास्य सरागत्वप्रसङ्गः । प्रयोगः-यो यः कवतं भुंक्तं स स न वीतरागः यया रच्यापुरुषः, मुक्तं च कवलं भवन्मतः केवलीति । कवलाहारी हि स्मरणाभिलाषाम्यां भुज्यते,

दिगंबर जैन-यह कथन अयुक्त है, हम जैसे जीवोंको तो बाह्य पंचेन्द्रियोंके विषयों द्वारा मुख होता है, वह भी कदाचित होता है, मतत रूपसे नहीं, ऐसा सुख अरहतंके माने तो वह अनंत नहीं रहा, क्षुधासे पीड़ित शक्तिहीन ऐसा यह भगवान जब कवलाहार प्रहण करनेमें प्रवृत्त होगा तब उसके मुख और वीर्य नष्ट ही हो जाता है तो सुखादिमें अनंतता कहां रही १ तथा अरहत भगवान रागद्वे बसे रहित होते हैं अतः कवलाहारको ग्रहण करनेका प्रयास ही नहीं कर सकते। अनुमानसे सिद्ध होता है कि केवली भगवान आहार नहीं करते, क्योंकि उनके रागद्वे पका अभाव है एवं अनंतवीर्य के सद्भावकी अन्यथानुगपत्ति है।

श्वेतांवर-जो शत्रु ग्रीर मित्रमें समान भाव रखते हैं ऐसे वीतरागी साधुआं के भोजन करते हुए भी वीतरागता रहती है अतः उपर्युक्त हेतु अनैकान्तिक है ।

दिगम्बर-यह कथन श्रसत् है, जिनके मोहनीय कर्म विद्यमान है ऐसे प्रमत्त-संयत नामा गुएएस्थानमें वर्त्तमान साधुश्रोके परमार्थभूत वीतरागता नहीं होती है, श्रतः वीतरागत्वकी अन्यथानुपपत्ति नामा हेतु श्रनैकान्तिक दोष युक्त नहीं है, तथा विरुद्ध दोष युक्त भी नहीं है, क्योंकि विपक्षमें [अन्य सामान्य कवलाहार करनेवाले जीवोंमें] नहीं जाता है।

केवलीके कंवलाहार मानते हैं तो उनके सरागी बननेका प्रसंग आता है-जो जो पुरुष कवलवाला माहार करता है यह वह वीतरागी नहीं होता, जैसे रथ्या पुरुष भुक्तवता च कथ्ठोष्ठप्रमाण्तस्तुमे नाऽवित्तस्यज्यते । तथा चाभिलाषाऽविन्यामाहारे प्रवृत्तिनिवृत्ति-मस्वात्कयं वीतरागत्वम् ? तदभावाद्याप्तता । श्रथाभिलाषाद्यभावेष्याहारं गृङ्कात्यसौ तथाभूतातिशय-स्यात्, नन् चाहाराभावलक्षणोप्यतिशयोऽस्यान्युपगन्तव्योऽनन्तगृण्याद्यगनगमनाद्यतिशयवत् ।

श्रवाहाराभावे देःस्यितिरेवास्य न स्यातः, तथाहि-भगवतो देहस्यितः श्राहारपूर्विका देह-स्थितित्वादस्मदादिदेहस्यितिवत् । नन्वनेनानुमानेनास्याहारमात्रम्, कवलाहारो वा साध्येत ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, 'श्रासयोगकेविलनो भीवा श्राहारिणः' डत्यम्युपगमात्, तत्र च कवसाहाराभावेप्यन्यस्य कर्मनोकर्मादानलक्षणस्याविरोषात् । षष्टिविषो ह्याहारः—

> ''गोकस्म कस्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो। भोज मगो वि य कमसो माहारो छव्विहो गोयो॥''

1

भोजन करता है ब्रतः वीतरागी नहीं है। श्रापके मतमें केवली भगवान कवलाहार करने वाले माने हैं ब्रतः वे वीतरागी सिद्ध नहीं होते।

तथा कवल आहारको अभिलाषा और स्मरणके विना ग्रहण नहीं कर सकते, अभिलाषा और स्मरण पूर्वक ही भोजन होता है, एवं जब भोजन हो जाता है तब कंडौष्ठ तक पूर्ण कुक्षि हुआ पुरुष श्ररुचिसे उस भोजनको छोड़ देता है। इसप्रकार अभिलाषासे आहारका ग्रहण और अरुचिसे त्याग हुआ करता है, फिर उस आहारको ग्रहण करने वालेके वीतराग भाव कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते, वीतराग-त्वके अभावमें उस पुरुषमें किवलीमें ] आप्तपना भी संभव नहीं है।

शंका-केवली भगवानके श्रभिलाषा श्रादि विकार नहीं होते तो भी वे म्राहार ग्रहण करते हैं, उनमें ऐसा श्रतिशय ही रहता है ।

समाधान—यदि श्रतिशयपने की बात है तो श्राहार ग्रहण नहीं करना रूप अतिशय ही माना जाय ? क्योंकि उनमें तो श्रनंतगृरा विद्यमान हैं, जैसे गगन-गमन श्रादि श्रतिशय स्वीकार करते हैं वैसे श्राहार नहीं करना यह भी एक ग्रतिशय है।

शंका-म्राहारके ग्रभावमें अरहंतके देहस्थिति नहीं रह सकती अनुमानसे सिद्ध करते हैं-अरहंतके शरीरकी स्थिति ग्राहार द्वारा होती है, क्योंकि वह शरीर स्थिति है जैसे हम मनुष्योंकी शरीरकी स्थिति आहार द्वारा हुन्ना करती है \$

समाधान-ठीक है, किन्तु इस अनुसान द्वारा सामान्य ग्राहार सिद्ध करना है या कवलाहार ? सामान्य ग्राहार कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि हम भी प्रथम इत्यभिधानात् । न खलु कवलाहारेर्णैवाहारिस्वं जीवानाम्; एकेन्द्रियाण्डजत्रिदशानामशु**कान**-तिर्वेमनुष्यारणां चानाहारिस्वप्रसङ्गात् । न चैवम्—

> "विग्गहगइमावण्णा केवलिणो सम्प्रहदो श्रजोगी य । सिद्धा य श्रणाहारा सेसा श्राहारिणो जीवा ॥"

> > [ जीवकाण्ड गा० ६६४, श्रावकप्रज्ञ**० गा० ६**८ ¶

इत्यभिधानात् । ढितीयपक्षे तु त्रिदशादिभिर्व्यभिचारः; तेषां कवलाहाराभावेपि देहस्थिति-सम्भवात् । प्रथ 'भ्रोदारिकशरोरस्थितित्वात्' इति विशेष्योच्यते । तथाहि–या या श्रौदारिकशरीर-

गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थानतकके जीवोंको प्राहारी मानते हैं, यह बात अवश्य है कि तेरहवें गुणस्थानवालेके [ केवलीके ] कवलाहार तो नहीं है किन्तु कर्म नोकर्म आहार है। प्राहारके छह भेद हैं कर्माहार, नोकर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, स्रोज फ्राहार, मानसिकाहार । कवलाहार करनेसे ही जीव आहारी होवे सो बात नहीं है, यदि ऐसा एकांत मानेंगे तो एकेन्द्रिय जीव, अंडेमें स्थित जीव, देव श्रीर उपवास स्रादिके कारण भोजन नहीं करने वाले मनुष्य तिर्यंच इन सबके श्रनाहारी वन जानेका प्रसंग श्राता है, परन्तु ये जीव अनाहारी नहीं हैं। श्रनाहारी जीव तो ये हैं — विग्रहगितमें स्थित, कार्माण काययोगमें समुद्धात केवली, अयोगी जिन श्रीर सिद्ध । इनसे स्रबशेष जीव आहारी है, इसश्रकार सिद्धांतमें कथन है।

देहस्थितिके लिये जो भ्राहार होता है वह कवलाहार ही है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो हेतु देवादिके साथ अनैकान्तिक होता है, क्योंकि देवोंके कवलाहार नहीं होते हुए, भी शरीरकी स्थिति बनी रहती है।

शंका∸ग्रौदारिक शरीर की स्थित ग्राहारके बिना नहीं होती ऐसा विशेष्य जोड़कर हेतुका प्रयोग करनेसे दोष नहीं ग्रायेगा, जो जो ग्रौदारिक शरीरकी स्थिति है वह वह कवलाहार पूर्वक होती है, जैसे हम लोगोंके शरीरकी स्थिति कवलाहारसे होती है, भगवानके भी ग्रौदारिक शरीरकी स्थिति है ग्रतः वह कवलाहार पूर्वक होनी चाहिये दसप्रकार विशेष्य जोड़कर हेतुका प्रयोग करनेसे देवोंके शरीर स्थितिके साथ व्यभिचार नहीं ग्राता है।

समाधान∸यह कथन धसार है, भगवानके शरीरकी स्थिति परम श्रौदारिक है वहःहम जैसे सोगोंके औदारिक शरीर स्थितिसे विलक्षण हुआ करती है परम श्रौदा- स्थितिः सा सा कवलाहारपूर्विका यथास्मदादीनाम्, ग्रौदारिकशरीरस्थितिश्च भगवतः, इति न त्रिदश-शरीरस्थित्या व्यक्षिचारः; इत्यप्यसारम्; तदीर्थीदारिकशरीरस्थितः परमौदारिकशरीरस्थितिस्थ-तयारुस्मदाद्योदारिकशरीरस्थितिवलक्षरणस्यात् । तस्यारुष केवलावस्थायां केशादिवृद्धभभाववश्चुक्त्य-भावोप्यसिष्ट एव ।

कथं चैवं वादिनौ भगवत्प्रत्यक्षमतीन्द्रियं स्यात् ? शक्यं हि वक्तुम्-तत्प्रत्यक्षमिन्द्रियजं प्रत्यक्षत्वादस्मदादिश्रत्यक्षवत् । तथा सरांगोऽसौ वक्तुत्वात्तद्वदेव । न ह्यस्मदादौ दृष्टो धर्मः किष्वत्तत्र साध्यः किष्वक्षेति वक्तु युक्तम्, स्वेच्छाकारित्वानुषङ्गात् । तथा च न किष्वत्केवली वीतरागो वा, इति कस्य भुक्तिः प्रसाध्यते ? यदि चैकत्र तच्छरीरस्थितेः कवलाहारपूर्वकत्वोपलस्भारसर्वत्र तथाभावः

रिक शरीर स्थिति केवलज्ञान अवस्थामें अविरुद्ध ही है, अर्थात् बिना भोजन शरीर स्थिति रह सकती है। जैसे नख और केशोंकी बुद्धि नहीं होना केवलीमें अविरुद्ध माना जाता है वैसे ही आहार बिना शरीर स्थिति का रहना भी अविरुद्ध है।

श्वेताम्बर भगवानके कवलाहारका ग्रहण करना मानते हैं सो ऐसे भगवानके ग्रतिन्विय प्रत्यक्षज्ञान कैसे संभव है ! कोई कह सकता है कि केवलीका ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान, जैसे हम लोगोंका प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। तथा वे केवली सरागी भी क्योंकि बोलते हैं, जिसप्रकार हम लोग बोलते हैं। ऐसा तो कहना नहीं कि हमारे लोगोंमें पाया जाने वाला कोई धर्म तो केवलीमें होता है ग्रीर कोई धर्म नहीं होता, इसतरह तो स्वेच्छाकारिपना सिद्ध होता है। इसप्रकारके सरागी एवं इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान वाले पुरुष केवली भगवान नहीं कहला सकते। फिर तो इस विश्वमें न कोई वीतरागी है ग्रीर न कोई केवली ही है ? ग्रतः कवलाहार भी किसके सिद्ध किया जाय ? यदि ग्राप कहीं पर सप्तधानुमय ग्रौदारिक शरीर की स्थिति ग्राहार पूर्वक देखकर सभी शरीरोंमें वैसे ही स्थिति सिद्ध करते हैं तो घटादिमें रचना विशेषको बुद्धिमान पूर्वक देखकर तन्नु, तरु, पर्वतादि की रचनाको भी बुद्धिमान पूर्वक सिद्ध करना मान्य होगा ? ग्रायांत् सृष्टि कर्तृ त्वको स्वीकार करना होगा ? तथा तिमिर रोगी को एक चंद्रमें दो चंद्रका प्रतिभास होता है वह निरालंब [ विना दो चंद्रके ] होता हम्रा देख सभी प्रतिभासों को निरालंब मानना होगा।

भावार्थ-हम जैसे सामान्य जीवोंका औदारिक शरीर श्राहारके विना नहीं रह सकता वैसे केवली भगवानका परम औदारिक शरीर भी श्राहारके विना नहीं रह सकता ऐसा सर्व सामान्य नियमको विशेषमें घटित किया जाय तो ईश्वर वादी नैयायिक श्रादिका कथन भी घटित होगा कि घटादि पदार्थोंका कर्त्ता कोई बुद्धिमान चेतन
व्यक्ति होता है ग्रत: सभी वृक्ष पर्वत पृथ्वी ग्रादिका कर्त्ता भी बुद्धिमान चेतन व्यक्ति
[ ईश्वर ] होना चाहिये [ग्रार्थात् मृष्टिका रचिंयता मानना चाहिये] इत्यादि । तथा
शून्यवादीकी मान्यता है कि द्वि चन्द्रादिरूप प्रतिभास यदि विना आलंबनके [दो चंद्रके
नहीं होते हुए भी दो चन्द्र दिखायी देना] होते हैं तो सभी प्रतिभास [ जान ] बिना
ग्रालंबनके होना चाहिये । बाह्य पदार्थकी सत्ता ही नहीं है सब शून्य रूप है इत्यादि । ये
ईश्वरवादी तथा शून्यवादी भी ग्राप श्वेताम्बर के समान एक जगहका देखा गया धर्म सर्वत्र घटित करते हैं ग्रत: यह सब सिद्धांतको भी स्वीकार करनेका प्रसंग श्राता है ।

शंका-ईश्वरवादी झादि एकांतमतीका कथन मान्य नहीं हो सकता क्योंकि जिसप्रकार की बुद्धिमान कारण पूर्वक रचना घटादिमें व्याप्त हुई दिखायी देती है उस प्रकारकी वृक्ष, पर्वत, पृथ्वी झादिमें दिखायी नहीं देती झत: इन बुक्षादि में बुद्धिमान कारणपना सिद्ध नहीं कर सकते।

समाधान-यही बात केवली भगवानके विषयमें है, जिसप्रकारका हमारा ग्रौदारिक शरीर है वह भोजन पूर्वक स्थित रहता है उसप्रकारका भगवानका परम औदारिक शरीर नहीं है, वह तो भोजनके प्रभावमें ही स्थित रहता है, प्रथात हम जैसे सामान्य मनुष्योंके शरीरकी स्थित भोजन पूर्वक होती है, वैसे भगवानके परमौदारिक शरीर की स्थित नहीं है, ग्रत: उनके शरीर स्थित को भोजन पूर्वक सिद्ध नहीं कर सकते । जिसप्रकार प्रतिभासकी ग्रेपेका संमानता होते हुए भी किसी दिखंद्रादि प्रतिभासको तो निरालंब मानते हैं और किसी घटादि के प्रतिभासको ग्रवलंबन सहित मानते हैं, यही सिद्धांत शरीर स्थितिका है ग्रथीन् शरीर स्थितिपना समान होते हुए

श्रथं 'श्रन्याद्यामौदारिकशरीरस्थितित्वमृत्याद्याद्य पुरुषा न सन्ति ' इरयुच्यते तिह् सीमांसकं-मत्तानुप्रवेशः । ग्रतो यचान्याद्याः सन्ति पुरुषास्तवा तित्व्यतित्वमि । कथमन्यवा सप्तयातुमलापे-तत्वं तच्छरीरस्य स्यात् ? तत्सम्भवे तित्थ्यतेरतद्भुक्तिपूर्वकत्वमि स्थात् ।

तपोमाहारम्याच्चतुरास्यत्वादिवज्ञाभुक्तिपूर्वकत्वे तस्याः को विरोधः ? इध्यते च पञ्चकृत्वो सुज्ञानस्य यादशी तच्छरीरस्थितिस्ताद्ययेव प्रतिपक्षमावनोपेतस्य चतुस्त्रिद्वक्षेकभोजनस्यापि । तथा प्रतिदिनं सुज्ञानस्य यादशी सा ताद्ययेवैकद्वयादिदिनान्तरितभोजिनोपि । श्रूयते च बाहुवनिप्रभृतीनां संवस्सरप्रमिताहारवैकत्येपि विद्याद्या रार्टिस्यतिः । श्रायुःकर्मैव हि प्रधानं तरिस्यतिनिमत्तम्, भुक्त्या-दिस्तु सहायमात्रम् । तच्छरीरोपचयोपि नाभान्तरायविनाशास्त्रश्चित्व तद्वयवनिमित्तभूतानां

भी केवलीके वह स्थिति निराहार पूर्वक है और हम जैसे जीवोंकी स्थिति आहारपूर्वक है ऐसी न्याय संगत मान्यता होनी चाहिये।

 $\mathbf{v}$ का-ऐसा परम भ्रौदारिक नामा शरीर और ऐसे शरीरके धारक केवलीका भ्रस्तित्व ही नहीं होता  $\mathbf{v}$ 

समाधान-इसतरहकी मान्यतासे मीमांसक मतमें प्रवेश होवेगा, जैसे वे सर्वज को नहीं मानते वैसा स्वीकार करना होगा १ व्रतः जिसप्रकार हमारेसे विलक्षण कोई महापुरुष सर्वज भगवान है यह बात हमें इष्ट है उसीप्रकार उन सर्वज्ञके हमारेसे विलक्षण परम औदारिक शरीरकी स्थिति भी बिना ब्राहारके रहती है ऐसा मानना ही होगा, अन्यया उनको सप्तथातु रहित शरीर वाले भी कैसे मान सकते हैं १ जैसे केवलीका शरीर सप्तथातु तथा मलोंसे रहित है वैसे भोजन रहित भी है ऐसा स्वतः सिद्ध होता है।

केवली भगवानके तपोमाहात्म्यसे चतुर्मुख दिखायी देते हैं, उनके शरीरकी परछाई नहीं पड़ती, ऐसे ही बिना भोजनके शरीर बना रहता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। कोई व्यक्ति पांच बार खाता है उसका जैसा शरीर रहता है बेसा ही विरक्त भावसे चार बार, तीन बार, दो बार, अथवा एक बार खाने वालोंका शरीर भी उतना ही स्वस्थ बना रहता हुआ दिखायी देता है, तथा कोई व्यक्ति प्रतिदिन भोजन करता है और उसका शरीर जैसा बना रहता है वैसे ही एक दिन बाद भोजन करने वालेका, दो दिन बाद शादि रूपसे भोजन करनेवालेका शरीर भी बना रहता है, इस प्रकारकी साक्षात् उपलब्धि है। शास्त्रमें सुना जाता है कि बाहुबली जैसे महान् पुरुषों

दिव्यपरमास्तृतां साभाद् घटते। एवं छ्यस्थावस्थावच्य केवल्यवस्थायामप्यस्य अक्त्यऽम्युपगमे स्रक्षिपक्ष्मनिमेषो नखकेशवृद्ध्यादिस्थाम्युपगम्यतास्। तदभावातिशयाम्युपगमे वा अक्त्यभावातिशयो-प्यम्युपगन्तथ्यो विशेषाभावात्।

ननु मासं वर्ष वा तदभावे तिस्त्यतावि नाऽऽकालं तिस्त्यतिः पुनस्तदाहारै प्रवृत्युग्लम्भा-विति चेत्; कृत एतत् ? धाकालं विस्त्यतेरनुग्लम्भाच्चेत्; सर्वज्ञवीतरागस्याप्यतः एवासिद्धेलिम-मिच्छतो भूलोच्छेदः स्यात् । दोषावररायोहीन्यतिशयोगलम्भेन वविदात्यन्तिकप्रक्षयसिद्धेस्तिस्तदौ कविचन्द्यरीरिष्यात्यन्तिको मुक्तिप्रक्षयोपि प्रसिच्येत् तदुपलम्भस्यात्राप्यविशेषात् । तन्न शरीरस्थिते-भंगवतो मुक्तिसिद्धः ।

के एक वर्ष पर्यन्त विना भोजनके शरीर बना रहा इत्यादि । शरीरको स्थितिमें प्रमुख हेतु आयु कर्म है, भोजनादिक उसके सहायक हैं । भगवानका शरीर लाभांतराय कर्म का सर्वथा नाश हो जानेसे प्रतिसमय ग्रानेवाले दिच्य परमागुश्रोंसे परिपुष्ट एवं स्वस्थ बना रहता है, अर्थात् केवली भगवान ग्राहार तो नहीं करते किन्तु नोकर्माहार द्वारा उनका शरीर पुष्ट रहता है । क्योंकि लाभांतराय कर्मका नाश हो चुका है । यदि श्वेतांवर भगवानके भी छद्मस्थ जीवोंके समान भोजन करना स्वीकार करते हैं तो नेत्रकी पलकें लगना, नख केशोंका बढ़ना ग्रादिको भी स्वीकार करना होगा किन्तु न्नाप तख केशोंकी वृद्धि नहीं होना इत्यादिको ग्रतिशय मानते हैं, अतः भोजनका ग्रामावरूप अतिशय भी ग्रवश्य मानना चाहिये, दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है ।

श्वेतांवर—यद्यपि मनुष्योंका शरीर महिनों तक या वर्ष तक विना भोजनके रह सकता है किन्तु मरणकाल पर्यन्त तो नहीं रह सकता। महिना आदि के बाद तो अवश्य भोजन करना पडता है ?

विगम्बर-इस बातको आप किस हेतुसे सिद्ध करेंगे १ मरण काल तक शरीर की स्थिति विना भोजनके दिखायी नहीं देती ग्रतः ऐसा सिद्ध करते हैं, ऐसा कहो तो इसी हेतु द्वारा सर्वज्ञ वीतरागकी ग्रसिद्ध होनेसे लाभके बजाय भूलका ही नाश होना जैसी उक्ति चरितार्थ होगी ? [ग्रह्तंसर्वज्ञके कवलाहार माननेसे उनके सर्वज्ञपनेका ही ग्रभाव सिद्ध होगा ] यदि कहा जाय कि "किसी पुरुष विशेषमें श्रावरणकर्म ग्रीर रागादि दोष ग्रस्थंत नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि उन ग्रावरणादिमें हीयमानपना देखा जाता है, इस सुप्रसिद्ध अनुमान द्वारा सर्वज्ञ वीतरागका सद्भाव सिद्ध होता है ? तो

म्रषोच्यते-वेदनीयकर्गंगः सद्भावात्तत्तिद्धः; तथाहि-अगवति वेदनीयं स्वफलदायि कमंत्वा-दायुःकमंवत्; तदप्युक्तमात्रम्; यतोऽतोप्यनुमानात्तत्कलमात्रं सिद्य्येश्च पुनर्भुक्तिलक्षग्रम्। म्रथ श्वादिनिमित्तवेदनीयसद्भावाद्धुक्तिसिद्धः; ननु तिन्निमत्तं तत्तत्रास्तीति कृतः? श्रुवादिफलाच्य-दन्योन्याश्रयः-सिद्धं हि भगवति तिन्निमत्तकमंसद्भावे तत्फलसिद्धः, तस्याश्र्य तिन्निमित्तकमं-सद्भावसिद्धिरिति।

ष्ठयाऽसातवेदनीयोदयात्तत्र तत्सिद्धिः; न; सामर्थ्यवैकल्यात् तस्य । प्रविकलसामर्थ्यं ह्यसाता-दिवेदनीयं स्वकार्यकारि, सामर्थ्यवैकल्यं च मोहनीयकर्मणो विनाशात्सुप्रसिद्धम् । यथैव हि पतिते सैन्यनायकेऽसामर्थ्यं सैन्यस्य तथा मोहनीयकर्मणि नष्टे भगवत्यसामर्थ्यमधातिकर्मणाम् । यथा च

यही बात कवलाहारके ग्रभाव की है ग्रर्थात् किसी पुरुष विशेषमें कवलाहार [ भोजन का ] सर्वथा ग्रभाव हो जाता है, क्योंकि उसमें हीयमानपना देखा जाता है" इस ग्रमुमान द्वारा श्रहुँत सर्वज्ञके कवलाहार का ग्रभाव सिद्ध होता ही है। उभयत्र श्रमुमानों में कोई विशेषता नहीं है [दोनों ही स्वसाध्यको भलीभांति सिद्ध करने वाले हैं] ग्रस्तः शरीर स्थितका हेतु देकर भगवानके कवलाहारको सिद्ध करना ग्रसंभव है।

श्वेताम्बर-वेदनीयकर्मका सद्भाव होनेके कारण केवलीमें कवलाहार स्वीकार किया है, भगवानका वेदनीयकर्म प्रपनाफल [ सुख दुःख, भूख प्यासादिको ] देनेवाला है, क्योंकि वह कर्म है, जैसे उनका प्रायुकर्म प्रपना फल देनेवाला है।

दिगम्बर-यह कथन अयुक्त है, उपयुक्त अनुमानसे वेदनीयकर्मका सामान्यसे फल देना तो सिद्ध होगा किन्तु भूल लगना आदि रू। विशेष फल तो सिद्ध नहीं होगा। धुधादि वेदना निमित्त भूत वेदनीय कर्म मौजूद है अतः केवलीके भोजनकी सिद्धि होती है ऐसा कथन भी असत् है, केवलीमें वेदनाका निमित्तभूत वेदनीयकर्म है यह किस हेतुसे सिद्ध करेंगे? धुधादि वेदना रूप फलको देखकर सिद्ध करें तो अन्योत्या-अय दोष होगा-भगवानमें सुधादि निमित्तक वेदनीय कर्मका सद्भाव सिद्ध होनेपर उसके फलकी सिद्धि होगी, और फलके सिद्ध होनेपर तिन्निमित्तक वेदनीय कर्मकी सिद्धि होगी, इस तरहके अन्योत्याश्रय कारण दोनों भी असिद्धिकी कोटिमें आयेंगे।

श्वेताम्बर-प्ररंहतके असाता वेदनीय कर्मका उदय पाया जाता है ग्रतः उनके क्षघा बाघाका सद्भाव है। मन्त्रेश निर्विधीकरेशे कृते मन्त्रिशोषभुज्यमानमपि विषं न दाहमूच्छेदिकं कर्तुं समर्थेम्, तथा ग्रसातादिवेदनीयं विद्यमानोदयमप्यसति मोहनीये निःसामर्थ्यंत्वान्न क्षुद्दुःसकरशे प्रभु सामग्रीतः कर्म्योत्पत्तिन्नप्रसिद्धेः ।

मोहनीयाभावरुच प्रसिद्धो भगवतः, तीव्रतरणुक्तस्यानानलनिदंश्यवनपातिकर्मेन्यनत्वात् । यदि च तदभावेषि तदुदयः स्वकार्यकारी स्यात्; तद्धि परधातकर्मोदयात्परान् यष्टयादिभिस्ताडयेत् स एव वा परैस्ताडयेत । परधातोदयोपि हि संयतानामहृदवसानानामस्ति । अथ परमकारुणिकत्वात्त-दुद्येषि न परांस्ताडयति उपसर्गाभावाञ्च न च तैस्ताडयते; तद्धां नन्तसुखवीयंत्वाद्वाधाविरहाञ्चा-सातादिवेदनीयोदये सत्यपि भोजनादिकं न कुर्यात् । मोहकार्यस्वाच्च करुणायाः कथं तत्स्वये । परमकारुणिकत्वं तस्य स्यात् ?

दिगम्बर-ऐसी बात नहीं है, उनका ग्रसाता कर्म सामर्थ्य रहित है, जिसमें पूर्ण सामर्थ्य होती है वही असाता कर्म अपना कार्य कर सकता है, मोहनीय कर्मके नाश होनेसे वेदनीय कर्मकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है यह बात सिद्धांत प्रसिद्ध है ही। जिसप्रकार सेनानीके नष्ट हो जाने पर सेनाका सामर्थ्य नष्ट हो जाता है उसीप्रकार मोहनीय कर्मके नष्ट होने पर ग्रसाता वेदनीयादि ग्रधाती कर्मोकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। जैसे मंत्र द्वारा जिसका विषैलापन नष्ट कर दिया है ऐसे विषको मंत्रवादी भक्षण कर जाता है किन्तू अब वह विष मुच्छी, दाह आदि विकारको नहीं कर सकता. वैसे ही ग्रसाता वेदनीय कर्मका उदय होते हुए भी मोहनीय कर्मके नष्ट हो जाने से वह उदय क्षुधादि दृ:खरूप फलको देनेवाला नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य तो पूर्ण सामग्रीके मिलने पर ही होता है, केवली भगवानके मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है यह बात तो सर्व सम्मत ही है, उन्होंने तो तीवतर शुक्ल घ्यानरूपी अग्निद्वारा घातिया कर्मरूपी ईंधनको भस्मसात कर दिया है। यदि मोहनीय कर्मके ग्रभावमें भी वेदनीय कर्मके उदयको कार्यकारी मानते हैं तब तो परघातनामा नामकर्म के उदय होनेसे केवली भगवान ग्रन्य जीवोंको लाठी भादिसे ताडित करें अथवा ग्रन्य जीव द्वारा ये ताडित किये जा सकते हैं ? क्योकि परघात नामकर्मका उदय ग्रहन्त केवली पर्यन्तके संयतोंको भी होता ही है।

श्वेताम्बर-केवली भगवान परम कारुणिक हैं ग्रतः परधात नामा कर्मका उदय होते हुए भी वे अन्य जीवोंको ताडित नहीं करते, तथा उनके उपसर्गका अभाव हो चुका है ग्रतः अन्य जीव उन्हे ताडित नहीं कर सकते ? किन्त, कर्मणां यदादयो निरपेकाः कार्यमुग्पादयति; तर्हि निवेदानां कथावाणां वा प्रवक्तादि-यूदयोस्तीति मेचुनं भ्रूकृट्यादिकं व स्यात् । ततस्य मनसः संसोभास्कयं सुक्तस्यानातिः क्षपक्रश्रे क्या-रोहणं वा ? तदभावाच्य कयं कर्मक्षपणादि चटेत ?

नत्येवं नामाध्युवयोपि तत्र स्वकायंकारी न स्यात्; इस्थप्यसञ्ज्ञतयः; शुभ्रप्रकृतीनां तत्राप्रति-वद्धत्वेन स्वकायंकारित्वसम्भवात्। यथा हि बलवता राज्ञा स्वमार्गानुसारिए। लब्धे वेषे दृष्टा जीव-न्तोपि न स्वदुष्टावरणस्य विधातारःशुवनास्स्वप्रतिहततया स्वकायंस्य विधातारस्तथा प्रकृतमपि। कयं पुनरशुभ्रप्रकृतीनामेवाहीत प्रतिवद्धं सामध्यंम् न पुनः शुभ्रप्रकृतीनामिति वेतु; शुक्ष्यते-प्रशुभ्र

दिगम्बर-विलकुल ठीक है, यही बात वेदनीय कमंके विषयमें है अनंतसुख, अनंतवीयं गुण युक्त होनेक कारण तथा बाधा रहित होनेक कारण असाताकमंका उदय होते हुए भी भगवान आहार नहीं करते हैं, ऐसा मानना ही चाहिये। प्रापने कहा कि भगवान परम कारणिक हैं किन्तु करणा तो मोहनीयकमंका कार्य है, भगवानका मोह-नीयकमं सबंधा नष्ट हो चुका है अतः वे परमकारणिक नहीं कहला सकते।

धाप यदि कर्मों के उदयको बिना अन्यकी धपेक्षा लिये कार्यं करतेमें समर्थं भानते हैं तो स्त्रीवेद, पुरुष्वेद तथा नपुंसकतेद एवं कषायों का उदय प्रमासादि गुणस्थानों में रहता है अतः उन कर्मों का कार्य मैं युन सेवन घूकृटि चढाना धादि भी उन गुणस्थानवर्सी साधुधों के मानना होगा ? फिर तो मनमें क्षीभको एवं विकारको प्राप्त उन साधुधों के गुक्त ध्यानादि कैसे हो सकते हैं १ प्रयवा क्षपक श्रीणमें धारोहण कैसे होगा ? और इनके अभाव कर्मका क्षय होना भी कैसे घटित होगा।

ध्वेताम्बर-वेदनीय कर्मका उदय होते हुए भी वह यदि कार्यकारी नहीं होता तो नाम कर्मका उदय भी स्वकार्यकारी नहीं होना चाहिये।

दिगम्बर-ऐसी बात है कि जो शुभकमंकी प्रकृतियां हैं उनका उदय विना रकावटके भगवानमें कार्य करता रहता है, इस विषयमें दृष्टांत है कि दुष्टोंका निम्नह म्रीर सिष्ट पुरुषों पर मनुम्नह करने वाले बलवान राजा के देशमें दुष्ट जीव रहते हुए भी म्रपना दुष्टपूर्ण कार्य करने में असमर्थ हुआ करते हैं और शिष्ट-सज्जन अपने परोपकार म्रादि कार्यको विना रकावट करते हैं। इसीप्रकार केवली भगवानके मुभ म्रीर अशुभ दोनों कर्म रहते हुए भी म्रशुभ तो स्वकार्यको नहीं कर सकता और मुभ

प्रकृतीनासहंस्वज्ञुभावं वातयित न तु जुभानाय, यतो गुण्यातिनां वण्डो नाऽदोषाणाम् । यदि च प्रति-सद्धसामध्येमध्यसालाविवेदनीयं स्वकायंकारि स्यातः, तद्दि दण्डकवाटप्रतरादिविधानं भगवतो व्ययंम् । तद्धि यदा त्यूनमायुर्वेदनीयादिकमधिकस्थितिकं भवति तदाउनेन कर्मणां समस्थित्यकं विभीयते । न चाधिकस्थितिकत्वेन फलदानसमयं कर्म उपायशतेनाप्यन्यया कर्तुं शक्यमिति न कश्चिनमुक्तः स्यात् । स्रथ तत्रोमाहात्स्याक्रिजीर्णमधिकस्थितिकत्वेन फलदानासमयं मु प्रायुक्तमसमानं क्रियते; तथा वेद्यमपि क्रियतामविवेषात् ।

कमं अपना कार्यं करता रहता है। कोई पूछे कि अहँतके मात्र अग्रुभ कर्मका सामर्थ्यं ही ककता है शुभकर्मका नहीं यह किसप्रकार जाना जाय है तो उस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि अहँत भगवान अग्रुभकर्म प्रकृतियोंका ही अनुभाग नष्ट करते हैं शुभप्रकृतियोंका नहीं, क्योंकि "गुणोंका घात करनेवालेको दंड दिया जाता है, निर्दोषको दंड नहीं देते" इस न्यायके अनुसार अग्रुभकर्म गुणोंका घातक होनेके कारण उन्हीं का अनुभाग नष्ट किया जाता है, शुभका नहीं, क्योंकि शुभ गुणोंका घातक नहीं है। इसप्रकारका सामर्थ्यं विहोन वेदनीय कर्म भी यदि स्वकार्यको करता ही है ऐसा माने तो दंड, कपाट, प्रतरादि समुद्धात किया करना अग्यानके व्यर्थ ठहरता है। यह समुद्धात किया करना अग्यानके व्यर्थ ठहरता है। यह समुद्धात किया करना किया तो तब होती है जब आग्रुकर्म कम स्थितिवाला हो और नाम वेदनीय आदि कर्म अधिक स्थितिवाले हों, कर्मकी ऐसी स्थितिके रहनेपर समुद्धात कियासे उनको समान किया जाता है। जो अधिक स्थिति रूपसे फल देनेमें समर्थ है उसको सैंकडों उपायोंसे भी अन्यश्वा नहीं कर सकता यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो कोई भी जीव कर्ममुक्त नहीं हो सकता।

स्वेताम्बर-णुक्ल ध्यानरूपी तपो माहास्म्यसे कर्म निर्जीर्ग होता है वह भ्रविक स्थितिरूपसे फल देनेमें समर्थ नहीं रहता उसको आयु कर्मके समान स्थिति वाला किया जाता है।

दियम्बर-यही बात वेदनीयकर्म में होती है, वह भी तपो माहात्म्यसे निर्जीएं हो जाने से फलदानमें घसमर्थ होता है, ब्रौर समृद्घात द्वारा उसको ब्रायु कर्मके समान स्थिति बाला किया जाता है ऐसा मानना चाहिये। यहां तक के विवेचनसे अग्निम मंतव्य भी खंडित हुआ समभना चाहिये कि दिगम्बर वेदनीय कर्मको केवलीमें फल देनेमें ब्रसमर्थ मानते हैं तो उसकर्मका उनमें सत्व ही नहीं रहता ऐसा मानना चाहिये? एतेनेदमप्यपास्तम्-यदि वेदनीयमफलम् तत्र तम्रास्थेव झानावरणादिवत्, तथा च कसंपश्च-कस्याभावस्तत्र प्राप्नोतीति । कथम् ? यद्यायुरिक्कानि वेद्यादीनि स्वफलदानसमयािनः, तर्हि मुक्त्यभावः । नो चेत्र तथां कर्मत्वामित तदपनयनाय योगिनो लोकपूरणादिप्रयासी व्ययः । श्रनुष्ठान-विशेषेणापहृतसामप्यानामवस्थानं वेद्येपि समानम् । न च कारणमस्तीत्येतावतेव कार्योत्पत्तिः ग्रन्थ-येन्द्रियादिकार्यस्याप्यनुषङ्काद्भगवतो मतिज्ञानस्य रागादीनां च प्रसङ्घः । श्रयावरणक्षयोपशमस्य मोहनीयकर्मणात्र्यं सहकारिणो विरहान्नेन्द्रियादि स्वकार्यं स्थाप्रियते; श्वतं एव वेदनीयमपि न व्याप्रियेत । न द्यारयन्त्रमात्मनि परत्र वा विरतव्यामोहस्तदर्यं किश्विदादानुं हातुं वा प्रवस्तेते । प्रयोगः-यो यत्रात्यन्तं व्यानृत्तव्यामीहः स तदर्यं किश्विदादानुं हातुं वा प्रवस्तेते । प्रयोगः-यो यत्रात्यन्तं व्यानुत्व्यामीहः स तदर्यं किश्विदादानुं हातुं वा प्रवस्तेते ।

जैसे ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हुए हैं फिर तो केवलीके पांच कर्मोंका ग्रमाव होना स्वीकार करना होगा ९ अब उपर्युक्त मंतव्य कैसे खंडित होता है सो बताते हैं—केवली भगवानके श्रायुक्मंसे अधिक स्थिति वाले वेदनीयादि कर्म अपना फल देनेमें समर्थ होते हैं तो उन केवलीको कभी भी मुक्ति नहीं होगी, श्रौर यदि वे कर्म फलदानमें श्रसमर्थ हैं तो उन कर्मोंका श्रस्तित्व नहीं रहनेसे लोक पूरण समुद्धात होना व्यर्थ ठहरता है।

श्वेताम्बर-यद्यपि श्ररहंत केवलीके कर्मोंका अस्तित्व है किन्तु वह श्रनुष्ठान विशेष के कारण सामर्थ्यंहीन हो गये हैं ?

दिगम्बर—यही बात वेदनीय कर्ममें घटित होती है, उसकी सामर्थ्य भी अनु-ष्टान विशेष द्वारा नष्ट हो चुकी है, कारणके होने मात्रसे कार्यकी उत्पत्ति होवे ही ऐसा नियम नहीं है, यदि ऐसा मानेंगे तो भगवानके स्पर्शनादि इन्द्रियां होनेसे उनका कार्य जो मति क्वान उत्पन्न करना है वह भी मानना पड़ेगा, तथा रागकी उत्पत्ति भी माननी होगी, किन्तु यह सब नहीं होता है, ऐसे ही असाता रूप कारणके रहते हुए भी भोजनरूप कार्य नहीं होता ऐसा स्वीकार करना ही होगा।

श्वेतास्वर-आवरण कर्मके क्षयोपक्षम रूप सहकारी कारणके नहीं होनेसे तथा मोहनीयकर्मरूप सहकारीके नहीं होनेसे खरहंत की इन्द्रियां स्वकार्यको करनेमें प्रवृत्त नहीं हो पाती एवं रागादि उत्पन्न नहीं होते ।

दिगम्बर-वेदनीयकर्मको भी यही बात है वह भी मोहनीयकर्मके अभाव में स्वकार्यके करनेमें प्रवृत्त नहीं हो पाता । जो व्यक्ति ग्रपनेमें या परमें अत्यन्त विरक्त-वित्त-हो आसा है वह आदान प्रदान रूपकुछ भी कार्य नहीं करता है, अनुमान प्रसिद्ध प्रवर्तते यथा व्यावृत्तव्यामोहा माता पुत्रे, व्यावृतात्यन्तव्यामोहस्त्र भगवान्, ततः सोपि भोजनमादातुं श्रुदादिकं वा हातुं न प्रवर्तते । प्रवृत्तौ वा मोहबत्त्वप्रसङ्गः; तथाहि-यस्तदादातुं हातुं वा प्रवर्तते स मोहबान् यथाप्रस्मदादिः, तथा चायं स्वेतपटाभिमतो जिन इति । तथा च कुतोऽस्याप्तता रच्यापुरुवयत् ?

न चैयं बुक्क्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्येव कार्यम्, वेनारणन्तस्यानृतस्यामोहेप्यस्याः सम्भवः। भोक्कृमिन्छा हि बुक्क्षा, सा कवं वेदनीयस्येव कार्यम् ? इतरथा योन्यादिषु रन्तुमिन्छा रिर'सा तत्कार्यस्यात्। तथा च कवलाहारवत् स्थ्यादाविष तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गान्नेश्वरादस्य विशेषः। यथा

बात है कि जो जिसमें प्रत्यन्त मोहरहित हो जाता है वह उसके लिये ग्रहण या त्याग रूप कार्य नहीं करता, जैसे जिसकी मनता हटगयी है ऐसी माता पुत्रके प्रति ग्रहणा-दिका व्यवहार नहीं करती है। भगवान भी अत्यन्त विरक्त हैं निर्मोह हैं ग्रतः वे भोजनादिको ग्रहण करना व क्षुधादिको दूर करना ग्रादि कार्य नहीं करते हैं, ग्रदि करेंगे तो मोहवान वन जायेंगे जो व्यक्ति भोजनादिका ग्रहण या क्षुधादिका परिहार रूप कार्यको करता है वह मोहवान है जैसे हम संसारी जीव मोहवान हैं, ब्वेताम्बर का मान्य जिनेन्द्रदेव भी भोजनादि कार्य करता है ग्रतः वह निर्मोही सिद्ध नहीं होता फिर उसमें भ्रास्तपना कैसे संभव है? ग्रवीत् रध्यापुरुषके समान वह भी द्याप्त नहीं कहलावेगा।

मनुष्योंको जो भूख लगती है मोहनीय की अपेक्षाके विना सिर्फ बेदनीयकर्म के निमित्तसे नहीं लगती, जिससे कि आप मोहने सर्वथा रहित ऐसे भगवानके भी धुधा का सद्भाव सिद्ध कर रहे हैं १ भोजनकी इच्छाको बुधुक्षा कहते हैं, इच्छा मोहनीय कर्मका कार्य है, वह वेदनीयका कार्य केंसे हो सकता है १ अन्यथा योनि आदिमें रमने की इच्छा रूप रिरंसा भी वेदनीय का ही कार्य कहलायेगा ? क्योंकि इच्छारूप कार्य को वेदनीयका संभावित कर लिया और ऐसा होनेपर जैसे केवली भोजन करते हैं वैसे स्त्री संभोग भी करने वाले बन जायेंगे, फिर ईश्वर [शंकर] आदिसे केवलीमें कोई विशेषता नहीं रहेगी। जिसप्रकार आप केवलीमें प्रतिपक्षी वैराग्य भावना द्वारा रिरंसा का अभाव होना मानते हैं उसीप्रकार भोजनकी इच्छाका अभाव भी मानना चाहिये। अनुमानवे सिद्ध होता है कि भोजनकी इच्छा प्रतिपक्ष भावनासे नष्ट होती है वयोंकि वह आकांक्षा है, जैसे स्त्रीकी धाकांक्षा प्रतिपक्षभावनासे नष्ट होती है। यदि कहा जाय कि जब प्रतिपक्ष भावना होती है तब बुखुता नहीं रहती किन्तु उसके ध्रभावमें

च रिरंसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते तथा बुभुक्षापि । प्रयोगः-भोजनाकांक्षा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते स्राकांक्षात्वात् रूप्याचाकांक्षावत् । मन्वस्तुतद्भावनाकाले तिन्तवृत्तिः, पुनस्तदभावे प्रवृत्ति-रित्येतत् स्त्र्याचाकांक्षायामपि समानम् । यथा चास्याश्चेतसः प्रतिपक्षभावनामयत्वादत्यन्तिनवृत्तिःस्तया प्रकृताकांक्षाया ग्रपि ।

ग्रथाकांक्षारूपा क्षुत्र भवति, तेन वीतमोहैप्यस्याः सम्भवः; तदप्यमुक्तम्; ग्रनाकांक्षारूप-त्वेप्यस्या दु.सरूपतयाऽनन्तसुस्त्रे भगवत्यसम्भवात् । तथाहि-यत्र यद्विरोधि बलवदस्ति न तत्रास्युदित-काररणमि तद्भवति यथाऽत्युर्पणप्रदेशे शोतम्, ग्रस्ति च क्षुदुःखविरोधि बलवत् केविल्यनन्तसुस्तम् । तथा यत्कार्यविरोध्यनिवस्यं यत्रास्ति तत्र तदिकलमि स्वकार्यं न करोति यथा स्लेष्मादि-विरुद्धानिवर्त्यपत्तिवकाराक्रान्ते न द्वस्यादि स्लेष्मादि करोति, वेद्यक्तविरुद्धाऽनिवंदर्यसुक्षं च भगवतीति ।

तो बुधुला होती ही है ? सो यह नियम स्त्री संबंधी ब्राकांक्षामें भी घटित होगा, ब्रयान् जब वैराग्य भावना रहती है तब रिरंसा नहीं होती ब्रीर जब वह भावना नहीं रहती तब उन केवलीके स्त्री ग्राभलाषा हो जाती है ऐसा अनिष्ट एवं विपरीत माननेका प्रसंग उपस्थित होता है। अतः जिसप्रकार भगवानमें प्रतिपक्ष भावनाद्वारा रिरंसाका ग्रत्यन्ताभाव स्वीकार करते हैं उसीप्रकार भोजन इच्छाका भी श्रत्यन्ताभाव स्वीकार करना श्रत्यन्त श्रावश्यक है।

श्वेताम्बर-म्राकांक्षारूप क्षा तो केवलोके नहीं होती किन्तु भ्रनाकांक्षा रूप धुपा होती है, ऐसी धुषा वीतरागीमें भी संभव है ?

दिगम्बर—यह बात असत् है, अनाकाक्षारूप श्रुधा माने तो वह भी दु:खरूप होनेके कारण अनंत सुख स्वरूप भगवानमें होना असंभव है, जहांपर जिसका विरोधी बलवान हो जाता है वहां पर कारणके रहते हुए भी वह धर्म नहीं होता, जैसे अति उष्ण प्रदेशमें शीतलता नहीं रहती। केवली भगवानमें भी श्रुधाका बलवान विरोधी अनंत सुख विद्यमान है अतः श्रुधा बाधा नहीं हो सकती। दूसरा अनुमान प्रमाण भी है कि जिसके कार्यका विरोधी अनिवर्ष्य रहता है वह अविकल रहते हुए भी स्वकार्यको नहीं कर पाता, जैसे श्लेष्मा आदिका जो विरोधी है एवं अनिवर्ष्य है [हटाने योग्य नहीं हो ऐसा पित्तका विकार जब किसी व्यक्तिके हो जाता है तब उस व्यक्ति को दही अबिद पार्य श्लेष्माकारक नहीं हो पाते हैं, वैसे ही वेदनीय कर्मके फलका विरोधी

ग्रस्तु वा वेश ंतत्र बुगुक्षाफलप्रदायि, तथापि-बुगुक्षातः समवसरएस्थित एवासौ भुंक्ते, वर्यामार्गेण् वा गरवा ? प्रथमपक्षे मार्गस्तेन नाशितः स्यात् । कवं च बुगुक्षोदयानन्तरमाहारासम्यक्तौ स्वानस्य यथावद्बोधहीनस्य मार्गोपदेशो घटेत ? ग्रथ तदुदयानन्तरं देशास्त्रशाहारां सम्पादयन्ति, नः ग्रत्र प्रमाणाभावात् । 'कागमः' इति चेत्रः उभयप्रसिद्धस्यस्यायभावात् । स्वप्रसिद्धस्य भाविष नातस्त्रसिद्धिः, भुक्तपुपसर्गाभावः' इत्यादेरिष प्रमाणभूतागमस्य भावात् । ग्रथ चर्यामार्गेण गरवासौ मुक्तः, तत्रापि कि गृहं गृहं गच्छति, एकस्मिण्ने व वा गृहे भिक्षालाभं ज्ञात्वा प्रवर्तते ? तत्राद्यपक्षे भिक्षाणै गृहं गृहं पर्यटतो जिनस्याज्ञानित्वप्रसङ्गः । द्वितीयपक्षे तु भिक्षाशुद्धिस्तस्य न स्यात् । कथं चाबौ मस्त्यादीन् व्यापलुरुषकप्रभृतिभिः सर्वत्र सर्वतः व्याहन्यमानान्त्राणिनस्तेषां पिशितानि च तथाऽशुरुथादीक्ष्वाच्चान् साक्षाःकुवेश्वाहारं गृह्णीयात् ? ग्रव्या निष्करुणः स्यात् । जीवानां हि वधं

एवं अनिवर्ष्य ऐसा धनंत मुख केवली भगवानके हुम्रा करता है म्रतः उनके श्रुषा बाधा नहीं होती।

यदि माना जाय कि केवलीमें बेदनीय कर्म बुग्रुक्षा रूप फलको देता ही है तो प्रश्न होता है कि वे भगवान भूख लगने पर समवशरणमें बैठकर भोजन करते हैं, अथवा चयसि जाकर गृहस्थके यहां भोजन करते हैं ? प्रथम पक्ष माने तो केवली स्वयं ही मार्गका [ मोक्षमार्गका ] नाश करनेवाले कहलाये ! तथा भूख लगने पर यदि आहार प्राप्त नहीं हुआ तो शक्तिहीन हुए उन भगवानके वास्तविक बोध—सुधबुध तो रहेगी नहीं, फिर वे मोक्षमार्गका उपदेश किसप्रकार दे सकेंगे।

श्वेताम्बर-भगवानके भूख लगते ही देवगण वहां स्राहार को करा देते हैं।

दिगम्बर-ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इसको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, आगम प्रमाण है ऐसा कहो तो वह भी अपन दोनों को मान्य हो ऐसा नहीं है, स्वमान्य आगमके होनेपर भी उससे उक्त विषय सिद्ध नहीं होता, क्योंकि हमारे यहां "केवलो भगवानके भोजन और उपसर्ग नहीं होता" ऐसा प्रामाणिक आगम मौजूद है। दूसरा पक्ष-चर्यासे जाकर भोजन करते हैं सो उसमें प्रश्न होता है कि घर घरमें भिक्षाके लिये घूमते हैं ग्रथवा जिसमें भिक्षा लाभ होना है उसी एक घरमें जाते हैं प्रथम विकल्प कहो तो घर घरमें भिक्षाके लिये घूमते हैं ग्रथवा जिसमें भिक्षाके लिये घूमते हुए उन भगवान के अज्ञानी होनेका प्रसंग ग्राता है। दूसरा विकल्प कहो तो केवलीके भिक्षाणुद्धि नहीं रहेगी, क्योंकि जहां आहार बढ़िया मिलेगा वहीं चले जाते हैं। तथा केवलज्ञानी तो

विश्वदिकं च साक्षारकुर्वन्तो व्रतशीलविहीना प्राप न शुक्षते, भगवांस्तु व्रतादिसम्पन्नश्तरसाक्षात्कुर्वन् कयं भुक्षीत ? ग्रन्थया तेम्योप्यसौ हीनसत्त्वः स्यात् ।

यदप्युच्यते-यत्कि विदृष्ट शुद्ध शुद्ध शुद्ध त्यत्म रत्तो यथास्मदादयो भोजनं कुर्वन्ति तथा केवली साक्षात्कुर्वेत्रितिः; तदप्युक्तिमात्रमः; न ह्यस्मदादोनां परमचारित्रपदप्राप्ते नाभोषकोन भगवता साम्य-मितः । स्रस्मदादयोपि हि यथा(यदा)कथि व्यव्यक्ति विद्युद्धः वस्तु दष्टं स्मरन्तो भोजनपरित्यागेऽ-समर्यास्त्रसुञ्जते तदा तद्दोषविशुद्ध्ययं गुरुवजनादात्मानं निन्दन्तः प्रायश्चित्तं कुर्वन्ति । ये तु तत्थागे समर्थाः पिण्डविशुद्धावुद्यतमनसो निवदस्य परां काष्ठामापन्नास्यक्तरारीरापेक्षा जितजिश्हा अन्तराय-विषये निपूर्णमतयस्ते स्मरन्तोपि न गुञ्जते ।

सकल चराचर जगतको जानते हैं अतः मत्स्यादिको मारते हुए धीवरादिको देखकर एवं उनके मांसको देखकर तथा प्रश्नुचि विष्ठा ग्रादि मलोंको देखकर किसप्रकार ग्राहार को कर सकेंगे ? प्रर्थात् नहीं कर सकते । यदि करते हैं तो वे निर्दयी कहलायेंगे । हम साक्षात अनुभव करते हैं कि जो पुरुष व्रत शील ग्रादिका पालन भी नहीं करते किन्तु जीवोंका वध होता देख या विष्ठादिको देखकर भोजन नहीं करते फिर भगवान तो व्रत शील संपन्न हैं, वे उन पदार्थोंको साक्षात् देखते हुए भोजन कैसे करेंगे, नहीं कर सकते । ग्रन्यया उन जीवोंसे भी होन ग्रास्किक कहलायेंगे ।

श्वेताम्बर-जिसप्रकार हम लोग जो कुछ शुद्ध या अशुद्ध वस्तुका स्मरण करते हुए भोजन को कर लेते हैं उसीप्रकार केवली उनको साक्षात् देखते हुए भोजन कर लेते हैं।

दिगम्बर—यह कथन असत् है, हम जैसे रागी छ्वसस्य जीवोंके और परम चारित्र पदको प्राप्त सर्वज भगवानके समानता नहीं हो सकती । हम लोगोंमें भी बहुत से संयमी महानुभाव जब किसी प्रकारसे किसी अगुद्धवस्तुका स्मरण हो आता है तब भोजनका त्याग करनेमें असमर्थ होनेसे उसे कर तो लेते हैं किन्तु फिर उस दोषकी शुद्धिके लिये गुरुके समक्ष अपनी निंदा करते हुए प्रायश्चित लेते हैं। तथा बहुतसे महानुभाव साधु भोजन त्यागमें समर्थ हैं, पिंडशुद्ध अर्थात् एषणा समितिके पालन करनेमें दक्ष, वैरायकी चरम काष्टाको प्राप्त, शरीरकी उपक्षा करनेवाले, जिन्होंने रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है, तथा बत्तीस ग्रंतराय पालनेमें कुशल हैं वे साधु उन विष्ठा ग्रादि अश्विष पदार्थका स्मरण ग्रानेपर आहार नहीं करते, अंत कर लेते हैं। किल, प्रसी भोजनं कुर्वाएः किमेकाकी करोति, शिष्यवां परिवृतः ? यदि एकाकी; पश्चा-ह्रमनान् शिष्यान्विनिवार्य श्रावकानां ग्रहे गत्वा ग्रुंक्ते तहि दीनः स्यात् । श्रय तैः परिवृतः; तिह् सावद्यप्रसङ्घः ।

किञ्च, प्रसी भुक्तवा प्रतिक्रमणादिकं करोति वा, नवा ? करोति वेत्; प्रवस्यं दोषवान् सम्भाव्यते, तत्करणान्यवानुपपत्ते :। न करोति वेत्; तिह धुजिक्रियातः समुत्पन्नं दोषं कथं निरा-कुर्यात् ? आहारकषामात्रेणापि हाप्रमत्तोषि सन् साधुः प्रमत्तो भवति, नाहं-सुञ्जानोषीति श्रद्धा-सात्रम् । प्रमत्तत्वे चास्य श्रीणतः पतितत्वान्न केवलभाक्त्वम् ।

किमधी चासौ भुंक्ते - शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानध्यानसंयमसंसिद्ध्यर्थ वा, क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं

तथा श्वेताम्बर सम्मत केवली भोजन करते हैं सो स्रकेल करते है अथवा शिष्योंसे परिवृत होकर करते हैं ? अकेले करते हैं तो अपने पीछे लगे हए शिष्योंको रोककर एकाकी श्रावकके घर जाकर भोजन करनेसे दीन जैसे कहे जायेंगे। तथा शिष्योंसे परिवृत्त होकर भोजन करते हैं तो सावद्य दीष का प्रसंग ग्राता है । केवली भगवान ग्राहारके ग्रनंतर प्रतिक्रमणादि करते हैं या नहीं ? करने हैं तो सदोष सिद्ध हए। क्योंकि दोप युक्त व्यक्ति ही प्रतिक्रमण करते हैं। यदि कहे कि वे प्रतिक्रमण तो नहीं करते तो भोजन कियासे संजात दोषको किसप्रकार दूर कर सकेंगे ? जब कि भोजन कथाको करनेमात्रसे स्रप्रमत्त गुणस्थानवर्त्ती साधू प्रमत्त गुणस्थानमें स्राजाते हैं तब अर्हत केवली साक्षात भोजन करते हुए भी प्रमत्त नहीं होते, यह कहना तो श्रद्धा मात्र है यदि ब्राहार करते हुए केवली प्रमत्त हो जाते हैं ऐसा मानते हैं तब तो वे श्रीणिसे भी नीचे गिर गये ? फिर केवलज्ञानी कैसे रहे । तथा केवली भगवान किस लिये भोजन करते है ? शरीर पुष्टिके लिये, ज्ञान ध्यान एवं संयमकी सिद्धिके हेत. धुधावंदनाके परिहारके लिये, ग्रथवा प्राणरक्षाके लिये १ शरीर पृष्टिके लिये भोजन करना ग्रावश्यक नहीं, क्योंकि लाभांतराय कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रतिक्षण दिव्य विशिष्ट परमासुम्रोंका लाभ भगवानके होता ही रहता है, उन्हींसे शरीर पृष्ट बना रहता है। तथा शरीर पुष्टि हेतु भगवान आहार करते हैं तो वे निर्ग्रन्थ कहां रहे ? वे तो प्राकृत (हीन) पुरुष सदृश हो गये । ज्ञानादिकी सिद्धिके लिये ग्राहार करना भी बनता नहीं, उनके तो सकल पदार्थ विषयक ग्रक्षय अनंतज्ञान प्राप्त हो चका है, संयम भी यथास्यात चारित्र नामा प्राप्त है, ग्रौर ध्यान तो उनके होता नहीं वा, प्राण्णवाणार्यं वा ? न तावच्छ्ररोरोपचयार्यम्, लाभान्तरायप्रक्षयात्प्रतिसमयं विशिष्टपरमागुलाभ-तस्तित्सिद्धं । तदयं तद्यहरणे चासौ कयं निर्मृण्यः स्थात् प्राकृतपुरुषवत् ? नापि ज्ञानादिसिद्ध्यर्थम्, यतो ज्ञानं तस्याखिलार्यविषयमक्षयस्वरूपम् संयमस्य यद्याख्यातः सर्वदा विद्यते । ध्यानं तु परमार्यतो नास्ति निर्मृतस्कत्यात्, योगनिरोधत्वेनोपचारतस्त्यास्य सम्भवात् । नापि प्रार्णवाणार्थम्, प्रपमृत्युरहितत्वात् । नापि क्षुद्धेदनाप्रतीकारार्थम्; ध्रनन्तसुखवीर्ये भगवत्यस्याः सम्भवा-भावस्योक्तत्वात् ।

ननु भगवतो भोजनाभावे कथम् 'एकाश्चा जिने परीपहाः' इत्यागमविरोधो न स्यात् ? तदसत्; तेषां तत्रोपचारेलैव प्रतिपादनात्, उपचारिनिमत्तं च वेदनीयसद्भावमात्रम् । परमार्थ-तस्तु तत्र तेषां सद्भावे क्षुदादिपरीषहसद्भावाद्बुसुक्षावद् रोगवधनुणस्पर्धपरीषहसद्भावान्महृद्दुःस्वं

क्योंकि भावमन नहीं है। सिर्फ योग निरोधादिको देखकर ध्यानको उपचारसे माना है। प्राणरक्षाके लिये भोजन करना भी ब्रावश्यक नहीं वे तो ब्रपमृत्यसे रहित हैं। शुधा की पीड़ाको दूर करनेके लिये भोजन करते हैं ऐसा कहना भी व्यर्थ है क्योंकि वे ब्रनंत मुखी हैं, अनतसुख ब्रनंतवीयं वाले भगवानके श्रुधाकी पीड़ा होती ही नहीं ऐसा ब्रभी सिद्ध हो चुका है।

श्वेताम्बर-भगवानके भोजन नहीं होता ऐसा माने तो उनके "एकादश परिषह होती हैं" ऐसे आगम वाक्यसे विरोध प्राप्त होगा ?

दिगम्बर-ऐसा नहीं होगा, केवलीके ग्यारह परीषह उपचारसे कही है, उप-चार भी इसलिये किया है कि वेदनीयकर्म का सद्भाव है, परमार्थसे वैसा माना जाय तो जैसे शुधा परीषहके सद्भावमें भूख लगती है वैसे रोग, वध, तृणस्पर्ध आदि परीषहों के होनेसे तज्जन्य पीड़ा भी होगी ? इसत्तरह उनके महान दु:खोंका सद्भाव सिद्ध होगा। ऐसे दु:खित पुरुष केवली भगवान नहीं कहला सकते, वे तो हमारे सहस सिद्ध हुए।

यदि भगवान मोजन करते हैं, स्पर्णनिन्द्रयादि द्वारा शीतादि वस्तुओंका श्रमुभव करते हैं तो वे मितजानी कहलाये, केवलज्ञानी कहां सिद्ध हुए १ केवलज्ञानी केवलज्ञान द्वारा भोजनादिका श्रमुभव करते हैं ऐसा कहे तो जगतके यावन्सात्र भोजनादि पदार्थोंका एवं पराये व्यक्ति द्वारा श्रमुभूत पदार्थोंका श्रमुभोक्ता वन जायेंगे। स्यात्, तथा च दुःश्वितत्वाश्रासौ जिनोऽस्मदादिवत्। तथा भोजनं रसनेन श्वीतादिकं च स्पर्शनादि-नेन्द्रियेग्। यद्यतावनुभवेत्; तर्हि भगवतो मतिज्ञानानुषङ्गः। त्रथ केवलङ्गानेन; तत्रापि सर्वै भोजना-दिकं परशरीरस्थमप्यस्यानुषज्यते। न चात्मशरीरस्थमेवास्य तन्नान्यदित्यभिधातव्यम्; भगवतो वीतमोहस्य स्वपरशरीरमतिविभागाभावात्।

यञ्चोपचारतोष्यस्यैकादश परीषहा न सम्भाज्यन्ते तत्र तन्निषेषपरत्वात् सुत्रस्य, 'एकेनाधिका न दश परीषहा जिने एकादश जिने' इति ब्युत्पत्ते: । प्रयोगः-भगवान् शुदादिपरीषहरहिती-ऽनन्तसुखरनात्सिद्धवत् ।

िक्श्व, भोजनं कुर्वांशो भगवान् किल लोकेनीवलोक्यते चसुपेत्यभिष्योयते भवता । तत्रादर्शने-प्रयुक्तसेवित्वादेकान्तमाधित्य श्रुंक्त इति कार्राग्य, बहलात्यकारस्थितभोजनं वा, विद्याविद्योषेश स्वस्य तिरोधानं वा ? तत्रावायसे पारदारिकवहीनवद्वा दोषसम्भावनाप्रसङ्गः । अन्यकारस्तु न सम्भा-व्यते, तहे हटीप्ट्या तस्य निहतःवान् । विद्याविद्योषोपयोगे चास्य निर्वन्यत्वाभावः । कयं चादस्याय

भगवान सिर्फ स्वशरीर संबद्ध भोजन का अनुभव करते हैं अन्यके शरीर संबद्ध भोजन का नहीं, ऐसा कहना भी असत् है, वीतरागी भगवानके स्वका शरीर और परका शरीर ऐसा भेद होता नहीं।

जिनेन्द्रदेवके उपचारसे भी एकादश परीषह नहीं होती ऐसा श्रमिप्राय होवे तो "एकादश जिने" इस तत्वार्थ सूत्रका श्रर्थ निषेधपरक होगा । एकसे अधिक दस परीषह केवलीके नहीं होती ऐसी व्युत्पत्ति होगी ।

अनुमान प्रमाण–भगवान धुधादि परीषहों से रहित हैं, क्योंकि वे श्रनंतसुखके भोक्ता हैं, जैसे कि सिद्ध भगवान हैं ।

किंच, केवली भोजन करते हुए ग्रन्थ लोगोंको दिखायी नहीं देते ऐसा श्रापका कहना है, सो क्या कारण है, प्रयुक्त भोजन करने के कारण एकांतका ग्राध्यय लेकर खाते हैं ग्रयवा गाढ ग्रंथकारमें स्थित होकर खाते हैं ग्रयवा गाढ ग्रंथकारमें स्थित होकर खाते हैं ग्रयम पक्ष माने तो परदारासेची सहश नीच या दीन पुरुष सहश केवलीके भी दोषकी संभावना हुई? तभी तो एकांत में ग्रंभोग्यका भक्षण किया। दूसरापक्ष ग्रंथकारमें स्थित होकर खानेकी बात ग्रसंभव है, क्योंकि केवली जिनन्द्रके स्वयंके शरीरकांति द्वारा ग्रंथकार नष्ट हो चुका है। तीसरा खल-विद्या द्वारा स्वको तिरोभूत कर भोजन किया माने तो उनके निर्मन्थता समास्त होती है। तथा ऐसे ग्रहस्य भगवानको दातार ग्राहार को कैसे देंगे १ इन सब दोषोंको

तस्मै दानं दानुभिर्दीयते ? भ्रषातिशयविशेषः। करिचतस्य येन भ्रुञ्जानो नावलोक्यते; तर्हि भोजना-भावलक्षरा एवास्यातिशयोस्तु कि मिष्याभिनियेशेन ? ततो जीवन्मुक्तस्यारमनोऽनन्तचतुष्टयस्वभाव-रविभच्छता कवलाहाररहिर्तत्वभैवैष्ठव्यभित्यलमतिभ्रसंङ्गेन ।

दूर करनेके लिये कहा जाय कि जिनेन्द्रका ऐसा अतिशय विशेष है कि वे खाते हुए किसीको दिखायी नहीं देते, तब तो विषय न्यवस्थित होगा, जिसप्रकार भोजन करते हुए दिखायी नहीं देनारूप अतिशय मान सकते हैं उसीप्रकार भोजनका अभावरूप अतिशय क्यों न मान सकते ? अवश्य ही मान सकते हैं, व्ययंके हटाग्रह से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। इसलिये जीवन्युक्त अवस्थामें भगवान जिनेन्द्रके अनंत चतुष्ट्य रूप स्वभाव स्वीकार करते हैं तो वे कवलाहार रहित हैं ऐसा मानना भी अत्यावश्यक है अब इस विषयसे विराम लेते हैं।

## ।। इति कवलाहारविचार समाप्त ।।

## कवलाहार विचार का सारांश

पूर्वपक्ष-च्वेताम्बर जैन केवलज्ञान होने के अनंतर भी भगवान भोजन करते हैं ऐसा मानते हैं, उनका कहना है कि जैसे हमारा औदारिक शरीर है वैसे भगवान का भी औदारिक शरीर है अतः उसकी आहार के बिना स्थिति नहीं रह सकती है। इस कथनमें देवों के साथ व्यभिचार भी नहीं आता है क्योंकि उनका शरीर वैकिथिक है महाभास्त्र तत्वार्थसूत्रमें कहा है कि "एकादश जिने" जिनेन्द्रदेव के ग्यारह परीषह होती है, इनमें भूख प्यास आदि अन्तर्भूत है, इत्यादि सो इस आगम प्रमाण से भगवान के आहार सिद्ध होता है।

उत्तरपक्ष-यह कथन युक्ति युक्त नहीं है, भगवान ग्राहार करते है तो उनके ग्रनतमुख का ग्रभाव होने से अनंत चतुष्टय स्वभाव का नाश होता है, ग्राप कही कि हमको भोजन करने से जैसे सुख होता है तथा शक्ति आती है वैसे भगवान के होता है सो यह कथन अनुचित है, भगवान के तो अनंत सुख और शक्ति है अतः ग्राहारादि की जरूरत नहीं है। तथा भगवान के रागद्वेष न होने के कारण भोजन नही करते हैं साधु लोग भी भोजन करते हैं सो वास्तविक वीतरागी नहीं हैं ग्रत: करते हैं क्योंकि उनके तो मोहनीय कर्म मौजद है। ग्राप केवली के सामान्य ग्राहार मानते हो या कवजाहार हो ? सामान्य माहार मानो तो कोई बाधा नहीं, क्योंकि केवली के (कर्म) नो कर्माहार होना माना हो है । ग्राहार छः तरह का है, कर्माहार, नोकर्माहार, ग्रोजा-हार, लेपाहार, मानसिकाहार ग्रौर कवलाहार, इनमें से भगवान के नोकर्माहार है। भोजन का श्रभाव, उपसर्ग का ग्रभाव यह अतिशय भगवान के केवलज्ञान होते ही प्रगट होते हैं ऐसा ब्रागम है, वेदनीय कर्मका सदभाव होने से आप केवली के भोजन का होना मानते हो किन्तु यह अयुक्त है, क्योंकि वेदनीय कर्म मोहनीय के बिना फल देने में समर्थ नहीं है ग्रन्यथा स्त्री भोगादि भी मानने पड़ेंगे। भगवान भोजन करते हैं सो किस प्रकार करते हैं ? घर घर में भोजन के लिये घुमते हैं या एक घर में भिक्षा लाभ जानकर सीधे चले जाते हैं ? घर घर में घूमते हैं तो ब्रज्ञानी दीन हुए, ब्रीर जानकर एक जगह ही जाते हैं तो भिक्षा शुद्धि नहीं रही । समवशरणमें बैठकर भोजन करेंगे तो मार्ग का नाश हुआ जबिक गृहस्थ भी आयतनों में भोजनादि नहीं करते तो भगवान किस तरह करेंगे। देव भोजन देते हैं इस बात को पुष्ट करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। तथा भगवान भोजन करने के अनन्तर प्रतिक्रमण करते हैं या नहीं? करते हैं तो सदोष सिद्ध हुए? जब साधु भोजनकथा करने मात्र से प्रायश्चित के भागी बनते हैं तो भगवान साक्षात भोजन करते हुए भी निर्दोख हैं यह बात श्रद्धा मात्र है। भगवान भोजन करते समय किसी को दिखत नहीं ऐसी आपकी युक्ति विचार करने पर शतथा जीएाँ हो जाती है इत्यादि अनेक दोषों से बचने के लिये केवली कवलाहार रहित ही हैं ऐसा निर्दोष पक्ष स्वीकार करना चाहिये।

## ।। कवलाहारविचार का सारांश समाप्त ।।

## 

नमु च 'ग्रनस्तवनुष्टबस्बरूपलाभो मोक्षः' इत्ययुक्तम् ; बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूपस्वातस्य । तदुच्छेदे च प्रमाणम्-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिवते सन्तानस्वात् प्रदीपसन्ता-नवत् । न चायमसिद्धो हेतुः; पक्षे प्रवर्शमानस्वात् । नापि विरुद्धः; सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात् । नाप्य-नैकान्तिकः; पक्षसपक्षवद्विपक्षे परमाण्वादावप्रमृतः । नापि कालात्यवापदिष्टः; विपरीतार्थोपस्यापकयोः प्रत्यक्षागमयोरसम्भवात् । नापि सत्प्रतिपक्षः; प्रतिपक्षसाधनाभावान् ।

सर्वज्ञ सिद्धि के धनंतर जैनाचार्य ने प्रतिपादन किया था कि सर्वज्ञ भगवान के अनंतज्ञान, धनंतदर्शन, अनंतसुख एवं अनंतवीर्य इसप्रकार ध्रमंत चतुष्टय स्वरूप स्वभावका लाभ होता है इसी स्वरूप लाभको मोक्ष कहते हैं, इसतरह मोक्षका स्वरूप प्रतिपादित होने पर वैदेशिक ध्रपना पक्ष उपस्थित करता है—

वैशेषिक-प्रनंत चतुष्टय स्वरूप आत्माका लाभ होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका लक्षण प्रयुक्त है, मोक्ष तो बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोंका होने से होता है। गुएगोंका नाश कैसे होता है इस बातको अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध करते हैं-बुद्धि, सुल, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, ग्रधर्म, ग्रीर संस्कार इन गुणोंके संतानका सर्वथा उच्छेद हो जाता है, क्योंकि ये सब संतानरूप है [इनमें संतानपना इसप्रकार होता है—धर्म प्रधर्म से बुद्धि उत्पन्न होतो है, बुद्धिसे संस्कार, संस्कारसे इच्छा और द्वेष, इच्छाद्वेष से प्रयत्न, प्रयत्नसे सुख दु:ख उत्पन्न होते हैं] जैसे प्रदीपकी संतान नष्ट होती है। यह संतानत्व हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि पक्षमें विद्यमान है, विरुद्ध भी विद्यक्षभूत परमागु ग्रादिमें नहीं रहन से ग्रनैकान्तिक भी नहीं है। इस संतानत्व हेतुके ग्रयंको विपरीत

ननु सन्तातोच्छेदरूपेपि मोसे हेलुर्बाच्यो निहेंतुकविनाशानस्युपगमात्; इत्यप्यचोद्यम्; तस्य-क्र नस्य विपर्ययज्ञानध्यबच्छेदः मेण् निःश्रं यसहेतुत्वोपपत्ते:। दृष्टं च सम्यम्जानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे श्रुक्तिकादौ सामर्थ्यम् । ननु चातत्त्वज्ञानस्यापि तस्वज्ञानोच्छेदे सामर्थ्यं द्वयते, ज्ञानस्य ज्ञानान्तरविरो-धित्वेन मिथ्याज्ञानोत्पत्तौ सम्यम्जानोच्छेदप्रतीते ; इत्यप्ययुक्तमः यतो नानयोरुच्छेदमात्रममिश्रंतम् । कि तिहं ? सन्तानोच्छेदः । यथा च सम्यम्जानान्तिम्याज्ञानसन्तानोच्छेदो नैवं मिथ्याज्ञानात्तसम्यम्जान-सन्तानस्य, सस्य सत्यार्थत्वेन बलीयस्त्वात् । निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो न सम्भवन्ति काराणाभावे कार्यानुत्यादात् । रागाद्यभावे तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिच्यावत्तेते । तदभावे च धर्मा-

सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्ष या आगम प्रमाण न होनेके कारण कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है एवं प्रतिपक्ष साधक भ्रन्य हेतुके नहीं होनेसे सत्प्रतिपक्ष दोष युक्त भी नहीं है।

शंका—संतानका नाश होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका स्वरूप मानना तो ठीक है किन्तु उस मोक्षके होनेमें कारण कौनसा है, कारणके विना नाशका होना स्वीकृत नहीं है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, तत्त्वज्ञानको मोक्षका कारण माना है तत्वज्ञानसे विपरीतज्ञानका नाश होता है और कम से मोक्ष प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होनेपर मिथ्याज्ञान नष्ट होता है, उसके नष्ट होनेसे रागादि भावका ग्रभाव हो जाता है, उससे मन बचन कायका प्रयत्न [ किया ] नष्ट होता है और प्रयत्नके नष्ट होते ही धर्म अधर्म समाप्त हो जाते हैं, इसप्रकार संतान उच्छेद का कम है। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि सीप आदिमें चांदीका भ्रम रूप मिथ्याज्ञान होता है वह सम्यज्ञानद्वारा नष्ट होता है।

शंका—जैसे सम्यग्जानसे मिथ्याज्ञान नष्ट होता है वैसे मिथ्याज्ञानसे सम्यग्जान भी नष्ट होते हुए देखा जाता है, अर्थात् सम्यग्जानमें मिथ्याज्ञानका नाश करनेकी सामर्थ्य है तो मिथ्याज्ञानमें सम्यग्जानका नाश करनेकी सामर्थ्य है, ज्ञान तो जानांतर का विरोधी होता ही है, अतः मिथ्याज्ञानके उत्पन्न होनेपर सम्यग्जानका नाश होना भी शक्य है दे

समाधान-यह कथन ग्रसत् है, हमको यहां पर दोनोंका उच्छेदमात्र सिद्ध नहीं करना है किन्तु संतानोच्छेद सिद्ध करना है। सम्यम्जानद्वारा मिथ्याज्ञानका भमेयोरतुःपत्तिः । भारव्यशरीरेन्द्रियविषयकार्ययोस्तु सुखदुःखफलोपभोगात्प्रक्षयः । श्रनारव्धतत्कार्य-योरप्यवस्थितयोस्तरुक्तोपभोगादेव प्रक्षयः । तथा चागमः—

"नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरिष" [ ] इति ।

मनुमानं च, पूर्वकर्माण्युपमोगादेव क्षीयन्ते कर्मस्वात् प्रारब्धशरीरकर्मवत् । न चीपभोगा-स्प्रक्षये कर्मान्तरस्यावस्यं भावात्संसारानुच्छेदः; समाधिवलादुःत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगतकर्मसामध्योत्पा-चित्रवृगपदश्चेषशरीरद्वारावान्नाशेषभोगस्योपात्तकर्मप्रक्षयात्; भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिष्याज्ञानजनि-तानुचन्धानविकलत्वाञ्च संसारोच्छेदोपपत्ते । मनुसन्धानं हि रागद्वेषौ 'श्रनुसन्धीयते गतं चितमा-म्याच् 'इत्ति व्यूत्पत्ते: । न च मिथ्याज्ञानाभावेऽभिलाषस्यैवासम्भवाद्भोगानुपपत्तिः; तदुपभोगं विना

संतानोच्छेद तो संभव है किन्तु मिथ्याज्ञानद्वारों सम्यग्ज्ञानका संतानोच्छेद होना संभव नहीं है, उसका कारण यह है कि सम्यग्ज्ञाच-बलञाली है।

जब मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तब तिन्निमित्तक रागद्वेष भी उत्पन्न नहीं हो पाते, क्योंकि कारणके ग्रभावमें कार्य नहीं होता, रागादिके ग्रभावमें मन बचन कार्यका प्रयत्न समाप्त होता है उसके श्रभावमें धर्म ग्रधर्म नष्ट हो जाते हैं। वर्त्तमान में जो धर्म ग्रधर्मका कार्यरूप शरीर इन्द्रियादि हैं उनका सुखदुःख रूप फल भोगकर नाश हो जाता है । वर्त्तमानमें जिनका कार्य प्रारंभ नहीं हुम्रा है ऐसे धर्म अधर्म म्रात्मा में ग्रवस्थित रहते हैं, उनका नाश तो फल भोगनेके ग्रनंतर होगा ''नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शर्ते रिपि'' ऐसा ग्रागम वाक्य भी पाया जाता है । इसका समर्थक ग्रनुमान प्रमाण-पूर्व संचित कर्म उपभोग द्वारा ही नष्ट होता है, क्योंकि वह कर्मरूप है, जैसे जिसने शरीर ग्रादिरूप फल देना प्रारंभ कर दिया है वह कर्म भोगकर तष्ट होता है। कर्म उपभोग द्वारा ही नष्ट होता है ऐसा एकांत माने तो जब उपभोग करते हैं तब अन्य कर्म भ्रवश्य बंधता है अतः संसार भ्रमणका नाश कैसे होगा १ ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये, अन्य कर्म नहीं बंधनेका कारण यह होता है कि प्रथम तो समाधि के बलसे जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा पुरुष कर्मकी सामर्थ्यको जानकर युगपत संपूर्ण शरीरोंका निर्माण करके अखिल कर्मोंका भोग कर लेता है, उस कियासे पूर्वकृत कर्म नष्ट होते हैं ग्रौर आगामी कर्मोंकी उत्पत्तिका कारण जो मिथ्याज्ञान एवं तज्जन्य अनुसंधान [विकार] है वह बु्त्वज्ञानके सद्भावमें रहता नहीं, इसप्रकार उस पुरुषके संसार का उच्छेद हो जाता है। यहां अनुसंधान शब्दका अर्थ रागद्वेष है, ''अनुसंधीयते हि कर्मणा प्रक्रवानुप्पत्तेः तस्वज्ञानिनोपि कर्मक्षयाधितया प्रवृत्ते वैद्योपदेशेनातुरवदीषधाचरणे । यथैक ह्यानुरस्थानभिलवितेप्योषधाचरणे श्र्याधिप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिः, तद्वपतिरेकेण तरप्रक्षयानुप-पत्ते स्त्रक्षात्रापि ।

ननु तत्त्वज्ञानिनां तत्त्वज्ञानादेव सम्बितकर्मप्रक्षय इत्यप्यागमोस्ति— "यर्थयांसि समिद्योग्नर्भस्मसात्कुक्ते कारणात् । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुक्ते तथा"

[ भगवद्गी० ४।३७ ] इति ।

गतं चित्तमाभ्यां इति धनुसंघान" इसप्रकार अनुसंघान शब्दकी निरुक्ति है, इसका प्रथं जिनके द्वारा चित्त नाना विकल्पोमें उलभा रहता है उसको अनुसंघान कहते हैं। मिथ्याज्ञानका ध्रभाव हो जाने पर अभिलाषा समाप्त होती है ध्रतः तत्त्वज्ञानीके उपभोग होना ध्रसंभव है ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये, उपभोग किये बिना कर्मों का नाश नहीं होता ध्रतः तत्त्वज्ञानी पृष्ट्य कर्मश्रयार्थं फलोपभोगमें प्रवृत्त होते हैं, जैसे रोगको दूर करनेका इच्छुक रोगी वैद्यके कथनानुसार ध्रौषधिका उपभोग करता है, जिस तस्ह उस रोगीको ध्रौषधिकी स्वतः नहीं है फिर भी रोगके परिहारार्थं उसका सेवन करता है उसके सेवन विना रोग नष्ट नहीं होता, ठीक इसीप्रकार तत्वज्ञानीके कर्मोंका नाश उसके फल भोगे किया नहीं होता अतः विराग भावसे फलोपभोग करके उनको निर्जीर्ण करते हैं।

शंका-तत्त्वज्ञानियोंके तत्वज्ञानमात्रसे ही कर्मोका नाश होता है ऐसा आगम में लिखा है, जैसे-प्रदीप्त हुई भूमि इंधनोंको क्षणमात्रमें भूस्पसात् कर देती है, वैसे तत्त्वज्ञान रूपी अग्नि सकल कर्मेचनको भस्मसात् करती है यह आगम वाक्य और पूर्वोक्त नामुक्त क्षीयते कर्म, इत्यादि वाक्य इनमें परस्पर विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन होनेसे एक ही विषयमें वे भ्रागम वाक्य प्रमाणभूत कैसे हो सकते हैं ?

समाधान-यह संका अयुक्त है, तत्त्वज्ञान कर्मोंका नाश करनेमें साक्षात् प्रवृत्ति नहीं करता, वह तो कर्मोंकी चार्ति ज्ञात कराता है, कर्मशक्तिको ज्ञात कर लेनेसे अखिल शरीरोंकी उत्पत्ति होकर फलोपभोग होता है, फिर कर्मोंका विध्वंस हो पाता है। अतः तत्त्वज्ञानेके लिये अग्निकी उपमा उपचारसे है। इसप्रकारका पूर्वोक्त आगम वाक्योंका स्थाकार करनेसे विरोध समाप्त होता है। इस प्रागम वाक्योंका सर्थ कोई

तथा चै विवद्यार्थस्वादुमयोरेकवार्थं कथं प्रामाण्यम् ? इस्यपुक्तम्; तस्त्रकानस्य साक्षातिद्विनाशे व्यापाराभावात् । तद्धि कर्मसामस्यावगमतोऽलेषकारीरोत्पात्तिद्वारेखोपभोगात्कर्मणां विनाशे व्याप्रियते इत्यन्तिरिकोपचर्यते ज्ञानमित्यामम्याव्यानादिवरोधः । न चैतद्वाच्यम्-तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्त-त्वज्ञानादितरेषां तूपभोगात् इति; ज्ञानेन कर्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात्, फलोपभोगात् सरस्रक्षये तत्त्रद्भावात् ।

मन्ये नु मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य सहकारिएोऽभावादिवयानान्यपि कर्माएा न जन्मान्तरे शरीराद्यारम्भकार्ऐाति मन्यन्ते; तेषामनुत्यादितकार्यस्यारष्टस्याप्रक्षयाक्षित्यत्वसङ्गः । श्रनागतयोर्धर्मा-षर्मयोक्त्यत्तिप्रविषे तस्वज्ञानिनो नित्यनेमित्तिकानुष्ठानं किमर्यमिति चेत् ? प्रस्यवायपरिहारायम् ।

इसप्रकार करते हैं कि तत्त्वज्ञानी पुरुषके तो तत्वज्ञान द्वारा कर्यों का नाश होता है और तत्त्वज्ञान रहित पुरुषके फलोपभोग द्वारा कर्यों का नाश होता है, सो यह प्रयं प्रयुक्त है। तत्त्वज्ञान मात्रक्षे कर्मनाश हो जाता है ऐसा कथन किसी उदाहरण द्वारा पुष्ट नहीं हो पाता, जिससे वह सिद्ध हो। फलोपभोगद्वारा कर्म नाश होनेमें तो आगम तथा हण्डात दोनों प्रसिद्ध हैं।

कोई महानुभाव इसतरह प्रतिपादन करते हैं-सिध्याज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कार जिसमें सहकारी थे उनका जब अभाव हो जाता है तव विद्यमान रहते हुए भी वे कमें प्रत्य जन्ममें शरीर इन्द्रिय आदिको उत्पन्न नहीं कर पाते हैं। किन्तु यह प्रति-पादन प्रयुक्त है, यदि कमें ग्रपने कार्यको उत्पन्न नहीं करते तो उनका नाश होना असंभव होनेसे नित्य ही अवस्थित रह जायेंगे।

शंका-तत्त्वज्ञानियोंके श्रागमी धर्म ग्रधमं उत्पन्न नहीं होते हैं तो वे नित्य नैमित्तिक कियानुष्ठान किसलिये करते हैं ?

समाधान-विघ्न बाधायें उपस्थित न हो एवं दुष्कर्म न हो इस हेतुसे तस्व-ज्ञानी क्रियानुष्ठान किया करते हैं।

शंका—तत्त्वज्ञानीके मिष्याज्ञानका अभाव होनेसे दुष्कर्मभी नहीं है फिर किसका परिहार करना है १

समाधान–ऐसी शंका ठीक नहीं, तत्त्वज्ञानीके मिथ्याज्ञानके ग्रभावमें मात्र निषिद्ध ग्रावरण निमित्तक प्रत्यवाय नहीं होते किन्तु बिहित स्रबुष्ठान निमित्तक में चे मिष्यात्रामामाने पुष्कमंग्रोऽभावात् कस्य परिहारार्यं तस्त्विमित्रसम्बद्धः यदो मिष्यात्रानःभावे निषिद्धाचरण्तिमित्तस्यैव प्रत्यवाधस्याभावो न विद्वितिनृष्ठानिनिमतस्य,

"श्रकुवैन्विहतं कर्मं प्रत्यवायेन लिप्यते" [ ] इत्यार्गमात्। ततस्वदनुष्ठानं तस्परिहाराणं युक्तम्। तदुक्तम् —

''नित्यनैमित्तिके कुर्यात्त्रत्यवायजिहासया । मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ॥ १ ॥

[ मौ० श्लौ० सम्बन्धा**० श्लो० ११०** 🌓

नित्यनीमित्तिकरैव कुर्वाशो दुरितक्षयम् । ज्ञानं च विमलीकुर्वप्रस्थासेन तु पाचवेत् ॥ २ ॥ श्रम्योसात्यंक्यविज्ञानः कैवस्यं लगते नरः । काम्ये निषिद्धे च परं प्रवृत्तिप्रतिषेषतः ॥ ३ ॥" [

प्रत्यवाय तो संभावित है। "अकुवंन् विहितं कमें प्रत्यवायेन लिप्यते" प्रयांत् विहित प्रमुष्ठानंको नहीं करने वाले व्यक्ति दुष्कमंसे बंध जाते हैं। ऐसा आगम वाक्य है, अतः प्रत्यवायके परिहारार्थं विहितानुष्ठान करना प्रावश्यक है। कहा भी है ज्ञानी पुष्ठ नित्य नैमित्तिक किया प्रत्यवायके परिहार हेनु करता है, मोक्षार्थी काम्य तथा निषद्ध प्रयांत् होम आदि शुभ किया तथा बाह्मण वध आदि अशुभ किया इनको सर्वथा न करें।।१।। मोक्षाभिलाथी ज्ञानी नित्य नैमित्तिक किया द्वारा दुरितका क्षय करें, तथा ज्ञानको निर्मल करते हुए उसको विस्तृत करे।।२।। अभ्यास द्वारा उसका ज्ञान हो जाता है और वह मोक्षको प्राप्त कर लेता है, उस तत्त्वज्ञानोंके प्रथमतः हो काम्य और निषद्ध क्रियाका प्रतिषेध किया गया है।।३।। स्वर्गका ग्रीमलाथी इसप्रकार की क्रिया करे इत्यादि ग्रागम वाक्यके अवणसे हो गयी है यागकी इच्छा जिसके ऐसे पुरुष द्वारा ग्रीनिष्टोम ग्रादि किया की जाती है उसे 'काम्य' कहते हैं। संपूर्ण विशेष गुणोंका उच्छेद होकर विशिष्ट ग्रारम स्वरूप जो निर्वाण होता है उसे कैवत्य कहते हैं।

शंका-निथ्याज्ञानका नाश होनेसे रागादिका नाश होता है इत्यादि कमसे होनेवाला विशिष्ट ग्रात्सस्वरूप निर्वाण तत्त्वज्ञानका कार्य होनेसे ग्रानित्य है ?

समाधान-ऐसा नहीं है, आपने धनित्य किसको कहा विशेष गुणोंके उच्छेदको या उस उच्छेदसे विशिष्ट ग्रात्माको ? विशेष गुणोंके उच्छेदको ग्रनित्य कहना तो ठैंकि 'स्वर्गकामः' इत्याचानवजनितकायेन यागाभिलायेण निवंत्यं हि काम्यमेनिन्द्रोमादि । कैवल्यं पु सकलविशेषगुणोच्छेदविशिद्यात्मस्वरूपं निर्वाणम् । न व विषयंग्रज्ञानप्रध्वंसादिक्रमेण् तद्विशिद्यात्मस्वरूपनिर्वाणस्य तत्त्वज्ञानकार्यत्वादनित्यत्वं वाच्यम्, यतो विशेषगुणोच्छेदस्यानित्यत्वमापायते, तद्विशिद्यात्मनो वा ? न तावद्विशेषगुणोच्छेदस्यः प्रस्य प्रध्वंसाभावरूपत्वात् । कार्यवस्तुनो ह्यात्यित्वस्य प्रस्वत्वस्य । तद्विशिद्यात्मनम् वस्तुन्वेषि कार्यत्वाभावाभानित्यत्वम् । न च बृद्ध्यादिवनाशे गुणिनस्त-चाभावो प्रुक्तः; तयोरत्यन्तभेदात् । तत्तादात्म्ये त्वयं दोषः स्यादेवं ।

ग्रय मोक्षावस्थायां चैतन्यस्याप्युच्छेदान्न कृतबुद्धयस्तत्र प्रवर्तन्ते दृत्यानन्दरूपो मोक्षोऽम्यु-पगन्तच्यः :—

"धानन्दं ब्रह्मएगो रूपं तञ्च मोक्षेऽभिव्यज्यते" [ ौ इत्यागमात्। ग्रात्मा सुक्षस्व-भावोऽस्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्, ग्रनन्यपरतयोपादीयमानत्वाञ्च । यद्यदेविधं तत्तस्पुलस्वभावम् यथा

नहीं, क्योंकि वह प्रध्वसाभाव रूप होनेसे निःस्वरूप है जो कार्यरूप वस्तु होती है उसी के प्रनित्यपना संभव है। उच्छेदसे विशिष्ट आत्माको अनित्य कहना भी अयुक्त है, क्योंकि वह विशिष्ट आत्मा वस्तुरूप होते हुए भी किसीका कार्य नहीं होनेसे अनित्य नहीं है। तथा बुद्धि आदि गुणोका नाश होनेसे गुणी प्रात्मा नष्ट हो जाय सो बात नहीं है, क्योंकि गुणीसे गुण प्रत्यन्त भिन्न होता है। गुण गुणीका तादात्म्य स्वीकार करते तो उक्त दोषकी संभावना थी। इसप्रकार वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का स्वरूप है।

वेदांती-वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्षावस्थामें बुद्धि श्रादि गुणोंका ही श्रभाव है किन्तु हमारा कहना है कि वहांपर चैतन्य भी श्रभाव होता है इसी कारणसे प्रक्षावान उस श्रवस्थाके लिये प्रवृत्ति नहीं करते । मोक्ष तो श्रानंदरूप है ऐसा स्वीकार करना चाहिये । कहा भी है—"श्रानंद परम बहा का स्वरूप है श्रोर वह मोक्षमें श्रमिव्यक्त होता है" इस श्रागम वावयके समान अनुमान भी इसी मोक्ष स्वरूपको सिद्ध करता है─श्रारमा सुख स्वभाववाला है, क्योंकि वह श्रस्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है तथा अनन्य रूपसे ग्राह्म है, ओ जो इसप्रकारका होता है वह बह प्रत्यन्त मुखस्वभाव वाला होता है, जैसे विषय सम्बन्धी सुख श्रत्यन्त प्रिय होता है, श्रारमा अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है ही अतः सुख स्वभावी है । इसप्रकार आत्मा सुख स्वभावी है यह भलीभोति सिद्ध हुआ।

वैषयिकं सुखम्, तथा चारना एवंविषः तस्मात्सुवस्वभावः' इत्यनुमानाश्चास्यानन्दस्वभावताप्रतीतिः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतस्तरसुखं नित्यम्, प्रनित्यं वा ? न तावदनित्यम्; तत्स्वमावतयात्मनोप्यनित्यत्व-प्रसङ्गात् । नित्यं चेत्; तत्संवेदनमपि नित्यम्, व्रनित्यं वा ? यदि नित्यम्; मुक्तं तरावस्ययोरिवशेष-प्रसङ्गः तत्सुवसंवेदनयोनित्यत्वेनोभयत्र सर्वावशेषात् । स्मरणानुपपतिश्चः अनुभवस्यवावस्थानात् । संस्वारानुपपतिश्चः अनुभवस्यवावस्थानात् । संस्वारानुपपतिश्चः अनुभवस्यवावस्थानात् । संस्वारानुपपतिश्चः अनुभवस्यवावस्थानात् ।

श्रय धर्माधर्मफलेन सुलादिना शरीरादिना वा नित्यसुलसंवेदनस्य प्रतिबद्धलेनानुभवाभावाञ्च मुक्त तरावस्थयोरिविषेषः सदा सुलहृबोपलम्भो वा; तदयुक्तम्; शरीरादेः सुलार्षत्वेन तत्प्रतिबन्धक-त्वायोगान्। न हि सद्यदर्षं तत्तस्यैव प्रतिबन्धकं युक्तम्। नापि वैधयिकसुलाद्यनुभवेन तत्प्रतिबन्धः।

वैशेषिक—यह वेदांतीका कथन ठीक नहीं है, मात्माका सुख मित्य है या नित्य, मित्य मानना अर्थक्य है, क्योंकि धात्माके सुखस्वभावको अनित्य स्वीकार करनेपर आत्मा भी ग्रनित्य होवेगा। उस सुखको नित्य स्वीकार करे तो प्रश्न होता है कि उस सुखका मतुभव नित्य हो होता है या प्रनित्य है नित्य होनेपर मुक्त और संसार इन दोनों अवस्थाओं में भेद नहीं रहेगा, क्योंकि सुख और सुखानुभव दोनों नित्य होनेसे उभयत्र ग्रवस्थाओं उनका अस्तित्व समान ही है। श्रव यदि संसार अवस्थाओं भी सुखानुभव सदा हो रहा है तो उसका स्मृति रूप ज्ञान कैसे होवेगा श क्योंकि अनुभवरूप प्रत्यक्षज्ञान सदा विद्यमान है। संस्कार रूप ज्ञान भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि अनुभवमें निरित्य तता है [सदा एकता है] किन्तु संसारी जीवोंमें धारणा रूप संस्कार ग्रवस्था प्राप्त ज्ञान है। संसार ग्रवस्था इन्द्रिय जन्य सुख विद्यमान रहनेसे नित्यसुखके साथ इसका ग्रहण भी अवश्यभावी है ग्रतः सदा दो सुखोंकी उपलब्धि होनेका अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होता है।

श्रंका−धर्म श्रधमंके फल स्वरूप सुखादि एवं शरीरादिके द्वारा नित्य सुखका संवेदन प्रतिहत होता है बतः उसके श्रनुभव का श्रभाव होनेसे मुक्तावस्था और संसारा-वस्थामें समानताका प्रसंग या सदा दो सुखानुभवका प्रसंग प्राप्त नहीं होता ?

समाधान–यह कथन अयुक्त है, शरीरादिक तो सुखके सहायभूत है "भीगाय-तनशरीरम्" ग्रतः शरीरादिको सुखका प्रतिबंधक कहना असत् है । जो जिसके लिये है वह उसका प्रतिबंधक नहीं होता । विषय जन्य सुखादिके अनुभव द्वारा नित्य सुँखका तेन हि नित्यसुक्षस्य तदनुभवस्य वा प्रतिबन्धोऽनुत्पत्तिलक्षरा) विनाशलक्षराो बा न युक्तः; द्वयोरिप नित्यस्वास्युपममात् । न च संसारावस्थायां बाह्यविषयव्यासङ्गाद्विद्यमानस्याप्यनुभवस्यासंवेदनम्, तदमाबात्तु मोक्षावस्थायां संवेदनिमत्यभिषातव्यम्; तदनुभवस्य नित्यत्वेन व्यासङ्गानृपपत्तेः। मासमनो हि व्यासङ्गो रूपादे विषये ज्ञानोरपत्ती विषयान्तरे ज्ञानानृत्पत्तिः, इन्द्रियस्याप्येकस्मिन्विषये ज्ञानाजनकत्वेन प्रकृतस्य विषयान्तरे ज्ञानाजनकत्वम् । स वात्रानुपपत्रः; सुखवत्त्रज्ञानस्यापि सदा सम्बन्धान् । शरीरादेस्तु प्रतिबन्धकत्वे तदपहन्तुहिक्षाक्षनं न स्यात्, प्रतिबन्धकविषातकारकस्योपकार-करवेन लोके प्रतीतेः।

मयानित्यं तत्संवेदनम्; तदोत्पत्तिकारणं बाच्यम् । श्रयं योगज्ञधमपिकः पुरुषान्तःकरण-संयोगोऽसमवायिकारणम् । नन् योगज्ञधर्मस्य मुक्तावसम्भवात् कथमसौ तत्संयोगेनापेक्येतः यतस्तत्र

प्रतिबन्ध होना भी अशस्य है। नित्य सुख धौर उसका झनुभव दोनोंका झनुत्पत्ति रूप प्रतिबन्ध झथवा विनाशरूप प्रतिबन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि सुख धौर झनुभव नित्य है।

शंका—संसार ग्रवस्थामें यह जीव बाह्य विषयमें ग्रासक्त रहता है ग्रत: नित्य सुखानुभवके विद्यमान रहते हुए भी उसका संवेदन नहीं हो पाता, ग्रौर मोक्ष श्रवस्था में बाह्य विषयासक्ति नहीं होनेसे नित्य सुखका संवेदन होता है ?

समाधान-ऐसा कहना ठीक नहीं, युखायुभव नित्य होनेसे प्रात्मादिके विषय व्यासंग या आसक्ति नहीं होना प्रशक्य है। रूपादि विषयमें ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर भ्रन्य विषयमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होना भ्रात्माका व्यासंग कहलाता है, तथा एक विषय में ज्ञानको उत्पन्न नहीं होना भ्रात्माका व्यासंग कहलाता है, तथा एक विषय में ज्ञानको उत्पन्न करने प्रवृत्त होनेपर अन्य विषयमें ज्ञानको उत्पन्न नहीं करना इन्द्रियका व्यासंग कहलाता है, ऐसा व्यासंग नित्यसुखमें भ्रनुपपन्न है, क्योंकि सुद्धके समान उसका ज्ञान भी सदा विद्यमान रहता है। शरीरादिको नित्य सुद्धका प्रतिबंधक माने तो शरीरका घात करनेवाले हिंसकको हिंसाका फल [पापका दुःख रूप फल ] नहीं मिलेगा, उस हिंसकने सुद्धका प्रतिबंधक स्वरूप शरीरको नष्ट किया है भ्रतः वह उपकारक ही कहलायेगा। लोकमें भी यही उक्ति प्रसिद्ध है। नित्य सुद्धका संवेदन भ्रात्मा करता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो उस प्रनित्य संवेदनकी उत्पत्तिमें हेतु कौन है यह प्रश्न होगा? योगज धर्मकी अपेक्षा लेकर होनेवाला आत्मा भीर भवका संयोग उस संवेदनकी उत्पत्तिका भ्रसमवायी कारण है ऐसा उत्तर ठीक नहीं है, मुक्त

ततस्तदुःथत्तः स्यात् ? ग्रयाद्यं योगजघमपिकान्तः—करण्यसंगोगे विज्ञानं जनयित तक्षापेक्योत्तरोत्तरं ज्ञानम्; तदप्यकुक्तम्; न हि शरीरसम्बन्धानपेक्षं विज्ञानमेवान्तःकरण्यसंयोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ सहकारि-कारणं दृष्टम्। न च दृष्टविपरीतं शक्यं कल्पयितुमतित्रसङ्गात्। श्राकस्मिकं तु कार्यं न भवत्येव, श्रहेतोः सर्वत्र सर्वदा भावप्रसङ्गात्।

किञ्च, यथा मुक्तावस्थायामनित्यसुखमतिकस्य नित्यं परिकल्प्यते, तथा नित्यत्वधर्माधिकरस्यं शरीरादिकमपि परिकल्पनीयम् । कार्यत्वात् तस्य कथं नित्यत्वधर्माधिकरस्यत्वम् दृष्टिवरोधादप्रमास्य-कत्वाञ्च ? इत्यन्यत्रापि समानम् । न खलु नित्यसुखसाधकत्वेन प्रत्यक्षानुमानागमानां मध्ये किञ्चिर-

अवस्थामें योगज धर्मका ग्रभाव होनेसे ग्रात्मा ग्रौर मनके संयोगके लिये उसकी ग्रपेक्षा किसप्रकार हो सकती है जिससे कि मुक्तिमें नित्यसुखके संवेदनकी उत्पत्ति हो सके।

शंका-योगज धर्मकी ध्रपेक्षा लेकर होनेवाला मनका संयोग ब्रादिके संवेदन को उत्पन्न करता है फिर उसकी अपेक्षा लेकर उत्तरोत्तर ज्ञान उत्पन्न होते हैं ?

समाधान –यह कथन अयुक्त है, क्योंकि शरीर के सम्बन्धकी अपेक्षा से रहित श्रकेला विज्ञान ज्ञानोत्पत्तिमें मनःसंयोग का सहकारी कारण बनता हुआ कहीं पर देखा नहीं है। देखे हुए पदार्थसे विपरीत की कल्यना करना श्रशक्य है श्रन्यथा आ्रति-प्रसंग होगा। श्राकस्मिक कार्य तो होता नहीं, यदि कार्यको श्रहेतुक माने तो सर्वत्र सर्वदा उसका सद्भाव स्वीकार करना पड़ेगा।

िंकच, जिसप्रकार आप वेदांती मुक्तावस्थामें ग्रनित्य सुखका ग्रतिकम होकर नित्य सुखका होना स्वीकार करते हैं, उसप्रकार वहांपर नित्य धर्मके अधिकरएाभूत शरीरादिको भी स्वीकार करना चाहिये।

शंका−शरीरादिक कार्यरूप है अतः वह नित्य धर्मका ग्राधार किसप्रकार हो सकता है १ क्योंकि टप्ट विरोध एवं ग्रप्रमाणत्वका प्रसंग ग्राता है ?

समाधान—यही दृष्ट विरोध एवं ग्रप्नमाणत्वका प्रसंग संसारावस्थामें नित्य-सुखको माननेमें आता है, क्योंकि प्रत्यक्ष भनुमान भीर ग्रागम इनमेंसे कोई भी प्रमाण नित्य सुखका साधक नहीं है, हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्षकी तो इस विषयमें प्रवृत्ति ही नहीं होती, भीर योगी प्रत्यक्ष इसप्रकार्से प्रवृत्त होता है या अन्यथा प्रवृत्त होता है [ नित्य- प्रवर्ताते, भ्रस्मदादीन्द्रियजप्रत्यक्षस्थात्र व्यापारानुपलस्थात् । 'योगिप्रत्यक्षं त्वेतं प्रवसंतेऽन्यथा वा' इत्यकापि विवादपदापन्नम् ।

यञ्चारमा सुखस्वभाव इत्यनुमानं तदपि न नित्यसुखस्वभावतासाधकम्; सुखस्वभावतामात्र-स्पैवातः प्रसिद्धे : ।

किःव, सुब्रह्मकावत्वं सुव्यत्वजातिसम्बन्धित्वम्, तम्रात्मिन सम्भाव्यते गुणे एवास्योपल-म्भात् । न ह्यंका काचिज्ञातिद्वं व्यगुण्योः साधारणोपतम्यते । प्रच सुव्याधिकरणत्वम्, तम्नः प्रस्य नित्यानित्यविकल्यानुपपत्तेः । तथा सुख्यवस्य सुब्रस्य वाधिकरणतायां तज्ज्ञानस्मापि नित्यानित्य-विकल्पः समानः ।

सुखके ग्राहक रूपसे या अग्राहक रूपसे प्रवृत्त होता है ] यह ग्रघादि विवादके कोटीमें है।

न्नात्मा सुल स्वभावी है इत्यादि रूपसे वेदांती द्वारा उपस्थित किया गया स्रनुमान प्रमाण भी नित्य सुखके स्वभावताका साधक नहीं है उससे तो मात्र सुख स्वभावता की सिद्धि हो सकती है।

तथा सुखत्व जातिका सम्बन्ध होना सुखस्वभावत्व कहलाता है वह म्रात्मामें संभावित नहीं हो सकता, गुणमें ही संभावित होता है, कोई ऐसी एक जाति नहीं है जो गुण और द्रव्य दोनोंमें संभावित हो। म्रात्मा सुखका म्रधिकरणभूत है ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि इस पक्षमें भी नित्य ही म्रधिकरणभूत है म्रथवा म्रनित्य म्रधिकरणभूत है इत्यादि विकल्प होकर कुछ भी सिद्ध नहीं होता। म्रात्मा सुख या सुखत्व सामान्यका म्रधिकरण है ऐसा स्वीकार करनेमें दूसरा दोष यह म्राता है कि उस सुखका संवेदन नित्य होता है म्रथवा म्रनित्य हत्यादि विकल्पोंका समाधान नहीं होता है।

आत्माको सुबस्वभावी सिद्ध करनेके लिये दिये गये अनुमानमें अत्यन्त प्रिय बुद्धि विषयत्व और अनन्यपरतया उपादीय मानत्व हेनु भी अनेकांतिक होनेसे हेत्वा-भासरूप हैं, क्योंकि अत्यन्त प्रियबुद्धि विषयत्वरूप हेनु दुःसके अभावमें भी पाया जाता है, इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है-आत्मा सुख स्वभावी है, क्योंकि वह अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है ऐसा आप वेदांती द्वारा अनुमान प्रमुक्त हुआ था सो इस-अनुमानका-अत्यन्त प्रियबुद्धि विषयत्वनामा हेनु सुखस्वमावी साध्यके समान दुःखामावरूप साधनं च धस्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमनन्यपरतयोगादीयमानत्वं चानेकान्तिकत्वादसाधनम्; दुःखाभावेषि भावात् । ग्रनन्यपरतयोगादीयमानत्व चासिद्धम्; न ह्यारमाऽन्यार्थं नोगादीयते; सुलार्थ-मस्योगादानात् । ग्रत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम्; दु खितायामप्रियबुद्धे रिष भावात् ।

'ग्रानन्दं बहारणो रूपम्' इत्याचागमो नित्यमुखसद्भावावेदकः; इत्यप्यसमोचीनम्; तस्यैतदर्य-त्वासिद्धेः। ग्रानन्दशब्दो ह्यात्यन्तिकदुःसामावे प्रयुक्तत्वादगौणः। च्टरच दुःसामावे सुस्रशब्दप्रयोगः, यथा भाराकान्तस्य ज्वरादिसन्तासस्य वा तदगये।

असाध्यमें भी पाया जाता है, अर्थात् दुःखका अभाव होना भी ग्रंत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है, किन्तु यह दुःखाभाव निःस्वभावरूप होनेसे आत्माका स्वभाव नहीं बन सकता, इस तरह साध्य और असाध्य दोनोंमें रहनेसे यह हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त है। अनन्यपरतया उपादीय मानत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आत्मा सुखस्वभावी है क्योंकि वह अनन्यपरतया उपादीयमान है ध्रयात् आत्माका ग्रात्मामें लीन होना रूप ग्राह्मपना है, अन्यके द्वारा उपादीयमानत्व नहीं है, सो यह अयुक्त है, क्योंकि ग्रात्मा अन्यके लिये उपादीयमान न होवे सो बात नहीं है, मुखके लिये वह उपादीयमान होता ही है। ग्रत्यन्त प्रिय बुद्धि विषयत्व हेतुमें अनैका-न्तिक दोषके समान ग्रसिद्ध दोष भी ग्राता है, क्योंकि ग्रात्मा सिर्फ प्रिय बुद्धिविषय ही हो सो बात नहीं है दुःखित श्रवस्थामें वह अप्रिय बुद्धिका विषय भी होता है।

"ग्रानंदो ब्राह्मणो रूपं" इत्यादि ग्रागम वाक्य नित्य सुलके अस्तित्वको सिद्ध करते हैं ऐसा कहना भी ग्रयुक्त है, क्योंकि उस वाक्यका इसतरहका ग्रयं होना असिद्ध है, वहांपर ग्रानंदशब्दका प्रयोग आत्यन्तिक रूपसे दुःखका अभावरूप ग्रयंमें हुत्रा है ग्रतः गौरा है, देखा भी जाता है कि दुःखके ग्रभाव होनेपर सुख शब्दका प्रयोग है जैसे भारसे आकांत पुरुषका भार कम होनेपर या ज्वरयुक्त रोगीका ज्वर कम होनेपर सुख हुग्रा इसप्रकार सुख शब्दका प्रयोग होता है।

दूसरी बात यह है कि नित्य सुख झात्माके स्वरूपसे अग्रुथक है या पृथक है ? प्रथमनक्ष माने तो जिसप्रकार झात्मस्वरूपका सतत् रूपसे अनुभव होता है उसप्रकार सुखका अनुभव भी सतत् रूपसे होनेके कारण बढ और मुक्त अवस्थाका भेद समाप्त हो जाता है।

किंच, मात्मस्वक्यात्तिस्यमुख्यव्यतिरिक्तम्, तदयतिरिक्तं वा ? प्रथमपक्षे आत्मस्वरूपवत् सर्वदा सुलसीवन्तिप्रसङ्गादवद्यमुक्तयोरिवश्रेषप्रसङ्गः।

प्रनाखिषदाच्छादितस्वात्र स्वप्रकाशानन्दसंबितः संसारितः; इत्यन्यपेशलम्; प्रान्छाखते स्वप्रकाशस्वरूपं वस्तु, यत्तु प्रकाशस्वरूपं तत्कथ्मन्येनाच्छावं त ? मेषादिना त्वादित्यादेराच्छादनं युक्तम् तस्यातोऽर्थान्तरत्वात्, सूर्तस्य मूर्तानच्छादनापत्तेः (दनोपपत्तेः) । घविद्यायास्तु सरवान्यस्वा-स्यामनिवंवनीयतया नुच्छस्वभावत्वात् न स्वप्रकाशानन्दाच्छादकत्वम् । तक्षाद्यः पक्षो युक्तः ।

द्वितीयपक्षोच्ययुक्तः; नित्यसुखस्यात्मनोऽष्योत्तरस्य प्रत्यक्षादेः प्रतिपादकस्य प्रतिषिद्धस्वाद्द्या-षकस्य च प्रदक्षितस्वात् । तक्षपरमानन्दाभिष्यक्तिर्मोकाः ।

वेदांती⊸ग्रनादि कालकी श्रविद्या द्वारा नित्य सुखका श्राच्छादन होनेके कारण संसारी जीवोंको उसका श्रनुभव नहीं हो पाता ।

वैकेषिक—यह कथन असमीचीन है अप्रकाश स्वरूप वस्तुका आच्छादन होना संभव है जो प्रकाशस्वरूप वस्तु है उसका अन्य द्वारा आच्छादन किसप्रकार हो सकता है श्रियांत् नहीं हो सकता, नित्य सुखामुभव तो प्रकाश स्वरूप है। मेघ आदि से प्रकाश स्वरूप सूर्यका आच्छादन कैसे होता है ? ऐसी आशंका भी नहीं करना क्योंकि सूर्यके मेघादि पदार्थ एक तो पृथक् हैं इसरे मूर्त्तका मुत्तंद्वारा आच्छादन होना संभव भी है। किन्तु अविद्या सत्व और असत्व दोनों प्रकारसे ही कथन योग्य नहीं है, अतः कुछ स्वरूप होनेसे उस अविद्या द्वारा स्वप्रकाशरूप आनंद का आच्छादन हो नहीं सकता। अतः आत्मस्वरूपसे नित्य सुख अपूषक् है ऐसा प्रथम पक्ष सिद्ध नहीं होता।

दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि आत्माके इस प्रथक भूत नित्यसुखका प्रति-पादन करनेवाला प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नहीं है ऐसा सिद्ध हो चुका है और बाधक कारण भी कह चुके हैं। अतः परम अनंव की अभिव्यक्ति होना मोक्ष है ऐसा वैदांती का कथन सिद्ध नहीं होता है।

विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्ध अभिमत मोक्षका स्वरूप भी अयुक्त है, क्योंकि संसार अवस्थाके राग युक्त विज्ञानसे रागरहित विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना अञ्चक्य है। जैसे ज्ञानसे ज्ञानांतरमें ज्ञानत्व आता है वैसे रागादिसे रागांतरमें रामत्व भी अवश्य आता है क्योंकि रागादि और ज्ञानका तादात्म्य होता है, नापि विशुद्धज्ञानोत्पत्तिः; रागादिमतो विज्ञानाताः हिकस्यस्योत्पत्ते य्योगात् । यथैव हि बोध्याद्योधस्यता ज्ञानान्तरे तथा रागादेरिष स्यात्तादात्स्यात्, श्रन्यद्या तादात्स्याभावः स्यात् । न च 'बोध्यदेव बोध्यस्पता' इति प्रमाणमस्तिः, विलक्षणादिष कारणाद्विलक्षणकार्यस्योत्पत्तिदर्शनात् । बोधस्य च बोधान्तरहेतुत्वं पूर्वकालभावित्वं समानजातीयस्वमेकसन्तानस्यं वा न हेतुः; व्यभिचारात्, तथाहि-पूर्वकालभावित्वं तत्समानकार्ताः, समानजातीयस्व च सन्तानान्तरज्ञानैर्ग्यभिचारि, तेषां हि पूर्वकालभावित्वं तत्समानजातीयस्य च सत्यापान्तरज्ञानैर्ग्यभिचारि, तेषां हि पूर्वकालभावित्वं तत्समानजातीयस्य च सत्यापा न विवक्षितज्ञानहेतुत्वम् ।

एकसन्तानस्यं च धन्त्यज्ञानेन व्यक्तिचारि । ग्रथ नेष्यत एवान्त्यज्ञानं सर्वेदाऽऽरम्भात्; तथाहि-मरणुशरीरज्ञानमपि ज्ञानान्तरहेतुर्जाधदवस्थाज्ञानं च सुषुप्तावस्थाज्ञानस्येति । नन्तेवं मरणुशरीर-

यदि सराग ज्ञानसे ज्ञानांतरमें सरागत्व प्राना नहीं मानते तो राग धौर ज्ञानका तादात्म्य मानना प्रसंभव होगा। ज्ञानसे ही ज्ञानत्व प्राता है ऐसा कथन भी सर्वथा प्रमाणभूत नहीं है, विलक्षणकारणसे प्रन्य विलक्षणभूतकार्यकी उत्पत्ति होना भी संभव है, जैसे विभिन्न प्राता कंकुर उत्पन्न होता है। विविध्वतान उत्तर कालीन ज्ञानका कारण है ऐसा माननेमें क्या हेतु है १ पूर्व काल भावत्व है अथवा समान जातियत्व है या एक संतानत्व है १ तीनों हेतु व्यभिचार दोष युक्त हैं, कंसे सो बताते हैं—पूर्वकालीन ज्ञान उत्तर ज्ञानका हेतु है, क्योंकि वह पूर्वमें हुआ है, ऐसा माने तो समान क्षणोंके साथ प्रनैकात्विकता होगी, प्रर्थात् कृत्य प्रनेक पुरुषोंके ज्ञान भी उस विविध्यत पूर्वकालीन ज्ञानका लेता होगी, प्रथात् प्रमय प्रनेक पुरुषोंके ज्ञान भी उस विविध्यत पूर्वकालीन ज्ञानको हेतु नहीं हैं, प्रतः पूर्वकाल भावी होने मात्रसे वह उसका हेतु है ऐसा अनुमान वाव्य प्रयुक्त है। समान जातीय होनेसे ज्ञानका हेतु ज्ञान है ऐसा कहना भी युक्ति संगत नहीं, अन्य व्यक्तिके ज्ञान भी समान जातीय होते हैं किन्तु वे इस विविधित ज्ञानके हेतु तो नहीं होते।

एक संतानत्व होनेसे ऋान ज्ञानका हेतु है ऐसा तीसरा हेतुवाला श्रतुमान भी अप्रमाण है, क्योंकि इस हेतुका संतिम ज्ञानके साथ व्यभिचार बाता है, अर्थात् जो एक संतान रूप है वह उत्तर ज्ञानको उत्पन्न करे ही ऐसा नियम नहीं है, योगीका अंतिम ज्ञान उत्तरज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है।

बौद्ध-उत्तरोत्तरज्ञान सदा खरपन्न होते रहनेचे अंतका ज्ञान है ऐसा माना ही नहीं, भरण समयके शरीरका ज्ञान अन्य जन्यके ज्ञानका हेतु होता है एवं आगग्रद अव-स्थाका ज्ञान सुरत अवस्थाके ज्ञानका हेतु होता है। क्षानस्यान्तराभवशरीरक्षानहेतुत्वे गर्भशरीरक्षानहेतृत्वे वा सन्तानान्तरेषि ज्ञानजनकत्वं किन्न स्यान्नि-यउहेतोरमानात् ? प्रवेष्यते एव उपाध्यायक्षानं शिष्यक्षानस्य हेतुः। ग्रन्थस्य कस्मान्न भवति ? कर्म-वासना नियामिका चेन्नः तस्या ज्ञानव्यितरेकेणासम्भवात्। तत्तादारम्ये हि विज्ञानं बोषरूपतया प्रविधिष्टं बोधाक्ष बोधरूपतेत्यविशेषेण ज्ञानं विदस्यात्।

सुषुताबस्याज्ञानस्य आग्नदवस्याज्ञानं कारण्यम्ं इत्यप्यसम्भाव्यम्ः सुषुताबस्यायां च ज्ञाना-म्युपगमे आग्नदवस्यातो विशेषो न स्यादुभयवापि स्वसंविदितज्ञानसङ्कावाविशेषात् । मिद्धे नामिभू-तत्वं विशेषः; इत्यप्यसत्, तस्यापि तद्धमंतया तादात्म्येनाभिभावकत्वायोगात् । तद्वप्रतिरेके तु रूपवेद-

वैशेषिक—मरणकालके शरीरका ज्ञान मध्यके शरीरके ज्ञानका हेतु है अथवा गर्भस्थ शरीरके ज्ञानका हेतु है ऐसा स्वीकार करे तो वह ज्ञान अन्य व्यक्तिके शरीरके ज्ञान हेतु भी हो सकेगा ? क्योंकि हेतु नियत तो रहा नहीं ?

बौद्ध-ग्रन्यव्यक्तिके शरीरके ज्ञानका हेतु होना भी संभव है, क्योंकि उपाध्याय का ज्ञान शिष्यके ज्ञानका हेतु होता हुमा देखा जाता है ?

वैशेषिक—उपाध्यायका ज्ञान शिष्यके ज्ञानका हेतु होता है वैसे ग्रन्थ किसी व्यक्तिके ज्ञानका हेतु क्यों नहीं होता ग्रथवा शिष्यका ज्ञान उपाध्यायके ज्ञानका हेतु क्यों नहीं होता है ?

बौद्ध-कर्म वासनाके नियमके कारण ऐसा नहीं होता ?

वैशेषिक—यह उत्तर अयुक्त है, ज्ञान ही वासनारूप होता है ज्ञानके स्रतिरिक्त वासनाका होना प्रसंभव है, क्योंकि विज्ञान बोघरूपतासे अविशिष्ट [साधारण] रहता है एवं संतानांतरमें ज्ञानसे ज्ञानरूपताको अविशेषरूपसे धारता है ऐसा कथन ज्ञान और वासनाका तादाल्स्य स्वीकार करनेपर ही सिद्ध हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि जाग्रत अवस्थाका ज्ञान सुप्त अवस्थाके ज्ञानका हेतु है ऐसी पूर्वोक्त मान्यता भी असंसव है । सुप्त अवस्थामें ज्ञानको स्वीकार करनेपर जाग्रत अवस्थामें ज्ञानको स्वीकार करनेपर जाग्रत अवस्थामें अत्तर ही नहीं रहेगा, क्योंकि दोनोंमें संविदित ज्ञानका सद्भाव समान रूपसे है ? निद्राद्वारा ज्ञान अभिभृत होता है अतः दोनों अवस्थाओंमें समानज्ञान नहीं है ऐसा कहना भी असत् है, आपके मतमें अभिभव [निद्रा] आदिको भी ज्ञानका धर्म माना है अतः उस तादास्म्यरूप अभिभवद्वारा ज्ञानका अभिभृत होना बनता हो नहीं, यदि निद्रादि अभिभव ज्ञानसे पृथक् सत्ता वाले हैं तो रूप, वेदना आदि पदार्थोंसे पृथक्

नादिपदार्थस्वरूपव्यतिरिक्तं तस्त्वरूपं निरूप्यताम्। प्रश्निभवश्च यदि विनाशः; कथं तत्र ज्ञानस्य सस्त्रं विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम् ? प्रथ तिरोभावः; न; विज्ञानसत्त्वं संवेदनमित्यस्युपगमे तस्यानुपपत्ते:। प्रतः सुपुप्तावस्थायां विज्ञानासत्वेनान्त्यज्ञानसङ्गावादेकसन्तानस्वं व्यक्षिचारीति ।

यञ्चोच्यते-विशिष्टभावनाच्यासवशादागारिविनाशः; तदप्यसङ्गतम्; निहॅतुकत्वादिनाशस्य ग्रम्यासानुपपत्ते त्र । ग्रम्यासी ह्यवस्थिते च्यातयंतिशयाद्यायकत्वेन स्यात्र क्षरिएकज्ञानमात्रे । न च सन्तानापेक्षयाऽतिशयो युक्तः; तस्यैवासत्त्वात्, प्रविशिष्टादिशिष्टोत्पत्ते रयोगाच्च । प्रविशिष्टादि पूर्व-

इनका क्या स्वरूप है यह कहना होगा। तथा प्रभिभवका अर्थ यदि विनाश होना करते हैं तो उस सुप्तावस्थामें ज्ञानका अस्तित्व किसप्रकार सिद्ध करेंगे, एवं विनाश निहेंतुक होता है यह भी किसप्रकार सिद्ध होगा? तिरोभाव होनेको ज्ञानका प्रभिभव कहते हैं ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि आपने ज्ञानकी सत्ताको ही संवेदन माना है अतः उसका तिरोभाव होना अशक्य है। इसप्रकार सुप्त अवस्थामें ज्ञान असत्व ही सिद्ध होता है, एवं अंतिम ज्ञानका सद्भाव सिद्ध होता है अतः एक संतानत्व नामा पूर्वोक्त हेतु व्यभिचारी ही है।

भावार्थ-बौद्धने ज्ञानका संवेदन श्रीर ज्ञानकी सत्ता इनमें श्रंतर नहीं माना है ज्ञान चाहे प्रगट हो या अप्रगट दोनों श्रवस्थाश्रोमें समान है, सो ऐसे ज्ञानका तिरोभाव श्रीर आविभावरूप भेद नहीं हो सकता, अतः सुप्त दशामें ज्ञान अभिभूत होनेके कारण सुप्तावस्था श्रीर आग्रदबस्था इनमें भेद है ऐसा बौद्धका कहना सिद्ध नहीं होता, इसी- लिखे हम वैवेधिकके सान्यतानुसार सुप्तावस्थामें ज्ञानका प्रभाव होना सिद्ध होता है। तथा एक संतानपना होनेसे पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञानको उत्पन्न करता है ऐसा कहना भी श्रीसिद्ध है क्योंकि निर्वाणके संमुख योगीका ज्ञान एक संतानस्थ होते हुए भी श्रीप्रम उत्तर ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है, अतः बौद्ध द्वारा प्रयुक्त एक संतानत्व हेतु व्यक्षिचार दोष युक्त है।

बौद्धोंके यहां मान्यता है कि ब्रिशिष्टभावना धौर अभ्यासके बलसे रागादि का नाश हो जाता है, सो यह भी असत् है, क्योंकि आप नाशको निर्हेत्क मानते हैं। अभ्यास होना तो क्षणिकमतमें सर्वथा असंभव है, क्योंकि ध्याता पुरुष अवस्थित होने पर ही उसमें अभ्यास द्वारा अतिशयस्व आ सकता है, क्षणिक ज्ञानमानमें अतिशय किसप्रकार संभव है ?

ज्ञानादुत्तरोत्तरं सातिवायं कथमुत्पचे त ? तत्कथं योगिनां सकलकत्पनाविकलज्ञानसम्भव इति ?

यच्च 'सन्तानोच्छित्तिनःभ्रेथसम्' इति भतम्; तत्र निर्हेतुकतमा विनाशस्योपायवैयर्थ्य-मयत्नसिद्धत्वादिति ।

श्रन्ये स्वनेकान्तभावनातो विशिष्टप्रदेशेऽक्षयथरीरादिलामो निःश्र्यसमिति सन्यन्ते । तयाहि-नित्यस्वभावनायां ग्रहोऽनित्यत्वे च द्वेष इत्युभयपरिहारार्थमनेकान्तभावना; इत्यप्यपरीक्षिताभिघानम्; मिष्याज्ञानस्य निःश्र्यसकारणत्वायोगात् । ग्रनेकान्तज्ञानं मिथ्येव विरोधवैयधिकरण्याद्यनेकवाधको-पनिपातात् । स्वदेशादिषु सस्वं परदेशादिषु वासस्वम् इतरेतराभावादिष्यते एव । स्वकार्येषु कर्तृःतं कार्यान्तरेषु वाकर्ृस्वं न प्रतिषिध्यते, यद्यस्यान्यय्थतिरेकाम्यामुष्पतौ व्याप्रियमाणमुष्यवर्थं तत्तस्य

बौड-एक ज्ञानमें श्रभ्यास द्वारा श्रतिशय नहीं श्राता किन्तु उत्तरोत्तरज्ञानमें श्राता है, संतानकी श्रपेक्षा श्रतिशयाधायकत्व होना वन जाता है।

वैशेषिक—यह कथन भी ठीक नहीं, संतानका अस्तिस्व ही सिद्ध नहीं होता, तथा अविशिष्ट ज्ञानसे [सराग ज्ञानसे] विशिष्ट ज्ञान [विगुद्ध ज्ञान ] उत्पन्न होना भी अशक्य है, सामान्यरूप पूर्वज्ञानसे उत्तरोत्तर विशेषरूप सातिशय ज्ञान किसप्रकार उत्पन्न किये जा सकते हैं शिथांत् नहीं किये जा सकते । ग्रतः संपूर्ण कल्पना जालसे रहित ऐसा विगुद्धज्ञान योगियोंके होता है ऐसा कहना श्रसिद्ध है ।

बौद्धमतमें ही कोई विद्वान् संतानकी व्युज्छित्ति [नाश] होना मोक्ष है ऐसा कहते हैं उसमें भी विशिष्ट भावनारूप अभ्यास होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि नाशको निहेंतुक माननेसे उसके उपायभूत अभ्यासका करना व्यर्थ ही ठहरता है, वह तो विना प्रयत्नके स्वतः ही होता है।

जैनमतमें अनेकान्तकी भावनासे विशिष्ट प्रदेशमें [सिद्ध शिलापर] ज्ञानरूप शरीरादिका लाभ होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका स्वरूप माना गया है, उनका कहना है कि नित्यधर्ममें आग्रह और अनित्यधर्ममें द्वेष ये दोनों ही अयुक्त हैं ग्रतः दोनोंका परिहार करके धनेक धर्मरूप धनेकांत माना है और उस तात्विक अनेकांतकी भावनासे मोक्षकी प्राप्ति होना स्वीकार किया गया है। किन्तु यह अभिमत भी असत् है, मिथ्याज्ञान मोक्षका हेतु हो नहीं सकता, धनेकांतका ज्ञान मिथ्या ही है क्योंकि उसमें विरोध, वैयधिकरण आदि अनेक वावक कारण हैं। जैन एक ही वस्तुमें सत्वं और

कारसः नान्यस्थेत्प्रम्युपगमात् । तथा मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावत् त इति 'स एव मुक्तः संसारी च' इति, प्रसक्तम् । तथाऽनेकान्तेप्यनेकान्तप्रसङ्गात् सदसन्नित्यानित्यादिरूपव्यतिरिक्तः रूपान्तदमपि प्रसम्ययेतित ।

श्रन्ये त्वात्मकत्वज्ञानात्परमात्मनि लयः सम्पद्धते इति बुवते। तथाहि-भारमेव परमार्थ-सस्ततोऽन्यत्र भेदे प्रमाणाभावात्। प्रत्यक्षं हि पदार्थानां सद्भावस्यव श्राहकं न भेदस्यत्यविद्यासमारो-पितो भेदः; तेप्यतत्त्वज्ञाः; श्रात्मैकत्वज्ञानस्य मिथ्यारूपतया निःश्र्येयसाऽसायकत्वात्। तन्मिथ्यात्वं वार्थानां प्रमाणतो वास्तवभेदप्रसिद्धे।

एवं शब्दाहैतज्ञानमपि मिथ्यारूपतया निःश्रेयसाप्रसाधकं द्रष्टव्यय्। निरस्तं चारमाहैतं शब्दाहैतं च प्रावप्रवन्धेनेत्यलमतिप्रसङ्गोन ।

स्रसत्व मानते हैं स्रतः उसमें विरोधादि दोष आते हैं, हम ंवैशेषिकने तो इतरेतराभाव से स्वप्रदेशादिमें सत्व और पर प्रदेशादिमें स्रसत्व स्वीकार किया है। वस्तुके स्वकार्योमें कर्तृत्व ग्रीर कार्यांतरोंमें स्रकर्तृत्व रूप धर्म भी निषिद्ध नहीं है, क्योंकि खिसकी उत्पत्तिमें सन्वय ग्रीर व्यतिरेकपनेसे जो प्रवृत्त होता है वह उसका कारण माना जाता है भ्रन्यका नहीं, ऐसा माना गया है।

जैन मुक्तिमें भी अनेकांतकी व्यावृत्ति नहीं मानते अतः वही जीव मुक्त और संसारी होनेका प्रसंग आता है। सब अनेकांतरूप है तो अनेकांतमें भी अनेकांत स्वीकार करने का प्रसंग आता है, एवं सत् असत् नित्य अनित्यादिसे भिन्न किसी अन्य रूप होनेका प्रसंग भी आता है।

ब्रह्मार्ड तवादी आत्माके एकत्वका ज्ञान होनेसे परमात्मामें लय होना मोक्ष है ऐसा कहते हैं, एक आत्मा ही परमार्थभूत वस्तु है इससे भिन्न अन्य वस्तुको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थों के सद्भावमात्रका आहक है, न कि भेद का अतः निश्चित होता है कि अविद्याके द्वारा ही भेदभावका आरोप होता है। सो यह मोक्षका स्वरूप भी अयुक्त है, एक आत्मा नामा पदार्थ ही है अन्य नहीं ऐसा आत्म एकत्वका ज्ञान मिथ्या होनेके कारण मोक्षका असाधक है, घट पटादि पदार्थों के भेद वास्तविक हैं अविद्याकित्यत नहीं हैं ऐसा प्रमाणसे सिद्ध होता है अतः आत्म एकत्वका ज्ञान मिथ्या है।

प्रकृतिपुरुषविवेकोपलम्भः स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानलक्ष्मानिःश्रंयसस्य साधनमित्यस्ये । तथाहि-पुरुषार्थसम्पादनाय प्रधानं प्रवत्ते । पुरुषार्थस्य हे था-शब्दाविवषयोपलब्धः प्रकृतिपुरुष-विवेकोपलस्मश्च । सस्पन्ने हि पुरुषार्थं वरितार्थत्वास्प्रधानं न शरीरादिभावेन परिग्मते, विज्ञानं(तं) वा दुष्टतया कृष्टिनीश्त्रीवद्भोगसम्पादनाय पुरुषं नोपसपितः इत्यप्यसाम्प्रतयः प्रधानासत्वस्य प्राणेवो-कृत्वात् । सति हि प्रधाने पुरुषस्य तिवेकोपलम्भः स्यात् । अस्तु वा ततः, तथापि पुरुषस्यं निमत्त-मनपेक्ष्य तस्त्रवन्तेत, प्रपेक्ष्य वा ? न तावदनपेक्ष्यः पुरुकात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तत्रवृत्ति-प्रसङ्गात् । अथापेक्ष्य प्रवन्तेतः किंति तद्यस्य ? विवेकानुष्वस्मः, अष्टः वा ? न तावदिवेकानुष्वस्मः;

ब्रह्माद्वेतके ज्ञानके समान शब्दाद्वेतका ज्ञान भी मिथ्या होनेके कारण मोक्ष का प्रसाधक नहीं है ऐसा समभ्रता चाहिये। तथा आत्मद्वेत [ब्रह्माद्वेत] श्रीर शब्दा-द्वेतका निरसन भी पहले कर चुके हैं श्रतः श्रव अधिक कथन नहीं करते।

प्रकृति ग्रीर पुरुषके भेदका ज्ञान चैतन्यका स्वरूपमें ग्रवस्थान होना रूप मोक्ष का कारण है ऐसा सांख्य कहते हैं, प्रधान पुरुषार्थको संपादित करनेके लिये प्रवृत्ति करता है, प्रवायंके दो भेद हैं, शब्दादि विषयोंकी उपलब्धि होना और प्रधान तथा पुरुषके विवेक की उपलब्धि होना । पुरुषार्थके संपन्न हो जानेपर कृतकृत्य होनेके कारण प्रधान शरीरादि रूपसे परिणमन नहीं करता, जिसप्रकार किसी पुरुष द्वारा दुष्ट रूपसे कूट्रिनी स्त्रीके ज्ञात होनेपर वह कुट्टिनी पुरुषके उपभोगके लिये निकट नहीं स्नाती भयसे दूर ही रहती है उसीप्रकार प्रधान और पुरुषके भेदकी उपलब्धि होनेपर वह प्रधान शरीरादि कार्यमें प्रवृत्ति नहीं करता और इसतरह संसार समाप्त होकर चैतन्यका स्वरूप में ग्रवस्थान होता है इसीको मोक्ष कहते हैं। इसप्रकार का सांस्यका मंतव्य भी भ्रयुक्त है। प्रधानका भ्रस्तित्व नहीं है ऐसा पहले ही कह दिया है प्रधान नामा तत्त्व होवे तो उसका और पुरुषका विवेक उपलब्ध होसकता है। प्रधानके अस्तित्व को माने तो भी प्रश्न होता है कि वह प्रधान पुरुषमें स्थित निमित्तकी ग्रुपेक्षा किये विना प्रवृत्ति करता है अथवा अपेक्षा लेकर प्रवृत्ति करता है ? विना अपेक्षा किये तो प्रवृत्ति कर नहीं सकता, अन्यवा मुक्तारमामें भी शरीरादिके संपादनके लिये प्रवृत्ति करने लगेगा। अपेक्षा लेकर प्रवृत्ति करता है ऐसा द्वितीय पक्ष माने तो पुनः प्रश्न होता है कि पुरुष में स्थित निमित्तकी श्रपेक्षा लेकर प्रकान की प्रवृत्ति होती है सो वह निमित्त कौनसा है. विवेकका भ्रमुपलंभ या अटब्ट ? विवेकका अनुपलंभ कहो तो ठीक महीं क्योंकि विवेक तस्य विवेकोपलम्भविनश्रःतेन मुक्तारमन्यपि सम्भवात् । न बानुत्पत्तिवनारायोरसस्तेन विशेषं परमामः । डितीयविकत्योप्ययुक्तः; भष्टस्यापि प्रधाने शक्तिरूपतया व्यवस्थितस्यो भयत्राविशेषात् ।

दुष्टतया च विज्ञातं प्रचानं पुरुषं नोपसपैतीति चायुक्तम्; तस्याचेतनतया 'श्रहननेन दुष्टतया विज्ञातम्' इति ज्ञानासम्भवात् । ततः पूर्वेवस्त्रवृत्तिरविशेषेशुँव स्थात् इत्यलमतिप्रसङ्गे न ।

तदा द्रष्टु: स्वरूपेऽवस्थानं मोका' इति चाम्युपगतमेव, विशेषगुगारहिताश्मस्वरूपे तस्याव-स्थानाभ्युपगमात् । 'चिद्रूपेऽवस्थानम्' इत्येतत्तु न घटते; प्रनित्यत्वेन विद्रूपताया विमाशात् । न

की उपलिब्धि नष्ट होना विवेकका अनुपलंभ है और यह मुक्तात्मामें भी संभावित है, क्योंकि विवेककी अनुत्पत्ति और विवेकका विनाश इन दोनोंमें असत्वकी अपेक्षा तो कुछ भी भेद दिखायी नहीं देता।

भावार्थ-सांख्य यदि कहें कि संसार अवस्थामें प्रकृति और पुरुषमें विवेकके उपलब्धिकी अनुत्पत्ति है और मुक्त अवस्थामें विवेक उपलब्धिका विनाश है सो इनमें सत्व की अपेक्षा कोई भेद दिखायी नहीं देता, विवेक उत्पन्न नहीं हुआ और विवेकका नाश हुआ सो अभावकृत भेद नहीं होनेसे कोई विशेषता नहीं है। पुरुषमें स्थित जो निमित्त है वह अदृष्ट है और उसकी अपेक्षा लेकर शरीरादिके संपादनमें प्रधान की प्रवृत्ति होती है ऐसा द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, अदृष्ट भी प्रधानमें शक्तिरूपसे उभय अवस्थाओं में [संसारावस्था और मुक्तावस्था] विद्यमान है कोई विशेषता नहीं है।

दुष्टरूष्पसे ज्ञात हुम्रा प्रधान पुरुषके निकट नहीं जाता ऐसा पूर्वोक्त कथन तो युक्ति संगत नहीं होता, क्योंकि प्रधान म्रचेतन है, अतः "मैं इसके द्वारा दुष्टपनेसे ज्ञात हो चुका हूं" ऐसा ज्ञान होना मसंभव है, इसलिये वह तो ज्ञात होनेपर भी पहले के समान प्रवृत्ति करता ही रहेगा। इसप्रकार सांख्य परिकल्पित मोक्षका स्वरूप असिद्ध है, इस विषयमें अब मधिक नहीं कहते।

हण्टा आरमाका स्वस्वरूपमें धवस्थित होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका स्वरूप मानना हमको [ नैयायिक-वैशेषिक को ] भी इष्ट है विशेष गुण रहित धारमाके स्वरूपमें स्थित होना रूप मोक्ष हम भी स्वीकार करते हैं, किन्तु चैतन्य स्वरूपमें अवस्थित होना रूप मोक्षका विशेषण घटित नहीं होता, क्योंकि चैतन्यत्व अनित्य होनेके कारण नष्ट होता है। इन्बियादिके साथ अन्वय व्यतिरेक होनेके कारण चैतन्य जाक्षाद्यन्वयव्यतिरेकानुविद्यायिन्यास्तस्या नित्यत्वे प्रमास्प्रमस्ति । प्रात्मस्वरूपतास्तीति चेत्; ननु जिद्गूपतास्मनोऽभिन्ना, भिन्ना वा स्यात् ? श्रभेदे पर्यायमात्रम् 'श्रात्मा, जिद्गूपता च' इति, तस्य च नित्यस्वाम्युपगमात् सिद्धसाध्यता । भेदे तु संयोगादिभिप्तनेकान्तिकत्वम्, तेषामात्मधर्मत्वेषि नित्यत्वा-भावात् । गुरागुरातिश्रेक्ष तादात्म्यविरोषादिस्युपरम्यते । ततो बुद्धभादिविशेषमुस्रोच्छेदविशिद्यात्म-स्वरूप एव मोक्षस्तत्त्वज्ञानादिति स्थितम् ।

भत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोत्यन्तमुन्छियते; तत्रा-स्मनो भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानामात्मन्येव समवायादिना वृत्यसिद्धं: प्रागेवोक्तत्वात् कथमात्म-

नित्य है ऐसा कहना भी प्रमाणढारा सिद्ध नहीं होता। ब्रात्मरूपता होना यही प्रमाण है अर्थात चैतन्यत्व तो ब्रात्मरूपता हो है और वह नित्य है ही ? ऐसा कहो तो प्रश्न होता है कि चैतन्यरूपता आत्मासे भिन्न है कि अभिन्न ? अभिन्न कहो तो नाममात्रका भेद रहा ब्रात्मा और चिद्रूपता, ऐसी आत्मरूपताको नित्यपनेसे स्वीकार करने के कारण सिद्ध साध्यता है। ब्रात्मासे भिन्न होकर भी चिद्रूपता नित्य है क्योंकि वह ब्रात्माका धर्म है ऐसा भिन्नताका द्वितीयपक्ष स्वीकार करे तो संयोगादिक साथ अनैकानितकदोष ब्राता है, क्योंकि संयोगादिक आत्माके धर्म होते हुए भी नित्य नहीं हैं। गुण और गुणीमें तादात्म्य माननेमें विरोध भी ब्राता है, इस विषयमें अब ब्राधिक नहीं कहना है, अतः सिद्ध होता है कि बुद्धि ब्रादि विशेष गुणोंका उच्छेद होकर विशिष्ट आत्म स्वरूप रहना ही मोक्ष है और वह तत्त्व ज्ञानसे प्राप्त होता है।

जैन-श्रव यहां पर वैशेषिकके संपूर्ण मंत्रव्यका निरसन किया जाता है, श्रात्माके विशेष नौ गुणोंकी संतान अत्यन्त उच्छित्र होती है ऐसा वैशेषिकने कहा किन्तु बुद्धि श्रादि विशेष गुण आत्मासे भिन्न नहीं हैं उनका समवायादि संबंधसे श्रात्मासे रहना सिद्ध नहीं होता ऐसा पहले ही निश्चित किया है, अतः श्रात्माके विशेष गुणोंकी संतान किसप्रकार सिद्ध हो सकती है जिससे कि उक्त संतानत्व हेतुं ब्राश्र्यासिद्ध दोष मुक्त न हो १ तथा आपने इन विशेष गुणोंको अस्वसंविदित [स्वयंके श्रनुभवसे रहित] माना है श्रतः संतानत्व हेतु फिर भी श्राश्र्यसे रहित हो जाता है।

विशेषार्थ-विशेषिक गुणीसे गुणोको भिन्न मानते हैं, समवाय सम्बन्ध द्वारा उन भिन्न गुणोका गुणीमें सम्बन्ध होता है, बुद्धि द्यादि विशेषगुण आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं, ऐसा इनका कहना है किन्तु यह असत् हैं क्योंकि बुद्धि चित्रेषगुरामां सन्तानः सिद्धो यतः हेतीराश्रयासिद्धिनं स्वात् ? तचा तेषां मरेणास्वसंविदितस्वेना-ंन्युपगमात् । ज्ञानान्तरप्राह्मत्वे चानवस्यादिदोषप्रसक्तेः, श्रक्षानस्य च सत्त्वाप्रसिद्धेः पुनर्प्याश्रया-सिद्धत्तम् । प्रात्मनोऽभिन्नानां तत्साघने तु तस्याप्यत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यादौ मोकः ? कपित्वद-भेदस्तु नाम्युपगम्यते । भम्युपगमे वा नात्यन्तोच्छेदसिद्धः इत्यनन्तरं वक्ष्यामः ।

सन्तानत्वं च हेतुः सामान्यरूपम्, विद्येषरूपं वा ? सामान्यरूपं श्रेत्; परसामान्यरूपम्, प्रपर-सामान्यरूपं वा ? प्रथमपक्षे गगनादिनानेकान्तः; प्रत्यन्तोच्छेदाभावेष्यत्र हेतोर्वर्तनात् । सत्तासामान्य-रूपत्वे च सन्तानत्वस्य सत् सत्' इति 'प्रत्यप्रहेतुर्वमेव स्थात् व पुनः सन्तानप्रस्थयहेतुत्वम् । प्रथ

अादि गुण आत्मासे सर्वथा पृथक हैं तो उनका सम्बन्ध आत्मामें हो हो अन्य आकाशादि द्वयों में न हो ऐसा नियम नहीं वन सकता, जब आत्माके विशेषगुण ही सिद्ध नहीं होते तो उनके संतानका उच्छेद होना रूप मोक्ष भी किसप्रकार सिद्ध हो सकता है १ प्रयान् नहीं होता । अतः वैशेषिक द्वारा प्रयुक्त अनुमान प्रसत् है कि बुद्धि आदि विशेष गुणों की संतान प्रत्यन्त नष्ट हो जाती है क्योंकि वह संतानरूप है। यह संतानत्व हेतु पूर्वोक्त रीत्या आध्ययामिद्ध [ आध्य रहित ] उहरता है क्योंकि विशेषगुण ही सिद्ध नहीं है तो उनकी संतान किस आध्यमें रहेगी १ बुद्धि मादि गुणोंको ने लोग अस्वसंविदित मानते हैं, सो इस विषयमें पहले स्वसंवेदन ज्ञानवाद प्रकरणमें [प्रथम भागमें] विश्वदिरीत्या प्रतिपादन कर चुके हैं कि बुद्धि मादि गुण स्वयंके द्वारा आवाल गोपलोंको संवेदनमें आ रहे हैं।

उन गुणोंको अन्य ज्ञान द्वारा प्राह्म माने तो अनवस्था आदि दोषोंका प्रसंग आता है, इस तरह अज्ञानरूप उन गुणोंकी सत्ता ही सिद्ध नहीं हो पाती, इसीलिये संतानत्व हेतु आव्यासिद्ध है। यदि उन गुणोंको आत्मासे अभिन्न सिद्ध किया जाय तो गुणोंके अत्यन्त उच्छेदसे बात्माका भी अत्यन्त उच्छेद हो जायगा फिर यह मोक्ष किसके होगा ? बुद्धि आदि गुण आत्मासे कथंचित् अभिन्न हैं ऐसा तो आप मानते नहीं, यदि मान लेवें तो भी गुणोंका अत्यन्त उच्छेद तो कथ्रमिष सिद्ध नहीं होता ऐसा इसी प्रकरणमें आगे सिद्ध करेंगे।

पूर्वोक्तः संतानत्व हेतु सामान्यरूप है या विशेषरूप है शिसानव्यरूप है तो परसामान्यरूप है ध्रथवा अपर सामान्यरूप है शिष्ठमपक्ष मानो तो आकाशादिक साथ अनैकांतिकता आसी है, क्योंकि आकाशादिमें अत्यन्त उच्छेद होनारूप साध्यके नहीं विषेषमुखान्त्रिता जातिः सन्तानत्वम्; तहि द्रव्यविषेषे प्रवीपष्टान्ते तस्याऽसम्भवासाधनविकलो स्क्रान्तः। न च सन्तानत्वं परमपरं वा सामान्यं सर्वया त्रिन्नं बुद्ध्याविषु वृत्तिमत्प्रसिद्धम्; तद्वृत्तेः सभ्वायस्य प्रतिविद्धत्वात् इति स्वरूपासिद्धत्वम् ।

मय विशेषरूपम्; तत्राच्युपादानोपादेषमूतबुद्ध्यादितझराझराविशेषरूपम्, पूर्वपिरसमान-जातीयक्षराप्रवाहमात्ररूपं वा ? प्रथमपक्षे सन्तानत्वस्यासाधाररागनेकान्तिकत्वं तवाभूतस्यास्या-

होते हुए भी परसामान्यरूप संतानत्व हेतु रहता है। दूसरी बात यह है कि इस हेतुको सामान्यरूप स्वीकार करे तो यह हेतु "सत् है सत् है" इतना ही ज्ञान करा सकेगा यह संतान है ऐसा ज्ञान नहीं करा सकता। विशेष गुणोंके ग्राध्रित रहने वाले ग्रपरसामान्य रूपको संतानत्व कहते हैं ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो उक्त श्रनुमान में दिया गया इंट्यांत साधन विकल [हेतुसे रहित] होता है अर्थात् संतानपना होनेके कारण बुद्धि आदि गुणोंकी संतान नष्ट होती है, जैसे दीपककी संतान नष्ट होती है, इस दीपकके इंट्यांत में हेतुका ग्रभाव है क्योंकि संतानत्वका अर्थ विशेषगुणके श्राध्रयमें रहनेवाला अपर सामान्यरूप किया है, सो ऐसा प्रपर सामान्यरूप विशेष गुणाध्रित संतानत्व दीपकरूप द्रव्योंने नहीं रहता। दूसरी वात यह है कि सर्वथा भिन्न पर सामान्यरूप संतानत्व श्रथवा भपर सामान्यरूप संतानत्व श्रुद्ध ग्रादिमें रहना भी अशक्य है क्योंकि समवायका निरसन हो चुका है, इसप्रकार संतानत्व हेतु स्वरूपासिद्ध दोष ग्रुक्त भी होता है।

भावार्थ-जिस हेतुका स्वरूप सिद्ध न हो उसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं, प्रकृतमें संतानत्व हेतुका स्वरूप भी सिद्ध नहीं है, क्योंकि पर सामान्य या ग्रपर सामान्यरूप संतानत्व बुद्धि ग्रादि गुणोंमें समवाय सम्बन्धसे रहता है ऐसा वैभोषिक ने कहा, किन्तु समवाय नामा पदार्थका पहले खंडन हो चुका है, जब समवायका ही ग्रास्तित्व नहीं है तब उसके द्वारा संतानत्वका बुद्धि ग्रादि गुणमें रहना भी किसप्रकार संभव है ? ग्रतः यह हेतु स्वरूपासिद्ध दोष युक्त है ।

संतानत्व हेतु विशेषरूप है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो वह विशेष कौनसा है उपादान उपादेय भूत बुद्धि आदि लक्षण वाले क्षण विशेष रूप है भ्रयवा पूर्वापर समान जातीय क्षणोंका प्रवाह रूप है ! प्रयम पक्ष माने तो संतानत्व हेतु असाधारण भ्रनैकान्तिक दोष युक्त होगा, क्योंकि ऐसा हेतु भ्रन्यत्र [ प्रदीप स्प्टांतमें ] नहीं पाया न्यज्ञाननुषुत्ते:। धम्युरगर्धावरोषक्रः; स सन् परेण बृद्ध्यादिकस्यौगदानोअरोऽसिक्षो बृद्ध्यादि-क्षरगोऽम्युरगम्यते । अन्यया मृक्त्यऽवस्थायामपि पूर्वपूर्वभृद्धधाच्यादानक्षरगानुत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्यादि-क्षरगोत्पत्तिप्रसङ्काम् बृद्ध्यादिसन्तानस्यात्यन्तोच्छेदः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु पाकजपरमास्युरुपादिना-नेकास्तः; तथाविश्वसन्तानस्यस्यात्र सङ्कावेष्यत्यन्तोच्छेदाभावात् ।

जाता । श्रापके मान्यतामें भी विरोध होगा, क्योंकि बुद्धि आदि क्षणोंका उपादान अन्य श्रिक्षल बुद्धि क्षण है ऐसा आपने माना हो नहीं । यदि ऐसा हटाग्रहसे मान लेंगे तो मुक्तावस्थामें भी पूर्व पूर्व बुद्धि झादि उपादान भूत क्षणसे उत्तरोत्तर उपादेयभूत बुद्धि झादि क्षण की उत्पत्ति होनेका प्रसंग झाता है, फिर बुद्धि झादिके संतानका श्रुत्यन्त उच्छेद होना मोक्ष है ऐसा झापका प्रभिमत सिद्ध नहीं हो सकता । पूर्वापर समान जातीय क्षणोंका प्रवाहरूप विशेषको संतानत्व कहते हैं ऐसा द्वितीयपक्ष माने तो पाकजपरमागुओंके रूपादिगुणोंके साथ संतानत्व हेसु व्यभिचरित होता है, क्योंकि उनमें पूर्वापर समान जातीय क्षणोंका प्रवाह रूप संतानत्व तो पाया जाता है किन्तु उस संतानत्वका ग्रुत्यन्त उच्छेद नहीं होता ।

भावार्थ-श्रात्माके बुद्धि प्रादि नौ विशेष गुणोंकी संतान सर्वथा नष्ट होती है। मुक्तावस्थामें वह संतानरूप है, जैसे दीपककी संतान नप्ट होती है। मुक्तावस्थामें आत्मीक गुणोंका ग्रभाव सिद्ध करनेके लिये वैशेषिक यह अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हैं, इसमें संतानत्व हेतु है ग्रीर गुणोंकी संतान सर्वथा नष्ट होना साध्य है एवं प्रदीप का दृष्टांत है। संतानंक भावको संतानत्व कहते हैं 'संतानस्य भावः संतानत्वम्', किसी पंदार्थके वाचक शब्दमें त्व प्रत्थय आता है तो वह उस पदार्थमें होनेवाले सामान्य धर्म का उल्लेख करता है ग्रीर वह सामान्य धर्म सामान्य नामा एक पदार्थसे समवाय नामा सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध होता है ऐसा वैशेषिक सिद्धांत है। सामान्य नामा पदार्थके दो प्रकार हैं पर सामान्य ग्रीर अपर सामान्य, संतानत्व हेतुमें कीनसा सामान्य पाया जाता है ऐसा जैनने प्रभन किया तब उसका कोई भी समाधान कारक उत्तर नहीं मिल सका, क्योंकि परसामान्य को हेतु मानते हैं तो ग्राकाशादिके साथ व्यभिचार ग्राता है, आकाशादिमें परसामान्य तो पाया जाता है किन्तु उसका सर्वथा नाश नहीं होता ग्रतः जो परसामान्य रूप संतान हो वह सर्वथा नष्ट होती है ऐसा काम क्यभिचरित हुन्ना। संतानत्व हेतुको अपर सामान्य रूप मानते हैं तो प्रदीप काम क्यभिचरित हुन्ना। संतानत्व हेतुको अपर सामान्य रूप मानते हैं तो प्रदीप

िकरदश्कार्यः हेतुः । कार्यकारता मुस्तवाराप्रकारलकारासकात्रवस्यः एकान्तनित्यवद्शित्येप्य∗ः सम्मवात्, धर्षक्रियाकारितकत्यातेकान्के एवः प्रतियादिक्यमारात्कात् ।

शब्दविर्धुत्प्रदीपादीनामध्यस्येत्वेच्छ्वतसम्भवात् साध्यविकलो स्टान्तः। न व ध्वस्तस्यापि प्रदीपादेः परिएएमान्तरेए स्वत्यस्युप्यमे प्रत्येश्ववाद्यः वादिः स्थिते तिर्णतः मासुरस्यम्युप्यमेषि तत्प्रसङ्गात् । प्रचोष्णस्यक्षेत्रः भासुरस्याधिकराणतेजोद्यधाभावेऽसम्भवात् तत्रानुद्धः तस्यास्य परिकस्यनम्भवातः; तिहं 'प्रदीपादेरध्यनुपादकात्वेते दिव प्रनत्यास्यातोऽपरापरएएमा।धारत्यमन्तरेए सत्यक्ष्वकात्वादिकं न सम्भवति इत्यनुपानतस्तरेलन्तर्यमुक्ष्यः किम् कल्यते ? तथाहि-पूर्वापरस्यभावपरिहारावामित्यतिलक्षण्यरिएगावान् प्रदीपादिः सत्वात् कृतकत्वाद्या घटादिवत् ।

हण्टात हेतुसे विकल होता है, क्योंकि प्रपर सामान्यका अर्थ विशेष गुएके आश्रित रहनेवाला धर्म किया है, ऐसा अपर सामान्य प्रदीपमें नहीं है, प्रदीप तो द्रव्य है, अतः सतानत्व हेतु साधन विकल होनेके कारण सदोप है। इसीप्रकार इस हेतुको विशेष रूप माने तो भी अनेक दोष आते हैं।

संतानत्व हेतु विरुद्ध दोष युक्त भी है, क्योंकि कार्यकारणभूत क्षणोंका प्रवाह रूप लक्षणवाला संतानत्व एकांत नित्यके समान प्रानित्यमें पाया जाना भी प्रसंभव है, प्रयात् कार्य कारणभाव सर्वया नित्य और सर्वया प्रतित्यरूप पदार्थमें होना ग्रसंभव हैं। प्रयंक्रियाकारीपना कथंबित् नित्यानित्यात्मक वस्तुमें होना ही शक्य है ऐसा हम प्रागे प्रतिपादन करने वाले हैं।

संतानका सर्वथा उच्छेद सिद्ध करनेके लिये दीपकका हष्टांत प्रयुक्त किया है, वह साध्य विकल है, क्योंकि विद्युत, शब्द, प्रदीपादि की सतान सर्वथा उच्छिन्न नहीं होती। दीपक ग्रादिके नष्ट होनेपर भी वे अन्य परिणामरूपसे अवस्थित रहते हैं ग्रीर ऐसा माननेमें प्रत्यक्ष बाधा भी नहीं ग्राती, यदि बाधा आना माने तो उष्ण जलमें स्थित ग्रानमें मासुररूपको ग्रापने माना है उसमें भी बाधा ग्रायेगी।

वैक्षेषिक—भासुर रूपका अधिकरणभूत अग्नि द्रव्यके ग्रभावमें उष्णस्पर्श होना स्रसंभव है सतः उष्ण जनमें अप्रगटभूत भासुर रूपका सद्भाव स्रनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं?

जैन–तो फिर दीपक भ्रादिमें भी अंतिम श्रवस्थामें अन्य ग्रन्य परिणाम का भ्राभारपना स्वीकार किये विना सत्त्व कृतकस्व आदि वर्मका होना आसंभव है जुक सत्प्रतिपक्षरचः, तथाहि-चुद्दध्यादिसन्तानो नात्यन्त्रोच्छेदवान्, श्रखिलश्रमाणानुशलम्यमानत थोच्छेदत्वात्, य एवं स न तत्त्वेनोपेयो यथा पाकजपरमास्गुरूपादिसन्तानः, तथा चायम्, तस्मान्नात्य-न्तोच्छेदवानिति । न च प्रस्तुतानुमानत एव सन्तानोच्छेदग्रतीतेः सर्वप्रमास्मानुपलम्यमानतथोच्छेदरव-

दीपकादिकी बिना उपादानके उत्पत्ति होनेका प्रसंग भी अवश्यंभावी है, इन प्रत्यक्ष वाधाओं के कारण दीपकादिके संतानका सर्वथा उच्छेद नहीं होता ऐसा क्यों न माना जाय ? अनुमान प्रमाण द्वारा भलीभांति सिद्ध होता है कि प्रदीप श्रादि पदार्थ पूर्व स्वभावका त्याग श्रीर उत्तर स्वभावकी प्राप्ति एवं स्थिति रूप परिणमन वाले हैं, क्योंकि वे सत्तारूप एवं इतक रूप होनेसे परिणमन वाले हैं ?

विशेषार्थ-वैशेषिक पृथ्वी, जल, ग्रांगि एवं वायुको सर्वथा पृथक् द्रथ्य मानते हैं इन द्रव्योंके परमाणु कभी भी परस्पर रूप परिणमन नहीं करते, इन पृथ्वी श्रांदि द्रव्योंके धारण द्रवन ग्रांदि गुणधर्म भी अपनेमें समाविष्ट हैं। ग्रांगिक जलमें स्थित होनेपर उसका उष्णधर्म तो प्रगट रहता है किन्तु भासुर धर्म [ चमकीलापन ] मात्र तिरोभूत होता है, नष्ट नहीं होता, यदि इसका नाश माने तो उसका साथी उष्ण धर्म एवं इन दोनोंका आधारभूत ग्रांगिनद्रथ्य के नाश होनेका प्रसंग श्राता है। इस केशिषक सिद्धांतको लेकर आचार्यने कहा कि विद्युत, प्रदीप ग्रांदि पदार्थकी संतान भी सर्वथा नष्ट नहीं होती न इनकी उत्पत्ति विना उपादानके होती। जिसप्रकार उष्णु जलमें भासुरपना मानना प्रत्यक्ष विद्युत श्रं स्वीकार करते हैं उसीप्रकार दीपकके बुक्त जानेपर उसका ग्रस्तित्व ग्रन्थ परिणामरूपसे रहता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये, किसी भी सत्तामूलक पदार्थका सर्वथा नाश नहीं होता यह ग्रटल सिद्धांत है, अतः बुद्धि ग्रांदि गुणोंका ग्रत्यन्त उच्छेद होना सिद्ध नहीं होता ।

संतानत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष युक्त भी है, यथा—बुद्धि ग्रादि गुणोंकी संतान ग्रत्यन्त उच्छित्र होनेवाली नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रमाण द्वारा वैसा उच्छेद होना सिद्ध नहीं होता, जो इसप्रकार प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता उसे वास्तविक रूपसे स्वीकार नहीं करते, जैसे पाकज परमाणुग्रोंके रूपादि गुणोंकी संतान ग्रत्यन्त उच्छिन्न होना नहीं मानते, बुद्धि ग्रादि गुणों की संतान भी प्रमाण द्वारा उच्छित्र होना सिद्ध नहीं होती ग्रतः वह ग्रत्यन्त उच्छेद होनेवाली नहीं है। वैशेषिक द्वारा प्रस्तुत किये गये

अभिद्वसः, सन्तानस्वसायनस्यासरप्रतिपक्षस्यासिद्धः, तित्सदौ हि हेदोगंमकत्वम् । कालात्ययापदिष्टस्वं च, धनेनैद्वानुमानेन वाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात् ।

शक् तस्वज्ञानस्य विपयंयज्ञानस्यवच्छेरकमेरा निःश्येयसहेतृत्वमित्युक्तम्, तदप्पुक्तिमात्रक् तती विपयंयज्ञानत्व्यवच्छेरक्रमेरा धर्माधर्मयोस्तत्कायंस्य व शरीरादेरभावेषि श्रनन्तातीन्त्रियाखिलपदार्थ-विषयसम्यग्ज्ञानसुखादिसन्तानस्याभावासिद्धः। इन्द्रियवज्ञानादिसन्तानोच्छेदसाघने व सिद्धसाघनम् । इन्द्रियाखपाये ज्ञानादिसन्तानसद्भावश्वसोधकासिद्धिप्रस्तावे प्रतिषादितः। कथं चातीन्द्रियज्ञानाचनम्यु-

संतानत्व हेतुवाले अनुमानसे संतानका सर्वथा उच्छेद होना सिख होता है अतः "सर्व प्रमाण द्वारा वैसा उच्छेद होना असिख हैं" ऐसा हमारे द्वारा प्रयुक्त हुआ हेतु असिख दोष युक्त है ऐसी आशंका भी नहीं करना, क्योंकि वैशेषिकके संतानत्व हेतुका असत्प्र-तिपक्षपना असिख है, हेतुका असत् प्रतिपक्षरन सिख होनेपर ही वह प्रपमे साध्यका गमक होता है अन्यथा नहीं । संतानत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी है, क्योंकि इसी अनुमान द्वारा [ बुढि आदि गुणोंकी संतान अत्यन्त उच्छित्र होनेवाली नहीं है—इत्यादि अनुमान द्वारा ] संतानत्व हेतुका पक्ष वाधित होता है, जिस हेतुका पक्ष प्रमाण द्वारा वाधित होता है उसको कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहते हैं । इसप्रकार संतानत्व हेतु असिख, विकट, प्रनेकांतिक, सत्प्रतिपक्ष और कालात्ययापदिष्ट हन पांचों ही दोवों से युक्त होनेके कारण स्वसाध्यको [ बुढि आदिगुणोंका अत्यन्त नाश होना ] कथमपि सिख नहीं कर सकता ऐसा निश्चय हुआ।

तस्वज्ञानसे विपरीतज्ञान का नाश होता है और कमसे वर्गादिका नाश होकर मोध होता है, अतः तस्वज्ञान मोक्षका हेतु है ऐसा पूर्वोक्त कथन भी अयुक्त है, तस्वज्ञानद्वारा विपरीत ज्ञानका व्यवच्छेद एवं कमसे वर्मावर्म तथा उनके कार्यभूत शरीरादिका नाश होनेपर भी अनंत अतीन्द्रिय अखिल पदार्थोंको विषय करने वाला सम्यन्ज्ञान तथा सुखादि संतानोंका नाश होना असिद्ध है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञानादि संतान
का उच्छेद करना इष्ट हो तो यह संतानत्व हेतु सिद्ध साधन है, सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरण
में हम इसका प्रतिपादन कर चुके हैं कि सर्वज्ञ अवस्था एवं मुक्तावस्थामें इन्द्रियादिक
नहीं रहनेपर भी ज्ञानादि संतानका सद्भाव पाया जाता है। यदि अतीन्द्रिय ज्ञानादि
को न माना जाय तो महेश्वर में उसका अस्तित्व किसप्रकार सिद्ध होमा १ ईश्वर का
ज्ञान नित्य है इस मान्यताका निरसन तो ईश्वर का निराकरण करते समय हो चुका

पगमे महेरवरे तस्तद्भावः स्यात् ? नित्यत्वं चेरवरज्ञानस्येरवरिनराकरणे प्रतिषिद्धम् । शरीराष्ट्या-येप्यस्य ज्ञानाश्यम्युपगमेऽन्यात्मनोपि सोस्तु तत्स्वभावत्वात् । न च स्वभावापाये तद्वतोऽवस्यान-मतिप्रसङ्गात् ।

यत् क्तम्-प्रारब्धकार्ययोदचोपभोगात्प्रक्षयः; तदिण न सूक्तम्ः; उपभोगात्कर्मणः प्रक्षये तदुप-भोगसमये अपरकर्मनिमित्तस्याभिलाषपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारादेः सम्भवात् प्रविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भवतः कथमात्यन्तिकः प्रक्षयः ? सम्यग्जानस्य तु मिथ्याज्ञानोच्छेदक्रमेण बाह्याम्यन्त-रिक्रवानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपवृ हितस्यागामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत् सन्वितकर्मक्षयेषि सामर्थ्यं सम्भाव्यत एव । यथोष्णम्पर्वास्य भाविशीतस्यर्शानुत्पत्तौ सामर्थ्यवत् प्रवृत्तत्स्यशादिष्वसंमि सामर्थ्यं प्रतीयते । किन्तु परिणामिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यन्नानम्, न पुनरेकान्तनित्यानित्यास्मादिन

है। तथा महेश्वरके शरीरादिके नहीं रहने पर भी ज्ञानादि गुणोंका सद्भाव स्वीकार किया जाता है तो अन्य आत्माके ज्ञानादि गुणोंका सद्भाव भी मुक्तदशामें स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि अन्य आत्मा भी ज्ञान स्वभावरूप हैं, यदि उस स्वभावका अभाव माना जाय तो स्वभाववान् आत्माका अभाव माननेका अतिप्रसंग उपस्थित होगा।

धर्माधर्मका कार्य प्रारंभ हो चुकतेपर उनका उपभोग होकर क्षय हो जाता है ऐसा पूर्वोक्त कथन भी ठीक नहीं है, मात्र उपभोगसे ही कर्मका क्षय होता है ऐसा मानने पर उन कर्म फलोंका उपभोग करते समय ग्रन्य नवीन कर्मके निमित्तभूत अभिलापा पूर्वक मन वचन कायकी क्रियाका सद्भाव होनेसे जिसका ग्रविकल कारण मौजूद है ऐसे प्रचरतर नवीनकर्म उत्पन्न होते ही रहेंगे, अतः उनका ग्रव्यन्त क्षय किस प्रकार हो सकेगा? सम्यग्जान द्वारा कर्मोंका सर्व्या क्षय होना तो भलीभांति सिद्ध होता है, हां वह सम्यग्जान बाह्य क्रिया-हिसादि पाप रूप एवं ग्रम्यंतर क्रिया-राग द्वेवादि कथाय की निवृत्ति होना रूप चारित्र द्वारा वृद्धिगत होना चाहिये, ऐसे सम्यग्जानमं जैसे ग्रागामी कर्मोंको उत्पन्न नहीं होने देना [संवर] रूप सामर्थ्य है वैसे पूर्व संचित कर्मोंका क्षय करादेनारूप सामर्थ्य भी ग्रवश्य ही रहती है। जैसे उष्ण स्पशंमें भावीशीत स्पर्श को उत्पन्न नहीं होने देना रूप सामर्थ्य है वैसे वर्त्यमानके शीतस्पर्शको नष्ट करना रूप सामर्थ्य भी रहती है। किन्तु सम्यग्जान वही कहलाता है जो कथंचित् परिणमनशील जीव, अजीव ग्रादि वस्तुभूत पदार्थोंको विषय करता हो। सर्वथा नित्य या ग्रनित्यरूप कित्यत पदार्थोंको विषय करता हो। सर्वथा नित्य सर्वित स्वरंक ग्राहक होनेके कारण उसमें मिथ्यापना है ऐसा आगे प्रतिपादन करते

विषयम्; तस्य विषरीतार्षश्राहकत्वेन मिष्यात्वोषपत्ते रित्यक्षे निवेदविष्यते । **क्ष्तो** यदुक्कम्-'य**णे-**मांसि' इथ्यादि; तत्सवं संवररूपवारित्रोषवृंहितसम्यक्षानाग्नेरक्षेषकर्मक्षये सामस्यग्नियुपगमा-रिसद्धसाषनम् ।

यश्चाम्यधायि-समाधिवलातुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्येत्यादिः तद्ययभिधानमात्रमः प्रभिलायरूपरागा-खभावेऽञ्चनायु पभोगासस्मवात् । तत्सम्भवे वावस्थंभावी गृद्धिमतो भवविभाग्येत्य योगिनोिषि प्रश्चर-तरधम्मधिमंसस्भवो नृपत्यादेरिवातिभोगिनः । वैद्योपदेशादातु रोष्योषधाचाचरिंगे नौरुम्भावाभिखायेत्यैव प्रवस्तं ते, न पुनर्जानमात्रात् । तन्नालेषश्चरिरद्वारावाभागेषभोगस्य कर्मान्तरानुत्पत्तिः । कि तर्ति ? परिपूर्णसम्यन्दर्शनज्ञानवारित्रस्य, इत्यलं विवादेन, जीवनमुक्तं रिप त्रितयात्मकादेव हेतीः सिद्धः । संसारकारत्यं हि सिध्यादर्शनादित्रयात्मकं न पुनिमध्याज्ञानमात्रात्मकम्, तश्च कस्मात्मयग्रज्ञानमात्रा-तक्षं भ्यावत्तं त इत्युक्तं सर्वजनिव्याद्यक्तावे ।

बाले हैं। ज्ञान रूपी अग्नि कर्मरूपी ईंधनको जलाती है इत्यादि जो पूर्वमें कहा या वह भी हमारे लिये सिद्ध साधन है, संवररूप चारित्र द्वारा बढ़ी हुई सम्यग्ज्ञानरूपी भ्रग्नि संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेकी सामर्थ्य रखती है ऐसा हम मानते ही हैं।

वैशेषिक ने कहा था कि समाधिक बलसे उत्पन्न हुमा है तत्त्वज्ञान जिनके ऐसे पुरुष अनेक शरीरोंको एक साथ उत्पन्न कर कर्मोंका उपभोग कर डालते हैं इत्यादि, वह सब प्रलाप मात्र है, प्रभिलावारूप रागादि विकार भावके नहीं होनेपर स्त्री ग्रादि पदार्थका उपभोग होना असंभव है, यदि संभव है तो उस उपभोगके सद्भावमें गृद्धियुक्त उस तत्त्वज्ञानी योगीके भी प्रापक अभिप्रायानुसार प्रचुत्तर धर्माधर्म पुण्य पाप् का सद्भाव सिद्ध होता है, फिर तो वे योगी राजाके समान अितभोगी ही कहलाये । वैद्यके कथनानुसार रोगी बौषधि भ्रादिका सेवन विना आसक्ति के करता है वैसे योगीजन विना आसक्तिक उपभोग करते हैं ऐसा भी नहीं कहना, रोगी के निरोग होनेकी ग्रामिक लाषा भ्रवस्य होती है, उस अभिलाधाके विना ज्ञान मात्रसे औषधि सेवन नहीं होता । भ्रतः अभोष शरीर द्वारा संपूर्ण कर्म फलोंका उपभोग होनेसे ग्रन्य कर्मोंकी उत्पत्ति होना नहीं रुकता, किन्तु परिपूर्ण प्रकृष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होनेसे भ्रन्य कर्मोंकी उत्पत्ति होना सकता है, श्रव अधिक विवादसे बस हो, परममुक्ति स्वरूप मोक्षके समान जीव-म्युक्तिके प्राप्तिका कारण भी यही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप तीन रत्त है ऐसा निविवत होता है। संसारका कारण भी मध्यादर्शन-ज्ञान, चारित्ररूप नित्यादसक निवादसे कर होता है। संसारका कारण भी मध्यादर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप नित्यादसक निवादसे कर होता है। संसारका कारण भी मध्यादर्शन-ज्ञान, चारित्ररूप निवादसक निवादसक करना है। संसारका कारण भी मध्यादर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निवादसक निवादसक निवाद होता है। संसारका कारण भी मध्यादर्शन ज्ञान, चारित्ररूप निवादसक नि

यचान्यदुक्तम्–निस्यनैमित्तिकानुञ्जनं केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक्काम्यनिषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरितक्षयनिमित्तत्वेन केवलज्ञानप्राप्तिहेतुः; तदिष्टमेवास्माकम् ।

मानन्दरूपता तु मोक्षस्याभोधै व । एकान्तनित्यता तु तस्याः प्रतिषिष्यते । चिद्ग्पतावदा-नन्दरूपताप्यैकान्तनित्याः इत्यप्ययुक्तम्ः चिद्गपताया प्रप्येकान्तनित्यत्वासिद्धेः, सकलवस्तुस्वभावानां परिसामिनित्यत्वेनाग्रे समर्वयिष्यमास्यत्वात् ।

म्रथानित्यत्वे तस्याः तत्संबेदनस्य पोत्पत्तिकारणं वक्तव्यम्; ननुक्तमेव प्रतिबन्धापायलक्षर्यं तत्कारणं सर्वत्रसिद्धिप्रस्तावे । प्रात्मेव हि प्रतिबन्धकापायोपेतो मोक्षावस्थायां तथाभूतज्ञानसुखादि-

ही है न कि एक मिथ्याज्ञान रूप । जब संसारका कारण भी मिथ्यादर्शनादि तीनरूप है तो उनका नाश केवल सम्यग्ज्ञान द्वारा किसप्रकार संभव है १ अर्थात् संभव नहीं है, इस विषयमें सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें कथन कर श्राये हैं ।

केवल ज्ञानोत्पत्तिके पहले तत्त्वज्ञानी नित्य नैमित्तिक क्रियाका अनुष्ठान करता है ऐसा कहा था सो हम लोगों को भी इष्ट है क्योंकि काम्य और निषद्ध अनुष्ठान [अभिलाषा युक्त शुभ-अशुभ आचरएा] को छोड़कर नित्य नैमित्तिक क्रिया [आवश्यक किया] का अनुष्ठान ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंके क्षयका निमित्त होनेसे केवलज्ञान की प्राप्तिका हेतु है।

ब्रह्मवादीका ग्रानंदरूप मोक्षका लक्षण भी हम जैनको कथंचित् इष्ट है, परंतु उस श्रानंदरूपताको एकांतसे सर्वथा नित्य मानना निषिद्ध है। चैतन्यरूपताके समान श्रानंदरूपता भी एकांतसे नित्य है ऐसा कहना भी प्रयुक्त है, हम स्याद्वादी चैतन्यरूपता को भी एकांतसे नित्य नहीं मानते, जगत्के यावन्मात्र पदार्थों के स्वभाव परिणामी नित्य हैं ऐसा आगे प्रतिपादन करनेवाले हैं।

शंका−यदि भ्रानंदरूपको भ्रानित्य मानते हैं तो उसके एवं उसके संवेदनके उत्पत्तिका कारण बताना चाहिये थें.

समाधान—सर्वंश सिद्धि प्रकरणमें उस ग्रानंदरूपता श्रादिके उत्पत्तिका कारण कह दिया है कि प्रतिबंधक कर्मोंके नष्ट हो जानेसे अनंत सुखादिरूप ग्रानंदरूपतादिकी उत्पत्ति होती है। मोक्ष श्रवस्थामें प्रतिबंधक कर्मोंसे रहित आत्मा हो श्रतीन्द्रिय ज्ञान सुख ग्रादि का कारण होता है, जिसप्रकार घट श्रादि श्रावरणसे रहित प्रधीपक्षण काररणम्, घटाद्यावरणापायोपेतप्रतीपक्षण्यत् स्वपरप्रकाशकाष्यग्रदीपक्षणोत्पत्ती, तदुत्पादन[स्व] भावस्यान्यापेक्षायोगात् । यदि यदुत्पादनस्वभावं न तत्तदुत्पादनेऽज्यापेक्षम् यथान्त्या काररणसामश्री स्वकार्योत्पादने, तदुत्पादनस्वभावद्याति । संसारा-वस्थायामप्युपलभ्यते-वासीचन्दनकल्पानां सर्वत्र समवृत्तीनां विशिष्टव्यानादिव्यवस्थितानां सेन्द्रियवारीरभ्यापाराज्यन्यः परमाल्हादरूपोजनुभवः । अस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरावस्थामासादयतः परमकाक्षा गतिः सम्भाव्यत एव ।

स्वपर प्रकाशक ध्रपर प्रदीपक्षणकी उत्पत्तिका कारण है, क्योंकि उसको उत्पन्न करनेका जो स्वभाव है वह अन्यकी ध्रपेक्षा नहीं रखता है। धात्मा अतीन्द्रिय सुखादिकी उत्पत्ति में अन्यकी ध्रपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि उसको उत्पन्न करनेका उमका स्वभाव ही है, जो जिसके उत्पादनके स्वभाव भूत होता है वह उसके उत्पादनके जिये अन्यकी अपेक्षा नहीं करता है, जैसे अंत्यक्षणकी कारण सामग्री स्वकार्यके उत्पादनमें अन्यकी अपेक्षा नहीं रखती, प्रतिबंधक कमंसे रहित आत्मा भी अतीन्द्रिय ज्ञानमुखादिके उत्पादनमें तदुस्पादन स्वभावभूत है, अतः अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं करता। इस अतीन्द्रिय सुखादिकी फलक उन पुरुषों को संसार अवस्थामें भी आती है जो वासी और चंदनमें समान भाव धारते हैं [कुठार द्वारा घात करने वाले और चंदन द्वारा लेप करने वाले इन दोनोंमें समता भाव विविध्द ध्यानादिमें संलग्न हैं, ऐसे साम्यभावधारक वीत-राग साधुओंको इन्द्रिय एवं शरीरकी कियासे जो उत्पन्न नहीं हुम्रा है ऐसा परम आह्वादरूप सुखानुभव होता है, यही अनुभव गुद्धात्माके भावनाके वशसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट भवस्थाको प्राप्त होता हुआ चरम सीमापर पहुंचना संभव ही है।

विशेषार्थ-णुद्धात्माके घ्यानमें लीन परम वीतरान महासाधुम्रोको जो ग्रकथनीय भ्रानंद प्राप्त होता है उसका आघ्यात्मिक संयोंमें वर्णन पाया जाता है, वह
णुद्धात्म भावना या सिद्धांतानुसार णुक्ल घ्यान वृद्धिगत होते हुए संपूर्ण कर्मोक नाशमें
हेतु होता है। अतः श्रानंदरूपताको मोक्षका स्वरूप मानना जैनको इष्ट ही है। िकन्तु
ब्रह्मवादी इसको सर्वथा नित्य मानते हैं इसलिये उन्हें शंका हुई कि श्रात्माकी भ्रानंदरूपता यदि श्रानित्य है तो उसके उत्पत्ति कारण कौन होगा? तब जैनने समाधान
किया कि प्रतिबंधक कर्मका भ्रमाव होना भ्रानंदरूपताका कारण है। मुक्तावस्थामें
केवल भ्रानंद ही नहीं रहता भ्रपितु ज्ञान दर्शन भ्रादि गुणोंका सद्भाव भी रहता है,
अभव बहां इन गुणोंके आविभविके कारण क्रमशः बताते हैं-ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे

क्षानन्दरूपताभिव्यक्तिरचानाद्यऽविद्याविलयात्; इत्यभीष्टसेव; अष्टप्रकारपारमाथिककमंप्रवाद्-रूपाऽवाद्यविद्याविलयाद् अनन्तसुखसंज्ञानादिस्वरूपप्रतिपत्तिलक्षरामोकावाप्ने रभीष्टत्यात् ।

विशुद्धज्ञानसन्तानोत्पत्तिलक्षणोऽध्यसौ मोक्षोऽभ्यूपगम्यते । स तु चित्तसन्तानः सान्वयो युक्तः । बद्धो हि मुख्यते नाबद्धः । न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः तत्र श्रान्यो बद्धोऽ न्यस्य मुख्यते ।

म्रानंत केवलज्ञान, दर्शनावरण कर्मके नाशसे अनंत केवल दर्शन, मोहनीय कर्मके क्षयसे अनंतसुख या आनंद, अंतरायकर्मके विनाशसे अनंतवीर्य । जीवन्युक्तिमें ये गुण प्रगट होते हैं । परमपुक्तिमें वेदनीयके क्षयसे अव्यावाधत्व, नामकर्मके अभावसे सूक्ष्मत्व, गोत्र के नाशसे अगुरुलपुत्व एवं श्रायुकर्मके विनाशसे अवगाहनत्व गुण प्रगट होते हैं । वैशेष्म मुक्तावस्थामें किसी भी गुणका सद्भाव नहीं मानते, बुद्धि, सुख जैसे सर्वथा आत्मीक गुणोंका अभाव भी मुक्तिमें होता है ऐसा उनका कहना है, यह सर्वथा प्रतीति-विरुद्ध है, यदि आत्मारूपी गुणीका सद्भाव मुक्तिमें है तो उसके ज्ञानादिगुण श्रवश्य ही विद्यमान रहेंगे, क्योंकि गुणी और गुणका तादात्म्य है । तथा जहां पर अपने गुणोंका ही नाश हो वहां पर जाना कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा ? एक कविने अथंग करते हुए कहा है कि:—

वरं वृंदावनेऽरण्ये सृंगासस्वं भजाम्यहम् । न पुन वेंशेषिकीं मुक्ति प्रार्थयामिकदाचन ।।२८।। [ सर्वसिद्धांतसंग्रह ]

अनादिकालीन अविद्याके विलय होनेपर आनंदरूपता अभिव्यक्त होती है ऐसा ब्रह्मवादी मंतव्य भी हमें इष्ट है, किन्तु वह अविद्या भाषारूप या काल्पनिक न होकर वास्त्रविक है, आठ प्रकारके ज्ञानावरणदि कमंत्रवाहरूप अनादि अविद्याके विलय हो जानेसे अनंतज्ञान, अनंतसुखादिकी प्राप्ति होना रूप मोक्ष मानना हम जैनको अभीष्ट ही है।

हम लोग बौद्धाभिमत विशुद्ध ज्ञानसंतानको उत्पत्ति होना रूप मोक्षको भी स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु वह ज्ञान संतान अन्वययुक्त होती है [द्रव्य सहित पर्याय होती है न केवल पर्याय ] बौद्धोंके समान निरन्वय नहीं, क्योंकि जो बंधा था वह खुटता है न कि अबंधक, बौद्ध ज्ञानसंतानको निरन्वय [मूल-ग्राधारपूत द्रव्यसे रहित] मानते हैं अतः जो बद्ध था उसकी मुक्ति हुई ऐसा सिद्ध होना असंभव है, उनके यहां तो अन्य ही कोई बद्ध होता है और अन्य कोई मुक्त होता है। सन्तानेक्याद्वदस्यैव मुक्तिरपीति चेत्; नतु यदि सन्तानार्थः परमार्थसत्; तदास्मैव सन्तान-शब्दैनोक्तः स्यात् । प्रय संवृतिसत्; तदंकस्य परमार्थसतोऽसत्वात् 'श्रन्यो बढोऽन्यरच मुच्यते' इति मृक्त्यर्षं प्रवृत्तिनं स्थात् । प्रयात्यन्तनानात्वेषि च्ढतरैकत्वाध्यवसायाद् 'बढमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धानवतः प्रवृत्तेनियं दोषः; न तिह् नैरात्स्यदर्शनम्, इति कुतस्तिश्वन्यना मुक्तिः ? प्रथास्ति तद्दर्शनं शास्त्रसंस्कारजम्; न तह्यंकत्वाध्यवसायोऽस्खलद्रूप इति कुतो बढस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात् ? तथा च—

"मिण्याध्यारोपहानार्यं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि'' [प्रमाणवा० २।१६२] इति प्लवते । तस्मास्सान्वया चित्तसन्ततिरम्थुपगन्तथ्या, सकलविज्ञानक्षणस्वेषि जीवाभावे बन्धमोक्षयोस्तदर्यं वा

संतान एक रूप होनेके कारण बढ़ की ही मुक्ति होती है ऐसा कहना भी शक्य नहीं, आप संतानको यदि परमार्थभूत मानते हैं तो स्नात्माका ही संतान शब्द द्वारा उल्लेख हुआ। और यदि काल्पनिक मानते हैं तो एक वास्तविक सत्ताभूत पदार्थ के नहीं होनेसे वही दोष आता है कि अन्य बढ़ था और अन्य कोई मुक्त हुआ, इस तरह तो मुक्तिके लिये प्रयत्न शील हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिसने प्रयत्न किया वह मुक्त न होकर अन्य कोई होता है।

बौद्ध-संतानमें अत्यन्त नानापना होनेपर भी इढतर एकपनेका अध्यवसाय [अभ्यास] होनेके कारण बद्ध हुए आत्माको विमृक्त करू गा इसप्रकारके अभिप्राय युक्त पुरुष मोक्षके लिये प्रयत्न करते ही हैं। अतः कोई दोष नहीं ?

जैन-तो फिर प्रापका नैरात्म्य दर्शन समाप्त होता है, अर्थात् प्रदीप निर्वाण-बत् श्रात्मनिर्वाणम्-दीपकके समान श्रात्माका निरन्वय नाश होता है और वही मोक्ष है ऐसे श्रून्यस्वरूप नैरात्म्य भावनासे मोक्ष होता है ऐसी मान्यता नष्ट होती है फिर उस भावनाके निमित्त्तसे होनेवाला मोक्ष भी किसप्रकार सिद्ध होगा ? नैरास्म्य दर्शनका अस्तित्व है और वह शास्त्र संस्कार से होता है ऐसा कहो तो उक्त एकत्वका अध्यव-साय सत्यार्थ नहीं रहता | क्योंकि नैरात्म्य भावना आत्म-अभावरूप है और आत्म-एकत्वकी भावना आत्म सद्भाव रूप है अतः एकको सत्यभूत स्वीकार करनेपर दूसरी स्वतः असत्य ठहरती है ] फिर बद्ध पुरुषके आत्म एकत्वका अध्यवसाय हो जानेसे मृक्तिके लिये प्रवृत्ति होती है ऐसा कथन किस तरह सिद्ध होगा ? इसतरह मृक्तिके लिये प्रवृत्ति होना सिद्ध नहीं होनेपर मुक्त होनेवाले आत्माक नहीं होनेपर भी मिथ्या प्रकृतं रतुपपत्तं : । न चान्योन्यविलक्षयाःअपापर्राचतक्षयानामनुषायिजीवाभावो विरोधात् : इत्यभि-धातव्यम्; स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तत्रानुयायिक्यतया तस्य श्रतीतेः । प्रतीग्रधानस्य च कयं विरोधो नाम भ्रनुपतम्भक्षाध्यस्वात्तस्य ?

तद्वचापारे चासित आत्मिन प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययस्य प्रादुर्भावो न स्यात् । स्रयातस्यप्यारोपितै-करविवयत्वादस्य प्रादुर्भावः; नः अस्यारोपितैकत्वविषयत्वे स्वात्मस्यनुमानात्वर्गिकस्वं निद्दिचन्वतो निवृत्तिप्रसङ्गात्, निरुषयारोपमनसोविरोधात् । निवर्तत एवति चेतः तर्हि सहअस्याभिसंस्कारिकस्य च

ग्रध्यारोपको दूर करनेके लिये प्रयत्न करते हैं इत्यादि कथन नष्ट होता है। इसलिये ज्ञान संतानको सान्वय [द्रव्याधारभूत] स्वीकार करना ही युक्ति संगत है, सकल विज्ञानके क्षणभूत संतानके होनेपर भी जीवके ग्रभावमें बंघ मोक्ष एवं उनके लिये प्रवृत्ति दोनों ही घटित नहीं होते।

बौद्ध-परस्परमें अत्यन्त विलक्षण ऐसे अन्य अन्य ज्ञान क्षणोंका अन्वय हो नहीं सकता अतः इनमें रहने वाले अनुयायी जीवका अभाव ही है यदि उसको माने तो विरोध होगा ?

जैन-ऐसा कहना असत् है मैं पहले दुःखी था अब सुखी हो गया इत्यादि स्वयंके प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञानक्षणों का अन्वय एवं अनुयायीकी प्रतीति हो रही है, प्रतीय-मान वस्तुका विरोध किसप्रकार हो सकता ? विरोध तो अनुपलंभ साध्य है।

इसप्रकार संतान एकत्वकी सिद्धि नहीं होनेसे मुक्तिके लिये प्रयत्न करना सिद्ध नहीं होता तथा भ्रात्माका अस्तित्व भी स्वीकृत नहीं किया जाता भ्रतः प्रत्यभिन्नानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्षणिक भ्रात्मामें कल्पित किया गया जो एकत्व है उसको विषय करनेसे प्रत्यभिन्नानका प्रादुर्भाव होता है ऐसा कहना भी गलत है, प्रत्यभिन्नानका विषय कर्तिस एकत्व माने तो भ्रपनेमें भ्रमुमानसे क्षणिकपनेका निश्चय करने वाले पुरुषके वह प्रत्यभिन्नान निवृत्त हो जायगा [नष्ट होवेगा] क्योंकि निश्चित ज्ञान भीर कल्पित विषयक ज्ञानका एकत्र रहनेमें विरोध है।

बौद्ध-स्थात्माके क्षणिकपनेका निश्चय हो जानेपर एकत्व विषयक प्रत्यभिज्ञान निवृत्त होता ही है । सस्यदर्शनस्यानावात्तदेव तन्मूलरागादिनवृत्ते मुँक्तिः स्यात् । भ्रान्तत्वे नास्य प्रत्यक्षस्याभेषस्यापि भ्राम्तत्वप्रसञ्जः, वाह्याध्यास्मकभावेष्येकस्वप्राहरूत्येनेवाभेषप्रत्यकारागं प्रवृत्तिप्रतीतेः । तथा च

जैन-तो फिर ग्राम्यजन और सुशिक्षितजनका जीवस्तित्वसंबंधी प्रत्यिभज्ञान समाप्त होते ही तत्काल एकत्व ज्ञान मूलकं रागादि विकार भी नष्ट होना चाहिये और मुक्ति होना चाहिये ?

विशेषार्थ-बौद्ध मतमें म्रात्मा म्रादि पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक माना है, जब ग्रात्मा क्षणिक है तब उसकी कमसे होनेवाली बद्ध और मक्त श्रवस्था किसप्रकार सिद्ध हो सकती है ? जो पहले बद्ध था उसीके मुक्ति हुई ऐसा कहना अशक्य है, यदि श्रन्य बंघा और धन्य मूक्त हुआ तो ऐसे अन्यके मुक्तिके लिये प्रयत्न भी नहीं हो सकेगा, तथा म्रात्माको क्षणिक मानने पर प्रत्यभिज्ञान होना अशक्य है, क्योंकि पदार्थके कथंचित नित्य होनेपर ही उस ज्ञानका विषय एवं प्रादुर्भाव संभव है। ग्रात्मामें काल्पनिक एकत्वका भारोप करके उसको प्रत्यभिज्ञान विषय करता है, ग्रौर जब ग्रनमान द्वारा ग्रात्माके क्षणिकपनेका निश्चय होता है तब वह काल्पनिक प्रत्यभिज्ञान नष्ट होता है ऐसा बौद्धके कहनेपर श्राचार्य कहते हैं कि श्रात्माके क्षणिकपनेका ज्ञान होते ही एकत्व विषयक प्रत्यभिज्ञान नष्ट होगा, राग द्वेष श्रादि विकार भी तत्काल नष्ट हो जायेंगे. क्योंकि राग हेव आदि आत्माके नित्य रहनेपर ही संभव है अर्थात अंतरंग आत्मामें किसीके प्रति राग तब होता है जब कुछ समय पहले उसने हमारे लिये इष्ट प्रवृत्ति की हो जैसे पुत्रका माताके प्रति सद्व्यवहार होनेपर माताका पुत्रके प्रति स्नेहाधिक्य हो जाता है, ऐसे ही द्वेप की प्रवृत्ति है अतः निश्चित है कि राग द्वेषका उद्भव आत्माके नित्य रहनेपर ही [कथंचित् नित्य] सभव है। बौद्ध मतानुसार ग्रात्मा क्षणिक है, उसमें एकपनेका आंत प्रत्यभिज्ञान होने से राग द्वेष होते हैं "सर्व क्षणिक सत्वात" इत्यादि अनुमान द्वारा आत्माके क्षणिकपनेका निश्चय होनपर वह प्रत्यभिज्ञान नष्ट होता है। यदि ऐसा माने तो क्षणिकत्वका ज्ञान होनेके साथ ही प्रत्येक बौद्धमतान-यायीको मुक्ति हो जानी चाहिये ? क्योंकि शामीण जन हो चाहे शिक्षित जन हो सभी बौढोंको आस्मक्षणिकत्वका ज्ञान होता है उसके होते ही राग ढेष नष्ट होंगे श्रीर रागादिके नष्ट होते ही मुक्ति होगी ? किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं होता अत: प्रत्यभिज्ञान को काल्पनिक मानना ग्रसिद्ध है।

प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वविषेष्णमसम्भाष्यमेव स्यात् । समर्थियव्यते च प्रत्यभिक्षानप्रत्ययस्यानारोपितार्यं प्राहुकत्वमभ्रान्तत्वं च । तर्षे कत्वाभावः । धनुभूयमानस्यापि चैकत्वस्यानेकत्वेन विरोधे प्राह्यप्राहुक-संवित्तिक्षस्याविष्ठदेखप्पन्याध्यासितक्षानस्य, धर्यस्वतक्षस्यस्य चैकदा स्वपरकार्यकर्तृत्वाकर्तृत्वलक्षस्य-विषठद्वभमेद्वयाध्यासितस्य एकत्व विरोधः स्यात् ।

प्रत्यभिज्ञानको भ्रांत माननेपर सभी प्रत्यक्षज्ञानको भी भ्रांत माननेका प्रसंग आता है, क्योंकि सभी प्रत्यक्ष प्रमाण बाह्य ध्रभ्यंतर पदार्थों [चेतन श्रचेतन] में एकत्व प्रह्म होते हुए प्रतीतिमें धा रहे हैं। इसप्रकार प्रत्यभिज्ञानके समान प्रत्यक्षज्ञान भी एकत्वको विषय करनेवाला सिद्ध होता है अतः उस प्रत्यक्षज्ञा प्रभांतत्व विषय करनेवाला सिद्ध हो जाता है। प्रत्यभिज्ञान वास्तविक पदार्थका ग्राहक है एवं ग्रभ्रांत-प्रत्यक्षम्] ध्रसिद्ध हो जाता है। प्रत्यभिज्ञान वास्तविक पदार्थका ग्राहक है एवं ग्रभ्रांत है ऐसा हम जैन ग्रागे सिद्ध करनेवाले हैं, अतः आत्मादि पदार्थों के एकत्वधर्मका ग्रभाव करना श्रसंभव है। दूसरी बात यह है कि एकत्वका साक्षात् श्रनुभव न होते हुए भी सुखदुःखादि ग्रनेक धर्मोंके साथ उसका रहना विरुद्ध माना जाय तो बौद्ध संमत ग्राह्य ग्राहक ग्रौर संवित्ति [पदार्थ ज्ञान एवं उसकी प्रतीति] इन तीन विरुद्ध धर्मोंका ज्ञापन करानेवाले ज्ञानमें एकत्व मानना विरुद्ध होगा, तथा एक नीलादि स्वतक्षणभूत पदार्थमें एक ही कालमें स्वकार्यके प्रति कर्तृत्व और परकार्यके प्रति श्रकतृत्व ऐसे विरुद्ध दो धर्मोंका ग्रस्तित्व स्वीकार किया है उसमें विरोध होगा।

विशेषायं-बौद्धका कहना था कि प्रत्यभिज्ञान एकत्वको विषय करता है अतः असमीचीन है, क्योंकि वस्तुमें अनेक धर्म होनेसे वह अनेक रूप है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान उन अनेक धर्मोंमें भी एकपनेका बोध कराता है अर्थात् आ्रारमा सुखक्षण, दुःखक्षण आदि अनेक धर्मोर्के में एकत्वकी प्रतीति कराता है, अतः असत् है, इस कथनका जैनने उन्हींका सिद्धांत लेकर निरसन किया कि आपके यहां ज्ञानकण और अर्थक्षण ऐसे दो वस्तुभूत पदार्थ माने हैं, आह्य-जानने योग्य पदार्थ, आहकज्ञान और संवित्ति इनका वेदन ये तीन धर्म एक हो ज्ञानमें संविदित होते हैं, सो विषद्ध तीन धर्मोंका एकत्व अनुभवन करानेवाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञानके समान किसप्रकार विरोधको प्राप्त नहीं होगा १ अवश्य होगा। तथा नील स्वलक्षण पीत स्वलक्षण आदि अर्थक्षण भेद हैं एक नील स्वलक्षण श्राद अर्थक्षण भेद हैं एक नील स्वलक्षण श्राद अर्थक्षण भेद हैं एक नील स्वलक्षण

यश्चान्यत्-रागादिमतो विज्ञानाम्न तद्वहितस्यास्योत्पत्तिरित्याद्युक्तम्, तदप्यसग्न्यतम्, रागादिरहितस्याखिलपदार्यविषयविज्ञानस्यावेषज्ञसाधनप्रस्तावे प्रतिपादितस्यात् । न च बोभाद्वोध-रूपतेति प्रमाणमस्ति, इत्यप्यवुक्तम्, विलक्षणकार्रणादिलक्षणकार्यस्योत्पत्यस्युग्गमे अचेतनाच्छरीरा-देश्चीतन्योत्पत्तिप्रसङ्गाञ्चार्वाकमतानुषङ्गः । प्रसाधितश्च परलोकी प्रागित्यलमतिषसङ्गे न ।

यज्ञाम्यधायि-मृषुप्रावस्थायां विज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्; तदप्यभिधान-

में एक ही समयमें धपने उत्तरक्षणवर्ती नीलक्षणको उत्पन्न करनेरूप कर्तृत्व धर्म रहता है और उसीमें उसीक्षण पीतक्षणको उत्पन्न नहीं करनेरूप अकर्तृत्व धर्म भी रहता है, ऐसे कर्तृत्व भ्रकर्तृत्व धर्म भी रहता है, ऐसे कर्तृत्व भ्रकर्तृत्वरूप विरुद्ध धर्मीके रहते हुए भी उस नीलक्षणमें एकत्व माना है सो यह मान्यता उक्त प्रत्यमिज्ञानके समान विरोधको क्यों नहीं प्राप्त होगी ? अतः जिसप्रकार नीलक्षणमें अनेक धर्मीके रहते हुए भी एकत्व मानना भविरुद्ध है उसीप्रकार सुखक्षण आदि धनेक धर्मीके रहते हुए भी उन सब धर्मीमें एक ही आत्मा है और उस धात्म एकत्वको जानने वाला प्रत्यमिज्ञान भी समीचीन है ऐसा स्वीकार करना ही होगा।

बौद्धाभिमत मोक्षके लक्षणका निरसन करते हुए वैशेषिकने कहा था कि रागयुक्तज्ञानसे रागरिहत विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती इत्यादि वह सब अयुक्त
है, सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरणमें संपूर्ण पदार्थोको विषय करनेवाला ज्ञान रागरिहत ही होता
है ऐसा हम जैन निर्विवाद प्रतिपादन कर आये हैं। ज्ञानसे ही ज्ञानपना आने की
मान्यता प्रमाणभूत नहीं है ऐसा कथन भी अयुक्त है, सर्वथा विलक्षणभूत कारणसे अन्य
विलक्षणकार्य की उत्पत्ति स्वीकार करे तो अवेतनभूत शरीर आदिसे चैतन्यकी उत्पत्ति
माननेका प्रसंग आता है, और इसतरह विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार वाले वैशेविकका चार्वाकमतमें प्रवेश हो जाता है, हम जैनने इस चार्वाकमतका निरसन करते
हुए पहले ही सिद्ध कर दिया है कि परलोकमें गमन वाला ज्ञानादिसे तादात्म्य संबंध
ऐसा आत्मा अवेतनभूत चतुष्टयसे सर्वथा पृथक् है। अब यहांपर अधिक नहीं कहते।

सुप्त दशामें ज्ञानका सद्भाव मानेंगे तो जाग्रत दशासे उसकी विशेषता नहीं रहती ऐसा मंतव्य भी असत् है, सुप्तदशामें ज्ञानके रहते हुए भी अतिनिद्रा द्वारा वह अभिभूत हो जाता है इसलिये जाग्रत् दशासे उस दशामें समानता नहीं होती, जिसप्रकार मत्त सुच्छित आदि दशामें मदिरा ग्रादिके द्वारा उत्पन्न किये गये मद वेदना ग्रादिसे हमारा ज्ञान ग्रंभिभूत हो जाता है। अभिप्राय यह है कि मुप्त उन्मत्त आदि दशामें मात्रयः यतस्तदा विज्ञानसञ्जावेषि धतिनिद्रयाभिभूतत्वाक्ष जाग्रदवस्थातोऽविशेषः, मत्तमूर्ष्ण्यताश्चव-स्थायां मदिराञ्चत्यादितमदवेदनाग्रभिभूतविज्ञानवत् ।

ननु कोयं मिद्धेनाभिभवः ? ज्ञानस्य नाशश्चेत्; कषं तस्य सत्त्वम् ? तिरोभावश्चेत्; न; स्वपरप्रकाशरूपज्ञानाम्युपग्ये तस्याप्यसम्भवात्; इत्यप्यचितामिश्चानम्; मित्यमन्नादिनाग्न्यादिप्रति-बन्धे शरावादिना प्रदीपादिप्रतिवन्धे च समानत्कात् । न हि तत्राप्यम्यादेनशिः प्रतिवन्धः; प्रत्यक-विरोधात् । नापि तिरोभावः; स्वपरप्रकाशस्वभावस्य स्कोटादिकायंजननसमर्थस्य तिरोभावस्याप्यस-म्भवात् । प्रतीत्यनतिकमेत्यात्र स्वरूपसामर्थ्यप्रतिवन्धाम्युपगमोऽन्यवापि समानः । मिद्धादिन

ज्ञानका ग्रभाव न होकर केवल ग्रभिभव होता है, ग्रभिभवके कारण जाग्रत दशासे इन दशाओंमें विषमता होती है, वैशेषिक सुप्तादि दशामें ज्ञानका ग्रभाव मानते हैं वह सर्वथा असत है।

वैशेषिक-निद्रा द्वारा ज्ञानका श्रभिभव होना मायने क्या ? ज्ञानका नाश होना श्रभिभव है ऐसा माने तो सुप्तादि दशामें उसकी सत्ता माननेका सिद्धांत नष्ट होता है श्रौर उस श्रभिभवका श्रर्थ तिरोभाव होना करे तो स्वपरके प्रकाशक ऐसे जैनाभिमत ज्ञानका तिरोभाव होना भी श्रसंभवसा दिखाई देता है ?

जैन-यह कथन असम्यक् है, स्वपर के प्रकाशक ऐसे अग्निका मणिमंत्रादिसे प्रतिबंध होता है तथा शराव आदिसे स्वपर प्रकाशक दीपकका प्रतिबंध [तिरोभाव] होता है उसमें उपर्युक्त प्रका होगा कि स्वपरका प्रकाशन करने वाले इन पदार्थोंका तिरोभाव होना असंभव है, मंत्रादिसे अग्निका नाश होना प्रतिबंध है ऐसा कहे तो प्रत्यक्ष विरोध प्राता है, तथा उस मंत्रादिसे अग्निका तिरोभाव होनेको प्रतिबंध कहे तो स्वपर प्रकाशक एवं स्फोट आदि कार्य करनेमें समर्थ ऐसे अग्निका तिरोभाव होना प्रसंभवसा दिखाई देता है।

वैशेषिक-प्रतीतिके भ्रमुसार वस्तु व्यवस्था होती है भ्रतः मंत्रादि द्वारा श्रीन के स्वरूप सामर्थ्यका प्रतिबंध होना स्वीकार करते हैं ?

जैन–प्रतीतिका यही कम ज्ञानके विषयमें सुषटित होता है निद्राद्वारा ज्ञानका केवल म्राभिभव होता है न कि घ्रभाव ऐसा उभयत्र समान न्याय स्वीकार करना होगा । सुर्तादिदशामें निद्रादि सामग्रीके वशसे ज्ञान बाह्याभ्यंतर पदार्थके विषयमें सामग्रीविश्वेषवताद्धि बाह्याध्यात्मिकार्यविवारविधुरं गच्छतृशस्पर्शतानसमानं सुषुप्रावस्थायां ज्ञानमास्ते ।

न हि स्वपरप्रकाशस्वभावत्वमात्रेणंबास्य तन्निक्ष्यणसामर्थ्यम्; सर्वत्रानिभन्नेतस्यैवार्यस्य स्वकार्यकारित्वप्रतीतेः; प्रन्यवा दहनादिस्वभावस्यान्नेः सदा दाहकत्वप्रकाशकत्वप्रसङ्गः, गण्डत्यूष्ण-स्पर्वसंवेदनस्य वा तदर्थनिक्ष्यकत्वानुबङ्गः। प्रयात्र मनोव्यासङ्गोऽस्मरणकारणम्; प्रन्यत्र मिद्धा-दिक्षमित्यविशेवः। प्रस्ति चात्र स्वापलसणार्यनिक्पणम्-'एतावत्कालं निरन्तरसुप्तोहमेतावत्कालं सान्तरम्' इत्यनुस्मरणप्रतीतेः। न च स्वापलसणार्याननुभविष सुप्तोत्यानानन्तरं 'गाढोहं तदा सुप्तः' इत्यनुस्मरणं यदते; तस्यानुभूतवस्तुविषयत्वेनानुभवाविनाभावित्वात्, ग्रन्यया घटाद्यर्थाननुभवेषि

विचारशक्तिसे रहित हो जाता है, जैसे चलते हुए व्यक्तिके तृण स्पर्श विषयक ज्ञान विचार शक्तिसे रहित होता है।

ज्ञान स्व फ्रीर परका प्रकाशक स्वभाव युक्त होने मात्रसे उनके निरूपणकी सामध्यं उसमें सदा बनी रहे सो बात नहीं है, कोई भी पदार्थ हो वह अभिभूत न हो तभी अपने कार्यको कर सकता है, अभिभूत दशामें नहीं। प्रभिभूत दशामें भी कार्यकारी माने तो दहनादि स्वभाव वाली अग्नि सदा ही [प्रतिबंध दशामें भी] दाहक प्रकाशक होनी चाहिये, चलते हुए पुरुषके तृण स्पर्धका ज्ञान उस अर्थका निरूपक होना चाहिये इत्यादि स्रतिप्रसंग दोष आता है।

वैशेषिक-चलते हुए पुरुषका मन ग्रन्य कार्यमें संलग्न होता है इसलिये तृण स्पर्शका निरूपण स्मरण आदि नहीं हो पाता ।

जैन-यही बात सुरतदशाकी है निद्राके कारण ही ज्ञान स्वपर प्रकाशनमें असमयें हो जाता है। कि॰ अप्रदेशमें भी निद्रित अर्थका प्रकाशन तो होता ही है, "इतनेकालतक निरंतर सोया हूँ और इतनेकालतक सांतर सोया हूँ" इसप्रकारका स्मृतिक्पज्ञान अन्यथा हो नहीं सकता। निद्रारूप अर्थका अनुभवन नहीं होता तो शयनकरके उठनेके बाद "उस उक्त मैं गाढ सो गया था" ऐसा स्मृतिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि स्मृतिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि स्मृतिज्ञान अनुभूत विषयमें ही प्रवृत्त होता है उसका अनुभवके साथ अविनाभाव ही है। अन्यथा घट आदि पदार्थका अनुभव नहीं होनेपर भी उसका स्मरण होना शक्य होगा, फिर अनुभव की सिद्धि भी किस हेत्से होगी १

तत्रप्तमुस्मररासम्भवास्कुतस्तदतृभवीपि सिद्धयोत् ? व व मत्तमूष्टिशाद्यवस्थायामपि विज्ञानाभावाद् दृष्टान्तस्य साध्यविकलता; इत्यासङ्कनीयम्; तदवस्थातः प्रज्युतस्योत्तरकालं 'मया न किश्विदय्यनु-भूतम्' इत्यतुभवाभावप्रसङ्गात्, स्मृतेरनुभवपूर्वकत्वात् । म्रतो येनानुभवेन सतात्मा निखिलानुभव-विकलोऽनुभूयते तस्यामवस्थायां सोऽवस्थाम्युपगन्तस्थः ।

किन्त, सुप्ताधवस्थायां विज्ञानाभावं स एवारमा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो वा ? स एव चेत्; तत एव ज्ञानात्, तदभावाद्वा, ज्ञानान्तराद्वा ? न तावत्तत एव; अस्यासस्वात्, 'तदेव नास्ति तत्र, तत एव चाभावगतिः' इत्यन्योन्यं विरोधात् । ज्ञानाभावात्तत्र तदभावपरिच्छित्तः इत्यमुक्तभ्रः, परिच्छेदस्य ज्ञानाध्यमैतयाऽभावेऽसस्भवान्, अन्यचा ज्ञानस्यैव 'अभावः' इति नामकृतं स्थात् ।

अय ज्ञानान्तरात्तत्र तदभावगतिः; किं तत्कालभाविनः, जाग्रत्प्रबोधकालभाविनो वा ? प्रथम

वैशेषिक-निद्वित अवस्थाके समान मत्त एवं मूज्छित आदि अवस्थामें भी विज्ञानका अभाव स्वीकार करते हैं खतः निद्वितदशा में ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये मत्तदशाका इंट्यांत प्रयोग साध्य विकल है ?

जैन-यह कथन ग्रसत् है, यदि मत्तादि ग्रवस्थामें ज्ञानका ग्रभाव माने तो उस अवस्थाके समाप्त होनेके अनंतर समयमें "मैंने उस समय कुछ भी अनुभव नहीं किया" इसतरह की स्मृति नहीं हो सकती, क्योंकि स्मृति ज्ञान श्रनुभव पूर्वक ही होंता है। इसलिये जिस श्रनुभव द्वारा श्रात्मा निखिल श्रनुभवसे विकल रूप प्रनुभवमें श्राता है उस श्रवस्थामें [सुप्त मत्त आदिमें] उस श्रनुभव ज्ञानका सद्भाव श्रवश्य स्वीकार करना चाहिये।

तथा मुप्तादि दशामें ज्ञानका अभाव है ऐसा आप मानते हैं सो उस दशामें ज्ञानका अभाव था इस बातको कौन जानता है वही आत्मा या पासमें स्थित कोई अन्य ब्यक्ति ? वही जानता है तो किस ज्ञानसे जानेगा । उसी ज्ञानसे या उसके अभाव से अथवा ज्ञानांतरसे ? उसी ज्ञानसे जानना अश्वय है, क्योंकि उसका तो सत्त्व ही नहीं है, निद्रित दशामें वही ज्ञान नहीं है और उसी ज्ञानसे ज्ञानका अभाव जाना ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । उस ज्ञानाभावसे मुप्तदशाके ज्ञानका अभाव जाना जाता है ऐसा कथन भी हास्यास्पद है, जानना तो ज्ञानका धर्म है जब ज्ञानका अभाव है तो ज्ञानका ही "अभाव" ऐसा नामकरण हुआ।

पक्षे कथं सुपुप्तायवस्यायां सर्वया ज्ञानामावः ? प्रयः जाग्रत्प्रवोधकालभाविज्ञानाम्यामन्तराले ज्ञाना-भावोऽवसीयते; ननु तद्शाभाविज्ञानयोः सुयुप्तायवस्याभाविज्ञानं नोपलव्यिकसायप्रप्राप्तम्, तत्कयं ताम्यां तदभावोऽवसीयेत ? ग्रन्ययाऽटप्टत्यापि परलोकावेरभावोऽध्यक्षत एव स्यात् । तथा च "प्रमासी-तरसामान्यस्थितेः" [ इत्यायऽसङ्कतम् ।

नापि पार्वस्थोन्यस्तत्र तदभावं प्रतिपद्यते; कारणस्वभावन्यापकानुपलन्धीवरुद्धविधेवी

मुन्त दशाके ज्ञानाभावको ज्ञानांतर जानता है ऐसा तीसरा विकल्प कहो तो वह ज्ञानांतर कौनसा है तत्कालभावी है या जाप्रद् प्रबोध कालभावी है ? प्रथमपक्ष माने तो सुप्तादिदशामें सर्वथा ज्ञानका ग्रभाव है ऐसी मान्यता किसप्रकार सिद्ध होगी ? इसरापक्ष-जाप्रत प्रवोध कालभावी मर्थात् जाप्रद्दशाका ज्ञान ग्रीर प्रवोधदशा-शयनानंतर प्रवस्थाका ज्ञान इन दोनों ज्ञानोंसे अंतरालमें ज्ञानका ग्रभाव था ऐसा जाना जाता है इसतरह माने तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सुप्तादि दशाका ज्ञान उपलब्ध होने योग्य [इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य] नहीं है ग्रतः जाग्रत् एवं प्रवोध दशावाले ज्ञानों द्वारा उहण करने योग्य] नहीं है ग्रतः जाग्रत् एवं प्रवोध दशावाले ज्ञानों द्वारा उहण करने योग्य] नहीं है ग्रतः जाग्रत् एवं प्रवोध दशावाले ज्ञानों द्वारा उहण करने योग्य नहीं है ऐसे पदार्थक ग्रभावको भी यदि प्रत्यक्ष ज्ञान ज्ञाना जाना जा सकता है तो म्रहष्टभूत परलोक आदिका ग्रभाव भी प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञाना ज्ञान कर प्रमान की व्यवस्था होनेसे, ग्रन्यकी बुद्धि का ज्ञान होनेसे तथा किसी का ग्रभाव किया जा सकनेसे प्रत्यक्षसे भिन्न प्रमाणांतरका म्रस्तित्व सिद्ध होता है। इस कारिकासे यह सिद्ध होता है कि किसीका ग्रभाव ज्ञात करना प्रत्यक्ष द्वारा न होकर श्रनुमानादि अन्य प्रमाण द्वारा होता है।

विशेषार्थ-प्रमाणेतर सामान्य स्थिते रन्यघियो गतेः । प्रमासांतर सद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ।।१।।

यह कारिका चार्वाकके एक प्रत्यक्ष प्रमाणवादका निरसन करने हेतु बौढ ग्रंथमें आयी है इसका श्रयं-प्रमाण और श्रप्रमाणकी व्यवस्था, मन्यके बुढिका श्रवगम एवं किसीका प्रतिवेध प्रत्यक्ष द्वारा नहोकर प्रमाणांतरसे होता है अतः उस प्रमाणांतर का सद्भाव मानना आवश्यक है। जो पदार्थ अनुपलब्धि लक्षण वाले हैं उनको जानना तथा किसी वस्तुके अभावको जानना प्रत्यक्षके [इन्द्रिय प्रत्यक्षके] वशकी बात नहीं है, अतः सुरत आदि दशामें जानका ग्रभाव था ऐसा जानना जायत् एवं प्रबोध दशाके

तदभावाविनाभाविनो लिङ्गस्यात्रानुपलन्धेः। न तत्र विज्ञानसद्भावेषि लिङ्गाभावः समान इत्यभि-धातव्यम्, स्वारमिन स्वसंविदितज्ञानाविनाभावित्वेनाऽवधारितस्य प्राराणपानसरीरोष्णताकारवि-शेषादेस्तत्सद्भावावेदिनोः लिङ्गस्यात्रोपलब्धेः, जाग्रदशायामप्यन्यनेतोनृतस्तद्वधतिरेकेणान्यतोऽ-प्रतीतेः।

ननु द्विविधोत्र प्राराादिः चैतन्यप्रभवो जाश्रह्शायाम्, प्राराादिप्रभवश्च सुयुप्तार्श्वस्थायामिति । तत्र चैतन्यप्रभवप्रारादेजीब्रह्शायां चैतन्यानुमानं युक्तम्, न पुनः प्राराादिप्रारागदेः । न खलुः गोपाल-

ज्ञानोंद्वारा शक्य नहीं है, क्योंकि ये ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इसप्रकार प्रत्यक्षद्वारा मुप्तादिदशा का ज्ञानका श्रभाव नहीं जाना जाता यह सिद्ध हुआ, अनुमानादि ग्रन्य प्रमाण द्वारा भी उस ज्ञानके श्रभावको नहीं जान सकते, क्योंकि उसके लिये हेतु ग्रादिकी ग्राव-श्यकता होती है। श्रतः निद्धित मूर्ण्डित ग्रादि ग्रवस्थाओं ग्रांतमा ज्ञान णून्य हो जाता है वहां ज्ञानका सवंधा श्रभाव हो हो जाता है ऐसा बौद्ध एवं वैशेषिक ग्रांदि परवादी की मान्यता कथमि सिद्ध नहीं होती।

सुप्त आदि दशामें ज्ञानका ग्रभाव है ऐसा पासमें बैठा हुमा व्यक्ति जानता है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो भी ठीक नहीं, पासमें स्थित व्यक्ति प्रत्यक्षसे तो उस ज्ञानाभावको जान नहीं सकता, क्योंकि उसका वह विषय ही नहीं है, मनुमान द्वारा उसके ज्ञानाभावको जानना चाहे तो उसके लिये अविनाभावी हेतुका होना आवश्यक है किन्तु यहां कारएगानुपलब्धि, स्वभावानुपलब्धि व्यापकानुपलब्धि एवं विरुद्ध की विधिष्ठप कोई भी हेतु उपलब्ध नहीं होता।

वैशेषिक-जिसप्रकार सुप्तादि दशामें ज्ञानका ग्रभाव सिद्ध करनेके लिये कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता उसीप्रकार उक्त दशामें ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये भी कोई हेतु उपलब्ध नहीं है।

जैन-यह कथन असत् है, पासमें स्थित पुष्प ग्रपने ग्राहमामें स्वसंविदित ज्ञान के साथ जिनका ग्रविनाभाव है ऐसे श्वासोच्छवास लेना, शरीर उच्एा रहना, ग्रोज युक्त आकार होना इत्यादि हेतुसे ज्ञानका सत्व जानता है ग्रतः उन्हीं हेतुओंसे निद्रित हुए उस ग्रन्थ व्यक्तिमें ज्ञानके ग्रस्तित्व को भलीभांति जान लेता है। जाग्रद् दशामें भी ग्रन्थ की चित्तवृत्ति का जानना इन्हीं हेतुओंसे होता है, किसी ग्रन्थ हेतुसे तो वह चित्त-वृत्ति प्रतीत नहीं होती। षटादी व्रमध्यमववूमादम्यनुमानं च्छम्, क्षांनित्रमववूमादेव तद्यंनात्; इत्यप्यसङ्गतम्; सुषुप्तेतराद-स्थमो: प्राखादेविशेषाऽप्रतीते: । यथैव हि सुषुप्तः प्राख्यित तथेतरोपि, मन्यथा 'किमसं सुषुक्तः कि का जार्गात' इति सन्देहो न स्यात् । यदि जैते सुषुप्तस्य जैतन्यप्रभवा न स्युः किन्तु प्राखाविप्रभवाः; तिह् जाग्नतः परवश्वनाभिप्रायेण सुषुप्तस्याजेनावस्थितस्य ताहशासेव तेषां भावो न स्यात् । न ह्यानेजीयमानो

भावार्थ-मेरे आत्मामें स्वसंविदित ज्ञानके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले श्वासोच्छ्नास, शरीर उष्णता आदि कार्य हैं प्रशांत आत्मासे तादात्म्य सम्बन्ध वाले ज्ञानके होनेपर ही श्वास आदि किया होती है ऐसा निश्चय किये हुए पुरुष निद्रा युक्त अन्य पुरुषमें श्वासादि किया द्वारा ही ज्ञानका एवं आत्माका सद्भाव जान लेते हैं, अन्य किसी हेनुसे नहीं । अतः सिद्ध होता है कि सुप्त दशामें ज्ञानके सद्भावका आवेदन करने वाले प्राणापान शरीर उष्णता आदि हेतु मौजूद हैं ।

शंका-आत्माके जाग्रद् ग्रादि दशाश्रोंमें दो प्रकारके प्राण ग्रादि होते हैं, चैतन्य प्रभवप्राणिद और प्राणादिप्रभव प्राणादि, इनमेंसे चैतन्य प्रभव प्राणादि जाग्रद् दशामें और प्राणादि प्रभव प्राणादि उत्ताग्रदे दशामें और प्राणादि प्रभव प्राणादि सुन्तादि दशाग्रोंमें पाये जाते हैं, इनमें जो चैतन्य प्रभव प्राणादि है उससे जाग्रद् दशामें चैतन्यका अनुमान करना तो गुक्त है किन्तु प्राणादि प्रभव प्राणादिसे सुन्त आदि दशामें चैतन्यका अनुमान करना युक्त नहीं, जैसे गोपाल घटादि [इन्द्रजालियाके घटमें] घूमसे प्रादुर्भुत धूमद्वारा अग्निका ग्रमुमान करना ग्रक्त संगत नहीं होता प्रपितु ग्रग्निसे प्रादुर्भुत धूमद्वारा ही ग्रम्किका ग्रमुमान करना ग्रक्त होता है। ग्रम्भिप्राय यह है कि सुन्त दशाके प्राण चैतन्यसे उत्पन्न नहीं हुए है ग्रतः उनके द्वारा चैतन्यका अनुमान करना अगुक्त है ?

समाधान-यह शंका असत् है, सुप्तादिदशा और जाग्नद् दशा इनमें प्राणादि भिन्न भिन्न हो ऐसा प्रतीत नहीं होता, जिसप्रकार सुप्त पुरुष श्वासको ग्रहण करते हुए श्रीवित रहता है उसीप्रकार जाग्नद् पुरुष भी श्वासको ग्रहण करते हुए जीवित रहता है, यदि दोनोंमें श्वासादिकी विशेषता होती तो क्या यह व्यक्ति सुप्त है अथवा जाग्नद् है ऐसा संदेह नहीं होता । दूसरी बात यह भी है कि यदि सुप्त व्यक्ति के ये प्राणापात्रादि चैतन्यप्रभव न होकर प्राणादि प्रभव हैं ऐसा माने तो कोई जाग्नत् पुरुष परको ठगनेके अभित्रायसे सुप्त के समान पड़ा रहता है उसके प्राणापानादि सुप्त दक्षाके प्राणापानादि सुप्त दक्षाके प्राणापानादि सुप्त वैता सक्ते।

ब्रुमः प्रयत्नशतैरपि भ्रूमादन्यतो वा जायते भ्रूमप्रभवो वाक्नेरिति । इत्यन्ते च ते याद्या एव सुयुप्तस्य तादशा एवास्यापि । तक्षेते भिक्रकाररणप्रभवाः । चैतन्येतरप्रभवां⊯ प्रारणादीन् विवेचयन्वीतरागेतर-प्रभवव्यापारादीनपि विवेचयतु । तथा च

''सरागा ग्रपि वीतरागवच्चे ष्टन्ते वीतरागाश्च सरागवदिति वीतरागेतरविभागो निरुचेतुम-शन्यः।' [ ] इति प्लवते।

श्रूमरुवाग्नेश्रूमाञ्चोत्पद्यमानो यथा प्रतिपन्नस्तथा प्राणादिरुवेतन्यात्तदभावाञ्चोत्पद्यमानः स्वात्मनि परत्र चानेन प्रत्येतुंन शक्यते क्वचित्तदभावस्य निरुवेतुमशक्यत्वादित्युक्तम् । झूमे च

करता है उसके प्राणादि चैतन्य प्रभव होनेसे सुप्त जैसे प्रतीत नहीं होने चाहिये किन्तु सुप्त जैसे ही प्रतीत होते हैं। अग्निसे प्रादुर्भूत धूम सेंकड़ों प्रयत्न द्वारा भी धूम से या अन्यसे प्रादुर्भूत नहीं होता और धूम प्रभव धूम कभी अग्निसे प्रादुर्भूत नहीं होता, किन्तु यहां जिसतरह के ही प्राणादि सुप्तके होते हैं उसीतरह के ही छलसे सुप्त हुए जाअत पुरुषके दिखाई देते हैं, अतः ये प्राणादि भिन्न भिन्न कारणसे प्रादुर्भूत नहीं हैं। तथा चैतन्य प्रभव प्राण और प्राणादि प्रभव प्राण इनमें पृथक्करण करना इच्ट है तो आपको सरागप्रभव व्यापार [वचनादिकी किया] और वीतराग प्रभव व्यापार इन दोनोंमें भी पृथक्करण करना होगा और ऐसा करने पर प्रापका निम्न आगम वाक्य असत् ठहरेगा कि ''सराग पुरुष भी वीतराग सहश किया करते हैं और वीतराग पुरुष भी सराग सहश किया करते हैं अतः सराग और वीतरागका विभाग निश्चित करना अशक्य हैं' इत्यादि।

किन्ब, जिसप्रकार धूमके दो भेद-अग्नि प्रभव धूम और धूमप्रभव धूम उत्पन्न होते हुए पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं उसप्रकार प्राएगादि के दो भेद चैतन्यप्रभव प्राणादि और प्राएगादि के दो भेद चैतन्यप्रभव प्राणादि और प्राएगादि के दो भेद चैतन्यप्रभव प्राणादि और प्राएगादि के दो भेद चैतन्यप्रभव प्राणादि अगैर प्राएगादि के द्वारा प्रतीति में लाना शक्य नहीं है क्योंकि कहीं पर [सुप्तादिमें] प्राणादिक अभावका निश्चय करना अशक्य है ऐसा सिद्ध हो चुका है। धूमके विषयमें तो निश्चय हो जाता है, यह धूम अग्निसे उत्पन्न हुआ है अथवा धूमांतरसे उत्पन्न हुआ है ऐसा संदेह होनेपर अग्निक देखने और नहीं देखनेसे वह संदेह दूर होता है किन्तु प्राणादि विषय में यह सब संभव नहीं है, यह प्राणादि अनंतर चैतन्य से उत्पन्न हुए हैं ऐसा संदेह होनेपर

'किमयं घूमोऽनेः, घूमान्तराद्वा' इति सन्देहः प्रवृत्तस्याग्निदशंनेतराभ्यां निवर्तते । प्राणादौ तु 'किमय-मनन्तरचैतम्यप्रमयः, किं वा भूतभाविजन्मान्तरचैतन्यप्रभवः' इति सन्देहः कृतो निवर्तते परचैतन्यस्य इष्टुमशक्यत्वात् ? ततोस्य न निश्शङ्कः परप्रतिपादनार्यं शास्त्रप्रणयनं युक्तम् । सन्देदात् तद्म्रणयनं चार्बाकस्याध्यविषद्धम्, इत्ययुक्तमुक्तम्-''श्रन्याचयो गतेः'' | ] इति ।

उसको दूर करना ग्रशक्य है क्योंकि पर चैतन्यको देखना शक्य नहीं है। इसप्रकार परके चैतन्यका ग्रस्तित्व संदेहास्पद हो जाता है, जब पर चैतन्यका ग्रस्तित्व ही निश्चत नहीं है तो ग्रापके बुद्धदेव निश्शंकरीत्या परजीवोंको संबोधन करनेके लिये शास्त्र रचना किसप्रकार कर सकते हैं प्रयात नहीं कर सकते। यदि कहा जाय कि पर चैतन्यके ग्रस्तित्वका संदेह रहते हुए भी वे शास्त्र रचना कर लेते हैं तब तो चार्वाकमतमें भी शास्त्र रचना ग्रविरुद्ध सिद्ध होगी ? इसतरह सिद्ध होनेपर परके बुद्धि का निश्चय श्रनुमान प्रमाण ढारा होता है अतः प्रत्यक्ष प्रमाणके समान श्रनुमान प्रमाण को मानना भी श्रावश्यक है इत्यादिरूपसे चार्वाक के प्रति बौद्ध द्वारा किया गया प्रति-पादन श्रयुक्त ठहरता है।

भावार्थ-बौद्ध भ्रादि परवादी निद्रितादिदशामें चैतन्यके धर्मस्वरूप ज्ञानका अस्तिस्व नहीं मानते हैं, किन्तु निद्रितादिदशामें श्वास लेना आदिष्ट प चैतन्यके श्रस्तिस्व के बाह्य चिह्न दिखायी देते हैं, जैसे कि जाग्रद् दशामें दिखायी देते हैं, ग्रत: यदि उन चिह्नों के रहते हुए भी निद्रितादिदशामें चैतन्यका श्रस्तित्व एवं उसके ज्ञान धर्मको नहीं माना जाय तो जाग्रद् दशामें भी ज्ञानका तथा चैतन्यका अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। इस तरह किसी भी पर व्यक्तिमें ज्ञानादिका निश्चय नहीं हो सकनेंगे उसको उपदेश देना भी अशक्य है फिर परोपदेशके हेतुसे बुद्धका शास्त्र प्रणयन करना विरुद्ध ही पड़ता है। यदि बौद्ध इस बातको स्वीकार कर लेवे कि पर व्यक्तिके ज्ञानका निश्चय नहीं होता तो उन्हींके द्वारा श्रमुमान प्रमाणको सिद्ध करनेके लिये कहा गया है कि पर व्यक्तिके बुद्धिका ग्रहण श्रमुमान प्रमाणको सिद्ध करनेके लिये कहा गया है कि पर व्यक्तिके बुद्धिका ग्रहण श्रमुमान प्रमाणको होता है श्रदा अनुमान प्रमाणका सद्भाव है इत्यादि सो वह कथन विरुद्ध हो जाता है, इसलिये पर व्यक्तिके ज्ञानका निश्चय नहीं होता ऐसा बौद्ध स्वीकार कर हो नहीं सकते। ज्ञानका निश्चय प्राणापान ध्रादि से होता है श्रय्वात् श्वास लेना भादि जीवित चिह्न द्वारा चैतन्य एवं ज्ञानका अस्तित्व जाना जाता है ये चिह्न जाग्नद है ऐसा कहना श्रागम एवं तर्क विरुद्ध पड़ता है।

सुष्तादी चाद्यः प्राणादिः कृतो जायताम् ? जायद्विज्ञानसहकारिणोजाग्रत्प्राणादेरिति चेत्; नः एकस्माज्जाप्रद्विज्ञानादनन्तरभावीप्राणादिः कालान्तरभावि च प्रवोधज्ञानमित्यस्यासम्भाध्यमान-त्वात् । न ह्ये कस्मात्सामग्रीविशेषात् क्रमभाविकार्यद्वयसम्भवो नामः, प्रत्यथा नित्यादस्यक्रभारकमव-त्कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः । तथाच "नाऽक्रमात्क्रमिणो भावाः" [प्रमाणवा० १।४४ ] इत्यस्य विरोधः। तस्मात्त्कालभाविन एव ज्ञानात् प्राणादिप्रभवोऽम्युपगन्तव्यः। तत्क्वयं तत्र ज्ञाना-भावसिद्धः ?

स्वापसुत्रसंवेदनं चात्र सुप्रतीतम्-'सुत्वमहमस्वापम्' इत्युत्तरकालं तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्तेः । न ह्यननुभूते वस्तुनि स्मरत्यं प्रत्यभिज्ञानं चोपपद्यते । न च तदा स्वापसुत्रनिरूप्णभावात्तरसंवेदना-

मुप्त दशामें प्राणापान श्रादि प्राणादिप्रभव होते हैं ऐसा परवादी मानते हैं इस मान्यतामें प्रश्न होता है कि मुप्तादि दशामें शुरुका प्राणापान किससे उत्पन्न होता है कि मुप्तादि दशामें शुरुका प्राणापान किससे उत्पन्न होता है ऐसा कहो तो युक्त नहीं, एक ही जाग्रद् प्राणादिसे उक्त प्राणापान उत्पन्न होता है ऐसा कहो तो युक्त नहीं, एक ही जाग्रद् ज्ञानसे श्रनंतर भावी प्राणादि श्रीर कालांतरभावी प्रवोधज्ञान इसतरह दो कार्योका होना श्रसंभव है, क्योंकि एक सामग्री विशेषसे कमभावी दो कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती, श्रन्यथा नित्य एवं श्रकमवर्ती कारणंसे भी किमक कार्यकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग प्राप्त होगा, श्रीर ऐसा स्वीकार करनेपर "श्रकमभ्यूत कारणंसे कमवर्ती पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता" ऐसा बौद्धाभिमत प्रमाण वार्तिक ग्रथका कथन विरुद्ध हो जायगा। इसलिये सुप्तादि दशामें तत्कालभावी ज्ञानसे ही प्राणादिकी उत्पत्ति होती है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। अतः सुप्तादि अवस्थामें ज्ञानका श्रभाव कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि सुप्तादि दशामें निद्रा सम्बन्धी सुखका संवेदन होता है "मैं सुख पूर्वक सोया था" इसप्रकार उत्तर कालमें होनेदाली प्रतीति की अन्यथानुष-पित्तसे ही जात होता है कि सुप्त दशामें संवेदनका अस्तित्व था। क्योंकि जिसका अनुभव नहीं हुआ है ऐसे वस्तुमें स्मृति और प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। सुप्त दशाके समय निद्रा सुखका निरूपण नहीं होनेसे उस संवेदनका अभाव है ऐसा कहना भी अयुक्त है, उसी दिन जन्मे हुए बालक के मुखमें प्रक्षिप्त स्तनके दूभके पीनेसे उत्पन्न

भावः; तदहर्जातवालकस्य मुखप्रक्षिप्तस्तत्यजनितसुखसंवेदनेन व्यक्षिचारात् । न खलु तत्ते न 'इदिम-त्यम्' इति निरूप्यते ।

न च दुःसाभावात्सुखशब्दप्रयोगोऽत्र गौराः; ग्रभावस्य प्रतियोगिभावान्तरस्वभावतया व्यवस्थितः इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

यश्चोक्तम्-भ्रनेकान्तज्ञानस्य बाधकसद्भावेन सिस्यारवोषपत्तेनं निःश्रेयससाधकरवम्; तदम्प्रुक्ति मात्रम्; तज्ज्ञानस्येवाबाधिततया सम्यक्ष्येन वक्ष्यमागुरवात् । नित्यानित्यस्वयोविधिप्रतिषेषक्ष-स्वादिभिन्ने धर्मिण्यभावः; इत्याद्यप्ययुक्तम्, प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धेः। न चयेन रूपेण

हुम्रा सुख उस बालक द्वारा निरूपित नहीं होता तो भी उसका ग्रस्तिस्व स्वीकार करते हैं श्रत: निरूपण नहीं होनेसे निद्रित दशामें संवेदनादिका श्रभाव है ऐसा कहना व्यक्तिचरित होता है।

निद्रित अवस्थामें दुःखका अभाव होनेसे "सुख पूर्वक सोया या" इत्यादि प्रतीतिमें सुख शब्दका प्रयोग होता है अतः गौए। है इसप्रकार कहना भी अशक्य है, अभाव भी भावांतर स्वभाववाला होता है ऐसा पूर्वमें निश्चय कर आये हैं, अतः स्रब सुप्तादि दशामें ज्ञानका सद्भाव करनेसे बस हो वह सर्वथा सुप्रसिद्ध ही है।

जैनके मोक्ष स्वरूपमें दोष उपस्थित करते हुए वैशेषिकने कहा था कि जैन भ्रनेकांतके ज्ञानसे मोक्ष होना मानते हैं किन्तु उस ज्ञानमें बाधाका सद्भाव होनेके काररण मिष्यापना है श्रत: वह मोक्षका हेतु नहीं हो सकता, सो यह उक्ति मात्र है, भ्रनेकांत स्वरूप ज्ञान ही सर्वथा अवाधित होनेसे सम्यग् है ऐसा हम ग्रागे प्रतिपादन करनेवाले हैं।

शंका−िनत्य और श्रनित्य धर्म परस्परमें विघि और प्रतिषेध रूप होनेसे एक धर्मीमें उनका अभाव है १

समाधान–यह शंका ग्रसत् है, जो वस्तु प्रतीतिमें ग्रा रही है उसमें विरोध मानना ग्रसिद्ध है। तथा वस्तुमें जिसरूपसे नित्यपनेकी विधि होती है उसी रूपसे ग्रनित्यपनेकी विधि नहीं होती है जिससे कि उनका एकत्र रहना विरुद्ध हो जाय, ग्रनुकृत रूपसे तो नित्यत्वकी विधि होती है ग्रौर व्याकृतरूपसे अनित्यत्वकी विधि होती है ऐसा हमारा ग्रविरुद्ध सिद्धांत है। तथा विभिन्न घर्मोंके निमित्तसे होनेवाले विधि निरयस्वविश्वस्तेनेवानित्वस्वविश्वः; वेनैकत्र विरोधः स्यात्; अनुकृत-व्यानृत्ताकारतया निस्थानित्यस्व-विषेरम्युपगुमात् । विभिन्नवर्मानिमित्तयोश्च विश्विश्रतिषेचयोर्नेकत्र प्रतिषेधः श्रतिप्रसङ्गात् । न चानु-कृतव्यानृत्ताकारयोः सामान्यविषेषरूपतयाऽऽत्यन्तिको भेदः; पूर्वोत्तरकालभाविस्वयययादारस्येनाद-स्थितस्यानुगताकारस्य वाह्याध्यारिमकार्थेषु प्रत्यक्षप्रतीतौ प्रतिभासनादित्यग्रे प्रपश्चियध्यते ।

स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं च अस्तुनोऽम्युपगम्यते एवेतरेतराभावात्; इत्यप्यसमी-क्षिताभिधानम्; इतरेतराभावस्य घटादभेदे तद्विनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटाभावस्य विनष्टत्वात्। प्रथ घटाद्विस्रोऽसौ; तर्हि घटादीनामन्योन्यं भेदो न स्यात्। यथैव हि घटस्य घटाभावाद्विश्वत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात्। नाप्येषां परस्पराभिन्नानामभावेन भेदः कत्ै शक्यः; भिन्नामिन्न-

प्रतिषेधोंका एकत्र रहना निषिद्ध भी नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग होगा स्रर्थात् स्वकार्यके प्रति कर्नृत्व और पर कार्यके प्रति अकर्नृत्व और दो धर्म भी एकत्र वस्तुमें रहना दुर्लभ होगा जो कि सभी परवादीको अभीष्ट है। अनुद्वताकार सामान्यरूप है और व्यावृत्ताकार विशेषरूप है अताः इनमें अत्यन्त भेद है ऐसा कहना भी अशक्य है, बाह्य और आध्यात्मिक [अचेतन और चेतन] सभी पदार्थोंमें पूर्व उत्तर कालभावी स्व स्व पर्यायोंके साथ तादात्म्य रूपसे रहनेवाला अनुगताकार [ अनुद्वताकार ] प्रत्यक्षज्ञानमें साक्षात् ही प्रतिभासित हो रहा है, इस विषयमें आगे विस्तार पूर्वक कथन करेंगे।

वस्तुका स्वदेशादिमें सत्व और परदेशादिषु असत्व इतरेतरामावसे होता है ऐसा वैशेषिक का स्वीकार करना भी असमीक्षकारी है, यदि आपके इतरेतराभावको पदार्थसे अभिन्न माने तो घटके नष्ट होनेपर उससे अभिन्न इतरेतराभावको गदार्थसे अभिन्न माने तो घटके नष्ट होनेपर उससे अभिन्न इतरेतराभावका नाश होगा और पटकी उत्पत्ति का प्रसंग आयेगा क्योंकि पटका अभाव विनष्ट हो चुका है। यदि इस इतरेतराभावको घटसे भिन्न स्वीकार करे तो घट पट ग्रादि पदार्थोका परस्परमें भेद नहीं रहेगा, क्योंकि जैसे भिन्न घटाभावसे घटको घटकपता हो सकती है वैसे पट आदिकी भी हो सकती है। तथा परस्पर अभिन्न महीं, क्योंकि यदि प्रभाव ने भिन्न इप भेदको किया तो उक्त पदार्थोका सांक्यं वन बैठेगा और यदि अभिन्नरूप भेदको किया तो पदार्थको ही किया ऐसा अर्थ होनेसे ग्रभावको ग्रांकिवत्करता सिद्ध होती है। पदार्थोमें भेदका व्यवहार इतरेतराभाव मूलक हो ऐसी बात भी नहीं है, जगत्के यावन्मात्र पदार्थ अपने अपने कारणोद्धारा असावारण स्वरूपसे उत्पन्न हए हैं उनका प्रस्थकों साक्षात् प्रतिभासन हो रहा है उसीसे भेद व्यवहार की सिद्धि हो जाती है।

भेदकरणे तस्याकि चिरकरत्वप्रसङ्गात् । नापि भेदव्यवहारः; स्वहेतुस्योऽसाधारणतयोत्पन्नानां सकत-भावानां प्रत्यक्षेप्रतिभावनादेव भेदव्यवहारस्यापि प्रसिद्धः । प्रतिक्षिप्तव्वेतरेतराभावः प्रागेवेति कृतं प्रयासेन ।

कार्यान्तरेषु चाऽकर्तृत्वं न प्रतिषिष्यते; इत्याद्यप्यसारम्; एकान्तपक्षे कार्यकारित्वस्यै-वासम्भवात्।

यञ्च मुक्तावप्यनेकात्तो न व्यावस्तिः तिरुध्यते एव । प्रनेकात्तो हि द्वेघा-कमानेकात्तः, प्रक्रमानेकात्तरच । तत्र कमानेकात्तापेक्षया य एव प्रागमुक्तः स एवेदानीं भुक्तः संसारी चेरयविरोधः । प्रनेकात्तेऽनेकात्ताम्युपगमोप्यदूषस्यमेवः प्रमासपिरुव्वेद्धस्यानेकघर्माध्यासिसवस्तुस्वरूपानेकात्तस्य नयपरिच्छेद्यं कान्ताविनाभावित्वात् ।

इस इतरेतराभावका प्रथम भागके ''झभावस्य प्रत्यक्षादावंतर्भोवः'' इस प्रकरणमें भनीभांति निरसन भी हो चुका है श्रतः यहां घ्रधिक नहीं कहते ।

स्वकार्यमें कर्नृत्व और कार्यांतरमें सकर्नृत्वका निषेध नहीं करते इत्यादि रूपसे वैशेषिक का पूर्वोक्त कथन भी ब्रसार है, एकांत पक्षमें कार्यकारी पना होना ही सर्वथा ब्रसंभव है।

पहले बैशेषिक ने कहा था कि जैन मुक्तिमें भी अनेकांत की व्यावृत्ति नहीं मानते सो बात ठीक ही है, अनेकांत दो प्रकारका है कम अनेकांत और अक्रमअनेकांत, इनमेंसे कम अनेकांतकी अपेक्षा देखा जाय तो जो ही पहले अमुक्त या वही इससमय मुक्त हुआ है, और संसारी भी है, इसप्रकार द्रव्यहिष्टिसे संसारी और मुक्तका एकत्र अविरोध है। अनेकांतमें भी अनेकांत मानना होगा इत्यादि कहना भी हमारे लिये दूषणरूप नहीं है, प्रमाणद्वारा परिच्छेद्य एवं अनेकधमोंसे अध्यासित ऐसा जो वस्तु स्वरूप अनेकांत है उसका नयद्वारा परिच्छेद्य रूप एकांतके साथ अविनामावपना होने के कारण अनेकांतमें अनेकांत सुघटित ही होता है।

विशेषार्थ-"धनेके कन्ताः घर्माः वर्त्तन्ते यस्मिन् पदार्थे सोयं अनेकान्तः" इसप्रकार अनेकान्त शब्दका ब्युस्पत्ति सिद्धि अर्थ है अर्थात् अनेक धर्म गुण या स्वभाव जिसमें पाये जाते हैं उस वस्तुको अनेकांत नामसे कहा जाता है, बस्तुमें यह जो अने-

## 'म्रात्मैकत्वज्ञानात्' इत्यादिग्रन्थस्तु सिद्धसाध्यतया न समाधानमहेति।

कांत या गुणधर्म समूह पाया जाता है वह दो प्रकारका है कम अनेकांत और अकम अनेकांत, प्रत्येक वस्तुमें कम प्रवाह रूपसे ग्रवस्थायें ग्रथवा पर्यायें ( हालतें ) प्रादुर्भूत होती रहती हैं उन्हें कम अनेकांत कहते हैं, जैसे मिट्टीरूप वस्तूमें घट, कपाल आदि अवस्थायं होती रहती हैं । उसी वस्तुमें यूगपत् अनेक गुणधर्मोंका जो अस्तित्व दिखाई दे रहा है उन्हें अक्रम अनेकांत कहते हैं। इन्हीं कम अक्रम अनेकांतको अन्यत्र पर्याय तथा गुण नामसे कहा है ग्रर्थात कम ग्रनेकांत मायने पर्याय और ग्रकम ग्रनेकांत मायने गुण। गुण हो चाहे पर्याय दोनों ही एक एक नहीं है अपित अनेक अनेक हैं इसीलिये गणपर्याय यक्त वस्तुका सार्थक नाम 'अनेकांत' है । इस ग्रनेकांत रूप वस्तुका सर्वांगीन युगपत ज्ञान प्रमाण द्वारा [ सकल प्रत्यक्ष द्वारा ] होता है अतः यहां पर अनेकांत को प्रमाण परिच्छेद्य कहा है। वस्तुके एक एक गुणधर्मका ज्ञान नय द्वारा होता है अतः एकान्त नय परिच्छेद्य है । जो वस्तु प्रमाण द्वारा परिच्छेद्य है वह श्रवश्यमेव नय द्वारा भी परिच्छेद्य होती है इसीलिये अनेकांत के साथ एकान्त का अविनाभावीपना है। वस्त के उक्त गुणधर्मोंमें नित्य अनित्य, सत् ग्रसत् आदि प्रतिपक्षी धर्म भी समाविष्ट है ऐसे प्रतिपक्षभूत धर्मों का सद्भाव एक ही वस्तुमें किस प्रकार हो सकता है ? ऐसी आशन्द्रा होने पर स्याद्वाद सप्तभंगीका भवतरण होता है कि ये नित्य अनित्य आदि धर्म भिन्न भिन्न प्रपेक्षाके साथ एकत्र वस्तुमें यूगपत् संभावित हो जाते हैं अर्थात स्यात कथंचित द्रव्यद्दष्टिसे वस्तूमें नित्यता है, स्यात् पर्यायद्दष्टिसे ग्रनित्यता है इत्यादि, इस स्याद्वादका विवरण आगे इसी ग्रन्थमें [तृतीय भाग में] होनेवाला है। प्रत्येक वस्तुमें यह स्याद्वाद प्रक्रिया अवश्यंभावी है, अतः परवादी की आशंका थी कि सभीमें अने-कांत स्याद्वादका ग्रस्तित्त्व है तो स्वयं ग्रनेकान्तमें भी ग्रनेकान्त होना ही चाहिये। इसका समाधान यह है कि जैन अनेकान्त में भी अनेकान्त मानते हैं; कैसे सो बताते हैं-अनेकान्त में स्यात कथंचित एकान्त है तथा स्यात अनेकान्त है, एकान्त दो प्रकार का है सम्यग्एकान्त और मिथ्या एकान्त, वस्तु के एक देशको सापेक्ष ग्रहण करनेवाला सम्यग्एकान्त है श्रौर एक धर्मका सर्वथा श्रवधारण करके अन्य सब धर्मीका निरा-करण करनेवाला मिथ्या एकान्त है, सम्यग नयके विषयभूत सम्यग्एकांत का ही इस श्रनेकांतके स्याद्वादमें ग्रहण समक्तना, मिथ्या एकान्त तो काल्पनिक शुन्यरूप वचन न च गुरापुरुवान्तरविवेकदर्शनं निःश्चेयससाधनं घटते; प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि शरीरेरा सहावस्थानान्त्मिथ्याज्ञानवत् ।

श्रव फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षां तत्त्वज्ञानं परिनःश्रं यसस्य साधनम्, तदनपेक्षं चाऽपर-निःश्रं ससस्येत्युच्यक्षेः, तदय्युक्तिमात्रम्, फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौपक्रमिकविकल्पानितिकमात् । तस्यौ-पक्रमिकत्वे कुत्तस्तदुपक्रमोऽन्यत्र तपोतिशयात्, इति तत्त्वज्ञानं तपोतिशयसहायमन्तर्भू तत्त्वार्थश्रद्धानं परिनःश्रं यसकारणमित्यनिच्छतोप्यायातम् । तस्यानौपक्रमिकत्वे तृ सदा सद्भावागुषङ्गः ।

प्रलाप मात्र है। इस प्रकार अनेकान्तरूप वस्तु एवं अनेकांत ग्राहक प्रमाण की सिद्धि निर्वाधरूपसे होती है।

ग्रात्मा के एकत्व ज्ञानसे मोक्ष होता है इत्यादि कथन तो सिद्धसाध्यता रूप होनेसे उसमें समाधान की ग्रावश्यकता नहीं है।

प्रधान ग्रीर पुरुषका भेद दर्शन [भेद ज्ञान] मोक्षका हेतु है ऐसा कहना भी घटित नहीं होता, आत्मामें उस भेद दर्शनकी चरम प्रकर्ष अवस्था होने पर भी शरीर के साथ वह ग्रवस्थित रहता है जैसे कि मिथ्याज्ञान शरीरके साथ स्थित रहता है, अभिप्राय यह है कि प्रधान ग्रीर पुरुषके भिजताका ज्ञान होने मात्रसे मोक्ष होता तो जिस किसीको वह ज्ञान होनेके साथ मोक्ष हो जाना या किन्तु ऐसा नहीं होता भेद ज्ञान होने पर भी कितने ही समय तक योगोजन निःश्रयसको प्राप्त नहीं करते ग्रतः केवल भेद ज्ञान मोक्षका कारण है ऐसा सिद्ध नहीं होता।

सांख्य-जो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर्मोके फलोंका उपयोग करके होने वाले क्षयकी अपेक्षा रखता है वह पर निःश्रेयस [जीवन्मुक्ति] का कारण है ग्रीर जो उक्त क्षयकी अपेक्षा नहीं रखता वह तत्त्वज्ञान ग्रपर निःश्रेयस [परममुक्ति] का कारण है ऐसा हुम मानते हैं।

जैन–यह कथन अयुक्त है, कर्मफलोंका उपभोग दो विकल्परूप है औपक्रमिक फलोपभोग और अनौपक्रमिक फलोपभोग, इनमंसे उक्त फलोपभोग औपक्रमिक रूप माने तो वह उपकम भी तपोतिशयको छोड़कर ग्रन्थ कौन-सा होगा ? अर्थात् तपोतिशयरूप उपकम ही होगा । अतः तपोतिशयकी सहायतासे जो युक्त है जिसके अंतर्भूत तत्त्वार्थ अद्धान है ऐसा तत्त्वज्ञान परिनःश्रयस का कारण है ऐसा नहीं चाहते हुए भी सांस्थादि यच्च स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानं मोक इत्युक्तम् तदयुक्तम् चैतन्यविधेपेऽनन्तक्षानादिस्व-रूपेऽवस्थानस्य मोक्षात्वसाधनात् । न ह्यानन्तक्षानादिकमात्मनोऽस्वरूपं सर्वक्रत्वादिविदोधात् । प्रधा-नस्य सर्वक्रत्वादिस्वरूपं नात्मन इत्यसत् तस्याचेतनत्वेनाकाशादिवत्तद्विरोधात् । क्षानादेरप्यचेतन-त्वात् प्रधानस्वम(धा)वत्वाविरोधक्षेत् ; कुतस्तदचेतनत्विद्धिः ? 'ध्रचेतना क्षानादय उत्पत्तिमत्वाद् धटादिवत् ' इत्यनुमानाच्चेत् ; न; हेतोरनुभवेनानेकान्तात्, तस्य चेतनत्वेष्युत्पत्तिमत्वात् । न चोत्प-त्तिमत्वमसिद्धम् परापेक्षत्वाद्बुद्धपादिवत् । परापेक्षोसौ बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यवसि त मर्षं पृष्ठवश्चेतयते" [ ] इत्यिषधानात् ।

परवादी को मानना होगा। यदि उक्त फलोपभोगको ब्रनौपक्रमिक स्वीकार करे तो वैसा फलोपभोग सदा होनेसे मोक्षका सद्भाव भी सदा मानना होगा।

चैतन्यमात्र स्वरूपमें अवस्थान होना मोध है ऐसा पूर्वोक्त कथन भी अयुक्त है, चैतन्यमात्र में नहीं अपितु अनन्तज्ञान दर्शन आदि चैतन्यके विशेष स्वरूपमें अव-स्थान होना मोक्ष है। अदि अनंतज्ञान आदिको आत्माका स्वरूप नहीं माना जायगा तो उसके सर्वज्ञपना आदि धर्मोंके साथ विरोध प्राप्त होगा।

सांस्य-सर्वज्ञपना आदि धर्म प्रधानका स्वरूप है, आत्माका नहीं।

जैन-यह कथन ग्रसत् है, प्रधान तत्त्व श्रचेतन होनेसे उसमें सर्वज्ञत्व ग्रादि धर्म पाये जाना विरुद्ध है जैसे श्रचेतन श्राकाशादि पदार्थीमें सर्वज्ञत्वादि पाये जाना विरुद्ध है।

सांख्य-ज्ञानादि धर्मोंको भी भ्रवेतन स्वीकार किया है ग्रतः वे प्रधानके स्व-भाव हो सकनेसे विरोध नहीं ग्राता ।

जैन-ज्ञानादि धर्म अचेतन हैं ऐसा किस हेतुसे सिद्ध होगा ?

सांख्य-ज्ञानादि गुणधर्म अचेतन हैं, क्योंकि उत्पत्तिमानरूप हैं, जैसे घट पट आदि उत्पत्तिमान होनेसै अचेतन हैं। इस अनुमान द्वारा ज्ञानादि का अचेतनपना सिद्ध होता है।

जैन–यह ग्रनुमान असत् है क्योंकि हेतु ग्रनुभव [दर्शन] के साथ ग्रनेका-न्तिक हो जाता है, ग्रनुभवमें चेननपना होते हुए भी उत्पत्तिमत्व है, ग्रनुभवका उत्पत्ति मानपना ग्रसिद्ध है ऐसा भी नहीं समऋना, क्योंकि यह बुद्धि ग्रादिकी तरह परापेक्षी कालात्ययापदिष्टरुवायं हेतुः; ज्ञानादीमां स्वसंवेदनप्रत्यक्षाच्चेतनत्वप्रसिद्ध रघ्यक्षवाधितपक्षा-नन्तरं प्रयुक्तत्वात् । चेतनसंसर्गान्ते यां चेतनत्त्वप्रसिद्धिः; इत्यप्यचित्रवाभिधानम्; शरीरादेरिप तत्-प्रसिद्धिप्रसङ्गात् चेतनप्र(त्व)संसर्गाविष्ठेषात् । शरीराधसम्भवी तेषां संसर्गविष्ठोधोत्तीति चेतुः स कोन्योऽप्यत्र कथिचनादात्स्यात् ? तदष्टकुतकत्वादेः शरीरादाविष भावात् । ततो नाचेतना ज्ञाना-दयः स्वसंविद्यत्वादनुभववत् । स्वसंविद्यास्ते परसंवेदनान्ययानुपपत्तेरिति स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे प्रति-

है, बुद्धिक प्रध्यवसायकी अपेक्षा रखनेसे अनुभव पर सापेक्ष ही है, कहा भी है "बुद्ध्य-ध्वसितमर्थ पुरुषश्चेतयते"। यह उत्पत्तिमत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी है क्योंकि ज्ञानादि धर्म स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा ही चेतन रूप प्रसिद्ध हो रहे हैं, प्रत्यक्ष प्रमाणसे पक्षके वाधित होने पर इस उत्पत्तिमत्व हेतुका प्रयोग हुमा है इसीलिये उक्त दोषसे दुष्ट है।

सांख्य-चेतनका संसर्ग होनेके कारण ज्ञानादि धर्म चेतनरूप प्रसिद्ध होते हैं ?

जैन-यह कथन चर्चा योग्य नहीं है, चेतनका संसर्ग होने मात्रसे कोई चेतन रूप प्रसिद्ध हो तो शरीरादिको भी चेतनरूप प्रसिद्ध होना चाहिये क्योंकि चेतनका ससंगंतो इनके भी है ?

सांख्य-शरीरादिमें असंभव ऐसा चेतन का विशेष संसर्ग उन ज्ञानादिमें पाया जाता है अतः वे ही चेतनरूप प्रसिद्ध होते हैं।

जैन-वह विशेष संसर्ग भी कथंचित तावात्म्यको छोड़कर प्रत्य कोई नही हो सकता प्रयात् ज्ञानादिधमं और चेतनधर्मी इनका परस्पर तावात्म्य सम्बन्ध है ऐसा आपके उक्त संसर्ग शब्दका प्रयं है। सहष्ट द्वारा [पुष्प पाप द्वारा] किये गये संसर्ग को संसर्ग विशेष कहना तो पूर्ववत् सदोष होगा, क्योंकि प्रहष्टकृत संसर्ग विशेष कारी-रादिमें भी है। प्रतः प्रतुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि ज्ञान दर्शनादि गुणधर्म प्रवेतन नहीं हैं, क्योंकि वे स्वसंवेद्य हैं, जैसे अनुभव स्वसंवेद्य होनेसे प्रवेतन नहीं है। ज्ञान प्रादिका स्वसंवेद्यपना भी तर्क संगत है, ज्ञानादि धर्म प्रपने द्वारा प्रमुभवन करने योग्य [ज्ञानने योग्य] होते हैं, क्योंकि पर संवेदनको प्रत्यानुपपत्ति है प्रयत् एवंदि ये ज्ञानादिक स्वद्वारा संवेद्यान नहीं होते तो वे परका संवेदन भी नहीं कर सकते थे, इस विषयका प्रतिपादन पहले स्वसंवेदनजानवादमें [प्रथम भाग में] कर चुके हैं।

पादितम् । तथा चात्मस्वभावास्ते चेतनत्वादनुभववत् । सुखमप्यात्मस्वभाव एव मोक्षेऽभिव्यज्यमान-त्वाद् ज्ञानवत् । ग्रनात्मस्वभावत्वे तत्र तदभिव्यक्तिनस्यादःखवत् ।

तथा सुलात्मको मोक्षद्वेतनात्मकत्वे सत्यलिलटुःखविवेकात्मकत्वात् संहतसकलविकत्य-घ्यानावस्थावत्। तथानन्तं तत् आत्मस्वभावत्वे सत्यपेतप्रतिबन्यत्वात्ः ज्ञानवदेव । प्रपेतप्रतिबन्धत्वं तु मोहनीयादेः प्रतिबन्धकस्य कर्मणोऽपायात्प्रसिद्धमेव । इति सिद्धमनन्तज्ञानादिर्धतन्यविवेषेऽवस्थानं पुंसो मोक्ष इति ।

इसप्रकार ज्ञानादि धर्मोमें चेतनत्व सिद्ध होता है प्रतः वे आत्माके स्वभाव हैं क्योंकि चैतन्यरूप हैं, जैसे अनुभव चेतनरूप हैं। ज्ञानके समान सुख भी आत्माका ही स्वभाव है, क्योंकि ज्ञानके समान वह भी मोक्षमें अभिव्यक्त होता है, यदि सुख आत्माका स्वभाव नहीं होता तो मोक्षमें उसकी ग्राभिव्यक्ति नहीं होती, जैसे दुःख श्रास्माका स्वभाव नहीं होते कारण उसकी मोक्षमें ग्रभिव्यक्ति नहीं होती।

मोक्ष सुखात्मक होता है, क्योंकि चेतनात्मक होकर सम्पूर्ण दुःखोसे विविक्त-रूप हो चुका है, जिसप्रकार निरुद्ध होगये हैं सकल विकल्पजाल जिसमें ऐसी घ्यान की अवस्था सुखात्मक हुआ करती है। वह मोक्षका सुख अंत रहित अनन्त है, क्योंकि ग्रात्माका स्वभाव होकर प्रतिवन्धसे रहित है, जैसे ज्ञान आत्माका स्वभाव है पुनश्च प्रतिवन्ध रहित है अतः अनन्त होता है [कभी भी नाश नही होता] ज्ञान सुख भ्रादि आत्मीक गुणों का प्रतिवन्ध रहितपना इसलिये हुआ है कि मोहनीय ज्ञानावरणीय इत्यादि प्रतिवन्धक स्वरूप कर्मोंका सर्वथा ग्रभाव [ नाश ] हो गया है। इस प्रकार जैन द्वारा प्रतिपादित पूर्वोक्त मोक्षका लक्षण भ्रवाधित सिद्ध होता है कि भ्रात्मा का ग्रनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य रूप चैतन्यविशेषमें सदा शाश्वत रूपेन अवस्थान हो जाना मोक्ष है।

#### ।। इति मोक्षस्बरूपविचार समाप्त ।।

# मोक्ष स्वरूप विचार का सारांश

पूर्व पक्ष-जैन लोगोंने अनन्त अनादि गुणोंकी प्राप्ति होना मोक्ष माना है सो युक्त नहीं है, मोक्षमें तो बुद्धि ध्रादि नौ विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं, अनुमानसे यह बात सिद्ध होती है। बुद्धि भ्रादिक ग्रारमाके विशेष नौ गुणोंकी सन्तान अरयन्त नष्ट हो जाती है क्योंकि वह सन्तान रूप है जैसे दीपककी सन्तान। यह सन्तानत्व हेतु श्रसिद्धादि पांचों दोषोंसे रहित है। उस बुद्धि भ्रादिक अभाव होनेरूप मोक्षका कारण तत्त्वज्ञान है। सर्व प्रथम तत्त्वज्ञान होता है उसके होते ही मिष्याज्ञान नष्ट हो जाता है, फिर कमसे रागादि विकार पार कर जाते हैं रागादिक श्रभावमें मन, वचन, काय की चेष्टायें शांत होती हैं, पुनश्च पुष्य पाप रूप धर्म अधर्म भी उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार नये कर्मोंक श्रागमनके कारण हट जाने पर संचित हुए जो धर्म प्रधर्म हैं उनका सुख दु:खादि रूप फल भोग करके नाग्र होता है। कोई पूछे कि यदि कर्म विना भोगे खूटते नहीं तो नित्य नैमित्तिक किया किसलिये की जाती है ? तो उसका समाधान यह है कि मोक्षमार्गमें आयी हुई बाधाओंको रोकनेके लिये कियानुष्ठान किया जाता है। इस तरह हमारा मोक्षका स्वरूप निर्दाण है।

अब कमसे अन्यके मोक्षका विचार करते हैं—वेदान्ती आनन्दरूपताको मोक्ष मानते हैं, सो उन्हें पूछते हैं कि म्रानन्द सुख रूप है, सो वह सुख निस्य है या म्रानत्य ? निस्य है तो उसका संवेदन सदा होता रहनेसे संसारावस्थामें भी मोक्ष का आनन्द प्राप्त होनेका प्रसंग म्राता है। यदि वह म्रानन्द म्रानिस्य है तो मोक्षमें उसकी किस कारणसे उत्पत्ति होगी ? योगज धर्मके म्रानुम्रहसे युक्त हुम्मा मन उस सुख को उत्पन्न करता है ऐसा आपने माना है किन्तु ऐसा मन मोक्षमें नहीं है। तथा यदि मोक्षमें सुख है तो उसके लिये शरीरादिकी कल्पना करनी पड़ेगी। बौद्ध विगुद्ध ज्ञान उत्पन्न होनेको मोक्ष मानते हैं, सो सराग ज्ञानसे विगुद्ध वीतराग ज्ञान उत्पन्न होना म्रसम्भव है। यदि कहा जाय कि म्रम्यास विशेषसे रागादि नष्ट होकर गुद्ध ज्ञान हो जायगा सो भी युक्त नहीं, भ्रापके यहां विनाश निर्हे तुक माना है, तथा क्षणिक पक्षमें जैन ग्रनेकान्तकी भावनासे विशिष्ट जगह पर अक्षय ज्ञानरूप शरीर ग्रादि की प्राप्ति होनेको मोक्ष कहते हैं, वह भी अयुक्त है, ग्रनेकान्त ज्ञान ही मिथ्या है क्योंकि उसमें विरोधादि दोष ग्राते हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मवादी का परमात्मा में लीन होना रूप मोक्ष भी असिद्ध है, क्योंकि उनके यहां सभी वस्तु ब्रह्मरूप है श्रतः कौन किसमें लीन होगा । सांख्य प्रकृति ग्रीर पुरुषमें विवेक होना मोक्ष है ऐसा कहते हैं वह भी ठीक नहीं, मोक्षके लिये पुरुष्पायं प्रधान करे श्रीर उसका लाभ पुरुष भोगे, ऐसा सिद्ध नहीं होता । इस प्रकार सभी परवादीके मोक्षका लक्षण सत्य नहीं है।

उत्तर पक्ष-वैशेषिकने मोक्षके विषयों सब मतका खण्डन कर स्रपना पक्ष सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है किन्तु उसमें वे सफल नहीं हुए, क्योंकि उनके स्वयं के मोक्षका लक्षण भी असम्भव है। बुद्धि आदि गुणोंका नाश सिद्ध करने के लिये दिया हुआ हेतु सदोष है, क्योंकि किसी भी वस्तुका सर्वथा उच्छेद नहीं देखा गया है, दीप की सन्तान भी सर्वथा नष्ट नहीं होती किन्तु प्रकाश अवस्थाको छोड़कर अच्छक्तार रूप होती है। बुद्धि आदि गुणोंका सर्वथा नाश होगा तो गुणी आत्मा भी नष्ट हो जायगा। अपने कहा कि तत्त्वज्ञानसे विपरीत ज्ञानका नाश होता है फिर कमसे धर्मादिका नाश होता है अतः तत्त्व ज्ञान मोक्षका कारण है सो उस पर हमारा कहना है कि यद्यपि तत्त्वज्ञान, धर्मादिको नष्ट करता है तो भी अतीन्त्रिय ज्ञान, सुख इत्यादि गुणोंको नष्ट नहीं कर सकता है। आपने उदाहरण दिया कि जैसे रोगी बिना इच्छाके औषिध का सेवन करता है वैसे योगीजन बिना इच्छा के कर्म से प्राप्त उपभोग को करते हैं सो यह दृष्टान्त गलत है रोगी भी निरोग होने की इच्छा से औषधि सेवन करता है।

वेदान्तीके ग्रानन्द स्वरूप मोक्षका खण्डन किया था सो क्या मोक्षमें भ्रानंद नहीं रहता तो शोक विषाद रहता है ? अर्थात् नहीं । हां वेदान्तीका नित्य एक कूट-स्य रूप जो ग्रानन्द है वह ठीक नहीं हैं । वेदान्ती कहे कि ग्रानन्दको श्रनित्य मानंगे तो उसके उत्पत्तिका कारण भी मानना होगा सो कर्मीका नाश होना रूप कारण ग्रनंत सुख रूप ग्रानन्दको उत्पत्ति करता है ऐसा जैन ने माना है । विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्धका कथन भी कुछ ठीक है किन्तु बौद्धको जिसमें विशुद्ध ज्ञान

उत्पन्न होता है उस आस्माको नित्य मानना होगा तभी उसके पहलेका अगुद्ध ज्ञान नष्ट होकर विगुद्ध ज्ञान होना रूप मोक्ष सिद्ध हो सकेगा। जैनके मोक्षका समर्थन तो स्रागे कर ही रहे हैं स्रतः उसका खण्डन करना प्रशक्य है।

ब्रह्माद्वं तवादके मोक्षका निरसन तो ठीक ही है क्योंकि जब ब्रह्म स्वरूप एक ही तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है तब उसमें अवस्थाते अवस्थान्तर होना इत्यादि रूप मोक्ष सिद्ध नहीं होता,।

सांख्यके द्वारा माना गया चैतन्यमें ग्रवस्थान होना रूप मोक्षका खण्डन उचित है क्योंकि वह मोक्षका लक्षण ग्रसस्य है, सांख्य भी वैद्येषिकके समान अकेले तस्वज्ञानसे मोक्ष होना कहते हैं उसमें वही प्रथ्न है कि तत्त्वज्ञान होनेके बाद पूर्व संचित कर्मका कमसे भोग करके मोक्ष होता है या ग्रकम से भोग करके ? कमसे होना तो शक्य नहीं क्योंकि कमसे भोग करनेमें नये नये कर्म बन्ध होते जायेंगे इत्यादि पहलेके दोष ग्रात हैं, और श्रकमसे कही तो उनमें तप ग्रादि कारण अवश्य मानने होंगे। तथा सांख्य भी मोक्षमें ज्ञानका ग्रभाव मानते हैं अत: उनके मोक्षका स्वरूप ग्रासिद्ध है।

जैन के मोक्ष स्वरूपका खण्डन होना ग्रसम्भव है, क्योंकि वह निर्दोष है। वैशेषिकने कहा था कि अनेकान्त की भावनासे मोक्ष होता है तो उस ग्रनेकांत को मोक्ष ग्रवस्थामें भी मानना पड़ेगा है सो हमें इष्ट ही है। ग्रत: ग्रनेकांतका जो तत्त्वज्ञान है उस तत्त्वज्ञानके द्वारा जिसको सम्यग्दर्शन, सम्यग्वारित्र ग्रादिकी सहायता
है ऐसे ज्ञानके द्वारा ग्रात्माका अवस्थान्तर होता है वहीं मोक्ष है, मोक्षमें ग्रनंतज्ञान, अनंतदर्शन, ग्रनंतसुख, अनंतवीय, इस प्रकार ग्रनंत चतुष्ट्य स्वरूप ग्रात्मा स्
उत्पन्न होने वाला सुख या आनन्द भी रहता है ग्रन्थथा ज्ञान और सुख रहित ऐसे
वैशेषिकादि की मुक्तिके लिये कौन पुरुष प्रयत्न करेगा है ग्रथीत् नहीं करेगा। ग्रनंत
सुखादि गुण उनके प्रतिबंधक कर्मोंके नष्ट होनेसे प्राप्त होते हैं, कर्मोंका ग्रस्तित्व तथा
उनका नाश ये दोनों मुख्य प्रत्यक्षका लक्षण करते समय सिद्ध हो चुका है, इस प्रकार
ग्रनंत चतुष्ट्य स्वरूप मोक्ष है यह मोक्षका लक्षण निर्दोष सिद्ध होता है।

## ॥ मोक्षस्वरूपविचार का सारांश समाप्त ॥



नतु पुंस एवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभलक्षरणो मोक्ष इत्ययुक्तम्; स्वीग्णामप्यस्योपपत्तेः । तथाहि-म्रिक्त स्वीग्णां मोक्षोऽविकलकाररणस्वात् पृष्ठयवत्; तदसत्; हेतोरसिद्धः, तथाहि-मोक्षहेतुर्ज्ञान्तिपरमप्रकर्षः स्वीयु नास्ति परमप्रकर्षस्वात् सप्तमपुष्टवीगमनकाररणापुष्पपपरमप्रकर्षयत् । यदि नाम तत्र तत्काररणापुष्पपपरमप्रकर्षभावो मोक्षहेतोः परमप्रकर्षभावे किमायातम् ? कार्यकाररणस्थाप्यध्या-पक्षभावाभावे हि तथोः कथमन्यस्थाभावेऽत्यस्याभावोऽतिप्रसङ्गात् इति चेत्; सत्यम्; प्रयं हि तावस्नि-

श्वेताम्बर-अभी सांख्य मतके मुक्तिका खण्डन करते हुए जैन ने कहा था कि अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय रूप मोक्ष पुरुषके ही होता है, सो ऐसा आग्रह ठीक नहीं है, मोक्ष तो स्त्रियों को भी होता है, इसीको अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि स्त्रियोंको मोक्ष होता है, क्योंकि मोक्षके अविकल कारण उनके भी होते हैं, जैसे पुरुष के होते हैं ?

दिगम्बर—यह कथन अयुक्त है, "अविकल कारणत्वात्" हेतु ग्रसिद्ध है, कैसे सो बताते हैं, मोक्ष के कारणभूत जो ज्ञानादि गुण है उनका परम प्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं होता है, क्योंकि वह परम प्रकर्ष रूप है, जैसे सप्तम पृथ्वीमें जाने के कारणभूत पापका परम प्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं पाया जाता है।

ष्वेताम्बर—नरक का कारण पापकर्म का परम प्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं होता तो उससे मोक्षके कारणका परम प्रकर्ष होने में क्या बाधा ख्रायो १ जिससे उसके ख्रमाव में मोक्ष कारण का भी अभाव माना जाय १ मोक्ष के कारणभून ज्ञानादि का परम प्रकर्ष और नरकके कारणभूत पापका परमप्रकर्ष इन दोनोंमें कारण कार्यभाव या यमोस्ति-यद्वेदस्य मोक्षहेतुपरमश्रकपैस्तद्वेदस्य तस्कारणाषुण्यपरमश्रकपींप्यस्येव, यथा पुंवेदस्य । न च चरमणरीरेण व्यभिचारः; पुंवेदसामान्यापेक्षयोक्तः । विपरीतस्तु नियमो न सम्भवत्येव; नपुंसकवेदे तस्कारणाषुण्यपरमश्रकषें सत्यप्यन्यस्यानम्भुगगमात् पुंस्यम्भुपगमान्चन, धनित्यस्वस्य प्रय-त्नानन्तरीयकत्वेतरस्ववत् । ततस्व स्त्रीवेदस्यापि यदि मोक्षहेतुः परमश्रकषेः स्यात्, तदा तदस्यु-पगमादेवापरोप्यिनिष्टोऽवद्यमाश्यते, अन्यथा पुंस्यपि न स्यात् । सिद्धे च प्रतिवन्धद्वयाभावेषि कृति-कोदयादिवदुक्तप्रकर्षथोरिवनाभावे स्त्रीत्यां तत्कारणाषुण्यपरमश्रकपंश्वितयेवेन मोक्षहेतुपरमश्रकपं निषिष्यते ।

व्याप्य व्यापक भाव तो नहीं है फिर इनमेंसे एकके स्रभाव में स्रन्यका भी स्रभाव कैसे कर सकते हैं ? स्रतिप्रसंग होगा।

दिगम्बर-ग्रापने ठीक कहा, किन्तु यह तो नियम है कि जिस वेद में मोक्ष के कारणों का परमप्रकर्ष है उस वेदमें पाप कारणोंका परम प्रकर्ष भी है, जैसे पूरुष-वेद में दोनों उपलब्ध हैं, इस कथनमें चरम शरीरीके साथ व्यभिचार भी नहीं होता क्योंकि हमने पुरुषवेद सामान्य की अपेक्षा से कथन किया है। ऐसा विपरीत नियम तो सम्भव नहीं है कि मोक्ष हेतुका प्रकर्ष व्यापक (साध्य हो) और नरक के कारणभूत पाप का प्रकर्ष व्याप्य हो, (हेतु) क्योंकि नपुंसकवेद में नरक का कारणभूत पाप का प्रकर्ष है किन्तू मोक्ष के कारण ज्ञानादि का प्रकर्ष तो नहीं है, पूरुए में दोनोंको स्वी-कार किया है। जिस प्रकार अनित्यत्व को हेत् और प्रयत्नानंत रीयकत्व या अप्रयत्ना-नंतरीयकत्व को साध्य बनाने में विपरीत कम होता है उसी प्रकार नरक गमन के कारण का जो प्रकर्ष है उसको हेत् ग्रौर मोक्ष के कारण के प्रकर्प को साध्य बनावे तो विपरीत कम होता है। इस तरह का कम माने तो स्त्रीवेद में यदि मोक्ष के कारण का प्रकर्ष ग्राप श्वेताम्बर मानते हैं तो उसके साथ ग्रापको ग्रनिष्ट ऐसा जो पाप का प्रकर्ष है वह भी अवश्य मानना पड़ेगा, ग्रन्यथा पुरुष में भी पाप का प्रकर्ष नहीं रहेगा ? पाप का प्रकर्ष और मोक्ष के कारण का प्रकर्ष इन दोनों में तादात्म्य सम्बंध या तदूरपत्ति सम्बन्ध रूप ग्रविनाभाव नहीं है किन्तु कृतिका नक्षत्र का उदय और रोहिणी नक्षत्र का उदय इन दोनोंका जिस जातिका स्रविनाभाव है उस जातिका पाप प्रकर्ष ग्रौर मोक्ष हेत् प्रकर्षमें ग्रविनाभाव है अतः जहां स्त्रियोंके लिये पाप प्रकर्ष का निषेध किया जाता है साथ ही मोक्ष हेतुके प्रकर्ष का भी निषेध होता है।

न च 'नपुंसकस्य मोक्षहेतुपरमप्रकर्षोस्ति तत्कारणाषुण्यपरमप्रकर्षसद्भावात् पुंबत् । पुंसो वा नास्त्यत एव नपुंसकवत् । तत्कारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षो वा नपुंसके नास्ति परमप्रकर्षत्वात् स्वी-विदित्यप्यिनिष्ठापितः उभयप्रसिद्धाद्धे तोरुभयप्रसिद्धस्य निषेधेनोभयोस्तुत्यस्वात्' इत्यिभिष्ठातथ्यस् उभयाभिश्रेतायमेन वाधनात् । स्त्रीणां तु तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षं पराभ्युपगतेनैव मोक्षहेतुपरमप्रकर्षेणापाद्य तत्प्रतिषेधेन तद्धेतुरेव प्रतिषिध्यत इत्यस्ति विशेषः ।

यद्वा नोक्तानुमाने तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षाभावाद्धेतोर्मोक्षहेतुपरमप्रकर्षः स्त्रीषु निषिध्यते,

शंका—नपुंसक के मोक्षके कारणोंका प्रकर्ष है, क्योंकि उनके नरकके कारण भूत पापका प्रकर्ष होता है, जैसे पुरुषके होता है। ग्रथवा नपुंसक के समान पुरुष के भी मोक्षहेतु का प्रकर्ष नहीं है क्योंकि नपुंसक के समान इसके पाप प्रकर्ष का प्रभाव है। ग्रथवा नपुंसक में नरक के कारणभूत पाप का प्रकर्ष नहीं है, क्योंकि वह परम प्रकर्ष है, जैसे स्त्रीवेदी के वह पाप प्रकर्ष नहीं होता है। इस तरह दोनों जगह प्रसिद्ध हेतु से दोनों के (दिगम्बर श्वेताम्बर) साध्यका निषेध समान रूपसे हो जाता है। ग्रथित स्त्रीमें मोक्ष हेतुका प्रकर्ष सिद्ध करना चाहते हैं ग्रीर दिगम्बर स्त्री सं उसका ग्रभाव सिद्ध करना चाहते हैं किंतु उभयत्र समान हेतु होनेसे दोनोंका साध्य सिद्ध नहीं होता है ।

समाधान-ऐसा नहीं कह सकते, दिगम्बर और श्वेताम्बर में इब्ट जो आगम है, उसके द्वारा स्त्री मुक्ति में बाधा आती है, श्वेताम्बर मतमें स्त्रियों में नरक का कारणभूत पापका प्रकर्ष मानते नहीं हैं अतः जब एक प्रकर्ष नहीं माना तो मोक्ष हेनुका प्रकर्ष भी उसीसे निषिद्ध हो जाता है, इसिलये दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मतमें समान हेनु और निषेध नहीं है, हम दिगम्बर तो पुरुषमें दोनोंका प्रकर्ष देखकर उसके मुक्ति होना स्वीकार करते हैं, और तुम लोग स्त्रियोंमें पापका प्रकर्ष नहीं मानकर भी मोक्षहेतु का प्रकर्ष मानते हो सो यह युक्ति संगत नहीं है।

श्रयवा हमने शुरूमें जो श्रनुमान उपस्थित किया था कि स्त्रियोंमें मोक्ष हेतुका परम प्रकर्ष नहीं होता है क्योंकि वह परम प्रकर्ष है, जंसे उनके सप्तम नरकमें गमन के कारण पापका परम प्रकर्ष नहीं होता है, पाप प्रकर्षके अभावरूप हेतुवाले इस अमुमान द्वारा स्त्रियोंमें मोक्ष हेतुके प्रकर्षका निषेध नहीं करते हैं अपितृ इष्टान्त में सप्तम नरक गमन हेतु प्रकर्ष अभाववत्) परमप्रकर्ष हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति प्राप्त तु परमप्रकर्षस्वाद् दृष्टान्ते दृष्टसाध्यव्याप्तिकात् । न वात्र केतविद्वयभिवारः; स्त्रीसम्बन्धिनः कस्यविस्परमप्रकर्षस्यासम्भवात् । मायापरमप्रकर्षोस्तीति वेत्; नः स्त्रीएां मायाबाहुल्यमात्रस्यैवागमे प्रसिद्धः । प्रत्यया पुंत्तसत्मपृषिवीगमनानुषङ्कः । 'मायापरमप्रकर्षादन्यत्वे सति' इति विशेषणाद्वा न दोषः । तम्र आनादिपरमप्रकर्षो मोबहेनुस्तत्रास्तीत्यसिद्धो हेनुः । न खलु ज्ञानादयो यथा पुरुषे प्रकृष्यमाएगः प्रमाएगतः प्रतोपन्ते तथा स्त्रोध्विपि, प्रत्यया नपुंसके ते तथा स्युः, तथा वास्या-प्यपवर्गप्रसङ्कः ।

संयमस्तु तद्वेतुस्तत्रासम्भाव्य एवः तथाहि-स्त्रोणां संयमो न मोक्षहेतुः नियमेर्नाद्विविशेषा-हेतुस्वान्यथानुपपत्तेः । यत्र हि संयमः सांसारिकलब्बोनामण्यहेतुः तत्रासौ कयं नि शेषकर्मविप्रमोक्त-

देखकर इसके द्वारा स्त्रियोमें मोक्षके हेतु का प्रकर्ण निष्ध्य किया जाता है। इस परम प्रकर्णत्वात् हेतुका किसीके साथ व्यभिचार भी नहीं है ग्रथीत् स्त्रियोमें किसीका भी परमप्रकर्ण नहीं होता है। स्त्रियोमें मायाका प्रकर्ण होता है ग्रतः हेतु व्यभिचारी है ऐसा भी नहीं कहना, स्त्रियोमें मायाका वाहुत्य होता है इतना ही ग्रामम वाक्य है, यदि माया का प्रकर्ण स्त्रियोमें होता तो वह पुष्कि समान सातवं नरकमें जा सकती थीं। यदि किसीका जबरदस्त ग्राग्रह हो कि, नहीं स्त्रियोमें तो माया का परमप्रकर्ण होता ही है, तब तो हम "परम प्रकर्णत्वान्" इस हेतुमें "माया परम प्रकर्णद्वाद्यत्वे-सित" इतना विशेषण जोड़ देंगे, अर्थात् माया प्रकर्णको छोड़कर ग्रन्य किसी प्रकार का परमप्रकर्ण स्त्रियोमें नहीं होता है, ऐसा कथन करनेसे श्रनुमान निर्दोष होता है। इस प्रकार स्त्रियोमें नहीं होता है, ऐसा कथन करनेसे श्रनुमान निर्दोष होता है। इस प्रकार स्त्रियोमें जानादि गुणों का परमप्रकर्ण जो कि मोक्ष का हेतु है वह नहीं है यह भली प्रकार निश्चित हुगा, अतः श्वेताम्बरका "ग्राविकल कारणत्वात्" हेनु ग्रासिद्ध ही रहा। पुनश्च-जानादि गुण पुरुषमें जिस प्रकार से प्रकृष्ट होते हुए दिखाई देते हैं उस प्रकार सित्रयोमें नहीं दिखाई देते, यदि स्त्रियोमें इन गुणोकी उत्कृष्टता होनी तो नपु सकमें भी होती ? फिर तो स्त्रियोके समान नपु सक के भी मुक्ति होनेका प्रसंग भाता है।

तथा मोक्ष के कारणों में अन्तर्भूत हुया जो संयम है उसका स्त्रियोमें होना असम्भव है, अब इसीको बताते हैं-स्त्रियों का संयम मोक्ष का हेत् नहीं है, क्योंकि स्त्रियोमें नियमसे ऋदि विशेषके ब्रहेतुत्वकी अन्यथानुपपत्ति है, प्रथीत ऋदिके कारण-भूत संयम भी स्त्रियों के नहीं है तो मोक्षका कारणभूत संयम कैसे हो सकता है ? लक्षसामोक्षहेतुः स्यात् ? नियमेन च स्त्रीरामित ऋद्विविश्वेषहेतुः संयमो नेष्यते, न तु पुरुषारााम् । यदि हि नियमेन लव्धिविशेषस्याजनकः संयमः क्वचिद्रत्यत्राविवादास्पदीभूते मोक्षहेतुः प्रसिद्ध्येत् तदा तद्दष्टान्तावष्टस्मेनात्राप्यसी तथा प्रत्येतुं शक्येत, नान्यवातिप्रसङ्गात् । संयममात्रं तु सदप्यासां न तद्वेतुः तिर्यगृहस्थादिसंयमवत् ।

सचेलसंयमरवाच्च नासौ तद्वेतुर्गृहस्यसंयमवत् । न चायमसिद्धो हेतुः; न हि स्वीर्णा निर्वस्यः संयमो रष्टः प्रवचनप्रतिपादितो वा । न च प्रवचनाभविषि भोक्षसुखाकाक्षया तासा बस्य-त्यामो युक्तः; ब्रहेत्व्रस्पीतागमोह्नं पने मध्यात्वाराधनाप्राप्तेः । यदि पुनर्नृ सामचेलोसौ तद्वेतुः स्त्रीर्णा तु सचेलः; तर्हि कारसभिदान्युक्ते रप्यनुषज्येत भेदः स्वर्गीदिवत् । देशसंयमिनदर्चवं मुक्तिः

जहां पर सांसारिक लिब्धयां भी जिससे नहीं हो पाती वहां वह संयम सम्पूर्ण कमोंका सदा के लिये नाश होने रूप मोक्षका कारण कैसे हो सकेगा ? िहत्रयों के ऋदि का कारणभूत संयम नहीं होता किन्तु पुरुषों के विषय में ऐसा नियम नहीं है, उनके तो ऐसा संयम होता है, यदि नियम से लिब्धका अजनक संयम विवाद रहित किसी पुरुष विशेषमें मोक्ष का कारण होता हुआ उपलब्ध होता तो उस हष्टान्तके बल से स्त्रियों उसी रूपसे निश्चय करते किन्तु ऐसा नहीं है। तथा स्त्रियों के मोक्ष होना मानेंगे तो गृहस्थके भी मुक्ति होनेका अतिप्रसंग आता है। स्त्रियों के सामान्यतः संयम (देश संयम,) तो है किन्तु वह संयम मोक्ष का कारण नहीं है, जैसे तिर्यंच का संयम या गृहस्थ का संयम मोक्षका कारण नहीं है।

स्त्रियों के सबस्त्र संयम है ग्रतः मोक्षका हेतु नहीं है जैसे गृहस्य का संयम नहीं है। "सचेल संयमत्वात्" यह हेतु ग्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि स्त्रियों में वस्त्र रहित संयम कहीं पर देखा नहीं गया है, ग्रीर न शास्त्र में ही उसका प्रतिपादन है। शास्त्रमें वस्त्र रहित संयम स्त्रियोंको नहीं बताया है तो भी मोक्ष सुलकी ग्रभि-लाषिणी स्त्रियां वस्त्रका त्याग करेगी तो गलत किया कहलायेगी, क्योंकि अहंन्त भग-वानके शास्त्रका उल्लंघन करनेसे तो मिध्यात्व हो जाता है। कोई कहे कि पुरुषके तो वस्त्र रहित संयम मोक्षका हेतु है, ग्रीर स्त्रियोंके वस्त्र सहित संयम मोक्षका हेतु है, ग्रीर स्त्रियोंके वस्त्र सहित संयम मोक्षका हेतु है, ग्रीर स्त्रियोंके वस्त्र सहित संयम मोक्षका हेतु है उसमें भी यह कथन ठीक नहीं है। जहां कारण भेद होते हैं वहां कार्य जो मुक्ति है उसमें भी भेद होवेगा, जैसे स्वर्गादिके कारणों में भेद होनेसे स्वर्ग जाने में भेद पड़ता है। तथा सबस्त्रके मुक्ति होती है तो देशसंयमीको हो सकेगी ? फिर तो दीक्षा लेना ही

प्रसञ्चते । तथा च लिङ्गग्रहरामनर्यकम् । सचेलसंयगस्च मुक्तिहेतुरिति कुतोऽवगतम् ? स्वागमा-च्चेत्; च; ग्रस्यास्मान् प्रत्यागमाभासत्वाद् भवतो यज्ञानुष्ठानागमवत् ।

स्त्रियो न मोक्षहेतुसंयमवत्यः साधूनामवन्द्यत्वाद् गृहस्थवत् । न चात्रासिद्धो हेतुः;

"वरिससयदिक्खियाए अञ्जाए अञ्ज दिक्कियो साहू । अभिगमरावंदराग्रामंसायविगाएगा सो पुञ्जो ॥" [ ] इत्यभिधानात् ।

बाह्याम्यन्तरपरिप्रहृवस्वाच्च न तास्तद्वत्यस्तद्वत् । न चायमितद्वो हेतुः; प्रत्यक्षेगावगतो हि वस्त्रप्रहृणादिवाह्यपरिप्रहोऽम्यन्तरं स्वशरीरानुरागादिपरिग्रहमनुमापयति । न च शरीरोष्मणा वातकायिकादिजन्तूपथातिनवारणार्यं स्वशरीरानुरागावभविष्यसावुप तीयते इःयभिषेयस्; पुंसामा-चेलस्यवतस्य हिंसात्वानुषङ्गात् । तथा चाहँबादयो मुक्तिभाजस्तदुपदेष्टारो वा न स्युः; किन्तु सवस्त्रा एव गृहस्बा मुक्तिभाजो भवेषुः । न चाचेलक्यं नेष्यते ।

बेकार होगा । आपने सचेल संयम मोक्षका कारण है ऐसा किस प्रमाग से जाना है १ अपने आगमसे जाना है कहो तो ठीक नहीं, हम दिगम्बर के लिये वह ग्रागमाभास है, जैसे आपको यज्ञावुष्टानादि प्रतिपादक मीमांसकका ग्रागम आगमाभास रूप है। स्त्रियां मुक्त नहीं होती इस विषयमें ग्रौर भी अनुमान हैं, स्त्रियां मोक्ष के कारण्भूत संयमवाली नहीं हो सकतो क्योंकि वे साधुप्रों के लिये वन्दनीय नहीं हुपा करती हैं, जैसे गृहस्य वन्दनीय नहीं होते हैं। कहा भी है—सैकड़ों वर्षोंकी दोक्षित प्रायकायें ग्राज के दीक्षित साधु को नमस्कार करती हैं साधु उनके द्वारा वन्दनीय, ग्रादरणीय होता है, विनय करने योग्य होता है, सम्मुख जाने योग्य होता है।।१।।

स्त्रियां बाह्य प्रभ्यन्तर परिग्रह युक्त भी होती हैं अतः मोक्ष के योग्य संयम को नहीं धार सकतीं। यह बाह्याभ्यन्तर परिग्रहत्व हेतु भी श्रसिद्ध नहीं है प्रत्यक्ष से दिखता है कि वस्त्र प्रहिएगिदि बाह्य परिग्रह तथा स्वशरीरका अनुरागादि रूप श्रभ्यंतर परिग्रह स्त्रियोंके होता है। ग्वेताम्बर कहे कि शरीरकी गरमी से वायुकायिक आदि जीवोंको बाधा न होवे इसलिये शरीरका २।ग नहीं रहते हुए भी स्त्रियां वस्त्र को धारण करती हैं ऐसा कथन गलत है, इस तरह तो पुरुषोंके ब्राचेलक्य (वस्त्र स्याग) नामा वत हिंसाका कारण बन जायगा १ फिर तो ग्रहाँत, गणधर ब्रादिक मुक्तिके पात्र नहीं रहेंगे, न ग्राचेलक्य का उपदेश देने वाले मुक्तिके पात्र होंगे, ग्रपितु वस्त्रधारी

"भ्राचेलवकुट् सिय सेज्जाहररायपिंडकिदिकम्म" [ जीतकल्प−भा० गा० १६७२ ] इत्यादेः पुरुषं प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात् ।

किन्त, गृहीतेषि वस्त्रे जन्त्रभातस्तदवस्यः, तेनानानृतपाणिपादादिप्रदेशोष्मणा तदुप-घातस्य परिहत्तुं मशक्तेः। वस्त्रस्य युकालिक्षाद्यनेकजन्तुसम्मूच्छ्नाधिकरण्यात्वाच्च । तथाविधस्यापि स्वीकरणे मूद्रं जानां लुखनादिक्रिया न स्यात् । वस्त्राकुखनादेजीतवातेनाकाशप्रदेशावस्थितजन्तूप-पीडनाञ्च व्यजनादिवातवन् ।

किञ्च, एवमनेक प्राण्युपधातनिवार्त्णार्थमिविहारीप्यनुष्टेयो वस्त्रबह्एावदविशेषात् । प्रयत्नेन गच्छतो जन्तूपधातेप्यहिंसा निश्चेलेपि समा। यथा च यज्ञानुष्ठानं पशुहिंसाङ्गरवेनाऽश्चेयस्करस्वान् त्याज्यं तथा वस्त्रप्रहरामप्यविशेषात् ।

गृहस्थ मुक्तिके पात्र होंगे ? किन्तु ब्राचेलक्य धापको इष्ट न हो सो बात नहीं है। ब्राचेलक्य, औहेशिक, शय्याघर ब्रादि दश प्रकारका स्थिति कल्प साधुक्रोंके लिये ग्रागममें बतलाया है, सो उसमें साधुका ब्राचेलक्य गुण ब्राया है।

आपने कहा कि संयमके लिये वस्त घारण किया जाता है, सो वस्त्र ग्रहणमें भी जीवोंका घात तो होता ही है, वस्त्रसे नहीं ढके हुए ऐसे शरीरके ग्रवयव हाथ पैर ग्रादि की गरमीसे जीवोंका होने वाला घात रुक नहीं सकता है। तथा वस्त्र स्वयं जूं, लिक्षा आदि ग्रनेक सम्मूच्छन जीवोंका ग्राधारभूत है, ऐसे वस्त्र को भी ग्रहण किया जाय तो केशोंका लोंच आदि किया भी जरूरी नहीं रहेगी? तथा वस्त्र को फैलाना, समेटना ग्रादि व्यापारने वायु संचार होकर ग्राकाश प्रदेशमें स्थित जीवोंका घात होता है, जैसे पंखा ग्रादि से हवा करनेमें जीवों का घात होता है।

दूसरी बात यह है कि यदि जीवों का बचाव करने के लिये वस्त्र प्रहण करते हैं तो विहारमें अने क जीवों का घात होता है अतः साधुको विहार नहीं करना चाहिये ? तुम कही कि प्रयत्न पूर्वक ईयां समितिसे विहार करनेमें जीवों का घात होते हुए भी साधुको अहिंसक माना है, सो यही बात वस्त्र त्यागमें है अर्थात् वस्त्रका त्याग करने पर शरीर की गरमी से जीवों का घात कभी भी हो जाय तो साधु प्रमाद रहित होने से अहिंसक कहलाता है। जैसे यज्ञानुष्ठान पशु हिंसाका कारण होनेसे अकल्याणकारो होनेसे त्यागने योग्य है, दोनों में समानता है।

एतेन संयमोपकरएगार्थं तदित्यपि निरस्तम्।

किया, बाह्याम्यन्तरपरिष्ठहपरित्यागः संयमः । स च याचनसीवनप्रकालनशीषरानिक्षेपा-वानचौरहरुणादिमनः संक्षोभकारिणिवस्त्रे गृहीते कथं स्यात् ? प्रत्युत संयमीपघातकमेव तत् स्या-'दुबाह्याम्यन्तरनैर्यन्य्यप्रतिपन्यित्वात् ।

> ह्रीद्योतातिनिबृत्यथं वस्त्रादि यदि गृह्यते । कामिन्यादिस्तथा किन्न कामपीडादिशान्तये ? ॥ १ ॥ येन येन विना पीडा पुंसां समुपजायते । तत्तत्सर्वमुपादेयं लावकादिपलादिकम् ॥ २ ॥ वस्त्रवर्ण्य गृहोतेपि विरक्तो यदि तस्वतः । स्त्रीमात्रेपि तथा किन्न तुल्याक्षेपसमाधितः ॥ ३ ॥

"जीवों की रक्षा के हेतु वस्त्र है" यह बात जैसे खण्डित होती है वैसे संयम का उपकरण वस्त्र होने से ग्रहण करते हैं, यह कथन भी खण्डित होता है।

बाह्य और ग्रभ्यन्तर परिग्रहका त्याग करना संयम कहलाता है, वस्त्र ग्रहण करने पर उसको सीना, धोना, सुखाना, रखना, उठाना तथा चोरके ले जाने पर मन में क्षोभ होना इत्यादि असंयमकी बातें हो जाने से संयम किस प्रकार पल सकता है १ वस्त्र ग्रहण से उल्टे संयम का नाश होता है वस्त्र तो बाह्याभ्यन्तर निर्ग्न न्यता का प्रतिपक्षी है।

वस्त्र को लज्जा, शीत की पीड़ा ग्रादिका निवारण करनेके लिये ग्रहण करते हैं ऐसा कहा जाय तो स्त्री ग्रादि को भी काम पीड़ाका निवारण करने के लिये ग्रहण करना दोवास्पद नहीं होगा १ ।।१।। फिर तो जिस जिस कारणमे पीड़ा दूर हो वह वह सब पदार्थ पक्षी आदिका मांस ग्रादि भी ग्रहण करने योग्य होंगे १ ।।२।। श्वेतांबर कहते हैं कि थोड़ा-सा वस्त्र लेने पर भी वास्तिवक दृष्टिसे वह साधु विरागी हो बना रहता है १ तब ऐसा हो सकता है कि स्त्री को ग्रहण करने पर भी साधु विरागी ही है, इसमें भी प्रश्न उत्तर समान रहेंगे। राग सहित हो स्त्री का ग्रहण होता है ऐसा कहो तो वस्त्रमें भी यही दोष है कि वह भी राग सहित होकर ही ग्रहणमें ग्राता है। तथा वस्त्र ग्रहण मात्रसे राग नहीं ग्राता है तो स्त्री मात्र ग्रहणसे भी राग नहीं ग्राता नापि तन्वीमनःक्षोभिनवृत्ययं तदावतम् ।
तद्वाञ्छाऽहेतुकःत्वेन तिष्ठिषेवस्य सम्भवात् ।। ४ ॥
वलुक्त्पाटनं पट्टबन्यनं च प्रसञ्यते ।
लोजनादेस्तदुत्पत्तौ निमित्तत्वाविषेयतः ॥ ४ ॥
चलचिताङ्गना काचित्यंयतं च तपस्विनम् ।
यदीच्छिति आनुविक्तं तोषस्तस्य मतो नृणाम् ॥ ६ ॥
बीभत्सं मिननं सामुं कट्टबा शवारोरवत् ।
सङ्गनातैव रज्यत्ते वरज्यत्ते तु तत्वतः ॥ ७ ॥
स्त्रीपरीयहभननेश्च वद्धरामेश्च विग्रहे ।
वस्त्रपादीयते यस्मासिद्धं मन्यद्वयं ततः ॥ ८ ॥
वस्त्रपादीयते यस्मासिद्धं मन्यद्वयं ततः ॥ ८ ॥

न चैत्रं जन्तुरक्षागण्डादिप्रतीकारार्यं पिच्छीषधादौ गृह्यमारोप्ययं दोषः समानः; त्रिचतुर-पिच्छप्रहृत्तस्य जन्तुरक्षार्यस्वात्, शरीरे ममेदम्भावाऽसूचकःवाञ्च, श्रौषधस्यापि प्रतिपन्नसामर्थ्यस्य

है ऐसा स्वीकार करना पडेगा ।।३।। यदि नग्न रहते हैं तो स्त्री विकारी होती है अतः स्त्री के मन का क्षोभ दूर करने के लिये वस्त्र को ग्रहण करते हैं, ऐसा कहना भी ग्रसत् है, स्त्री के मन में क्षीभ तो साधू ने कराया नहीं, न नग्नता ही बांछा की कराती है नग्नता वाञ्छा की ग्रहेतू होने से उसका निषेध संभव है ।।४।। यदि स्त्रियों को देखकर मन में क्षोभ होता है श्रथवा साधू को देखने से स्त्री विकार को प्राप्त होती है तब तो श्रपनी या उसकी आंख को फोड डालनाया आंखों पर पट्टी बांधना भी जरूरी होगा ? क्योंकि ग्रांख आदिक भी क्षोभ का ग्रविशेष रूप से कारण है ? ।।।। यदि कदाचित कोई चंचल स्वभाव वाली स्त्री संयमी की बांछा करती भी है तो वह साधू भाई के समान होने से कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती, ग्रतः नग्नता दोप युक्त नहीं है।।६।। प्रथम तो बात यह है कि नग्न साध को देखकर स्त्री को विकार आ नहीं सकता क्योंकि उसका शरीर, बीभत्स, मैला, शव के समान रहता है ऐसे शरीर को देखकर स्त्रियां उनसे बिरक्त ही होती हैं आसक्त नहीं हो सकती ॥७॥ इस प्रकार यहां तक के विवेचन से स्पष्ट होता है कि जो विषयासक्त हैं, स्त्री परीषह सहन नहीं कर सकते, शरीर में राग युक्त हैं, वे ही वस्त्र को ग्रहण करते हैं, इसीलिये बाह्माभ्यंतर परिग्रह धारी कहलाते हैं।।८।। यहां पर शंका हो सकती है कि इस तरह वस्त्र ग्रहण में दूषण बतायेंगे तो जीव रक्षा के लिये मयर पिच्छिका ग्रहण एवं रोग निर्दृति के लिये श्रौषि ग्रहण करने से भी यही दुषण आता है ? सो यह शंका गण्डादेव्योवृत्तिहेतुत्वात् नाम्त्याविरोजिस्बाञ्च, वस्त्रे तु विषयंवात्, परमनैयंन्य्यासद्घ्यर्थं पिच्छस्था-प्यग्रहृत्याञ्चौषषवत् । पिण्डौषघ्यादयो हि सिद्धान्तानुसारेत्योद्गमादिदोषरहिता रत्नत्रयाराधनहेतवो गृद्धमात्या न कस्यापि मोक्षहेतोः हन्तारः । न हि तद्भहत्ये रागादयोऽन्तरङ्गा वहिरङ्गा वा स्व-भूषावेषादयो ग्रन्था जायन्ते, श्रतस्ते मोक्षहेतोष्ठयकत्तीर एव । पिण्डग्रहृत्यमन्तरेत्य ह्यपूर्णकालेपि विपत्तेरापत्तेरात्मघातित्वं स्यात्, न तु वस्त्रे । षष्ठाष्टमादिक्रमेत्य च मुमुक्षभिः पिण्डोपि त्यज्यते, न तु स्त्रीभिः कदाचिद्वस्त्रम् ।

भ्रयः वस्त्रादन्यस्याखिलस्य त्यागात्साकत्येनासां वाह्यः नैग्रन्थ्यमः, तर्हि लोभादन्यकषाय-त्यागादेवाबाह्यमपि स्याग् । न च गृहीतेषि वस्त्रे ममेदम्भावस्याभावानदवतिष्ठतेः, विरोधात्—

ठीक नहीं है, तीन चार पंखों का ग्रहण तो जीव रक्षा के लिए किया जाता है, तथा यह ममकार भाव का सूचक भी नहीं है। पके हुए फोड़ा फुन्सी ग्रादि का प्रतिकारक होने से एवं नग्नता का अविरोधक होने से श्रीपिष्ठ का ग्रहण होता है। किन्तु वस्त्र ग्रहण में ऐसी बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि परम निर्णाल्यता की सिद्धि के लिये तो महाश्रमण पीछी भी ग्रहण नहीं करते हैं जिस प्रकार कि औषि का ग्रहण नहीं करते हैं। सिद्धान्तानुसार उद्गम, उत्पादन श्रादि ४६ दोषों से रहित ग्राहार श्रीषिष्ठ आदि को ग्रहण करते हैं ये पदार्थ रत्नत्रय की श्राराधना के कारण है ब्रत: मोक्षमार्ग में किसी के भी बाधक नहीं हैं। पीछी ग्रादि ग्रहण करने से ग्रंतरंग रागादि परिग्रह नहीं हैं प्रत्युत मोक्ष के हेतु के उपकारक हैं। इसी का खुलासा करते हैं, साधु ग्राहार को ग्रहण नहीं करेगा तो अकाल में मरण होने से आत्मघाती कहलायेगा किन्तु वस्त्र में ऐसी बात नहीं है। समर्थ ग्रस्थासी साधु तो श्राहार को भी दो दिन तीन दिन ग्रादि के क्रम से छोड़ देता है, कितु स्त्रियों डारा वस्त्र नहीं छोड़ा जा सकता है।

घ्वेताम्बर – स्त्रियां वस्त्र को छोड़कर ध्रन्य संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर लेती हैं, श्रतः उनको बाह्य में निर्ग्रन्य ही मानना चाहिए ?

दिगम्बर जैन — ऐसी बात है तो लोभ कषाय को छोड़कर ग्रन्य अभ्यंतर परिग्रह का त्याग होने से ग्रन्तरंग में उन्हें निर्गन्य ही मानना चाहिए ? तुम कहो कि वस्त्र को ग्रहण करने पर भी ममस्व बुद्धि नहीं होने से निर्गन्यता बनी रहेगी ? सो भी बात नहीं है, इस तरह के कथन में विरोष ग्राता है यदि बुद्धिपूर्वक ग्रापनी इच्छा 'बुद्धिपूर्वकं हि हस्तेन पतिववस्त्रमादाय परिद्धानोपि तन्मूच्छांरहितः' इति कश्चेतनः श्रदृधोत ? तन्वीमाध्लिष्यतोपि तद्रहितस्वश्रसङ्गात् । ततो वस्त्रप्रहणे बाह्याम्यन्तरपरिप्रहप्राप्तेर्ग्यस्यद्व-यासम्भवाद्य श्रीएगं मोक्षः । स हि बाह्याम्यन्तरकारएग्जन्यः कार्यस्वान्माषपकादित् । तच्च बाह्यमम्यन्तरं च कारएगमाकिश्वन्यम्, तदभावे कथं स स्यात् ? इति परहेतोरसिद्धे नीनुमानात् स्त्रीयक्तिसिद्धः।

नाप्यागमात्; तन्मुक्तिप्रतिपादकस्यास्याभावात् । "पु'वेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा । सेसोदयेखा वि तहा भाखुवजुत्ता य ते दु सिज्ऋति ॥" [ ]

से स्वहस्त से वस्त्र को पहिनता है, गिरे वस्त्र को सम्हालता है, ठीक करता है, ठीक करके पुनः धारण करता है इत्यादि किया करते हुए भी वह वस्त्र की इच्छा से रिहत है, ऐसा कौन विश्वास कर सकता है? यदि ऐसा माना जाय तो साधु स्त्री का आंलिंगन करता हुआ भी उसके ममत्व से रिहत हैं, ऐसा मानना चाहिए? अतः निश्चित होता है कि वस्त्र को ग्रहण करने से स्त्रियों को बाह्यास्थंतर परिग्रह का दोष आता ही है इसलिये स्त्रियों के बाह्यास्थंतर निर्यं न्यपना संभव नहीं होने से मोक्ष नहीं होता है। मोक्ष की प्राप्ति बाह्यकरण और अंतरंग कारण मिलने पर होती है, क्योंकि वह कार्य है, जिस प्रकार उड़द म्रादि धान्य बाह्यास्थंतर म्रान, स्वशक्ति आदि कारण के मिलने पर ही पकते है, मोक्ष का कारण तो बाह्य में म्राक्रिचन रहना म्रयांत् संपूर्ण वस्त्र, पात्र म्रादि से रिहत होना है और अंतरंग आर्किचन्य रागादि से रिहत होना है, ये दोनों म्राक्रिचन्य धर्म स्त्रियों में नहीं हो सकते तो मोक्ष किस प्रकार हो सकता है । इस प्रकार परवादी श्वेतास्वर का दिया हुमा "म्राविकक कारणत्वाव" हेतु प्रसिद्ध होने के कारण म्रानुसान द्वारा स्त्री मृत्ति सिद्ध नहीं होती है।

ग्रागम से भी स्त्री मुक्ति सिद्ध नहीं होती है क्योंकि स्त्री मुक्ति के प्रतिपादक ग्रागम का ग्रमाव है। पुरुषवेद का ग्रनुभव करने वाले जो पुरुष हैं वे क्षपक श्रेणी पर ग्रारूढ होकर ध्यान लीन होते हुए सिद्ध बन जाने हैं, तथा शेष स्त्रीवेद तथा नपुंसक वेद वाले भी इसी प्रकार मोक्ष जाते हैं।।।। यह जो ग्रागम कथित गाथा है इससे भी स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन नहीं होता है, पुरुषवेद के समान ग्रन्य वेदों के उदय होते पर भी पुरुष ही मोक्ष जाते हैं। दोनों जगह पुरुष का संबंध हैं, उदय होता है वह भाव का होता है न कि द्रव्य का।

इत्यादरप्यायमस्य स्त्रीमुक्तिप्रतिपादकत्वाभावः । स हि पुवेदोदयवत् शेषवेदोदयेनापि पुंसामेवापवगविदकः उभयत्रापि 'पुरुषाः' इत्यभिसम्बन्धात् । उदयश्च भावस्यै न द्रश्यस्य ।

स्त्रीस्वान्ययानुषपत्रे आसां न मुक्तिः । आगमे हि जयन्येन सप्ताष्टीभर्गवैः उत्कर्षेस् द्वित्रैजीवस्य रन्नत्रयाराधकस्य मुक्तिरुक्ता । यदा वास्य सम्यग्दर्शनाराधकस्यम् तस्प्रभृति सर्वासु स्त्रोयुस्पत्तिरैव न सम्भवतीति कथं स्त्रीमुक्तिसिद्धिः ।

ननु चानादिमिध्यादृष्टिरिप जीवः पूर्वभवनिर्जीर्णानुभकर्मा प्रयमतरमेव रत्नत्रयमाराध्य भरतपुत्रादिवन्मुक्तिमासादयत्यतः स्त्रीत्वेनोत्पन्नस्यापि मुक्तिरविरुद्धेतिः, तदय्ययुक्तम्; पूर्व निर्जीर्णा-

भावार्थ:— स्त्रीवेद प्रादि मोहनीय कर्म के होने पर जीव के भाव स्त्रीरूप आदि होते हैं मोहनीय का उदय भावों की सृष्टि करता है स्त्री के शरीराकार या पुरुष के शरीराकार बनना तो नामकर्म के आधीन है अतः द्रव्यवेद नामकर्म का कार्य है, किंतु जो बाह्य में पुरुष रूप द्रव्यवेद वाले हैं, और अंतरंग में स्त्रीवेद के उदय का अव्यवा पुरुषवेद के उदय का अनुभव कर रहे हैं ऐसे पुरुष ही क्षपक श्रेणी पर चढ़कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं। जो बाह्य में स्त्रीरूप शरीर वाले हैं या नपुंसकरूप शरीर वाले हैं अर्थात् द्रव्यस्त्री और द्रव्य नपुंसक हैं वे सनुष्य मोक्ष नहीं जा सकते। जहां भी स्त्रीवेद के उदय वाले मोक्ष जाते हैं ऐसा कथन है वहां स्पष्टत्या मोहनीय का उदय सर्वाधित है, क्योंकि भाव तो मोह कर्म से होते हैं। स्त्रियों में स्त्रीत्व अवश्य रहता है अतः उनके मोक्ष नहीं हो सकता है। श्राम में रत्तत्रय की श्राराधना करने वाले जीव क्षप्तय में सात आठ भवों में और उत्स्वष्टता से बो तीन भवों में मोक्ष जाते हैं, ऐसा कहा है, जब से यह जीव मात्र सस्यग्दर्शन की आराधना करता है तब से किसी भी स्त्री पर्याय में (देवी, मनुष्यती, तिर्यचनी में) उत्पन्न ही नहीं होता है, जब सम्यग्दर्शन के स्त्रीपर्याय होना संभव नहीं हो सकती।

श्वेतांबर — जिसने पूर्व भव में अग्रुभ कमों को निर्जीएं कर दिया है ऐसा कोई अनादि मिध्याहिष्ट जीव है वह पहली बार ही रत्नत्रय की भावना कर भरत चक्रवर्ती के पुत्रों के समान मुक्ति को प्राप्त करता है ऐसे जीव के स्त्रीपने से उत्पन्न होने पर भी मुक्ति होना अविष्ढ है ? शुभकर्मणः स्त्रीवेदेनोत्पत्ते रसम्भवात्, तस्याप्यशुभकर्मत्वेन निर्जीर्णत्वात् । कथं पुनः स्त्रीवेदस्या-शुभकर्मत्वमिति चेत्; सम्यग्दर्शनोपेतस्य तत्त्वेनोत्पत्ते रयोगात् ।

ततो नास्ति स्त्रीणां मोक्षः पुरुषादन्यत्वात् नपुंसकवत् । श्रन्यषाऽस्याप्यक्षौ स्यात् । न चैतहाच्यम्-नास्ति पुंसो मोक्षः स्त्रीतोन्यत्वात् नपुंसकवत्; उभयवादिसम्मतागमेन वाधितत्वात्, भवदागमस्य चास्मान्त्रति श्रप्रमाण्यत्वात् ।

तथा स्त्रीणां मोक्षो नास्ति उत्कृष्ट्यानफलत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनवत् । म्रतोपि न तासां मुक्तिसिद्धिः । ततोऽनन्तवतुष्ट्यस्वरूपलामलक्षाणो मोक्षः पुरुषस्यैवैति प्रक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् ।

दिगम्बर—यह कथन श्रयुक्त है, जिसके पूर्व में श्रयुभ का नाश हुआ है वह जीव स्त्रीपर्याय में उत्पन्न ही नहीं होता है, क्योंकि स्त्रीवेद एक श्रयुभकमं है वह भी ग्रयुभ कमं के साथ निर्जीर्ग हो जाता है। स्त्रीवेद को अग्रुभकमं क्यों कहते हैं १ ऐसा प्रश्न होवे तो उसका उत्तर यह है कि सम्यग्टिंग्ट स्त्रीवेद को लेकर उत्पन्न नहीं होता है इसी से निश्चित होता है कि स्त्रीवेद श्रयुभ है।

इस प्रकार स्त्रियों के मोक्ष नहीं होता है क्योंकि वह पुरुषवेद से अन्यवेद युक्त है। जैसे नपुंसक। इस अनुमान द्वारा स्त्रीमुक्ति का निषेध हो जाता है। यदि स्त्रियों को मोक्ष होना मानते हैं तो नपुंसक के भी मानना पड़ेगा। कोई कहे कि पुरुष के मोक्ष होना मानते हैं तो नपुंसक के भी मानना पड़ेगा। कोई कहे कि पुरुष के मोक्ष नहीं होता, क्योंकि वह स्त्री से अन्यस्प है, जैसे नपुंसक के नहीं होता है? सो यह कथन सर्वथा विपरीत है यह अनुमान उभयवादी में (थ्वेतांवर और दिगम्बरों में) प्रसिद्ध आगम द्वारा वाधित है, थ्वेताम्बर का जो आगम स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन करता है वह हमारे लिये अप्रमाणभूत है अतः उससे स्त्रीमुक्ति को सिद्धि नहीं होती है। अनुमान प्रमाण से पुनः सिद्ध करते हैं कि स्त्रियों के मोक्ष नहीं होता है, जैसे सातवें नरक में गमन नहीं होता है। इस अनुमान से स्त्रीमुक्ति का निषेध हो जाता है। इसलिये बुद्धिमान मनुष्यों को अनंत चतुष्ट्यत्वरूप का लाभ होता है लक्षण जिसका ऐसा मोक्ष पुरुषों को ही होता है अन्य को नहीं, ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार स्त्रीमुक्ति का निषेध सिद्ध हुआ। साथ ही प्रत्यक्ष परिच्छेद नामा दूसरा परिच्छेद नी समाप्त होता है। यंत में उपसंहाररूप प्रलोक कहते हैं।

मुख्यं सांस्यवहारिकं च गिंदतं भानुप्रदीपोपमम्, प्रत्यक्षं विश्वदस्वरूपनियतं साकत्यवैकल्यतः । निर्वाधं नियतस्वहेतुजनितं मिध्येतरैः कल्पितम्, तल्लक्ष्मेति विचारचारुधिष्णुं ख्रोतस्यलं चिन्त्यताम् ॥१॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्तं ण्डे गरीक्षामुखालङ्कारे द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥२॥

मुख्य प्रत्यक्ष और सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष ऐसे प्रत्यक्ष के दो भेद इस ब्रध्याय में कहे गये हैं, मुख्य प्रत्यक्षप्रमाण सूर्य के समान पदार्थों का प्रकाशक है, पूर्ण्ड्प से विश्वद है, निर्वाध है, अपने सामग्री विशेष से उत्पन्न होता है। तथा सांब्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण दीपक के समान पदार्थों का प्रकाशक है। एकदेशविशद, निर्वाध, इंद्वियादि से जनित है। ग्रन्य परवादी के द्वारा परिकल्पित प्रत्यक्षादि प्रमाणों का लक्षण सिद्ध नहीं होता है अतः मिथ्या है, इस प्रकार विचार करते में चतुर पुख्य ग्रपने मन में निश्चय करें। ग्रब इस विषय को समाप्त करते हैं। ग्रलं विस्तरेण।

इस प्रकार श्री प्रभाचंद्राचार्य विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ का दूसरा परिच्छेद पूर्ण हम्रा ।



# स्त्री मुक्ति विचार के खंडन का सारांश

पूर्वपक्ष - पुरुष के ही अनंत चतुष्टय गुरुषों का लाभ रूप मोक्ष हो ऐसा नहीं है, स्त्री के भी मोक्ष होता है, स्त्रियों के अनंत ज्ञानादि की प्राप्ति रूप मोक्ष का लाभ होता है, क्योंकि उनके श्रविकल कारणों का सद्भाव है। तथा ब्रागम में स्त्री मुक्ति प्रतिपादक वाक्य मौजूर है—

> पुंवेद वेदंता जे पुरिसा खवग सेढि मारूढा । संसोदयेणवि तहा ज्ञागुवजुत्ता य ते दु सिज्भंति ।।

स्रथीत् पुरुषवेद का अनुभव करते हुए जो पुरुष क्षपक श्रेणी का स्रारोहण करते हैं तथा सन्य वेदों का अनुभव करते हुए जो जीव ध्यान युक्त होते हैं वे सिद्ध हो जाते हैं। स्त्री वस्त्र धारण करती है स्नतः उसके सुक्ति नहीं होती ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि जिस प्रकार रागादि के स्रभाव में भी पीछी आदि धारण की जाती है वैसे ही स्त्रियां वस्त्र को धारण करती हैं, तथा अरीर की गर्मी से वायुकायिकादि जीवों का घात न हो इसलिये भी वस्त्र धारण किया जाता है इस प्रकार अनुमान, स्रागम स्रौर युक्ति से स्त्री के मुक्ति की सिद्धि हो जाती है ?

उत्तरपक्ष — यह श्वेताम्बर का मंतन्य ठीक नहीं है. सर्व प्रथम आपने अनुमान से स्त्री मुक्ति का जो समर्थन किया है वह ठीक नहीं है क्योंकि उसका अविकल कारणत्व हेतु असिद्ध है, स्त्रियों के मुक्ति साधक संपूर्ण हेतु की प्राप्ति होना अशक्य है जैसे स्त्रियों के सातवें नरक जाने योग्य पुण्य का परम प्रकर्ष भी नहीं होता है, अतः हेतु असत् ठहरने से उस अनुमान के द्वारा स्त्री मुक्ति सिद्ध नहीं होती, स्त्रियां सातवें नरक नहीं जाती यह बात तो उभय प्रवादी को इष्ट है।

श्रंका — महिला सातवें नरक के योग्य पाप का प्रकर्ष न करें किंतु मोक्ष होवें तो क्या बाधा है ? मोक्ष हेतु का परम प्रकर्ष और सप्तम नरक हेतु का परम प्रकर्ष इनका कोई श्रविनाभाव नहीं है, यदि मानो तो सप्तम नरक को योग्यता रखने वाले सभी पुरुष मोक्ष जा सकेंगे तथा नपुंसक भी मोक्ष जा सकेंगे ?

उत्तर—मोक्ष हेतु का प्रकर्ष और सप्तम नरक हेतु का प्रकर्ष इनमें विषम व्याप्ति है, जहां मोक्ष हेतु का प्रकर्ष है वहां नरक योग्य पाप के प्रकर्ष की योग्यता श्रवश्य है किंतुजहां नरक हेतुका प्रकर्ष है वहां मोक्ष कारण का प्रकर्ष हो श्रौर नहीं भी हो ऐसा है।

प्रापका श्रागम वाक्य भी स्त्री मुक्ति का प्रतिपादन न करके पुरुषवेदी के मुक्ति का ही प्रतिपादन करता है, अर्थात् पुरुषवेद का अनुभव करते हुए और ग्रन्थ वेदों का अनुभव करते हुए जीव श्रेणी चढ़कर मोक्ष जाते हैं ऐसा जो वाक्य है उसका ग्रथं यह है कि चाहे जिस वेद का उदय हो उस वेद के उदय से सहित पुरुष ही श्रेणी प्रारोहण कर सिद्ध होते हैं। तथा ग्रापकी स्त्री मुक्ति के लिये दी गई युक्तिया ग्रसत्य हैं, जैसे पीछी श्रादि जीव रक्षा के लिये सहायक है वैसे वस्त्र नहीं हैं उल्टे उसमें अनेक जीवों का घात होता है। वस्त्र को बोना, मुखाना, फटकारना, संगटना इत्यादि कियाओं में हिंसा होती है, याचना वृत्ति भी होगी। जब ग्रति उच्च श्रेणी का परम नैग्रंन्य होता है तह विषोधी अपि का परम नैग्रंन्य होता है तह पीछी आप का पर परम नैग्रंन्य होता है तह पीछी आप का पर पर पर नहीं होता सो ग्रसंगव है, बुद्धिपूर्वक हाथ से श्रोढना ग्रादि करते हुए भी उम पर राग नहीं है ऐसा माने तो स्त्रियों का ग्रालिंगन प्रादि करते हुए भी राग नहीं है ऐसा भी मानना होगा, इस तरह तो ग्राप और वैशेषिकादि में कुछ भी ग्रंतर नहीं रहेगा (क्योंकि वे भी स्त्री वस्त्रादि ये ग्रुक्त होकर मोक्ष होना मानते हैं)

तथा जब सम्यग्दर्शन होने के अनन्तर यह जीव स्त्री पर्याय में जन्म नहीं लेता है तो मोक्ष कैसे जायगा ? अनादि मिध्यादृष्टि के कर्मोपशम होने पर स्त्री अवस्था में ही कर्म काट मोक्ष जाने की बात कहना हास्यास्पद है क्योंकि यदि अनादि मिध्यादृष्टि के कर्म का उपशम हुमा है तो उसका स्त्री पर्याय में जन्म ही नही होगा, स्त्रियों के उत्कृष्ट ध्यान भी नहीं होता है, संयम भी अच्छी तरह नहीं पलता वह स्वभाव से ही भीर रहती है इत्यादि अनेक युक्तियों से स्त्री मुक्ति का निरसन हो जाता है।



# तृतीय खण्ड

ग्रयेदानीं परोक्षप्रमासास्वरूपनिरूपसाय-

#### परोक्षमितरत ॥१॥

इत्याह । प्रतिपादितविशदस्वरूपिकानाग्रदन्यदऽविशदस्वरूपं विज्ञानं तत्परोक्षम् । तथा च प्रयोगः—ग्रविशदज्ञानात्मकं परोक्षं परोक्षत्वात् । यन्नाऽविशदज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम् यथा मुख्ये-तरप्रत्यक्षम्, परोक्षं चेदं वस्यमाणं विज्ञानम्, तस्मादविशदज्ञानात्मकमिति ।

तिश्वमित्तप्रकारप्रकाशनाय प्रत्यक्षेत्याद्याह-

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कातुमानागममेदम् ॥२॥

अब यहां पर श्री माणिक्यनंदी आचार्य परोक्ष प्रमागः के स्वरूप का सूत्रबद्ध निरूपण करते हैं—

"परोक्षमितरत्"

सूत्रार्थ—पहले प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहा था उससे पृथक् लक्षण वाला परोक्ष प्रमाण होता है। विशद ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा प्रतिपादन कर चुके हैं— उससे प्रन्य प्रथित् प्रविचाद ज्ञान परोक्ष प्रमाण है। इसी को अनुमान प्रयोग द्वारा बतलाते हैं—परोक्ष प्रमाण अविशद ज्ञान रूप है, क्योंकि वह परोक्ष है, जो प्रविशद ज्ञान रूप हो है वह परोक्ष नहीं कहलाता जैसे—मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण, परोक्ष नहीं कहलाता है यह वक्ष्यमाण ज्ञान परोक्ष है, ग्रतः प्रविशदक्षान रूप है। उस परोक्ष प्रमाण के कारण और भेद अग्निम सूत्र में कहते हैं— "प्रत्यक्षादि निमित्तं स्मृति प्रत्यक्षिज्ञान तकानुमानागम भेदम्"।।२।।

प्रत्यक्षादिनिमत्तं यस्य, स्मृत्यादयो भेदा यस्य तथोक्तम् । तत्र स्मृतेस्तावत्संस्कारेत्यादिना काररणस्वरूपे निरूपयति —

#### संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्पृतिः ॥३॥

संस्कारः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षभेदो घारणा । तस्योद्वीषः प्रवीषः । स निबन्धनं यस्याः तदित्याकारो यस्याः सा तथोक्ता स्मृतिः ।

विनेयानां सुखावबोधार्थ दृष्टान्तद्वारेगा तत्स्वरूपं निरूपयति -

#### यथा स देवदत्त इति ॥४॥

यथेरयुदाहरसाधदर्शने । स देवदत्त इति । एवंधकारं तच्छव्दपरामृष्टं यद्विज्ञानं तस्सर्व स्मृति-रिरस्यवगन्तथ्यम् । न चासावप्रमास्यं संवादकत्वात् । यस्संवादकं तत्प्रमास्यं यथा प्रत्यक्षादि, संवादिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमास्यव् ।

सूत्रार्थं—जिसमें प्रत्यक्ष प्रमाण आदिक निमित्त हैं वह परोक्ष प्रमाण है। इसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, व ब्रागम ऐसे पांच भेद हैं। अब इन भेदों का वर्गोन करते हुए सबसे पहले स्मृति प्रमाण का कारण तथा स्वरूप बतलाते हैं—

"संस्काराद्बोध निबंधना तदित्याकारा स्मृतिः" ॥३॥

सूत्रार्थ — जो ज्ञान संस्कार से होता है जिसमें ''वह'' इस प्रकार का आकार (प्रतिभास) रहता है वह स्मृति प्रमाण है। संस्कार का अर्थ धारएा। ज्ञान है जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का भेद है, उस धारणा ज्ञान का उद्वोध होना स्मृति है।

यहां पर शिष्यों को सरलता से समक्ष में ग्राने के लिये दृष्टांत द्वारा स्मृति का स्वरूप बतलाते हैं — "सः देवदत्तो यथा" ।।४।।

सूत्रायं — यथा "वह देवदत्त" इस प्रकार का प्रतिभास होना स्मृति है। सूत्र में "यथा" शब्द उदाहरण का प्रदर्शन करता है। "वह देवदत्त" इस प्रकार का तत् शब्द का परामर्श करने वाला जो ज्ञान है वह सब स्मृति रूप है ऐसा समक्षता। यह ज्ञान स्प्रमाण नहीं है क्योंकि संवादक है। जो ज्ञान संवादक होता है वह प्रमाण है जैसे— प्रत्यक्षादि ज्ञान है। स्मृति भी संवादक है खतः प्रमाण है।

ननु कोयं स्मृतिशब्दवाच्योषं:—क्षानमात्रम्, अनुभूतार्थविषयं वा विज्ञानम् ? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षादेरिष स्मृतिशब्दवाच्यत्वानुषङ्गः। तथा च कस्य दृष्टान्ताः? न खलु तदेव तस्येव दृष्टान्तो भवित । द्वितीयपक्षेषि देवदत्तानुभूतार्थं यज्ञदत्तादिज्ञानस्य स्मृतिरूपताप्रसङ्गः। प्रथ 'येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे तस्येव तत्रैवोषणायमानं ज्ञानं स्मृतिः' इत्युच्यते ननु 'अनुभूते जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयताम्? न तावदनुभवेन; तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात् । न चासती विषयीकत्तुं शब्या । न चाविषयीकृता 'तत्रोषणायते' इत्यिषणितः। न चानुभवकालेऽयंस्यानुभूततास्ति, तदा तस्यानुभूयमानत्वात्, तथा च 'अनुभूयमाने स्मृतिः' इति स्यात् । प्रथ 'अनुभूते स्मृतिः' इत्येतस्मृतिरेव प्रतिः । पद्मितः वा प्रतिस्योगात् । तद्विययीकरणे वा निज्ञातांत-विषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात् । तद्विययीकरणे वा निज्ञातांतान्विययोकरणास्तङ्गोऽविशेषात् । यदि चानुभूतता प्रत्यक्षणम्या स्यान्; तदा स्मृतिर्व जानोवात्

सीगत—स्मृति शब्द का वाच्य अर्थं क्या है ? ज्ञान मात्र को स्मृति कहते हैं तो प्रत्यक्षादि प्रमाण भी स्मृति शब्द के वाच्य होवेंगे फिर उपर्युक्त अनुमान में इप्टांत किसका होगा ? वही उसका इप्टान्त तो नहीं हो सकता । दूसरा पक्ष—अनुभूत विषय वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं ऐसा कहे तो देवदत्त के द्वारा अनुभूत विषय में यजदत्त आदि के ज्ञान को स्मृति कहते हैं ऐसा कहे तो देवदत्त के द्वारा अनुभूत विषय में यजदत्त आदि के ज्ञान को स्मृतिपना होने का प्रसंग प्रायेगा । यदि कहें कि जिसके द्वारा जो विषय पूर्व में अनुभूत हैं पुनः कालान्तर में उसी का उसी में ज्ञान उत्पन्न होना स्मृति है सो यह कथन असत् है "अनुभूत में उत्पन्न हुआ है" इस तरह से किसके द्वारा प्रतीत होगा ? अनुभव द्वारा तो नहीं हो सकता, वर्थों क उस वक्त स्मृति का ही असल्व है, जो नहीं है उसको विषय नहीं कर सकते और अविषय के बारे में उसमें "उत्पन्न होती है" ऐसा निष्यय नहीं कर सकते । तथा वस्तु के अनुभवन काल में वस्तु की अनुभूतता नहीं होती किंतु उस समय उसकी अनुभूतना नहीं होती है । जब ऐसी वात है तो अनुभूतमान म स्मृति होती है ऐसा मानना होगा ।

"अनुभूत विषय में स्मृति होती है" इस बात का निश्चय तो स्वयं स्मृति ही कर लेती है ऐसा कहो तो गलत है क्योंकि स्मृति के द्वारा अतीतार्थं और अनुभवार्थं का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वैसा प्रतीत नहीं होता है। तथा यदि स्मृति अतीतार्थं और अनुभवार्थं को ग्रहण करती है तो सम्पूर्णं अतीत विषयों को ग्रहण करने का प्रसंग आता है क्योंकि उक्त विषय में अतीत्रपने की अविशेषता है। तथा यदि अनुभूतपना प्रत्यक्षगम्य होता तो स्मृति भी जान सकती है कि "मैं अनुभूत विषय में उत्पन्न हुई हूँ,

'महमनुभूते समृत्पक्षा' इति प्रनुभवानुसारित्वात्तस्याः । न वासौ प्रत्यक्षगम्येत्युक्तम्; इत्यप्यसमीक्रिता-भिषानम्; स्मृतिशब्दवाच्यार्थस्य प्रागेव प्ररूपितत्वात् । 'तन्दित्याकारानुभूतार्यविषया हि प्रतीतिः स्मृतिः' इत्युच्यते ।

ननु वोक्तमनुभूते स्मृतिरित्येतम् स्मृतिप्रत्यक्षाम्यां प्रतीयते; तदप्यपेशलम्; मितज्ञाना-पेक्षेणारमना मनुभूवमानाऽनुभूतार्थविषयतायाः स्मृतिप्रत्यक्षाकारयोक्षानुभवसम्भवात् विज्ञाकारप्रती-तिवत् विज्ञानेन । यथा चाराक्यविवेचनत्वाद् ग्रुगपश्चित्राकारतेकस्याविरुद्धा, तथा क्रमेणापि प्रवप्रदे-हावायघारणास्मृत्यादिविजस्यावता । न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवे तदैवार्थेऽनुभूतताया प्रप्यपु-भवोज्युवज्यते; स्मृतिविशेषणापेक्षत्वात्तत्र तत्मतीतेः, नीलाद्याकारविशेषणापेक्षया ज्ञाने चित्रप्रति-पत्तिवत् ।

क्योंकि स्मृति अनुभव के अनुसार हुमा करती है किन्तु अनुभूतता प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। (इस प्रकार स्मृति ज्ञान प्रमाणभूत सिद्ध नहीं होता है)

जैन — यह सारा कथन बिना सोचे किया है, स्मृति शब्द का वाच्यार्थ पहले ही बता चुके हैं कि ''वह'' इस प्रकार का प्रतिभास जिसमें हो वह अनुभूत विषय वाली प्रतीति ही स्मृति कहलाती है ।

णंका — ''अनुभूत ऋर्य में स्मृति होती है'' ऐसा स्मृति और प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतीत नहीं होता है।

समाधान—यह बात ठीक नहीं है। जिसमें मितजान की प्रपेक्षा है ऐसे आहमा के द्वारा अनुभूय विषय और अनुभूतार्थ विषय का प्रत्यक्ष तथा स्मृति के आकार से अनुभव होना संभव है। जैसे——चित्र ज्ञान के द्वारा चित्राकारों का प्रतिभास होना संभव है। जिस प्रकार ग्राप बौद्ध के यहां प्रशक्य विवेचन होने से एक ज्ञान की एक साथ चित्राकारता होना अविषद्ध हैं उसी प्रकार कम से भी अवध्रहज्ञान, ईहाज्ञान, अवायज्ञान, धारणाज्ञान, स्मृतिज्ञान इत्यादि विचित्र ज्ञानों का एक आत्मा में होना अविषद्ध है। कोई कहे कि प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूय मानता अनुभव में आने के साथ उसी वक्त पदार्थ में अनुभूतता का भो अनुभव हो जाना चाहिए, सो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि उस अनुभूतता में स्मृति विशेषण की अपेक्षा होती है, उससे ही अनुभूतता की प्रतिति होती है, जैसे नीलादि आकाररूप विशेषण की अपेक्षा से ज्ञान में चित्र की प्रतिति होती है।

म चानुभूतार्थविषयत्वे स्मृतेर्गृहीतप्राहित्वेनाऽप्रामाण्यम्; [ण]रिच्छित्तिविषेषसम्भवात् । न खलु यथा प्रत्यक्षे विश्वदाकारत्वया वस्तुप्रतिभाषः तथैव स्मृतौ तत्र तस्या (तस्य) वैश्वदाऽप्रतीतः । पुनः पुनर्भावयतो वैश्वद्यप्रतीतिस्तु भावनाञ्चानम्, तच्च तद्गुत्तवा भ्रान्तमेव स्वप्नादिज्ञानवत् । तथाप्यनु-भूतार्थविषयत्वमात्रेलास्याः प्रामाण्यानम्युपगमे अनुभानेनाधिगतेऽभनौ यद्मस्यक्षं तदप्यप्रमाण् स्थात् । भ्रसत्यतीतेर्षे प्रवत्तं मानत्वात्तदप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः, तदर्थस्यापि तत्कालेऽसत्वात् । तज्जन्मादेस्तत्रास्य प्रामाण्ये स्परलेपि तदस्तु । निराकृत चार्थजन्मादि ज्ञानस्य प्रागेवेति कृतं प्रयासेन ।

स्मृति प्रमाण अनुभूत विषय को जानता है ग्रतः गृहीत ग्राही होने से अप्रमाण-भूत है ऐसा भी नहीं समभना । क्योंकि इसमें परिच्छित्ति विशेष संभव है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष में विशदरूप से वस्तु का प्रतिभास होता है उस प्रकार स्मृति में नहीं होता है, उसमें तो वस्तु का श्रविशदरूप प्रतिभास होता है।

पुनः पुनः भावना करने वाले मनुष्य को यदि किसी विषयमें विशदता प्रतीत होती है तो वह भावना ज्ञान है स्मृति ज्ञान नहीं है, भावना ज्ञान तो उस रूप से भ्रांत ही है जैसे स्वप्न ज्ञान भ्रान्त है। स्मृति स्वप्न ज्ञान या भावना ज्ञानके समान भ्रांत नही होती, तो भी अनुभूत विषय वाली होने मात्र से इसका प्रामाण्य स्वीकार न किया जाय तो जो अनुमान द्वारा अनुभूत हुई ग्रग्निमें प्रवृत्ति करने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को अप्रमाण मानने का प्रसंग आयेगा । ग्रसदभूत ग्रतीत पदार्थ में प्रवृत्तमान होने से स्मृति ग्रप्रमाण है, ऐसा कहे तो प्रत्यक्ष को भी ग्रप्रमाणता का प्रसंग आता है क्योंकि उसके विषयभत पदार्थ का भी तरकाल में (बौद्धमत की अपेक्षा) असत्व है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष ज्ञान उसी पदार्थ में उत्पन्न हुन्ना है, उसी के आकार का है अतः प्रमाण है तो यही बात स्मरण में भी होवे। किन्तू ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना आदिका पूर्व में ही निराकरण हो चुका है अतः इस विषय में अधिक कहने से बस हो। स्मृति का अविसंवादकपना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि स्वयं के द्वारा स्थापित किये निक्षेप (धन) ग्रादि में उसके ग्रहण करने पर प्राप्तिरूप प्रत्यक्ष प्रमाणांतर से स्मृति का ग्रविसंवादकपना सिद्ध होता है। जहां विसंवाद होता है वह स्मरणाभास कहलाता है जैसे — प्रत्यक्षाभास होता है तथा यदि स्मृति को अप्रमाण मानते हैं तो अनुमान की प्रवृत्ति किस प्रकार होवेगी ? क्योंकि स्मृति के स्रभाव में साध्य साधन के स्रविनाभाव संबंध की सिद्धि नहीं हो सकती। अविनाभावी संबंध की स्मृति हुए बिना श्रनुमान प्रमाण उदित नहीं हो न चाविसंवादकत्वं स्मृतेरसिद्धयः, स्वयं स्थापितिनिक्षेषादौ तृद्गृहौतार्ये प्राप्तिप्रमाणान्तर-प्रवृत्तिलक्षणाविसंवावप्रतीतेः। यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्यात्रासा प्रत्यक्षात्रास्तत् । विसंवादकत्वे चास्याः कथमनुमानप्रवृत्तिः सम्बन्धस्यातोऽप्रसिद्धेः? व च सम्बन्धस्मृतिमन्तरेणानुमानमुदेत्पति-प्रसङ्गात् ।

किन्तः, सम्बन्धाभावात्तस्याः विसंवादकत्वम्, कल्पितसम्बन्धविषयत्वाद्वा, सतोप्यस्याऽनया विषयीकर्त्यं मशस्यत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे कुतोऽनुमानप्रवृत्तिः ? प्रन्यचा यतः कुतश्चित्सम्बन्धरहिताद्यत्र स्वचिदनुसानं स्यात् । कल्पितसम्बन्धविषयत्वेनास्याः विसंवादित्वे दृश्यप्राप्येकत्वे प्राप्यविकल्प्येकत्वे

सकता, ग्रन्थया अतिप्रसंग होगा । बौढ स्मृति को विसंवादक मानते हैं सो उसका कारण क्या है ? साध्य साधन के संबंध का ग्रभाव है इसलिये ? अथवा किल्पत संबंध को विषय करने से, या संबंध के रहते हुए भी स्मृति द्वारा इसको विषय करना ग्रशक्य होने से ? प्रथम पक्ष कहो तो अनुमान की प्रवृत्ति किससे होनेगी ? विना संबंध के अनुमान प्रवृत्ति करोगा तो जिस किसी संबंध रहित हेतु से जहां चाहे वहां प्रवृत्ति कर सकेगा । किल्पत संबंध को स्मृति विषय करतो है अतः विसंवादक है ऐसा दूसरा पक्ष कहे तो भी ठीक नही क्योंकि इस तरह मानें तो दृश्य (स्वलक्षण) और प्राप्य में एकत्व रूप किल्पत संबंध को विषय करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्राप्य और विकल्प में एकत्वरूप किल्पत संबंध को विषय करने वाला अनुमान प्रमाण ग्रविसंवादक नहीं रहेगा ।

भावार्थ — बौद्ध मतानुसार प्रत्येक वस्तु झणिक है, उस क्षणिक वस्तु का जो स्वरूप है उसे स्वलक्षण कहते हैं, स्वलक्षण को दृश्य भी कहते हैं, प्राप्त करने योग्य वस्तु को प्राप्य कहते हैं, प्रत्यक प्रमाण का विषय दृश्य है, वह क्षणिक होने के कारण प्राप्ति के समय तक नहीं रहता, फिर भी दृश्य और प्राप्य में एकत्व की कल्पना करके उस विषय को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण में अविसंवादकपना माना जाता है, इसी प्रकार प्राप्य और विकल्प में एकत्व की कल्पना करके उस विषय को ग्रहण करने वाले अमुमान में अविसंवादपना माना जाता है, इस तरह बौद्धमत में कित्यत संबंध को ग्रहण करने वाले जान को प्रमाणभूत स्वीकार किया है, ग्रतः स्वृति झान को किल्पत संबंध को विषय करमे वाला होने से विसंवादक है ऐसा कहना गलत है, ग्रन्थया उनके अभीष्ट प्रत्यक्षादि प्रमाण में भी विसंवादक मा सिद्ध होगा।

च प्रस्यक्षानुमानयोरिवसंवादो न स्यात् । तत्सम्बन्धस्य कल्पितस्ये च धनुमानमप्येवंविषमेव स्यात् । तथा च कषमतोऽभोष्टतस्विद्धिः ? अय सभिष सम्बन्धोऽनया विषयीकर्तुं न शक्यते, यत्तु विषयी-क्रियते सामान्यं तस्याऽसत्त्वात् स्मृतेविसंवादित्वम्; तदेतदनुमानेषि समानम् । अध्यवसितस्वनक्षणा-व्यभिचारित्वं स्मृताविष ।

किन्द्र, लिङ्कलिङ्गिसम्बन्धः सत्तामात्रेणानुमानप्रवृत्तिहेतुः, तह्यंनात्, तस्मरणाडा ? तत्राच-विकल्पे नालिकेरद्वोपायातस्याप्रतिपनाग्निक्षमसम्बन्धस्यापि घूमदर्थनादग्निप्रतिपत्तिः स्यात् । न चाविज्ञातः सम्बन्धोस्ति उपलम्भनिबन्धनत्वास्तद्वयवहारस्य, ग्रन्यथातिप्रसङ्गात् । तहर्थनमात्रेण

तथा स्मृति के द्वारा गृहीत संबंध को कल्पित माना जायगा तो अनुमान भी इसी प्रकार का सिद्ध होगा, फिर कल्पित विषय वाले उस अनुमान से अभीष्ट तत्व की सिद्धि किस प्रकार हो सकेगी?

बौद्ध-- संबंध सद्रूप है किन्तु स्मृति द्वारा इसको विषय करना शक्य नही, स्मृति द्वारा जिसको विषय किया जाता है, वह सामान्य है और सामान्य असत्वरूप माना गया है, अतः स्मृति में विसंवादकपना सिद्ध होता है ?

जैन — यह सब कथन अनुमान में भी घटित होता है, अर्थात् अनुमान द्वारा विद्यमान स्वलक्षण का विषय करना अशक्य है, उसके द्वारा तो सामान्य को विषय किया जाता है, और सामान्य असत्वरूप होता है अतः अनुमान भी विसंवादक सिद्ध होता है।

बौद्ध — प्रत्यक्ष द्वारा जाने गये स्वलक्षण के साथ अव्यक्षिचारीपना होने से अनुमान को विसंवाद रहित मानते हैं ?

जैन — यही बात स्मृति के विषय में है, ब्रर्थात् स्मृति भी प्रत्यक्ष के विषय के साथ ब्रव्यभिचारी है ब्रतः वह भी विसंवाद रहित है।

किंच, साध्य साधन के संबंध का सत्ता रूप रहना मात्र अनुमान प्रवृत्ति का हेतु है, अथवा इस संबंध को देखने से अनुमान की प्रवृत्ति होती है अथवा उस संबंध के स्मरण से अनुमान की प्रवृत्ति होती है ? प्रथम विकल्प माने तो जिसने अगिन और धूम का संबंध नहीं जाना है ऐसे नालिकेर द्वीप से आये हुए पुरुष को भी धूम के देखने से अगिन का ज्ञान हो जाना चाहिये, किंग्तु ऐसा होता तो नहीं। तथा संबंध प्रविज्ञात नहीं होता, क्योंकि अस्तित्व का व्यवहार उपलब्धि के निमित्त से ही हुग्रा करता है।

त्तरप्रकृतौ बालावस्थायां प्रतिपन्नाग्निभूससम्बन्धस्य पुनवृंढदशायां घूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्गः, न चैवम् । तत्स्मृतावस्त्येवेति चेत्; कथं नासौ प्रमारणम् ? को हि स्मृतिपूर्वकमनुमानमम्युपगम्य पुनस्तां निराकुर्यात् ? श्रनुमानस्यापि निराकरणानुषङ्गात् । न खलु कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्मामाऽतिप्रसङ्गात् ।

समारोपव्यवच्छेदकत्वाचास्याः प्रामाध्यमनुमानवत् । न च स्मृतिविषयभूते सम्बन्धादौ
समारोपस्यैवासस्भवात् कस्य व्यवच्छेद इत्यभिधातव्ययः साधस्यदृष्टान्ताभिधानानयंवयप्रसङ्गात् । तत्र
स्मृतिहेतुभूतं हि तत्, प्रत्यया हेतुरेव केवलोभिधीयेत । ततस्तवभिधानान्ययानुपपत्तेस्तद्विषयभूते
सम्बन्धादौ विस्मरणसंत्रयविषयभूते। तिन्तराकरणाच्चास्याः
प्रामाण्यमिति ।

ग्रन्थया ग्रतिप्रसंग होगा साध्य साधन के संबंध को देखने मात्र से श्रनुमान की प्रवृत्ति होती है। ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो वाल श्रवस्था में जिसने धूम और श्रमिन का संबंध जाना है ऐसे पुरुष के दृद्ध अवस्था आने पर धूम देखने से श्रांग का जान हो जाने का प्रसंग श्राता है, किन्तु इस प्रकार नहीं होता है। तुम कहो कि उस पुरुष को यदि बाल्यावस्था का धूम-अगिन का संबंध स्मृति में रहता है तो ग्रांग का जान हो जाता है सो स्मृति प्रमाए।भूत कैसे नहीं कहलायेगी १ ऐसा कौन बुद्धिमान न्यक्ति है कि जो स्मृतिपूर्वक होने वाले श्रमुमान को स्वीकार करे श्रौर स्मृति का निराकरण करे। यदि करेगा तो श्रमुमान का भी निराकरण होवेगा। क्योंकि कारण के श्रभाव में कार्य की उत्पत्ति मानने में श्रतिप्रसंग दोप श्राता है। तथा यह स्मृति ज्ञान समारोप (संगय, विषयंय, श्रनध्यवसाय का) व्यवच्छेदक होने से श्रनुमान के समान ही प्रामाणिक है।

शंका—स्मृति के विषयभूत संबंधादि में समारोप होना ही ग्रसंभव है श्रतः यह ज्ञान किसका व्यवच्छेद करेगा ?

समाधान — ऐसा नहीं कह सकते, यदि स्मृति के विषय में समारोप नहीं होता तो साधम्य दृष्टांत का कथन व्यथं होता, क्योंकि अनुमान में साधम्यं दृष्टांत स्मरण के लिये ही दिया जाता है, अन्यथा केवल हेतु का ही कथन करते । साधम्यं दृष्टान्त का कथन करने से ही निश्चय होता है कि स्मृति के विषयभूत संबंध में विस्मरण संशय और विषयांस लक्षण वाला समारोप होता है । और उस समारोप का निराकरण करने वाली होने से स्मृति प्रमाण भूत है ऐसा सिद्ध होता है ।

<sup>।।</sup> स्मृति प्रामाण्य विचार समाप्त ।।

#### भ्रथेदानीं प्रत्यभिज्ञानस्य कारणस्यक्रपप्ररूपणार्थं दर्शनेत्याद्याह-

#### दर्शन-स्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् । तदेवेदं तत्सद्यं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥४॥

दर्शनस्मरणे कारणं यस्य तत्त्रघोक्तम् । सङ्कलनं विवक्षितधर्मयुक्तस्वेन प्रत्यवमर्थनं प्रत्यभि-ज्ञानम् । ननु प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपत्वात् परोक्षरूपतयात्राभिषानमयुक्तम्; तवाहि—प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञा ब्रक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानात् तदन्यप्रत्यक्षवत् । न च स्मरणपूर्वकत्वात्तस्याः प्रत्यक्षत्वा-भावः, सत्सम्प्रयोगजत्वेन स्मरण्यस्याद्भावित्वेष्यस्याः प्रत्यक्षत्वाविरोधात् । उक्तं च—

### प्रत्यभिज्ञान प्रामागय का विचार

म्रब श्री माणिक्यनंदी म्राचार्य प्रत्यभिज्ञान का कारण तथा स्वरूप बतलाते हैं।

दर्शन स्मरण कारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं, तदेवेदं, तत् सदृशं तत् विलक्षरां तत् प्रतियोगीत्यादि ।।१।।

सूत्रार्थ — प्रत्यक्ष दर्शन और स्मृति के द्वारा जो जोडरूप ज्ञान होता है उसको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उसके ''वही यह है'' ''यह उसके समान है'' यह ''उससे विलक्षण है'' यह उसका प्रतियोगी है इत्यादि अनेक भेद हैं। जिस ज्ञान में दर्शन और स्मरण निमित्त पड़ता है वह ''दर्शन स्मरण कारएकि'' कहलाता है। संकलन का अर्थ विवक्षित धर्म से युक्त होकर पुन: यहण होना है।

मीमांसक— यह प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है ग्रतः यहां परोक्ष रूप से उसका कथन करना अयुक्त है, अनुमान सिद्ध बात है कि प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप है क्योंकि इसका इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है उससे अन्य जो प्रत्यक्ष है उसमें पाया जाता है। प्रत्यभिज्ञान स्मरण पूर्वक होता है अतः यहां परोक्षरूप से उसका कथन करना ग्रयुक्त है, अनुमान सिद्ध बात है कि प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप है क्योंकि इसका इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है जैसे उससे अन्य प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है प्रत्यभिज्ञान स्मरण पूर्वक होता है अतः परोक्ष है ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि यह ज्ञान सत् संप्रयोग है अतः स्मरण के पश्चात् होने पर भी उसमें प्रत्यक्षता मानने में विरोध नहीं आता। [विद्यमान अर्थ का इन्द्रिय के साथ सिक्ष्य होना सत् संप्रयोग कहनात है उससे जो हो उसे सत् संप्रयोगज कहते हैं] कहा भी है जो ज्ञान स्मरण के

"न हि स्मरणतो यत्माक् तत् प्रत्यक्षमितीदृशम् । वचनं राजकीयं वा लौकिकं वाणि विद्यते ॥१॥ न चाणि स्मरणात्पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्तनम् । वायंते केनचिन्नाणि तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥२॥ तैनेन्द्रियार्थसम्बन्धात्मागुर्ध्वं चाणि यत्स्मृतेः । विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥३॥"

[मी० इलो० सु० ४ इलो० २३४–२३७ ]

स्रतेकदेशकालावस्थासमन्त्रितं सामान्यं द्रश्यादिकं च वस्त्वस्याः प्रमेयमित्यपूर्वप्रमेयसद्भावः । तदुक्तम् —

> "गृहीतमिष गोस्वादि स्मृतिस्पृष्टं च यद्यपि । तथापि व्यतिरेकेगा पूर्ववीधान्त्रतीयते ॥१॥

पहले हो वही प्रस्यक्ष प्रमाण हो ऐसा लौकिक या राजकीय नियम नहीं है स्मरण के पण्चात् इन्द्रियों के प्रवर्तन को किसी के द्वारा रोक दिया जाता हो सो भी बात नहीं है और न उस समय वे दूषित ही होती हैं। इसलिये निण्चय होता है कि जो जान इन्द्रिय और पदार्थ के संबंध से होता है वह सब प्रत्यक्ष प्रमाण है फिर चाहे वह स्मृति के प्राप्मावी हो चाहे पण्चाद्भावी हो। इस प्रत्यक्षिज्ञान रूप प्रत्यक्ष का विषय प्रमेक देश काल ग्रवस्थाओं से युक्त सामान्य और द्रव्यादिक है, ग्रतः इसमें अपूर्व विषयपना भी है। कहा भी है यद्यपि यह प्रत्यभिज्ञान स्मृति के पीछे होता है तथा इसका गोत्वादि विषय भी ग्रहीत है तथापि यह पूर्व ज्ञान से भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि विभिन्न देश काल आदि के निमित्त से उसमें भेद होता है, पहले जो ग्रंश अवगत था वह ग्रव प्रतीत नहीं हो रहा और इस समय का अस्तित्व पूर्व ज्ञान द्वारा ग्रवगत नहीं हुआ है।

जैन - मीमांसक का यह कथन अयुक्त है, प्रत्यभिज्ञान में इन्द्रियों के साथ ग्रन्वय व्यक्तिरेक के श्रनुविधान की प्रभिद्धि है, ग्रन्यथा पहली बार व्यक्ति के देखते समय भी प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होती।

शंका — प्रथम बार के दर्शन से संस्कार होता है उस संस्कार के प्रबोध से उत्पन्न हुई स्मृति जिसमें सहायक है ऐसी इन्द्रिय पुनः उस वस्तु के देखने पर प्रत्यभि-ज्ञान को उत्पन्न करती है। देशकालादिभेदेन तत्रास्त्यवसरो मितेः। यः पूर्वमवगतोंशः स न नाम प्रतीयते॥२॥ इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम्।''

[मी० इलो० सु० ४ इलो० २३२-२३४ ]

तदप्यसमीचीनम्; प्रत्यभिजानेऽक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धः, श्रन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शन-कालेप्यस्योग्पत्तिः स्यात् । पुनर्दक्षेने पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रवोधोत्पन्नस्मृतिसहायमिन्द्रयं तञ्जनयति; इत्यप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात् । तत्सापेक्षत्वेऽपूर्वार्थसाक्षात्कारिश्वाभावः स्यात् ।

देशकालेत्याद्यप्यपुक्तमुक्तम्; यतो देशादिभेदेनाप्यध्यक्षं चक्षुःसम्बंधभेवार्थं प्रकाशयस्त्रतीयते । न च प्रत्यभिज्ञा नं प्रकाशयति पूर्वोत्तरविवर्त्तवस्यकत्वविषयत्वात्तस्याः । वर्तमानश्चायं चक्षुःसम्बद्धः प्रसिद्धः ।

यदप्युच्यते-स्मरतः पूर्वरष्टायांनुसन्धानाहुत्यद्यमाना मतिरचक्षुःसम्बद्धावे प्रत्यक्षमितः, तदप्यमारमः, न हीन्द्रियमतिः स्मृतिविषयपूर्वरूपग्राहिग्गी, तत्कवं सा तत्सन्धानमात्मसात्कुर्यात् ? पूर्वरष्टमन्धानं हि तत्प्रतिभासनम्, तत्सम्भवे चेन्द्रियमतेः परोक्षार्यग्राहित्सात् परिन्कुटप्रतिभासता न

समाधान — यह कथन ठीक नहीं है इंद्रियन प्रत्यक्ष के स्मृति की अपेक्षा नहीं होती है, यदि प्रत्यक्ष प्रमाण को स्मृति सापेक्ष मानते हैं तो उसमें अपूर्वार्थ के साक्षात्कारीपने का ग्रभाव हो जायगा।

मीमांसक ने कहा कि देश काल ग्रादि के निमित्त से जान में भेद होता है सो यह कथन ठीक नहीं । देश ग्रादि भेद होते हुए भी चश्च से सम्बद्ध हुए वस्तु को ही प्रत्यक्ष प्रमारण प्रकाशित करता हुग्रा प्रतीत होता है । किन्नु प्रत्यभिज्ञान उसको प्रकाशित नहीं करता, क्योंकि पूर्वोत्तर पर्यायों में रहने वाला एकत्व उसका विषय है । प्रत्यक्ष का विषय चश्च से सम्बद्ध वर्तमान रूप होता है यह प्रसिद्ध ही है । मीमांसक के यहां कहा जाता है कि स्मर्ण करते हुए पुरुष के पहले देखे हुए पदार्थ के अनुसवान से उत्तयमान ज्ञान चश्च से सम्बद्ध होने पर प्रत्यक्ष कहा जाता है, सो यह कथन भी असार है, इन्द्रिय ज्ञान स्मृति के विषयभूत स्वस्वरूप का ग्राहक नहीं होता है ग्रतः वह किस प्रकार उस अनुमन्धान को ग्राहमसात् करेगा ? पूर्व में देखे हुए पदार्थ का ग्राहमसात् इतेना उसका प्रतिभासन कहलाता है, उसके होने पर तो इन्द्रियज्ञान परोक्षार्थग्राहो हो जाने से उसमें परिस्पष्ट प्रतिभागनता नहीं हो सकेगी । तथा यदि

स्थात् । यदि च स्मृतिविषयस्वभावतया स्थ्यमानोर्थः प्रत्यक्षप्रस्ययैरवगम्येत तर्हि स्मृतिविषयः पूर्व-स्वभावो वर्त्तं मानतया प्रतिभातीति विपरीतस्थातिः सर्वं प्रत्यक्षं स्यात् । अध्यवधानेन प्रतिभासन-सक्षसाबैधाद्याभावाच्च न प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षम् इत्यलमतिप्रसंगेन ।

तच्च तदवेदं तत्सदशं तद्विलक्षस्यं तत्प्रतियोगीत्यादिप्रकारं प्रतिपत्तव्यम् । तदेवोक्तप्रकारं प्रत्यभिज्ञानमुदाहरस्यद्वारेस्याखिलजनाववोधार्यं स्पष्टयति—

यथा स एवायं देवदवः ॥६॥ गोसहको गवयः ॥७॥ गोविलक्षणो महिषः ॥८॥ इदमस्माद्रम् ॥९॥ षुक्षोयमित्यादि ॥१०॥

दृश्यमान वर्त्तमान का पदार्थ स्मृति के विषय के स्वभाव रूप से प्रत्यक्ष ज्ञानों द्वारा ग्रवभासित होता है तो स्मृति के विषयभूत पूर्व स्वभाव वर्तमान रूप से ग्रवभासित होना भी मान सकते हैं, इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष विपरीत स्थाति रूप हो जायेंगे। अव्यवधान से प्रतिभासित करना रूप वैणद्य का अभाव होने से भी प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप सिद्ध नहीं होता है, अब इस विषय पर ग्रविक नहीं कहते।

इस प्रत्यिभज्ञान के वही यह है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, इत्यादि भेद हैं। अब इन्हीं प्रत्यभिज्ञानों के उदाहरण सभी को समफ में ग्राने के लिये दिये जाते हैं—

यथा स एवायं देवदत्तः, गो सहशो गवयः, गोविलक्षसो महिषः इदमस्माद् दूरं वृक्षोयमित्यादि ॥६॥

सूत्रार्थ — जैसे वही देवदत्त यह है, गो सहश रोक्ष होती है, गो से विलक्षण भैंस होती है, यह इससे दूर है, यह बुक्ष है इत्यादि कमशः एकत्व प्रत्यिभज्ञान, साइश्य प्रत्यिभज्ञान, वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान, प्रतियोगी प्रत्यिभज्ञान ग्रौर सामान्य प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण समक्षते चाहिये।

बौद्ध—''यह वही देवदत्त है'' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान रूप नहीं है। ''वह''ऐसा उल्लेख तो स्मरण है और ''यह'' ऐसा उल्लेख प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है, इन ननु स एवायमित्यादि प्रत्यभिज्ञानं नैकं विज्ञानम्-'सः' इत्युल्लेखस्य स्मरणस्वात् 'श्रयम्' इत्युल्लेखस्य नाघ्यक्षत्वात् । न चाऱ्यां व्यतिरिक्तः ज्ञानमस्ति यत्प्रत्यभिज्ञानशब्दाभिषेयं स्यात् । नाप्यनयोरैकयं प्रत्यक्षानुमानयोरिष तत्प्रसंगात् । स्पष्टेतररूपतया तयोभेंदेऽत्रापि सोऽस्तुः तदसाम्प्रतमः स्परणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरिववर्तवर्त्येकद्रव्यविषयस्य संकलनज्ञानस्यैकस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन सुप्रतीत-त्वात् । न खलु स्मरणभैवातीतवर्त्तामानविवर्त्तविद्वव्यं संकलयितुमलं तस्यातीतविवर्त्तामात्रयोचपत्वात् । नापि दर्शनमः तस्य वर्तमानमात्रपर्यायविषयत्वात् । तदुभयसंस्कारजनितं कल्पनाज्ञानं तस्यक्षकपतिति कल्पने तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम् ।

प्रत्यिभज्ञानानम्थुरगमे च 'यत्सत्तत्सर्व क्षिणकम्' इत्याद्यनुमानवैयर्थ्यम् । तद्वचे कत्वप्रतीति-निरासार्थम् न पुनः क्षणक्षयप्रसिद्धर्थं तस्याध्यक्षसिद्धत्वेनाम्थुपगमात् । समारोपनिषेषार्थं तत्;

दोनों से अतिरिक्त अन्य जान नहीं है जो प्रत्यभिज्ञान शब्द का अभिधेय हो, इम स्मृति श्रीर प्रत्यक्ष को एक रूप भी नहीं मान सकते है अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमान में भी एकत्व मानना होगां। प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतिभास वाला है और अनुमान अस्पष्ट प्रतिभास वाला है अतः इनमें भेद सिद्ध होना है ऐसा कहो तो यही बात स्मरण और प्रत्यक्ष में है। अर्थात् स्मरण अस्पष्ट प्रतिभास वाला और प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतिभास वाला होने से इनमें भेद ही है।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, जो स्मरण और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है, पूर्वोत्तर पर्यायों में व्यापी एक द्रव्य जिसका विषय है ऐसा जोड़ रूप प्रत्यभिज्ञान भली भांति प्रतीति में भ्राता है। स्मरण ज्ञान अतीत और वर्तमान पर्यायों में रहने वाले द्रव्य के जोड़ रूप विषयको जानने में समर्थ नहीं है, वह तो केवल अतीत पर्याय को जान सकता है - दर्शनरूप प्रत्यक्ष भी इस विषय को ग्रहण नहीं कर पाता क्योंकि वह केवल वर्तमान पर्याय को जानता है। यदि कहे कि अतीत और वर्तमान पर्याय के संस्कार से उत्पन्न हुमा कल्पना ज्ञान उन दोनों पर्यायों का संकलन करता है तो वही ज्ञान प्रत्यभिज्ञान रूप सिद्ध होता है।

तथा प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार नहीं करे तो ''जो सत है वह सब क्षणिक है'' इत्यादि ग्रनुमान व्यर्थ हो जाता है।

सौगत — भ्रमुमान प्रमाण एकत्व का निरसन करने के लिये दिया जाता है, क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये नहीं, क्योंकि क्षणिकत्व तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो इत्यप्यपेशस्त्रम्, सोयमित्येकत्वप्रतीतियन्तरेण् समारोपस्याप्यसम्भवात् । तदम्युपगमे च 'श्रयं सः इत्यध्यक्षस्मरण्ड्यतिरेकेण् नापरमेकत्वज्ञानम्' इत्यस्य विरोधः। न चाध्यक्षस्मरण् एव समारोपः; तेनानयोध्यंवच्छेदंज्नुमानस्यानृत्पत्तिरेव स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तस्य। कथं चास्याः प्रतिक्षेपेऽम्यासैतरा-वस्यायां प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यप्रसिद्धिः? प्रत्यभिज्ञाया सभावे हि 'यदृदृष्टं यद्मानुप्रतं तदेव प्राप्तम् इत्येकत्वाध्यवसायाभावेनानयोरविसंवादःसम्भवात् । तया च "प्रमाण्मविसंवादि ज्ञातस्" [ प्रमाण्वाव २।१ ] इति प्रमाण्वललण्प्रण्यनमयुक्तम् । सन्यद् च्छमनुप्तितं वा प्राप्तं चान्यदियोकन्त्वाध्यवसायाभावेष्यविसंवादे प्रामाण्ये चानयोरम्युपगम्यमाने मरीविकाचक्रे अलज्ञानस्यापि तत्प्रसञ्जः।

जाता है। उस प्रत्यक्ष में घाये हुए समारोप का निषेघ करने के लिये अनुमान की स्रावश्यकता होती है।

जैन-यह कथन अशोभन है "वह यह है" इस प्रकार की एकत्व की प्रतीति हुए बिना समारोप ग्राना भी संभव नहीं है ग्रतः एकत्व की प्रतीति को स्वीकार करना . होगा स्रौर उसको स्वीकार करेंतो स्रापका निम्नकथन विरोध को प्राप्त होगा कि . "यह वह है" इस तरह के ज्ञान में प्रत्यक्ष और स्मरण को छोड़कर ग्रन्य कोई एकत्व नाम का ज्ञान नहीं है । प्रत्यक्ष ग्रौर स्मरण ही समारोप है ऐसा कहना भी शक्य नहीं, क्योंकि यदि इन दोनों का समारोप द्वारा व्यवच्छेद होगा तो ग्रनुमान उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षादि पूर्वक होता है। दूसरी बात यह हैं कि प्रत्यभिज्ञान का निरसन करेंगे तो ग्रनभ्यास दशा में प्रत्यक्ष ग्रौर ग्रनुमान की प्रमाणता किस प्रकार सिद्ध होगी ? क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के अभाव में जो देखा था अथवा जिसका ग्रनुमान हुआ था वही पदार्थ प्राप्त हुआ है ऐसा एकत्व का निश्चय नहीं होने से प्रत्यक्ष ग्रीर अनुमान में अविसंवाद सिद्ध होना असंभव है, ग्रत: "अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है" इस प्रकार ग्राप बौद्ध के प्रमाण का लक्षण ग्रयुक्त सिद्ध होता है। तथा बौद्ध के यहां प्रत्यक्ष द्वारा दृष्ट एवं अनुमान द्वारा अनुमित हुआ पदार्थ ग्रन्य है ग्रीर प्राप्त होने वाला पदार्थ ग्रन्य है, उस दृष्ट ग्रीर प्राप्त पदार्थ में एकत्व ग्रध्यवसाय के ग्रभाव में भी प्रत्यक्ष और म्रनुमान का भ्रविसंवादपना एवं प्रामाण्यपना स्वीकार किया जाय तो मरीचिका में होने वाले जल के ज्ञान को भी अविसंवादक एवं प्रामाण्य स्वीकार करना होगा।

न चैवंबादिनो नैरात्स्यभावनाभ्यासो युक्तः फलाभावात् । न चात्मदृष्टिनिवृत्तिः फलम्; तस्या एवासम्भवात् । 'सोहम्' इत्यस्तीति चेत्; न; स्मरागप्रत्यक्षोल्लेखव्यतिरेकेगा तदनभ्युपगमात् । तथा च कृतस्तक्षिमित्ता रागादयो यतः संसारः स्यात् ?

नतु पूर्वापरपर्याययोरेकत्वग्राहिशी प्रत्यिभज्ञा, तस्य चासम्भवात् कथमियमविसंवादिनी यतः प्रमाशं स्यात् ? प्रत्यक्षेण हि तृद्यदूषयोः प्रतीतिः स्वकालनियतार्थविषयत्वानस्यः इत्यपि मनोरथ-मात्रम्; सर्वथा क्षिणकत्वस्याग्रे निराकरिष्यमाण्यत्वात् । प्रत्यक्षेणाऽतृश्वदूषतयार्थप्रतीतिश्चानुभवात् कयं विसंवादकत्वं तस्याः ? ततः प्रमाणं प्रत्यिभज्ञा स्वगृहीतार्थाविसंवादित्वात् प्रत्यक्षादिवत् । नीलाद्यनेकाकाराक्रान्तं चैकज्ञानमस्युपणच्छतः 'स एवायम्' इत्याकारद्वयाक्रान्तंकज्ञाने को विद्वेषः ?

तथा प्रत्यिभज्ञान का निराकरण करने वाले बौद्ध के यहां नैरात्म्य भावना का अभ्यास करना भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसका कोई फल नहीं है। अपनत्व हिष्ट दूर होना उसका फल है ऐसा कहना भी असत् है, क्योंकि अपनत्व हिष्ट दूर होना उसका फल है ऐसा कहना भी असत् है, क्योंकि अपनत्व है ऐसा कहो तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्ष के उल्लेख बिना "सोहम्" इस प्रकार की अपनत्व की हिष्ट का होना स्वीकार नहीं किया है, इस तरह अपनत्व हिष्ट की असिद्धि होने पर उसके निमित्त से होने वाले रागद्वेष भी कैसे उत्पन्न हो सकेंगे जिससे संसार अवस्था सिद्ध होवे ? अभिप्राय यह है कि प्रत्यभिज्ञान के अभाव में रागद्वेष उत्पन्न होना इत्यादि सिद्ध नहीं होता।

सीगत —पूर्व श्रीर उत्तर पर्यायों में एकत्व को ग्रहण करने वाला प्रत्यभिज्ञान है किन्तु उस एकत्व का होना ग्रसंभव होने से यह ज्ञान किस प्रकार अविसंवादक होगा जिससे उसको प्रमाण माना जाय । प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नष्ट होते हुए स्वरूपों की ही प्रतीति होती है, क्योंकि स्वकाल में नियत रहने वाला पदार्थ उसका विषय है ?

जैन — यह कथन भी गलत है, सबंधा क्षणिक वाद का हम प्रागे खण्डन करने वाले हैं। आपने कहा कि प्रत्यक्ष से वस्तुम्रों का नष्ट होता हुआ रूप हो प्रतीत होता है किन्तु यह बात ग्रसत्य है प्रत्यक्ष द्वारा तो ग्रम्वय रूप से पदार्थ की प्रतीति होती है, अतः प्रत्यभिज्ञान के विसंवादकपना कैसे हो सकता है, ग्रर्थात् नहीं हो सकता, इसलिये निश्चित हुआ कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाणभूत है, क्योंकि वह ग्रपने गृहीत विषय में अविसंवादक है, जैसे प्रत्यक्षादि अविसंवादक है। ग्राप बौद्ध भी नीलादि ग्रनेक ग्राकारों ननु स एवायमिश्याकारद्वयं कि परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, धननुप्रवेशेन वा ? प्रथमपक्षेऽन्यतराकारस्यैव प्रतिभासः स्यात् । द्वितीयपक्षे नु परस्परिविक्तप्रतिभासद्वयप्रसङ्गः । प्रथ प्रतिभासद्वयमेकाधिकरण्तियुच्यते; नः एकाधिकरण्त्वासिद्धेः । न खनु परोक्षापरोक्षरूपौ प्रतिभासावेकमधिकरणं विश्वाते सर्वसंविदामेकाधिकरण्त्वप्रसङ्गात् । इत्यप्यसारम्; तदाकारयोः कथिन्वत्परस्परानुप्रवेशेनात्माधिकरण्त्वात्मभ्यवानुभवात् । कथं चैवंवादिनश्चित्रक्षानिर्विद्धः ? नीलादिप्रतिभासानां परस्परानुप्रवेशे सर्वयामेकस्पतानुपङ्गात् कृतिस्वत्रतंकनीलाकारज्ञानवत् ? तेषां तदननुप्रवेशे
भिन्नसन्ताननीव्यादिप्रतिभाषानामिवात्यन्तभेदसिद्धं नितरां विश्वताऽसम्भवः । एकज्ञानाधिकरण्यत्वा
तेषां प्रत्यक्षतः प्रतीते प्रतिपादितदोषाभावे प्रकृतेप्यसौ मा भूतत एव ।

से व्याप्त ऐसे एक ज्ञान को स्वीकार करने हैं तो "वही यह है" इस प्रकार के दो आकारों से व्याप्त ज्ञानको एक मानने में कौन सा विद्वेष है ?

बौढ— "वही यह है" ऐसे दो आकार परस्पर में मिले हुए प्रतिभासित होते हैं या बिना मिले प्रतिभासित होते हैं रि प्रथम विकल्प कहो तो दो में से कोई एक आकार ही प्रतीत हो सकेंगा क्योंकि दोनों परस्पर में मिल चुके हैं। दूसरे पक्ष में परस्पर से सर्वथा पृथक् दो प्रतिभास सिद्ध होंग। कोई कहे कि दो प्रतिभासों का स्रिधिकरण एक है अतः एकत्व सिद्ध होगा रे सो यह कथन भी ठीक नहीं, एकाधिकरण तक ही प्रसिद्ध है क्योंकि परोक्ष और अपरोक्ष रूप दो प्रतिभास यदि एक स्रिधिकरण को घारण करेंगे तो सभी जान में एक स्रिधिकरणना सिद्ध होगा रे

जैन — यह कथन असार है। पूर्वापर दो आकारों का कथंचित् परस्परानु प्रवेश द्वारा म्रात्मा अधिकरणरूप से अपने में ही प्रतीत होता है, तथा इस प्रकार एकाधिकरणत्व का निषेध करने वाले बौद्ध के यहां चित्र ज्ञान की सिद्धि किस प्रकार होगी ? क्योंकि नील पीत आदि प्रतिभासों का परस्पर में प्रवेश होने पर सभी आकारों को एक रूप हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है अतः उनमें चित्रता किससे आयेगी ? अर्थात् नहीं आ सकती, जिस प्रकार एक नील आकार वाले ज्ञान में नहीं होती। तथा नीलादि अनेक आकार परस्पर में प्रविष्ट नहीं हैं ऐसा मानते हैं तो वे आकार भिन्न भिन्न संतानों के नील पीत आदि प्रतिभासों के समान अत्यंत भिन्न सिद्ध होने से उनमें चित्रता होना नितरां असंभव है। बौद्ध कहे कि एकाधिकरणपने से नील पीतादि आकारों की प्रसक्ष से प्रतीति होती है अतः उपर्युक्त दोप नहीं ग्राते हैं, तो प्रकृत

म्रायोज्यते—'पूर्वमृत्तरं वा दर्शनमेकत्वेऽप्रवृत्तं कथं स्मरणसहायमिप प्रत्यभिज्ञानमेकत्वे जनयेत्? न खलु परिमलस्मरणसहायमिप चलुग्नेचे ज्ञानमुत्पादयितं इति; तदप्युक्तिमात्रम्; तथा च तज्जनकत्वस्यात्र प्रमाणप्रतिपप्रत्यात्। न च प्रमाणप्रतिपप्रतं वस्तुस्वरूपं व्यत्येकिविचारसहस्र णा-प्यत्ययाकत् वास्त्रम् सहकारित्सां चाचिन्त्यशक्तित्वात्। कथमन्ययाऽसर्वज्ञज्ञानमम्बासिवशेषसहायं सर्वज्ञज्ञानं जनयेत्? एकत्वविषयत्वं च दर्शनस्यापि, प्रत्यया निविषयकत्वमेवास्य स्यादेकान्ताऽनित्यत्वस्य कदाचनाप्यप्रतोते:। केवलं तेनैकत्वं प्रतिनियतवत्तंमानपर्यायाधारत्याधंस्य प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षज्ञनितप्रत्यभिज्ञानेन तु स्मर्यमाणानुभूयमानपर्यायाधारत्यिति विशेष:।

न च जूनपुनर्जातनस्वकेशादिवस्तवंत्र निर्विषया प्रत्यभिज्ञाः; क्षणक्षयैकान्तस्यानुपलम्भात् । तदुपलम्भे हि सा निर्विषया स्यात् एकचन्द्रोपलम्भे डिचन्द्रप्रतीतिवत् । लूनपुनर्जातनस्वकेशादौ च 'स

प्रत्यभिज्ञान में भी उपर्युक्त दोष मत होवे, क्योंकि इसमें भी एकाधिकरत्व की प्रत्यक्ष से प्रतीति ग्राती है।

बौद्ध--पूर्व प्रत्यक्ष अथवा उत्तर प्रत्यक्ष एकत्व विषय में प्रवृत्त नहीं होता ग्रत: स्मरण की सहायता लेकर भी वह प्रत्यभिज्ञान को किस तरह उत्पन्न कर सकेगा, सुगन्धि की सहायता मिलने पर भी क्या चक्षु गंध विषय में ज्ञान को उत्पन्न कर सकती है?

जैन — यह कथन अयुक्त है प्रत्यक्ष का एकत्व विषय में ज्ञान उत्पन्न करना प्रमाण से प्रसिद्ध है। प्रमाण से प्रतिभासित हुए वस्तु स्वरूप को भूठे हजारों विचारों द्वारा भी अन्यथा नहीं कर सकते, क्योंकि सहकारी कारणों की प्रविन्त्य शक्ति हुआ करती है, यदि ऐसा नहीं होता तो असर्वज्ञ का ज्ञान अभ्यास की सहायता लेकर सर्वज्ञ ज्ञान को कैसे उत्पन्न कर सकता था? दूसरी वात यह है कि प्रत्यक्षिज्ञान का ही विषय एकत्व होवे सो बात भी नहीं, प्रत्यक्ष भी एकत्व विषय का ग्राहक है अन्यथा यह ज्ञान निविषयक होवेगा, क्योंकि सर्वथा अनित्य की कभी भी प्रतीति नहीं होती है। प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान में अंतर केवल यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतिनियत वर्तमान पर्याय के स्राधारभूत द्वय के एकत्व को ग्रहण करता है और प्रत्यभिज्ञान स्मरण तथा प्रत्यक्ष की सहायता से उत्पन्न होकर स्मर्यमान पर्याय और अनुभूयमान पर्याय इन दोनों के स्राधारभूत द्वय्य के एकत्व को ग्रहण करता है। जिस प्रकार काटकर पुन उत्पन्न हुए नक्ष केस आदि में होने वाला एकत्व का प्रतिभास निविषय है उसी प्रकार प्रत्यभिन्

एवायं नखकेशादिः' इत्येकत्वपरार्माशप्रत्यभिज्ञानं 'लूननखकेशादिसदृशोयं पुनर्जातनखकेशादिः' इति सादृश्यनिवश्यनप्रत्यभिज्ञानान्तरेणः वाध्यमानत्वादप्रमाणं प्रसिद्धम्, न पुनः सादृश्यप्रत्ययमिश् तत्रास्याऽवाध्यमानत्या प्रमाण्त्वप्रसिद्धः। न चैकत्रेकत्वपरामशिष्रत्यभिज्ञानस्य मिध्यात्वदर्शनात्सर्यन्त्रास्य मिध्यात्वदर्शनात्सर्यन्त्रास्य मिध्यात्वदर्शनात्सर्यन्त्रास्य मिध्यात्वम्, प्रत्यक्षस्यापि सर्वत्र आन्तत्वानुषङ्गान्न किखित्कृतविचत्कस्यचिद्यप्रसिद्धयेत्। तती यथा शुक्ते शक्ते प्रतिभासं प्रत्यक्षं तत्रैव शुक्ताभासप्रत्यक्षान्तरेणः वाध्यमानत्वादप्रमाणम्, न पुनः पीते कनकादौत्या प्रकृतमपीति।

कथं न प्रत्यभिज्ञानविलोपेऽनुमानप्रवृत्तिः ? येनैव हि पूर्वधूमोऽनेर्देष्टस्तस्येव पुनः पूर्वधूम-सहक्षभूमदर्शनादिग्निप्रतिपत्तिर्युक्ता नान्यस्यान्यदर्शनात् । न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेरा 'तेनैदं सहक्षम्'

ज्ञान सर्वत्र निविषय है अर्थात् इसका कोई विषय नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि क्षणिक एकांत की अनुपलिब्ध है, यदि क्षणिक एकांत सिद्ध होता तो प्रत्यभिज्ञान को निविषयी मानते, जिस प्रकार एक चन्द्र के उपलब्ध होने पर द्विचन्द्र के ज्ञान को निविषयी मानते, जिस प्रकार एक चन्द्र के उपलब्ध होने पर द्विचन्द्र के ज्ञान को निविषयी मानते हैं। कटकर पुनः उत्पन्न हुए नख केशादि में वही यह नल केशादि है ऐसी प्रतीति कराने वाला एकत्व प्रत्यभिज्ञान, कटे हुए नख केश के समान यह पुनः उत्पन्न हुए नख केशादि हैं इस नरह के होने वाले साइश्य प्रत्यभिज्ञान से वाधित होता है अतः अग्रमाण है किन्तु साइश्य को विषय करने वाला प्रस्यभिज्ञान अग्रमाएा नहीं कहलाता, क्योंकि अबाध्यमान होने से उसके प्रमाण्य की प्रसिद्धि है। तथा एक जगह एकत्व के परामशीं प्रत्यभिज्ञान में मिध्यापना दिखायी देने से उसमें सर्वत्र निध्यापना मानना गलत है अन्यथा प्रत्यक्ष के भी सर्वत्र आग्रान्त होने का प्रसंग प्राप्त होगा फिर तो कोई भी वस्तु किसी भी प्रमाण से किसी के भी सिद्ध नहीं होगी। इस बड़े भारी दोष को दूर करने के लिये जैसे-सफेद शंख में पीताभास को करने वाला प्रत्यक्ष शुक्लाभास प्रत्यक्ष से बाधित होकर अग्रमाण सिद्ध होता है और पीत मुवर्णीदि में पीताभास बाधित न होकर प्रमाणभूत सिद्ध होता है वैसे ही प्रत्यभिज्ञान में बाधितपना और प्रवाधितपना होने से अप्रमाणपना और प्रमाणपना होने सिद्ध होते हैं।

यदि एकत्व और सादृश्य को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान का लोप करेंगे तो अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेंगी ?

जिसने पूर्व में धूम को देखकर ग्रग्नि को देखा है उसी पुरुष के पुन: पूर्व के धूम सदश धूम के देखने से अग्नि का जान होना युक्त है, न कि ग्रन्य व्यक्ति के ग्रन्य किसी वस्तु के देखने से अग्नि का जान होना युक्त है। प्रत्यिभिज्ञान के बिना "यह इति प्रतिपत्तिरिक्तः पूर्वप्रत्यक्षेगोत्तरस्य तस्प्रत्यक्षेगः च पूर्वस्याग्रह्गात्, द्वयप्रतिपत्तिनिवन्धनस्वादु-भयसास्य्यप्रतिपत्ते : सम्बन्धप्रतिपत्तिवत् । ततः प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमञ्जूपगन्तव्या ।

तदप्रामाण्यं हि गृहीतप्राहित्वात्, स्मरगानन्तरभावित्वात्, शब्दाकारधारित्वाद्वा, बाध्यमान-त्वाद्वा स्यात्? न तावदाद्यविकत्यो युक्तः; न हि तद्विषयभूतमेकं द्वत्यं स्मृतिप्रत्यक्षप्राह्यमित्युक्तम् । तद्गृहीतातीतवर्त्तमानविवत्तं मानविवत्तं तादाभ्येनावस्थितद्वयस्यकथन्त्र्वार्थत्विषि तद्विषयप्रत्यभि-ज्ञानस्य नाप्रामाण्यम्, लैङ्गिकादेरप्यश्रमाण्यप्रसङ्गात् तस्यापि सर्वयंवापूर्वार्थत्वासिद्धः, सम्बन्ध्याहि-विज्ञानविषयसाध्यादिसामान्यात् कथञ्चिद्यासभ्यानुमेयस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात् कथञ्चि-त्युवीर्यत्वसिद्धः । तन्न गृहीतयाहित्वात्त्वाप्रामाण्यम् ।

नापि स्मरागानन्तरभावित्वात्; रूपस्मरागानन्तरं रससन्निपाते समुत्पन्नरसज्ञानस्याप्य-प्रामाण्यश्रसङ्गात् । तत्र हि रूपस्मृतेः पूर्वकालभावित्वात् समनन्तरकारणस्वं "बोधाद्बोधरूपता"

उसके समान अपिन है" इत्यादि प्रतीति नहीं होती, क्योंकि पूर्व पर्याय को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा उत्तर पर्याय का ग्रहण नहीं होता और उत्तरकालीन पर्याय को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा पूर्व पर्याय का ग्रहण नहीं होता। उभय पर्यायों में होने वाले सादृश्य का ज्ञान उभय को जानने से ही होगा जैसे संबंध का ज्ञान उभय पदार्थों के जानने से होता है। इसलिये प्रत्यभिज्ञान को प्रमाणभूत स्वीकार करना चाहिए।

बौद्ध प्रत्यिभज्ञान को अप्रमाणभूत किस कारण से मानते हैं १ गृहीत ग्राही होने से प्रथवा स्मरण के अनन्तर होने से, शब्दाकार को धारण करने से अथवा वाध्यमान होने से ? प्रथम विकल्प ठीक नहीं क्योंकि प्रत्यिभज्ञान का विषयभूत जो एक द्रव्य है वह स्मृति और प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्म नहीं होता ऐसा सिद्ध कर आये हैं। स्मरण और प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहीत अतीत और वर्तमान पर्यायों में तादात्म्य संबंध से अवस्थित हुआ द्रव्य यद्यपि कर्याचत् पूर्वार्थ है तो भी उसको विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण नहीं कह सकते, अन्यथा अनुमानादि को भी अप्रमाण मानना होगा, क्योंकि इसका विषय भी सर्वया अपूर्वार्थ नहीं है। ग्रागे इसी को बनाते हैं, संबंध को ग्रहण करने वाले तर्क ज्ञान का विषय जो साध्यादि सामान्य है उसके क्यंचित् प्रभिन्न अनुमान का विषय होता है, जो देश और काल से विणिष्ट है उसको विषय करने से अनुमान में भी कथंचित् पूर्वार्थपना सिद्ध हो है, अतः ग्रहीत ग्राही होने से प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है ऐसा कहना असिद्ध है। स्मरण के अनन्तर होने से प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है ऐसा दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है इस तरह माने तो रूप

[ ] इत्यस्युपगमात् । न वात्र बोषक्पतया समनन्तरकारण्यमन्यत्र स्मृतिकपतयेत्यप्रिधातव्यम्; स्मृतिकप-बोषक्पयोस्तादात्य्येवविद्वोधकपतया तत्तस्य ववित्तु स्मृतिकपतयेति व्यवस्यापयितुम-शक्ते: । कथं वैवंवादिनोऽनुमानं प्रमाणम् ? तद्धि लिगालिगसम्बन्धस्मरण्यानन्तरमेवोपजायते, श्रन्यथा साधम्यंद्रष्टान्तोपन्यासो व्यर्थः स्यात् ।

#### शब्दाकारघारित्वं च प्रागेव प्रतिषिद्धम्।

बाध्यमानत्वं चासिद्धम्; न खलु अत्यक्षं तद्वाधकम्; तस्य तद्विधप्रवृत्त्यऽसम्भवात् । यद्वि यद्विषये न प्रवत्तं ते न तत्र तस्य साधकं बाधकं वा यथा रूपजानस्य रसज्ञानम्, न प्रवत्तं ते च प्रत्यभि-ज्ञानस्य विषये प्रत्यक्षमिति । नाप्यनुमानं तद्वाधकम्; प्रत्यभिज्ञानविषये तस्याप्यप्रवृत्तः, क्वचिद-

क स्मरण के अनन्तर रस के सिन्निधि में उत्पन्न हुआ रस का ज्ञान अप्रमाण सिद्ध होगा, क्योंकि उसमें भी रूप स्मृति का पूर्व काल भावीपना होने से समनन्तर कारणत्व है, बोध से बोध होना आपने स्वीकार भी किया है। इस रस ज्ञान में बोध रूपता सं समनंतर कारणत्व है, ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि स्मृतिरूप और बोध रूप में तादात्म्य होने से कहीं पर ज्ञान का समनंतर कारणत्व बौध रूपता से हो और कहीं पर स्मृतिरूपता से हो ऐसी व्यवस्था करना अशक्य है। तथा इस तरह प्रत्यिभज्ञान को नहीं मानने वाले बौद्ध अनुमान को किस प्रकार प्रामाणिक सिद्ध कर सकेंगे। क्योंकि हेनु और साध्य के संबंध का स्मरण होने के अनन्तर ही अनुमान उत्पन्न होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो साधम्य हष्टांत देना व्यर्थ होता।

भावार्थ — पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करते समय स्मरण दिलाते हैं कि "जैसे तुमने रसोई घर में अग्नि-धूम देखा था वैसे यहां है" इत्यादि इष्टांत से मालुम होता है कि अनुभान में स्मरण की जरूरत है।

प्रत्यभिज्ञान शब्दाकार को घारण करता है ब्रतः श्रप्रमारण है ऐसा तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं । ज्ञान में शब्दाकार का होना तो पहले शब्दार्ढ तयाद में ही खण्डित हो चुका है ।

प्रत्यभिज्ञान बाधित होने से श्रप्रमाण है ऐसा चौथा विकल्प भी ग्रसिद्ध है । प्रत्यभिज्ञान किससे बाधित होगा ? प्रत्यक्ष से बाधित होना ग्रशक्य है, क्योंकि उसकी नुमेयमात्रे प्रवृत्तिप्रसिद्धेः । तस्य तद्वियये प्रवृत्तौ वा सर्वेषा वाधकत्वविरोधः । ततः प्रमागां प्रत्यिभज्ञा सकलवाधकरहितस्वारप्रस्थादिवत् ।

एतेनैव 'गोसहयो गवयः' इत्यादि साइश्यनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमावेदितं प्रतिपत्तव्यम्, तस्यापि स्वविषये वाधविधुरत्वस्य संवादकत्वस्य च प्रसिद्धेः ।

ननु सादस्यस्यार्थेम्यो भिन्नाभिन्नादिविकरुपैविचार्यमाण्स्यायोगानद्विपपप्रस्यभिक्रानस्य बाधविधुरत्वमविसंवादकर्त्वं चासिद्धम्; इत्यप्यास्तां तावत्, प्रत्यक्षादिप्रमाण्विषयभूतत्वेनाबाधि-ततत्त्वरूपस्य सामान्यसिद्धिप्रक्रमे प्रतिपादयिध्यमाण्स्वात् । न च तस्मिन्नेव स्वपुत्रादौ 'तादृशोयम्' इति प्रत्यभिज्ञानं साद्श्यनिवन्धनं 'स एवायम्' इत्येकत्वनिवन्धनप्रत्यभिज्ञानेन बाध्यमानमप्रमाण्

प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रवृत्ति नहीं होती, जो जिसके विषय में प्रवृत्त नहीं होता वह उसका साधक या बाधक नहीं होता है, जैसे रूप ज्ञान का बाधक रस ज्ञान नहीं होता, प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं करता, अतः उसका बाधक नहीं हो सकता । अनुमान प्रमाण भी बाधक नहीं है, क्योंकि वह भी प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रवृत्ति नहीं करता। अनुमान प्रमाण तो अपने अनुमेय (अगिन आदि) विषय में प्रवृत्ति करता है । प्रत्यभिज्ञान के विषय में अनुमान प्रवृत्त होता है, ऐसा कदाचित् मान भी लेवें तो उसका बाधक तो सर्वथा नहीं हो सकता। अतः निण्यय हुआ कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाणभूत है क्योंकि सम्पूर्ण बाधाओं से रहित है, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण बाधा रहित है।

एकत्व प्रत्यभिजान की सिद्धि होने से ही ''गो के सहग रोफ है'' इत्यादि साहत्र्य के कारण से होने वाला प्रत्यभिज्ञान भी सिद्ध होता है ऐसा समक्षता चाहिये, क्योंकि यह ज्ञान भी अपने विषय में बाधा रहित है तथा संवादक है।

शंका—साइश्य पदार्थों से भिन्न है कि श्रभिन्न इत्यादि विकल्पों से विचार के श्रयोग्य होने से उसको विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान का वाधा रहितपना एवं अविसंवादपना श्रसिद्ध है ?

समाधान — इस शंका का समाधान ग्रागे करेंगे, प्रत्यक्ष ग्रादि प्रमाणों का विषय होने से उस सादृश्य का स्वरूप ग्रवाधित है ऐसा ग्रागे सामान्य सिद्धि प्रकरण में प्रतिपादन करने वाले हैं। उसी एक ग्रपने पुत्र ग्रादि में "वैसा है" इस प्रकार का प्रतिपाद्य स्वपुत्रादिना सक्के पुरुषे 'ताक्कोयम्' इत्यपि प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणां प्रतिपादयितुं युक्तम्; तस्याबावः मानत्वेन प्रमाणुत्वात् ।

स्यान्मतम्-प्रत्यभिज्ञानमनुमानत्वेन प्रमाण्यमिष्यत एवः तथाहि-पूर्वोत्तरार्थकण्योरनर्यान्तर-भूतं साहस्यं तत्प्रत्यक्षाभ्यां प्रतीयत एव । यस्तु तथा प्रतिपद्यमानीपि साहस्यव्यवहारं न करोति घटिविक्तभूतलप्रतिपत्ताविप घटाभावश्यवहारवत्, स 'प्रागुपलव्धार्यसमानीयं तत्सदस्राकारोपलम्भात्ं इत्युभयगतसहस्राकारदर्यनेन तथा व्यवहारं कार्यते, इस्यानुपलम्भोपदर्शनेन घटाभावव्यवहारवत्; तदप्यसञ्जतम्, 'प्राक्प्रतिपन्नयूमसहस्रोयं पूमः' इत्यादिनि क्षुप्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य लैक्किकत्वे सन्तिक्षु-प्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यापि लेगिकत्वभित्यनवस्थाप्रसंगात् ।

सादृश्य निमित्तक प्रत्यभिज्ञान "वही यह है" इस प्रकार के एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा बाध्यमान होने से अप्रमाण है, ऐसा प्रतिपादन करके अपने पुत्र के सदृश जो अन्य पुरुष है उसमें "वैसा है" इस तरह का होने वाला प्रत्यभिज्ञान भी अप्रमाण है ऐसा प्रतिपादन करना युक्त नहीं है, क्योंकि अवाधित होने से यह प्रमाणभूत है।

बौद्ध — हम लोग प्रत्यिभिज्ञान को अनुमान रूप से प्रमाण मानते ही हैं आगे इसी को स्पष्ट करते हैं पूर्व और उत्तर अर्थ क्षराों में जो अभिज्ञ रूप साहत्य है वह पूर्वोत्तर प्रत्यक्षों द्वारा प्रतीत होता ही है। किन्तु जो पुरुष उस प्रकार प्रतिपादन करते हुए भी साहश्य का व्यवहार नहीं करता जैसे घट रहित भूतल को जान लेने पर भी घटाभाव के व्यवहार को सांख्यादि परवादी नहीं करते है, ऐसे पुरुष को "पहले देखे हुए पदार्थ के समान यह हैं" क्योंकि उसके समान आकार को उपलब्धि है, इस प्रकार उभयगत सहशाकार को दिखलाकर सहणता का व्यवहार कराया जाता है "जैसे कि उन्हीं सांख्यादि को दृश्यानुपलंभ दिखलाकर घट के अभाव का व्यवहार कराया जाता है । सारांश यह निकला कि प्रत्यिभज्ञान अनुमान में ग्रांतहित है।

जैन — यह कथन असंगत है ''पहले जाने हुए धूम के समान यह धूम है' इत्यादि रूप से धूम हेतु को विषय करने वाला जो प्रत्यिभज्ञान है उसको अनुमान रूप स्वीकार करेंगे तो उसके हेतु को जानने वाले प्रत्यिभज्ञान को भी अनुमानपना प्राप्त होगा और इस तरह ग्रनवस्था आ जायेगी। किञ्च, प्रयं साध्यय्यवहारस्य सदशाकारितवन्धनत्वे सदशाकारिए कुतस्तद्वपवहारसिद्धः? प्रपरतद्वतसदशदमंदर्शनाच्चेत्; प्रनवस्था। विमसादश्यव्यवहारे चान्योन्याश्रयः। तन्नेयं सादश्य-प्रत्यभिज्ञा लिङ्कजाभ्यूपगन्तव्या।

नतु गोदर्शनाहितसंस्कारस्य पुनर्गवयदर्शनाद्गिव स्मरतो सित 'भ्रनेन समानः सः' इत्येवमा-कारस्य ज्ञानस्योपमानरूपत्वात्र प्रत्यभिज्ञानता । सारूपविशिष्टो हि विशेषो विशेषविशिष्टं वा सारूप-मुपमानस्यैव प्रमेयम् । ऊक्तं च—

दूसरी बात यह है कि पदार्थ में सदशता का व्यवहार सहश आकार के निर्मित्त से होता है ऐसा मानते है, तो स्वयं सहश आकार में किससे सहशता का व्यवहार होवेगा? अन्य किसी वस्तु में होने वाले सहश धर्म के देखने से कही तो अनवस्था आती है और धर्मी के सादृश्य से कहो तो अन्योग्याश्रय दोष आता है, अत सादृश्य प्रत्यभिज्ञान अनुमान रूप है ऐसा कथन सिद्ध नहीं होता।

मीमांसक—गाय को देखने से उत्पन्न हुआ है संस्कार जिसको ऐसे पुरुष के रोक्त को देखकर गाय का स्मरण होता है तब इसके समान वह है ऐसा आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह तो उपमा प्रमाएग रूप है अतः इसमें प्रत्यिभज्ञानपना सिद्ध नहीं होता । सादृश्य से विशिष्ट विशेष अथवा विशेष से विशिष्ट सादृश्य जो प्रमेय है वह उपमा ज्ञान ही है। कहा भी है उस देखी हुई वस्तु से जो स्मरण किया जाता है वह सादृश्य से विशेषित होता है अथवा उससे अन्वित जो सादृश्य है वह उपमा प्रमाण का प्रमेय है। यद्यपि प्रत्यक्ष द्वारा सादृश्य ज्ञान होता है एवं गाय की स्मृति भी होती है फिर भो उनका विशिष्टपना अन्य ज्ञान से ही जाना जाता है, जो प्रन्य ज्ञान है वही उपमा प्रमाण है, इस प्रकार उपमा में प्रमाग्गता की सिद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि सादृश्यग्रही ज्ञान उपमा प्रमाण है न कि प्रत्यभिज्ञान।

जैन:—यह कथन बिना सोचे किया है, एकत्व ध्रोर सादृब्य की प्रतीति संकलन ज्ञान रूप होने से प्रत्यभिज्ञान का अतिक्रमण नहीं करती, "वही यह हैं" ऐसा ध्राकार वाला ज्ञान जैसे उत्तर पर्याय का पूर्व पर्याय के साथ एकता की प्रतीति स्वरूप प्रत्यभिज्ञान है वैसे ही इसके समान वह हैं ऐसी सादृब्य की प्रतीति कराने वाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है वर्यों कि संकलनता दोनों में समान है, कोई विशेषता नहीं है। जैसे — पूर्वोत्तर प्रत्ययों से वेद्य जो एकत्व है उसको जानने वाला होने से उस ज्ञान के

"तस्माद्यत्स्मयंते तत्स्यात्सात्क्येव विशेषितम् । प्रमेयमुपमानस्य साद्ध्यं वा तदन्वितम् ॥१॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धेपि साद्ध्ये गवि च स्मृते । विशिष्टस्यान्यतः सिद्धे हपमानप्रमाणता ॥२॥"

[ मी॰ श्लो॰ उपमान॰ श्लो॰ ३७-३८ ] इति।

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; एकत्वसाहस्यप्रतीत्यो सङ्कलना (त) ज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञान-तानतिक्रमात्। 'स एवायम्' इति हि यथोत्तरपर्यायस्य पूर्वपर्यायेसीकताप्रतीति. प्रत्यभिज्ञा, तथा साहद्यप्रतीतिरपि 'भ्रतेन सहस्य.' इत्यविषेषात् । पूर्वोत्तरप्रत्यववेद्यकत्वगोचरत्वात्तस्याः प्रत्यभि-ज्ञानत्वे साहद्यप्रतीताविष तत्स्यात्। न हि तनाभ्यां न परिच्छित्रते—

प्रत्यभिज्ञानपना है, वैसे ही सादृश्य प्रतीति वाला ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान ही है। यह सादश्य पूर्वोत्तर प्रत्ययों से [ स्मरण तथा प्रत्यक्ष ज्ञानों से ] नहीं जाना जाता हो सो भी बात नहीं है। ग्राप मीमांसक के ग्रन्थ में ही कहा है कि इस सादश्य का वस्तपना सिद्ध होने पर तथा चार् द्वारा संबंधपना सिद्ध होने पर उसका दोनों जगह (गाय ग्रौर रोभ में) म्रथवा एकत्र (रोभ में) प्रत्यक्ष होना बिद्ध ही होता है, ग्रतः सादश्य का प्रत्यक्ष होना रोका नहीं जा सकता, ग्रर्थात् साद्य्य प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है।।१।। यह सादृश्य सामान्य के समान एक-एक पदार्थ में परिसमाप्त होकर रहता है, और प्रतियोगी के नहीं देखने पर भी प्रत्यक्षादि से उपलब्ध होता है।।२।। इन उपर्युक्त दोनों श्लोकार्थ से सिद्ध होता है कि सादृश्य प्रत्यक्षादि से जाना जाता है। ग्राप जिस प्रकार गाय और रोफ का विशिष्ट सादृश्य पूर्वोत्तर प्रत्ययों से प्रतीति में नहीं स्राकर उपमा ज्ञान से प्रतीति में स्राता है ऐसा मानते हैं उसी प्रकार पूर्वोत्तर पर्यायों से विशिष्ट ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा प्रतीति में श्राता है ऐसा भी मानना चाहिये। यदि एकत्व का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है और सादृश्य का ज्ञान उपमा प्रमाण है ऐसा मानेंगे तो वैलक्षण्य का ज्ञान किस नाम का प्रमाण होगा ? जिस प्रकार गो को देखने से संस्कारित हुए पुरुष को रोभ को देखकर ''६सके समान वह है'' ऐसी प्रतीति होती है उसी प्रकार भैंस को देखकर इससे विलक्षण वह है ऐसी विलक्षणता की प्रतीति भी होती है । ऋापके कथनानुसार वह प्रतीति प्रत्यभिज्ञान ग्रौर उपमान में से किसी रूप तो हो नहीं सकती, क्योंकि यह प्रतीति एकत्व ग्रौर सादृश्य को विषय करने वाले ज्ञानों "वस्तुत्वे सति चास्येवं सम्बद्धस्य च चतुषा । ब्योरेकत्र वा दृष्टौ प्रत्यक्षत्वं न वार्वते ॥१॥ सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाध्यते । प्रतियोगिन्यदृष्टेपि तत्तस्मावुपलम्यते ॥२॥"

[ मी • इलो • उपमान • इलो • ३४-३५ ]

इत्यस्य विरोद्यानुषगात्। यथा च पूर्वोत्तरप्रत्ययाम्यां गवयगवादिविधिष्टमप्रतिपन्नं साध्यय-मनेन प्रतीयते तथा पूर्वोत्तरपर्यावविधिष्टमेकत्वं प्रत्यभिक्षानेन ।

यदि च 'एकत्वंज्ञानमेव 'प्रत्यमिज्ञा' साद्य्यंज्ञानं तूपमानम्' इत्यम्भुपगमः; तहि वैलक्षण्यज्ञानं किन्नाम प्रमाण् स्यात् ? यथैव हि गोदर्शनाहितसंस्कारस्य गवयद्श्विनः 'भ्रमेन समानः सः' इति प्रति-,पितस्तया महिष्यादिर्दश्चिनः 'भ्रमेन बिलक्षणः सः' इति वैलक्षण्यप्रतीतिरप्यस्ति । सा च न प्रत्यभि-ज्ञोपमानयोरन्यतरा तदेकत्वसाद्श्याविषयत्वात्, श्रतः प्रमाणान्तरं प्रमाण्यसंस्यानियमविधातकृद्भवे-त्यरस्य ।

ननु साइश्याभावो बैलक्षण्यम्, तस्याभावप्रमात्मविषयत्वानः प्रमात्मसंश्यानियमविषातः; तिह् बैलक्षण्याभावः साइश्यमिति स एव दोषः। नन्वनेकस्य समान्यभयोगः साद्ययम्, तत्कषं बैलक्षण्या-भावमात्रं स्यादिति चेतः, तिह् वैलक्षण्यमपि विसदृशयभयोगः, तत्कषं सादृश्याभावमात्रं स्यादिति समानम् ?

का अविषय है, अतः प्रमाणांतर स्वरूप प्रत्यक्षिज्ञान अवश्य ही परवादी (मीमांसक) के प्रमाणों की संख्या का व्याघात करता है।

मीमांसक—सादृश्य का अभाव ही बैलक्षण्य है और वह अभाव प्रमाण के द्वारा जाना जाता है। स्रतः हमारे छह प्रमाण संख्या का व्याघान नहीं होता है।

जैन — तो वैलक्षण्य का अभाव सादृश्य है ऐसा भी कह सकते हैं इस तरह सादृश्य के अभाव होने से उसको ग्रहण करने वाला उपमा प्रमाण का भी अभाव हो जाता है और प्रमाण संख्या का व्याघात होना रूप वही दोष तदवस्य रहता है।

मीमांसक — धनेक गो रोक्ष भ्रादि के समान धर्म का योग होना सादृश्य कहलाता है वह बैलक्षण्य का अभाव रूप कैसे हो सकता है ?

जैत — तो वैलक्षण्य भी विसद्धां धर्म का योग स्वैक्ष्ण है, उसको सादृश्याभाव इप किस प्रकार मान सकते हैं ? इस प्रकार समान ही प्रश्नीलर है। इस प्रकार मीमांसक के प्रत्यभिज्ञान को उपमा में अंतर्भाव करने के प्रभिन्नाय की निराकरण करने से एतेन 'गीरिव गवयः' इत्युपमानवाक्याहितसंस्कारस्य पुनर्वने गवयवर्शनात् 'श्रयं गवयवश्व्य-वाच्यः' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरूपमानमिति नैयायिकमतमपि प्रत्युक्तम् । यथैव ह्ये कदा घट-मुपलब्धवतः पुनस्तर्त्येव दर्शने 'स एवायं घटः' इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा, तथा 'गोस्रद्शो गवयः' इति संकेतकाले गोसट्रशगययाभिषानयोविच्यवाचकसम्बन्धं प्रतिपद्य पुनर्गवयदर्शनातत्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा किन्नेष्यते ? न खल् पुर्वमप्रतिपन्तेऽपूर्वदर्शनात्स्मृतिय् का, यतस्त्या प्रतिपत्तिः स्यात् ।

गोबिसक्षरामहिष्यादिदर्शनाच्च 'श्रयं गवयो न भवति' इति तत्संज्ञासंज्ञिसन्वन्धप्रतिषेषप्रति-पत्तिरुच यद्युपमानम्-"प्रसिद्धसाधम्यांत्साध्यसाधनमुपमानम्" [न्यायस्० १।१।६ ] इति व्याहन्येत । श्रय प्रसिद्धार्थवैषम्यदिपोष्यते; तर्हि 'प्रसिद्धार्थवैषम्यांच्च साध्यसाधनमुपमानम्' इत्युपस्यानं सूत्रे कक्तंव्यम् ।

किञ्च, प्रसिद्धार्षेकत्वात्साध्यसाधनमृषमानिमत्वय्यस्युपगम्यताम् । तथा च प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षेन्तर्भविऽयुक्तः ।

"गाय के समान गवय होती है" इस प्रकार के उपमा वाक्य का हुआ है संस्कार जिसको ऐसे पुरुष के वन में गवय को देखकर यह गवय शब्द का वाच्य है इस प्रकार संज्ञा श्रीर संज्ञी के संबंध का ज्ञान होना उपमा प्रमाण है ऐसे नैयायिक के मत का भी निराकरण हुआ समक्ष्मना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार एक दिन घट को जानने के श्रमंतर पुन: उसी घट के दृष्टि गोचर होने पर वही यह घट है इस प्रकार के प्रतिभास को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं, उसी प्रकार गो के सद्श गवय होती है ऐसा संकेत काल में गाय का सदृश धर्म श्रीर गवय का नाम इनके वाच्य वाचक संबंध को जानकर पुन: गवय के देखने से होने वाला सदृशता का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान क्यों न माना जाय १ क्योंकि जो पूर्व में नहीं जाना है उसके श्रपूर्वदर्शन से स्मृति होना तो युक्त नहीं, जिससे प्रतीति हो सके। यदि नैयायिक कहे कि गाय से विलक्षण भैसादि को देखकर "यह रोफ नहीं है" इस प्रकार का संज्ञा संज्ञी संबंध के निषेध का ज्ञान होता है वह भी उपमा प्रमाण है, तो "प्रसिद्ध साधम्य से साध्य साधन का ज्ञान होना उपमा प्रमाण है" यह न्याय सुत्र खण्डित होता है।

शंका - प्रसिद्ध वैधर्म्य से भी उपमा प्रमाण हो सकता है ?

समाधान — तो "प्रसिद्धार्थं वैधम्यांच्य साध्य साधन मुगमानम्" ऐसा न्याय सूत्र में उपसंख्यान करना चाहिये था । तथा प्रसिद्धार्थ एकत्व से साध्य साधन का ज्ञान तथा स्वसमीपवर्तिप्रासादादिदर्शनोपजनितसंस्कारस्य तत्वरियोगिमूधराधुपसम्भात् 'इदम-स्माददूरम्' इति प्रतिपत्तिः, श्रामलकदर्शनाहितसंस्कारस्य विस्वादिदर्शनात् 'भ्रतस्तत्सूक्षम्' इति, हस्वदर्शनाविभृतसंस्कारस्य तद्विपरीतायोग्लम्भात् 'श्रतोयं प्राशुः, इति च प्रतिपत्तिः कि नाम मानं स्यात ?

तथा वृक्षाधनभिज्ञो यदा किर्चलकिन्वत्युच्छिति कीरधो वृक्षाविरिति ? स्र तं प्रत्याह्-'शासा-दिमान्बृक्ष एकगुङ्को गण्डकोष्ट्रधादः शरभः चारसटान्वितः सिहः' इत्यादि । तहावयाहितसंस्कारः प्रष्टा यदा शासादिमतोर्थान् प्रतिपद्य 'भ्रयं स बृक्षशब्दवाच्यः' इत्यादिकपतया तत्संश्चासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते तदा कि नाम तत्म्माण् स्यात् ? उपमानम्; इत्यसम्भाव्यम्, सर्वत्रोक्तप्रकारप्रतिपत्तौ प्रसिद्धार्थसाधम्यासम्भवात् । ततः प्रतिनियतप्रमाण्व्यवस्थामम्युगमञ्च्यतः प्रतिपादितप्रकारा प्रतीतिः प्रत्यभिजवैत्यम्यगगन्तव्यम् ।

होना उपमा प्रमाण है ऐसा भी नैयायिक को स्वीकार करना चाहिए, वियोंकि यह भी प्रसिद्ध वैधर्म्य जैसे प्रतिभास वाला है रिग्रीर इस तरह स्वीकार करने पर प्रत्यिभ-ज्ञान का प्रत्यक्ष में श्रंतर्भाव करना अयुक्त सिद्ध होता है। तथा अपने निकटवर्ती महल म्रादि को देखकर जिसको संस्कार उत्पन्न हमा है उस पूरुष के उस महल के प्रतियोगी पर्वत ग्रादि को देखने से ''यह इससे दूर है'' इस प्रकार की प्रतीति होती है एवं ग्रांवला को देखने से उत्पन्न हमा है संस्कार जिसके उस पूरुष के बेल भ्रादि को देखकर ''इससे वह छोटा था" इत्यादि ज्ञान होता है तथा वामन पुरुष को देखकर संस्कारित हुए व्यक्ति के उससे विपरीत ऊँचे पुरुष के देखने से इससे यह ऊँचा है. इत्यादि ज्ञान होता है, ये सब कौन से प्रमाण कहलायेंगे ? तथा कोई पुरुष वृक्षादि को नहीं जानता है वह जब किसी को पछता है कि बूक्षादि कैसे होते हैं ? तब वह उसको समभाता है कि शाना ग्रादि से युक्त बुक्ष होता है, एक सीग वाला गेंडा होता है, ग्राठ पैरों वाला ग्रष्टापद होता है, सुन्दर सटायुक्त सिंह होता है, इत्यादि । इन वाक्यों को सुनकर जिसके संस्कार हो चका है ऐसा वह प्रश्न कर्ता जब शाखा यक्त बक्ष को देखता है, तब यह बुक्ष शब्द का बाच्य पदार्थ है, इत्यादि संज्ञा और संज्ञी का संबंध जान लेता है। इस प्रकार के जानों को कौन सा प्रमाण माना जाय ? उपमा कहना तो ग्रसंभव है क्योंकि सबमें उपर्यु क्त प्रसिद्धार्थ साधम्यं का अभाव है । इसलिये प्रतिनियत प्रमाण की व्यवस्था चाहने वाले परवादी को सादृश्य आदि भेद वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञान रूप ही स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि का प्रकरण समाप्त हुन्ना।

# स्मृति ग्रौर प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता का सारांश

बौद्ध— हम स्मृति को प्रमाण नहीं मानते हैं ज्ञान मात्र को स्मृति कहे तो प्रत्यक्षादि सभी ज्ञान स्मृति शब्द से कहे जायेंगे । अनुभूत पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को स्मृति माने तो भी जिस किसी देवदत्त के द्वारा अनुभूत की गई वस्तु जिस किसी यज्ञदत्त ब्रादि को याद आनी चाहिए क्योंकि वह अनुभूत तो हो चुकी ? यदि कहे कि जिसने अनुभव किया है वहीं याद करेगा भी भी ठीक नहीं, मेरा यह स्मरण अनुभूत में ही हो रहा है ऐसा कौन निर्णय कर सकता है ? प्रत्यक्ष तो नहीं कर सकता और स्मृति अभी प्रामाणिक सिद्ध नहीं हुई है ?

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, जान मात्र को स्पृति नहीं कहते किन्तु "वह" इस प्रकार के प्रतिमास को स्पृति कहते हैं, "अनुभूत की याद म्रा रही है" इस बात का निर्णय तो खुद म्रास्मा करता है क्योंकि वही अनुभव और स्मरण इन दोनों अवस्था में व्यापक रहता है, ग्राप लोग सभी वस्तु को क्षणिक मानते हैं ग्रतः कुछ व्यवस्था नहीं दिखाई देती है, मृत्भूत वस्तुं को जानने वाली होने से स्पृति को गृहीत ग्राही भी नहीं मानना क्योंकि मंतुभूत पदार्थ का जब साक्षात् अनुभव हुमा था तब वह मिन्न ही था म्रीर भव वह सिर्फ यादगारी रूप हैं। तथा प्रतुभव किये हुए को जानने से स्मरण को प्रम्रमाण कहे तो अनुमान ज्ञान को सिद्धि नहीं होती, तथा प्रत्यक्ष भी प्रम्रमाणिक हो जायगा। जब कभी इर से पत्र पर धुग्नं देखकर अग्नि को जाना पुनः पहाड़ पर गये तो वही म्रान्त प्रत्यक्ष होती है तो क्या उस प्रत्यक्ष को अग्रमाण कहेंगे १ अतीत विषय वाली होने से स्पृति को म्रास्य मानते हैं तो प्रत्यक्ष को भी असत्य मानना होगा, क्योंकि सिण्कवादी के यहां पर जब जान होता है तब पदार्थ नहीं होता जब पदार्थ होता है तब की मान नहीं होता, सबसे बड़ी आपित तो यह है कि स्पृति को प्रप्रमाण भानने पर श्रन्तमान की सिद्ध नहीं हो सकती।

बौद्ध प्रादि के प्रमाण की संख्या का विघटन करने वाला प्रत्यिभज्ञान भी एक पृथक प्रमाण मौजूद है, इसको प्रत्यक्षादि में अंतर्भृत करना असम्भव है। प्रत्यिम्ज्ञान के एकत्व, सद्ग्र, आदि विषय को न प्रत्यक्ष ग्रहण करता है और न स्मरण ही "यह वही है जिसको मैंने कल देखा था" इस जान में 'यह' इस प्रकार की भल्ल तो वर्तमान प्रत्यक्ष रूप है और "वही है" इस प्रकार की भलक अतीत स्मरण रूप है, इन

दोनों का जोड प्रत्यभिज्ञान ही कर सकता है। भिन्न भिन्न वस्तु की भिन्न भिन्न शक्ति हआ करती है। बौद्धादि परवादी यदि प्रत्यभिज्ञान को नहीं मानेंगे तो सभी के इच्ट मत की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि स्वतत्व का प्रतिपादन अनुमान के द्वारा किया जाता है ग्रौर ग्रनुमान बिना प्रत्यभिज्ञान के उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। प्रत्यभिज्ञान के बिना तो जगत का व्यवहार ही समाप्त होगा जो पहले दिया था उसकी वापस दो ऐसा कह नहीं सकेंगे विवाह मंगल, मित्रता, शत्रता, किये हए कार्यों की सफलता, ऋण चकाना, बीमा उतारना, ग्रादि कार्य ठप्प हो जायेंगे, क्योंकि पहले और ग्रभी के अवस्था के कार्यों का मिलान करने वाला कोई ज्ञान हमारे पास नहीं है। जिसके सहारे कह सकें कि यह पत्री विवाहित है, यह मेरा शत्र या मित्र है इत्यादि । इस ज्ञान में दो ग्राकार हैं ग्रर्थात यह वही है ऐसे दो आकार प्रतीत हैं ग्रतः ग्रप्रमाण है ऐसा भी नहीं कह सकते। अनेक आकारों को एक साथ प्रतीत कराना तो ज्ञान की महिमा है उसे कौन रोकेगा ? ग्राप बौद्ध खुद ही चित्र ज्ञान को मानते हैं उसमें भी भ्रनेक ग्राकार हैं ? कटे हुए नम्ब केश ग्रादि में यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है वह असत्य है ग्रतः जोड रूप ज्ञान श्रप्रामाणिक है ऐसा कहना भी ठीक नही वह ज्ञान साद्ष्य प्रत्यिभज्ञान रूप है न कि एकत्व रूप। तथा प्रत्यभिज्ञान को न माने तो अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि अनुमान में जोडरूप ज्ञान की भी आवश्यकता है। नैयायिक प्रत्यभिज्ञान को उपमा प्रमाण में अन्तर्भुत करते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपमा में एकत्व, वैलक्षण्य, प्रतियोगी आदि प्रत्यभिज्ञानों का अर्न्तभाव होना ग्रशक्य है। ग्रतः प्रत्यभिज्ञान एक पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है।

।। समाप्त ।।

**अयेदानीमूहस्**योपलम्भेत्यादिना कारणस्वरूपे निरूपयति—

## उपलम्मानुपलम्मनिषित्तं व्याप्तिक्षानमृहः ॥११॥

उपलम्भानुग्लम्भौ साध्यसाधनयोगँबाक्षयोगद्यमं सकृत पुनः पुनर्वा हदतरं निश्चयानिश्चयौ न भूयोदशानादर्शने । तेनातीन्द्रियसाध्यसाधनयोरागमानुमानिश्चयानिश्चयहेतृकसम्बन्धवोधस्यापि सङ्पहान्नाव्याप्तिः । यदा 'श्रस्त्यस्य प्राणिनो धर्मविशेषो विशिष्टमुखादिसद्भावान्ययानुपपत्तेः' इस्यादौ, 'प्रादित्यस्य गामनशक्तिसम्बन्धोऽस्ति गतिमस्यान्यपानुपपत्तेः' इत्यादौ च । न खलु

> अब यहां पर तर्क प्रमाणके कारणका तथा स्वरूपका वर्णन करते हैं— उपलंभानुपलंभनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।।११।।

सूत्रार्थ — उपलंभ [साध्यके होने पर साधन का होना ] तथा श्रनुपलंभ [साध्य के श्रभाव में साधन का नहीं होना] के निमित्त से होने वाले व्याप्ति ज्ञानको तर्ककहते हैं।

व्याप्ति ज्ञानके दो कारण हैं — एक प्रत्यक्ष उपलंभ और एक अनुपलंभ । अगिन के होने पर भूमके होने का ज्ञान प्रत्यक्ष है और अग्निक अभाव में घूम के प्रभाव का ज्ञान अनुपलंभ है। इन अग्नि और धूमादि रूप साध्य साधनों का क्षयोपकाम के अनुसार एक बार में अथवा अनेक बार में टढ़तर निश्चय अनिश्चय होना उपलंभ अनुपलंभ कहलाता है, अर्थात् इस अग्निक्प साध्य के होने पर ही यह धूमरूप साधन होता है और साध्य के न होने पर साधन भी नहीं होना ऐसा टढ़तर ज्ञान होना उपलंभ अनुपलंभ है। साध्य साधन का बार बार प्रत्यक्ष होना उपलंभ है। साध्य साध्य का बार बार प्रत्यक्ष होना उपलंभ है और उनका प्रत्यक्ष न

धर्मविषेषः प्रवचनादन्यतः प्रतिपत् धन्यः, नाष्यतोनुमानादन्यतः कृतविचत्प्रमाणादादिरश्स्य गमन-शक्तिसम्बन्धः साध्यत्वाभमतः, साधनं वा गतिमदः देशादृं शान्तरशप्तिमत्त्वानुमानादन्यत इति । तौ निमित्तं यस्य व्यान्तिज्ञानस्य तत्त्रथोक्तम् । क्याप्तिः साध्यसाधनयोरविनाभावः, तस्य ज्ञानमूहः ।

न च बालावस्थायां निष्कयानिष्वयात्र्यां प्रतिपन्नसाध्यसाधनस्वरूपस्य पुनवृद्धावस्थायां तद्धिस्मृतौ तस्वरूपोपलम्भेप्यविनाभावप्रतिपत्तं रभावात्तयोस्तदहेनुरागः; स्वरणादेरपि तद्धेतुस्यात् ।

होना अनुपलंभ है ऐसा उपलंभ धनुपलंभ शब्दों का ग्रथं यहां इष्ट नहीं है, इसीलिये जो साध्य साधन इिद्य गम्य नहीं है जिनका उपलंभ श्रनुपलंभ [साध्य साधन के अविनाभाव का जान ] ग्रागम एवं अनुमान प्रमाण द्वारा होता है उनके व्याप्ति ज्ञान का भी तर्क प्रमाण में संग्रह हो जाता है, अतः सूत्रीक तर्क प्रमाण लक्षण अव्याप्ति दोध युक्त नहीं है। जिस साध्य साधन का अविनाभाव श्रागम द्वारा गम्य है उसका उदाहरण-इस प्राणों के धर्म विशेष [पुण्य ] है क्योंकि विशिष्ट मुखादि के सद्भावकी अन्ययानुपपत्ति है। जिस साध्य साधन की व्याप्ति अनुमान गम्य होती है उसका उदाहरण-पूर्य के गमन शक्ति सद्भाव है क्योंकि गतिमानको अन्ययानुपपत्ति है इत्यादि। प्राणों के पुण्य विशेष को जानने के लिये धागम को छोड़ कर अन्य कोई प्रमाण नहीं है तथा धनुमान प्रमाण को छोड़ कर अन्य किसो प्रमाणसे सूर्य के गमन शक्ति को जानना भी शक्य नहीं है, प्रयात् गमन शक्तिका संबंध रूप साध्य और गतिमत्व रूप साधन देश से देशांतर की प्राप्ति रूप हो वाले अनुमान द्वारा ही उक्त व्याप्ति का जान होता है। इस प्रकार वे उपलंभ और अनुपलंभ हैं निमित्त जिस व्याप्ति ज्ञानके उसे कहते हैं "उपलंभानुपलंभ निमित्तं" यह इस प्रकार से सास है। साध्य और साधनके अविनाभावको व्याप्ति कहते हैं और उसके ज्ञान को तक्ष कहते हैं।

बाल अवस्था में जिस साध्य साधन का स्वरूप उपलंभ म्रानुपलंभ द्वारा निश्चित किया था वह इद्धावस्थामें विस्मृत होजाने पर उस स्वरूप के उपलब्ध होते हुए भी म्रविनाभाव का ज्ञान नहीं होता अतः उक्त उपलंभ म्रानुपलंभ व्याप्ति ज्ञान के हेतु नहीं हैं ऐसी म्राम्बंका भी नहीं करना चाहिये, उपलंभादि के समान स्मरणादि ज्ञानोंको भी व्याप्ति ज्ञान को हेतु माना गया है, साध्य के होने पर ही साधन होता है साध्य के म्रभाव में साधन होता ही नहीं इस प्रकार के स्वरूप वाले निश्चय मनिश्चय को बार बार स्मरण करते हुए मौर प्रत्यभिज्ञान करते हुए जीव के व्याप्ति का ज्ञान होता ही है म्रवः

भूयो निश्चयानिश्चयौ हि स्मयंमाराप्रत्यभिज्ञायमानौ तस्कारस्मिति स्मरसादेरि तक्षिमित्तस्क प्रतिद्धिः। मूलकारस्मत्वेन तुरलम्भादेरत्रोपदेशः, स्मरसादेस्तु शक्कतस्वादेव तस्कारसम्बद्धप्रतिद्धे रनुपदेश इत्यभिप्रायो गुरूस्माम् ।

तच्य व्याप्तिज्ञानं तथोपपत्त्यन्ययानुपपत्तिभ्यां प्रवत्तं तं इत्युपदर्शयति-इदमस्मिन्नित्यादि ।

## इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तुन भवत्येवेति च ॥१२॥

स्मरणादिमें भी व्याप्ति ज्ञानका हेतुपना सिद्ध है। व्याप्ति ज्ञान का मूल निमित्त उपलभादि होने से उनका सूत्र मैं उपदेश किया है, स्मरणादि तो प्रस्तुत होने से ही तर्क के निमित्तरूप से सिद्ध है अतः उनका सूत्र में उल्लेख नहीं किया है, इस तरह गुरुदेव माणिक्यनन्दी आचार्य का अभिप्राय है।

विशेषार्थ — तर्क प्रमाराके निमित्त का प्रतिपादन करते हुए प्रभाचन्द्राचार्थ ने सबसे पहले यह खुलासा किया कि — साध्य साधन के व्याप्ति का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष निमित्तक नहीं है अपितु आप्त पुरुष के [यो यत्र अवचंकः स स्तत्र आप्तः] वावयों को सुनकर ग्रीर अनुमान द्वारा भी व्याप्ति ज्ञान होता है। यदि साध्य साधन के ग्रविनाभाव का निश्चय केवल प्रत्यक्ष द्वारा होना माने तो अतीन्द्रिय रूप साध्य साधन का ग्रविनाभाव का निश्चय केवल प्रत्यक्ष द्वारा होना माने तो अतीन्द्रिय रूप साध्य साधनका ग्रविनाभाव भाजात नहीं हो सकेगा। इस पुरुषके पुण्य का सद्भाव पाया जाता है, वयोंकि विशिष्ट सुखादिको श्रन्यथानुपपत्ति है। सूर्य केगमन शक्ति का ग्रविनाभाव भी प्रत्यक्ष व गम्य नहीं होता। अतः जो परवादी व्याप्ति का ग्रहण केवल प्रत्यक्ष द्वारा होना मानते हैं वह असत् है। तर्क में स्मरणादि ज्ञान भी निमित्त हुआ करते हैं, यदि साध्य साधन के ग्रविनाभाव का ज्ञान विस्मृत हो जाय तो तर्क प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता प्रत्यभिज्ञान भी इस ज्ञान में निमित्त होता है किन्तु मुख्य कारण उपलंभ श्रनुपलंभ है ग्रतः इन्हीं को सूत्र वद किया है।

उस तर्क प्रमाण की प्रवृत्ति तथोपपित ग्रौर ग्रन्थवानुपपित ढारा होती है ऐसा प्रतिपादन करते हैं —

इदमस्मिन् सत्येव भवति ग्रसित तु न भवत्येवेति च ॥१२॥

इदं साधनत्वेनाभित्रेतं वस्तु, प्रस्मिन्साध्यत्वेनाभित्रेते वस्तुनि सत्येव सम्भवतीति तथोप-पत्तिः । प्रन्यया साध्यमन्तरेण न भवत्येवेत्वन्यवानुपपत्तिः । वाशव्य उभयप्रकारसूचकः ।

तावेवोभयप्रकारौ सुप्रसिद्धव्यक्तिनिष्ठतया सुलावबोषार्थं प्रदर्शयति—

## यथाग्नावेव धूमस्तद्भावे न मवत्येवेति च ॥१३॥

ननु चास्याऽप्रमाएत्वास्कि कारएास्वरूपनिरूपएप्रयासेन; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतोस्याप्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वात्, विसंवादित्वाद्वा स्यात्, प्रमाएाविषयपरिकोषकत्वाद्वा ? प्रयमपक्षे साध्यसाघनयोः साकत्येन व्याप्तिः प्रत्यक्षात् प्रतीयते, प्रनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात्; तस्य सन्तिहितमात्रगोचरत्या देशादिविश्वकृत्दाशेषार्यालम्बनत्वानुपपत्तेः, तत्रास्य वैशद्यासम्भवाच्च । न खलु सस्वानित्यत्वादयोऽन

सूत्रार्थ—यह इसके होने पर ही होता है ग्रीर नहीं पर नहीं होता। 'इद' इस पद से साधन रूप से श्रीभेंत वस्तुका ग्रहण होता है तथा 'ग्रिस्मिन्' इस पद से साध्य रूप से ग्रीभेंग्रेत वस्तुका ग्रहण होता है, यह साधन इस साध्य के होने पर ही होता है यह तथोपपित कहलाती है, साध्य के विना साधन नहीं होता, यह अन्यथानुपपित कहलाती है। सूत्रोक्त वा [तु] शब्द उभय प्रकार का सूचक है।

इस तथोपपत्ति ग्रौर अन्यथानुपपत्ति रूप उभय प्रकार को सुप्रसिद्ध दृष्टांत द्वारा सुख पूर्वक श्रवबोध कराने के लिये कहते हैं—

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।।१३।।

सूत्रार्थ— जिस प्रकार धूम ग्रग्नि के होने पर ही होता है और ग्रग्नि के अभाव में नहीं होता।

शंका — तर्कज्ञान अप्रमाण है अतः इसके कारण और स्वरूप का प्रतिपादन करना व्यर्थ है  ${\bf r}$ 

समाधान —यह कथन ठीक नहीं, तर्क अप्रमाणभूत किस कारण से है गृहीत ग्राही होने से, विसंवादित्व होने से या प्रमाण के विषय का परिणोधक होने के कारण १ प्रथम पक्ष—गृहीत ग्राहो होने से तर्क ज्ञान ग्रप्रामाणिक है ऐसा माने तो कोनसे प्रमाणसे उसका विषय ग्रहण हुआ हैं। साध्य साधन को साकत्य रूपसे ज्याप्ति प्रत्यक्षसे प्रतीत होती है या ग्रमुमानसे १ केवल सिन्निहित पदार्थका ग्राहक होनेके कारण प्रत्यक्ष ज्ञान देशादिसे विश्वकृष्ट [दूरवर्त्ती] भूत अरोष पदार्थका ग्राहक नहीं हो सकता तथा उन विषयों में इसका वैश्वधर्म भी प्रसंभव है। सत्त्व नित्यत्व ग्रादि तथा ग्राम्न धूम ग्रादि सभी पदार्थ न्निष्मादयो वा सर्वे भावाः सन्निधानवत् प्रत्यक्षे विश्वदत्या प्रतिभान्ति, प्राणिमात्रस्य सर्वज्ञतापत्ते रतु-मानानयंक्यप्रसङ्गाच्च । प्रविचारकतया चाध्यक्षं 'यावान् करिचढ्रमः स सर्वोषि देशान्तरे कालान्तरे वाम्तिजन्माऽन्यजन्मा वा न भवति' इत्येतावतो व्यापारान् कर्त्तुं ससमर्थम् । पुरोव्यवस्थितार्थेषु प्रत्यक्षतो व्याप्ति प्रतिपद्यमानः सर्वोपसंहारेण प्रतिपद्यते; इत्यप्यमुन्दरम्; प्रविषये सर्वोपसंहारायोगात् ।

पर्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि तद्विषयमात्राध्यवसायस्थात् सर्वोगसहारेण व्याप्तिग्राहक-त्वाभावः, तथा चानिस्चितप्रतिबन्धकत्वाहे शान्तरादौ साधनं साध्यं न गमयेत् ।

नतु कार्य घूमो हुतसुजः कार्यधर्मानुवृत्तितो विशिष्टश्रस्यक्षानुपलस्थास्यां निश्चितः, स देशान्तराज्ञै तदभावेपि भवंस्तरकार्यतामेवातिवत्तेत, इत्याकस्मिकोऽभिनिवृतौ न वयचिदपि निवत्तेत,

विशवरूपसे प्रतीत होते हुए दिखायी नहीं देते, यदि प्रतीत होते तो अशेष प्राणी सर्वज होने की आपित्त आयेगी तथा अनुमान प्रमाण भी व्यर्थ ठहरेगा क्योंकि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हो चुके हैं तो अनुमानकी क्या आवश्यकता ? तथा परमतानुसार प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प होने से 'जितना भी धूम है वह सब देशान्तर तथा कालांतरमें भी अग्नि से ही प्रादुर्भूत है अन्य से प्रादुर्भूत नहीं होता' इतने अधिक प्रतीति के कार्यको करने में असमर्थ है, वह तो केवल सामने उपस्थित हुए पदार्थों का ही ग्राहुक है।

शंका — सामने उपस्थित पदार्थोमें पहले प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति को ग्रहण कर लेते हैं और फिर कमशः सर्वोपसंहार रूपसे ग्रहण करते हैं ?

समाधान — यह कथन असुंदर है, जो अपना विषय नहीं है उस अविषय भूत पदार्थ में सर्वोपसहार रूपसे जानना अशक्य है।

प्रत्यक्ष के पश्चात् प्रादुभं त हुए विकल्प ज्ञान द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होना भी ग्रसंभव है, क्योंकि वह भी सन्निहितका ही ग्राहक है ग्रतः सर्वोपसंहार से ब्याप्ति का ग्राहक होना गक्य नहीं, इस तरह प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का अनिश्चय होने से देशांतरादिमें वह साधन स्वसाध्यका णमक नहीं हो सकता।

यहां पर कोई कहता है कि – कार्य धर्मकी अनुद्वत्ति होनेसे प्रत्यक्ष एवं अनुपलंभ द्वारा धूम अग्निका कार्य है ऐसा निश्चित हो जाता है, यदि वह देशान्तरमें अग्निक अभावमें भी उपलब्ध होता है तो उसका कार्य कहाता, इस तरह अकारण रूप सिद्ध होने से कहीं पर अग्निके निवृत्त होने पर भी निवृत्त नहीं होगा तथा उसके सद्भाव होने पर नियमितपने से सद्भाव रूप भी नहीं रहेगा, इस प्रकार खरविषाण के समान उस नाप्यवश्यंतया तत्सद्भावे एव स्वादिति, श्रहेतोः खरविवाश्यवतस्यासत्वात् कविवस्थुपलस्यो न स्यात्, सर्वत्र सर्वदा सर्वाकारेशः वोगलस्यः स्यात् । स्वभावश्य 'तद्वतोषंस्याभावेषि यदि स्यात्त-दार्यस्य निःस्वभावत्वं स्वभावस्य वाऽसत्त्वं स्यात्, तत्स्कभावतया चास्य कदाचिवस्युपलस्यो न स्यात् । उक्तत्व—

> ''कार्यं घूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः । सम्भवंस्तदभावेषि हेतुमत्तां विलङ्क्षयेत् ॥''

> > [ प्रमाणवा० १।३५ ]

"स्वभावेष्यविनाभावो भावमात्रानुबन्धिन । तदभावे स्वयं भावस्याभावः स्यादभेदतः ॥"

[प्रमारावा । १।४० ] इति ।

अहेतुक धूमकी असत्व होने से कहीं पर भी उपलब्धि नहीं हो सकेगी अथवा सर्वत्र सर्वदा सर्वाकार से उपलब्धि होने लगेगी। कार्य हेतु के समान स्वभाव हेतु की भी बात है, यदि स्वभाव भी स्वभाववान् अर्थ के ग्रभावमें रहेगा तो स्वभाववान् अर्थ निःस्वभाव बन जायगा प्रथवा स्वभाव का ही असत्व हो जायगा, फिर तो पदार्थ के स्वभावरूप से इसकी कहीं भी उपलब्धि नहीं हो सकेगी। कहा भी है—ग्रम्ति के कार्य धर्म की अनुवृत्ति होनेसे धर्म उसका कार्य कहाता है, यदि वह ग्रग्ति के ग्रभाव में होता तो उसका कार्य नहीं कहा जाता।।१।। स्वभाव हेतु की भी यही बात है भाव मात्र का ग्रनुकरण करने वाले स्वभाव में ग्रविनाभाव होता है ग्रथांत् स्वभाव और स्वभाववान में ग्रभेद होने के कारण स्वभाव के अभाव में स्वभाववान का ग्रभाव हो जाता है।

किन्तु शंकाकार का उपयुंक्त कथन ठीक नहीं है प्रत्यक्षादि से व्याप्ति का बोध होने पर भी केवल उस प्रत्यक्ष के काल में उपलब्ध व्यापक के साथ हो व्याप्य की व्याप्ति सिद्ध हो सकती है उसीका उस तरह से निश्चय हुआ है, तत् सहश अन्य व्याप्यके साथ तो व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता, यदि तत् सहश अन्य व्याप्य की भी व्याप्ति गृहीत होती है ऐसा माना जाय तो उस व्याप्ति ग्राहक विकल्प रूप जानको अग्रहीतग्राहोपना कैसे नहीं होगा ? यदि किसो प्रदेश विशेष में प्रत्यक्ष द्वारा साध्यके साथ हेतु की व्याप्ति जानो जातो है और उससे अनुमान प्रमाण प्रवृत्त होता है उस ज्ञान को विशेष तो हष्ट अनुमान कहना होगा न कि तर्क प्रमाण, क्योंकि उक्त ज्ञान द्वारा अन्य देश श्रादिमें स्थित साध्य के साथ इस हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।

स्थाप्तिप्रतिपत्ताविप तिन्तरवयकालोपत्तब्वेनेव व्यायकेन व्याप्यस्य व्याप्तिः स्यात् तस्यैव तथा निरुवयात्, न ताह्वास्य । तास्त्रस्यापि साध्यव्याप्तत्वब्रह्मो तद्याहिस्मो विकल्पस्यागृहीतप्राहित्वं कवं न स्यात् ? यत्तु प्रत्यक्षेम् कवित्यद्येवे साध्यव्याप्तत्वेन प्रतिपन्नं ततस्तस्यानुमाने विशेषतो रष्टानुमानं स्यात्, प्रत्यदेशादिस्यवाध्येनास्याव्याप्तैः ।

पारिकेष्याताहकेन व्यापकेनात्यत्र तारशस्य व्याप्तिसिद्धिर्नेत्, नन् किमिर्द पारिकेष्यम्— प्रत्यक्षम्, भ्रनुमानं वा ? न तावरप्रत्यक्षम्; देशान्तरस्यस्यानुमेयस्य प्रत्यकेणाप्रतिपत्तेः, श्रन्यचानु-मानान्यंक्यानुषक्षः । नाप्यनुमानम्; तत्राप्यनुमानान्तरेण् व्याप्तिप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, तेनैव तत्प्रतिपतावन्योग्य।श्रयः ।

एतेन साध्यसाधनयोः साकत्येनानुमानादृष्याप्तिप्रतिपत्ते स्तर्कस्याप्रामाण्यमिति प्रत्युक्तम् । तन्त प्रत्यक्षानुमानयोः साकत्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम् ।

शंका—अन्य देशादि के साध्य में उस प्रकार के व्यापक से व्याप्य की व्याप्ति तो पारिशेष्य रूप ज्ञान द्वारा हो जाया करती है ?

समाधान — अच्छा तो बताईये पारिकोष्य ज्ञान किसे कहते हैं प्रत्यक्ष को या अनुमान को १ प्रत्यक्ष को तो कह नहीं सकते, क्योंकि देशांतर में स्थित अनुमेय अर्थ की प्रत्यक्ष को तो कह नहीं सकते, क्योंकि देशांतर में स्थित अनुमेय अर्थ की प्रत्यक्ष से ही उसकी प्रतिप्रति होगी तो अनुमान प्रमाण मानना व्यर्थ ठहरता है। अनुमान को पारिकोष्य ज्ञान कहना भी ठीक नहीं क्योंकि उस पारिकोष्य रूप अनुमान की व्याप्ति को यदि अन्य अनुमान द्वारा ज्ञात होना स्वीकार करते हैं तो अनक्स्या दूषण प्राता है और उसी अनुमान द्वारा ज्ञात होना स्वीकार करते हैं तो अनक्स्या दूषण प्राता है। इस प्रकार यहां तक यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। इसी कथन से साध्य साधन की व्याप्ति साकल्य से अनुमान द्वारा गृहीत होती है ग्रतः तक अप्रमाण्भूत है ऐसा कहना भी खंडित हुआ समभना चाहिए। इसलिये यह निश्चय हुआ कि प्रत्यक्ष और अनुमान में पूर्णक्षण व्याप्ति को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है।

शंका - हम जैसे सामान्य पुरुष संबंधी प्रत्यक्ष ज्ञान में व्याप्ति प्रतिपत्ति की सामर्थ्य भन्ने ही न हो किन्तु योगीजनोंके प्रत्यक्ष ज्ञान में तो होती है ? भ्रवास्मदादित्रत्यक्षस्य व्याप्तिप्रतिपत्तावसामर्थ्योप योगिप्रत्यक्षस्य तत् स्यात्; इत्यप्यसत्;
 तस्याप्यिवचारकतया तावतो व्याचारान् कर्तुं मसवयंत्वाविक्षेषात् । कृतद्यास्योतपतिः-विकल्यमात्राम्यासात्, अनुमानाम्यासाद्वा? श्रवमपक्षे कामओकादिज्ञानवत्तस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः। द्वितोयपक्षेप्यन्योन्यान्भ्रयः-व्याप्तिविषये हि योगिप्रत्यक्षे सत्यनुमानम्, तर्दिमञ्च सति तदम्यासाद्योगिप्रत्यक्षमिति । भ्रस्तु वा योगिप्रत्यक्षम्; तथापि-तत्प्रतिचन्त्रार्थेष्वनुमानवैद्ययम् । साध्यसाधनविद्येषेषु स्पष्टं प्रतिभातेष्विष्य अनुमाने सर्वत्रानुमानानुषङ्गात् स्वरूपश्याप्यव्यक्षतीः प्रसिद्धिः।

परार्थं तस्यानुमानमिति चेत्; तर्हि योगी परार्थानुमानेन गृहोतव्याप्तिकम्, प्रगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत् ? गृहोतव्याप्तिकं चेत्; कुतस्तेन गृहोता व्याप्तिः ? न तावस्थ्यसंवेदनेन्द्रियमनो-

समाधान—यह शंकां ग्रसत् है, योगीजनों का प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प होने से उतना व्यापार करने में ग्रसम्य ही है, तथा इस योगी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति किससे होती है विकल्प मात्र के अभ्यास से ग्रंथवा अनुमान के ग्रम्यास से ? प्रथम पक्ष स्वीकृत हो तो काम शोकादि ज्ञान के समान उस योगी प्रत्यक्ष को भी ग्रप्रमाणपना प्राप्त होगा । दितीय पक्ष कहों तो अन्योन्याश्रय होगा व्याप्ति को विषय करने वाले योगी प्रत्यक्ष होने पर श्रमुमान होगा और अनुमान के होने पर उसके ग्रम्यास द्वारा योगी प्रत्यक्ष उत्पन्न होगा । कदाचित् योगी प्रत्यक्ष ज्ञान मान लेवे तो भी उसके द्वारा ज्ञात हए पदाय। में श्रमुमान की प्रवृत्ति होना व्यर्थ उहरता है, यदि साध्य साधनभूत पदार्थ विशेष स्पष्ट रूपेण प्रतिभासित होने पर भी उसमें ग्रनुमान प्रवृत्त होता है तो सर्वत्र अनुमान से ही सिद्धि होगी फिर तो स्वयं के स्वरूप की प्रत्यक्ष से सिद्धि होना दुर्लभ होगा।

शंका - योगीजन का अनुमान प्रयोग परके लिये होता है ?

समाधान—तो फिर वह योगी परार्थानुमान द्वारों व्याप्ति को ग्रहण करके परको समफाता है प्रथव बिना व्याप्ति को ग्रहण कियें परको समफाता है ? यदि व्याप्ति को ग्रहण करके समफाता है तो उसने किस ज्ञान द्वारा व्याप्तिको ग्रहण किया है ? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से या इन्द्रिय प्रत्यक्ष से अथवा मानसग्रयक्ष से व्याप्ति को ग्रहण करना तो शक्य नहीं क्योंकि व्याप्ति उन प्रत्यक्षों का विषय नहीं है। तथा योगी प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिका ज्ञान होना स्वीकार करें तो ग्रनुमान प्रमाण व्यर्थ ठहरता है ऐसा पहले ही कह दिया है। व्याप्तिको बिना ग्रहण किये योगी परको समफाता है

विज्ञानैः; तेषां तदिविषयत्वात् । योगिप्रत्यक्षेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानवैषर्थ्यमित्युक्तम् । भ्रमृष्टीतव्याप्तिकस्य च प्रतिपादनानुपपत्तिरतिप्रसङ्गात् ।

मानसप्रत्यक्षाद्व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्यन्ये; तैय्यतस्वज्ञाः; प्रत्यक्षस्येन्द्रयार्थसन्तिकर्षप्रभवत्वाम्यु-पंगमात् । मणुस्वभावमनसो युगपदशेषार्थस्तत्सम्बन्धस्य च प्रागेव प्रतिबिहितत्वात् कयं तत्त्रत्ययेनापि व्यापिष्ठतिपत्तिः ?

ननु साध्यसाधनधर्मयोः क्वचिद्व्यक्तिविशेषे प्रत्यक्षतः एव सम्बन्धप्रतिपत्तिः; इत्यप्ययुक्तप्र; साकत्येन तत्प्रतिपश्यभावानृबङ्गात् । साध्यं च किमनिसामान्यम्, श्रम्निविशेषः, श्रम्निसामान्यविशेषाः वा ? न तावदन्निसामान्यम्, तदनुमाने सिद्धसाध्यतापत्तेः, विशेषतोऽसिद्धे स्व ? नाप्यम्निविशेषः;

ऐसामाने तो ग्रमत् है, क्योंकि विना व्याप्ति ज्ञानके परको समक्षाना अशक्य है, ग्रन्यया ग्रतिप्रसंग होगा।

मानस प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिकी प्रतिपत्ति होती है ऐसा कोई प्रवादी कहते हैं वे भी अतस्वज्ञ हैं, व्योंकि उनके यहां प्रत्यक्षको इन्द्रिय और पदार्थ के सिन्नकर्षसे उत्पन्न होना स्वीकार किया है। तथा अगु स्वभाव वाले मनके द्वारा युगपन् संपूर्ण पदार्थों के संबंध होना अससंभव है ऐसा पहले ही कह चुके हैं अतः मानस ज्ञान द्वारा व्याप्ति की प्रतिपत्ति किस प्रकार संभव हो सकती है ?

श्रंका—िकसी व्यक्ति विशेष में साध्य साधन धर्मों का संबंध प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है ?

समाधान — यह कथन अयुक्त है, प्रत्यक्ष द्वारा साध्य साधन की पूर्गारूपेण प्रतिपत्ति नहीं होती, प्रत्यक्ष में इस तरह की प्रतिपत्तिका अभाव ही है। तथा साध्य साधन का संबंध प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है ऐसा माने तो उसमें साध्य किसको माना जाम अगिन सामान्यको, अगिन विशेष को अथवा अगिन सामान्य विशेष को ? अगिन सामान्यको साध्य बनाना युक्त नहीं क्योंकि उसके अनुमान करने में सिद्धसाध्यता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का जान होना माने तो देशादि विशेष से अगिनत्व सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

भावार्थ — सर्वत्र साध्य साधन का ब्रविनाभाव संबंध होता है इस प्रकार का व्याप्ति ज्ञान किस प्रमाण से होता है इस विषय में विविध मत हैं ग्रनेक बौद्धादि प्रवादी ग्रपनी मान्यता का समर्थन कर रहे हैं इसी वीच एक ने कहा कि साध्य साधन की तस्यानन्वयात् । प्रान्तसामान्यविशेषस्य साध्यत्वे तेन धूमस्य सम्बन्धः कथं सकलदेशकालध्याप्यान् ध्यक्षतः सिद्घ्येत् ? तथा तत्सम्बन्धासिद्धौ च यत्र यत्र यदा यदा धूमोपलम्भस्तत्र तत्र तदा तदाग्नि-सामान्यविशेषविषयमनुमानं नोदयमासादयेत् । न ह्यान्यथा सम्बन्धग्रहरणमन्ययानुमानोत्थानं नाम, प्रतिप्रसङ्कात् । ततः सविशेषेरा ध्याप्तिवाहो तकः प्रमारायितध्यः ।

तनु 'यावान्कश्चिद्ध्याः स सर्वोच्यग्निजन्माऽनिनजन्मा वा न भवति' इत्यूहापोहविकत्य-ज्ञानस्य सम्बन्धप्राहिप्रत्यक्षफलत्वान्न प्रामाण्यम्; इत्यप्यसमीचीनम्; प्रत्यक्षस्य सम्बन्धप्राहित्वप्रतिषे-धात्। तत्फलत्वेन चास्याऽप्रामाण्ये विशेषण्ज्ञानफलत्वाद्विशेप्यज्ञानस्याप्यप्रामाण्यानुबङ्गः। हानो-पादानोपेक्षाबृद्धिफलत्वात्तस्य प्रामाण्ये च ऊहापोहज्ञानस्यापि प्रमाण्यत्वसस्तु सर्वथा विशेषाभावात्। तन्नास्य गहीतप्राहित्वादप्रामाण्यम्।

व्याप्ति को किसी व्यक्ति विशेषमें प्रत्यक्ष से ही ज्ञात कर लेते हैं, तब आचार्य समक्राते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा साकत्य रूप से व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता तथा प्रत्यक्ष द्वारा साध्य साधन का संबंध जाना जाता है ऐसा स्वीकार करे तो उस वक्त साध्य किसको बनायेंगे, यदि सामान्य प्रानिको साध्य बनाते हैं तो वह सिद्ध हो है और प्रानिविशेषको बनाते हैं तो उसका सर्वत्र प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सर्वोपसंहाररूप व्याप्तिका ज्ञान होना प्रशक्य है। यही बात आगे कह रहे हैं।

दूसरा पक्ष — अग्नि विशेषको साध्य बनाते हैं तो उसका सबंव अन्वय नहीं रह सकता । अग्नि सामान्य विशेषको साध्य बनावे तो उसके साथ धूमका संबंध संपूर्ण देश एवं काल की व्याप्ति के द्वारा प्रत्यक्षसे किस प्रकार सिद्ध होवेगा ? तथा उस सम्बन्ध के असिद्ध होने पर जहां जहां जब जब धूम उपलब्ध है वहां वहां तब तब अग्नि सामान्य विशेष को विषय करने वाला अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि सम्बन्ध को अन्यथारूप से ग्रहण करे और अनुमान अन्ययारूप से उत्पन्न होवे ऐसा नहीं होता, यदि माने तो अति प्रसंग होगा । इसलिए व्याप्तिको ग्रहण करने वाला तर्कं नामा ज्ञान पृथक् ही है और वह प्रमाणभूत है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

शंका—जो कोई भी धूम होता है वह सब ग्रांग से उत्पन्न होता है बिना ग्रांगिक नहीं होता इस प्रकार का ऊहापोहरूप विकल्पज्ञान सम्बन्ध ग्राही प्रत्यक्ष प्रमाण फल है ग्रतः वह प्रमाणभूत नहीं है ? नापि विसंवादित्वात्, स्वित्रियस्य संवादप्रसिद्धे:। साध्यसाधनयोरिवनाभावो हि तकस्य विषयः तत्र वाविस्रवादकस्य सुप्रसिद्धमेव। कथमग्यवानुमानस्याविस्रवादकस्वम् ? न खलु तकस्यानु-माननिवन्यनसम्बन्धे संवादाभावेजनुमानस्यासौ घटते।

ननु वास्य निष्वतः संवादो नास्ति विश्रक्षष्टार्थविषयत्थात्; तदसत्; तकस्य संवादसन्वेहे हि कथं निस्सन्देहानुमानोत्थानम् ? तदभावे च कथं सामस्त्येन प्रत्यक्षरयाप्रामाण्यव्यवच्छेदेन प्रामाण्य-प्रसिद्धः ? ततो निस्सन्देहननुमानिमञ्च्यता साध्यसाधनसम्बन्ध्याहि प्रमारामसन्दिग्धमेवास्यु प्रगत्तव्यम् ।

समाधान — यह कथन असंभीचीन है, प्रत्यक्ष प्रमाण संबंधग्राही नहीं होता ऐसा ग्रभी सिद्ध कर भ्राये हैं, तथा प्रत्यक्ष का फल होने से इस जानको अप्रमाएा मानेंगे तो विशेषएा ज्ञान का फल होने से विशेष्य ज्ञान को भी अप्रमाण मानना होगा। यदि कहा जाय कि हान उपादान एवं उपेक्षा बुद्धिरूप फल ग्रुक्त होने से विशेष्य ज्ञानको भ्रमाण मानते हैं तो क्रहापोह ज्ञानको भी प्रमाण मानता चाहिये, क्योंकि उभयत्र कोई विशेषता नहीं है अर्थात विशेष्य ज्ञान में हानादि बुद्धि रूप फल है तो क्रहापोह ज्ञानमें भी हानादि बुद्धि रूप फल पाया जाता है। इसलिये गृहीतग्राही होने से तर्क ग्रप्रमाण है ऐसा सिद्ध नहीं होता है।

विसंवादक होने से तर्क ग्रप्रमाण है ऐसा कहना भी ग्रसत् है तर्क ज्ञान तो ग्रप्रम विषय में संवाद स्वरूप है साध्य और साधन का प्रविनाभाव इस तर्क ज्ञान का विषय है, और उसमें अविसंवादकपना सुप्रसिद्ध ही है। यदि ऐसा नहीं होता तो जिन्मान प्रमाण में अविसंवादकपना कैसे होता ? अनुमान के निमित्तभूत तर्क ज्ञान के विषय में यदि संवादपने का ग्रभाव है तो वह अनुमान में भी घटित नहीं हो सकता।

श्रंका — तर्क में संवादपना पाया जाना निश्चित नहीं क्योंकि वह श्राति दूर देशादि में स्थित पदार्थ को विषय करता है?

समाधान — यह कथन असत् है, यदि तर्क ज्ञान में संवादपने का संवेह माना जायगा तो निःसंवेहरूप अनुमान की उत्पत्ति किस प्रकार होगी १ और इस तुरह अनुमान का अभाव होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण में अप्रामाण्य का व्यवच्छेद करके पूर्णरूपेण प्रामाण्य प्रसिद्धि कैसे संभव होगी १ अतः निःसंवेहरूप अनुमान की उत्पत्ति वाहने वाले को साव्य साधन के अविनाभाव संबंध को ग्रहण करने वाले ज्ञानको अवश्यमेव स्वीकार करना होगा।

## समारोपव्यवच्छेदकत्वाच्चास्य प्रामाण्यमनुमानवत् ।

प्रमाण्विषयपरिशोधकत्वान्नोहः प्रमाण्मः; इत्यपि वार्त्तमः; प्रमाण्विषयस्याप्रमाणेन परिशोधनविरोधात् मिथ्याज्ञानवत्प्रमेथार्थवच्च । प्रयोगः-प्रमाणः तर्कः प्रमाण्विषयपरिशोधकत्वा-दनुमानादिवत् । यस्तु न प्रमाण् स न प्रमाण्विषयपरिशोधकः यथा मिथ्याज्ञानं प्रमेयो वार्थः, प्रमाण्-विषयपरिशोधकरुवायम्, तस्मात्प्रमाण्म् ।

तथा, प्रमाणं तकः प्रनाणानामनुषाहकत्वात्, यत्प्रमाणानामनुष्राहकः तत्प्रमाणम् यथा प्रवचनानुषाहकः प्रत्यक्षमनुमानं वा, प्रमाणानामनुष्राहकश्चायमिति । न चायमसिद्धो हेतुः, प्रमाणानु-ग्रहो हि प्रथमप्रमाणप्रतिपन्नार्थस्य प्रमाणान्तरेण तथैवावसायः, प्रतिपत्तिदाढघ विधानात् । स

तर्क ज्ञान समारोपका [संशय, विषयंय, ग्रनध्यवसाय] व्यवच्छेदक होने से प्रमागाभूत है, जैसे श्रनुमान ज्ञान समारोपका व्यवच्छेदक होने से प्रमाणभूत है।

प्रमाण के विषय का परिशोधक होने से तर्क प्रमाणभूत नहीं है ऐसा कहना भी व्यर्थ है, प्रमाण के विषय का परिशोधक ज्ञान कभी अप्रमाणभूत हो ही नहीं सकता वह तो प्रमाण रूप ही होगा, अप्रमाणभूत ज्ञानमें तो परिशोधकपने का अभाव ही है जैसे कि मिथ्याज्ञान में परिशोधकता नहीं है अथवा प्रमेयार्थ में परिशोधकता नहीं, अतः निश्चित होता है कि तर्क ज्ञान प्रमाणभूत है क्योंक प्रमाण के विषयका परिशोधक है जैसे अनुमान ज्ञान परिशोधक है, जो स्वयं प्रमाणभूत नहीं होता वह प्रमाण के विषयका परिशोधक नहीं होता वह प्रमाण के विषयका परिशोधक भी नहीं होता, जिस प्रकार मिथ्याज्ञान या प्रमेयभूत अर्थ परिशोधक नहीं है, यह तर्क ज्ञान प्रमाण के विषय का परिशोधक देखा जाता है अतः प्रमाणभूत है।

तर्क को प्रमाणभूत सिद्ध करने वाला अन्य अनुमान उपस्थित करते हैं—
तर्क ज्ञान प्रमाणभूत है क्योंकि वह प्रमाणोंका अनुप्राहक है, जो ज्ञान प्रमाणोंका
अनुप्राहक होता है वह प्रमाणभूत होता है जैसे प्रवचनका [ आगमका ] अनुप्राहक
प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणभूत होता है, तर्क प्रमाणोंका अनुप्राहक अवश्य है। इस
अनुमानका अनुप्राहकत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि प्रथम प्रमाण द्वारा ज्ञात हुए
पदार्थको अन्य प्रमाण द्वारा वैसा ही निश्चय करना प्रमाणोंका अनुप्रह कहलाता है,
यह अनुप्रह हढ़ निश्चय के लिये हुया करता है, ऐसा अनुप्राहकत्व तर्क ज्ञानमें अवश्य

चात्रास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणेनावगतस्य देशतः साध्यसाधनसम्बन्धस्य रहतरमनेनावगमात् । ततः साध्य-साधनयोरविनाभावावबोधनिबन्धनमुहज्ञानं परीक्षादर्जैः प्रमागामभ्यपगन्तव्यम् ।

न बोहः सम्बन्धज्ञानजन्मा यतोऽपरापरोहानुसरणादनवस्या स्यातः, प्रत्यक्षानुषलस्भजन्म-स्वात्तस्य । स्वयोग्यताविशेषवज्ञाच्य प्रतिनयतार्यव्यवस्थापकस्य प्रस्थक्षवत् । प्रत्यक्षे हि प्रतिनियतार्य-परिच्छेदो योग्यतात एव न पुनस्तदुःपरयादेः, ततस्तत्परिच्छेदकस्वस्य प्रावश्रतिषिद्धस्वात् । योग्यता-विशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येवास्य स्वविषयज्ञानावरण्वीयन्तिरायक्षयोपशमविशेषः प्रतिपत्तयः ।

ननु यथा तर्कस्य स्वविषये सम्बन्धग्रहणानिरयेका प्रवृत्तिस्तथानुमानस्याप्यस्तु सर्वत्र ज्ञाने स्वावरणक्षयोपदामस्य स्वार्थप्रकादानहेतोरविशेषात्, तथा चानयेक सम्बन्धग्रहणार्थं तर्कपरिकत्पनम्;

पाया जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा एक देश से ज्ञात हुए साध्य साधन सम्बन्धका इहतर निश्चय तर्क द्वारा ही होता है। इसलिये साध्य साधनके अविनाभाव सम्बन्धको जाननेमें निमित्तभूत इस तर्क ज्ञानको परीक्षामें दक्ष पुरुषों द्वारा प्रमाणरूप स्वीकार करना ही चाहिये।

अनुमान के समान यह ज्ञान सम्बन्धज्ञान से उत्पन्न नहीं होता जिससे कि उसके लिये अन्य अन्य तर्क ज्ञानकी आवश्यकता होने से अनवस्था दोष उपस्थित हो जाय, तर्कज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुपलंभ से उत्पन्न होता है। तथा यह ज्ञान प्रस्थक्ष ज्ञानके समान अपनी योग्यता की विशेषता से प्रतिनियत पदार्थका व्यवस्थापक हुआ करता है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञानमें स्वयोग्यताके कारण ही प्रतिनियत अर्थका परिच्छेद (ज्ञान) होता है न कि तदुत्पत्ति तदाकार आदि के कारण। तदुत्पत्ति आदिक प्रतिनियत अर्थ के परिच्छेद में कारण नहीं है ऐसा पहने ही निषिद्ध कर आये हैं। स्विचिष संबंधी ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मका अयोपशम विशेष होना योग्यता विशेष का लक्षण है, यह योग्यता प्रत्यक्ष प्रमाणके समान तर्क प्रमाणमें भी होती है।

शंका — जिस प्रकार तर्कज्ञान स्वविषयमें संबंध ग्रहणकी अपेक्षा किये विना ही प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार अनुमान भो संबंध ग्रहणकी अपेक्षा किये विना स्वविषय में प्रवृत्त होवे ! क्योंकि सभी ज्ञानोंमें स्वार्थप्रकाशनका हेतु ग्रपने प्रपने ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम है, कोई विशेषता नहीं, ग्रतः संबंध ग्रहण करने के लिये तर्क प्रमाणकी कल्पना करना व्यर्थ है ! तदप्यसमीचीनम्; यतोऽनुमानस्याज्युषगम्यतः एव स्वयोग्यताग्रह्णनिरपेक्षमनुभेयार्थप्रकाशनम्, उत्पत्तिस्तु लिङ्गालिङ्गसम्बन्धग्रहणनिरपेक्षा नास्ति, ग्रगृहीततस्यम्बन्धस्य प्रतिपत्तुः स्वचित्कदाचित्त-दुःपत्यप्रतीते: । न च प्रत्यक्षस्याप्युत्पत्तिः करणार्थसंबंघग्रहणापेक्षा प्रतिपन्ना; स्वयमगृहीततसम्बन्ध-स्यापि प्रतिपत्तुस्तदुत्पत्तिप्रतीते: । तद्वदूहस्यापि स्वार्थसम्बन्धग्रहणानपेक्षस्योत्पत्तिप्रतिपत्ते नोरपत्ती संवंधग्रहणापेक्षा युक्तिमतीत्यनवद्यम् ।

समाधान — यह शंका ठीक नहीं, अनुमान प्रमाण प्रपनी योग्यता ग्रहण की अपेक्षा किये बिना अनुमेय अर्थको प्रकाशित करता है ऐसा तो हम मानते ही हैं, किन्तु अनुमान की जो उत्पत्ति होती है वह हेतु और साध्यादिका संबंध ग्रहण किये बिना नहीं होती, क्योंकि जिस पुरुष ने साध्याधान संबंध को ज्ञात नहीं किया उसको कहीं पर किसी काल में भी अनुमान की उत्पत्ति होती हुई प्रतीत नहीं होती है। प्रत्यक्ष की उत्पत्ति भी इन्द्रिय और पदार्थके संबंधको ग्रहण करने की अपेक्षा रखती है ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि इन्द्रिय आदिके संबंधको स्वयं ग्रहण किये बिना भी प्रतिपत्ता पुरुषके प्रत्यक्ष प्रमाण उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, इसीप्रकार तर्क प्रमाण अपने उपलंभ और अनुपलंभ के संबंधको ग्रहण करने की अपेक्षा किये बिना उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है ग्रतः इसकी उत्पत्ति में सम्बन्ध ग्रहण की अपेक्षा बतलाना अनुक्त है, इस प्रकार तर्क प्रमाण का कारण तथा स्वरूप निर्दोष रूप से सिद्ध होता है।

<sup>।।</sup> तर्क प्रमाण समाप्त ।।

# तर्क प्रमाण का सारांश

जिन प्रमाणों को सिर्फ जैन ही मानते हैं ऐसे प्रमाण तोन है, स्मृति, प्रत्यभि-ज्ञान और तर्क, तर्क का ही दूसरा नाम "ऊह" है स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का कथन पहले हो चुका है, ग्रव यहां पर तर्क प्रमाण पर विचार करते हैं—तर्क का लक्षरणः

# उपलंभानुपलंभ निमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥

उपलंभ का ग्रर्थ प्रत्यक्ष न होकर निश्चय है ग्रीर अनुपलंभ का ग्रर्थ प्रत्यक्ष न होकर ग्रनिश्चय है ऐसा समभना चाहिए एक बार या पुन: पुन: साध्य श्रीर साधन को देखकर जो ज्ञान पैदा होता है वह तर्क प्रमाण है, जहां जहां साधन है वहां वहां साध्य ग्रवश्य है ऐसा ग्रन्वय ग्रौर जहां जहां साध्य नहीं है वहां वहां साधन भी नहीं होता, इस प्रकार के व्यतिरेक का जो ज्ञान होता है उस ज्ञान को तर्क कहने हैं, व्याप्ति इस प्रमाण का विषय है जो किसी भी प्रमाण के द्वारा ग्रहण नहीं होता है, बौद्ध प्रत्यक्ष के बाद विकल्प ज्ञान पैदा होता है वह व्याप्ति को विषय करता है ऐसा मानते हैं किन्तू वह गलत है, क्योंकि प्रत्यक्ष के पीछे होने वाला विकल्प सिर्फ प्रत्यक्ष के विषय को ही ग्रहण करना है, उसकी सर्वोपसंहारपने से न्याप्ति का ज्ञान कराने में सामर्थ्य नहीं है योगी प्रत्यक्ष से व्याप्ति का इहण होता है ऐसा मानना भी सर्वथा असत्य है क्योंकि वह निर्विकल्प है किसी की मान्यता है कि मानस प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है किन्तु वह भी ठीक नहीं है क्योंकि परमत में मानस प्रत्यक्ष को भी मन्निकर्ष से पैदा होना माना है और मनको अग्रु बरावर छोटा माना है ऐसा मन सर्वत्र रहने वाली व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार कोई मतवाले प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होना मानते हैं वह भी अयुक्त है, प्रत्यक्ष वर्तमान की वस्तू को जानता है। वह सर्व देश और सर्वकाल में होने वाली व्याप्ति को कैसे ग्रहण करेगा ? तर्क प्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण का फल मानने वाले देवानां प्रियः भी मौजद है। आचार्य ने परवादी से प्रश्न किया है कि ग्राप सब लोग तर्क को प्रमाण क्यों नहीं मानते हैं ? क्या उसका विषय ग्रहोत ग्राही है या वह विसंवाद पैदा करता है ग्रथवा प्रमाण के विषयका परिशोधक है ग्रतः ग्रप्रमाण है १ ग्रहीत ग्राहो तो नहीं है ग्रभी तक यह ग्रच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि इस तर्क प्रमाण के विषय को कोई भी प्रमाण ग्रहण करने की सामर्थ्यं नहीं रखता है तथा तर्क विसवादक तो बिलकुल नहीं है इससे विपरीत अनुमान ग्रादि में संवादक अवश्य होता है। यदि तर्क प्रमाण ग्रन्य प्रमाण के विषय का परिशोधक हैं तो उसमें ग्रीर भी ग्रन्छी तरह से प्रमाणता सिर्द्ध होती हैं? इस तरह तर्क प्रमाण निविवाद रूप से पृथक प्रमाणभूत सिद्ध होता है।



।। समाप्त ॥

And the second of the second o

The state of the s

स्रवेदानीमनुमानलक्षाग् व्याख्यानुकामः साधनादित्याद्याह-

## साधनात्साध्यविश्वानमनुमानम् ।।१४॥

साध्याऽभावाऽसम्भवनियमनिश्वयलसागान् साधनादेव हि शक्याऽभिन्ने तात्रसिद्धत्वलक्षाग्स्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानम्। प्रोक्तविशेषग्ग्योरन्यतरस्याप्यपाये ज्ञानस्यानुमानत्वासम्भवान् ।

अब यहां पर अनुमान प्रमाणके लक्षणका व्याख्यान करते है-

#### साधनात् साध्यविज्ञान मनुमानम् ।।१४।।

सूत्रायं — साघनसे होने वाले साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रमाण कहते हैं। जो साध्यके अभावमें नियमसे नहीं होता ऐसे निश्चित साधनसे शक्य अभिन्नेत एवं असिद्ध लक्षण वाले साध्य का जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं, शक्य अभिन्नेत और असिद्ध इन तीन विशेषणों में से यदि एक भी न हो तो वह साध्य नहीं कहलाता तथा साध्यके अभाव में नियमसे नहीं होना रूप विशेषण्ये रहित साधन भी साधन नहीं कहलाता ग्रत: उक्त विशेषण्यों में से एक के भी नहीं होने पर उक्त ज्ञानका अनुमानपना असंभव है।

नतु चास्तु साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् । तत् साधनं निश्चितपक्षधमैः वादिरूपत्रययुक्तम् । पक्षधमैर्त्वं हि तस्मासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थं लक्षणं निश्चीयते । सपक्ष एव सन्त्वं तु विश्वद्धत्वय्यवच्छेदार्थम् । विपक्षे चासत्त्वमेव प्रनैकान्तिकत्वव्यवच्छित्तये । तदनिश्चये साधनस्यासिद्धत्वादिदोषत्रयपरिहारासम्भ-वात् । उक्तन्त्व---

"हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्मुयस्तेन विग्तः। द्यसिद्धविपरीतार्थस्यभिचारिविपस्तः॥" [प्रमाणवा० १।१६] इत्याशङ्कपाह—

## साच्याविनामावित्वेन निश्चितो हेतः ॥१४॥

भ्रसाधारलो हि स्वभावो भावस्य लक्षलमध्यभिवारादग्नेरीष्ण्यवत् । न च त्रैक्ष्यस्था-साधारलताः हेतौ तदाभासे च तत्सम्भवास्यञ्चकपत्वादिवत् । असिद्धत्वादिदोषपरिहारक्वास्य

बौद्ध—साधनसे होने वाले साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रमाण कहते हैं यह अनुमान की व्याख्या तो सत्य है, किन्तु इसमें जो साधन (हेतु) होता है वह पक्ष धर्मस्व आदि तीन रूप संयुक्त होता है। पक्षधर्मस्व रूप हेतु का विशेषण उसके असिद्धत्व दोषका व्यवच्छेद करने के लिये प्रयुक्त किया है, सपक्ष में ही सत्त्व होना रूप लक्षण विषद्धपने का व्यवच्छेद के लिये है, और विपक्षमें असस्व होना रूप लक्षण प्रकेत रोपके परिहार के लिये है। यदि इन पक्ष धर्मादि का हेतु में रहना निष्टित न हो तो असिद्धादि तीन वोषोंका परिहार होना असंभव है। कहा भी है—हेतु के वैरूपका [पक्षधर्मत्व सपक्षत्त्व विपक्षव्यावृत्ति] निर्णय इसलिये करते हैं कि उससे असिद्ध विषद्ध भीर भनैकांतिक दोष नहीं आते।

इस बौद्ध के शंका का परिहार करते हुए हेतु के सही लक्षण का वर्णन करते हैं—

## साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।।१५।।

सूत्रार्थ—साध्यके साथ भ्रविनाभावरूप से रहना जिसका निश्चित है उसको हेतु कहते हैं।

वस्तुका जो असाधारण स्वभाव होता है वह उसका लक्षण होता है, क्योंकि उस लक्षण में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं आता, जैसे अग्निका उष्णता स्वभाव असाधारण होनेसे उसका वह लक्षण व्यभिचार दोष रहित है। बौद्ध का पूर्वोक्त श्रन्यवानुपपत्तिनियसनिरुषयलक्षरात्वादेव प्रसिद्धः, स्वयमसिद्धस्यान्यवानुपपत्तिनियमनिरुषयासम्भ-वाद् विरुद्धानैकान्तिकवत् ।

किञ्च, त्रैक्ष्यमात्रं हेतोलंक्षणम्, विशिष्टं वा त्रैक्ष्यम् ? तत्राद्यविकल्पे घूमवस्वादिवदृक्तः स्वादावयस्य सम्भवात्कथं तल्नक्षणत्वम् ? न खनु 'बुद्धोऽसवंडो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत् दर्यत्र हेतोः पक्षधमेत्यादिकपत्रयसञ्ज्ञावे परेगमकत्विकयोऽज्ययानुपपन्नत्विदहात् । द्वितीयविकल्पे तु कृतो वैशिष्ट्यां त्रेक्ष्यस्यान्यत्रान्ययानुपपन्नत्विवयात्, इति स एवास्य लक्षणमक्षूणं परीक्षादक्षे-

त्रैरूप्य लक्षण श्रसाधारए। स्वभावरूप नहीं है क्योंकि वह हेतु श्रीर हेत्वाभास दोनों में पाया जाता है जैसे कि योग का पंचरूपता लक्षण उभयत्र पाया जाता है। हेतु के श्रसिद्धादि दोषों का परिहार तो अन्यथानुपपत्तिके नियम का निश्चितपने से रहनारूप लक्षण से ही हो जाता है, जो हेतु स्वयं श्रसिद्ध है उसमें श्रन्यथानुपपत्ति नियम का निश्चय [साध्य के बिना नियम से नहीं होने का निश्चय] श्रसंभव है, जैसे कि विरुद्ध एवं अनैकांतिक रूप हेतुओं में श्रन्यथानुपपत्ति नियमका निश्चय होना श्रसंभव होता है।

किञ्च, केवल त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानना बौद को इप्ट है प्रथवा विश्विष्ट त्रैरूप्य को मानना इष्ट है ? प्रथम विकल्प स्वीकार करे तो धूमत्व ब्रादि हेतुमें के समान वक्तुत्वादि हेतु में भी त्रैरूप्य सामान्य पाया जाना संभव है म्रतः वह किस प्रकार हेतु का लक्षग्ण बन सकता है ? बुद्धदेव असर्वज हैं, क्योंकि वे बोलते हैं जैसे रथ्यापुरुष [पागल] बोलता है । इस अनुमान के वक्तुत्व [बोलना] हेतु में पक्ष धर्मत्व ब्रादि त्रैरूप्य का सद्भाव होते हुए इसको भ्रापने साध्य का गमक नहीं माना है, इसका कारण यही है कि उक्त हेतु में अन्यथानुपपित का प्रभाव है । भ्रिमप्राय यह हुआ कि त्रैरूप्य लक्षण के रहते हुए भी वह हेतु साध्यको सिद्ध नहीं कर पाता अतः वह लक्षण असत् है । इसरा विकल्प — विशिष्ट त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण बनाते हैं तो वह विशिष्ट त्रैरूप्य अन्यथानुपपित्त के नियम के निश्चय को छोड़कर भ्रन्य कुछ भी नहीं है, भ्रयात भ्रन्यथानुपपत्व नियमको ही विशिष्ट त्रैरूप्य कहते हैं इसलिए परीक्षाचतुर पुरुषोंको उसी परिपूर्ण लक्षणको स्वीकार करना चाहिए । अन्यथानुपपत्रत्व रूप हेतुका लक्षण मौजूद होवे तब पक्षधर्मत्व आदि लक्षण का प्रभाव होने पर भी हेतु साध्यका गमक [सिद्ध करने वाला] होता है, जैसे एक मुहुर्स बाद रोहिणी नक्षत्रका उदयत्व नामा

रपलक्ष्यते । तद्भावे पक्षवर्मत्वाद्यभावेषि 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इत्यादेगैमकत्वेन वश्यमाण्-त्वात्, सपक्षे सस्वरहितस्य च श्रावण्तवादेः शब्दानित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीतेः ।

नतु नित्यादाकाशादेविपक्षादिव सपकादप्यनित्याद घटादैः सतो ब्यावृत्तवेन श्रावण्त्वादेर-साधारण्य्वादनैकान्तिकता; तदसत्यम्; असाधारण्य्वस्यानैकान्तिकत्वेन व्याप्यक्षसद्धेः । सपक्ष-विपक्षयोहि हेतुरसत्वेन निश्चितोऽसाधारणः, संशयितो वा ? निश्चितक्वेत्; कथमनैकान्तिकः ? पक्षे साध्याभावेनुपपद्यमानतया निश्चितस्वेन संशयहेतुःवाभावात् ।

हेनु पक्ष धर्मत्व ग्रादि त्रैरूप्य से रहित है तो भी अन्यवानुपपप्तस्व [मुहूर्त बाद रोहिणी उदयका नहीं होना होगा तो अभी कृतिका उदय भी नहीं होता] रूप लक्षणके होनेसे यह हेतु स्वसाध्य का गमक है, ऐसा आगे कहने वाले हैं। जिस हेतुका सपक्षमें सत्त्व नहीं है ऐसे श्रावणत्व आदि हेतु शब्द के अनिस्य धर्मरूप साध्यको सिद्ध करते हुए भी प्रतीति में आ रहे हैं अतः सपक्ष सत्त्व आदि त्रैरूप्य को हेतुका लक्षण मानना असत् है।

शंका—श्रावरणत्व म्रादि हेतुको साध्यका गमक मानना गलत है, क्योंकि यह हेतु विपक्षभूत नित्य आकाशादि से जैसे व्यावृत होता है वैसे सपक्षभूत मनित्य घटादिसे भी व्यावृत्त होता है मतः मसाधारण अनैकांतिक दोष मुक्त है ?

समाधान — यह कथन असमीजीन है, असाधारएग्ट्स की अनैकांतिकत्व के व्याप्ति सिद्ध नहीं है अर्थात् जो जो असाधारएग हो वह वह अनैकांतिक होता है ऐसा नियम नहीं है, बताइये कि सपक्ष और विपक्ष में असत्वरूप से निश्चित रहने वाले हेतुको असाधारण कहते हैं या संशयित रहने वाले हेतुको असाधारण कहते हैं ? निश्चित रहने वाले हेतुको असाधारण कहते हैं ? निश्चित रहने वाले हेतुको असाधारण कहते हैं ? निश्चित रहने वाले हेतुको असाधारण कहो तो वह अनैकांतिक किस प्रकार हो सकता है ? जो हेतु पक्षमें साध्य के अभाव में नहीं रहना रूप निश्चित हो चुकता है वह संशयरूप हो ही नहीं सकता।

कर्णज्ञान द्वारा माह्य होनेको श्रावणत्व कहते हैं, वह कर्णज्ञान अपने स्वरूप को शब्दसे प्राप्त करते हुए उस शब्दका माहक होता है म्रन्यया नहीं, क्योंकि "नाकारणं विषयः" भ्रकारण ज्ञानका विषय नहीं होता अर्थात् ज्ञान जिस कारण से उत्पन्न हुआ है उसीको जानता है ऐसी भाग बौदकी मान्यता है। श्रीक्शालं हि श्रवस्तानग्राह्यत्वम्, तज्ज्ञानं च शब्दादात्मानं लभमानं तस्य प्राह्मक् नाग्यया,
"नाकारस्यं विषयः" [ ] इत्यस्युपगमात्। शब्दस्य नित्यस्तज्जननैकस्वभावो यदि; तिह श्रवस्यप्रस्तिधानात्पृर्वं पश्चाच्य तज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः। न ह्यविकले कार्यं कार्यस्यानुत्वतिर्यु क्ता अतत्वार्यत्वप्रसङ्गात्। प्रयोगः—यित्मन्नविकले सत्यपि यन्न भवति न तत्तत्कार्यम् यथा सत्यप्यविकले कुलाले
प्रभवन्यटो न तत्कार्यः, सत्यिष शब्दे पूर्वं पश्चाच्याविकले न भवति च तज्ज्ञानिमिति। ननु च श्रोजप्रसिधानात्पृर्वं पश्चाच्य तज्ज्ञानजननैकस्वभावोषि शब्दस्तन्न जनयत्यावृतत्वात्; तदप्यसङ्गतमः;

भावार्थ--- शब्द ग्रनित्य है क्योंकि वह श्रवणेन्द्रियका विषय है ग्रथवा श्रवण ज्ञान द्वारा ग्राह्म है ऐसा एक ग्रनुमान प्रमाण है इसमें शब्द पक्ष है, ग्रनित्यत्व साध्य है एवं श्रावरात्व हेतू है, अब यह देखना है कि बौद्धके हेत्का त्रैरूप्य पिक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व ग्रीर विवक्षव्यावृत्ति] लक्षण इस श्रावणत्व हेतु में है या नहीं, शब्द अनित्य है वैसे घट म्रादि पदार्थ भी अनित्य हैं मतः यहां पर घटादि सपक्ष कहलाये, ग्राकाशादि नित्य होने से इसके विपक्ष हैं, इन पक्ष सपक्ष ग्रौर विपक्षोंमेंसे पक्ष में रहने के कारण श्रावरात्व हेत्में पक्षधर्मत्व तो है, किन्तू सपक्ष सत्त्व नहीं है, क्योंकि सपक्षभूत घट भादिमें श्रावरापने का स्रभाव है श्रिवणेन्द्रिय का विषय या श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्म होना नहीं है] इस तरह श्रावगास्व हेतुमें त्रैरूप्य लक्षणका अभाव है तो भी यह साध्यका [अनित्यस्वका] गमक है। इस पर बौद्ध कहता है कि यह हेतू असाधारण अनैकांतिक है क्योंकि विपक्षभूत स्राकाशादिके समान सपक्षसे भी यह हेतू व्यावृत्त होता है. जब कि इसे केवल विपक्षमें ही व्यावृत्त होना चाहिए ? ग्राचार्यने कहा कि साध्यके ग्रभाव में जो नियमसे नहीं होता ऐसा यह श्रावरणस्व हेतु कथमपि अनैकांतिक दोष यक्त नहीं हो सकता, क्योंकि हेतुका अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण इसमें मौजूद है। इस श्रावणत्व हेत् का ग्रर्थ श्रवणेन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा ग्राह्य होना है ग्रर्थात् कर्गासे उत्पन्न हुए ज्ञानका जो विषय है उसको श्रावणत्व कहते हैं, श्रवणज्ञान शब्दसे उत्पन्न होगा क्योंकि बौद्धमतानुसार प्रत्येक ज्ञान जिस कारणसे उत्पन्न होता है असीको जानता है अन्यको नहीं ऐसा माना है। इस श्रावणत्व हेतुके वारे में ग्रागे और भी कहते हैं।

श्रवणज्ञान शब्दजन्य है तो वह शब्द नित्य ही उस ज्ञानको उत्पन्न करनेका स्वभाववाला यदि हो तो श्रवगोन्द्रियके प्रणिधानके [कर्ण द्वारा विषयोन्मुख होनेके] पूर्व और पश्चाल् में भी उक्त श्रवणज्ञान का उत्पन्न होनेका प्रसंग म्राता है, म्रविकल कारणके रहते हुए तो कार्यकी श्रनुत्पत्ति युक्त नहीं स्रन्यथा वह उसका कार्य ही नहीं स्रावस्णं हि इष्टृदृश्ययोरन्सराले बर्तमानं वस्तु लोके प्रसिद्धम्, यथा काण्डपटादिकम् । श्रीत्रशब्दयोश्य व्यापकत्वे सर्वत्र सर्वदा तत्करणैकस्वभावयोरत्यन्तसंश्विष्टयोः कि नामान्तराले वर्त्ते ? वृत्तौ वा तयोव्यपिकत्वव्याघातः, तदबष्टन्धदेशपरिहारेणानयोर्वतेनादिति 'श्राप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः' (परीक्षामु० ३।१००) इत्यत्र विस्तरेण् विचारयिष्यामः । तन्नास्याऽज्ञृतत्वात्त्रज्ञानाजनकार्व किन्त्वसत्त्वादेव, इति श्रावण्तवादेः सपक्षविपक्षाम्यां व्यावृत्तत्विषि पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चित-

ठहरेगा, प्रथांत शब्द नित्य ही श्रवणज्ञानको उत्पन्न करनेका स्वभाववाला है तो उससे सदा वह ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए कारण परिपूर्ण होवे ग्रीर कार्य उत्पन्न न हो तो उसका वह कार्य ही नहीं है । अनुमान प्रसिद्ध विषय है कि श्रवणज्ञान शब्दका कार्य नहीं है, क्योंकि शब्दके रहते हुए भी पूर्व ग्रीर पश्चात् में उत्पन्न नहीं होता, जिस अविकल कारणके रहते हुए भी जो नहीं होता वह उसका कार्य नहीं है जैसे ग्रविकल कारणभूत कुंभकार के रहते हुए भी पर्व [वस्त्र] उत्पन्न नहीं होता अतः उसका कार्य नहीं है। शब्दके रहते हुए भी पूर्वमें ग्रीर पश्चात् में उक्त ज्ञान नहीं होता श्रतः उसका वह कार्य नहीं है।

शंका—श्रोत्र प्रणिधानके [कर्ण द्वारा विषयोन्मुख होनेके] पूर्वमें एवं पश्चात् में उस ज्ञानको उत्पन्न करने रूप स्वभाववाला शब्द श्रवश्य है किन्तु वह श्रावृत्त रहनेके कारण उक्त ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर पाता ?

समाधान — यह कथन असंगत है, हष्टा और दृश्य [देखने वाला व्यक्ति और देखने योग्य पदार्थ] के अंतराल में विद्यमान वस्तुको आवरण कहते हैं जिसप्रकार कांडपटादिक [वस्त्रादि] आवरण प्रसिद्ध है । किन्तु यौगमतानुसार शब्द और श्रवणेन्द्रिय सर्वत्र सर्वदा व्यापक हैं एवं श्रवणजानको उत्पन्न करने रूप स्वभाव वाले तथा अत्यंत संशिलब्टभूत हैं, अतः इनके अंतरालमें कौनसा आवरण विद्यमान होगा? अर्थात् सर्वथा नहीं होगा। यदि शब्द और श्रोत्र में अंतराल एवं आवरण्का सद्भाव स्वीकार करेंगे तो वे दोनों—शब्द बौर श्रोत्र के व्यापक माननेका सिद्धान्त नष्ट होगा? क्योंकि शब्द और श्रोत्र के आवरण्यूत वस्तुके देशको छोड़कर रहनेसे अव्यापक सिद्ध होते हैं। इसका विशेष विवरण आगे "आक्षवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः" इस प्रकरणमें करेंगे। अतः शब्दआवृत्व होनेसे श्रवण् ज्ञानको उत्पन्न करता ऐसा कथन असत् है, सस्य तो यह है कि असस्व होनेके कारण शब्द श्रवण्ज्ञानको सदा उत्पन्न नहीं कर पाता। इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रावण्य हेतु सपक्ष और विपक्षसे

स्वाद्गमकत्वमेव । न च सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन निस्चितः पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निस्चेतुमशक्यः; सर्वानित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात् । न बलु सत्त्वादिविपक्ष एवासत्त्वेन निश्चितः, सपक्षेपि तदसत्त्वनिश्चयात् ।

सपक्षस्याभावातत्रत्र सत्त्वादेरसत्त्वनिष्ठचयान्तिरचयहेतुत्वम्, न पुनः श्रावग्रत्वादेः सद्भावेपीति चेत्; ननु त्रावग्रत्वादिरपि यदि सपक्षे स्यात्तदा तं व्यान्नुयादेवेति समानान्तव्याप्तिः। सति विपक्षे भूमादिरचासत्त्वेन निष्टिचतो निरुचयहेतुर्मो भूत्। विपक्षे सत्यसति चासत्त्वेन निष्टिचतः साघ्याविना-

व्याद्वत्त होने पर भी पक्षमें साध्यके साथ श्रविनाभाव रूपसे निश्चित रहता है ग्रतः स्वसाध्यका (श्रवित्यव्यका) गमक ही है। जो सपक्ष विपक्षमें ग्रसत्वरूपसे निश्चित है उस हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित ही हो ऐसा नियम नहीं है १ इसप्रकार बौद्ध कहे तो "सर्वं ग्रनित्यं सत्वात्" इत्यादि अनुमान में सभी पदार्थोंको ग्रनित्यं (क्षिण्क) सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुए सत्त्वादि हेतुको हेत्वाभास हो जाने का प्रसंग होगा। क्योंकि सत्त्वादि हेतुका विपक्ष में ही असत्व निश्चित नहीं है ग्रपितु सपक्षमें भी ग्रसत्वका निश्चय है।

बौद्ध — "सर्व क्षरिणकं सत्त्वात्" इस अनुमानमें जगत के यावन्मात्र पदार्थ पक्षमें समाविष्ट होनेके कारण सपक्षभूत कोई पदार्थ शेष नहीं रहता अतः सपक्षके अभावमें सत्त्व हेतुका उसमें असत्वरूपसे रहना निश्चित ही है इसलिये यह निश्चय हेतु रूप है किन्तु आवग्गत्वादि हेतु ऐसे नहीं हैं उनमें सपक्षका सद्भाव है और फिर उसमें हेतका असत्त्व निश्चय है ?

जैन—यदि श्रावणत्वादि हेतुका सपक्ष है तो वह हेतु उसमें भी ब्याप्त रह जायगा और पक्ष तथा सपक्षमें समान अंतव्योप्ति हो जायगी। जो हेतु केवल पक्षमें व्याप्त हो उसको अंतव्योप्ति वाला हेतु कहते हैं, यदि इसका सपक्ष संभावित हो तो उसमें व्याप्त रहाना समाना अंतव्योप्तिक्ल हेतु कहलायेगा तथा विपक्षके रहते हुए धूमादि हेतु उसमें असत्वरूपसे निश्चित है तो भी उस हेतु को स्वसाध्यका निश्चायक नहीं मानो १ क्योंकि उसका विपक्ष में असत्व है १ यदि कहा जाय कि विपक्ष होवे चाहें मत होवे किन्तु हेतुका उसमें असत्व निश्चित है अतः वह सही हेतु कहलायेगा क्योंकि साध्यके साथ उसका अविनाभाव है १ तो सपक्ष होवे चाहे मत होवे उसमें असत्व निश्चत हो क्योंकि उसका साध्यके साथ अविनाभाव है।

भावित्वाङ्केतुरैवेति चेत्; तर्हि सपक्षे सत्यसित वासत्वेन निश्चितो हेतुरस्तु तत एव । नन्वेवं सपक्षे तदेकदेशे वा सन्कर्थं हेतुः ? 'सपक्षेऽसन्नेव हेतुः' इत्यनवधारणात् । विपक्षेपि तदसत्त्वानवधारणमस्तु; इत्ययुक्तम्; साध्याविनाभावित्वव्याघातानुषङ्गात् ।

यदि पुनः सपक्षविपक्षयोरसस्वेन संविधतोऽसाधारण् इत्युच्यते; तक्षा पक्षत्रवृष्ट्रितव्या निश्चितया मंत्रियतया वाऽनैकान्तिकत्वं हेतोरित्यायातम् । न च श्रावणत्वादौ सास्तीति गमकत्वमेव । विरुद्धताप्येतेन प्रत्युक्ता । यो हि विपक्षैकदेशेषि न वर्तते, स कथं तत्रैव वर्त्तते ? श्रसिद्धता तु दूरो-त्यारितैव, श्रावणत्वस्य शब्दे सत्विनश्चयात् । तन्न पक्षधर्मत्वं सपक्षं सत्वं वा हेतोलंक्षणम् ।

श्रंका—सपक्षया सपक्षके एक देशमें वर्त्तनेवालाहेतु किस प्रकार सही कहलायेगा?

समाधान — यह ब्राणंका ब्रसत् है, सपक्षमें श्रसत्वरूप हेतु ही सही है ऐसा स्रवधारण नहीं किया है अतः सपक्ष या सपक्षके एक देशमें वर्त्तनेवाला हेतु सत् ही कहलाता है।

शंका — इस तरह तो विपक्ष में भी हेतुके ग्रसत्वका अवधारण नही होवे ?

समाधान — इस तरह अवधारण न हो तो साध्यके साथ अविनाभावपनेसे रहनारूप हेतुका लक्षण खंडित होनेका प्रसंग आता है। यहां बौद्धादिके साथ किये शंका समाधान से यह तात्पर्य है कि ये परवादी हेतुका असाधारण अनैकांतिक नामका दोष मानते हैं, "विपक्ष सपक्षाभ्यां व्यावर्तमानो हेतुरसाधारएँ कान्तिकः" विपक्ष और सपक्ष से जो हेतु व्यावृत्त हो उसे असाधारण अनैकांतिक कहते हैं, किन्तु यह दोष हेतुमें घटित नहीं होता क्योंकि इसके रहते हुए भी यदि हेतु साध्याविनाभावी हो वो अवस्यमेव साध्यका गमक होता है। अस्तु।

यदि द्वितीय पक्षानुसार विचार किया जाय कि सपक्ष और विपक्षमें ग्रसत्त्व-रूपसे वर्त्तनेका जिसका निश्चय न हो वह संशयित ग्रसाधारण हेतु कहलाता है तो इस कथनानुसार जो हेतु पक्षत्रय [पक्षसपक्ष ग्रीर विपक्ष] में निश्चितपनेसे वर्त्तता है अथवा संशयितपनेसे वर्त्तता है वह ग्रनेकान्तिक हेत्वाभास है ऐसा ग्रथं होता है। इस प्रकारका ग्रनेकान्तिक दोव तो पूर्वोक्त श्रावणस्वादि हेतुमें नहीं है, इसलिये वह साध्यका गमक ग्रवस्य ही है। ग्रनेकांतिक के समान विरुद्ध दोव भी उस हेतुमें नहीं है, क्योंकि जो हेतु विपक्षके एक देशमें भी नहीं रहता वह किस प्रकार पूर्ण विपक्षमें रह सकता है? विपक्षे पुनरसस्वमेव निविचतं साध्याविनाभावित्यमित्वस्वयस्वरूपमेव। इति तदेव हेतोः प्रधानं लक्षण्मस्तु किमन्न लक्षण्मतरेणः ? न च स्पक्षं सत्वाभावे हेतोरनन्वयत्वानुषङ्गः; प्रन्तर्व्याप्ति-लक्षण्स्यतषोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादन्ययानुपपत्तिरूपव्यतिरैकवत्। न खलु दृष्टान्तर्धामिष्येव साधस्यं बैधस्यं वा हेतोः प्रतिपत्तव्यमिति निवमो युक्तः; सर्वस्य क्षणिकत्वादिक्षावने सत्त्वादेरहेतुत्व-प्रसङ्गात्।

अर्थात् नहीं रह सकता । श्रावणत्वादि हेतुमें श्रसिद्धदोष तो दूरसे समाप्त होता है क्योंकि शब्दमें श्रावण (मुनने योग्य श्रयवा श्रवणज्ञान द्वारा ग्राह्य) पनेका सत्त्व निश्चितरूपसे हैं। श्रंतमें यह निष्कर्ष निकलता है कि पक्षधर्मत्व या सपक्षमें सत्त्व रहना यह कोई भी हेतुका लक्षण नहीं है।

विपक्षमें असत्व होना रूप लक्षण यही है कि साध्यके साथ प्रविनाभाव नियमसे हेतुका वर्त्तना। बस! यही हेतु का प्रधान लक्षण है, ग्रन्य सपक्षसत्वादि लक्षणोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं सधता।

शंका – सपक्षसत्वरूप लक्षण न होवे तो हेतुमें ग्रन्वयव्याप्तिका अभाव हो जायगा ?

समाधान — ऐसा नहीं होगा, अंतव्याप्ति ( पक्षमें साध्यसाधनकी व्याप्ति ) लक्षणवाली तथोपपत्ति ( साध्यके सद्भावमें साधनका होना ) रूप अन्वयका सद्भाव होनेसे सपक्षसत्वके अभावमें भी हेतुका अन्वयत्व वन जाता है, जैसे कि अन्ययानुपपत्ति से व्यतिरेक बनता है। यह नियम नहीं है कि दृष्टांतधर्मीमें ही हेतुका साधम्यं (अन्वय) या वैषम्यं (व्यतिरेक) निश्चित हो। यदि ऐसा माने तो "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" इस अनुमान का सत्त्व हेतु सदोष (हेत्वाभास) होवेगा, क्योंकि इसमें दृष्टांतका अभाव होनेसे उक्त अन्वयपना संभव नहीं है। अंतमें यह निश्चय होता है कि हेतुका लक्षण कैष्ट्य न होकर साध्याविनाभावित्व ही है। क्योंकि तैष्ट्य के रहते हुए भी हेतु साध्य का गमक नहीं होता और कैष्ट्य का सद्भाव हो चाहे अभाव साध्याविनाभावित्व गुण युक्त है तो वह हेतु साध्यका गमक होता है।

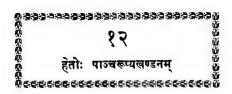
## हेतु के त्रैरूप्य मान्यता के खंडन का सारांश

ग्रनुमान का खास ग्रंग हेत् है उसके लक्षण में विसंवाद है, बौद्ध हेत् का लक्षण त्रैरूप्य करते हैं पक्ष धर्मत्व, सपक्ष सत्व, और विपक्ष व्यावृत्ति इन तीन धर्मों को तैरूप्य कहते हैं। उनका कहना है कि ग्रसिद्ध नामा हेत् के दोष को हटाने के लिए पक्ष धर्मत्व गुण है विरुद्धता को हटाने के लिए सपक्ष सत्व है और ग्रनेकान्तिक का निरसन करने के लिये विपक्ष व्यावृत्ति गुण है, इस पर ग्राचार्य ने उदाहरण देकर समभाया है कि इन सबकी कोई नियामकता नहीं है, "उदेष्यति शकटं कृतिकोदयातु" इस अनुमान के हेतु में पक्ष धर्मत्व गुण नहीं है अर्थात् एक मुहूर्त के अनंतर रोहिणी का उदय होगा यह साध्य है श्रीर उसका हेतु कृतिका नक्षत्र का उदय है, इन दोनों में एक मूहर्त का अन्तराल है अतः यह हतु पक्ष धर्म युक्त नहीं है किन्तु वह अपने साध्य को (रोहिणी के उदय को) सिद्ध कर देता है अतः पक्ष धर्मत्व गुण की आवश्यकता नहीं है, सपक्षत्व गूण भी ऐसा ही है क्योंकि बहुत से हेतु हों के सपक्ष नहीं रहते हैं, ग्राप बौद्ध के प्रसिद्ध अनुमान "सर्व क्षणिकं सत्वातु" में सत्व हेतू का कोई सपक्ष नहीं है क्योंकि सभी पक्ष में म्रा गये हैं। हां विपक्ष व्यावृत्ति गुण ठीक है किन्तु वह भी साध्याबिनाभावित्व नामक जैन हेत् के लक्षण में पहले से ही विद्यमान है, जो साध्य का स्रविनाभावी होगा वह कथमपि विपक्ष में नहीं जा सकता है, इस तरह बौद्धाभिमत हेत् का लक्षण सिद्ध नहीं होता है अतः ''साध्याबिनाभावित्वेन निश्चितो हेत्ः'' यही लक्षण निर्दोष है, बुद्धिमान बौद्ध को नि:पक्ष होकर इसे ही स्वीकार करना चाहिये।

> भ्रन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण कि नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण कि ।।१।।

> > ।। समाप्त ।।





नमु त्रै रूप्यं हेतोलंक्षणं मा भूत् 'पत्रवान्येतानि फलान्येकवात्वाप्रभवत्वाद्वप्युक्तफलवत्' इत्यादौ 'पूर्लोवं देवदत्तस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत् ( इत्यादौ च तदाभाक्षेपि तत्सम्भवात् । पंचरूपत्वं तृ तत्लक्षर्यां युक्तमेवानवद्यत्वात्, एकवात्वाप्रभवत्वस्यावाधितविषयत्वासम्भवाद् भारमवाग्राहिप्रत्यक्षेण्वं तद्विषयत्य वाधिवत्वात्, तत्पुत्रत्वादेश्वासत्प्रतिपक्षत्वाभावात् तत्प्रतिपक्षस्य शास्त्रव्यास्यानादिलिङ्गस्य सम्भवात् ।

योग—बोद्धाभिमत हेतुका तैरूप्य लक्षण श्रसिद्ध है यह बात ठीक ही है, ये फल पक्ष [पके] हैं क्योंकि एक शाखामे उत्पन्न हुए हैं, जैसे उपभुक्त फल उसी एक शाखा प्रभव होनेसे पक्ष थे, इत्यादि श्रतुमानमें प्रयुक्त "एक शाखा प्रभवत्व" हेतु सपक्ष सत्वादि त्रैरूप्यसे मुक्त होते हुए भी हेत्वाभाम है, तथा यह देवदक्त मुखं है, क्योंकि उसका पुत्र है, जैसे उसके अन्य पुत्र मुखं हैं। इत्यादि तत्पुत्रत्व हेतु भी त्रैरूप्य लक्षणके होते हुए भी हेत्वाभास स्वरूप है, अतः हेतुका त्रैरूप्य लक्षण सदोध है।

भावार्थ — किसी व्यक्तिने वृक्षके एक शास्त्राके कुछ फलोंको खाकर अनुमान किया कि इस ग्रास्त्राके सभी फल पके हैं. क्योंकि एक ग्रास्त्रा प्रभव है जैसे खाये हुए फल पके थे इत्यादि, इस एक ग्रास्त्रा प्रभवत्व नामा हेतुमें पक्ष धमं ग्रादि त्रैक्ष्य मौजूद है—उक्त ग्रास्त्राके फल पके होना संभावित है अतः पक्षधमंत्व, भुक्त फलोंमें पक्वता होनेसे सपक्ष सत्त्व एवं अन्य शास्त्रा फ्रम् फलों पक्वता ग्रास्त्र स्वाद्य संभावित होनेसे विपक्ष व्यावृत्ति है तो भी यह हेतु साध्यका ग्रामक नहीं हो सकता, क्योंकि उस ग्रास्त्रक फलोंको साक्षात् उपयुक्त करने पर दिखायी देता है कि कुछ फल ग्रापक्व भी

प्रकरणसमस्याप्यसत्विषक्षत्वाभावादहेतुत्वम् । तस्य हि लक्षणम् "यस्मात् प्रकरण्डिन्ता स प्रकरण्डसमः" । [न्यायसू० १।२ ७] इति । प्रक्रियेते साव्यत्वेनाविक्रयेते स्विविच्ततौ पत्रप्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरण्डम् । तस्य चिन्ता संज्ञयात्रश्रुर्याऽऽनिश्चयात्पर्यालोचना यतो भवति स एव, तिश्चत्वयार्थं प्रयुक्तः प्रकरण्डसः । पक्षद्वयेप्यस्य समानत्वादुभयत्राप्यन्वयादिसद्भावात् । तद्यया-'अनित्यः शब्दो नित्ययमानित्यक्षमंत्रमृत्ववस्येदादित्वत्, यस्पुनिन्त्यः त्रानुपलम्यमानित्यक्षमंत्रमृ यद्यात्मादि एवमेकेनान्यतरानु-पलन्चेरनित्यत्वसिद्धौ-साक्कत्वेनोपन्यासे सति द्वितीयः प्राह-यद्यनेन प्रकारेणानित्यत्वं प्रसाध्यते तिहि

हैं। इसीप्रकार "यह देवदत्त भूखं है क्योंकि उस व्यक्ति पुत्र है जैसे कि उसका ग्रन्य पुत्र मून्यं है," इस ग्रनुमानका तत्पुत्रत्व हेतु भी बंख्प्य लक्षण रहते हुए भी सदोव है— 'साध्यका गमक नहीं है, क्योंकि उस व्यक्तिका पुत्र होने मात्रसे देवदत्तकी मूखता सिद्ध नहीं होती।

हम यौगाभिमत पांचरूप्य हेत्का लक्षण तो यक्त है क्योंकि निर्दोध है, पूर्वोक्त एक शाखा प्रभवत्व हेत् इसलिये असत् हुआ कि उसमें भवाधित विषयत्व नामा लक्षण नहीं है, ब्रात्म प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही एक शाखा प्रभवत्व हेनुका विषय [ साध्य ] बाधित होता है, तत्पुत्रत्वादि हेतु भी ग्रसत् प्रतिपक्षत्व नामा लक्षण के अभाव मे दोषी ठहरता है, अर्थात् देवदत्त मूर्ख है इत्यादि उक्त अनुमानके हेत्के प्रतिपक्षभूत शास्त्र-् व्याख्यानादि हेतुका होना संभव है-यह देवदत्त विद्वान है बयोंकि शास्त्रका व्याख्यान करता है इत्यादि अनुमान प्रयक्त होनेके कारण तत्पृत्रत्व हेत् सदोष है। हेत्में प्रकरणसम नामा दोष भी असत् प्रतिपक्षत्व लक्षणके न होनेसे भ्राता है प्रकरण समका लक्षण-"यस्मात् प्रकरण चिंता स प्रकरण समः" "प्रक्रियेते साध्यत्वेनाधिक्रियेते ग्रनिश्चितौ पक्षा प्रतिपक्षी यौ तौ प्रकरएाम्" जिससे प्रकरणकी चिंता हो उसे प्रकरण सम कहते है, साध्यपनेसे मनिश्चित किये जाते हैं पक्षा प्रतिपक्षा जहां उसे 'प्रकरण' कहते हैं। ग्रर्थात् वादी द्वारा जो पक्ष निश्चित है वह प्रतिवादी द्वारा अनिश्चित है और जो प्रतिवादी द्वारा निश्चित है वह वादी द्वारा निश्चित नहीं, उसे प्रकरण कहते हैं। उस प्रकरणकी चिता - संशयके अनंतर समयसे लेकर निश्चय होने तक जिससे विचार चलता है वह हेतु ही है उसके निश्चयके लिए प्रयुक्त होना प्रकरण सम है। यह हेत् पक्ष प्रतिपक्षामें समान वर्त्तता है क्योंकि उभयत्र अन्वय आदिका सद्भाव है, इसीको स्पष्ट करते हैं-शब्द मनित्य है, क्योंकि इसमें नित्य धर्मकी मनुपलब्धि है, जैसे घट मादिमें नित्य धर्म नित्यतासिद्धिरप्यस्त्वऽत्यतरानुपलब्येस्तत्रापि सद्भावात् । तथा हि-नित्यः शब्दोऽनित्यवर्मानुपलब्ये-रारमादिवत्, यस्पुनर्न नित्यं तन्नानुपलभ्यमानाऽनित्यधर्मकम् यथा षटादिः

इत्यप्यविचारितरमणीयम्; साध्याविनाभावित्वव्यतिरेकेणापरस्यावाधितविवयत्वादेर-सम्भवात् तदेव प्रधानं हेतोलंक्षणमस्तु किं पञ्चक्पप्रकत्पनया ? न च प्रमाणप्रसिद्धत्रैकृष्यस्य हेर्ताविषये बाधा सम्भवतिः अनयोविरोधात् । साध्यसद्भावे एव हि हेतोधीमिण् सद्भावस्त्रैकृष्यस्, तदभावे एव च तत्र तत्सम्भवो बाधा, भावाभावयोत्वैकत्रैकस्य विरोधः ।

ब्रमुपलब्ध है, जो नित्य होता है उसमें नित्य धर्म ब्रमुपलब्य नहीं रहता ( अर्थात् उपलब्ध ही होता है ) जैसे आत्मादि पदार्थ। इस प्रकार एक किसी वादी द्वारा प्रस्यतर अनुपलब्धि—नित्य अनित्यमें से एक की अनुपलब्धि हेनुसे अनित्यत्व की सिद्धि में साधन उपस्थित करने पर दूसरा प्रतिवादी कहता है—यदि इस प्रकारसे अनित्यत्व सिद्ध किया जाता है तो नित्यत्वको सिद्धि भी होवे क्योंकि उसमें भी अन्यतर अनुपलब्धि हेतुका सद्भाव है, यथा—शब्द नित्य है क्योंकि उसमें अनित्य धर्मकी अनुपलब्धि है, जैसे आत्मादिमें अनित्य धर्मकी अनुपलब्धि है, जैसे आत्मादिमें अनित्य धर्मकी अनुपलब्धि है, जैसे आत्मादिमें अनित्य धर्मकी अनुपलब्धि होता। इस प्रकार हेतुमें पांच रूप्य-पक्षधर्मत्व, सपक्षमस्त्र, विपक्षव्याद्वत्ति, अविधित विषय और असद्यितिपक्षत्व होना आवश्यक है अन्यथा उपर्युक्तरीत्या वह हेतु बाधित विषयत्व आदि दोषोंका भागी हो जाता है।

जैन — यह कथन अविचारित रमणीय है, साध्यविनाभावित्वके बिना फ्रन्य अबाधित विषयस्वादि हेतुके लक्षण ग्रसंभव ही है ग्रतः वही हेतुका प्रधान लक्षण होना चाहिये पांचरूप्य लक्षाग्रसे क्या प्रयोजन ? दूसरी बात यह है कि हेतुका त्रेरूप्य यदि प्रमाणसे सिद्ध है तो उसके विषयमें (साध्यमें) वाधा ग्राना संभव नहीं क्योंकि प्रमाण प्रसिद्ध और वाधापन ये दोनों परस्पर विरुद्ध है। साध्यके सद्भावमें ही हेतुका पक्षमें होना त्रेरूप्य कहलाता है, इस प्रकारके हेतुके रहते हुए उसके विषयमें बाधा किस प्रकार संभव है ? बाधा तो तब संभव है जब हेतु साध्यके ग्रभावमें धर्मीमें होता । भाव और ग्रभावका एकत्र रहना विरुद्ध है।

किंच, ग्राघ्यक्षागमयोः कुतो हेतुविषयबाघकत्वम् ? स्वावं(यि) भ्यभिचारित्वाच्चेत्; हेताविष् सित त्रैरूप्ये तत्समानमित्यसावप्यनयोविषये वाषकः स्यात् । दृश्यते हि चन्द्राक्रीदिस्यैक्ष्राह्यऽध्यक्षं देशान्तरत्राप्तिलिङ्गप्रभवानुमानेन बाघ्यमानम् । ग्रवैकशालाप्रभवत्वाद्यनुमानस्य भ्रान्तत्वाद्वाघ्यत्वम् । कुतस्तत्वभ्रान्तत्वम् - ग्रम्पत्वेऽध्यक्षवाध्यत्वम् । कृतस्तव्भ्रान्तत्वम् - ग्रम्पत्वेऽध्यक्षवाध्यत्वम् , तत्त्व भ्रान्तत्वमित । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः, त्रैरूप्यसद्भावस्यात्र परेणास्मुदगमात् । ग्रनभ्युपममे वाउत एवास्थाऽगमकत्वोपपते : किमध्यक्षवाधासाध्यम् ?

भावार्थ — बौद्धाभिमत हेनुके त्रैरूप्य लक्षणको जैन द्वारा वाधित किये जाने पर योग कहता है कि त्रैरूप्य लक्षणका निरसन तो ठीक ही हुम्रा क्योंकि उसमें म्रवाधित वियवत्व ग्रीर ग्रसस्प्रतिपक्षात्व ये दो लक्षण समाविष्ट नहीं हुए ? ग्राचार्य इस पांच रूप्य लक्षण का निरसन करते हुए कह रहे कि पांच रूप्य रहते हुए भी यदि साध्याविनाभावित्व नहीं हैं तो वह हेतु साध्यका गमक नहीं हो सकता, तथा त्रैरूप्य लक्षण यदि प्रमाणसे सिद्ध है मर्थात् उस त्रैरूप्यके साथ साध्याविनाभावित्व है तो वह हेतु साध्यका गमक क्यों नहीं होगा ? ग्रवध्य होगा। जब हेतुका पक्षमें सद्भाव है तब उसमें पक्षधमंत्व है ही, तथा हेतु केवल साध्य रहते हुए ही पक्षमें रहता है तो उसका अन्वय भी प्रसिद्ध है एवं साध्य सद्भावमें ही पक्षमें रहनेके कारण उसका विपक्षमें ग्रसस्य स्वतः सिद्ध हो जाता है, इस प्रकारका प्रमाण प्रसिद्ध त्रैरूप्य ग्रन्थयानुपपन्नरूप होनेके कारण ग्रीनराइन्त है। जिस हेतुका साध्य प्रमाणसे वाधित है उसे वाधित विषय कहते हैं जब हेतुका सारा स्वरूप प्रमाणसे सिद्ध हुग्रा तब उसमें किस प्रकार की बाधा ? एक ही ग्रनुमानमें स्थित हेतुके बाधा संभव ग्रीर बाधा ग्रभाव [ भाव और ग्रभाव ] मानना तो विषद है ।

किंच, प्रत्यक्ष ग्रौर ग्रागम प्रमाणमें जिस हेनुका विषय वाधित होता है वह बाधित विषयत्व दोष है इस दोषका निराकरण करनेके लिए हेनुके लक्षणमें ग्रवाधित विषयत्व तोष है इस दोषका निराकरण करनेके लिए हेनुके लक्षणमें ग्रवाधित विषयत्वको समाविष्ट किया जाता है ऐसा ग्रापका [यौगका] कहना है सो प्रत्यक्षादिमें हेनुका विषय किस कारणसे बाधित होता है ? स्वार्च व्यभिचारिपना होने के कारण कहो तो हेनुमें भी त्रैरूपके रहने पर वह बात समान घटित होगी ग्रयित प्रत्यक्ष ग्रौर ग्रामके विषयमें हेनु द्वारा बाधा उपस्थित की जायगी, देखा भी जाता है कि चन्द्र सूर्य आदिको स्थिर रूपसे ग्रहण करने बाला प्रत्यक्ष प्रमाण देशांतर प्राप्तिरूप हेनु बाले ग्रव्यक्ष ग्रमाण देशांतर प्राप्तिरूप हेनु बाले ग्रव्यक्ष ग्रमाण देशांतर श्राप्तिरूप हेनु बाले ग्रव्यक्ष ग्रमाण देशांतर श्राप्तिरूप हेनु बाले

किंच, श्रवाधितिवयस्वं निश्चतम्, ग्रानिश्चितं वा हेतोलंक्षःग् स्यात् ? न तावदिनिश्चितम्; ग्रातिप्रसंगात् । नापि निश्चितम्; तन्निश्चयासम्भवात् । स हि स्वसम्बन्धी, सर्वसम्बन्धी वा ? स्वसंवंधी चेत्; तत्कालीनः, सर्वकालीनो वा ? न तावत्तत्कालीनः; तस्यासम्यगनुमानेपि सम्भवात् । नापि सर्वकालीनः; तस्यासिद्धत्वात्, कालान्तरेप्यत्र वाषकं न भविष्यति हत्यसर्वविदा निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

सर्वसम्बन्धिनोपि तःकालस्योत्तरकालस्य वा तन्निश्चयस्यासिद्धत्वम्; अर्वाग्दशा 'सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामत्र बाधकस्याभावः' इति निश्चेतुमशक्ते स्तन्निश्चयनिवन्धनस्याभावात् । तन्निबन्धनं

शंका—एक शाखा प्रभवत्व आदि हेतु वाले अनुमान आंत हुआ करते हैं श्रतः वे प्रत्यक्षादिसे बाध्यमान हैं ?

समाधान — उक्त अनुमान किस कारणसे आतं हैं प्रत्यक्ष द्वारा बाध्य होनेसे या त्रैरूप्य विकल होनेसे ? प्रथम पक्षमें अन्योग्याश्रय होगा— उक्त अनुमानका आंतपना सिद्ध होने पर प्रत्यक्षसे बाध्यत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर आंतत्व सिद्ध होगा। दूसरा पक्ष तो अयुक्त ही है क्योंकि उक्त अनुमानके एक धाखाप्रभवत्व हेतुमें त्रैरूप्यका सद्भाव यौगने स्वयं स्वीकार किया है अतः इस हेतुमें त्रैरूप्य वैकल्प है ही नहीं। यदि इस हेतुमें त्रैरूप्यका सद्भाव स्वीकार नहीं करते तो उस त्रैरूप्यके प्रभाव के कारए। ही एक धाखा प्रभवत्व हेतु अगमक [सदोप साध्यका प्रसाधक] सिद्ध हुग्रा, उसमें फिरसे प्रत्यक्ष द्वारा वाथा उपस्थित करनेसे क्या प्रयोजन है ?

हेत्का लक्षण अवाधित विषयत्वरूप होना चाहिए सो यह अवाधित विषयत्व निश्चित है या अनिश्चित ? अनिश्चित तो कहना नहीं अतिअसंग होगा । निश्चित नहीं कह सकते क्योंकि इस हेत्का विषय अवाधित है ऐसा निश्चय होना असंभव है । यदि निश्चय होवे तो किसके होवे स्वसंबंधी या सर्वसंबंधी ? स्वसंबंधी कहो तो तत्कालीन [अनुमानकालीन] है अथवा सर्वकालीन है ? तत्कालीन स्वसंबंधी निश्चय है ऐसा कहना अयुक्त होगा क्योंकि ऐसा निश्चय तो मिथ्या अनुमानमें भी संभव है । सर्वकालीन निश्चय तो सर्वथा असिद्ध है । क्योंकि कालांतरमें भी इस अनुमानके विषयमें बाधा नहीं होगी ऐसा निश्चय करना अत्यज्ञ के लिए अशक्य है ।

अवाधित विषय सर्वसंबंधी निष्चित है ऐसा विकल्प माने तो वह तस्कालीन हो चाहे उत्तर कालीन हो दोनों निश्चय असिढ हैं, क्योंकि ग्रसवंश पुरुषों द्वारा सर्वत्र सर्वदा सभोको इस अनुमानके विषयमें बाधा नहीं है ऐसा निर्एय किया जाना असंभव ह्यनुपलम्भः, संवादो वा स्यात् ? न तावदनुपलम्भः; सर्वात्मसम्बन्धिनोऽस्याऽसिद्धानैकान्तिकःवात् । नापि संवादः; प्रागनुमानप्रवृत्तेस्तस्यासिद्धेः । प्रनुमानोत्तरकालं तत्सिद्धयम्युपगमे परस्पराप्रयः— प्रनुमानात्प्रवृत्तौ संवादिनिश्चयः, ततश्वावाधितविषयस्वावगमेऽनुमानप्रवृत्तिरिति । न चाविनाभाव-निश्चयादेवाबाधितविषयस्वनिश्चयः; हेतौ पंचरूपयोगिन्यऽविनाभावपरिसमाप्तिवादिनामवाधित-विषयस्वाऽनिश्चये प्रविनाभावनिश्चयस्यैवासम्भवात् । तन्नैकशास्त्रप्रभवस्वदेवीधितविषयस्वाद्धेश्वामसस्वम् ।

है, ग्रतः सर्वसंबंधी निश्चयका निमित्त ग्रसंभव है। सर्वसंबंधी निश्चय का निमित्त यदि माना जाय तो वह कौनसा होगा अनुपलंभरूप या संवादरूप शि अनुपलंभ होना ग्रशक्य है क्योंकि सर्वसंबंधी ग्रौर स्वसंबंधी श्रनुपलंभ कमशः असिद्ध और ग्रनैकांतिक है अर्थात् सर्वको अनुपलंभ है ऐसा कहना सभीका जानना श्रसंभव होनेसे श्रसिद्ध है तथा स्वसंबंधी श्रमुपलंभ तो श्रनैकान्तिक होता है—स्वको अनुपलंभ होने पर भी श्रन्य व्यक्तिको श्रमुपलंभ नहीं होता।

भावार्थ — अमुक वस्तुका अनुपलंभ [अभाव] है ऐसा किसी एक व्यक्तिको निश्चय हो जाने पर भी जगतके यावन्भात्र व्यक्तिको ऐसा निश्चय नहीं होता न उन व्यक्तियों का निश्चय अनिश्चय हमें जात ही है अतः सर्व संबंधी अनुपलंभ द्वारा किसी का निश्चय करना या अमुक वस्तुका ग्रभाव सिद्ध करना अशक्य है अतः केवल स्वको किसी वस्तु अनुपलंभ होना सर्वथा मान्य नहीं हो सकता और सर्व व्यक्तियोंका अनुपलंभ निश्चय जानना तो असंभव ही है।

सर्वसंबंधी निश्चयका निमित्त संवाद है ऐसा पक्ष भी ठीक नहीं, अनुमान प्रवृत्तिके पहले संवादकी असिद्धि है, अनुमान प्रवृत्तिके उत्तरकालमें संवादकी सिद्धि स्वीकार करे तो परस्वराध्यय दोष होगा - अनुमानसे प्रवृत्ति होने पर संवादका निश्चय होगा और उसके होने पर अवाधित विषयत्वका ज्ञान होकर अनुमान प्रवृत्ति होगी। यदि कहा जाय कि अविनाभावके निश्चयसे ही अवाधित विषयत्वका निश्चय हो जाता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पंचकायुक्त हेतुमें अविनाभावकी परिसमाप्ति मानने वाले आप यौगके यहां जब तक अवाधित विषयत्वका अनिश्चय है तव तक अविनाभावका निश्चय होना ही असंभव है। इस प्रकार बाधित विषयत्व होनेके कारण एक शाखा प्रभत्वादि हेतु असत है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता। उक्त हेतु तो साध्याविनाभावित्व के न होनेके कारण हेत्वाभासके कोटिमें आते हैं।

नापि तत्पुत्रस्वादे सत्प्रतिपक्षस्वात् । यतः प्रतिपक्षस्तुत्यवतः, ग्रतुत्यवतो वा सन् स्यात् ?
न तावदाधः पक्षः; इयोस्तृत्यवलत्वे 'एकस्य वाधकत्वभपरस्य च वाध्यत्वम्' इति विशेषानुपपत्तेः ।
न च पक्षधमंत्वाद्यभाव एकस्य विशेषः; तस्यानम्युगमात् । ग्रम्युगमे वा ग्रत एवैकस्य दुष्टत्वसिद्धे नै
किचिदनुमानवाध्याः ? द्वितीयपक्षेप्यतृत्यवलत्वं तयोः पक्षधमंत्वादिभावाभावकृतम्, ग्रनुमानवाधानितं वा स्यात् ? प्रयमपक्षोनम्युगमादेवायुक्तः, पक्षधमंत्वादेषभयोरप्यम्युगमात् । द्वितीयोप्यमम्भाव्यः; तस्याद्यापि विवादपटापन्तत्वात् । न खलु द्वयोश्येष्टपाविशेषतस्तृत्यत्वे सति 'एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाधकत्वम्' इति व्यवस्यापयितृ शक्यमविशेष्यं वतःप्रसगात् । इतरेतराध्यस्य-श्रतृत्यवलत्वे सत्यनुमानवाधा, तस्यां चातृत्यवलत्वमिति ।

तत्पुत्रत्वादि हेतु भी सत्प्रतिपक्षत्वके कारण हेत्वाभास नहीं बनते [ किन्तु साध्याविनाभावके न होनेके कारण हेत्वाभास बनते हैं ] जिस हेतुमें 🖣 प्रतिपक्षी मीजुद हो उसे सत् प्रतिपक्षत्व नामा सदोष हेतु कहते हैं सो वह प्रतिपक्ष तुल्य बल वाला हैया अतुल्य बल बाला है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं यदि दोनों–पक्ष–प्रतिपक्षके हेत् तुल्य बल वाले होवे तो एकके बाधकपना ग्रौर दूसरे के बाध्यपना इस प्रकार विशेष भेद बन नहीं सकता । एक हेतुमें पक्षधर्मत्वादिका ग्रभाव होनेसे विशेष भेद हो जायगा ऐसा कहना भी अयुक्त है वयोंकि उसको ग्रापने माना नहीं, ग्रर्थात् पक्षधर्मत्वादिके कारण हेतुमें विशेष भेद हो ऐसा आप मानते नहीं। यदि मानते हैं तो इसी पक्षधर्म-त्वादिके श्रभाव होनेके कारण ही दोनों में से एककी सदीवता सिद्ध हो जाती है. उसके लिये ग्रनुमान द्वारा बाधा उपस्थित करनेसे कुछ लाभ नहीं होता। दूसरे पक्षमें भी प्रश्न होता है कि उन दोनों हेतुओंमें [ तत्पुत्रत्व ग्रीर शास्त्रव्याख्यानवत्व में ] ग्रतुल्य बल किस कारणसे हुआ पक्षधर्मत्वादिका मद्भाव ग्रौर श्रभाव होनेके कारण हुग्राया भ्रनुमानद्वारा बाधा होनेके कारण हुग्रा ? प्रथम पक्ष स्वीकार नहीं होनेसे ग्रयक्त है, क्योंकि ग्रापने पूर्वोक्त तत्पुत्रत्व भौर शास्त्रव्याख्यानवत्व हेतुओंमें पक्षधर्मत्वादि लक्षणों को स्वीकार किया है। द्वितीय पक्ष भी ग्रसंभव है, क्योंकि ग्रनुमान द्वारा बाधित होना ग्रभी तक विवादग्रस्त है, दोनों हेतुग्रोंमें त्रैरूप्य की ग्रविशेषता होनेके कारण तुल्यपना होते हुए भी एक हेत्के बाध्यपना ग्रौर दूसरेके बाधकपना है ऐसी व्यवस्था करना शक्य नहीं, उनमें तो समानरूपसे बाध्यपना या बाधकपना ही रहेगा। ग्रन्थोन्याश्रय दोष भी होगा — ग्रतुल्य बलत्व होने पर ग्रनुमान बाधा ग्रायेगी ग्रीर उसके होने पर अतल्यबलत्व होगा ।

यण्य प्रकरण्यसस्यानित्यः शब्योनुपतम्यमानित्त्यधर्मकत्वादित्युदाहरणम् तत्रानुपतम्यमान-नित्यधर्मकत्वं शब्दे तत्त्वतोऽप्रसिद्धम्, न वा ? प्रयमपत्ते नश्चवृत्तित्याऽस्याऽसिद्धे रसिद्धत्वम् । हितोय-पत्ते तु साध्यधर्मान्विते धर्मिण् तत्प्रसिद्धम्, तद्रहिते वा ? ब्राद्यविकल्पे साध्यवत्वेव धर्मिण्यस्य सद्भावसिद्धः, कवमगमकत्वम् ? न हि साध्यधर्ममन्तरेण् धर्मिण्यःभवनं विहायापरं हेतोरविना-भावित्वम् । तच्चेत्समस्ति, कर्षं न गमकत्वम् स्रविनाभावनिवन्यनत्वात्तस्य ? हितीयपक्षे तु विरुद्धत्वम् ;

विशेषार्थं —यह देवदत्त मूखं है, क्योंकि उस व्यक्तिका पुत्र है, इस अमुमानका तत्पुत्रत्व हेतु सत् प्रतिपक्ष दोष युक्त है क्योंकि इस हेतुक साध्यक विरुद्ध पक्षको सिद्ध करनेवाला अन्य हेतु मौजूद है—यह देवदत्त विद्वान है, क्योंकि शास्त्रका व्याख्यान करता है, यह शास्त्रव्याख्यानत्व हेतु उक्त मुखंत्व साध्यका निरसन करता है, इस प्रकार के सत्प्रतिपक्षत्व हेतुके कारण तत्पुत्रत्व हेतु अगमक होता है ऐसा यौगका कहना है, आखार्यने कहा कि ऐसा प्रतिपक्षत्व किस कारणसे होता है ? दोनों हेतुओंमें से एकमें अनुत्य बल होनेके कारण हुआ ऐसा कहना अशक्य है एकमें अनुत्यवल भी किस कारणसे हुआ यह प्रथन खड़ा होता है एकमें पक्षधर्मत्वादि रहते हैं और दूसरोमें (तत्पुत्रत्वादिमें) नहीं रहते इस कारण एकमें अनुत्यवल है ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंक यौगने दोनों हेतुओंमें पक्षधर्मत्वादिकों स्वीकार किया है। तृत्यवल होनेसे हेतु सत् प्रतिपक्षी होता है ऐसा कहना भी असत् है जब दोनोंका समान बल है तब एक बाधक बने और दूसरा उसके द्वारा वाधित (खंडित) हो जाय ऐसा असंभव है। अतः तत्पुत्रत्वादि हेतु सत् प्रतिपक्षके कारण सदोष नहीं है अपितु अन्यथानुपपक्षत्व लक्षण नहीं होनेके कारण सदोष है।

सत् प्रतिपक्षस्व हेतुका दोष है उसके निर्मित्तसे प्रकरणसम नामका हेत्वाभास होता है, जैसे — शब्द ग्रमित्य है क्योंकि उसमें नित्य धर्मकी श्रमुपलब्ब है, ऐसा योगने प्रकरणसम हेत्वामास का उदाहरण दिया सो उसमें प्रश्न है कि शब्दमें प्रमुपलभ्यमान नित्य धर्मत्वेरूप हेतु वास्तविकारूपसे श्रसिद्ध है कि नहीं? यदि है तो पक्षमें वर्तना असिद्ध होनेके कारण यह हेतु श्रसिद्ध हेत्वाभास कहलायेगा, न कि प्रकरणसम हेत्वा-भास । श्रमुपलभ्यमान नित्यधर्मत्व शब्दमें अप्रसिद्ध नहीं है अर्थात् प्रसिद्ध है ऐसा दूसरा पक्ष करे तो पुनः शंका होती है कि उक्त धर्मत्व साध्यधर्मान्वत धर्मीमें प्रसिद्ध है या साध्यधर्म रहित धर्मीमें प्रसिद्ध है ? प्रथम कत्यनामें साध्ययुक्त धर्मीमें ही उक्त

साध्यक्षमे रहिते विमिश्यि प्रवर्तमानस्य विषवानृतितया विरुद्धलोपपत्तः । सन्य सन्दिग्बसाध्यक्षमेवति तत्तत्र प्रवर्ते ते; तहि सन्दिग्वविषव्यानृतिकत्वादस्याऽनैकान्तिकस्वम् ।

नन्त्रेवं सर्वो हेतुरर्नकान्त्रिकः स्यात्, साघ्यसिद्धेः प्राव्साध्यधनिस्एः साघ्यधर्मसदसत्त्वाश्रयत्वेन सन्दिग्बत्वात्, ततोऽनुमेयव्यतिरिक्ते साघ्यधर्मवति धर्म्यन्तरे साघ्याभावे च प्रवर्तामानो हेतुर्नकातिकः, साघ्याभाववत्येव तु पक्षधर्मत्वे सति विकदः, यस्तु विपक्षाद्वधावृत्तः सपक्षे चानुगतः पक्षधर्मी निश्चितः स्वसाध्यं गमयत्येवेत्यम्थुगगन्तथ्यम्;∰हत्यप्यमुन्दरम्; यतो यदि साघ्यधर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः

साधन धर्मका सद्भाव सिद्ध होनेसे उसे अगमक किस प्रकार माने ? क्योंकि धर्मिमें साध्यधर्म के बिना नहीं होना यही हेतु अविनाभावित्व है इसको छोड़कर श्रन्य किसीको अविनाभावीपना नहीं कहते, जब वह गुण-लक्षण हेतुमें है तब वह कैसे गमक नहीं होगा गमकत्वका निर्मित्त तो श्रविनाभाव ही है ? द्वितीय कल्पना साध्य रहित धर्मीमें श्रनुपलभ्यमान नित्यधर्मत्व हेतु रहता है ऐसा माने तो वह हेतु विरुद्ध कहलायेगा [न कि प्रकरण सम] जो हेतु साध्यधर्मरहित धर्मीमें रहता है उसका विपक्ष में वर्त्तने के कारण विरुद्धपना प्रसिद्ध ही है।

यौग —साध्यक्षर्मका रहना जहां संदिग्ध है उस धर्मीमें उक्त हेतु प्रश्नृत्ति करता है ?

जैन—तो इस हेतुका विपक्षमें रहना भी संदिग्ध होनेके कारण ध्रनैकांतिक दोष आयेगा (प्रकरण सम नहीं)।

यौग — इस तरह मानने पर सभी हेतु भनैकान्तिक कहलायेंगे, क्योंकि साध्यः सिद्धिके पहले साध्यधर्मीमें साध्यका धर्म सत् और असत् रूपसे रहना संविग्ध ही रहता है, अतः अनुमेयसे पृथक ग्रन्य स्थान पर साध्य धर्म युक्त धर्मीमें (घटमें) प्रवृत्ति करने वाला हेतु एवं साध्यके ग्रभावमें प्रवृत्ति करनेवाला हेतु ही ध्रनैकांतिक होता है ऐसा मानना चाहिए, तथा जहां साध्यका अभाव है केवल उसमें ही पक्षधर्म रूप रहता है वह हेतु विश्व होता है, किन्तु ओ हेतु विपक्षसे व्यावृत्त है सपक्षमें अनुगत एवं पक्ष धर्मयुक्त है वह स्वसाध्य को भवष्य ही सिद्ध करता है ऐसा स्वीकार करना चाहिए ?

स्वसाच्येन प्रतिवन्धोऽस्थुपगम्पते; तर्हि साघ्यर्थानण्युपादीयमानो हेतु: क्यं साघ्यं साघ्येत्, तत्र साघ्य-मन्तरेणाप्यस्य सद्भावाम्युपगमात् ? तद्वघतिरिक्तं एव धर्म्यन्तरे साघ्येनास्य प्रतिवन्धप्रहणात् । न चान्यत्र साघ्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरन्यत्र साघ्यं गमयत्यतिप्रसङ्गात् । ततः साघ्यर्थीमण्येव हेतोच्याप्तिः प्रतिपत्तव्या ।

ननु यदि साध्यधर्मान्वतत्वेन साध्यधमिण्यसौ पूर्वमेव प्रतिपन्नः, तर्हि साध्यधर्मस्यापि पूर्वमेव प्रतिपन्नत्वाद्धेतोः पक्षधमेताग्रहणस्य वैयथ्येम्; तदप्यसङ्गतम्; यतः प्रतिवन्धसाधकप्रमाणेन सर्वोप-संहारेण 'साधनधर्मः साध्यधर्माभावे वविद्यपि न भवति' इति सामान्येन प्रतिवन्धः प्रतिपन्नाः। पक्षधर्मताग्रहणस्य साध्यधर्माभावे वविद्यपि न भवति' इति सामान्येन प्रतिवन्धः प्रतिपन्नाः। पक्षधर्मताग्रहणस्य साध्यधर्माभावे साध्यधर्माभावे हिन्दस्य साध्यधर्माभावे साध्यक्षयाना साध्यक्षयाना साध्यक्षयाना साध्यक्षयाना साध्यक्षयाना साध्यक्षयम् विद्याप्रतिपन्निवयप्रतिपत्तिवन्धन्यत्वानानाम्यवयस्य वैद्ययम् । न सनु विशिष्टधर्मण्युपलभ्यमाना हेनुस्तद्गतन

जैन — यह कथन अमुन्दर है, साध्यधर्मी से पृथक् किसी अन्य धर्मीमं हेतुका स्वसाध्यके साथ अविनाभाव स्वीकृत किया जाय तो साध्यधर्मीमें प्रदत्त हेतु किस प्रकार साध्यको सिद्ध कर सकेगा ? क्योंकि साध्यके विना भी वहां हेतुका रहना मान लिया, इस हेतुका साध्यके साथ अविभाव ग्रहण तो विवक्षित साध्यधर्मीके व्यतिरिक्त अन्य धर्मीमें ही हुआ है! साध्याविनाभावपने से निश्चय तो अन्यत्र हो और वह हेतु अन्यत्र साध्यको सिद्ध करे ऐसा नहीं होता, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। अतः साध्यवमींमें ही हुना अविनाभाव जानना आवश्यक है।

यौग—साध्य धर्मीमें हेतुका साध्यधमंसे ब्रन्वितपना पहले ही जात है तो साध्यधमं भी पहलेसे ज्ञात ही रहेगा, फिर हेतुके पक्षधर्मस्वको ग्रहण करना व्यथं ही ठहरता है ?

जैन — यह कथन असंगत है, अविनाभाव संबंध को सिद्ध करनेवाले तर्क प्रमाण द्वारा सर्वोपसंहार से "साधनधर्म साध्यके अभावमें कही भी नहीं होता" इस प्रकार सामान्यतः अविनाभाव ज्ञात रहता है, जब पक्षअर्म प्रहणका समय आता है तब जहांपर ही धर्मीमें हेतु उपलब्ध होता है वहींपर साध्यको सिद्ध करता है इसिलये पक्ष धर्मताका ग्रहण विशेष विषयकी प्रतिपत्तिका निमित्त है और इसीकारणसे श्रनुमानकी व्यर्थता नहीं होती या पक्षधर्मता ग्रहण व्यर्थ नहीं ठहरता है। विशिष्ट धर्मीमें उपलभ्य-मान हेतु उसमें होनेवाले साध्यके बिना ही हो जाता है ऐसी बात तो नहीं है अन्यथा साध्यमन्तरेणोपपत्तिमान्, तस्य तेन व्याप्तरवाभावप्रसङ्गात् । श्रत एव प्रतिपन्नप्रतिबन्धेकहेतुसङ्कावे धर्मिस्य न विपरोत्तसध्योपस्थापकहेत्वन्तरस्य सद्भावः, अन्यया द्वयोरप्यनयोः स्वसाध्याविनाभावि-स्वात्, निस्यस्वानित्यस्वयोष्क्रंकत्रेकदेकान्तवादिमते विरोधतोऽसंभवात्, सद्वयवस्थापकहेत्वोरप्यसंभवः। सम्भवे वा तयोः स्वसाध्याविनाभृतःवान्तित्यस्वानित्यस्वयमिसिद्धिर्धिस्यः स्यादिति कुतः प्रकरण्-समस्यागमकता एकांतत्वसिद्धिवां ? प्रधान्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाभाववैकत्यम्; तथाप्यत एवास्यागमकतीति कि तत्प्रतिवादनप्रयासेन ?

किञ्च, निरमधर्मानुपलब्धिः प्रसुज्यप्रतिषेषक्षा, पर्युदासक्ष्या वा शब्दानित्यस्वे हेतुः स्यात् ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; तुच्छाभावस्य साध्यासाधकत्वान्निषद्धत्वाच्च । द्वितीयपक्षे तु श्रनित्यधर्मोप-

उसका साध्यके साथ अविनाभाव संबंध नहीं रहने का प्रसंग आता है। उसीलिये जात है साध्याविनाभावित्व जिसका ऐसे एक हेतुके सद्भावयुक्त धर्मीमें विपरीत साध्यका उपस्थापक अन्य हेतु आ नहीं सकता अन्यथा दोनों हेतु स्व—स्वसाध्यके अविनाभावी होंगे और अविनाभावी होंगेक कारण अपना अपना साध्य-नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म को एक जगह एक ही कालमें सिद्ध कर बैठेंगे किन्तु वह एकांतमतमें विरुद्ध होनेसे असंभव है अतः उक्त नित्यत्वादिक व्यवस्थापक हेतुओंका भी अभाव हो जाता है, यदि उनका सद्भाव है तो अपने अपने साध्यक अविनाभावी होनेसे धर्मीमें नित्य अार अनित्य धर्मकी सिद्ध करेंगे ही फिर 'अकरणसम हेतु अगमक होता है' ऐसा कहना किस प्रकार सिद्ध होगा ? और सर्वथा एकांत मतकी (शब्द अनित्य ही है इत्यादिकी) सिद्धि भी किसप्रकार होगों ? अर्थात् नहीं हो सकती।

यौग — दोनों हेतुश्रोमें से एकको ( अनुपलभ्यमान नित्यधर्मत्व हेतुको ) स्वसाध्य का अविनाभावी नहीं मानते ?

जैन — तो फिर प्रविनाभावित्वके नहीं होनेके कारण ही उक्त हेतु ग्रगमक ठहरा, प्रकरण सम ब्रादिके प्रतिपादनका प्रयास तो व्यर्थ ही है।

किंच, "नित्य धर्मकी ग्रनुपलब्धि" इस वाक्यमें श्रनुपलब्धि का ग्रयं उपलब्धि का श्रभाव है सो वह प्रसज्यप्रतियेध स्वरूप है ग्रथवा पर्युदास स्वरूप है दोनोंमें से किसको शब्दके श्रनित्यत्वको सिद्ध करनेमें हेतु बनाया है? प्रसज्यप्रतिषेधरूप श्रनुप- लब्बिरेव हेतुः, सा च शब्दे यदि सिद्धा कथं नानित्यतासिद्धिः? घष तन्त्रिनतासम्बन्धिपुरुगेगासौ प्रयुज्यत इति तत्रासिद्धाः तिहं कथं न सन्दिग्धो हेतुर्वादिनं प्रति ? प्रतिवादिनस्त्वसौ स्वरूपासिद्ध एवः नित्यधर्मोपलब्येस्तत्रास्य सिद्धेः। तन्त पंचरूपत्वमध्यस्य लक्ष्मां घटते स्रवाधितविषयस्वादेविचार्य-मागुस्यायोगात्पक्षधर्मत्वादिवत्।

यदि चैकस्य हेतोः पक्षप्रमेंत्वादानैकथर्मात्मकत्वमिष्यते, तदाज्ञेकान्तः समाध्रितः स्यात् । न च यदेव पक्षधमेस्य सपक्षे एव सत्त्वमृतदेव विपक्षास्तवंतोऽसत्त्वमित्यभिधातव्यम्; घन्वयव्यतिरेकयो-भावाभावरूपयोः सर्वया तादात्म्यायोगात्, तत्त्वे वा केवलाग्वयो केवलव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न त्रिरूपवात् ।

लब्धि को हेतु बनानेका प्रथम पक्ष अयुक्त है, तुच्छाभावरूप प्रसच्यप्रतिषेध वाली अनुप-लब्धि साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकती तथा इस अभावका निरसन भी हो चुका है। द्वितीय पक्ष-नित्यधर्मकी अनुपलब्धिरूप अभाव पर्युदास स्वरूप है ऐसा कहे तो उसका सीधा अर्थ अनित्यधर्मकी उपलब्धि होना है उसको यदि हेतु बनाया है तो वह शब्दमें सिद्ध ही है फिर उससे अनित्य साध्यकी सिद्धि क्यों नहीं होगी ?

यौग—प्रकरण समकी चिंता करनेवाले पुरुषद्वारा उक्त हेतु प्रयुक्त होता है अतः उसमें असिद्धि है ?

जैन—तो फिर उक्त हेतु वादीके प्रति किसप्रकार संदिग्ध नहीं होगा ? प्रवक्ष्य होगा । प्रतिवादीके तो यह हेतु स्वरूपसे ही असिद्ध है, क्योंकि प्रतिवादी मीमांसक को शब्दमें नित्यधर्मकी उपलब्धि होती है । इसप्रकार हेतुका पंचरूपत्व लक्ष्यण घटित नहीं होता है, इसके प्रवाधित विषयत्व आदि रूपत्वका विचार करने पर अभाव ही प्रतीत होता है जैसे कि बौद्धाभिमत पक्षधर्मत्वादिका स्रभाव है ।

तथा ग्राप परवादी एक ही हेतुमें पक्षवर्मत्व ग्रादि अनेक स्वभाव मानते हैं तो अनेकांतमतका ग्राश्रय जेना सिद्ध होता है। ऐसा तो कह नहीं सकते कि जो पक्षधर्मका सपक्षमें सरव है वही सब विपक्षसे ग्रसरव है? क्योंकि सपक्षसत्व भावरूप श्रन्वय है श्रीर विपक्ष ग्रस्तव ग्रभावरूप व्यतिरेक है इनका सर्वथा तादात्म्य नहीं होता, यदि तादात्म्य माने तो सभी हेतु कैवलान्वयी बन जायेंगे, कोई भी हेतु जिरूपबान् श्रवशेष नहीं रहेगा (तीसरा हेतु केवलान्वयव्यतिरेकी उभयरूप)।

व्यतिरेकस्य चाभावरूपत्वाढे तोस्तद्र पत्वेऽभावरूपो हेतुः स्यात् । न चाभावस्य तुच्छक्ष्पत्वा-स्टबसाध्येन धर्मिणा सम्बन्धः । यदि च सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षासत्वम् न ततो भिन्नमः, तिह् तदेवास्या-साधारणं कथं स्यात् ? वस्तुभूतान्याभावमन्तरेणः प्रतिनियतस्यास्याध्यनासम्भवात् । अयं ततस्तदन्य-धर्मान्तरमः, तह्याँकस्यानेकधर्मात्मकस्य हेतोस्तवाभूतसाध्याविनाभावित्वेन निविचतस्य अनेकान्तासम-कार्षप्रसाधकत्वात् कथं न परोपन्यस्तहेतुना विरुद्धताः ? एकांतविषद्धे नानेकांतेन व्यासत्वात् ।

र्किच, परै: सामान्यरूपो हेतुरूपादीयते, विशेषरूपो वा, उभयम्, अनुभयं वा ? सामान्यरूप-रुचेतु; तर्तिक व्यक्तिभ्यो भिन्तम्, प्रभिन्तं वा ? भिन्तं चेतुः तः, व्यक्तिभ्यो भिन्नस्य सामान्यस्याऽप्रति-भासमानत्याऽसिद्धत्वात् । तथाभूतस्यास्य सामान्यविचारे निराकरिष्यमागुत्वाच्च । प्रथाभिन्नम्;

तया केवल व्यतिरेक स्वरूप हेतु रहे तो व्यतिरेक अभावस्वरूप होनेसे हेतु भी अभावरूप मानना होगा, किन्तु आपका अभाव तुच्छाभावरूप होनेसे उसका स्वसाध्य से धर्मीके साथ संबंध नहीं हो सकता है। तथा सपक्षका सत्त्व ही विपक्ष असत्व है उससे भिन्न नहीं है तो वही धर्म इसका असाधारण कैसे होवेगा ? क्योंकि विपक्षका असत्त्व वास्तविक भिन्न अभावरूप हुए विना प्रतिनियत सपक्ष सत्त्वका हेनुमें होना भी असंभव है। यदि सपक्ष सत्त्वका विपक्षका असत्त्व भिन्न है ऐसा कहो तो एक ही हेतु अनेक धर्मात्मक है यह सिद्ध हो जाता है इस तरह का हेतु ही साध्यके साथ अविनामाव रूपसे निष्टित होता है, इसीसे संपूर्ण पदार्थोंमें अनेक धर्मात्मकता सिद्ध हो जानेसे परवादी द्वारा उपन्यस्त हेतु किस प्रकार विद्ध तही होंगे अर्थात् अवयय होंगे, क्योंकि ये हेत एकांत पक्षके विरोधी अनेकांत के साथ व्याप्त हो रहे हैं।

आप यौगादि परवादीने सामान्यरूप हेतुको ग्रहण किया है या विशेषरूप, उभयरूप अथवा अनुभयरूप ग्रहण किया है, सामान्यरूप है तो वह व्यक्तियोंसे भिन्न है या ग्रभिन्न ? भिन्न कहना शक्य नहीं, जो व्यक्तियों से भिन्न है ऐसा सामान्य प्रतिभासित नहीं होनेसे असिद्ध है, तथा इस प्रकारके सामान्यका हम-जैन आगे सामान्य विचार नामा प्रकरणमें निराकरण करनेवाले हैं। सामान्य व्यक्तियोंसे अभिन्न है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो कर्थांचत् अभिन्न है या सर्वथा अभिन्न है? सर्वथा कहना असत् है, क्योंकि व्यक्ति से [विशेष या भिन्न भिन्न अनेक वस्तुओंको व्यक्तियों कहते हैं जैसे पुस्तके हैं, एक एक पुस्तक एक एक व्यक्ति कहता है संपूर्ण पुस्तकोंमें जो पुस्तकपना है उसे सामान्य कहते हैं। परवादी पुस्तक व्यक्तियोंसे पुस्तकरब सामान्यको सर्वथा पृथक्

कथिज्वत्, सर्वेषा वा ? सर्वेषा चेत्; नः सर्वेषा व्यक्त्यव्यतिरिक्तस्यास्य व्यक्तिस्वक्ष्यवद्वधक्त्यन्तरा-ननुगमतः सामान्यक्षतानुपपतः । कथिज्वत्पश्चस्त्वनम्युगमादेवायुक्तः । नावि व्यक्तिरूपो हेतुः; तस्यासाधारण्यवेन गमकत्वायोगात् । नाप्युअयं परस्पराननुविद्धमः; उभयदोषप्रसङ्कात् । नाप्यनुअयपः; प्रस्योन्यव्यवच्छेदक्षपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनुभयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात् । ततः पदार्थान्तरा-नुवृत्तव्याश्चतक्षमात्मानं विश्ववेकमेवार्थस्वक्षपं प्रतिपत्तुर्भेदाभेदप्रस्ययप्रसूतिनिवन्धनं हेतुत्वेनोपादीय-मानं तथाभृतसाध्यसिद्धिनिवन्धनमम्युगमन्तव्यम् ।

किंच, एकांतवाशुप्त्यस्तहेतोः कि सामान्यं साध्यम्, विशेषो वा, उभयं वा, प्रनुभयं वा ? न तावत्सामान्यम्; केथलस्यास्यासम्भवादर्यक्रियाकारित्वविकलत्वाच्च । नापि विशेषः, तस्याननुयायितया

एवं एक मानते हैं, ऐसे ही मनुष्य घट पट म्नादि यावन्मात्र पदार्थोमें घटित करता] मिन्न सामान्य व्यक्तिके स्वरूप समान मन्य व्यक्तिमें गमन नहीं कर सकतेसे उस सामान्यकी सामान्यक्षिता समान्त हो जाती है। कथंचित् प्रभिन्न कहनेका पक्ष तो म्नस्वीकृत होनेके कारण म्रयुक्त है। हेतु क्यिक्तरूप प्रयांत् विशेषरूप होता है ऐसा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यक्तिरूप हेतु असाधारण होनेके कारण साध्यका गमक नहीं हो सकता। उभयक्ष्य हेतुको मानना भी गलत है, क्योंकि आपके यहां सामान्य भीर विशेष परस्परमें असंबद्ध है श्रतः उभयदोष—दोनों—सामान्य विशेष पक्षके दोषोंका प्रसंग आता है। हेतुको अनुभयस्प स्वीकार करनेका चौथा विकल्प भी नहीं बनता जो एक दूसरे का व्यवच्छेद करके रहनेवाले धर्म हैं उनका एकका स्नभावमें दूसरेका विधान स्रवश्य होता जाता है, अतः अनुभय [सामान्य भी नहीं म्रोर विशेष भी नहीं] रूप धर्मका असस्व हो है इसिलये उसमें हेतुपना नहीं हो सकता। अतः ऐसा स्वीकार करना चाहिये कि जो सन्य पदार्थोंसे सनुद्वत तथा व्याद्यतस्वरूप स्रपनेको धार रहा है तथा ज्ञातापुरुषके भेद और सभेद ज्ञानोत्पत्तिका निमित्त है उसको हेतु बनाने पर हो तथाभूत साध्यकी सिद्धि हो सकतो है, अर्थात् जिस हेतुमें सनुद्वत व्याद्यत्त स्वरूप सामान्य विशेष रूप अनेकाल्यक हो वही स्वसाध्यकी सिद्धि करता है।

किंच, एकांतपक्षवाले परवादी द्वारा उपस्थित किये गये हेतुका साध्य भी किस प्रकार का होगा, सामान्य या विशेष, उभय या अनुभय ? केवल सामान्यरूप साध्यका होना प्रशक्य है क्योंकि न इसप्रकारकी वस्तु है और न ऐसेमें अर्थिकयाकारी-पना संभव है। विशेषरूप वस्तुको साध्य बनाना भी ठीक नहीं, क्योंकि वह अन्यत्र हेरवऽव्यापकस्य साम्रायतुमशक्तः। नाप्युभयम्, उभयदोवानतिवृत्तेः। नाप्यनुभयम्, तस्यासतौ हेरब-व्यापकरवेन साम्यरवायोगात्।

ष्रमुयायी नहीं होनेसे हेतुमें अव्यापक है अतः उसको सिद्ध करना ष्रशस्य है। उमय-सामान्य और विशेषको साध्य बनावे तो उभय पक्षके दोष श्रायेंगे। अनुभय तो असत् रूप ही है वह हेतुमें किसीप्रकार भी व्याप्त नहीं हो सकता, ग्रतः उसमें साध्यपनेका अयोग ही है। इसप्रकार हेतुके लक्षणमें विचार करनेपर निश्चय हो जाता है कि जो साध्यका अविनाभावी हो बही वास्तिषक हेतु है अतः साध्याविनाभावित्व ही हेतुका लक्षण है, यौगाभिमत पांचरूप्य लक्षण ग्रसमीचीन है।

।। समाप्त ।।



## हेतु के पंचरूपता के खण्डन का सारांश

नैयायिक वैशेषिक हेत् के पांच ग्रंग बतलाते हैं पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्ष व्यावृत्ति, ग्रबाधित विषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व, इन पांच को न मानने से पांच दोष ग्राते हैं पक्षधर्मस्व के ग्रभावमें श्रसिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्व के ग्रभाव में विरुद्ध, विपक्ष व्यावृत्ति के ग्रभाव में ग्रनेकान्तिक, ग्रबाधित विषयत्व के ग्रभाव में कालात्ययापदिष्ट ग्रीर ग्रसत्प्रतिपक्षत्व के अभाव में प्रकरणसमनामक दोष ग्राता है, किन्तू यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि हेतु में साध्याविनाभावित्व गुण एक ही ऐसा है कि उसके सद्भाव होने पर ग्रसिद्ध श्रादि दोष नहीं श्राते हैं। ग्रापने कहा कि यदि हेतू में पक्ष धर्मत्वगृण न होवे तो ग्रसिद्ध दोष ग्राता है यह कथन ग्रसत् है, पूर्वचरादि हेतू में पक्ष धर्मत्व नहीं है तो भी साध्य को सिद्ध करता है। ऐसे ही सपक्ष सत्व के नहीं होते हुए भी हेतुसाध्य का गमक होता है। विपक्ष व्यावृत्ति नाम का गुण तो हेतु में होना ग्रावश्यक है किन्तू जब उसमें साध्याविनाभावित्व है तो नियम से विपक्ष से व्यावृत्त गुण युक्त होता है अतः इसका पृथक् रूप से प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं रहती । म्रबाधित विषयत्व और म्रसत् प्रतिपक्षत्व गुण भी हेतु की महत्ता बढ़ाने वाले नहीं हैं, क्योंकि ये गूण रहते हुए भी अविनाभावत्व के बिना वह हेतू साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। हेतु का जो अबाधित विषयत्व गुण माना है वह निश्चित है कि नहीं ? निश्चित होना ग्रशक्य है क्योंकि इसमें किसी काल में किसी स्थान पर भी बाधा नहीं भ्रावेगी ऐसा श्रल्पज्ञ को ज्ञान होना अशक्य है। श्रसत्प्रतिपक्षत्व की कल्पना करना भी व्यर्थ है, म्रांतिम यही निष्कर्ष होना है कि हेतू का लक्षण "साध्याबिना-भावित्व" ही है उसीसे साध्य की सिद्धि होती है।

> अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र कि तत्र पञ्चिभः। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र कि तत्र पञ्चिभः।।

> > ॥ समाप्त ॥



यच्चान्यदुक्तंम्—"प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविषमनुमानं पूर्वचच्छेषवत्सामान्यतो रूटं च।" [न्याय सू० ११११४ ] इति । तत्र पूर्ववच्छेषवत्केवलान्विय, यया सदसद्वगंः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकस्वात् पंचांगुलवत् । पंचांगुलव्यतिरिक्तस्य सदसद्वगंस्य पक्षीकरणादन्यस्याभावाद्विपक्षाभावः, ग्रत एव व्यतिरेकाभावः । पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टम् केवलव्यतिरेकि, यया सात्मक जीवच्छरीरं प्रास्मादिमस्वा-

अनुमान प्रमाणके विषयमें यौगका कहना है कि "प्रत्यक्ष पूर्वकं त्रिविष मनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च" अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है उसके तीन भेद हैं – पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट । वृक्तिकार इनके नामों का विभाजन इस प्रकार करते हैं — पूर्ववत् शेषवत् केवलान्वयी, पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकी और पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टअन्वयव्यतिरेकी । इनका कमशः विवरण करते हैं — अनुमानमें सबसे पहले जिसका प्रयोग होता है उसे पूर्व अर्थात् पक्ष कहते है, जिसका अंतमें प्रयोग हो वह शेषवत् अर्थात् हृष्टांत है, साधनसामान्य की साध्य सामान्य के साथ व्याप्ति होना "सामान्यतो दृष्ट" कहा जाता है । पूर्ववत् शेषवत् केवलान्वयी अनुमानका उदाहरण – सद्वर्ग – सत्ताभूत द्रव्य गुणादि, असत् वर्ग – अभाव रूप प्राग भावादि ये सभी किसी एक पुरुषके ज्ञानके आलंबनरूप हैं व्योक्ति अनेक हैं, जैसे पांच अंगुलियां अनेक होनेसे एक पुरुषके ज्ञानका आलंबनभूत हैं । इस अनुमान में प्रथम प्रयुक्तपक्ष शेषमें प्रयुक्त हृद्दांत एवं केवल अन्वयव्याप्ति पायी जाती है । अतः इसे पूर्ववत्शेषवत् केवलान्वयी कहते हैं । इस अनुमान में पांच अंगुलियों के अतिरिक्त सभी सत् असत् भूत पदार्थों का पक्षमें संग्रह हो जानेसे विपक्षभूत पदार्थं शेष नहीं रहता इसीलिये व्यतिरेकका अभाव है इसी वजह से केवलान्वयी अनुमान कहलाता है ।

दिति । पूर्वबच्छेषवस्सामान्यतोऽहष्टमन्वयभ्यतिरेकि, यथा विवादास्पदं तनुकररणभुवनादि बुद्धिम-स्कारणं कार्यंत्वादिम्यो घटादिवत् । यस्पुनर्बुद्धिमत्कारणं न भवति न तत्कार्यस्वादिघर्माधारो यथास्मादिः' इति ।

तदप्येतेन प्रश्याख्यातम्; सर्वत्रान्यथानुपपन्नत्वस्येव हेतुलक्षागतोपपत्तेः, तस्मिन्सय्येव हेतोर्गमक-त्वप्रतीतेः।

पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकी अनुमान — जीवित शरीर आरमा सिहत है, क्यों कि श्वास आदि प्राण पाये जाते हैं । इसमें केवल व्यतिरेक ही पाया जाता है अतः केवलव्यतिरेकी अनुमान कहलाता है । पूर्ववत् शेषवन् सामान्यतोदृष्टअन्वयव्यतिरेकी अनुमान — विवाद प्रस्त, शरीर, पृथ्वी, पर्वतादि पदार्थ बुद्धिमान कारणयुक्त होते हैं क्यों कि कार्यत्वादि स्वस्था होते हैं क्यों कि कार्यत्वादि स्वस्था होते हैं को बुद्धिमान कारण युक्त होते हैं जो बुद्धिमान कारण युक्त होते हैं को क्यां कार्या युक्त भी नहीं होते वे कार्यत्वादि धर्म युक्त भी नहीं होते के कारण बुद्धिमान कारण पूर्वक नहीं हैं । इसमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों पाये जाते हैं अतः केवलान्वय व्यतिरेकी अनुमान कहलाता है।

विशेषार्थ — न्याय दशंनमें अनुमानके तीन भेद माने हैं — केवलान्वयी, कंवलल्यितिरेकी ग्रीर केवलान्वयव्यतिरेकी, इनका विस्तृत नाम विभाजन — पूर्ववत् शेषवत् केवलान्वयं, पूर्ववत् सामान्यतीदृष्ट केवलव्यतिरेकी, ग्रीर पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतीदृष्ट केवलव्यतिरेकी, ग्रीर पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतीदृष्ट केवलान्वयव्यतिरेकी। ग्रनुमान के पांच ग्रवयवोंमें से [पक्ष, हेतु, दृष्टांत, उपनय ग्रीर निगमन] सर्व प्रथम जिसका प्रयोग हो वह पक्ष "पूर्व" कहलाता है यह प्रत्येक ग्रनुमानमें पाया जाने से सभी अनुमान पूर्ववत् हैं। शेषवत् शब्दसे यद्दां पर दृष्टांत प्रथं इष्ट है ग्रीर "सामान्यतीदृष्ट" पदका ग्रयं है साधन सामान्यक साध्य-सामान्यके साथ व्यास रहना। जिसमें अकेली ग्रन्वयव्यास पायी जाय उसे केवलान्वयी अनुमान कहते हैं, तथा जिसमें ग्रकेली व्यतिरेकव्याप्ति पायी जाय उसे केवल व्यतिरेकी ग्रनुमान एवं जिसमें उभय व्याप्ति हो उसे केवला वयव्यतिरेकी ग्रनुमान कहते हैं। न्याय दर्शनका प्रमुख ग्रंथ गौतम ऋषि प्रणीत न्याय मूत्र के "प्रत्यक्ष पूर्वकं त्रिविध मनुमानं पूर्ववच्छेववत् सामान्यतोदृष्ट च ॥११११॥ ग्रथमें विविध मतभेद हैं— भाष्यकार के मतानुसार जब कारणसे कार्यका अनुमान करते हैं उस अनुमानको

केवलात्वयिनो हि यदान्ययानुपपन्नत्वं प्रमारणनिश्चितमस्ति, किमन्वयाभिधानेन ? प्रयान्वया-भावे तदभावस्तदनिद्चयो वेति तदभिधानम्; स्यादेतत् यद्यविनाभावस्तेन व्याप्तः स्यात्, प्रव्यापक-निवृत्तेरव्याप्यनिवृत्तावतिप्रसङ्गात् । व्याप्तस्वेत्; तद्दि प्रार्णादौ तन्निवृत्तावविनाभावनिवृत्ते रगमकत्वं स्यात् । न खलु यद्यस्य व्यापकं तत्तदभावे भवति वृत्रत्वाभावे शिश्चपात्ववत् । गमकत्वे वास्य नान्वये-

"पूर्ववत्" कहते हैं, कार्यसे कारणका अनुमान करना "शेषवत्" कहलाता है, शेषका अर्थ अवशिष्ट होनेवाला, अतः परिशेष्यात् अनुमान करने पर शेषवत् माना जा सकता है, शवद अनित्य है, क्योंकि वह सामान्य आदि नित्य पदार्थं ए नहीं है, द्वय तथा कर्म- रूप भी प्रतीत नहीं होता अतः पारिशेष्यसे गुरारूप ही नियमित हो जाता है इत्यदि । इस प्रकार सबके अंतमें जो बाकी बचता है उसका प्रतिपादक शेपवत् अनुमान है । सामान्यतोष्ट्य अनुमान बहां होता है जहां वस्तु विशेषकी सत्ताका अनुभव न होकर उसके सामान्यरूप का ही परिचय प्राप्त हो । तथा अन्वयमुखसे प्रवृत्त होनेवाला पूर्ववत्, व्यतिरेक मुखसे प्रवृत्त शेपवत् एवं उभयरूप प्रवृत्त होनेवाला सामान्यतोष्ट्य अनुमान है ऐसी उक्त न्यायसुत्रकी व्याख्या करते हैं । अस्तु ।

उपर्युक्त परवादीका मंतव्य भी हेनुके पांचरूप्य या द्रैरूप्य लक्षणवत् खंडित हुम्रा समभ्रता चाहिये । चाहे पूर्ववत् अनुमान नाम घरे या घोषवत् सभी म्रनुमान तभी सिद्ध हो सकते हैं जब अन्यथानुपपन्न हेतुका लक्षण उनमें हो, उसके होने पर ही हेतु स्वसाध्यका गमक होकर अनुमानकी प्रसिद्धि कर सकता है ।

तथा केवलान्वयी अनुमान में अन्यथानुपपन्नत्व [साध्यके विना साधनका नहीं होना] प्रमाण द्वारा निश्चित है तो अन्वयका कथन करनेसे क्या प्रयोजन होगा ?

यौग---ग्रन्वयका कथन किये विना संगय रहता है कि ग्रविनाभावका ग्रभाव है या उसका ग्रनिश्चय है ग्रथीत् जहां जहां हेतु होता है वहां वहां साध्य ग्रवश्य होता है इत्यादि ग्रन्वयव्याप्ति सहित हल्टांत के बिना अविनाभाव ज्ञात नहीं होता, ग्रतः अन्वयका कथन करते हैं?

जैन-- ठीक है, यदि अविनाभाव अन्वयके साथ व्याप्त हो तो उक्त कथन सत्य हो सकता है, अन्यथा भ्रव्यापककी निवृत्तिसे भ्रव्याप्यकी निवृत्ति मानने से अति-प्रसंग प्राप्त होगा। नासी क्याप्तः स्यात् । यदभावे हि बद्भवित न तत्ते न व्याप्तम् यथा रासभाभावे भवन्थूमादिनं तेन व्याप्तः, भवति चान्वयाभावेपि तदिवनाभाव इति ।

सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकत्वान्' इत्ययं च हेतुः कुतः केवलान्ययो ? व्यतिरेका-भावाच्चेद्ः प्रयमपि कुतः ? तद्विषयस्य विपक्षस्याभावाच्चेद्ः प्रय कोयं विपक्षाभावः-पक्षसप्कावेव,

भावार्थ — अनुमानमें अन्वयका कथन इसलिये करते हैं कि उसके बिना स्रविनाभावका निश्चय नहीं हो पाता ऐसा परवादी ने कहा तब आजार्य कह रहे कि अन्वयकी और प्रविनाभावकी परस्परमें व्याप्ति होवे तो ऐसा मान सकते हैं अन्यथा नहीं, किन्तु इन दोनोंकी बुक्षत्व और निवत्व कारण और कार्य आदिके समान परस्परमें व्याप्ति नहीं है। वृक्षत्व एव व्यापक के हटते ही निवत्वरूप व्याप्य हटता है ग्रतः इनमें व्याप्तिका रहना संमत ही है, किन्तु अन्वय और अविनाभाव तो अव्यापक अव्याप्यरूप है सर्वात् अन्वयायके हटते ही अविनाभाव हट जाता हो ऐसा नहीं है फिर भी एकके निवृत्तिसे दूसरे की भी निवृत्ति व्यर्थ ही मानी जाय तो अतिप्रसंग उपस्थित होगा— चाहे जिस पदार्थ के हटने पर उससे अव्याप्त असंबद्ध ऐसे चाहे किसी पदार्थका हटना भी मानना होगा घट के हटते ही पटका हटना भी मानना होगा, इस तरह अव्यापकके निवृत्तिसे अव्याप्यकी निवृत्ति माननेका अतिप्रसंग ग्राता है।

यदि हटाग्रह से अन्वय श्रीर अविनाभावकी व्याप्ति माने अर्थात् अन्वयके अभावमें अविनाभाव नहीं रहना ऐसा स्वीकार करे तो प्राणादिमस्व हेनुवाले अनुमानमें अन्वय नहीं होनेके कारण अविनाभावस्व भी नहीं रहेगा श्रीर इस तरह प्राणादिमस्व आदि प्रसिद्ध हेनु अगमक ठहरेंगे। अभिप्राय यह है कि यह जीवित शरीर आस्मायुक्त है क्योंकि श्वास लेना आदि प्राणादिमान है, जो प्राणादिमान नहीं होता वह आस्मयुक्त भी नहीं होता जैसे पाषाणादि । इस अनुमानमें अन्वयका लेश भी नहीं है तो भी साध्य साधनका अविनाभाव मौजूद है अतः अन्वयसे ही अविनाभाव संबंध हो ऐसा कथन असत् सिद्ध होता है। प्राणादिमस्व आदि हेनु अन्वयके नहीं रहते हुए भी गमक हैं ऐसा सभी वादी परवादी स्वीकार करते हैं अतः ये हेनु अन्वयके नहीं रहते हुए भी गमक हैं ऐसा सभी वादी परवादी स्वीकार करते हैं, इसीलिये अन्वय श्रीर अविनाभावको परस्परमें व्याप्ति माननेसे जो हेनु अन्वय रहित हैं उनको आगमक होनेका प्रसंग आता है।

निवृत्तिमात्रं वा ? प्रथमपक्षे परमतप्रसङ्गः श्रभावस्य भावान्तरस्वभावतास्त्रोकारात् । द्वितीयपक्षे तु स तथाविधः प्रतिपक्षः, न वा ? न प्रतिपन्नश्चेत्; तर्हि विपक्षाभावसन्देहादृव्यतिरेकाभावोपि सन्दिष इति कैवलान्वयोपि ताश्येव । श्रथं प्रतिपन्नः; स यदि साध्यनिवृत्या साधननिवृत्याधारः प्रतिपन्नः; तर्हि स एव विपक्षः, कथं विपक्षाभावो यतो व्यतिरेकाभावः ? साध्यसाधनाभावाधारतया निदिचतस्य

जो जिसका व्यापक होता है वह उसके अभावमें होता हो ऐसा तो देखा नहीं जाता, क्या वृक्षत्वरूप व्यापकके अभावमें शिश्रपारूप व्याप्य होता है? अर्थात् नहीं होता । ख्रतः यदि वृक्षत्वादि व्यापक हेतु तथा प्राणादिमत्व ब्रादि हेतु जो कि अन्वय रहित हैं उनको गमक मानना इष्ट है तो अविनाभावके साथ अन्वयकी व्याप्ति नहीं है ऐसा ही स्वीकार करना होगा । क्योंकि जो जिसके अभावमें होता है वह उसके साथ व्याप्त होकर नहीं रहता, जैसे गर्दभके अभावमें भूम होता है अतः उसके साथ व्याप्त नहीं है, अन्वयके अभावमें भी अविनाभाव पाया जाता है अतः उसके साथ व्याप्त नहीं है, अन्वयके अभावमें भी अविनाभाव पाया जाता है अतः उसके साथ व्याप्त नहीं है।

सद् असद् वर्ग (सद्भावरूप पदार्थ और अभावरूप पदार्थ) किसी एक पुरुषके ज्ञानके आलंबनभूत हैं क्योंकि अनेक हैं, ऐसा केवलात्वयी अनुमान उपस्थित किया जाता है सो इसका अनेकत्वहेतु किसी कारणसे केवल अन्वय सिंहत है ? व्यतिरेकका अभाव होने से कहो तो व्यतिरेकका अभाव भी किस कारणसे है ? व्यतिरेकके विषयभूत विपक्षका अभाव होनेसे व्यतिरेक नहीं पाया जाता ऐसा कहे तो यह विपक्षाभाव क्या है इस पर विचार करना होगा—केवल पक्ष और सपक्ष होना विपक्षाभाव है प्रथम निवृत्तिमात्र विपक्षाभाव है ? अर्थात् विपक्षका अभाव भावांतरूप है अथवा सर्वथा अभाव—नुच्छाभावरूप है , अथवा सर्वथा अभाव—अभावको भावांतर स्वभाववाला स्वीकार कर लिया। दूसरा पक्ष—नुच्छाभावरूप निवृत्तिमात्रको विपक्षाभाव माने तो प्रश्न होता है कि इस तरह का विपक्षाभाव आत है कि नहीं ? यदि ज्ञात नहीं है तो विपक्षाभावमें संदेह होनेसे व्यत्तिरेकमें भी संदेह बना रहेगा और इस तरह की संदिग्ध अवस्थामें केवल अन्वय भी संदेहास्पद ही रहेगा। विपक्षका अभाव ज्ञात है ऐसा माना जाय तो यहां साध्यकी निवृत्तिसे साधनकी निवृत्ति हुई इस प्रकार आधार ज्ञात हो चुका है तो इसीको विपक्ष कहते हैं ? फिर

विपक्षत्वात् । तच्च भाववदभावस्यापि न विरुध्यते, कथमन्यया 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनम्' इस्यनासन् पक्षः स्यात् ? प्रसन् पक्षो भवति न विपक्ष इति किकृतो विभागः ? भ्रयाऽसद्वर्गग्रन्देन सामान्यसमवायान्त्यविशेषा एवोच्यन्ते, नाभावः; तहि तद्विययं ज्ञानं न कस्यचिदनेन प्रसाधितमिति सुक्यवस्थितम् ईश्वरस्याखिलकार्यकारणसामपरिज्ञानम् ! प्रागभावाद्यज्ञाने कार्यस्वादेरप्यज्ञानात् ।

विपक्षका ग्रभाव कैसे हुग्रा जिससे कि व्यतिरेकाभाव सिद्ध हो सके ? क्योंकि साध्य-साधनके ग्रभावका ग्राधाररूपसे निश्चित हुआ ही विपक्ष है। वह विपक्ष सद्भावके समान ग्रभावरूप भी होता है इसमें कोई विरोध नहीं अन्यथा "सद् ग्रसद् वर्ग एकके ज्ञानका ग्रालंबनभूत है" इत्यादि अनुमानमें ग्रसद्वर्ग रूप पक्ष ( पक्षका एक देश ) ग्रभावरूप कैसे हो सकता था ? पक्ष तो ग्रभावरूप हो सकता है ग्रीर विपक्ष ग्रभावरूप नहीं हो सकता ऐसा विभाग किस कारएगेसे संभव है ?

योग—— ग्रसद्वर्ग शब्दने यहां पर सामान्य, समवाय ग्रौर ग्रंत्यविशेषका ग्रहण किया जाता है ग्रभाव का नहीं ?

जैन — तो फिर इस ग्रनेकत्व हेतुवाले अनुमान द्वारा ग्रभावरूप पदार्थका ज्ञान नहीं होता यही बात प्रसिद्ध हुई, इस तरह तो ग्रापके ईश्वरके सकल कार्य कारण समूहका ज्ञान होना भली भांति सिद्ध होता होगा ? अर्थात् कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता वर्योक्त प्रागभाव ग्रादि अभावरूप पदार्थ उसके द्वारा अज्ञात है ऐसा उक्त प्रमुमान सिद्ध कर रहा है और प्रागभावादि ग्रज्ञात है तो कार्यत्वादि हेतु भी अज्ञात ही रहेंगे। अभिष्राय यह है कि संपूर्ण सत् ग्रसत् पदार्थोंका ज्ञान एक ईश्वरके ही है ऐसा ग्रनेकत्व हेनुवाले अनुमान द्वारा मिद्ध करना योगको ग्रभीष्ट था किन्तु यहां ग्रभावरूप पदार्थ उक्त अनुमानमें समाविष्ट नहीं है ऐसा योगने कहा ग्रतः आचार्य उपहास करते हैं कि इस तरह ग्रभावके ग्रज्ञात रहने पर कार्यकारणभाव भी ग्रज्ञात हो जाता है ग्रौर फिर ग्रापके ईश्वरके अखिल कार्य कारणोंका परिज्ञान सुव्यवस्थित होता है, यह उभय कथन तो हास्यास्पद ही है।

दूसरी बात यह है कि अनेकत्व हेतु वाले इस अनुमानमें अभावको पक्ष और सपक्षसे बहिभूंत किया जाय तो इसीसे अनेकत्वादि हेतु व्यभिचरित होते हैं, क्योंकि अभावरूप पदार्थ प्रागभाव आदि अनेक भेदरूप होने पर भी किसी एकके ज्ञानका आखंबनभूत होना स्वीकार नहीं किया। यदि स्वीकार करते है तो अभावका पक्षमें किंच, यद्यभावोऽत्र पक्षसपक्षाभ्यां बहिर्भूतः; तद्यं नेनानेकत्वादित्यनैकान्तिको हेतुः, तदनेक-त्वेषि कस्यविदेकज्ञानावलस्वनत्वानभ्युपगमात् । प्रभ्युपगमे वा कषमभावो न पक्षः ? तथा विपक्षो-प्यस्तु । नन्वेवं विपक्षाभावोषि तदालस्वनिमिति पक्ष एव स्यात्, तथा च पुनरिष विपक्षाभाव एव इति चेतुः तर्हि पुनरिष तदेव चोद्यम्—कोयं विपक्षाभाव इति ? यदि पक्षसपक्षावेवः भावाद्भिभस्या-भावस्याभावः ।

श्रय तुच्छा विपक्षतिवृत्तिस्तदभावः सोपि यद्यप्रतिपन्नस्तिहं सन्दिग्दः । तस्तस्देहे च व्यतिरेका-भावीपि ताहमेवेति न निश्चितः केवलान्वयः' इत्यादि तदवस्यं पुनः पुनरावत्तेते इति चक्रकप्रसंगः ।

समावेश कैसे नहीं हुम्रा ? ग्रवश्य हुआ । तथा ग्रभाव पक्षांतर्गत है तो जो तुच्छाभाव-रूप ग्रभाव है वह विपक्ष है ऐसा भी स्वीकार करना होगा ।

यौग — यदि तुच्छाभावरूप ध्रभावको विपक्ष माना जाय तो विपक्षाभाव भी पूर्वोक्त ज्ञानका ग्रालंबन होनेसे पक्षांतर्गत होगा श्रीर ऐसा होनेसे उक्त अनुमानमें विपक्षका ग्रभाव फिर भी होगा ही ?

जैन—ऐसी वात है तो पुनः वही प्रश्नावली उपस्थित होगी कि यह विपक्षा-भाव कौन है ? यदि पक्ष और सपक्षको ही विपक्षाभाव कहते हैं तो भावांतर स्वभाव-वाला अभाव है ऐसा निर्णय होनेसे 'ग्रभाव सर्वथा सद्भावसे भिन्न ही है' ऐसा सिद्धांत (यौगका) विघटित हो जाता है।

यौग-विपक्षकी निवृत्ति तुच्छ है उसीको विपक्ष का अभाव कहते हैं ?

जैन—यह विपक्षका प्रभाव भी यदि अज्ञात है तो संदेह की कोटिमें जाता है और उसके संदिग्ध रहनेपर व्यतिरेकका ग्रभाव भी उसी जातिका ठहरता है, व्यतिरेकाभाव के ग्रनिश्चयमें केवलान्वय भी निश्चित नहीं होता इस तरह वही वही प्रश्नका चक्कर उपस्थित होनेसे ग्रंथ चक्क ग्रथात् वही बात प्रमकर बार बार ग्राना रूप दोष ग्राता है। ग्रतः केवलान्वयीरूपसे स्वीकार किये हुए अनुमानमें विपक्षाभाव ही तुच्छ विपक्ष है ऐसा सिद्ध होता है, जब विपक्ष ऐसा है तो साध्य निवृत्तिसे साधन की निवृत्ति होना सिद्ध ही है फिर उक्त अनुमानमें व्यतिरेक सद्भाव किस प्रकार नहीं है है है ही। इसीलिये ग्रविनाभावका एवं उसके परिज्ञानका प्राग्णदिमस्य ग्रादि व्यतिरेकी हेतु वाले ग्रनुमानमें सद्भाव सिद्ध होता है, फिर ग्रापके केवलान्वयी ग्रनुमानसे क्या

ततः केवलान्वयित्वेनाम्युपगतस्य विपक्षाभाव एव तुच्छो विपक्षः। ततः साध्यनिवृत्त्या साधनिवृत्ति-रचेति कथं न व्यतिरेकः ? अत एवाविनाभावस्य तत्परिज्ञानस्य च प्राह्मादिमत्त्ववद्भावातिकमन्वयेन ?

स्रष विपक्षाभावस्थापादानत्वायोगान्न ततः साध्यसाधनयोध्यािनृत्तिः; तन्नः; 'भावः प्रागभावा-विभयो भिन्नस्ते वा परस्परतो भिन्नाः' इत्यादाक्ष्यभावस्थापादानत्वाभावप्रसङ्गात् सर्वेषां साङ्क्यँ स्यात ।

किंच, ग्रन्वयो व्याप्तिरभिषीयते । सा च त्रिषा-बहित्याप्तिः, साकल्यव्याप्तिः, श्रन्तव्याप्तिःचेति । तत्र प्रथमव्याप्तौ भग्नघटव्यतिरिक्तः सर्वे क्षिएकं सत्त्वात्कृतकत्त्वाद्वा तद्वत्, विवादापन्नाः प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वास्त्वप्नप्रत्ययवत्, ईृदवरः किञ्चिज्ञो रागादिमान्वा वस्तुत्वादिम्यो रथ्या-

प्रयोजन सधता है ? ग्रर्थान् केवलान्वयी अनुमानमें व्यतिरेकके बिना साध्य सिद्धि की शक्ति नहीं होनेसे उसकी मान्यता व्यर्थ ही ठहरती है। उपरोक्त रीत्या यह भलीभांति सिद्ध होता है कि प्रविनाभाव अन्वयके साथ व्याप्त नहीं है। अतः केवलान्वयी अनुमानका पृथक्करण् व्यर्थ है।

यौग — विपक्षाभाव श्रपादान योग्य नहीं होने के कारण अर्थात् विपक्षात् व्यावृत्तिः विपक्षाभावः ऐसा विपक्षाभाव पदका अर्थ संभव नहीं, क्योंकि स्रभाव तुच्छ है इसलिये उससे साध्य साधनकी व्यावृत्ति होना शक्य नहीं ?

जैन — यह कथन अयुक्त है, सद्भाव प्रागभावादिसे भिन्न है ग्रथवा प्रागभावादि आपसमें भिन्न है इत्यादिरूप सिद्धांत अन्यथा असत्य साबित होगा। क्योंकि उसमें भी मानना होगा कि अभाव का अपादान शक्य नहीं है, और इस प्रकार अभाव अपादानके योग्य नहीं होनेसे सद्भाव और अभावरूप संपूर्ण पदार्थोंका सांकर्य हो जावेगा।

किञ्च, व्याप्तिको ग्रन्थय कहते हैं, वह व्याप्ति तीन प्रकारकी है – बहिव्यांति साकत्यव्याप्ति और ग्रन्तव्यांप्ति। इन तीन व्याप्तियोंमें से ग्रन्थव्याप्तिका ग्रथं बहिव्याप्ति किया जाय तो ''भग्न घटके ग्रतिरिक्त सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि सब सत्त्वरूप हैं अन्यथा कृतक हैं, जैसे भग्न घट सत्त्वरूप था। विवादग्रस्त ग्रविलज्ञान निरालंब (विना पदार्थके) होते हैं क्योंकि वे ज्ञानरूप हैं जैसे स्वप्नका ज्ञान निरालंब होना है। ईश्वर ग्रत्यज्ञ है, क्योंकि रागादिमान है ग्रथवा बोलता है, जैसे रथ्यापुरुष पुरुषवत्' इस्यादेगेमकस्यं स्यात् केवलान्वयस्यात्र सुलभत्वात् । नतु सर्वं न सत्त्वादिकं क्षाणिकस्यादिनाः व्यासम् स्रात्मादौ क्षाणिकत्त्वाद्यसत्वात्; तन्तः; तदसत्त्वे तत्रार्षक्रियाऽसत्त्वात् सत्त्वं न स्यात् ।

किन, घटादिच्छान्ते सस्व।दिकं क्षस्यक्षयादौ सति हष्टमपि यदि क्वचित्तदभावेपि स्यान्न तर्हि बहिर्म्याप्तिरन्वयः, लक्षसमुद्रके वाघासम्भवे तल्लक्षसम्भवे दृषितं स्यात् ।

मय सकलस्याप्तिरत्वयः; ननु केयं सकलस्याप्तिः? 'ख्टांतर्धामिणीव साध्यधमिण्यत्यत्र च साध्येत साधनस्य व्याप्तिः सा' इति चेत्; सा कुतः प्रतीयताम् ? प्रत्यक्षतः, श्रनुमानाद्वाः ? प्रत्यक्षत्वत्वेत्; किमिन्द्रियात्, मानसाद्वाः ? न ताबदिन्द्रियात्; चलुरादैरिन्द्रियस्य सकलसाध्यसाधनार्थसन्तिकवंबैधुर्ये तदनुषपत्ते : । न हि तद्वं धुर्ये तद्कुतम् "इन्द्रियार्थसन्तिकवंदिपन्तमभ्यपदैश्यमऽस्यमिचारि व्यवसायात्मकं

रागादिमान होनेसे ग्रन्पज्ञ है। इत्यादि श्रनुमानस्य हेतु स्व स्व साध्यके गमक हो लायेंगे १ क्योंकि इतमें बहिर्ध्याप्तिवाला केवलान्वय मौजूद है १

यौग—सभी सत्त्वादिरूप पदार्थ क्षणिकत्वके साथ व्याप्त नहीं हैं, कहीं क्षणिकत्वके बिना भी सत्त्वादिरूप पदार्थ मिद्ध है अर्थात् घट आदिकी क्षणिकत्वके साथ व्याप्त होनेपर भी आत्मादिकी तो नहीं होती !

जैन-—ऐसा नहीं है, यदि ग्रात्मादि पदार्थोमें क्षणिकत्वका सर्वधा निषेध (ग्रभाव) किया जाय तो ग्रर्थिकयाका ग्रभाव होनेसे उनका अस्तित्व ही समाप्त होवेगा।

तथा घट घादि इष्टांतभूत पदार्थीमें सत्त्वादि हेतु क्षणक्षयादिके साथ रहते हुए दिखायो देने पर भी यदि कहीं क्षणक्षयके ग्रभावमें भी मत्त्वादि पाया जाय तो बहिर्ध्याप्तिरूप घन्वय का लक्षण घटित नहीं होगा, क्योंकि लक्षणयुक्त बस्तुमें (हेतुमें) यदि वाधा संभावित है तो उसका मतलब लक्षण ही दूषित है।

ग्रन्वय सकलव्याप्तिरूप होता है ऐसा दूसरा पक्ष स्वीकार करे तो प्रश्न होता है कि सकलव्याप्ति किसे कहते हैं ?

यौग—हष्टांतभूत घर्मीके समान साध्यधर्मीमें और ग्रन्यत्र भी साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति घटित होना सकल व्याप्ति कहलाती है।

जैन—ग्रन्छा तो यह व्याप्ति किस प्रमाणसे प्रतीत होती है प्रत्यक्षसे या अनुमानसे ? प्रत्यक्षसे कहो तो इन्द्रियप्रत्यक्षसे अथवा मानसप्रत्यक्षसे, इन्द्रिय प्रत्यक्षसे ज्ञानं प्रत्यक्षम्" [न्यायम्० १।१।४ ] इत्यभिघानात् । तस्य तत्सन्तिकर्षे वा प्रारिणमात्रस्याञेषज्ञत्व-प्रसङ्कान्न कश्चिदीश्वराद्विजेष्येत ।

ननु साध्यसाधनयोः साकत्येन ग्रहणुं सकलव्याप्तिग्रहणुष् । साध्यं चाग्निसामान्यं साधनं च षूमसामान्यम्, तयोदचानवयवयोरेकत्रापि साकत्येन ग्रहणुमस्ति, विशेषप्रतिपत्तिस्तु सर्वत्र पक्षधमंता-बलादेवेति चेत्; तर्हि क्षणिकत्वादि साध्यम्, सत्त्वादि साधनम्, तयोदचानवयवयोः प्रदीपादौ सह-दशैनादेव सकलव्याप्तिग्रहः किन्न स्यात् ? मानसप्तत्यक्षादपि व्याप्तिप्रतिपत्तावयमेव दोषः । तन्न प्रत्यक्षतः सकलव्याप्तिग्रहः । नाप्यनुमानतोऽनवस्थाप्तसंगात् ।

सकल व्याप्तिको जानना शक्य नहीं, क्योंकि चक्षु स्रादि इन्द्रियां संपूर्ण साध्य-साधनभूत पदार्थोंके साथ सिक्षकर्ष नहीं कर सकती ग्रतः उनसे सकल व्याप्तिका ग्रहण होना बनता नहीं। इन्द्रियोंके विषयमें उक्त बात ग्रसत् भी नहीं है—न्याय सूत्रमें कहा है कि इन्द्रिय और पदार्थके सिक्षकर्षसे उत्पन्न व्यपदेश्य रहित ग्रव्यभिचारी एवं व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं। यदि ऐसा इन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान अखिल साध्यसाधनभूत पदार्थोंका सिक्षकर्ष करता है ऐसा माने तो संपूर्ण प्राणीको सर्वज्ञ बन जानेका प्रसंग प्राप्त होगा,। फर तो किसी भी प्राणीका ईश्वरसे पृथक्करण नहीं हो सकेगा।

योग — साध्य – साधनका साकत्यरूपसे ग्रहण होना सकलव्याप्तिका ग्रहण कहलाता है। जैसे अप्निसामान्य साध्य है और धूमसामान्य साधन है इन दोनोंका एक अनुमानमें भी साकत्यरूपसे ग्रहण संभव है, हां यह बात जरूर है कि विशेषकी प्रतिपत्ति तो सर्वत्र हेतुके पक्षधर्मत्वरूप बलसे ही होती है ?

जैन — तो फिर इस तरह क्षणिकत्वादि साध्य है और सत्त्वादि साध्य है इन दोनोंका ग्रह्ण दोपकादिमें एक साथ ही हो जाता है अतः उसीसे सकलव्याप्ति का ग्रहण क्यों नहीं होता ? इसप्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्षसे सकल व्याप्तिका ग्रहण होना सिद्ध नहीं होता, ऐसे ही मानस प्रत्यक्षसे उसका ग्रहण होना माने तो यही दोष ग्राता है अतः प्रत्यक्षसे सकलव्याप्तिका ग्रहण संभव नहीं है। ग्रानुमानसे भी उसका ग्रहण नहीं होगा, ग्रानुमानकी व्याप्तिको जाननेके लिये ग्रन्य ग्रनुमान चाहिये तो ग्रन्य ग्रनुमानको व्याप्तिको कौन जानेगा ? उसके लिये पुनः ग्रन्य ग्रनुमान चाहिये इस तरह ग्रनवस्था ग्राती है।

सामान्यस्य च साध्यत्वे साधनवैफल्यम् तत्राविवादात्, व्याप्तिग्रहणुकाल एवास्य प्रसिद्धेः। कथमन्यथा सामान्यधर्मयोः साकल्येन व्याप्तिनिर्णीता स्यात् ?

साध्यत्वं चास्यासतः करणम्, सतो ज्ञापनं वा ? प्रथमपक्षे सामान्यस्यानित्यत्वाऽवर्षगतत्व-प्रसङ्गः । द्वितीयपक्षेत्यस्य दृश्यत्वे धमिवरप्रत्यक्षत्विमितं कि केन ज्ञाप्यते ? ग्रन्यया धूमस्ममान्यमध्य-विनसामान्येन ज्ञाप्येत । ग्रथं व्यक्तिसहायत्वाद्व्मसामान्यमेव प्रत्यक्षं नान्यत् ततोऽयमदोषः; नः ग्रस्य सामान्यविचारे सहायापेक्षाप्रतिक्षेतात् ।

दूसरी बात यह है कि सामान्यमात्रको साध्य बनाते है तो साधन व्यथं हो जाता है, क्योंकि सामान्यमें विवाद नहीं होता, सामान्यसाध्य तो व्यास्त्रग्रहण कालमें ही प्रसिद्ध हो चुकता है, अन्यथा सामान्यधर्मभूत साध्यसाधनकी साकल्यरूपसे व्यास्ति किस प्रकार निर्णीत होती ?

'साध्य' इस पदका क्या अयं होता है यह भी विचारणीय है, हेनु द्वारा असत् वस्तुका निष्पादन होना साध्य है अथवा उसके द्वारा सद्भूत वस्तुका ज्ञापन होना साध्य है 'प्रथमपक्षमें सामान्यको अनित्य एवं असर्वगत माननेका प्रसंग आयेगा, क्योंकि साध्य साधन सामान्यरूप होते हैं (सकल व्याप्तिक ग्रहण कालमें) ऐसा आपने कहा और असत् का निष्पादन होना साध्य है ऐसा साध्यपदका अर्थ लिया सो यदि सामान्य रूप साध्यका निष्पादन होना है तो आप यौगका सर्वगत नित्य सामान्य असर्वगत एवं नित्यरूप सिद्ध होता है । द्वितीयपक्ष — सद्भूतका ज्ञापन होनेक्प साध्य है ऐसा माने तो यह दृश्यभूत साध्य धर्मीके समान प्रत्यक्ष ही है उसे क्या ज्ञापन करना है । यदि साक्षात् प्रत्यक्षभूत पदार्थका भी ज्ञापन करना करनी है तो धूमसामान्यको भी अग्नि-कामान्य द्वारा ज्ञापित करना चाहिये !

योग—धूमविशेषकी सहायता के कारण धूम सामान्य ही प्रत्यक्ष होता है अन्य अगिन सामान्य नहीं (क्योंकि उसके लिये विशेष सहायभूत नहीं है) अतः उक्त दोष नहीं आयेगा।

र्जन – ऐसा संभव नहीं, क्योंकि झापके सामान्यको विशेष सहायक नहीं बन सकता ऐसा आगे "सामान्यविचार" नामा प्रकरणमें (तृतीयभागमें) निर्हाय करनेवाले हैं। भावार्ष यह है कि परवादीका नित्य सर्वगत ऐसा सामान्य नामा पदार्थ सिद्ध नहीं होता अतः उस सामान्यरूप विशेषणसे युक्त साध्य श्रादि भी असत्य टहरते हैं। यच्चोक्तम्-विशेषप्रतिपत्तिस्तु पक्षधर्मताबलादेवेतिः तत्र पक्षधर्मता धूमस्य, तत्सामान्यस्य वा ? तत्राद्यः पक्षोऽसङ्गतः; विशेषेण व्याप्तेरप्रतिपत्तितस्तद्गमकत्वायोगात् ।

द्वितीयपक्षेत्यपिनसामान्यस्यैव घूमसामान्यास्यिद्धः स्यान् तेनैव तस्य व्याप्तेः, नामिनिवोवस्य स्रमेनाव्याप्तेः। स्रय साधनसामान्यात् साध्यसामान्यप्रतिपत्ते रेवेष्टविशेषप्रतिपत्तिः सामान्यस्य विशेष-निष्ठस्वात् । ननु तस्सामान्यमिष विशेषमात्रेण् व्याप्तं सत्तदेव गमयेकान्यत् । स्रय विशिष्टविशेषाधारं लिङ्गसामान्यं प्रतीयमानं विशिष्टविशेषाधिकरण् साध्यसामान्यं गमयतीन्युच्यतेः तवस्युक्तिमात्रम्, तथा व्याप्तेरभावात् । स्रय विपक्षे सद्भाववाधकप्रमाणवशानत्तिद्धिरिष्यतेः तिहं तावतैव पर्याप्तस्वात् किमन्वयेन परस्य ?

"विशेषकी प्रतिपत्ति पक्षधर्मत्वकै बलसे ही हो जाती है" ऐसा श्रापने कहा था उसमें प्रश्न होता है कि यह पक्षधर्मता किसकी है धूमकी (हेतुकी) या साध्यसाधन-भूत सामान्यकी ? प्रथम पक्ष असंगत है, विशेषरूपसे व्याप्तिकी प्रतिपत्ति नहीं होनेके कारण वह पक्षधर्मत्व साध्यका गमक होना अशक्य है।

हितीयपक्ष—पक्षधमंता साध्यसाधन सामान्यकी है ऐसा माने तो धूम-सामान्यसे ग्रग्निसामान्य ही सिद्धि हो पायेगी क्योंकि उसीके साथ धूम सामान्यको व्याप्ति है, इस धूम सामान्यसे ग्रग्निविशेषकी सिद्धि तो ग्रशक्य है क्योंकि उसके साथ व्याप्ति ही नहीं है।

यौग—सामान्य साधनसे सामान्य साध्यको प्रतिपत्ति होनेको ही विशेषकी प्रतिपत्ति कहते हैं, क्योंकि सामान्य विशेषकों निष्ठ रहता है।

र्जन—तो उक्त सामान्य भी विशेष मात्रसे व्याप्त होता है ग्रतः उसीका गमक होवेगा ग्रन्यका नहीं।

यौग— विशिष्ट विशेषके ब्राधारमें प्रतीत होनेवाला साधनसामान्य (पर्वतस्थ-धूम) अपने विशिष्ट विशेष अधिकरणभूत साध्यसामान्यका गमक (पर्वतस्थ अग्निका गमक) होता है ऐसा हमारा कहना है !

र्जन—यह भी उक्तिमात्र है, इसतरह से कथन करने पर व्याप्तिका स्रभाव होवेगा, स्रर्थात् जो यह पर्वतस्थधूम है वह पर्वतस्थ अग्नि वाला है ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती। एतेनान्तव्याप्तिरपि चिन्तिता। न खलु प्रत्यक्षादितः सापि प्रसिद्धधित । तन्न पूर्वव च्छेषवदिति सुक्तसः।

यच्चान्यदुक्तम्-'पूर्ववत्सामान्यतोच्छं चेति चशब्दी भिन्नप्रक्रमः 'सामान्यतः' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टस्यः । ततोयमर्थः-पूर्ववत्पक्षवस्सामान्यतोपि न केवलं विशेषतो ह्रष्टं विप्रक्षे । श्रनेन केवलब्यतिरेकी हेतुर्देणितः--'सारमकं जीवच्छरीरं प्रात्मादिमस्वान्' इत्यादिः; तदप्यप्रक्तम्; यतः प्रात्मादेन्वयाभावे कृतोऽविनाभावावगितः ? ब्यतिरेकाच्चेत्; तथाहि---यस्माद् षटादेः सात्मकस्विनवृत्तौ प्रात्मादयो नियमेन निवत्तं न्ते तस्मास्सारमकत्वाभावः प्रात्मादयोवन ब्याप्तो धूमाभावेनेव पावकाभावः । जीव-

यौग — विपक्षमें बाधक प्रमाणका सद्भाव होनेसे ही व्याप्तिकी सिद्धि होती है अर्थात् अमुक हेतुका विपक्षमें जाना प्रमाणसे बाधित है इस प्रकार बाधक प्रमाणके , वशसे व्याप्तिका प्रहण हो जाता है ?

जैन--तो फिर उतनेसे पर्याप्त हो जानेसे अन्वयके प्रतिपादनसे आपका क्या प्रयोजन सथता है ? कुछ भी नहीं ।

इसीप्रकार सकलव्याग्तिरूप अन्वयके निरसनसे ग्रन्तव्यग्तिरूप ग्रन्वयका निरसन भी हो जाता है, क्योंकि उसकी भी प्रत्यक्षादिप्रमाणसे सिद्धि नहीं होती । अतः पूर्ववत् श्रेषवत् श्रनुमानका प्रभेद सिद्ध नहीं होता है ।

यौग—अन्य प्रतिपादन भी पाया जाता है कि—"पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च" इस वाक्यमें आगत च शब्द भिन्न प्रकममें है उसका प्रथं "सामान्यतः" इस पदके अनंतर करना चाहिये, इस तरहकी वाक्य रचनासे यह अर्थ होता है कि पूर्ववत् ( अर्थात् पक्षवत् ) विपक्षमें सामान्यतः भी देखा जाता है केवल विशेषतः नहीं । इससे केवल व्यतिरेकी हेनुका प्रतिपादन होता है, इस हेनुका उदाहरण—जीवित शरीर आत्मसहित है, क्योंकि प्राणादिमान् है । इत्यादि ।

जैन—यह प्रतिपादन भी अयुक्त है, प्राणादिमत्व हेतुमें अन्वयका तो स्रभाव है अतः वहां पर श्रविनाभावका बोध किससे हो सकेगा ?

यौग—व्यतिरेकसे हो जायगा, इसीको बताते हैं—जिस कारण घट आदि पदार्थंसे आत्मासहितपना निवृत्त होनेपर प्राणादि नियमसे निवृत्त हो जाते हैं उसीकारण ग्रारमासहितपने का ग्रभाव प्राणादिके ग्रभावसे व्याप्त है, जैसे कि ध्रमके ग्रभावसे च्छ्रपीरे च शाणाद्यभावविरुद्धः प्राणादिसद्भावः प्रतीयमानस्तदभावं निवत्तंयति । स च निवत्तंमानः स्वव्याप्यं सात्मकत्वाभावमादाय निवत्तंते इति सात्मकत्वसिद्धिस्तत्रः, इत्यप्यसारम्; यतोनुमानान्तरे-प्येवमविनाभावप्रसिद्धः केवलव्यतिरेक्येव सर्वेमनुमानं स्यात्, प्रन्वयमात्रेण् तिसद्धावतिप्रसंग-स्योक्तत्वान् ।

र्किन, साध्यनिवृत्या साधनिवृत्तिर्धातिरेकः, स च क्वचित् कदाचित्, सर्वत्र सर्वदावा स्यात् ? न तावदाद्यः पक्षः; तथा व्यतिरेकस्य साधनाभावेषि सम्भवात् । डितीयपक्षोप्ययुक्तः; साकल्येन व्यतिरेकप्रतिचत्तेः प्रत्यक्षादिप्रमास्यतः परेषामन्वयप्रतिपत्ते रिवासम्भवात् ।

एतेन पूर्ववच्छेषवस्सामान्यतोदृष्टमन्वयथ्यतिरेक्यनुमानं प्रत्याख्यातम्; पक्षद्वयोपक्षिप्तदोषानु-पञ्जात ।

ग्रिग्निका प्रभाव व्याप्त है। (अर्थात् अग्निका ग्रभाव है तो ग्रवश्य ही ग्रूमका प्रभाव होगा) जीवित शरीरमें प्राणादि ग्रभावके विरुद्ध प्राणादिका सद्भाव प्रतीतिमें ग्राता है, ग्रतः वह प्राणादिके ग्रभावकी निवृत्ति करता है, और प्राणादिका ग्रभाव निवृत्त होता हुग्रा ग्रपने व्याप्य सात्मकत्वके अभावको लेकर निवृत्त होता है इसप्रकार उक्त ग्रमुमानमें सात्मकत्वकी (ग्रात्मा सहितत्वकी) सिद्धि हो जाती है।

जैन—यह कथन असार है, क्योंकि इस तरह की मान्यतासे अन्वय रहित अनुमानांतरमें भी अविनाभाव प्रसिद्ध हो जानेसे सभी अनुमान केवलव्यतिरेकी ही बन जाते हैं, क्योंकि अन्वयमात्रसे अविनाभावकी सिद्धि करनेमें अतिप्रसंग आता है ऐसा कह चुके हैं।

तथा साध्यकी निवृत्तिसे साधनकी निवृत्ति होना व्यतिरेक है यह व्यतिरेक कहीं पर कदाचित होता है या सर्वत्र सदा ही होता है । प्रथम पक्ष असत् है, क्योंकि उस प्रकारका व्यतिरेक साधनाभासमें (भूठे हेतु वाले अनुमानमें) भी संभव है। द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि सर्वत्र सर्वदा पूर्णरूपसे व्यतिरेककी प्रतिपत्ति प्रत्यक्षादि प्रमाणसे होना अशक्य है, जैसे कि परवादी यौगादिक अन्वयकी प्रतिपत्ति होना असंभव है।

जिस तरह केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकीरूप पूर्ववत् श्रादि ब्रमुमानोंकी सिद्धि नहीं होती उसी तरह पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट नामा केवलान्वयव्यतिरेकी श्रमुमान भी सिद्ध नहीं होता, उसमें भी प्रथम दो ब्रमुमानोंमें दिये गये दोष झाते हैं। यच्च तदुदाहरणम्–विवादापन्नं तनुकरणभुवनादिकं बुद्धिमद्वेतुकं कार्यस्वादिस्यो घटादि-वदिस्युक्तम्; तदपीश्वरनिराकरणप्रकरणे विशेषतो दूषितमिति पुननं दूष्यते ।

श्रय "पूर्ववत्-कारलात्कार्यानुमानम्, ग्रेववत्-कार्यात्कारलानुमानम्, सामान्यतो दृष्टम्-श्रकार्य-कारलादकार्यकारलानुमानम् सामान्यतोऽविनाभावमात्रात्" [ न्यायभा०, वात्ति० ११११४ ] इति व्याह्यायते; तदप्यविनाभावनियमनिश्चायकप्रमालाभावादेवायुक्त परेषाम् । स्याद्वादिनां तु तखुक्तं तत्सद्भावात् इत्याद्यायः स्वयमेव कार्यकारलेस्यादिना हेतुप्रपञ्चे प्रपञ्चयिष्यति ।

यदपि-पूर्वंबरपूर्वं लिर्गालगिसम्बन्धस्य क्वचिन्निरुचयादन्यत्रप्रवत्तं मानमनुमानम् । शेषवत्परि-श्रेषानुमानम्, प्रसक्तप्रतिषेधे परिविष्टस्य प्रतिपत्ते : । सामान्यतो रुटं विशिष्टव्यक्तौ सम्बन्धाग्रहणात्सा-

केवलान्वय व्यतिरेकी अनुमानका उदाहरण था — विवादग्रस्त शरीर, इंद्रियां पृथ्वी आदि पदार्थ बुद्धिमान निमित्तक हैं, क्योंकि कार्यरूप हैं, जैसे घटादि पदार्थ कार्य-इप होनेसे बुद्धिमान निमित्तक (कुंभकारनिमित्तक) होते हैं, सो इस अनुमानको ईश्वरका निराकरण करते समय विशेषरूपसे सदोप सिद्ध कर चुके हैं अब यहां पुनः दूषित करना व्यर्थ है।

यौग—कारएसे होनेवाले कायंके अनुमानको "पूर्ववत्" अनुमान कहते हैं, तथा कायंसे होनेवाले कारणके अनुमानको 'श्रेपवत'—अनुमान कहते हैं एवं जो साध्य साधन कार्य कारणरूप नहीं है अन्यरूप है ऐसे अकार्य कारएसे होनेवाले अकार्यकारणके अनुमानको 'सामान्यतोहष्ट' अनुमान कहते है। इस प्रकार पूर्वोक्त अनुमानोंकी व्याख्या भी हमारे न्याय भाष्यमें पायी जाती है ?

जैन—यह व्याख्या भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि घ्राप परवादीके यहां म्रविनाभावके नियमको निश्चित करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। किन्तु हम स्याद्वादी के यहां उक्त श्रनुमान सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि ग्रविनाभाव नियमका निश्चय करानेवाला तर्क नामा प्रमाण हमारे यहां मौजूद है, इस विषयका आगे कार्यकारण भ्रादि हेतुश्रोंके प्रकरणमें सविस्तार प्रतिपादन स्वयं आचार्य करने वाले हैं।

लिंग लिंगीके संबंधका (हेतु और साध्यके संबंधका ) कहींपर निश्चय करने पर अन्य स्थानमें उस अनुमानकी प्रवृत्ति होना 'पूबंबत् पूर्व' अनुमान कहलाता है। प्रमक्तका प्रतिषेध करके परिशिष्टकी प्रतिपत्ति जिससे होती है वह "शेषवत् परिशेष" अनुमान है। तथा विशिष्ट व्यक्तिमें संबंधका ग्रहण नहीं होनेसे सामान्यसे उसका ग्रहण मान्येन **रष्ट**म्, यथा गतिमानादित्यो देशाहेशान्तरप्राप्तेर्देवदत्तवदिति । तदप्येतेन प्रत्याख्यातम्; उक्तप्रकाराणां प्रमाणतः प्रसिद्धाविनाभावानां प्रतिपादयिष्म।णृहेतुप्रपश्चत्वेन स्याद्वादिनामेव सम्भवात्।

न चाथं भेदो घटते । सर्वं हि लिंगं पूर्ववदेव; परिशेषानुमानस्यापि पूर्ववस्वप्रसिद्धः-प्रसक्त-प्रतिवेधस्य परिशिष्टप्रतिपर्त्यविनाभूतस्य पूर्वं क्वचिन्निरिचतस्य विवादाध्यासितपरिशिष्टप्रतिपत्तौ

होना सामान्यतोहष्ट अनुमान कहलाता है जैसे सूर्य गितशील है क्योंकि देशसे देशांतर में प्राप्त होता है जैसे देवदत्त प्राप्त होता है। इत्यादि पूर्ववत् पूर्व आदि अनुमान भी उक्त न्यायसे निराइत हुए समभने चाहिये। क्योंकि उक्त प्रकार भी स्याद्वादीके यहां ही संभव है, और इसका भी कारण यह है कि हमारे यहां इनके अविनाभाव संबंधका नियम तर्क प्रमाण द्वारा भलोभांति प्रसिद्ध है, इन सबके सब अनुमानोंका आगे हेतु प्रकरण में कथन करेंगे।

विशेषार्थ --यौगके यहां पर्ववत् और शेषवत् आदि अनुमानोंके समान पूर्ववत् पर्व, शेषवत परिशेष म्रादि मनुमान प्रकार भी माने गये हैं। उनके उदाहरण कमशः उपस्थित किये जाते हैं —साध्य और साधनका अविनाभावका कहीं पर निश्चय करके श्रन्यत्र श्रनुमान लगाना पूर्ववत पूर्वानुमान है, साध्य साधनका संबंध पूर्वमें निश्चित होना पूर्व शब्दका ग्रर्थ है और वह जिस अनुमानमें हो उसे पूर्ववत पूर्व कहते हैं ऐसी पूर्ववत पूर्व शब्दकी निरुक्ति है, इसका उदाहरण-यह पूर्वत ग्रुग्नियुक्त है क्योंकि धमवाला है जैसे कि महानस (रसोई घर) है। महानसमें पहलेसे ही साध्य साधन (ग्रमिन-धुम) का निश्चय हो चुका या और अब पर्वत पर निश्चय होने जा रहा अतः यह पर्ववत पूर्वातुमान कहलाया । शेषवत् परिशेषातुमानका अर्थ एवं उदाहरण - परिशिष्ट अर्थको शेष कहते हैं और वह जिस अनुमानसे हो उसे शेषवत् परिशंषानुमान कहते हैं, जैसे शब्द कहींपर ग्राश्रित रहता है, क्योंकि वह गूण है जैसे रूपादि गूण ग्राश्रित रहते है। यौगकी मान्यतानुसार यह अनुमान प्रयुक्त हुआ है उनके यहां छह पदार्थ माने हैं द्रव्य, गुए, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय; उनका कहना है कि शब्द ग्रनित्य होनेके कारण सामान्य ग्रौर विशेष तथा समवाय नामा पदार्थरूप नहीं हो सकता क्योंकि सामान्यादि पदार्थ नित्य हैं। शब्दको द्रव्य पदार्थरूप भी नहीं मान सकते क्योंकि वह माकाशके आश्रित रहता है। तथा इसरे शब्दके उत्पन्न होनेमें कारण होनेसे कर्म साधनस्य प्रयोगात् । सामान्यतो दृष्टस्याऽपि पूर्ववस्वप्रतीतेः; क्वचिट्ट् शान्तरप्राप्तेगैतिमस्वाधिना-भाविन्या एव देवदसादौ प्रतिपत्तेः, श्रन्यया तदनुमानाश्रवत्तेः । परिशेषानुमानमेव वा सर्वम्, पूर्ववतीपि धूमात्पावकानुमानस्य प्रसक्ताऽपावकशितयेषाद्वशृत्तिघटनात्, तदप्रसक्ती विवादानुवपत्तेरनुमानवैयर्थ्यं स्यात् । सामान्यतो दृष्टस्यापि देशान्तरप्राप्तेरादित्यगत्यनुमानस्य तदगतिमस्वस्य प्रसक्तस्य प्रतियेषा-देवीपपत्ते । सकलं सामान्यतो दृष्टमेव वाः, सर्वत्र सामान्येनैव लिगलिगिसम्बन्धस्य प्रतिपत्तः, विशेष-

पदार्थरूप भी नहीं है, अतः परिशेष न्यायसे शेष बचे गुण नामा पदार्थमें ही शब्दका अंतर्भाव होता है इसप्रकार सामान्य पदार्थ द्रव्य पदार्थ ग्रादि रूप होनेका प्रसंग प्राप्त या उसका प्रतिषेध करके परिशेष गुणमें शब्दका ग्रंतर्भाव करना शेषवत् परिशेषानुमान का हष्टांत है। सामान्यतो हष्टानुमान—साध्य साधन धर्मकी सामान्यसे प्रतिपत्ति होना सामान्यतोहष्ट अनुमान कहलाता है, जैसे सूर्य गमन शील है क्योंकि देशसे देशांतरमें प्राप्त होता है, जिस प्रकार देवदत्त देशांतरमें प्राप्त होनेसे गमनशील प्रसिद्ध है। यहां देवदत्तमें सामान्यपनेसे पाये जाने वाले गमनत्व और देशांतरप्राप्तत्व धर्मको देखकर उनको सूर्यमें सिद्ध किया श्रतः यह सामान्यतो हष्टानुमान है। जैनाचार्यका कहना है कि ये सब अनुमान तभी प्रसिद्ध हो सकते हैं जब ग्राप श्रविनाभाव संबंधका ग्राहक तर्क प्रमाणको स्वीकार करे। इन पूर्ववत् पूर्व ग्रादि श्रनुमानोंका ग्रंतभाव हमारे कारणकारणानुमान श्रादिमें हो जाता है। ग्रागे इनका वर्गन करेंगे। ग्रस्तु।

दूसरी बात यह है कि यौगाभिमत अनुमानांका प्रभेद घटित भी नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक अनुमानका हेतु ( साधन या लिंग ) पूर्ववत् (पूर्वमें ज्ञात) ही होता है, अतः परिणेष अनुमानकों पूर्ववत्पना है—परिणिष्ट की प्रतिपत्तिका अविनाभावी प्रसक्त-प्रतिषेध होता है वह पूर्वमें ही कहींपर निर्णीत रहता है और विवादयस्त परिशिष्टके प्रतिपत्तिके लिये वह साधनरूपसे प्रयुक्त होता है, इसप्रकार माधन पूर्ववत् होनेसे परिणेषानुमान भी पूर्ववत्पना प्रतीत होता है—गतिमत्वकी अविनाभावीरूप देशांतर प्राप्ति नामा हेतु देवदत्तादिमें पहलेसे ही ज्ञात रहता है, अर्थात् देवदत्तमें गमन कियाके साथ देशांतर प्राप्तिको देखकर ही सूर्यमें गमनत्वका निश्चय करते हैं अन्यथा वह अनुमान प्रवृत्त ही नहीं होता । अथवा सभी अनुमान परिणेषरूप ही दिष्टगोचर होते हैं, क्योंकि यूमसे होनेवाले अगिक का अनुमान भी पूर्ववत्के समान प्रसक्त अनिनका प्रतिषेध करके प्रवृत्त होता है, यि अनिनके प्रतिषेधका प्रसंग नहीं होवे तो विवाद ही नहीं रहे ग्रीर जिसमें विवाद नहीं

तस्तरसम्बन्धस्य प्रतिपत्तुमञ्जक्तेः । ततोनुमानं तत्त्रभेदं चेच्छताऽविनाभाव एवेकं हेतोः प्रधानं लक्षरां प्रतिपत्तन्त्रम् ।

वहां अनुमान प्रयोग व्यर्थ ही है। सामान्यतोहष्ट नामा अनुमान भी परिशेषानुमानके अंतर्गत हो सकता है, क्योंकि अगतिमत्व प्रसंगका प्रतिषेध करके ही देशांतर प्राप्तिरूप हेतुसे सूर्यंकी गित सिद्ध की जाती है। अथवा सभी अनुमान सामान्यतोहष्ट रूप ही हो सकते हैं, क्योंकि सर्वंत्र अनुमानोंमें साध्यसाधनका संबंध सामान्यपनेसे ही जात रहता है, विशेषपनेसे उस संबंधको जानना तो अशक्य ही है। अतः अनुमान और उसके प्रभेदको चाहनेवाले आप यौगको हेतुका प्रधान लक्षण एक अविनामाव ही है (साध्याविनाभावित्व) ऐसा स्वीकार करना होगा।

॥ समाप्त ॥





ननु चास्तु प्रधानं लक्षग्माचिनाभावो हेतोः । तन्स्वरूपं तु निरूप्यतामप्रसिद्धस्वरूपस्य लक्षग्य-स्वायोगादित्याशकम् सहक्रमेत्यादिना तस्त्वरूपं निरूपयति—

#### सहक्रमभावनियमो ऽविनाभावः ।।१६॥

सहभावनियमः क्रमभावनियमश्चाविनाभावः प्रतिपत्तव्यः । कयोः पुनः सहभावः कयोश्च क्रमभावो यन्नियमोऽविनाभावः स्यादित्याह—

सहचारिणोः व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१७॥

मंका—हेतुका प्रधान लक्षण अविनाभाव है यह बात तो ठीक है किन्तु अविनाभावके स्वरूपका निरूपण भी करना होगा, क्योंकि ग्रप्रसिद्ध स्वरूपवाली वस्तु किसीका लक्षण नहीं बन सकती ?

> समाधान — ग्रव इसी शंकाको लक्ष्य करके ग्रविनाभावका स्वरूप बताते हैं — सहकमभावनियमोऽविनाभावः ॥१६॥

सूत्रार्थ — सहभाव नियम और कमभाव नियम ऐसे अविनाभाव के दो भेद है, युगपत रहनेका नियम सहभाव अविनाभाव है और कमशः रहनेका नियम कमभाव अविनाभाव है ये दोनों अविनाभावके लक्षण या स्वरूप समभने चाहिए। किन दो पदार्थीमें सहभाव होता है और किन दो में कमभाव होता है ऐसा अविनाभाव नियमके विषयमें प्रश्न होने पर कहते हैं —

सहचारिणोः व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१७॥

# पूर्वीतरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमञ्जावः ॥१८॥

सह्वारिणो रूपरसादिलक्षणयोज्यान्यव्यापकयोक्र शिक्षपात्ववृक्षस्वादिस्वभावयोः सहभावः प्रतिपत्तव्यः । पूर्वोत्तरचारिणोः कृतिकाशकटोदयादिस्वरूपयोः कार्यकारणयोश्चाग्निवूमादिस्वरूपयोः क्रमभाव इति ।

कुतोसौ प्रोक्तप्रकारोऽविनाभावो निर्णीयते इत्याह—

## तकीचित्रिर्णयः ॥१९॥

न पुनः प्रत्यक्षादेरित्युक्तं तर्कप्रामाण्यप्रसाघनप्रस्तावे । नन् साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम् । तत्र कि साध्यमित्याह—

## पर्वोत्तर चारिएगोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ।।१८।।

सूत्रार्थ — सहचारीरूप रसादिमें और व्याप्य व्यापक पदार्थोंमें सहभाव अविनाभाव होता है। पूर्व और उत्तर कालभावी पदार्थोंमें तथा कार्य कारणोंमें कमभाव श्रविनाभाव होता है। रूप रसादि सहचारी कहलाते हैं, वृक्षस्व और शिशपात्वादि व्याप्यव्यापक कहलाते हैं, इनमें सहभाव पाया जाता है। कृतिका नक्षत्रका उदय और रोहिणी नक्षत्रका उदय श्रीर वर्षों नक्षत्रका उदय श्रीर कार्य कारण कहलाते हैं इनमें कमभाव पाया जाता है।

इस स्रविनाभावका निर्णय किस प्रमाणसे होता है ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

## तर्कात् तन्निरग्यः ।।१६।।

सूत्रार्थ—ग्रविनाभाव संबंधका निश्चय तर्कप्रमाणसे होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणसे श्रविनाभावका निर्णय नहीं होता ऐसा पहले तर्कज्ञानकी प्रमाणता सिद्ध करते समय कह भ्राये हैं।

शंका —साधनसे होनेवाले साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं ऐसा प्रतिपादन तो हो चुका किन्तु साध्य किसे कहना यह नहीं बताया है ?

समाधान-अब इसी साध्यका लक्षण कहते हैं-

# इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥२०॥

संशयादिव्यवच्छेदेन हि प्रतिपन्नमर्थस्वरूपं सिद्धमुच्यते, तद्विपरीतमसिद्धम् । तच्च---

# सन्दिश्वविवर्यस्ताब्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥२१॥

किममं स्वायुः पुरुषो वेति चलितप्रतिपत्तिबिषयभूतो ह्ययः सन्दिग्धोमिधीयते । शुक्तिका-शकले रजताध्यवसायलक्षर्याविषयसिगोचरस्तु विपर्यस्तः। ग्रहीतोऽगृहीतोपि वार्षो ययावदनिदिचत-स्वरूपोऽब्युरपमः। तथाभूतस्यैवार्थस्य साधने साधनसामध्यति, न पुनस्तद्विपरोतस्य तत्र तद्वै कल्यात् ।

इष्टाऽबाधितविशेषगाद्वयस्यानिष्टेत्यादिना फलं दर्शयति—

# अनिष्टाध्यक्षादिवावितयोः साध्यत्वं माभृदितीष्टावाधितवचनम् ॥२२॥

#### इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम ।।२०।।

इष्ट अवाधित और असिदभूत पदार्थको "साध्य" कहते हैं। जो पदार्थ वादीको ग्रमिप्रेत हो उसे इष्ट कहते हैं। किसी प्रमाणसे बाधित नहीं होना अवाधित है ग्रीर ग्रप्रतिपन्नभूत पदार्थको ग्रसिद कहते हैं। संशयादिका व्यवच्छेद करके पदार्थका स्वरूप ज्ञात होना "सिद" कहलाता है और इससे विपरीत ग्रसिद है।

# सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्य सिद्धपदम् ।।२१।।

सूत्रायं — संदिग्ध, विपरीत एवं अब्युत्पन्न पदार्थ साध्यरूप हो सके इस हेतुसे साध्यका लक्षण करते समय "असिद्ध पदका" ग्रहण किया है। "यह स्थाणु है या पुरुष है" इसप्रकार चिलत प्रतिपत्तिके विषयभूत अर्थको "संदिग्ध" कहते हैं। सीपके टुकड़ेमें चांदीका निश्चय होना रूप विपर्यास के गोचरभूत पदार्थको "विपर्यस्त" कहते हैं। गृहीत प्रथवा अगृहीत पदार्थ जब यथावत् निर्मीत नहीं होता तब उसे "अब्युत्पन्न" कहते हैं। गृहीत प्रथवा अगृहीत पदार्थ जब यथावत् निर्मीत नहीं होता तब उसे "अब्युत्पन्न" कहते हैं। इन तीन प्रकारके पदार्थोंको सिद्धि करनेमें ही हेतुकी सामर्थ्य होती है इनसे विपरीत पदार्थोंको सिद्ध करनेमें नहीं। क्योंकि असंदिग्ध आदि पदार्थोंके लिये अनुमान की आवश्यकता नहीं रहती वे तो सिद्ध ही रहते हैं।

श्रव साध्यके इष्ट और ग्रवाधित इन दो विशेषणोंकी सफलता दिखलाते हैं— ग्रनिष्टाध्यक्षादिवाधितयो: साध्यत्वंमाभूदितीष्टावाधितवचनम् ॥२२॥ धनिष्टं हि सर्वथा नित्यत्वं शब्दे जेनस्य । धश्रावर्गत्वं तु प्रत्यक्षवाधितम् । ध्रादिशब्देनानु-मानादिवाधितपक्षपरिग्रहः । तत्रानुमानवाधितः यथा-नित्यः शब्द इति । ध्रागमवाधितः यथा-श्रेःयाऽ-सुलप्रदो बर्म इति । स्वयचनवाधितः यथा-माता मे बन्ध्येति । लोकवाधितः यथा-श्रुचि नरशिरः-कपालमिति । तयोरनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भ्रुदितीष्टाबाधितवचनम् ।

नमु यथा शब्दे कथन्त्रियनित्यत्वं जैनस्येष्टं तथा सर्वधाऽनित्यत्वमाकाशगुणत्वं चान्यस्येति तदपि साध्यमनुष्ठच्यते । न च वादिनो यदिष्टं तदेव साध्यमित्यभिद्यातव्यम्; सामान्याभिधायित्वेनेष्ट-स्यान्यत्राप्यविद्योषात् । इत्याशङ्कापनोदार्षमाह—

#### न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥२३॥

सुतार्थ — अनिष्ट पदार्थ एवं प्रत्यक्षाविप्रमाणते बाधितपदार्थ साध्यरूप मत होने एतदर्थ 'इष्ट' ग्रीर 'ग्रवाधिन' ये दो निशेषण साध्य पदके साथ प्रयुक्त किये हैं। जैसे शब्दमें सर्वथा नित्यपना सिद्ध करना जैनके लिए अनिष्ट है। तथा शब्दमें प्रश्नावणत्व (कर्ण गोचर न होना) मानना प्रत्यक्षसे वाधित है। सुत्रोक्त 'आदि' शब्द द्वारा अनुमानादि प्रमाणसे बाधित पक्षवाले साध्यक्ष मी प्रहण हो जाता है, प्रर्थात् जो साध्य अनुमानादिसे बाध्य हो उसको भी साध्य नहीं कहते। जैसे "शब्द नित्य है" ऐसा साध्य बनाना ग्रनुमान बाधित है। "धर्म परलोकमें दुःखदायक है" ऐसा कहता ह्याम बाधित है। जो साध्य अपने ही वचनसे बाधित हो उसे स्ववचन बाधित कहते हैं जैसे —मेरी माता वंध्या है। जो लोक ब्यवहारमें बाधित हो उसे लोक बाधित साध्य कहते हैं जैसे मनुष्यका कपाल णुचि है। इस प्रकारके ग्रनिष्ट एवं प्रत्यक्षादिसे बाधित वस्तुको साध्यपना न हो इस कारणसे इष्ट और अवाधित विशेषण साध्यपदमें प्रयुक्त है।

शंका — जिसश्रकार जैनको शब्दमें कथंचित् ग्रनित्यपना मानना इष्ट है उसी प्रकार अन्य वैशेषिकादि परवादियोंको उसमें सर्वथा अनित्यत्व और आकाशगुणत्व मानना इष्ट है अतः उसको साध्यत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। ऐसा तो कह नहीं सकते कि जो वादीको इष्ट हो बही साध्य बने, क्योंकि सामान्यरूपसे कहा गया इष्ट विशेषण अन्यत्र (प्रतिवादीमें) भी संभव है कोई विशेषता नहीं है ?

समाधान—अब इसी शंकाका परिहार करते हुए श्री माणिवयनंदी आचार्य सूत्र कहते हैं—

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥२३॥

विषेषस्प । न हि सबँ सर्वापेक्षया विषेषस्यं प्रतिनियतत्वाद्विशेषस्य विशेषस्य । तत्रासिद-मिति साध्यविषेषस्यं प्रतिवाद्यपेक्षया न पुनर्वाद्यपेक्षया, तस्यार्थस्वरूपप्रतिपादकत्वात् । न चाविज्ञा-तार्थस्वरूपः प्रतिपादको नामातिप्रसङ्कात् । प्रतिवादिनस्तु प्रतिपाद्यस्य चाविज्ञातार्थस्वरूपत्वा-विरोधात् तदयेक्षयेवेदं विशेषस्य । इष्टमिति तु साध्यविशेषस्य वाद्यपेक्षया, वादिनो हि यदिष्टं तदेव साध्यं न सर्वस्य । तदिष्टमप्यव्यक्षाद्यवाधितं साध्यं भवतीति पतिपत्तव्यं तत्रैव साधनसामध्यत् ।

तदेव समर्थयमानः प्रत्यायनाय होत्याद्याह---

# प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥२४॥

इच्छया चलु विषयोक्कतमिष्टमुच्यते । स्वाभिन्नेतार्थंत्रतिपादनाय चेच्छा वक्नुरेव । तस्य चोक्तन्रकारस्य साध्यस्य हेतोर्थ्याप्तित्रयोगकालापेक्षया साध्यमित्यादिना भेदं दर्शयति—

सूत्रायं—जिस तरह ग्रसिद्ध विशेषण प्रतिवादीके लिये प्रयुक्त हुया है उस तरह इष्ट विशेषण प्रतिवादीके लिये प्रयुक्त नहीं हुआ । विशेष्यविशेषणभाव प्रतिनियत होता है ग्रतः सभीके लिये सब विशेषण लागू नहीं होते । साध्यका ग्रसिद्ध विशेषण तो प्रतिवादीकी ग्रपेक्षामे है न कि वादीकी ग्रपेक्षामे, क्योंकि वादी तो साध्यके स्वरूपका प्रतिपादक होता है, यदि वादीको साध्य ग्रसिद्ध है तो वह उसका स्वरूप किस प्रकार प्रतिपादन करता ? क्योंकि जिसके लिये ग्रप्थंस्वरूप ज्ञात नहीं उसको प्रतिपादक माने तो अतिप्रसंग होगा । हां प्रतिवादी तो प्रतिपाद्य (समभाने योग्य ) होनेके कारण अविज्ञातग्रर्थ स्वरूपवाला होता है, इसमें ग्रविरोध है ग्रतः उसकी ग्रपेक्षासे ही ग्रसिद्ध विशेषण प्रयुक्त हुआ है । तथा साध्यका इष्ट विशेषण वादीकी अपेक्षासे है, क्योंकि वादीको जो इष्ट हो वही साध्य होता है सबका इष्ट साध्य नहीं होता । इस प्रकार साध्य इष्ट ग्रेर ग्रवाधित होता है ऐसा समभना चाहिए, ऐसे साध्यकी सिद्धिके लिए ही साधनमें सामर्थं होती है । ग्रागे इसीका समर्थंन करते हैं—

# प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।।२४।।

सूत्रार्थं—विषय प्रतिपादन एवं समभानेकी इच्छा वक्ताको ही हुआ करती है। ग्रर्थात् ग्रपने इष्ट तत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये वक्ताको (वादीको) ही इच्छा होती है।

े उक्त प्रकारके साध्य संबंधी हेतुके साध्यमें व्याप्तिकाल ग्रीर प्रयोगकालकी भ्रपेक्षासे भेद होता है ऐसा बतलाते हैं—

## साध्यं धर्मः स्वचित्तद्विश्विष्टो वा धर्मी ॥२४॥

क्विवृद्धपाप्तिकाले साध्यं घर्मो नित्यत्वादिस्तैनेव हेतोव्याप्तिसम्भवात् । प्रयोगकाले तु तेन साध्यधर्मेण विशिष्टो घर्मी साध्यमभिषीयते, प्रतिनियतसाध्यधर्मविशेषण्विशिष्टतया हि धर्मिणः साधियतुमिष्टःवात् साध्यव्यपदेशाविरोधः ।

श्रस्यैव पर्यायमाह-

## पस इति यावत ॥२६॥

नतु च कथं घर्मी पक्षो धर्मबर्मिसमुदायस्य तरवात्; तत्रः; साध्यवर्मविशेषस्पविशिष्टतया हि धर्मिस्यः सावधित्मिष्टस्य पक्षाभिषाने दोषाभावात् ।

स च पक्षत्वेनाभिप्रेत.---

#### साध्यं धर्मः क्वचित तद्विशिष्टो वा धर्मी ।।२४।।

सूत्रार्थं — कहीं धर्मको साध्य बनाते हैं ग्रौर कहीं धर्म विशिष्ट धर्मीको साध्य बनाते हैं। कहीं पर अर्थात् व्याप्तिकालमें (जहां जहां साधन होता है वहां वहां साध्य ग्रवश्य होता है इत्यादि रूपसे साध्य साधनका ग्रविनाभाव दिखलाते समय) नित्यत्वादि धर्म ही साध्य होता है, क्योंकि उसके साथ ही हेतुकी व्याप्ति होना संभव है। प्रयोगकालमें (ग्रजुमानप्रयोग करते समय) तो उस साध्य धर्मसे युक्त धर्मीको साध्य बनाया जाता है, क्योंकि धर्मी प्रतिनियत साध्यधर्मके विशेषण द्वारा विशिष्ट होनेके कारण उसको सिद्ध करना इष्ट होता है श्रतः साध्य व्यपदेशका उसमें अविरोध है। धर्मीका नामांतर कहते हैं —

पक्ष इति यावत् ।।२६।।

सूत्रार्थ - धर्मीका दूसरा नाम पक्ष भी है।

णका—धर्मीको पक्ष किसप्रकार कह सकते हैं ? क्योंकि धर्म धौर धर्मीके समुदायका नाम पक्ष है ।

समाधान — ऐसा नहीं, साध्य धर्मके विशेषण द्वारा युक्त होनेके कारण धर्मीको सिद्ध करना इष्ट रहता है अतः उसको पक्ष कहनेमें कोई दोष नहीं है। पक्षरूपसे स्वीकार किया —

#### प्रसिद्धो धर्मी ॥२७॥

तत्प्रसिद्धिस्य क्वचिद्विकरपतः क्वचित्प्रस्थशादितः क्वचिच्योभयतः इति प्रदर्शनार्थम्— 'प्रत्यक्षसिद्धस्येव धर्मित्वम्' इत्येकान्तनिराकरणार्थं च विकल्पसिद्ध इत्याद्याह्—

# विकल्पसिद्धे तस्मिन् सचेतरे साध्ये ॥२८॥ अस्ति सर्वत्रः सास्ति खरविषाणमिति ॥२९॥

विकल्पेन सिद्धे तस्मिन्धमिण् सत्ते तरे साध्ये हेनुसामध्येतः । यथा प्रस्ति सर्वज्ञः सुनिष्चिता-सम्भवद्वाधकप्रमाणुरवात्, नास्ति खरवियाणं तद्विषयंपादिति । न.खनु सर्वज्ञखरविषाणयोः सवसत्तायां साध्यायां विकल्पादन्यतः सिद्धिरस्तिः, तत्रेन्द्रियन्यापाराभावात् ।

#### प्रसिद्धो धर्मी ॥२७॥

सूत्रार्थ — धर्मी प्रसिद्ध होता है। उसकी प्रसिद्धि किसी अनुमानमें विकल्पसे होती है, किसीमें प्रत्यक्षादिसे होती है और किसीमें उभयरूपसे होती है ऐसा समक्कानेक लिये लथा "धर्मी प्रत्यक्ष सिद्ध ही होता है" ऐसे एकांतका निराकरण करनेके लिये प्रामेका मुत्र प्रमुत होता है।

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये । २८।। ग्रस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम ।।२६।।

सूत्रार्थ — जब घर्मी विकल्प सिद्ध होता है तब साध्य सत्ता ग्रीर श्रसत्ता (ग्रस्तित्व ग्रीर नास्तित्व) दो रूप हो सकता है अर्थात् सत्तास्प भी होता है ग्रीर कहीं ग्रसत्तास्प भी। जैसे "सर्वत्र हैं" ऐसे प्रतिज्ञारूप वाक्यमें सत्ता साध्य है, तथा "खर विषाण (गक्षेके सींग) नहीं हैं" ऐसे प्रतिज्ञा वाक्यमें असत्ता साध्य है।

धर्मीके विकल्पसे सिद्ध रहनेपर (श्रवीत् संवाद और श्रसंवादरूपसे ग्रनिश्चित रहने पर) सत्ता श्रीर असत्ताको सिद्ध करने के लिए हेतुमें सामर्थ्य हुआ करता है। असे—सर्वज्ञ है, क्योंकि मुनिश्चतपनसे उसमें वाधक प्रमाणका श्रभाव है, इस श्रमुमान में सत्ताको साध्य बनाया। करविषाण नहीं है क्योंकि उसके माननेमें प्रत्यक्ष प्रमाण बाधक है। इस श्रमुमानमें असत्ताको साध्य बनाया। सर्वज्ञकी सत्तारूप साध्यमें श्रीर खरविषाणकी असत्तारूप साध्यमें श्रीर खरविषाणकी असत्तारूप साध्यमें श्रीर क्योंकि सर्वज्ञ श्रीर खरविषाणमें इन्द्रिय प्रत्यक्षका व्यापार ही नहीं है।

ननु चेन्द्रियम्तिपत्र एवार्षे मनोविकल्पस्य प्रवृत्तिमतीतैः कर्षं तत्रेन्द्रियव्यापाराभावे विकल्प-स्यापि प्रवृत्तिः; इत्यप्यपेशलमुः धर्माधर्मादौ तत्प्रवृत्त्यभावानुषञ्जात् । ब्रागमसामर्थ्यप्रभवत्वेनास्यात्र प्रवृत्तौ प्रकृतेप्यतस्तत्प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात् ।

शंका—इन्द्रिय द्वारा ज्ञात हुए पदार्थमें ही मनके विकल्प की प्रवृत्ति होती है स्रतः इन्द्रिय व्यापार से रहित सर्वज्ञादिमें विकल्पका प्रादुर्भाव किसप्रकार हो स्रकता है १

समाधान —यह कथन ठीक नहीं, इस तरह की मान्यतासे तो धर्म भ्रधर्म भ्रादिमें विकल्पकी (मनोविचारका) प्रवृत्ति होना भ्रशक्य होवेगा ।

शंका — धर्माधर्मादि विषयमें ग्रागमकी सामर्थ्यंते विकल्प प्रादुर्भूत होते हैं अतः उनसे धर्मादिमें प्रवृत्ति होना शक्य ही है श

समाधान — तो फिर यही बात प्रकृत धर्मीके विषयमें है प्रर्थात् सर्वज्ञ ग्रादि धर्मीमें भी ग्रागमकी सामध्येसे उत्पन्न हुन्ना विकल्प प्रवृत्ति करता है कोई विशेषता नहीं।

विशेषार्थ — जिसमें साध्य रहता है उसे पक्ष या धर्मी कहते हैं। यह पक्ष प्रत्यक्ष सिद्ध भी होता है और प्रागमादि से भी सिद्ध होता है। जो पदार्थ इन्द्रिय-गम्य नहीं है ऐसे पुण्य, पाप, ब्राकाश, परमागु प्रादि कोई तो प्रागमगम्य है और कोई स्रमुमानगम्य। इनमें धर्मी प्रथांत् पक्ष विकल्प सिद्ध रहता है जिस पक्षका आस्तित्व और नास्तित्व किसी प्रमाण से सिद्ध न हो उसे विकल्प सिद्ध कहते हैं। शंकाकारने प्रश्न किया कि इन्द्रियसे जाने हुए पदार्थमें मनोविकल्प हुम्रा करते हैं जो पदार्थ इन्द्रिय गम्य नहीं हैं उनमें विकल्प नहीं होते, अतः सर्वज्ञादिको विकल्प सिद्ध धर्मी मानना ठीक नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यने कहा कि जो इन्द्रिय गोचर नहीं हैं ऐसे पदार्थ श्रागम ज्ञानसे विचारमें म्राते हैं। सभी वाडी परवादी किसी ना किसी रूपसे ऐसे पदार्थ स्वीकार करते ही हैं कि जो इन्द्रियगोचर नहीं। परमागुको सभीने इन्द्रियक अगम्य माना है। यौग धर्म म्रधर्म आन्मादिको म्रतीनिद्रय मानते हैं, इन पदार्थोंको सत्ता म्रागमसे स्वयं ज्ञात करके परके लिथे म्रनुमान द्वारा समक्षाया जाता है। सर्वज्ञका विषय भी म्रागमगम्य है, उनको म्रागमके बलसे निश्चित करके जो परवादी उसकी सत्ता नहीं मानते उनको म्रतमानसे सिद्ध करके बतलाते हैं।

# प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ॥३०॥ अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ॥३१॥

प्रमाणं प्रत्यक्षादिकम्, उभयं प्रमाण्डिकल्पौ, ताम्यां सिद्धे पुनर्धमिण् साध्यक्षमेण् विशिष्टता साध्या । यश्चानिमानयं देशः, परिलामो शब्द इति । देशो हि वमित्वेनोपातोऽध्यक्षप्रमाणत एव प्रसिद्धः, शब्दस्तुभाग्याम् । न अलु देशकालान्दरिते घ्वनौ प्रत्यक्षं प्रवत्तंते, श्रूयमाण्मात्र एवास्य प्रवित्तिप्रतितिः। विकल्पस्य स्वऽनियतविष्यतया तत्र प्रवृत्तिरविष्द्धं व ।

नतु वैवं देशस्याप्यग्निमस्वे साध्ये कथं प्रत्यक्षसिद्धता ? तत्र हि दृश्यमानभागस्याग्निमस्व-साधने प्रत्यक्षत्राधनं साधनवैकत्यं वा, तत्र साध्योपलब्धेः । अदृश्यमानभागस्य तु तत्साधने कृतस्त-

> प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्य धर्म विशिष्टता ।।३०।। ग्रग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ।।३१।।

सूत्राषं —प्रमाण धर्मीक रहते हुए एवं उभयसिद्ध धर्मीके रहते हुए साध्यधर्म विशिष्टता साध्य होती है। जैसे —यह प्रदेश ग्रगिनयुक्त है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध धर्मीका उदाहरए है। प्रत्यक्षादि प्रमाण है, जिसमें प्रमाण ग्रौर विकल्पसे सिद्धि हो उसे उभय सिद्ध धर्मीक कहते हैं। इन धर्मियोंके रहते हुए साध्य धर्मसे विशिष्टता साध्य होती है। यथा — यह देश ग्रगिनयुक्त है और शब्द परिणामी है ये कमगः प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मीके उदाहरण हैं। ग्रगिनयुक्त प्रदेश प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्ध है ग्रतः यह धर्मी प्रमाण सिद्ध कहलाया। शब्द उभयरूपसे सिद्ध है, क्योंकि देश ग्रौर कालसे ग्रंतरित हुए शब्दमें प्रत्यक्ष प्रमाए। प्रवृत्त नहीं होता केवल श्रूयमाण शब्दमें ही इसकी प्रवृत्ति होती है। ग्रगिनयत विषयवाला होनेसे विकल्पकी प्रवृत्ति शब्दमें होना ग्रविकट्ध ही है।

शंका — इसप्रकारसे शब्दको उभयसिद्ध धर्मी माने अर्थात् वर्रामानका शब्द प्रमाण सिद्ध और देश एवं कालसे अंतरित शब्द विकल्प सिद्ध माने तो अग्निमत्व साध्यमें प्रदेशरूप धर्मी प्रत्यक्ष सिद्ध कैसे हो सकता है र वर्योकि दृश्यमान प्रदेशके भागको अग्निमुक्त सिद्ध करते हैं तो प्रत्यक्ष बाधा आयेगी या हेतु विफल ठहरेगा अर्थात् दृश्यमान प्रदेश मागमें यदि अग्नि प्रत्यक्षसे दिखायी दे रही तो उसको हेतु द्वारा सिद्ध करना व्यर्थ है क्योंकि साध्य उपलब्ध हो चुका । और यदि उक्त भागमें अग्नि प्रत्यक्ष

स्प्रत्यक्षतेति ? तदप्यसमीचीनम्; प्रवयविद्वय्यापेक्षया पर्वतादेः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रसिद्धताभिधानात्। ग्रातिसूद्दमीक्षकापयांनोचने न किच्चित्प्रत्यक्षं स्थात्, बहिरन्तर्वाऽस्मदाद्विशत्यक्षस्याद्येषविद्येषतोऽर्थ-साक्षात्कररोऽसमर्थस्वात्, योगिप्रत्यक्षस्यैव तत्र सामध्यत्।

ननु प्रयोगकालवद्वधाप्तिकालेपि तद्विशिष्टस्य धर्मिग्ग एव साध्यव्यपदेशः कुतो न स्यादित्या-शङ्कपाह—

व्याप्ती तु साध्यं धर्म एव ।।३२॥

न पनस्तद्वान् ।

#### अन्यया तदघटनात् ।।३३॥

भनेन हेतोरन्वयासिद्धेः । न ललु यत्र यत्र कृतकत्वादिक प्रतीयते तत्र तत्रानिरयत्वादिविशिष्ट-शब्दावन्वयोस्ति ।

नहीं है तो वहां हेतु द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध करना प्रत्यक्ष बाधित है। यदि उक्त प्रदेशके श्रृहश्यमान भागमें श्रृगिनमस्वको सिद्ध करते हैं तो उस भागको प्रत्यक्षसिद्ध धर्मी किस प्रकार कह सकते हैं?

समाधान — यह कथन असम्यक है, अवयवी द्रव्यकी अपेक्षासे पर्वतादिप्रदेश सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध माने गये हैं। यदि अत्यंत सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करे तो कोई भी पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं कहलायेगा, क्योंकि अंतरंग या बहिरंग (चेतनाचेतन) पदार्थको जाननेवाला हम जैसे सामान्य व्यक्तिका प्रत्यक्ष ज्ञान (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण) पूर्ण विशेषताके साथ पदार्थका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ है, ऐसा साक्षात्कार करनेमें तो योगी प्रत्यक्षज्ञान (पारमाधिक प्रत्यक्ष प्रमाण) ही समर्थ है।

शंका—प्रयोगकालके समान व्याप्तिकालमें भी साध्यधर्म बिशिष्ट धर्मीको ही साध्य क्यों नहीं बनाते ?

समाधान — इस शंकाका समाधान श्रिप्रम दो सूत्रों द्वारा करते हैं —
व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव !!३२।।
श्रन्यथा तदघटनात ।!३३।।

सूत्रार्थ व्याप्ति करते समय धर्मको ही साध्य बनाते हैं न कि धर्मविशिष्ट धर्मीको, क्योंकि धर्मीको (पर्वतादिको) साध्य बनाने पर व्याप्ति घटित नहीं हो सकती। 'ननु प्रसिद्धो धर्मीव्यादिपक्षलक्षराश्रण्यनमयुक्तम्, प्रस्ति सर्वज इत्याखनुमानप्रयोगे पक्षप्रयोग-स्यैवासम्भवात् प्रयोदापन्नत्वात्तस्य । प्रयोदापन्नस्याप्यभिषाने पुनरुक्तत्वप्रसङ्गः-"भर्यादापन्नस्य स्वशब्देनाभिषानं पुनरुक्तम्" [न्यायसू० ४।२।१४ ] इत्यभिषानात् । तत्त्रयोगेपि च हेरवादिवचन-मन्तरेण् साध्याप्रसिद्धे स्तद्वचनादेव च तत्प्रसिद्धे व्यंषं-पक्षप्रयोगः इत्याशक्कृष्य साध्यवमीषारेत्यादिन । प्रतिविधत्ते —

#### साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥३४॥

साध्यवमॉंऽस्तित्वादिः, तस्याघार आश्रयः यत्रासौ साध्यवमॉ वर्त्तते, तत्र सन्देहः-किमसौ साध्यवमॉऽस्तित्वादिः सर्वज्ञे वर्त्तते सुखादौ वेति, तस्यापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।

अर्थात् जहां जहां धूम है वहां वहां पर्वत है ऐसी व्याप्ति नहीं होती अपितु जहां जहां धूम है वहां वहां साध्य धर्म प्रानि है ऐसी व्याप्ति ही घटित होती है। इसका भी कारण यह है कि धर्मीके साथ हेतुका अन्वय असिद्ध है। जैसे शब्द प्रनित्य है (धर्मी) क्योंकि वह कृतक है (हेतु) इस अनुमानके कृतकत्व हेतुका अन्वय केवल प्रनित्यस्वादिविशिष्ट शब्दमें ही नहीं है। अर्थात् जहां जहां कृतकत्वादि प्रतीत होता है वहां वहां शब्दरूप धर्मी ही प्रतीत होवे ऐसी बात नहीं, कृतकत्व तो शब्दके समान घट पट आदि अनेकों के साथ रहता है।

बौद्ध— "प्रसिद्धो धर्मी" इसप्रकार से पक्षका लक्षण करना अयुक्त है, क्योंकि 
"सर्वज है" इत्यादि अनुमान प्रयोगमें पक्षका प्रयोग होना ही असंभव है, पक्ष तो 
अर्थादापन्न ही है (प्रकरणसे ही गम्य है) अर्थादापन्न का भी कथन करे तो पुनरुक्त 
दोष आयेगा "अर्थादापन्नस्य स्वशब्देनाभिधानम् पुनरुक्तम्" ऐसा न्याय सूत्रमें कहा है। 
तथा पक्षका प्रयोग करनेपर भी जब तक हेतु वचन प्रयुक्त नहीं होता तब तक साध्य 
की सिद्धि नहीं होती, हेतु वचनसे ही साध्य सिद्धि होती है अतः पक्षका प्रयोग करना 
व्यर्थ है।

जैन-- ग्रब इसी शंका का निरसन करते हैं--

साध्य धर्माधार संदेहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।।३४।।

सूत्रार्थ— साध्य धर्मके आधारका संदेह दूर करनेके लिये गम्यमान स्रर्थात् जाने हुए भी पक्षका कथन करना प्रावश्यक है। श्रस्तित्वादि साध्यका धर्म होता है उसका फ्राधार या ब्राश्यय कि जहां पर साध्य धर्म रहता है उसमें संज्ञय प्रादुर्भृत

## साध्यव्यक्तिणि साधनवर्मावदोधनाय पश्चवर्मोपसंहारवतु ।।३४।।

तस्याऽवचनं साध्यसिद्धिप्रतिबन्धकत्वात्, प्रयोजनाभावाद्धाः? तत्र प्रथमपक्षोऽयुक्तः, वादिना साध्याविनाभावनियमैकलक्षर्णेन हेतुना स्वप्कासिद्धौ साध्ययुं प्रस्तुतायां प्रतिज्ञाप्रयोगस्य तत्प्रति-बन्धकत्वभावात् ततः प्रतिपक्षासिद्धैः । द्वितोयपक्षोप्ययुक्तः; तत्प्रयोगे प्रतिपाद्यप्रितिपत्तिविवेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात्, पक्षाऽप्रयोगे तु केषाच्चिन्यन्त्यनतीनां प्रकृतार्योप्रतिपत्तेः । ये तु तत्प्रयोगमन्तरे-रागिप प्रकृतार्यं प्रतिपद्यन्ते तान्प्रति तवप्रयोगोऽभीष्ठ एव । "प्रयोगपिरपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः" [ ] इत्यभिधानात् । ततो युक्तो गम्यमानस्याप्यस्य प्रयोगः, कषमन्यया शास्त्रादाविप प्रतिज्ञा-प्रयोगः स्यात् ? न हि शास्त्रे नियतकथायां प्रतिज्ञा-नाभिधीयते-'प्रानिरत्र प्रमात्, वृक्षोयं शिश्यपातात्'

होता है कि यह प्रस्तित्वादि साध्यधमं सर्वज्ञमं रहता है या मुखादिमें रहता है ? इत्यादि, इस संशयको दूर करनेके लिए ज्ञात होते हुए भी पक्षको कहना जरूरी है।

साध्य धर्मिणि साधन धर्मावबोधनाय पक्ष धर्मोपसंहारवत् ।।३५।।

सूत्रार्थ — जिसप्रकार साध्यधर्मीमें साधनधर्मका अववोध करानेके लिये पक्ष-धर्मका उपसंहार किया जाता है।

बौद्ध पक्ष प्रयोग नहीं मानते सो उसके नहीं कहनेमें क्या कारण है, साध्यके सिद्धिमें प्रतिबंधक होनेके कारण पक्षको नहीं कहते या प्रयोजन नहीं होनेके कारण पक्षको नहीं कहते या प्रयोजन नहीं होनेके कारण पक्षको नहीं कहते ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, जब वादी साध्य विनाभावो नियम वाले हेतु द्वारा अपने पक्षको सिद्ध करनेमें प्रस्तुत होता है तब किया गया पक्षका प्रयोग साध्यकी सिद्धिमें प्रतिबंधक हो नहीं सकता, क्योंकि उस पक्ष प्रयोगसे तो प्रतिवादीका पक्ष प्रसिद्ध हो जाता है (खंडित होता है) द्वितीय विकल्प भी अयुक्त है, क्योंकि प्रतिपाद्य विषयकी प्रतिपाद्य विषयकी प्रतिपाद्य (जानकारी) होना रूप विशेष प्रयोजन पक्ष प्रयोग होने पर ही सखता है यदि पक्षका प्रयोग निया जाय तो किन्ही मंदबुद्धि वालोंको प्रकृत प्रयंका बोध नहीं हो सकता । हां यह बात जरूर है कि जो व्यक्ति पक्ष प्रयोगके विना भी प्रकृत अर्थको जान सकते हैं उनके लिये तो पक्षका प्रयोग नहीं करना अभीष्ट ही है । अधुमान प्रयोगकी परिपाटी तो प्रतिपाद्य (शिष्यादि) के अनुसार हुआ करती है अतः गम्यमान (जात) रहते हुए भी पक्षका प्रयोग करना चाहिये । यदि ऐसी बात नहीं होती तो शास्त्रके प्रारंभमें प्रतिज्ञा प्रयोग किस प्रकार होता ? शास्त्रमें नियत कथाके

इत्याद्यभिधानानां त्रत्रोपलस्मात् । परानुषहम्भृतानां वाश्त्रकारात्मां प्रतिपाद्याववोषनाषीनिषयां सास्त्रादौ प्रतिकाप्रयोगो युक्तिमानेवोपयोगित्वात्तस्यिष्यधाने वादेपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां वाद्यात्वात् । प्रामुक्तार्थं को वेत्यादिना परोपहसनव्याजेन समर्थयते—

## को वा त्रिया हेतमब्दवा ममर्थयमानी न पश्चयति १ ॥३६॥

को वा प्रामागिषकः कार्यस्वभावानुपलस्मभेवेन पक्षवर्मस्वादिरूपत्रयभेवेन वा त्रिचा हेतुमुक्स्वाऽ-सिद्धस्वादिदोषपरिहारद्वारेण समर्थयमानो न पक्षयति ? घपि तु पक्षं करोत्येव । न चाऽसमिवतो हेतुः साम्यसिद्धमञ्जमतिश्रसञ्ज्ञात् । ततः पक्षप्रयोगभनिच्छता हेतुमनुक्त्वेव तत्समर्थनं कर्त्तं व्यम् । हेतोरवचने

प्रसंगमें प्रतिज्ञा अर्थात् पक्षप्रयोग नहीं होता हो सो भी बात नहीं "ग्रग्निरत्र धूमात्" दृक्षोयं शिक्षपात्वात् यहां पर धूम होनेसे ग्रग्नि है, शिक्षपा होनेसे यह दृक्ष है इत्यादि रूपसे पक्षके प्रयोग शास्त्र कथामें उपलब्ध होते हैं।

बौद्ध — शास्त्रकार जन शिष्योंको बोध किस प्रकार हो इस प्रकारके विचारमें लगे रहते हैं ग्रत: परानुप्रहको करनेवाले वे शास्त्रादिमें यदि प्रतिज्ञाका प्रयोग करते हों तो युक्तिसंगत है, क्योंकि प्रतिपाद्य-शिष्यादिके लिये पक्ष प्रयोग उपयोगी है ?

जैन – तो यही बात वादमें है, बादमें भी वादीगण परानुग्रह पक्ष एवं प्रतिपाद्य को अवबोधन करानेमें लगे रहते हैं श्रतः वाद कालमें भी पक्षका प्रयोग नितांत स्रावश्यक है। इसी श्रयंका उपहास करते हुए समर्थन करते हैं –

## को वा त्रिधा हेतु मुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।।३६।।

सूत्रायं — कौन ऐसा बुढिमान है कि जो तीन प्रकारके हेतुको कहकर पुनश्च उसका समर्थन करता हुआ भी पक्षका प्रयोग न करे ? [ घरिष्तु अवश्य ही करे ] ऐसा कौन प्रामाणिक बुढिमान पुरुष है जो कार्य हेतु, स्वभाव हेतु एवं अनुपलंभ हेतु इसप्रकार हेतु के तीन भेदोंको कथन करता है अथवा पक्षधमंत्व, सप्रसमस्व और विपक्ष व्यावृत्तिरूप हेतुके तीन स्वरूपका प्रतिपादन असिद्धादि दोषोंका परिहार करनेके लिये करता है वह पुरुष पक्षका प्रयोग न करे १ प्रयात् वह अवश्य ही पक्षका प्रयोग करता है । असमिषत हेतु साध्यसिद्धिका निमित्त होना भी ग्रसंभव है, क्योंकि प्रति-प्रसंग ग्राता है प्रयात् समर्थन रहित हेतु साध्यसिद्धिके प्रति निमित्त हो सकता है तो हैत्वाभास भी साध्यसिद्धिके प्रति निमित्त हो सकता है तो हैत्वाभास भी साध्यसिद्धिके प्रति निमित्त हो सकता है तो हत्वाभास भी साध्यसिद्धिके प्रति निमित्त हो सकता है स्वरूपका प्रति-

कस्य समर्थनिमिति चेत् ? पक्षस्याप्यनिभयाने वत्र हेत्वादिः प्रवर्षताम् ? गम्यमाने प्रतिज्ञा-विषये एवेति चेत्; गम्यमानस्य हेत्वादेरिप समर्थनमस्तु । गम्यमानस्यापि हेत्वादेमेन्दमितप्रतिपत्त्यस्य वचने तदयंमेय प्रतिज्ञावचनमप्यस्तु विशेषाभावात् । ततः साध्यप्रतिपत्तिमिच्छता हेतुप्रयोगवत्पक्ष-प्रयोगोप्यम्यूपगन्तव्यः । तद्वयस्यैवानुमानाञ्जत्वात्, इत्याह—

## एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गय्, नोदाहरणम् ॥३७॥

नतु ''पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनान्यवयनाः'' [न्यायसू० १।१।३२ (?) ] इत्यभिषानाद् दृष्टान्तादेरप्यनुमानाङ्गस्वसम्भवादेतदृहयमेवांगमित्ययुक्तमुक्तम् । प्रतिज्ञा द्यागमः । हेतुरनुमानम्,

पादनादिरूपसे समर्थन करना तो आवश्यक नहीं रहा ? फिर तो पक्षप्रयोगको नहीं चाहने वाले पुरुषको हेनुको बिना कहे ही उसका समर्थन करना चाहिये।

बौद्ध—हेतुका वचन या प्रयोग किये बिना किसका समर्थन करे 🖁

जैन-तो पक्षका वचन न कहने पर हेतु आदि भी कहां पर प्रवृत्त होंगे ?

बौद्ध--गम्यमान (ज्ञात हुए) प्रतिज्ञाके विषयमें ही हेतु भ्रादि प्रवृत्त होते हैं।

जैन—तो वैसे ही गम्यमान हेतु भ्रादिका समर्थन करना चाहिए ।

बौद्ध — मंदमतिको समक्षाने के लिये गम्यमान हेतु भ्रादिका भी कथन करना पड़ता है ?

जैन — इसीप्रकार प्रतिज्ञा प्रयोग भी मंदमितको समक्षानेके लिये करना पड़ता है उभयत्र समान बात है, कोई विशेषता नहीं। अतः साध्यको प्रतिपत्तिको चाहनेवाले पुरुषको हेतु प्रयोगके समान पक्षप्रयोग भी स्वीकार करना चाहिये। यही दो अनुमानके अंग हैं ऐसा अग्रिम सूत्रमें कहते हैं —

# एतद् द्वयमेवानुमानांगं नोदाहरणम् ।।३७।।

सूत्रार्थ—पक्ष और हेतु ये दो ही अनुमानके अंग हैं, उदाहरण अनुमानका अंग नहीं है।

यहां पर नैयायिकादि परवादियोंका कहना है कि पक्ष, हेतु, इष्टांत, उपनय, निगमन ये पांच श्रनुमानके श्रंग हैं, इनमें उदाहरणको भी अनुमानका श्रंग स्वोकार किया है अतः अनुमानके दो ही श्रंग मानना श्रयुक्त है। पक्ष आदि अंगोंका श्रर्थ प्रतिज्ञातार्थस्य तेनानुमीयमानत्वात् । उदाहरःग् प्रत्यक्षम्, "वादिप्रतिवादिनोर्धत्र बुद्धिसाम्य तष्टुद्या-हरणम्" [ ] इति वयनात् । उपनय उपमानम्, रष्टांतवर्षिसाज्यवर्षिमणोः सारुवात्, "प्रसिद्ध-साधम्यात्साज्यसाधनमुपमानम्" [न्यायस्० १।११६ ] इत्यिभधानात् । सर्वेषामेकविषयत्वप्रदर्शनफलं निगमनमित्याशंकपोदाहरणस्य तावत्तदंगस्यं निराकुर्वस्राह्-नोदाहरणस् । अनुमानांगमिति सम्बन्धः ।

तद्धिक सक्षात्साच्यप्रतिपत्ययंगुपादीयते, हेतोः साध्याविनाभावनिःचयार्थं वा, व्याप्ति-स्मरुराार्थं वा प्रकारान्तरासम्भवात ? तत्राद्यविकल्पोऽपूक्तः—

इसप्रकार है—पक्ष ग्रयांत् प्रतिज्ञा आगम ज्ञान रूप होती है। हेतु अनुमान रूप होता है, क्योंकि प्रतिज्ञात अर्थ अनुमान हारा अनुमेय (जानने योग्य) होता है। उदाहरण अर्थात् हष्टांत प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि वादी और प्रतिवादी (जो पहले प्रपना पक्ष स्थापित करता है उसे वादी कहते हैं और जो उस पक्षका निराकरण करते हुए प्रपना दूसरा पक्ष (सिद्धांत) स्थापित करता है उसे प्रतिवादी कहते हैं) का बुद्धिसाम्य जहां पर हो उसे उदाहरण कहते हैं, अर्थात् दोनोंको जो मान्य एवं ज्ञात हो उसे उदाहरण कहते हैं। उपनय उपमा प्रमाणस्य होता है क्योंकि हष्टांत धर्मी और साध्यधर्मीका साहश्य इसका विषय है, प्रसिद्ध नाधम्यंसे साध्यकों साथना उपमाज्ञान कहलाता है इस ज्ञानरूप उपनय होता है। सभी प्रमाणोंका एक विषय है ऐसा प्रदर्शन करना प्रथात् आगम अनुमानादिप्रमाण द्वारा प्रतिपादित पक्ष हेतु आदिका विषय एक प्रगिन-आदि साध्यको सिद्ध करना ही फल है ऐसा अंतमें दिखलाना निगमननामा अनुमानांग है।

इसप्रकार के नैयायिकादिके मंतव्यको लक्ष्य करके ही माणिक्यनंदी झाचार्यने "नोदाहरणम्" इस पदका प्रयोग किया है अर्थात् उदाहरण अनुमानका अंग नहीं है ऐसा प्रथम ही यहां पर कहकर उक्त मंतव्यका निराकरण किया है ( स्रागे कमशः उपनय और निगमनका भी निराकरण करेंगे)

उदाहरणका प्रयोग साक्षात् साध्यकी प्रतिपत्ति करानेके लिये होता है ग्रथवा हेतुका साध्याविनाभाव निश्चित करानेके लिये होता है या व्याप्तिका स्मरण करानेके लिये होता है ? इसप्रकार नैयायिकके प्रति जैनके प्रश्न हैं उक्त तीन विकल्पों को छोड़कर ग्रन्य प्रकार तो संभव नहीं है। प्रथम विकल्प ग्रयुक्त है—

# न हि तत्साध्यत्रतिपश्यक्तं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ॥३८॥

न हि तत् साध्यप्रतिपरयंग तत्र यथोक्तहेतोरेव साध्याविनाभाविनयमैकलक्षग्रस्य व्यापारात् । द्वितीयविकल्पोप्यसम्भाष्यः—

## तद्विनाभावनिश्चयार्थं वा विषक्षे बाबकादेव तत्सिद्धेः ॥३९॥

न हि हेतोस्तेन साध्येनाविनाभावस्य निश्चयार्थं वा तदुपादानं युक्तम्; विषक्षे बाघकादेव तस्तिद्धेः। न हि सपक्षे सत्वमात्राद्धेतोव्याप्तिः सिद्धयति, 'स श्यामस्तरपुत्रव्वादितरततपुत्रवत्' इरयत्र तदाभासेपि तस्तम्भवात्। ननु साकत्येन साध्यनिवृत्तौ साधन निवृत्तेरत्रासम्भवारपरत्र गौरेपि तस्तुत्रे

## न हि तत् साध्यप्रतिपत्यंगं का यथोक्त हेतोरेव व्यापारात् ॥३८॥

सूत्रार्थ—साध्यकी प्रतिपत्तिके लिये उदाहरण निमित्त नहीं है, क्योंकि वह प्रतिपत्ति तो यथोक्त (साध्याविनाभावी) हेनुके प्रयोगसे ही हो जाती है। साध्यके साथ जिसका प्रविनाभावी संबंध है ऐसे हेनु द्वारा ही साध्यका बोध हो जानेसे उदाहरणकी प्रावश्यकता नहीं रहती है। द्विनीय विकल्पहेनुका साध्याविनाभाव ज्ञात करनेके लिये उदाहरणरूप ग्रंगको स्वीकार करना भी अयुक्त है—

## तदिवनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत् सिद्धेः ।।३६।।

सुत्रार्थ — साध्य साधनका अविनाभाव निश्चित करनेके लिए भी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विपक्षमें बायक प्रमाणको देखकर ही उसका निश्चय हो जाता है। साध्यके साथ अमुक हेनुका अविनाभाव है इसप्रकारका निर्णय करनेके लिए उदाहरणको प्रहण करना भी अयुक्त है, वह निर्णय तो विपक्षमें बाधक प्रमाणसे ही हो जाता है अर्थात् अमुक हेनु विपक्षमें सर्वया असंभव है, इस प्रकारके बाधक प्रमाणसे ही हो जाता है अर्थात् अमुक हेनु विपक्षमें सर्वया असंभव है, इस प्रकारके बाधक प्रमाणसे ही हेनुका अविनाभाव सिद्ध होता है। हेनुके साध्याविनाभावकी सिद्ध केवल सपक्षसत्त्वसे नहीं होती, क्योंकि सपक्षसत्त्व तो हेत्वाभासमें भी संभव है, जैसे "वह पुत्र काला है, क्योंकि उसका पुत्र है, जिस तरह उसके अन्य पुत्र भी काले हैं" इस प्रकारके तत्पुत्र-त्वादि हेत्वाभासोंमें सपक्ष सत्त्व रहता है किन्तु उससे साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।

तत्पुत्रत्वस्य भावाम् व्याप्तिः; तर्हि साकत्येन साध्यनिवृत्तौ साधनिवृत्तिनिरुचयरूपादबाधकादेव व्याप्तिप्रसिद्धेरलं रष्टान्तकत्पनया ।

# व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिः तत्रापि तद्विप्रतिषचावनवस्त्रानं स्यात् इष्टान्तान्वरापेक्षणात ॥४०॥

किंच, वादिप्रतिवादिनीयेत्र बुद्धिसाम्यं स रष्टान्तो भवति प्रतिनियतव्यक्तिरूपः, यथाऽनौ साम्बे महानसादिः। व्यक्तिरूपं च निदर्शनं कयं तदावनाभावनिद्दयार्थं स्यात् ? प्रतिनियतस्यक्ती तिन्नव्यस्य कर्तुं मशक्तेः। प्रनियतदेशकालाकाराधारतया सामान्येन नुव्याप्तः। कथमन्यथान्यत्र

शंका—उक्त श्रनुमानमें साकल्यपनेसे नाध्यके निवृत्त होनेपर साधनकी निवृत्ति होना ग्रसंभव है, क्योंकि उसके अन्य गोरे पुत्रमें भी तत्पुत्रत्व संभावित है स्रतः तत्पुत्रत्व हेनुकी स्वसाध्य (काला होना) के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती ?

समाधान –तो फिर साकल्यपनेसे साघ्यके निवृत्त होने पर साधनकी निवृत्ति होती है ऐसा निश्चय करानेवाले बाधक प्रमाराभे ही व्याप्तिकी सिद्धि हुई, हिप्टांतकी कल्पना तो व्यर्थ ही है।

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्ति स्तत्रापि तद् विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टांतांतरापेक्षणान् ॥४०॥

सूत्रार्थ - दूसरी बात यह भी है कि ट्रप्टांत किसी विशेष व्यक्तिरूप मात्र होता है किन्तु व्याप्ति सामान्यरूप होती है अतः ट्रप्टांतमें भी यदि साध्यसाधनके अविनाभाव संबंधमें विवाद खड़ा हो जाय तो अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि उक्त विवाद स्थानमें पुनः दृष्टांतकी आवश्यकता पड़ेगी, तथा उसमें विवाद होनेपर तीसरे दृष्टांतकी आवश्यकता होगी।

किंच, जहां वादी प्रतिवादी दोनोंके बुद्धिका साम्य हो वह दृष्टांत कहलाता है, यह दृष्टांत प्रतिनियत व्यक्तिरूप हुपा करता है, जैसे ग्रिनिरूप साध्यमें महानसका दृष्टांत है। यह व्यक्तिरूप उदाहरण साध्यसायनके ग्रिवनामावका निश्चय किसप्रकार करा सकता है ? प्रतिनियत व्यक्तिमें उसके निश्चयको करना तो ग्रिशक्य ही है। इसका भी कारण यह है कि ग्रिनियत देश ग्रिनियत काल एवं ग्रिनियत आकार के ग्राचाररूपसे सामान्यस्वरूप व्यक्ति होती है उसका प्रतिनियतव्यक्ति में निश्चय होना कथमिप संभव साधनं साध्यं साधयेत् ? तत्रापि दृष्टान्तेपि तस्यां ब्याप्तौ विप्रतिपत्तौ सत्यां दृष्टांतान्तरान्वेषऐऽनवस्थानं स्यात् ।

#### नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ॥४१॥

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं दृष्टान्तोपादानं तथाविवस्य प्रतिपन्नाविनाभावस्य हेतीः प्रयोगादेव तस्स्मृतेः । एवं चात्रयोजनं तदुदाहरणम् ।

# तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसावने मन्देहयति ॥४२॥ कृतोऽन्यथोपनयनिगमने १॥४३॥

परं केवलमिश्रधीयमानं साध्यसाधने साध्यर्थीमिंग् सन्दह्यति सन्देहवती करोति । कुतोऽन्य-योषनर्यानगमने ?

नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो अन्यत्र स्थान पर हेतु स्वसाध्यको कैसे सिद्ध करता क्षेत्र तथा इण्टांतमें भी व्याप्तिके विषयमें विवाद हो जाय तो अन्य इष्टांतकी खोज करनी पड़नेसे अनवस्था आयेगी।

नापि व्याप्ति स्मरणार्थ तथाविध हेतु प्रयोगादेव तत्स्मृते: ।।४१।।

सूत्रार्थं — व्याप्तिका स्मरण करानेके लिए भी उदाहरणकी जरूरत नहीं, उसका स्मरण तो तथाविध हेतुके प्रयोगसे ही हो जाया करता है। व्याप्ति स्मृतिके लिये हष्टांतका ग्रहण भी व्ययं है, क्योंकि जिसका साध्याविनाभाव ज्ञात है ऐसे हेतुके प्रयोग से ही व्याप्ति स्मरण हो जाता है। इस प्रकार उदाहरण प्रयोजनभूत नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ।

तत् परमभिवीयमानं साध्यर्धीमणि साध्यसाधने संदेहयति ।।४२।। कृतोऽन्यथोपनयनिगमने ।।४३।।

सूत्रार्थ — तथा केवल उदाहरणको कहनेसे साध्यधर्मीमें साध्यसाधनके बारेमें संशय उत्पन्न होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो उदाहरणके अनंतर ही उपनय और निगमनके प्रयोगकी आवश्यकता किस तरह होती शिक्षभित्राय यह कि बाल प्रयोगरूप अनुमानमें पक्ष हेतु और उदाहरणके अनंतर तत्काल ही उपनय और निगमनका प्रयोग किया जाता है, केवल उदाहरणका प्रयोग करे और आगेके उपनयादि को न कहे तो साध्यसाधन संदेहास्पद हो जाते हैं (अर्थात् ये धूम तथा अग्निरूप साध्यसाधन महानस के समान है या अन्य है शिक्षभित केवल उदाहरणके प्रयोग से संदेह बना रहता है।)

# मा भूदृष्टष्टान्तस्यानुमानं प्रत्यंगत्वमुवनयनियमनयोस्तु स्यादित्याशंकापनोदार्थमाह--न च ते तदंगे साध्यविभिणि हेतसाध्ययोर्वचनादेवाऽसंश्यात ।।४४॥

न च ते तदंगे साध्यधींमिणः हेतुसाध्ययोर्बचनादेव हेतुसाध्यप्रतिपत्तौ संशयाभावात् । तथापि इष्टान्तादेरनुमानावयवत्वे हेतुरूपत्वे वा—

## समर्थनं वा वरं हेतुरूपमतुमानावयवीवास्तु साध्ये तदुपयीगात् ॥४४॥

समर्थनमेव वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तस्योपयोगात् । समर्थनं हि नाम हेतौर-सिद्धस्वादिदोषं निराकृत्य स्वसाध्येनाऽविनाभावसाधनम् । साध्यं प्रति हेतोर्गमकस्वे च तस्यैवोपयोगो नान्यस्थेति ।

नतु ब्युत्पन्नप्रज्ञानां साध्यर्धामिशा हेतुसाध्ययोवेचनादेवासंशयादयंप्रतिपन्ते रेष्टान्तादिवचन-मनर्षकमस्तु । बालानां त्वब्युत्पन्नप्रज्ञानां ब्युत्पत्त्ययं तन्नानयंकमित्याह् –

हष्टांत अनुमानका अंग मत होवे किन्तु उपनय और निगमन तो उसके अंग होते हैं ? इसप्रकारकी आर्थका होने पर उसको दूर करते हैं —

न च ते तदंगे साध्यधीमणि हेतु साध्ययोर्वचनादेवाऽसंशयात् ॥४४॥

सूत्रार्थ — उपनय और निगमन भी अनुमानके अंग नहीं है क्योंकि साध्यक्षमीं में साध्य और हेतुका कथन करनेसे ही तत्संबंधी संशय दूर हो जाता है। इसप्रकार संशय रहित साध्य सिद्धि संभावित होते हुए भी इष्टांतादिको प्रमुमानका अंग माना जाय श्रथवा सपक्षसत्त्वादि हेतुका त्रिरूप माना जाय तो —

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात् ।।४४।।

सूत्रार्थ —हेतुरूप समर्थनको ही अनुमानका अवयव माना जाय, क्योंकि वह साध्यमें उपयोगी है। हेतुके असिद्धादि दोषको दूर करके स्वसाध्यके साथ उसका अविनाभाव स्थापित करना समर्थन कहलाता है। अथवा विपक्षमें साकल्यपनेसे बाघक प्रमाणका प्रदर्शन करना समर्थन है। साध्यके प्रति हेतुका गमकपना होनेमें समर्थन ही उपयोगी है ग्रन्य नहीं।

मंका--व्युत्पन्न प्रज्ञा वाले (साध्य साधन संबंधी पूर्गज्ञान रखने वाले) पुरुषोंको साध्यधर्मीमें हेतु ग्रौर साध्यके कथन करनेसे ही संशयरहित अर्थकी प्रतिपत्ति

# बालव्युत्वस्यर्थं तत्त्रयोषममे शास्त्र एवासौ न बादेऽनुपयोगात् ।।४६।।

बालव्युत्पत्यर्थं तत्त्रयोपामे इष्टान्तोपनयनिगमनत्रयाम्युपामे, शास्त्र एवासौ तदम्युपामः कर्तव्यः न वादंऽनुपयोगात् । न खलु वादकाले शिष्या व्युत्पाद्यन्ते व्युत्पन्नप्रज्ञानामेव वादेऽधिकारात् । शास्त्रे चोदाहरएगादौ व्युत्पन्नप्रज्ञा वादिनो वादकाले ये पतिवादिनो यया प्रतिवद्यन्ते तान् तवैव प्रतिपादियतुं समर्या भवन्ति, प्रयोगपरिपाटघाः प्रतिपादानुरोधतो जिनपतिमतानुसारिभरम्यु-पगमात ।

तत्र तद्व्युत्पादनार्थं कटान्तस्य स्वरूपं प्रकारं चोपदर्शयति--

# इष्टान्तो द्वेषाऽन्वयव्यतिरेकमेदातु ॥४७॥

हो जाती है अतः उनको दृष्टांतादि का कथन करना व्ययं है किन्तु भ्रव्युत्पन्न प्रज्ञाबाले पुरुषोंको व्युत्पन्न करानेके लिए हष्टान्तादिक व्यर्थ नहीं होते ?

उपर्युक्त शंकाका समाधान करते हैं-

बालव्युत्पत्यर्थं तत् त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ॥४६॥

सूत्रार्थ — बाल बुद्धिवाले पुरुषोंके जानकारीके लिए दृष्टांत ग्रादि तीनों अंगोंको स्वीकार किया जाता है किन्तु वह स्वीकृति शास्त्रके समय है वादके समय नहीं, बादमें दृष्टान्तादि तो प्रनुपयोगी है। यदि दृष्टांत उपनय ग्रीर निगमनको स्वीकार करना है तो वह शास्त्र चलमें स्वीकार करना चाहिए। वाद कालमें नहीं। इसका कारण यह है कि वादकालमें शिष्योंको व्युत्पन्न नहीं बनाया जाता। वादका अधिकार तो व्युत्पन्न बुद्धिवालोंको ही है। शास्त्रमें उदाहरण ग्रादि रहते हैं उसमें जो निपुण हो जाते हैं वे वादीगण वाद करते समय सामनेवाले प्रतिवादी पुरुष जिसप्रकारसे समक्त सके उनको उसी प्रकारसे समक्तानेमें समर्थ हुआ करते हैं, उस समय जितने ग्रनुमानांगसे प्रयोजन सधता है उतने ग्रंगका प्रयोग किया जाता है, क्योंकि प्रयोग परिपाटी तो प्रतिपाद्यके ग्रंगुसार होती है ऐसा जिनेन्द्रमतका ग्रंगुसरण करनेवालोंने स्वीकार किया है।

श्रव बाल बुढिको ध्युत्पन्न करानेके लिए हप्टांतका स्वरूप तथा प्रकार कहते हैं—

ह्टांतो हे था प्रन्वय व्यतिरेकभेदात् ॥४७॥

्रष्टो हि विधिनवेशस्यतया बादिप्रतिवादिम्यामविप्रतिपत्या प्रतिपन्नोऽन्तः साध्यसाधनधर्मो यंत्रासौ ष्टान्त इति व्युत्पत्तेः।

ग्रथ कोऽन्वयदृष्टान्तः कश्च व्यतिरेकदृष्टांत इति चेत् —

माध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्शते सोन्वयदृष्टान्तः ।।४८।।

यथानी साध्ये महानसादिः ।

साच्यामावे साधनाभावः यत्र कथ्यते स न्यतिरेकदृष्टान्तः ॥४९॥ यथा तस्मिन्नेव साध्ये महाहृदादिः ।

ध्रथ को नाम उपनयो निगमनं वा किमित्याह—

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥४०॥ प्रतिक्षायास्त निगमनम् ॥४१॥

सूत्रार्थ — इंस्टांतके दो भेद हैं अन्वय इंस्टांत ग्रीर व्यतिरेक इंस्टांत । वादी और प्रतिवादी द्वारा विना विवादके विधि प्रतिषेधरूपसे देखा गया है साध्य साधन धर्म जहां पर उसे "इंस्टान्त" कहते हैं इसप्रकार इंस्टान्त शब्दका व्यूत्पत्ति अर्थ है इंस्टां अन्तौ—साध्यसाधन—धर्मी यस्मिन् स इंस्टान्त: । अन्वय इंस्टान्त कौन है ग्रीर व्यतिरेक इंस्टान्त कौन है ! इसप्रकार प्रकृत होने पर कहते हैं—

साध्य व्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय दृष्टान्तः ॥४८॥

सूत्रार्थ—जहां पर साध्यसे व्याप्त साधनको दिखाया जाता है उसे ग्रन्वय हष्टान्त कहते हैं। जैसे ग्रन्निको साध्य करने पर रसोई घर का हष्टांत देते हैं।

साध्याभावे साधनाभावः यत्रकथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्तः ।।४६।।

सूत्रार्थ—जहांपर साध्यके अभावमें साधनका ग्रभाव दिखलाया जाता है उसे व्यतिरेक हण्टान्त कहते हैं। जैसे उसी ग्राग्निरूप साध्य करनेमें महाह्रद ( सरोवर ) का हण्टान्त दिया जाता है।

उपनय किसे कहते हैं और निगमन किसे कहते हैं सो बताते हैं— हेतोरुपसंहार उपनयः ॥५०॥ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥५१॥ प्रतिज्ञायास्त्रुपसंहारो निगमनम् । उपनयो हि साध्याविनाभावित्येन विशिष्टे साध्याविष्यु-पनीयते । येनोपदर्थते हेतुः सोभिधीयते । निगमनं तु प्रतिज्ञाहेत्याहरणोपनयाः साध्यलक्षणैकार्यतया निगम्यन्ते सम्बद्धयन्ते येन तदिति ।

तच्चानुमानं द्वायवयवं श्यवयवं पत्वावयवं वा द्विप्रकारं भवतीति दर्शयन्--

तदत्रमानं हो वा ॥४२॥

इत्याह ।

कृतस्तद्द्वेधेति चेत्?

स्वार्थपरार्थभेदात ॥४३॥

तत्र-

स्वार्थम्कलक्षणम् ॥५४॥

स्वार्थमनुमानं साधनात्साध्यविज्ञानमित्युक्तलक्षराम् ।

सूत्रार्थ — हेतुको दुहराना उपनय है और प्रतिज्ञाको दुहराना निगमन है। साध्यके साथ जिसका प्रविनाभाव है ऐसे हेतुका विशिष्ट साध्य धर्मीमें जिसके द्वारा प्रदर्शन किया जाता है उसको उपनय कहते हैं "उपनीयते हेतुः येन स उपनयः" इस प्रकार उपनय शब्दको निशक्ति है। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरणा और उपनय इनका साध्य लक्षणभूत एक है अर्थ जिसका इसप्रकार जिसके द्वारा संबद्ध किया जाता है उसे निगमन कहते हैं। "निगम्यते—संबद्ध्य ते प्रतिज्ञादयः येन तद् निगमनम्" इसतरह निगमन शब्दकी निशक्ति है।

इसप्रकार दो भ्रवयव वाला या तीन भ्रवयव वाला अथवा पांच भ्रवयव वाला वह भ्रमुमान दो प्रकारका होता है ऐसा दिखलाते हैं—

> तवनुमानं द्वेघा ।।५२।। स्वार्थपरार्थभेदात् ।।५३।। स्वार्थमुक्त लक्षणम् ।।५४।।

सूत्रार्थ — वह प्रमुमान दो प्रकारका है, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान साधनसे होनेवाले साध्यके ज्ञानको भनुमान कहते हैं ऐसा पहले बताया है वही स्वार्था-न्नुमान कहलाता है। परार्थानुमान कौनसा है सो ही कहते हैं — कि पुन: परार्थानुमानमित्याह परार्थमित्यादि-

## परार्थं त तदर्थपरामर्श्विचनाज्जातम् ॥४४॥

तस्य स्वार्थानुमानस्यार्थः साध्यसाधने तत्परामशिवचनाज्ञातं यत्साध्यविज्ञानं तत्पदार्थानु-मानमः।

ननु वचनात्मकं परार्श्वानुमानं प्रसिद्धम्, तच्चोक्तप्रकारं साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमिति बर्णयता कथं सङ्ग्रहीतमित्याह—

# तद्वचनमवि तद्धे तुत्वात् ।। ४६।।

तद्वचनमपि तद्यंपरार्माशवचनमपि तद्वेतुःवान् ज्ञानलक्षरामुख्यानुमानहेतुःबादुपचारेस् परायानुमानमुच्यते । उपचारनिमित्तं चास्य श्रतिपादकश्रतिपाद्यापेक्षयानुमानकार्यकारराह्यम् ।

#### परार्थं तु तदर्थं परामिश वचनाज्जातम् ॥ ११॥

सूत्रार्थ — स्वार्थ्यानुमानके अर्थका परामर्थ करनेवाले वचनसे जो उत्पन्न होता है उसे परार्थाद्वमान कहते हैं। स्वार्थानुमानके अर्थभूत साध्यसाधनको प्रकाश्चित करने वाले वचनको सुनकर जो साध्यका ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है।

शंका—परार्थानुमान वचनात्मक होता है, साध्यके ज्ञानको परार्थानुमान कहते हैं ऐसा वर्णन करते हुए उक्त वचनात्मक परार्थानुमान का संग्रह क्यों नहीं किया है ?

इस शंकाका समाधान करते हैं-

# तद् वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।।५६।।

सूत्रार्थ - स्वार्थानुमान का प्रतिपादक वचन भी कथंबित परार्थानुमान कहलाता है, वर्योकि वह वचन परार्थानुमान ज्ञानमें कारण पड़ते हैं। साध्य साधनभूत अर्थके छोतक वचन भी ज्ञान लक्षणभूत अर्थक उत्तमानका निमित्त होनेके कारण उपचारसे परार्थानुमान कहलाता है। प्रतिपादक पुरुष और प्रतिपाद शिष्यादिकी अपेक्षासे इस अनुमानमें कार्य कारणभाव होनेसे यह उपचार निमित्तक है। साध्यसाधन वचनका प्रतिपादन करने वाले पुरुषका ज्ञान लक्षणभूत अनुमान है कारण जिसका उसको कहते हैं "तद् वचन"। तथा प्रतिपाद शिष्यादि पुरुषके ज्ञान लक्षणरूप अनुमानका जो

तत्प्रतिपादकज्ञानलक्षणानुमान(न)हेतुः कारणं यस्य तद्वचनस्य, तस्य वा प्रतिपाद्यज्ञानलक्षणानु-मानस्य हेतुः कारणम्, तद्भावस्तद्वेतुत्वम्, तस्मादिति । मुख्यरूपतया तु ज्ञानमेव प्रमाणं परनिरपेक्ष-तयार्ज्यप्रकाशकत्वादिति प्राव्यतिपादितम् ।

यथा चानुमानं द्विप्रकारं तथा हेतुरिष द्विप्रकारो भवतीति दर्शनार्थं स हेतुर्द्वेषेत्याह---स हेतुर्द्वेषा उपलब्ध्यनुपलब्धिमेदात इति ॥५७॥

कारण है उसे "तद्धे तुर्व" कहते हैं यह "तद् वचनं" श्रीर "तद्धेतुत्वात्" शब्दकी निरुक्ति है। इसका अर्थ यह है कि जिस पुरुषको घूम श्रीर श्रीनरूप साध्य साधनका ज्ञान है वह कहीं पर्वतादिमें घूमको देखकर समीपस्य पुरुषको कहता है कि "यहां पर अपन अवश्य है क्योंकि घूम दिखायी दे रहा है" इस साध्यसाधनके वचनको सुनकर उसके निमित्तसे उक्त पुरुषको जो साध्यसाधनका ज्ञान होता है वह वास्तविक परार्थानुमान है श्रीर उक्त ज्ञाता पुरुषके जो साध्यसाधनके वचन मात्र है वह श्रीपचारिक परार्थानुमान है। परकी अपेक्षा विना किये जो पदार्थोंको प्रकाशित करता है ऐसा ज्ञान ही मुख्यरूपसे प्रमाण है इसप्रकार पहले प्रतिपादन कर चुके हैं (प्रथम भागके कारकसाकत्यवाद सिक्षकर्षवाद आदि प्रकरणोंमें) अतः वचनात्मक अनुमान उपचार मात्रसे परार्थानुमान कहला सकता है वास्तविकरूपसे नहीं ऐसा निश्चय हुग्र।

भावार्थ — नैयायिक स्नादि परवादी साध्यसाधनको कहने वाले बचनको हो परार्थानुमान मानते हैं, उनके यहां सर्वत्र ज्ञानके कारणको ही प्रमाण माना जाता है जैसे इन्द्रिय और पदार्थका सिन्नक्षं अर्थात् योग्य समीप स्थानमें होना ज्ञानका कारण है सो इस सिन्नक्षंको प्रमाण माना किन्तु पदार्थों को जाननेकी सामर्थ्यं तो ज्ञानमें है श्रतः ज्ञान हो प्रमाण है, बाध्यसिन्नक्षांदि तो व्यभिचारी कारण है अर्थात् इससे ज्ञान हो नहीं भी हो, तथा दिव्य ज्ञानीके तो इन कारणोंके बिना ही ज्ञान उत्पन्न होता है अतः प्रमाण तो ज्ञान ही है, वचनको प्रमाण मानना, सिन्नक्षंको प्रमाण मानना यह सब मान्यता सदोष है, इसका विवेचन प्रथम भागमें भली भांति हुआ है। इसप्रकार यह निश्चित हो जाता है, साध्यसाधनके वचन परार्थानुमानका निमित्त होनेसे उपचारसे उसे परार्थानुमान कह देते हैं, वह कोई वस्तुभूत अनुमान प्रमाण नहीं है। यस्तु।

भ्रनुमानके समान हेतु भी दो प्रकारका होता है ऐसा कहते हैं — स हेतु ढ्वेंबा उपलब्ध्यनपलब्धि भेदात् ।।५७।। ्योऽविनाभावललग्गलक्षिता हेतुः प्रावप्रतिपादितः स द्वेषा भवति उपलब्ध्यनुपवस्थिभेदात् । ह तत्रोपलब्धिविधिसाधिकवानुपलब्धियः प्रतियेवसाधिकवेत्यनयोविषयनियममुपलब्धिरित्या-विना विषट्यति—

## उपलब्बिविधिप्रतिषेषयोरनुपलब्बिय ।।४८।।

श्रविनाभावनिमित्ती हि साध्यसाघनयोगस्यामकभावः। यथा चोपलब्धेविधी साध्येऽविना-भावादगमकत्वं तथा प्रतिपेधेपि। ग्रनुपलब्धेदच यथा प्रतिपेधे ततो गमकत्वं तथा विधावपीत्यप्रे स्वयमेवाचार्यो वक्ष्यति।

सा चोपलंब्धिद्विप्रकारा भवत्यविरुद्धोपलब्धिवरुद्धोपलब्धिरेचेति—

अविरुद्धोपलन्धिविधौ पोढा न्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरमेदात् ।।५९।।

सूत्रार्थ — उपलब्धि हेतु ध्रीर ध्रनुपलब्धि हेतु इसतरह हेतुके दो भेद हैं। साध्यके साथ जिसका प्रविनाभाव है वह हेतु कहलाता है ऐसा पहले कहा है, उसके उपलब्धि हेतु ध्रीर अनुपलब्धि हेतु इसतरह दो भेद हैं। उपलब्धि हेतु केवल विधिसाधक ही है, ध्रीर अनुपलब्धि हेतु केवल प्रतिबंध सावक ही है ऐसा इन हेतुओं के विश्वका नियम करनेवालेका मंतव्य विधिटत करते हैं —

# ंउपलब्धिविधि प्रतिषेधयोरनुपलव्धिश्च ।।५८।।

सूत्रार्थ — उपलब्धि हेतु भी विधि तथा प्रतिषेध ( ग्रस्तिस्व नास्तिस्व या सद्भाव ग्रमाव ) का साधक है और अनुपलब्धि हेतु भी विधि तथा प्रतिषेधका साधक है। साध्य—साधनमें गम्य—गमकभाव अविनाभावके निमित्तसे होता है। जिसप्रकार विधिक्य साध्यमें ग्रविनाभावके कारण उपलब्धि हेतु गमक होता है उसप्रकार प्रतिषेध-रूप साध्यमें भी ग्रविनाभावके कारण उक्त उपलब्धि हेतु उस प्रतिषेधरूप साध्यका ग्रमक होता है। तथा जिस प्रकार प्रतिषेधरूप साध्यमें अविनाभावके निमिक्तसे ग्रनुपलब्धि हेतु गमक होता है। उसप्रकार विधिक्य साध्यमें भी उसी निमिक्तसे ग्रनुपलब्धि हेतु गमक होता है। ग्रमो स्वयं आचार्य इस विषयको, कहेंगे। उसलब्धि दो प्रकारकी है ग्रविरुद्धीपलब्धि ग्रीर विरुद्धीपलब्धि ग्रीर विरुद्धीपलिख्य ग्रीर विरुद्धीपलब्धि ग्रीर विरुद्धीपलब्धि ग्रीर विरुद्धीपलिख्य ग्रीर विरुद्धीपलब्धि ग्रीर विरुद्धीपलिख्य ग्रीर विरुद्धीपल

भ्रविरुद्धोपलब्धिविधौषोढा व्याप्य कार्य कारण पूर्वोत्तर सहस्रर भेदात् ।।५६।।

े तत्र साध्येनाविषद्धस्य व्याप्यादेश्यलिखिविषी साध्ये बोढा जवति व्याप्यकार्यकाररापूर्वीतर्गे सहचरभेदात् ।

ननुकार्यकारणभावस्य कुतस्वित्प्रमाणादशसिद्धः कथं कार्यं कारणस्य तद्वा कार्यस्य गमकं स्यादित्यप्यास्ता तावद्विषयपरिच्छेदे सम्बन्धपरीक्षायां कार्यकारणतादिसम्बन्धस्य प्रसाविषय-भागग्रत्वात् ।

ा नतु प्रतिद्वेषि कार्यकारणभावे कार्यभेव कारणस्य गमकं तस्यैव तैनाविनाभावात्, न पुनः कारण् कार्यस्य तदभावात्; इत्यसङ्कतम्; कार्याविनाभावितयाऽवधारितस्यानुमानकालप्राप्तस्य छत्रा-देविशिष्टकारणस्य छायादिकार्यानुमापकत्वेन सुप्रसिद्धत्वात् । न ह्यनुकूलमात्रमन्यक्रसण्डाप्तं वा कारण्

सूत्रार्थ—विधिरूप साध्यके रहने पर अविरुद्ध उपलब्धिरूप हेतुके छह भेद होते हैं व्याप्यश्रविरुद्धोपलब्धिहेतु, कार्यप्रविरुद्धउपलब्धिहेतु, क्रार्यश्रविरुद्धउपलब्धिहेतु, पूर्वचरअविरुद्ध उपलब्धि हेतु, सहचर अविरुद्ध उपलब्धि हेतु, सहचर अविरुद्ध उपलब्धि हेतु, सहचर आविरुद्ध उपलब्धि हेतु, सहचर आविरुद्ध उपलब्धि हेतु। साध्यके साथ जो अविरुद्धपने से उपलब्ध हो ऐसे हेतुके विधिरूप साध्यके रहने पर ये छह भेद संभावित हैं।

बौढ़ — किसी प्रमाणसे कार्य कारणभाव सिद्ध नहीं होता स्रतः कार्य हेतु कारणरूप साध्यका गमक या कारण हेतु कार्यरूप साध्यका गमक किस प्रकार हो सकता है ?

जैन — इस मंतब्यको अभी ऐसे ही रहने झीजिये आगे प्रमाणके विषयका वर्णन करनेवाले परिच्छेदमें सबंधकी परीक्षा करते हुए कार्यकारण आदि संबंधको भले प्रकारसे सिद्ध करने वाले हैं।

बौद्ध — कार्यकारण भाव सिद्ध हो जाय तो भी केवल कार्य ही कारणका गर्मक बन सकता है क्योंकि कार्य कारणके साथ अविनाभावी है, किन्तु कारण, कार्यके साथ प्रविनाभावी नहीं होनेसे उसका गमक नहीं बन सकता ?

जैन — यह ब्रसंगत है, जिस कारणकों कार्याविनामांव सुनिश्चित है ऐसे अनुमानकालमें उपस्थित हुए छत्रादि विशिष्ट कारण, छायाआदिरूप कार्यके अनुमापक हो रहे प्रसिद्ध ही है। हम जैन अनुकूलतारूप कारणमात्र को कारण हेर्नु नहीं मानते, म अंत्यक्षण प्राप्त कारणको कारण हेषु मानते हैं जिससे कि अविनाभावित्यंकी लिंगमुच्यते, येन प्रतिबन्धवैकल्यसम्भवादयभिचारि स्यात्, द्वितीयक्षणे कार्यस्य प्रत्यक्षीकरणादनुमाना-नर्यस्य वा । तदेव समर्थयमानो रसादेकसामग्रथनुमानेनेत्यादाह—

# रसादेकसामग्रयतुमानेन रूपातुमानमिच्छक्रिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामध्यी-प्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥६०॥

धास्वाद्यमानाद्वि रसात्तज्जनिका सामग्रभनुमीयते । पश्वातदनुमानेन रूपानुमानम् । सजातीयं हि रूपश्रसान्तरं जनयन्तेव प्राक्तनो रूपक्षस्यो विजातीयरसादिक्षस्यान्तरोत्पत्तौ प्रशुभैवेषा-न्यथा । तथा चैकसामग्रभनुमानेन रूपानुमानमिञ्छद्विरिष्टमेव किश्वित्कारस्यं हेतुर्येत्र सामर्थ्यप्रिति-बन्धकारसारस्यान्तरावैकत्ये भवतः ।

ग्रय पूर्वोत्तरचारिगाः प्रतिपादितहेतुम्योर्थान्तरत्वसमर्थनार्थमाह-

विकलता संभावित रहनेसे व्यभिचार दोव बावे । अथवा कारणके द्वितीय क्षणमें अर्थात् उत्तरकालमें कार्यका साक्षात्कार हो जानेसे कारणानुमान व्यर्थ हो जानेका प्रसंग ब्रा सके ! ब्रागे इसी विषयको कहते हैं—

> रसादेक सामग्रघनुमानेन रूपानुमान मिच्छद्भिरिप्टमेव किंचित्कारएां— हेतु यंत्र सामर्थ्याप्रतिबंधकारणांनरा वैकल्ये ।।६०।।

सूत्रार्थं — रससे सामग्रीका अनुमान और उस अनुमानसे रूपका अनुमान होना स्वीकार करनेवाले बौद्धोंको कारण हेनुको अवश्य मानना होगा जिसमें कि सामर्थ्यंका प्रतिबंध नहीं हुआ हो एवं कारणांतरोंकी अविकलता (पूर्णता) हो। यर्थात् बौद्धोंका मंतव्य है कि आस्वादन किये गये रससे उस रसको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीका अनुमान लग जाता है, पश्चात् उस अनुमानसे रूपका अनुमान होता है। इसका कारण यह है कि पहलेका रूपक्षण सजातीय अन्य रूपक्षणको उत्पन्न करके ही विजातीय रसादि क्षणांतरकी उत्पन्ति करानेमें समर्थ सहायक हो सकता अन्यया नहीं। इसप्रकार एक सामग्रीभूत अनुमान द्वारा रूपानुमानका प्रादुर्भाव माननेवाले बौद्धोंका जहांपर सामर्थ्यंकी रुकावट और अन्य कारणोंकी अपूर्णता न हो उस कारणको कारणहेनुरूपसे स्वीकार करना इष्ट ही है।

इसप्रकार बौद्धके मान्य तीन हेतुश्रोमें (कार्य-स्वभाव ग्रौर अनुपलब्धि) कारणरूप हेतुका समावेश नही होनेसे उनके हेतुकी संख्या गलत सिद्ध होती है। तथा

## न च वृत्रोत्तरसारिकोस्तादात्म्यं तदुत्वतिर्वा कालव्यक्याने तदनुपलक्येः ॥६१॥

प्रयोगः—यद्यस्काले ग्रनन्तरं वा नास्ति न तस्य तेन तादात्म्यं तदुरात्तिर्वा यथा अविध्यच्छ-ङ्ख्यकवित्तिकाले श्रसतो रावणादेः, नास्ति च शकटोदयादिकाले श्रनन्तरं वा कृत्तिकोदयादिकमिति । तादात्म्यं हि समसमयस्येव कृतकत्वानित्यत्वादेः प्रतिपन्नम् । श्रनिष्मादेष्चान्योग्यमञ्यवहितस्यैव तपुरुषतिः, न पुनर्थ्यवहितकालस्य प्रतित्रसञ्जात् ।

पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी उक्त हेतुओंसे पृथकरूप सिद्ध होते हैं ऐसा घ्रागेके सूत्रमें कह रहे—

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुःपत्ति र्वा कालव्यवधानेतदनुपलब्धेः ॥६१॥

सूत्रार्थ — पूर्वचर हेतु और उत्तर हेतु तादास्य तथा तदुस्पत्तिरूप तो हो नहीं सकते क्योंक इनमें कालका व्यवधान पड़ता है अतः इन हेतुओंका स्वभाव हेतु या कार्य हेतुमें अन्तभाव करना अशक्य है। काल व्यवधानमें तो तादास्य और तदुस्पत्ति की अनुपलिख ही रहेगी। जो जिसकालमें या अनंतरमें नहीं है उसका उसके साथ तादास्य तदुस्पत्तिरूप संबंध नहीं पाया जाता है, जैसे आगामीकालमें होनेवाले शंख नामा चक्रवर्तीक समयमें असद्भूत रावणादिका तादास्य्य या तदुस्पत्तिरूप संबंध नहीं पाया जाता। रोहिणी नक्षत्रके उदयकालमें अथवा अनंतर कृतिका नक्षत्रका उदय नहीं पाया जाता। रोहिणी नक्षत्रके उदयकालमें अथवा अनंतर कृतिका नक्षत्रका उदय नहीं पाया जाता। रोहिणी नक्षत्रके उदयकालमें अथवा अनंतर कृतिका नक्षत्रका उदय नहीं पाया जाता। रोहिणी नक्षत्रके उदयकालमें अथवा अनंतर कृतिका नक्षत्रका उदय नहीं पाया जाता। जो समान समयवर्ती होते हैं ऐसे कृतकत्व और नित्यत्वादिका हो तादास्य संबंध हो सकता है। तथा अगि और धूम आदिके समान जो परस्परमें अव्यवहित रहते हैं उनमें ही तदुस्पत्ति संबंध होना संभव है, काल व्यवधानभूत पदार्थोंमें नहीं। ऐसा नहीं मानेंगे तो अतिप्रसंग होगा। अर्थात् अतीत और अनागतवर्त्ती में भी तादास्थादि माननेका अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होगा।

बौद्ध - प्रज्ञाकर गुप्त नामा ग्रंथकार का मतव्य है कि भावी रोहिएए। का उदय कृतिकोदयका कार्य है अतः कृतिकोदयका गमक होता है, इसलिए इस रोहिणी उदयका कार्य हेतुमें अतमिब कैसे नहीं होगा ? अर्थाक् इसका अंतर्भाव कार्य हेतुमें होना चाहिए। नतु प्रज्ञाकराभित्रावेशा भाविरोहिण्युस्यकार्यतया कृत्तिकोदयस्य गमकत्वात्कयं कार्यहेतौ नास्यान्त्रभवि इति चेत् ? कथमेवमभूद्भरष्युदयः कृत्तिकोदयादित्यनुमानम् ? अय भरष्युदयोपि कृत्तिकोदयस्य कारस्यं तेनायमदोषः; ननु येन स्वभावेन भरष्युदयात्कृत्तिकोदयस्तैनैव यदि शकटोदयादः

जैन—तो फिर "भरणीका उदय एक मुहूर्त पहले हो चुका क्योंकि कृतिका का उदय हो रहा है" इस स्रनुमानकी किस प्रकार प्रवृत्ति होगी र स्रथीत् इस हेतुका किसमें अंतर्भाव करेंगे ?

बौद्ध--भरगीका उदयभी कृतिकोदयका कारण है श्रतः उक्त अनुमान प्रवृत्त नहीं होना स्रादि दोष नहीं धायेगा ।

जैन—जिस स्वभाव द्वारा भरणी उदयमे कृतिकोदय हुया उसी स्वभाव द्वारा रोहिणी उदयमे कृतिकोदय हुया है क्या १ यदि हां तो भरणी उदयमे वाद जैसे कृतिका उदय होता है कैसे रोहिणी उदयमे बाद भी कृतिका उदय होना चाहिए ? तथा जिस प्रकार रोहिणी उदयमे पहले कृतिका का उदय होता है उस प्रकार भरणी उदयमे पहले भी कृतिका उदय होना चाहिए था ? तथा इसप्रकार अतीत और अनागत कारणोंका एक कार्यमें व्यापार होना स्वीकार करते हैं तो आस्वाधमान रसका अतीत रस और भावीरूप दोनों ही कारण हो सकते हैं ? (क्योंकि अतीत और अनागत कारणोंका एक कार्यमें व्यापार होना स्वीकार कर लिया ) फिर वर्त्तमानरूप की अथवा अतीतरूपकों व्यापार होना स्वीकार कर लिया ) फिर वर्त्तमानरूप की अथवा अतीतरूपकों प्रतीति संभावित नहीं रहेगी। अभिप्राय यह है कि वर्त्तमान कार्यमें अनागत हेतु होता है तो उसका अववोध किस प्रकार होगा ? अर्थातू नहीं हो सकता। अतीतकाल और एक काल अर्थात् वर्त्तमानकाल है जिनका उन पदार्थोंका बोध होता है (कारणहेतुसे) न कि अनागतोंका। ऐसा बौद्ध अभिमत प्रमाणवार्त्तिक प्रथमें कहा है यह भी उक्त कथनसे अयुक्त हो जाता है।

बौद्ध — कृतिकोदयरूप हेतु भरणी उदय और रोहिणी उदयमें से किसी एकका कार्य है ?

जैन – तो उससे भरणी उदय और रोहिणी उदयमें से किसी एककी ही प्रतीति होगी। तदा भरण्युदयादिवाऽतीपि पक्ष्वादसी स्थात्। यथा च सकटोदयात्प्राक्तभैव भरण्युदयादि। यदि चातीतानागतयोरेकत्र कार्से व्यापारः; तह्यास्वाद्यमानरसस्यातीतो रस्रो भावि च रूपं हेतुः स्यात्। ततो च वत्तं मानस्य रूपस्य वातीतस्य वा प्रतीतिः। इत्ययुक्तमुक्तमून्"भ्रतीतैककालामां गतिर्वाऽनाग-तानाम्" [प्रमाखवा० स्ववृ० १।१३] इति। प्रचान्यतरकार्यमसी; तह्यं ऽन्यतरस्येवातः प्रतीतिर्भवेत्।

ननु स्वसत्तासमवायारपुर्वमसन्तोषि मरणादयोऽरिष्टादिकार्यकारिणो द्धास्ततोऽनेकान्तो हेतोरिस्याशङ्क्रप भाव्यतीतयोरित्यादिना प्रतिबिचले—

भावार्थ-बौद्ध पूर्वचर उत्तरचर भावि हेतुको नहीं मानते ग्रतः प्रश्न होता है कि कृतिकोदय आदिरूप पूर्वचर धादि हेतुओंका अंतर्भाव किस हेतुमें किया जाय ? उनके यहां तीन हेतू माने हैं-कार्य हेतू, स्वभाव हेतू और अनुपलब्धि हेतू । तादातम्य संबंधवाले पदार्थमें स्वभाव हेतु प्रवृत्त होता है एवं अनुपलब्धि हेतु अभावरूप होता है अतः इनमें पूर्वचरादि हेत् ग्रंतभू त नहीं हो सकते, कार्य हेतुमें अंतर्भाव करना चाहे तो वह भी असंभव है क्योंकि कृतिका नक्षत्रका उदय भरणी और रोहिणीके अंतराल काल में होता है अर्थात भरणी उदयके अनन्तर और रोहिणीके पहले होता है अतः यह भरणी उदयका तो उत्तरचर हेतु है, ग्रर्थातु कृतिकाका उदय हुन्ना देखकर भरणी उदयका निश्चय हो जाता है। तथा कृतिकोदयके एक मुहत्तं पश्चातु रोहिणीका उदय होता है ग्रत: उसके लिये यह कृतिकोदय पूर्वचर हेतु होता है, इसप्रकार कृतिकोदय भरणी उदय भ्रादिसे काल व्यवधानको लिए हुए है, जिनमें कालका व्यवधान पड़ता है उन पदार्थों में कार्य कारणभाव नहीं माना जाता । फिर भी बौद्धकी मान्यता है कि कृतिकोदय हेत्का कार्य हेत्में ही अंतर्भाव करना चाहिए, इस मान्यत।पर विचार करते हैं-कृतिकोदय एक कार्य है ऐसा मानकर उसमें अतीत भरणी उदय और अनागत रोहिणी अदय कारण पडते हैं ऐसा स्वीकार करते हैं तो पहली बाधा तो यह आती है कि जिसका कारण अभी आगे होनेवाला है उसकी प्रतीति नहीं हो सकेगी क्योंकि कारण ही नहीं तो उसका कार्य किसप्रकार दृष्टिगोचर होवे ? दूसरी बाधा यह होगी कि स्वयं बौद्ध ग्रंथमें लिखा है कि--''ग्रतीतैक कालानां गतिर्नागतानाम'' ग्रतीत ग्रौर वर्त्तमानवर्ती रूपादि साध्य की ही कार्य हेतु द्वारा ग्रवगति (ज्ञान) होती है, अनागत साध्यकी नहीं । ग्रतः कृतिकोदयरूप पूर्वचर ग्रादि हेतग्रोंका कार्यहेत्में अंतर्भाव करना कथमपि सिद्ध नहीं होता ।

# मान्यतीतयोर्भरणजाब्रद्वोधयोरिय नारिष्टोद्वोधौ प्रति हेतुत्वम् ।।६२॥

# तद्व्यापाराभितं हि तद्भावमावित्वम् ॥६३॥

न च पूर्वसेवोरपन्नमरिस्टं करतलरेखादिकं वा भाविनो मरस्पस्य राज्यादेव्यापारमपेक्षते, स्वयमुस्पन्नस्यापरापेक्षायोगात् । प्रयास्योत्पत्तिमंरस्यादिनंव क्रियते; न; प्रसतः खरविषास्यवस्कतुं त्वा-योगात् । कार्यकालेऽसस्वेपि स्वकाले सस्वाददोषद्वेतुः ननु कि भाविनो मरस्यादेः स्वकाले पूर्वं सस्वम्,

श्वंका—स्वसत्ताका समवाय होनेके पहले मरए।दिक असद्भूत होते हुए भी श्रेरिष्ट भादि कार्यको करते हुए देखे गये हैं श्रथात् मरण भावीकालमें स्थित है और उसका श्ररिष्टरूप कार्य पहले होता है श्रतः कारण हेतु पहले ही होता है ऐसा कारण हेतुका लक्षण व्यभिचरित होता है १

समाधान— इसी ग्राश्वंकाका अग्रिम सुत्र द्वारा निरसन करते हैं — भाव्यतीतयोर्मरएा जाग्रद् बोधयोरिप नारिष्टोद्बोधौप्रतिहेतुत्वम् ।।६२।।

तद् व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ॥६३॥

सूत्रार्थ—भावी मरणका अरिष्टिक प्रति हेतुगना नहीं है, तथा म्रतीत जाग्रद् बोधका (निद्रा लेनेके पहलेका जाग्रत स्रवस्थाके ज्ञानका) उद्बोधके (निद्रा के सनन्तर होने वाले ज्ञानके) प्रति हेतुगना नहीं है, अर्थात् भावीकालमें होनेवाला मरण वर्त्तमानके प्ररिष्टका कारण नहीं हो सकता एवं प्रतीतकालका जाग्रद ज्ञान स्नागामी अनेक समयोंके अंतरालमें होनेवाले उद्बोधका (सुप्तदशाके स्नन्तरका ज्ञान ) कारए नहीं हो सकता, क्योंकि कारणभावका होना कारणके व्यापारके आश्रित है पहलेसे ही उत्पन्न हुए प्ररिष्ट प्रांति अथवा हस्तरेखादिक स्नागामी कालके मरण या राज्यप्राप्ति स्नादिक व्यापारकी अपेक्षा नहीं रखते हैं, क्योंकि "जो स्वयं उत्पन्न हो चुका है उसको अन्यकी अपेक्षा नहीं होती" ऐसा न्याय है ।

बौद्ध-- भ्रिरिष्टादिकी उत्पत्ति भावी मरणादि द्वारा ही की जाती है ?

जैन—नहीं, खर विषाणके समान जो ग्रसत् है उसमें कार्यके कर्तृत्वका ग्रयोग है। भ्ररिष्टादेवी । भाविनः पूर्वं सत्वे ततः पश्चादरिष्टादिकःमुप्पनायमानं पास्चात्यं न पूर्वम् । इत्ययुक्त-मुक्तम्-'पूर्वमसन्तोपि मरुणादयोऽरिष्टादिकार्यकारिगः' इति । भ्रषान्यभाविमरुणाद्यपेक्षयारिष्टादिकं पूर्वमुच्यते; ननु तदिप सत् स्वकाले यदि ततः प्रागेव स्यात्; तर्हि पाश्चात्यमरिष्टादिकं कयं ततः पूर्व-मुच्यते ? भ्रन्यभाविमरुणाद्यपेक्षया चेदनवस्था ।

धय पूर्वमरिष्टादिकं स्वकाले परचाद्भाविमरुणादिकं स्वकालनियतं अवेत्; तर्हि निष्पन्नस्य निराकाङ्क्षस्यास्य वदचादूपजायमानेन मरुणादिना कथं करुणं कृतस्य करुणायोगात्? प्रन्यया न

बौद्ध—कार्यके कालमें भले असत्व हो किन्तु स्वकालमें सत्त्व होनेसे कोई दोष नहीं श्राता, श्रर्थात् मरगादिका भावीकालमें सत्त्व होता ही है अतः वह अरिष्टादि का कारगा हो सकता है ?

जैन – स्वकालमें होनेवाले भावी मरणादिका पहले सत्व था या अरिष्टादिका पहले सत्व था ? भावी मरणका पहले सत्त्व था पीछे उससे अरिष्टादि उत्पन्न हुए ऐसा कहो तो अरिष्टादिको पाश्चात्यपना ठहरा न कि पूर्वपना ? इस तरह तो पूर्वोक्त कथन अयुक्तसिद्ध होता है कि ''पूर्वमें असत् होकर भी मरणादिक अरिष्टादिको करते हैं' ।

बौद्ध — श्रन्थके भावी मरणादिकी अपेक्षासे अरिष्टको पहले हुआ ऐसा कहा जाता है।

जैन — वह श्रन्यका भावी मरण भी स्वकालमें पहले सत्त्वरूप था तो ग्ररिष्टादिको पाश्चात्यपना ही ठहरता है, फिर उसको मरणके पहले हुम्रा ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं श्रिन्यके भावी मरणकी ग्रपेक्षासे कहो तो अनवस्थादोष स्पष्ट दिखायी देता है।

स्वकालमें होनेवाले अरिष्टादिका पहले सत्त्व या भावी मरणादिक तो पीछे स्वकालमें होते हैं ऐसा दूसरा विकल्प स्वीकार करे तो जो निष्पन्न हो चुका है एवं किसी की ग्रंपेक्षा नहीं करता है ऐसे इस ग्ररिष्टको पश्चात् उत्पन्न होनेवाले मरणादिके द्वारा किसप्रकार किया जाय १ किये हुएको तो किया नहीं जाता, ग्रन्थण किसीभी कार्यमें किसी भी कारणका कभी भी उपरम नहीं होगा ग्रंपीत् कारण हमेशा उस एक कार्यको करता ही जायगा, वर्योकि पुनः पुनः उसी उसीको करना मान लिया।

स्वित्कार्ये कस्यविकारणस्य कदाविदुपरमः स्यात्, पृतःपुनस्तस्यैन करणात् । स्रवः निष्णक्षस्याप्य-निष्णन्यं किष्विद्र प्रमस्ति तस्करणात्तत्तरकारणं कल्प्यते, तत्ततो यद्यभिन्नमः, तदेव तत्तस्य च न करणः-मिरयुक्तम् । भिन्नं चेत्; तदेव तेन क्रियते नारिष्टादिकमित्यायातम् । तस्तम्बन्धिनस्यक्रम् करणात्तरिप कृतमिति चेत्; भिन्नयोः कार्यकारणभावाभान्यः सम्बन्धः, स्वयं सौगतैस्तथाऽम्युप्पकेश्वः।,तत्र चारिष्टा-दिना तरिक्रयेत, तेन वारिष्टादिकम् ? प्रथमपक्षेऽरिष्टादेवेव तन्निष्णतेमंरणादिकमकिश्वास्तरमेव वयनि-

बौद्ध — निष्पन्न वस्तुका स्वरूप भी कुछ ग्रनिष्पन्न रहता है उसको पुनः किया जाता है भ्रतः वह उसका कारण माना जाता है, मर्थात् घरिष्ट आदि निष्पन्न होते हुए भी उसका कुछ रूप अनिष्पन्न रहता है और उसको भावी मरण करता है ?

जैन—निष्पन्न प्ररिष्टका जो स्वरूप घनिष्पन्न है वह यदि अरिष्टसे म्रिभन है तो निष्पन्न अरिष्टरूप ही है ग्रीर उसको तो करना नही है। यदि ग्रनिष्पन्न स्वरूप म्ररिष्टसे भिन्न है तो उसीको मरणादिने किया घरिष्टको नही किया ऐसा ग्रयं हुया।

्र बौद्ध — ग्ररिष्टका ग्रनिष्पन्न स्वरूप ग्ररिष्टसे सम्बद्ध रहता है ग्रतः उसको करनेसे ग्ररिष्टको भी किया ऐसा माना जाता है ?

जैन — ग्ररिष्ट श्रीर उसका श्रानिष्पन्न स्वरूप ये दोनों भिन्न होनेसे इनमें कार्यकारण भावसे अन्य कोई संबंध बन नहीं सकता, स्वयं बौद्धने ऐसा स्वीकार किया है। अब प्रश्न होता है कि यदि अरिष्ट श्रीर उसके ग्रानिष्पन्न स्वरूपमें कार्यकारणभाव सम्बन्ध है तो उनमेंसे किसके द्वारा किसको किया जाता है, श्रीरप्ट द्वारा श्रानिष्पन्न स्वरूपको किया जाता है श्रायम पक्षमें माने तो अरिष्टसे अनिष्पन्न स्वरूप द्वारा श्रीरिष्टको किया जाता है श्रायम पक्षमें माने तो अरिष्टसे अनिष्पन्न स्वरूप वा जानेसे मरणादिक अकिचित्कर ठहरते हैं, क्योंकि किसी कार्यमें भी वे उपयोगी नहीं हैं। श्रीनिष्पन्न स्वरूप द्वारा श्रीरिष्टको किया जाता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो श्रीरिष्ट पहलेसे ही निर्मित है ग्रातः पीछेसे उत्पन्न होनेवाले अनिष्पन्न स्वरूप द्वारा उसको क्या करना शेष है ? कुछ भी नहीं, किये हुएको पुनः पुनः करना व्यर्थ है ऐसा पहले ही निर्मृत हो चुका है। यदि कहा जाय कि श्रिरिष्ट पहलेसे निर्मित रहते हुए भी उसका कुछ स्वरूप श्रीनिष्पन्न रहता है श्रीर उसको किया जाता है तो यह वही पहलेकी चर्चा है इसमें तो श्रनवस्था दोष श्राना स्पष्ट ही है।

द्य्यनुष्योगात्। तेनारिष्टादिकरुऐ पूर्वनिष्पन्नस्य पश्चादुपजायमानेन तेन कि क्रियत इत्युक्तम्। श्रयाऽ-निष्पन्नं किन्धिदस्ति; तत्रापि पूर्ववष्चचनिवस्या च।

ननु यद्यत्र कार्यकारणभावो न स्यात्कयं तर्हि एकदर्शनादस्यानुमानमिति चेत्; 'श्रविनाभावात्' इति बू मः। तादात्स्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धेप्यविनाभावादेव गमकत्वम् । तदभावे वक्तृत्वतत्पुत्रतादे-स्तादात्स्यतदुत्पत्तिश्रतिबन्धे सत्यिष श्रसर्वक्षते श्यामत्वे च साध्ये गमकत्वाप्रतीतेः। तदभावेषि चाविनाभावप्रसादात् कृत्तिकोदय-चन्द्रोदय-उद्गृहीताण्डकपिपीलिकोत्सर्पणएकाश्रफलोपलस्यमानमधुररसस्वरूपाण् हेनूनां यथाक्रमं शकटोदय-समानसम्यसमृद्धवृद्धि-भाविबृष्टि-समसमयसिन्द्रराष्ट्णरूपस्वभावेषु साध्येषु गमकत्वप्रतीतेरच । तदुक्तम्—

बौद्ध— ग्ररिष्ट ग्रीर भावी मरणमें यदि कार्यकारण भाव न माने तो उनमेंसे एकको देखनेसे दूसरेका ग्रनुमान किस प्रकार हो जाता है ?

जैन — ग्रविनाभाव होनेसे एकको देखकर दूसरेका अनुमान होता है। जहां पर तादात्म्य या तदुर्पित लक्षण वाले संबंध होते हैं उनमें भी ग्रविनाभावके कारएा ही परस्परका गमकपना सिद्ध होता है। ग्रविनाभावके नहीं होनेसे ही वक्तृत्व तत्पुत्रत्व आदि हेनु तादात्म्य ग्रीर तदुत्पित्तके रहते हुए भी श्रसवंज्ञत्व भौर ध्यामत्व रूप साध्यके गमक नहीं हो पाते। ग्रीर तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति नहीं होने पर भी केवल श्रविनाभावके प्रसादसे कृतिकोदय हेनु, चन्द्रोदय हेनु तथा उद्गृहीत-अंडक पिपीलिका उत्सर्पण-अर्थात् अंडेको लेकर चींटियोंका निकलना रूप हेनु, एक ग्राम्नफल में उपलब्ध हुन्ना मधुररस स्वरूप हेनु, इतने सारे हेनु यथाक्रमसे ग्रपने ग्रपने साध्यभूत रोहिणी उदय, समान समयका समुद्र वृद्धि, भावी वर्षा, समान समयका सिंदूरवत् लालवर्ण को सिद्ध करते हुए प्रतीतिमें ग्राते है।

भावार्थ —एक मुहूर्तके घनंतर रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा क्योंकि कृतिका नक्षत्रका उदय हो रहा है । इस अनुमानके कृतिकोदय हेतुमें साध्यके साथ तादास्म्य ग्रीर तदुत्पत्ति संबंध नहीं है फिर भी यह स्वसाध्यभूत रोहिणी उदयका गमक अवश्य है, इसीप्रकार समुद्रकी बृद्धि अभी जरूर हो रही क्योंकि चन्दमाका उदय हुआ है, वर्षा होनेवाली है क्योंकि चींटियां अंडे लंकर निकल रही है इत्यादि तथा सिंदूरके समान लाल रंग वाले एक आमको पहले किसीने खाया था पीछे प्रकाश रहित स्थान पर किसी ग्रामको खाया तो उसके मधुर रससे अनुमान प्रवृत्त होता है कि यह ग्राम सिंदूर वर्गी है क्योंकि मधुर रसवाला है, इन ग्रनुमानोंके हेतु तादास्म्य तदुत्पत्तिसे

"कार्यकारएमावादिसम्बन्धानां द्वयो गतिः । नियमानियमाभ्यां स्यादनियमादनङ्गता ॥१॥ सर्वेष्यनियमा ह्येते नानुमोत्पत्तिकारणम् । नियमारकेवलादेव न किञ्चिकानुमीयते ॥२॥"

ततः शरीरनिवंतं काऽच्छादिकारणकलापादरिष्टकरतलरेखादयो निष्पन्नाः भाविनौ मरण-राज्यादेरनुमापका इति प्रतिपत्तव्यम् ।

जाग्रद्वोभस्तु प्रबोधवोधस्य हेनुरित्येतत्प्रामेव प्रतिविहितम्, स्वापाद्यवस्थायामपि ज्ञानस्य प्रसाधितत्वात् । ततो भाव्यतीतयोगररणजाग्रद्वोधयोरपि नारिष्टोद्वोधौ प्रति हेनुत्वम्, येनाम्याम-नंकान्तिको हेतुः स्यादिति स्थितम् ।

रहित होकर भी केवल स्वसाध्यके अविनाभावी होनेके कारण गमक-स्व स्व साध्यको सिद्ध करने वाले होते हैं। श्रतः श्रविनाभावके निमित्तमे हेनुका गमकपना निश्चित होता है।

जैसा कि कहा है— कार्यकारणभाव आदि संबंधोंकी दो गति हैं अर्थात् दो प्रकार है एक नियमरूप संबंध (अविनाभाव) और एक अनियमरूप संबंध, यदि हेतुमें अनियमत्व है तो वह अनुमानका कारण नहीं हो सकता ।।१।। वक्नृत्वादि उक्त सभी हेतु अनियमरूप हैं अतः अनुमानके उत्पत्तिमें कारण नहीं हैं, तथा केवल अविनाभावरूप नियमवाले हेतुसे ऐसा कोई साध्य नहीं है कि जो अनुमानित नहीं होता हो। अर्थात् मात्र नियमरूप हेतुसे अनुमानकी उत्पत्ति सवश्य होती है किन्तु नियम रहित हेतु चाहे तादात्म्यादि से युक्त हो तो भी उससे अनुमान प्रादर्भुत नहीं होता ।।२।।

इसलिये निश्चय होता है कि अरिष्ट करतल रेखा ब्रादि, शरीरकी रचना करनेवाले ब्रहष्ट-कर्म ब्रादि कारण समूहसे उत्पन्न होते हैं और वे भावी मरण स्नौर राज्यादिक स्रनुमानक (अनुमान करनेवाले) होते हैं।

जाग्रद्बोध प्रवोध श्रवस्थाके बोधका हेतु होता है ऐसे मंतव्यका निराकरण तो पहले ही ( मोक्षविचार नामा प्रकरणमें ) कर दिया है, वहांपर निद्वादि अवस्थामें ज्ञानका सद्भाव होता है ऐसा सिद्ध हो चुका है, ग्रतः "निद्वा लेनेके पहले ज्ञान प्रातः कालके जागकर उठनेके ग्रनंतर होनेवाले ज्ञानका हेतु होता है ग्रंतराल कालमें ज्ञानका अभाव रहता है इसलिये काल व्यवधान वाले पदार्थोमें भी कार्यकारणभाव है" इत्यादि

यथा च पूर्वोत्तरचारिएोर्न तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा तथा---

# सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६४॥

ययोः परस्परपरिहारेणावस्थानं न तयोस्तादास्थ्यम् यथा घटपटयोः, परस्परपरिहारेणाव-स्थानं च सहवारिणोरिति । एककालस्वाच्चानयोनं तदुत्पत्तिः । ययोरेककालस्वं न तयोस्तदुत्पत्तिः यथा सध्येतरगोविषाण्योः, एककालस्वं च सहवारिणोरिति ।

न चास्वाद्यमानाद्रसास्सामग्रचनुमानं तटो रूपानुमानमनुमितानुमानादित्यश्रिधातव्यम् तथा व्यवहाराभावात्। न हि म्रास्वाद्यमानाद्रसाद् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोति, रससमसमयस्य रूप-

कथन ग्रसत्य सिद्ध होता है । इसप्रकार ''भावी मरण ग्रौर ग्रतीत जाग्नद् बोघ कमशः ग्ररिष्ट तथा उद्योधके हेतु होनेसे जैनका कारण हेतुका लक्षण अनेकांतिक होता है'' ऐसा बौद्धका प्रतिपादन खंडित होगया ।

> जैसे पूर्वचर और उत्तरचर हेतुमें तादात्म्य तदुत्पत्ति संबंध नहीं होता वैसे— सहचारिणोरिष परस्पर परिहारेणावस्थानास्सहोत्पादाच्च ।।६४।।

सूत्रार्थ — सहचरभूत साध्यसाधनों भें भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति संबंध नहीं हो सकता क्योंकि ये परस्परका परिहार करके अवस्थित रहते हैं तथा युगपत् प्रादुर्भूत होते हैं। जिन दो पदार्थोंका परस्पर परिहार करके अवस्थान होता है उनमें तादात्म्य नहीं होता, जैसे घट और पट में तादात्म्य नहीं है, सहचारि पदार्थभी परस्पर परिहार करके अवस्थित हैं अतः इनमें तादात्म्य नहीं हो सकता। तथा सहचारी पदार्थों एक काल भाव होनेसे तदुत्पत्ति संबंध (उससे उत्पन्न होना रूप कार्यकारण संबंध) भी असंभव है। जिनमें एक कालत्व होता है उनमें तदुत्पत्ति संबंध नहीं होता जैसे गायके दायें बायें सींगमें नहीं होता, सहचारी साध्यसाधनमें एक कालत्व है अतः तदुत्पत्ति नहीं हो सकती।

बौद्धका जो यह कहना है कि आस्वादनमें आ रहे रससे सामग्रीका अनुमान होता है और उस सामग्रीके अनुमानसे रूपका अनुमान होता है अतः रूपानुमान अनुमितानुमान कहलाता है, सो वह असत् है क्योंकि उस प्रकारका व्यवहार देखनेमें नहीं आता। व्यवहारी जन आस्वाखमानरससे सामग्रीका अनुमान नहीं करते अपितु रसके समकालमें होनेवाले रूपका इसके द्वारा अनुमान होता है। आप भी व्यवहारके स्यानेनानुमानात् । श्ववहारेण् च प्रमाण्यिन्ता भवता प्रतन्यते । "प्रामाण्य श्ववहारेण्" [प्रमाण्या । २।४] इत्यभिषानात् । सामग्रीतो क्यानुमाने च कार्रणात्कार्यानुमानप्रसङ्गाल्लिङ्गसंख्याच्याघातः स्यात ।

तानेव व्याप्यादिहेतून् बालव्युत्पस्यर्थमुदाहरसाद्वारेसा स्फुटयित । तत्र व्याप्यो हेतुर्यमा---

परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टः यथा घटः, कृतकरचायम्, तस्मापरिणा-मीति । यस्तु न परिणामी स न कृतकः यथा वन्ध्यास्तनन्थयः, कृतकरचायम्,

#### तस्मात् परिणामीति ॥६४॥

'ष्टच्टान्तो द्वेषा अन्ययव्यतिरैकभेदात्' इत्युक्तम् । तत्रान्ययस्टान्तं प्रतिपाद्य व्यतिरेकदृष्टातं प्रतिपादयन्ताह—यस्तु न परिलामी स न कृतको स्टः यथा वन्ध्यास्तनन्त्रयः, कृतकस्त्रायम्,

अनुसार प्रमाणका विचार करते हैं "प्रामाण्यं न्यवहारेण" ऐसा कहा गया है। तथा दूसरी बात यह होगी कि यदि सामग्रीसे रूपका अनुमान होना स्वीकार करते हैं तो कारणसे (सामग्रीका अर्थ कारण है यह बात प्रसिद्ध ही है) कार्यका अनुमान होना सिद्ध होता है, फिर ग्रापके हेतुकी त्रिसंस्याका (कार्य हेतु स्वभाव हेतु और अनुपलब्घि हेतु) विघटन हो जाता है। इसप्रकार यह सिद्ध हुम्रा कि पूर्वचर्र आदि कार्य हेतुमें ग्रंतभूत नहीं होते। तथा यह भी सिद्ध हुआ कि कारण पूर्ववर्त्ती होता है एवं कारण कार्यमें कालका व्यवधान नहीं होता।

स्रव कमसे ग्रविरुद्ध उपलब्धिरूप हेतुके छह भेदोंका वर्णन वाल बुद्धिवालोंको समफानेके लिये उदाहररणपूर्वक उपस्थित करते हैं। उनमें प्रथम कम प्राप्त व्याप्य हेतुको दिखलाते हैं—

परिलामी शब्द:, कृतकत्वात्, य एवं स एवं इष्टः यथा घटः, कृतकश्वायं तस्मात् परिलामी । यस्तु न परिलामी स न कृतकः यथा वंध्यास्तनंघयः कृतकश्वायं तस्मात् परिलामी ।।६१।।

सूत्रार्थ — शब्द परिएामी है क्योंकि किया जाता है, जो इस तरहका होता है वह ऐसा ही रहता है जैसे घट, शब्द कृतक है घ्रत: परिएामी है। जो परिएामी नहीं होता वह कृतक नहीं होता जैसे बंध्यास्त्रीका पुत्र, यह शब्द तो कृतक है इसलिए परिएामी होता है। ग्रन्वय और व्यतिरेकके भेदसे स्प्टांत दो प्रकारका होता है ऐसा तस्मात्परिस्मानीति । कृतकत्वं हि परिस्मामित्वेन व्याप्तम् । वृदोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्यिति-लक्षस्मपरिस्मामशून्यस्य सर्वेषा निरयत्वे क्षस्मिकत्वे वा सब्दस्य कृतकत्वानुपपत्ते वैदयमासुरवाद् ।

कि पुनः कार्यलिङ्गस्योदाहरणमित्याह—

#### श्चस्त्यत्र देहिनि बुद्धिन्यीहारादेः ॥६६॥

व्याहारो वचनम् । म्रादिशब्दाद्वयापाराकारविश्वेषपरिग्रहः । ननु ताल्बाद्यस्वयन्यतिरेकानु-विद्यायितया शब्दस्योपलम्भात्कयमात्मकार्यत्वं येवातस्तदस्तित्वसिद्धिः स्यात् ? न लल्कात्मनि विद्य-मानेपि विवकावद्वपरिकरे कफादिदोषकण्ठादिव्यापाराभावे बचनं प्रवर्तते; तदप्यसारम्; शब्दोत्पत्तौ

कह स्राये हैं। इस सुत्रमें अन्वय हष्टांतका प्रतिपादन करके व्यतिरेक हष्टांत देते हुए कहते हैं कि जो परिणामी नहीं होता वह कृतक नहीं देखा जाता जैसे बंध्याका पुत्र। यह कृतक है इसलिये परिणामी है। कृतकपना परिणामी के साथ व्याप्त है। पूर्व स्थाकारका परिहार और उत्तर आकारकी प्राप्त एवं स्थित है लक्षरण जिसका ऐसे परिणामसे जो भून्य है उस सर्वया क्षणिक या नित्य पक्षमें शब्दका कृतकपना सिद्ध नहीं हो सकता। स्रागे शब्दिनास्यत्ववाद प्रकरणमें इस विषयको कहने वाले हैं।

कार्य हेतुका उदाहरण क्या है ? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं— ग्रस्त्यत्र देहिनि बुद्धि र्व्याहारादेः ।।६६॥

सूत्रायं — इस प्राणीमें बुद्धि है, क्योंकि वचनालाप आदि पाया जाता है। वचनको व्याहार कहते हैं ग्रादि शब्दसे व्यापार-प्रवृत्ति श्राकार विशेष (मुखका झाकार आदि) का ग्रहण होता है। किसी व्यक्तिके वचन कुशलताको देखकर बुद्धिका श्रदुमान लगाना कार्यां नुमान है इसमें बुद्धिके ग्रहण्य रहते हुए भी उसका कार्य वचनको देखकर बुद्धिका सस्व सिद्ध किया जाता है।

शंका — तालु कंठ श्रादिके श्रन्यय व्यक्तिरेक का अनुविधायी शब्द है श्रर्थीत् तालु श्रादिकी प्रवृत्ति हो तो शब्द उत्पन्न होता है और न हो तो नहीं, इसलिये शब्द तो तालु श्रादिका कार्य है उसको स्नारमा का (बुद्धिका) कार्य किसप्रकार कह सकते हैं? जिससे कि वचनालापसे झारम रूप बुद्धिका स्रस्तत्व सिद्ध हो। तथा आत्माके विद्यमान होते हुए भी बोलनेकी इच्छाको रोकनेवाले कफादिदोष के कारण कंठादि व्यापार के श्रभावमें वचन नहीं होते, अतः वचनको बुद्धिका कार्य न मानकर व तालु श्रादिका कार्य मानना चाहिए द

ताल्बादिसहायस्येवात्मनो व्यापाराम्युपनमात् । घटाजुत्वत्ती ककादिसहायस्य कुम्भकारादेर्व्यापारवत्, कथमन्यथा घटादेरप्यात्मकार्यता ? कार्यकायदिश्च कार्यहेतावेवान्तर्भावः।

कारएलिंगं यथा-

धस्त्यत्र द्याया दत्रात् ॥६७॥

कारसकारसादेरत्रैवानुप्रवेशास्त्रार्थान्तरत्वम् । पुर्ववर्शलगं यथा---

उदेष्यति ज्ञकटं कृचिकोदयात् ॥६८॥

पूर्वपूर्वचराद्यनेनैव संगृहीतम् । उत्तरचरं लिगं यथा—

उदगादुभरणिस्तत एव ॥६९॥

समाधान—यह कथन घ्रसार है, जैनने शब्दकी उत्पत्तिमें तालुघादिकी सहायतासे युक्त आरमाको कारण माना है, जैसे घट प्रादिकी उत्पत्तिमें चक्रादिकी सहायतासे युक्त हुमा कुंभकार प्रवृत्ति करता है। शब्दकी उत्पत्तिमें घ्रात्माको कारण न मानो तो घटघादिकी उत्पत्तिमें आत्माको कारण भी किसप्रकार मान सकते हैं १ घरनु । इस कार्य हेतुमें ही कार्यकार्यहेतुका ग्रंतर्भाव होता है।

कारण हेतुका उदाहरण--

ग्रस्त्यत्र छाया छत्रात् ।।६७।।

मूत्रार्थं – यहांपर छाया है क्योंकि छत्र है। कारण कारण हेतुका इसी हेतुमें अंतर्भाव होनेसे उसमें पृथक हेतुत्व नहीं है।

पूर्वचर हेतुका उदाहरण-

उदेष्यति शकटं कृतिकोदयात् ॥६८॥

सूत्रार्थ —एक सुहूर्त बाद रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि क्वतिका नक्षत्रका उदय हो रहा है। पूर्व पूर्वचर हेतु इसीमें अंतर्हित है। उत्तरचर हेतुका उदाहरण—

उदगाद् भरिण्यस्तत एव ।।६६।।

कृत्तिकोदयादेव । उत्तरोत्तरचरमेतेनेव संगृह्यते । सहचरं लिगं यथा—

#### अस्त्यत्र मातुर्लिंगे हृपं रसातु ।।७०॥

संयोगिन एकार्थसमवायिनश्च साध्यसमकालस्यात्रैवान्तर्भावो दृष्टव्यः ।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त पहले भरणि नक्षत्रका उदय हो चुका है क्योंकि कृतिको-दय हो रहा। इसी हेतुमें उत्तर उत्तर चर हेतु गर्भित होता है। सहचर हेतुका उदाहरण—

# अस्त्यत्र मातुलिंगे रूपं रसात् ॥७०॥

सूत्रार्थ—इस विजौरेमें रूप है क्योंकि रस है। साध्यके समकालमें होनेवाले संयोगी और एकार्यसमवायी हेतुका इसी सहचर हेतुमें अंतर्भाव हो जाता है।

विशेषार्थ-नैयायिक मतमें संयोगी और एकार्थ समवायी हेतू भी माने हैं, जैनाचार्यने इनको सहचर हेत्में अंतर्भृत किया है। जो साध्यके समकालमें हो तथा साध्यका कार्य या कारण न हो वह सहचर हेतू कहलाता है, उक्त संयोगी ग्रादि हेत् इसी रूप है जैसे--यहां ग्रात्माका ग्रस्तित्व है. क्योंकि विशिष्ट शरीराकृति विद्यमान है । ग्रात्मा भ्रीर शरीरका संयोग होनेसे विशिष्ट शरीर रूप हेतू संयोगी कहलाता है, इसका सहचर हेतूमें सहज ही भ्रंतर्भाव हो जाता है, क्योंकि जैसे बिजौरेमें रूप और रस साथ उत्पन्न होते हैं वैसे विवक्षित पर्यायमें आत्मा और शरीर साथ रहते हैं। एकार्थ समवायी हेतू भी सहचर हेतू रूप है-एक अर्थ में समवेत होने वाले रूप रस भ्रादि भ्रथवा ज्ञान दर्शन भ्रादि हैं इनमेंसे एकको देखकर अन्यका भ्रनुमान होता है। पूर्वचर हेतुका उदाहरण यह दिया कि एक मुहर्त्तके अनंतर रोहिणीका उदय होगा क्योंकि कृतिकाका उदय हो रहा। उत्तर हेतु-एक मुहूर्रा पहले भरणिका उदय हो चुका है क्योंकि ग्रब कृतिकोदय हो रहा। भरणि कृतिका ग्रौर रोहिणी इन तीन नक्षत्रोंका स्राकाशमें उदय एक एक मुहुर्त्तके अंतराल हे होता है स्रतः ज्योतिर्विद इनमेंसे किसी एक नक्षत्रोदयको देखकर अन्य नक्षत्रके उदयका अनुमान कर लेते हैं। कृतिकोदय इनके मध्यवर्त्ती है श्रतः यह रोहिणी उदयका पूर्वचर है ग्रीर भरणिका उत्तर चर है। कृतिकोदयको देखकर दोनों अनुमान हो जाते हैं कि एक मृहत्तं पहले

# म्रयाविरुद्धोपलब्धिमुदाह्ययेदानीं विरुद्धोपलब्धिमुदाहर्तुं विरुद्धेत्याद्याह — विरुद्धतदपुरुष्धिः प्रतिवेधे तथेति ॥७१॥

प्रतिषेध्येन यहिरुद्धं तत्सम्बन्धिनां तेषां ब्याप्यादीनामुपलब्धिः प्रतिषेधे साध्ये तथाऽविरुद्धो-पत्रविधवत् षट्प्रकारा ।

तानेव षट प्रकारान् यथेत्यादिना प्रदर्शयति-

#### (यथा) नास्त्यत्र श्रीतस्पर्श औष्ण्यात् ।१७२।।

यथेत्युबाहरसाप्रदर्शने । ग्रीज्य्यं हि व्याप्यमग्नेः । स च विरुद्धः शीतस्पर्शेन प्रतिषेष्येनेति । विरुद्धकार्यं लिगं यथा —

#### नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धुमातु ।।७३।।

भरणिका उदय हो चुका है, तथा एक मुहूर्त बाद रोहिणीका उदय होगा । इसतरह कृतिकोदय हेत् भरणिके प्रति उत्तर चर ग्रीर रोहिणीके प्रति पूर्वचर है । अस्तु ।

श्रविरुद्धोपलिध्यके उदाहरएोंको प्रस्तुत कर श्रव विरुद्धोपलिध्यके उदाहरएों का प्रतिपादन करते हैं—

विरुद्ध तदुपलब्धिः प्रतिवेधे तथा ।।७१।।

सूत्रार्थ — प्रतिषेधरूप साध्यमें विरुद्धोपलब्धि हेनुके वैसे ही भेद होते हैं। प्रतिषेधरूप साध्यमें जो विरुद्ध है उस विरुद्धके संबंधभूत ब्याप्य, कार्य ग्रादिकी उपलब्धि होना विरुद्धतदुपलब्धि कहलाती है, प्रतिषेधरूप साध्यमें इस हेनुके ग्राविरुद्धो-पलब्धिक समान छह भेद हैं। ग्रव उन्हींके भेद कमसे बताते हैं —

यथा नास्त्यत्र शीनस्पर्श ग्रीष्ण्यात् ॥७२॥

सूत्रार्थ —यहांपर शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है। सूत्रोक्त यथा शब्द उदाहररणका द्योतक है। औष्ण्य अग्निका ब्याप्य है वह प्रतिषेध्यभूत शीतस्पर्शके विकद्ध है ग्रतः यह हेतु ब्याप्य विकद्धोपलब्धि है।

विरुद्ध कार्य हेत्का उदाहरएा-

नास्त्यत्र शीतस्पर्शोधूमात् ।।७३।।

विरुद्धकाष्ट्रगं लिगं यथा-

# नास्मिन् शरोरिणि सुखमस्ति हृदयश्वन्यात् ॥७४॥

सुक्रेन हि प्रतिषेध्येन विरुद्धं दुःलस्। तस्य कारएां हृदयशल्यस्। तस्कुतरिचत्तदुपदेशादेः सिद्धपत्मुलं प्रतिषेधतीति।

विरुद्धपूर्वचरं यथा-

नोदेष्यति सुहुर्चान्ते शकटं रेवत्युद्यात् ॥७४॥

शकटोदयविरुद्धो ह्यश्विन्युदयस्तत्पूर्वचरो रेवत्युदय इति ।

विरुद्धोत्तरचरं यथा--

# नोदगाद्भरणिष्कं हुचीत्पूर्वं पुष्योदयात् ।।७६॥

सूत्रार्थ - यहांपर शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है।

विरुद्ध कारण हेतुका उदाहरण-

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।।७४।।

सूत्रार्थ—इस शरीरधारी प्राणीमें सुख नहीं है, क्योंकि हृदयमें शल्य है। प्रतिषेध्यभूत सुखके विरुद्ध दुःख है भीर उसका कारण हृदय शल्य है, उस हृदय-श्रुत्यका म्रस्तित्व किसीके कथनसे जाना जाता है भीर उससे सुखका प्रतिषेध होता है।

विरुद्ध पूर्वचर हेतुका उदाहरण ---

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।।७५।।

सूत्रार्थ---एक मृहू तंके धनंतर रोहिएगिका उदय नहीं होगा क्योंकि रेवती नक्षत्रका उदय हो रहा । रोहिएगे उदयके विरुद्ध अश्विनीका उदय है और उसका पूर्वचर रेवतोका उदय है, ग्रतः रेवतीका उदय रोहिएगेके विरुद्ध पूर्वचर कहलाया ।

विरुद्ध उत्तरचर हेतुका उदाहरण-

नोदगाद्भरणि मुंहूर्सात् पूर्व पुष्योदयात् ।।७६।।

भरण्युदयविरुद्धो हि पुनर्वसूदयस्तदुत्तरचरः पुष्योदय इति ।

विरुद्धसहचरं यथा---

# नास्त्यत्र भिची परभागाभाबोऽवीग्मागदर्शनात् ॥७७॥

परभागाभावेम हि विरुद्धस्तत्सद्भावस्तत्सहचरोऽर्वाग्भाग इति ।

प्रचोत्सव्य व्याख्यायेदानोमनुपलव्यि ब्याचच्टे । सा चानुपलव्यस्यविध्यद्वद्विप्रकारा भवति । प्रविश्यानुपलव्यिविश्वानुपलव्यस्त्वेति । तत्राद्यप्रकारं व्याव्यानुकामोऽविश्वे त्याद्याह्-

# अविरुद्धानुपर्राञ्घः प्रतिषेषे सप्तथा स्वभावन्यापककार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचरानुपर्रमभेदादिति ।।७८॥

सूत्रार्थ— एक मुहून्तं पहले भरिणका उदय नहीं हुम्रा क्योंकि पुष्यका उदय हो रहा । भरिएा उदयका विरोधी पुनर्वसू का उदय है स्रीर उसका उत्तरचर पुष्योदय है स्रत: पुष्योदय भरिण उदयका विरुद्ध उत्तरचर है ।

विरुद्ध सहचर हेतुका उदाहरण-

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भाग दर्शनात् ॥७७॥

सूत्रार्थे — इस मित्तिमें पर भागका अभाव नहीं है वयोंकि स्रवीक्भाव इधरका भाग दिखायी देता है। परभागके स्रभावका विरोधी उसका सद्भाव है स्रौर उसका सहचर प्रवीगभाग है स्रतः यह विरुद्ध सहचर कहा जाता है।

श्रव उपलब्धि हेनुका कथन करके अनुपलब्धि हेनुका प्रतिपादन करते हैं । वह अनुपलब्धि भी उपलब्धिके समान दो प्रकारकी है –श्रविरुद्ध श्रनुपलब्धि और विरुद्ध अनुपलब्धि । इनमें प्रथम प्रकारका ब्याख्यान करते हैं—

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव व्यापक कार्यकाररणपूर्वोत्तर

सहचरानुपलंभभेदात् ।।७८।।

प्रतिषेध्येनाविरद्धस्यानुपलन्धिः प्रतिषेषे साध्ये सप्तथा भवति । स्वभावन्यापककार्यकारण-पूर्वोत्तरसहचरानुपलन्धिभेदात् ।

तत्र स्वभावानुपलव्धिर्यथा—

#### नास्त्यत्र भृतले घट उपलब्धि लक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः ॥७९॥

पिवाचादिभिव्यंभिचारो मा भूदित्युपलब्बिलक्षण्याप्तस्यति विश्वेषस्य । कयं पुनर्यो नास्ति स उपलब्धिलक्षर्गप्रप्तास्त्तरप्रास्ते वा कथमसत्त्वमिति चेतुच्यते-श्रारोप्यैतद्रूपं निविध्यते सर्ववारोपित-रूपविषयत्वान्नियेषस्य । यथा 'नायं गौरः' इति । न हात्रैतच्छक्यं वक्तुम्-सति गौरत्वे न निषेधो निषेधे वा न गौरत्वमिति । नन्वेवमहत्त्यमपि पिशाचादिकं स्त्यरूपतयाऽऽरोप्यप्रतिषेध्यतामित्नि चेन्नः आरोप-

सूत्रार्थं — प्रतिषेघरूप साध्यमें अविरुद्ध अनुपलव्य हेतुके सात भेद होते हैं — स्वभाव-अविरुद्धानुपलव्यि, व्यापक श्रविरुद्धानुपलव्यि, कार्य-अविरुद्धानुपलव्यि, कार्य अविरुद्धानुपलव्यि, पूर्वचर अविरुद्धानुपलव्यि, उत्तरचर श्रविरुद्धानुपलव्यि ग्रौत सहचर अविरुद्धानुपलव्यि । प्रतिषेध्यके अविरुद्धकी अनुपलव्यि होना रूप हेतु प्रतिषेधरूप साध्यके होने पर सात प्रकार का होता है।

उनमें कमप्राप्त स्वभावानुपलब्धिको कहते हैं-

नास्त्यत्र भूतले घटो उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्यानपलब्धेः ।।७६।।

सूत्रार्थ—इस भूतलपर घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी श्रनुपलब्धि है। पिशाच परमागु श्रादिके साथ व्यभिचार न होवे इसलिये "उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्य" ऐसा हेतुमें विशेषण प्रयुक्त हुन्ना है।

शंका — जो नहीं है वह उपलब्धि लक्षण प्राप्त कैसे हो सकता है और जो उपलब्धि लक्षण प्राप्त है उसका श्रसत्त्व कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान — उपलब्धि लक्षगा प्राप्तका ब्रारोप करके निषेध किया जाता है, क्योंकि सर्वत्र निषेधका विषय आरोपितरूप ही होता है। जैसे यह गोरा नहीं है। यहां पर ऐसा तो नहीं कह सकते कि गोरापन है तो निषेध नहीं हो सकता ग्रौर निषेध ही है तो गोरापन काहे का।

शंका—यदि ऐसा है तो श्रद्धश्यभूत पिशाचादिका भी हश्यपनेका आरोप करके प्रतिषेध करना चाहिये ? योग्यस्त्रं हि यस्याहित तस्यैवारोषः। यदवार्थो विद्यमानो नियमेनोपलम्येत स एवारोपयोग्यः, न तु पित्राचादिः। उपलम्भकारणसाकत्ये हि विद्यमानो घटो नियमेनोपलम्भयोग्यो गम्यते, न पुनः पित्राचादिः। घटस्योपलम्भकारणसाकत्यं चैकज्ञानसर्सागिण् प्रदेशादावुपलम्यमाने निरुचीयते। घटप्रदेशयोः चल्पलम्भकारणाम्यविशिष्टानीति। यदच यहे शावेयतया कित्यतो घटः स एव तैनेकज्ञानसंसर्गा, न देशान्तरस्यः। ततस्वैकज्ञानसंसर्गापदार्थान्तरोपलम्भे योग्यतया सम्भावितस्य घटस्यो-

ननु चैकज्ञानसंसर्गिण्युपलस्यमाने सत्यपीतरविषयज्ञानोत्पादनशक्तिः सामग्रघाः समस्तीत्य-वसासुं न शक्यते, प्रभाववतो योगिनः पिशाचादेवी प्रतिबन्धात्सतोपि घटस्यैकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशा-

समायान - नहीं, जिसमें आरोप की योग्यता होती है उसीका आरोप किया जाता है। जो विद्यमान पदार्थ नियमसे उपलब्ध होता है वही आरोप योग्य होता है न कि पिशाचादि। इसका भी कारएा यह है कि उपलंभ अर्थात् प्रत्यक्ष होनेके सकल कारण मिलनेपर विद्यमान घट नियमसे उपलंभ योग्य हो जाता है किन्तु पिशाचादि ऐसे नहीं होते। घटके प्रत्यक्ष होनेके सकल कारण तो एक व्यक्तिके ज्ञान संसर्पी उपलभ्यमान प्रदेशादिमें निश्चित किये जाते हैं (अर्थात् जाने जाते हैं) घट और उसका रखनेका प्रदेश इन दोनोंके प्रत्यक्ष होनेके कारण समान है अर्थात् घट और उसका स्थान ये दोनों ही एक ही पुरुषके ज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं। अतः घट आरोप योग्य है। पिशाच आदि ऐसे नहीं है अतः आरोप योग्य नहीं है। तथा जो घट जिस प्रदेशके आध्यपनेसे कल्पित है वही उससे एक पुरुषके ज्ञानका संसर्गी है, अन्य प्रदेशके आध्यपनेसे कल्पित है वही उससे एक पुरुषके ज्ञानका संसर्गी पदार्थांतर अर्थात् भूतल का उपलंभ ( प्रत्यक्ष ) होनेपर हथ्यपनेसे संभावित घटका उपलब्धि लक्षण प्राप्त अर्गुलंभ सिद्ध होता है।

शंका — एक ज्ञान संसर्गी पदार्थांतर के उपलभ्यमान होने पर भी दूसरा विषय जो घट है उसके ज्ञानोत्पादनकी शक्ति है ऐसा उक्त सामग्रीसे निश्चय करना शक्य नहीं, क्योंकि किसी प्रभावशाली योगी द्वारा अथवा पिशाचादि द्वारा प्रतिबंध होवे तो घटके विद्यमान रहते हुए भी उसका एक ज्ञान संसर्गीभूत प्रदेशादिके उपलभ्यमान होते भी अनुपलंभ संभव है ? अर्थात् घटके रहते हुए भी किसी योगी ध्रादिने उसको अदृश्य कर दिया हो तो उसका श्रस्तित्व रहते हुए भी अनुभलंभ होता है दिखायी नहीं दाबुपलम्यमानेप्यनुपलम्भसम्भवात्; तदशुक्तम्; यदः प्रदेशादिनैकज्ञानसंसर्गिण् एव घटस्याभादो नाग्यस्य । यस्तु पिशाचादिनाऽन्यस्वमापादितः स नैव निषेष्यते । इह चैकज्ञानसंसर्गिभासमानोर्यस्तज्ज्ञानं च पर्यु दासवृक्ष्या घटस्याऽसत्तानुपलव्धिश्चोच्यते ।

ननु चैवं केवलभूतसस्य प्रत्यक्षसिद्धस्वातद्र्यो घटाभावोपि सिद्ध एवेति किमनुपलम्भसाध्यम् ? सत्यमेवैतत्, तथापि प्रत्यक्षप्रतिपन्नेप्यभावे यो व्यामुद्धति साङ्ख्यादिः सोनुपलम्भं निमित्तीकृत्य प्रतिपायते । श्रनुपलम्भनिमित्तो हि सत्त्वरजस्तमःप्रमृतिष्वसद्वपद्वारः । स वात्राप्यस्तीति निमित्त-

देता ब्रतः उपलब्ध होने योग्य होकर उपलब्ध न होवे तो उसका नियमसे झभाव ही है ऐसा कहना गलत ठहरता है प्र

समाधान—यह शंका अयुक्त है प्रदेशादिसे को घट एक ज्ञानका संसर्गी (विषय) था उसी घटका अभाव निश्चित किया जाता है न कि अन्य घटका। जो घट पिशाचादि द्वारा अन्यरूप अर्थात् अदृश्यरूप कर दिया है उसका निषेध ( अभाव ) नहीं किया जाता है। यहां पर एक पुरुषके ज्ञान संसर्गमें प्रतिभासमान पदार्थ और उसका जान इन दोनोंको पर्यु दासब्रुक्ति घटकी असत्ता और अनुपलब्धि इन शब्दों द्वारा कहा जा रहा है। अभिप्राय यह है कि किसी एक पुरुषने एक स्थान पर घट देखा था पुनः किसी समय उस स्थान को घट रहित देखता है तो अदुमान करता है—यहां भूतल पर घट नहीं है क्योंकि उपलब्ध नहीं होता (दिखायी देने योग्य होकर भी दिखता नहीं) जो घट पिशाचादिके द्वारा अदृश्य किया गया है उस घट की चर्चा इस अनुमान में नहीं है।

शंका — ऐसी बात है तो केवल भूतल तो प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः उस रूप घट का अभाव भी सिद्ध ही है इसलिये "नास्त्यवभूतले" इत्यादि अनुमान के अनुपलंभ हेतुसे क्या सिद्ध करना है ?

समाधान—यह कथन सत्य है, किन्तु श्रभावके प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होनेपर भी जो सांख्यादिपरवादी उस श्रभावके विषयमें व्यामोहित हैं अर्थात् श्रभावको स्वीकार नहीं करते उनको अनुपर्लग हेतुका निमित्त करके प्रतिबोधित किया जाता है।

सांस्याभिमत सत्त्वरजतमः ग्रादि प्रकृतिके घर्मोमें असतूपनेका जो व्यवहार होता है वह अनुपलंभके निमित्तसे ही होता है ग्रायीत सत्त्वमें रजोधमें नहीं है ग्रयवा रजोधमेंमें सत्त्वधमें नहीं है इत्यादि अभावका व्यवहार अनुपलंभ हेतु द्वारा ही होता है प्रदर्शनेन स्ववहारः प्रसाध्यते । स्वतेहि विद्याले गवि सास्नादिमस्वारुप्रवित्तगोध्यवहारौ सुडमित-विश्वस्कृष्टे सास्त्यमुत्ये क्षमाणोपि न गोन्यवहारं प्रवत्त्यतीति विश्वस्कृष्टे वा प्रवित्ततौ गोध्यवहारौ न विश्वाले, स निमित्तप्रदर्शनेन गोध्यवहारै प्रवत्यते । सास्नादिमन्मात्रनिमित्तको हि गोध्यवहारस्त्वया प्रवित्ततपूर्वो न विश्वालस्वविश्वस्कृटस्वनिमित्तक इति । तथा महत्यां शिश्वपायां प्रवित्ततवृक्षस्यवहारौ मुडमितः स्वरुपायां तस्यां तद्वयवहारमप्रवत्तंयन्निमित्तोपदर्शनेन प्रवत्यंते वृक्षीयं शिश्वपास्वादिति ।

#### व्यापकानुपलव्धियंथा—

कि-यहां सत्त्वमें रजोधर्म नही है क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी ग्रनुपलब्धि है। इस तरहका अनुपलंभरूप ग्रसतका व्यवहार उक्त ग्रनुमानमें भी है इसप्रकार निमित्त प्रदर्शन द्वारा घटाभावका व्यवहार प्रसाधित किया जाता है। देखा भी जाता है कि-जिस मूढमितको विशाल बैलमें (अथवा गायमें) सास्नादि हेत् द्वारा बैलपनेका व्यवहार प्रवित्तत किया जाता है अर्थात इस पशुके गलेमें चर्म लटक रहा है इसे सास्ना कहते हैं जिसमें ऐसी सास्ना होती है उसे बैल (या गाय ) कहते हैं ऐसा किसीने एक विशाल बैलको दिखलाकर मुढमितको समभाया, पुनुश्च वह मुढमित छोटे बैलको देखता है उसमें उसे सास्नादि दिखायी देती है तो भी वह मूढ बैलपनेका व्यवहार नहीं करता ( अर्थात यह बैल है ऐसा नहीं समभता है ) अथवा किसी मुढको छोटे बैलमें ग्रुरुवातमें बैलपने का ज्ञान कराया था वह विशाल बैलमें बैलपनेको नहीं जान रहा है उस मुढमति पुरुषको सास्नादि निमितको दिखलाकर गो व्यवहारमें प्रवित्तित कराया जाता .. है । म्रर्थात् बैलपनेका व्यवहार केवल सास्ना निमित्तक है तुम्हारेको पहले जो बैल में प्रवित्त करायी थी वह केवल सास्ना निमित्तक थी विशाल या छोटेपनेकी निमित्तक नहीं थी, अर्थात् विशाल हो चाहे छोटा हो जिस पश्में सास्ना होती है उसे बैल ग्रथवा गाय कहते हैं इससे गोत्वका व्यवहार — बैल या गायका कार्य लिया जाता है इत्यादि रूपसे मृढको समभाते हैं। तथा बड़े शिशपावृक्षमें शिशपावृक्षत्वका व्यवहार जिसको प्रवर्त्तित कराया है वह मूढमित छोटे शिशपावृक्षमें उसका व्यवहार नहीं करता तो उसे शिशपापनरूप निमित्त दिखलाकर प्रवृत्ति करायी जाती है कि यह शिशपारूप होनेसे वृक्ष है । इसप्रकार निश्चय हुम्रा कि अनुपलब्धिरूप हेतु कार्यकारी है ।

व्यापकानुपलब्धि हेत्का उदाहरण-

#### नास्त्यत्र विश्वपा वृक्षाऽनुपत्रक्षेः ॥८०॥

कार्यानुपल विधर्यया—

# नास्त्यत्रा ऽत्रतिबद्धसामध्यों ऽग्निवर्षु मानुपलब्धेः ॥६१॥

नास्त्यत्र घृमोऽनग्नेः ॥८२॥

इति कारगानुपलब्धिः।

न अविष्यति मुहूर्चान्ते सकटं कृत्तिकोदयानुपलञ्घेः ॥८३॥ इति पूर्वचरानुपलञ्घः।

नोदगाद्भरणिम् हुर्चात्त्राक् तत एव ॥८४॥

कृत्तिकोदयानुपलब्धेरेव । इत्युत्तरचरानुपलब्धिः ।

#### नास्त्यत्र शिशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥६०॥

सूत्रार्थ---यहां पर शिशपा नहीं है क्योंकि द्वतकी अनुपलब्धि है। कार्यानु-पलब्धि तथा कारणानुपलब्धिका उदाहरण---

> नास्स्यत्रा प्रतिबद्ध सामर्थ्योऽग्निधू मानुपलब्धेः ।।८१।। नास्स्यत्र धूमोऽनग्नेः ।।८२।।

सूत्रार्थ--- यहां श्रप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाली श्रम्नि नहीं, क्योंकि धूमकी अनुपलब्धि है। तथा---- यहां धुम नहीं क्योंकि श्रम्तिकी श्रनुपलब्धि है।

पूर्वचर ग्रनुपलिब्धहेतुका उदाहरण-

न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृतिकोदयानुपलब्धेः ।। ६३।।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्राके झनंतर रोहिणीका उदय नहीं होगा, क्योंकि कृतिको-दयकी श्रन्पलिक है ।

उत्तरचर प्रनुपलब्धि हेतुका उदाहरण--

नोदगाद् भरणिमुँ हूर्तात् प्राक् तत एव ।। ८४।।

सूत्रार्थ—एक मुह्त् पहले भरणिका उदय नहीं हुम्रा था क्योंकि कृतिकोदय की अनुपलब्धि है।

#### नास्त्वत्र समतुकायामुद्धामी नामानुषलम्बेः ॥८५।।

इति सहचरानुपलब्धिः।

श्रयानुपलव्धिः प्रतिवेधसाधिकैवेति नियमप्रतिवेधार्यं विरुद्धे त्याद्याह--

विरुद्धानुपलन्धिः विभौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वमावानुपलन्धिमेदात् ॥८६॥

विषयेन विरुद्धस्य कायदिरनुगलव्यिविधौ साव्ये सम्भवन्ती त्रिधा भवति–विरुद्धकार्यकारण-स्वभावानुपलव्यिभेदात् ।

तत्र विरुद्धकार्यानुपलव्धियंथा---

यथारिमन्त्राणिनि व्याविविश्वेषोस्ति निरामयबेष्टानुपरुव्धेः ॥८७॥

भ्रामयो हि व्याधिः, तेन विरुद्धस्तदभावः, तत्कार्यो विशिष्टचेष्टा तस्या श्रनुपलव्धिव्याधि-विशेषास्तित्वानुमानम् ।

सहचर भ्रनुपलब्धि हेतुका उदाहरण--

नास्त्यत्र समतुलाया मुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥ ५५॥

सूत्रार्थ—इस तुलामें उन्नाम—ऊँचापना नहीं क्योंकि नाम—नीचापनकी धनुपलब्धि है।

अनुपलब्धिरूप हेतु केवल प्रतिषेषरूप साध्यको ही सिद्ध करता है ऐसा किसी का मंतरूप है उस नियम का निषेच करनेके लिए प्रग्निम सुत्र अवतरित होता है —

विरुद्धानुपलब्धिः विधौ तेथा विरुद्ध कार्य कारण स्वभावानुपलब्धिभेदातु ।।८६।।

सुत्रार्थ—विधिरूप (अस्तित्वरूप) साध्यके रहनेपर विरुद्ध क्रनुपलिध हेतुके तीन भेद होते हैं विरुद्ध कार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि, विरुद्धस्वभावानुपलब्धि। साध्यके विरुद्ध कार्यादिकी प्रनुपलब्धि होना रूप हेतु उक्त तीन प्रकारका है।

विरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतुका उदाहरण---

यथास्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामय चेष्टानुपलब्धेः ।।५७।।

सूत्रार्थ — जैसे इस प्राणीमें रांगविशेष है क्योंकि निरोगके समान चेष्टा नहीं करता । आमय रोगको कहते हैं उस आमयके विरुद्ध उसका अभाव निरामय कहलाता है निरामय श्रवस्थाका कार्य विशिष्ट चेष्टा है उसकी श्रमुपलिख होनेसे रोगके अस्तित्व का अनुमान लग जाता है।

#### विरुद्धकारणानुपल व्यियंषा--

#### अस्त्यत्र देहिनि दःखमिष्टसंयोगामानात् ।।८८।।

दुःक्षेत हि विकद्धं सुखम्, तस्य कारएमभीष्टार्थेन संयोगः, तदभावस्तदनुपलव्धिर्दुः:खास्तिस्थं गमयतीति ।

विरुद्धस्वभावानुपलव्धिर्यथा--

# अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तानुपत्रव्येः ॥८९॥

श्चनेकान्तेन हि विरुद्धो निर्यकान्तः क्षणिकैकान्तो वा । तस्य चानुपलिष्यः प्रत्यक्षादि-प्रमाचेनाऽस्य प्रह्णाभावात्सुप्रसिद्धा । यथा च प्रत्यक्षादैस्तद्ब्याहकत्वाभावस्तया विषयविचारप्रस्तावे विचारयिष्यते ।

ननु चैतत्साक्षाद्विधौ निषेषे वा परिसङ्ख्यातं साधनमस्तु । यसुपरम्परया विधेनिषेषस्य वा साधकं तदुक्तसाधनप्रकारेम्योऽन्यत्वादुक्तसाधनसङ्ख्याव्याधातकारि छलसाधनान्तरमनृषज्येत । इत्यागङ्क्य परम्परयेत्थादिना प्रतिविधते—

#### विरुद्ध कारणानुपलब्धि हेनुका उदाहरण--

# ग्रस्त्यत्र देहिनि दुःख मिष्ट संयोगाभावात् ॥ ६८॥

सूत्रार्थ—इस जीवमें दुःख है क्योंकि इस्ट संयोगका स्रभाव है। दुःखके विरुद्ध सुख होता है भौर उसका कारण अभीष्ट पदार्थका संयोग है उस संयोगका स्रभाव होनेसे दुःखका श्रस्तित्व जाना जाता है।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धि हेतुका उदाहरण--

# ध्रनेकान्तारमकं वस्त्वेकान्तानुपलब्धेः ।।८१।।

सूत्रार्थ—वस्तु अनेकान्तारमक होती है क्योंकि एकांतकी अनुपलिब्ध है। अनेकांतके विरुद्ध नित्यएकांत या क्षणिक एकांत होता है उसकी अनुपलिब्ध प्रत्यक्षादि प्रसाण द्वारा सिद्ध होती है क्योंकि एकांतको ग्रहण करनेवाले प्रमाणका अभाव है। प्रमाणके विषयका विचार करते समय आगे निश्चय करेंगे कि प्रत्यक्षादि प्रमाण नित्यैकांत ग्रादि एकांतको ग्रहण नहीं करते।

श्रंका—-को साध्य साक्षात् विधिरूप या निषेत्ररूप है उसमें उक्त प्रकारके हेतुकी संख्या मानना ठीक है किन्तु जो परंपरारूपसे विधि या निषेपका साधक है <mark>ऐसा</mark>

# परम्परया संभवत्साधनमञ्जेवान्तर्भावनीयम् ॥६०॥

यतः परस्परया सम्भवत्कार्यकायदि साधनमत्रैव अन्तर्भावनीयं ततो नोक्तसाधनसङ्ख्या-व्याचातः।

तत्र विधी कार्यकार्यं कार्याविरुद्धोपलब्धी अन्तर्भावनीयम् यथा---

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् । कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपस्वन्धौ ॥९१-९२॥

शिवकस्य हि साक्षाच्छत्रकः कार्यं स्थासस्तु परम्परयेति ।

निषेषे तु कारगाविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथाऽन्तर्भाव्यते तद्यथा---

हेतु उक्त हेतु के प्रकारोंसे अन्यरूप है, श्रतः ऐसे हेतुसे उक्त हेतु संख्याका व्याघातकारो छल साथनांतर का प्रसंग ग्राता है 🎗

> समाधान—इस शंकाका समाधान श्रागेके सूत्र द्वारा करते हैं— परंपरया संभवत् साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ।।६०।।

सूत्रार्थ---परंपरारूप होनेवाला साधन (हेतु ) इन्हीं पूर्वोक्त हेतुप्रकारोंमें अंतर्भूत करना चाहिए । ग्रतः उक्त हेतुभोंकी संख्याका व्याघात नहीं होता । विधिरूप साध्यमें कार्यकार्यरूप हेतुका कार्याविरुद्धोपलिष्य नामा हेतुमें अंतर्भीव होता है जैसे---

श्रभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ।।६१।। कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्दी ।६२।।

सूत्रार्थ—इस कुंभकारके चक्र पर शिवक नामा घट का पूर्ववर्ती कार्य हुत्रा है क्योंकि स्थासनामा कार्य उपलब्ध है। शिवक नामा मिट्टी के आकार का साक्षात् कार्य छत्रकाकार है और स्थास नामा कार्य परंपरारूप है।

भावार्थ — कुं भकार जब गीली चिकनी मिट्टीको घट बनानेमें उपयुक्त ऐसे चक्रपर चढ़ाता है तब उसके कमशः शिवक, छत्रक स्थास ग्रादि नामवाले श्राकार बनते जाते हैं, पहले शिवक पीछे छत्रक थीर उसके पीछे स्थास श्राकार है श्रतः शिवकका साक्षात् कार्यं तो छत्रक है और परंपरा कार्यं स्थास है इसलिये यहां स्थासको कार्यं कार्यहेतु कहा है। निषेधरूप साध्यके होनेपर कारण विरुद्ध कार्यं हेतुका विरुद्ध कार्योप-लिखमें ग्रंतर्भाव होता है। जैसे—

# नास्त्यत्र गुहायां मृगकीहनं मृगारिजन्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपरुष्यी यथेति ।९३॥

मृगक्कीडनस्य हि कारएां मृगः । तेन च विरुद्धो मृगारिः । तत्कार्यं च तच्छव्दनमिति ।

नन् यद्यब्धुत्पन्नानां ब्युत्पत्त्ययं दृष्टान्तादियुक्तो हेतुप्रयोगस्तींह ब्युत्पन्नानां कथं तत्त्रयोग इत्याह—

व्युत्व**लप्रयोगस्तु तथोपपस्याऽन्यथाऽनुपपस्यैव वा ॥९४॥** एतदेवोदाहरसाहारेसा दर्शयति—

अग्निमानयं देशस्तरीव धूमवस्त्रीपवत्ते धू मवस्त्रान्यथातुवपत्ते र्वा ॥९४॥

नास्त्यत्र गुहायां मृग कीडनं मृगारि शब्दनात् कारण विरुद्ध कार्यविरुद्ध कार्योपलब्धौ यथा ।। १३।।

सूत्रार्थ — इस गुहामें हिरणकी कीडा नहीं है, क्योंकि सिंहकी गर्जना हो रही है। यह "मुगारिशब्दनात्" हेतु कारणके विरुद्ध जो कार्य है उस रूप है ग्रतः इस हेतुका विरुद्धकार्योपलब्धि नामा हेतुमें अंतर्भाव करना होगा। क्योंकि हिरणकी कीडाका कारण हिरण है और उसका विरोधी सिंह है उसका कार्य गर्जना है अतः यह हेतु विरुद्ध कार्योपलब्धि कहलाया।

शंका — ग्रब्युत्पन्न पुरुषोंको ब्युत्पन्न करनेके लिये हण्टान्त आदिसे युक्त हेतु प्रयोग होना चाहिए ऐसा प्रतिपादन कर आये हैं किन्तु जो पुरुष ब्युत्पन्नमति हैं उनके लिये किस प्रकारका हेत्र प्रयोग होता है ?

> समाधान — ग्रब इसी शंकाका समाधान करते हैं— व्युत्पन्न प्रयोगस्तु तथोपपत्त्यान्यथानपपत्त्यैव वा ।। १४।।

सुत्रार्थं - ब्युत्पन्नमति पुरुषोंके लिए तथोपपत्ति ग्रथवा ग्रन्थयानुपपत्तिरूप हेतुका प्रयोग होता है, ग्रथांत् इस विवक्षित साध्यके होनेपर ही यह हेतु होता है ऐसा "तथोपपत्ति" रूप हेतु प्रयोग ग्रथवा इस साध्यके न होनेपर यह हेतु भी नहीं होता ऐसा ग्रन्थथानुपपत्तिरूप हेतुप्रयोग ब्युत्पन्नमतिके प्रति हुग्ना करता है। इसीका उदाहरण द्वारा प्रतिषादन करते हैं -

ग्रग्निमानयं देशस्त्रयैव धूमबत्बोपपत्तेर्धू मबत्वान्ययानुपपत्तेर्वा ॥६५॥

कुतो व्युत्तन्नानां तबोषपस्यन्यवाऽनुषपत्तिम्यां प्रयोगनियम इत्याशक्रूघ हेतुप्रयोगो हीत्याचाह-हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्त्रिवृहणं त्रिधीयते, सा च तावन्मात्रेण व्युत्यन्तरववार्यते हति ॥९६॥

यतो हेतोः प्रयोगो ज्यासिग्रहणानतिक्रमेण विधीयते । सा च ज्यासिस्तावन्मात्रेण तयोपपस्य-न्ययानुपपत्तिश्रयोगमात्रेण ब्युत्पन्नैनिश्चीयते इति न दृष्टान्तादिश्रयोगेण व्याप्त्यवधारणार्थेन किञ्चि-रश्रयोजनम् ।

नापि साध्यसिद्धचर्यं तत्प्रयोगः फलवान्-

तावताच साध्यसिद्धिः ॥९७॥

यतस्तावतैव चकार एवकारार्थे निश्चितविपक्षासम्भवहेतुप्रयोगमात्रेगीव साध्यसिद्धिः।

सूत्रार्थं – यह प्रदेश अग्निमान है नयों कि धूमपनाकी उपपत्ति है। यह तथोप-पत्ति हेतु प्रयोग हुआ। अथवा यह देश अग्निमान है (अग्नियुक्त) क्यों कि धूमपनेकी अन्यथानुपपत्ति है। यह अन्यथानुपपत्ति हेतु प्रयोग है। ब्युत्पन्न पुरुषों के प्रति तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति प्रयोगका नियम किस कारणसे करते हैं। ऐसी आशंका का समाधान करते हैं —

हेतु प्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते, सा च तावन्मात्रेणव्युत्पन्नै रवधार्यते ।।६६।।

सुत्रायं — उस तरहका हेत्प्रयोग करते हैं कि जिस तरहसे व्याप्तिका ग्रहण किया जाग, ग्रतः वह व्याप्ति उतने मात्रसे (हेतु प्रयोग मात्रसे ) व्युत्पन्न पुरुषों द्वारा श्रवधारित (निश्चित ) की जाती है। व्याप्ति ग्रहणका श्रनितक्रम रसते हुए हेतुके प्रयोगका विधान किया जाता है, ग्रीर वह व्याप्ति भी तथोपपत्ति श्रथवा झन्यथानुपप्ति प्रयोग मात्रसे व्युत्पन्नमति द्वारा निश्चित की जाती है। इसीलिये हुण्डांतादिके प्रयोगसे व्याप्ति अवधारण करना ग्रादि कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

तथा साध्यकी सिद्धिके लिये भी हष्टांतादिका प्रयोग प्रयोजनभूत नहीं होता है—

# तावता च साध्यसिद्धिः ॥ १७॥

सूत्रार्थ—उतने तथोपपत्ति आदि रूप हेतु मात्रसे ही साध्यकी सिद्धि भी हो जाती है। सूत्रोक्त च शब्द एवकार क्रथेंमें प्रयुक्त हुआ है। ग्रर्थात् निश्चित विपक्ष

#### तेन पक्षः तदाधारद्यचनाय उक्तः ॥९८॥

तेन पक्षो गम्यमानीपि ब्युत्पन्नप्रयोषे तदाचारसूचनाय साध्याचारसूचनायोक्तः। यथा च गम्यमानस्यापि पक्षस्य प्रयोगो नियमेन कर्त्तं ब्यस्तवा प्रागेव प्रतिपादितम् ।

ग्रसंभवरूप हेतु प्रयोगसे ही साध्य सिद्धि हो जाती है। उसके लिये हष्टान्तादिकी जरूरत नहीं पड़ती।

तेन पक्षः तदाघारसुचनाय उक्तः ॥६८॥

सूत्रार्थं— इसी कारणसे साध्यके ग्राघारकी सूचना करनेके लिए पक्षका प्रयोग करनेको कहा है। ज्ञात रहते हुए भी पक्षका प्रयोग व्युत्पन्न के प्रति किया जाता है कि जिससे साध्यका आधार सूचित होवे। पक्षका प्रयोग नियमसे करना चाहिए। ऐसा पहले ग्रच्छी तरहसे सिद्ध कर श्राये हैं।

भावार्थ — अनुमान प्रमाणका विवेचन वहुत विस्तृत हुआ है इस प्रकरणमें अनुमान, हेतु, अविनाभाव, तर्क, उपनय, निगमन, इष्टांत, पक्ष, साध्य धादि सभी लक्षण किया गया है। इनमें सबसे अधिक वर्णन हेतुका है, क्योंकि अनुमान प्रमाणका धाधार स्तम्भ हेतु है हेतुके कितने भेद होते हैं इसमें परवादियोंके यहां विभिन्न मान्यतायें हैं। बौद्ध हेतुके तीन भेद मानता है। कार्य हेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलिध हेतु। किन्तु इनमें पूर्वचर आदि अन्य हेतुओंका अंतभाव अणक्य है अतः बौद्धोंकी मान्यताका निरसन करते हुए पूर्वचर आदिका समुक्तिक विवेचन किया है। इस प्रमेयकमल मार्चण्ड ग्रंथमें हेतुओंके कुल भेद बाईस किये गये हैं।

[ हेतु भेद संबंधी चार्ट अगले पृष्ठ पर देखिये ]

# हतुग्रों के बावीस भेदोंका चार्ट

	उपलिंघ हेतु	ध्य हेतु	मनुपल हिंदी	ਬ ਨਹੀ
		विरुद्ध की उपलब्धि	मनिरुद्ध की अनुपल्लिय	। विरुद्धकी श्रमुपलिधिष
	শাৰংগ্ৰুণা ওম্নাত্ৰ  - বিভিন্নাভক	प्रतिषेध साधक	 प्रतिषेष्ठ्रं साधक	विधि साधक 
•	<ul> <li>श्रीबरुद्ध स्पाप्य उपलिख्य</li> </ul>	। १ विरुद्ध ध्याप्योपलडिघ	१ प्रविरुद्ध स्वभावधनुपलब्धि १ विरुद्धकार्धे ध्रमुपलब्धि	१ विरुद्धकायं धानुपलज्ञि
. 0.	२ झविष्ट कार्य उपलिष्टि	२ विरुद्ध कार्य उपलब्धि	२ प्रविरुद्ध न्यापकन्नमुपलिङ्ध १ विरुद्धकार्या प्रमुपलिङ्घ	२ विरुद्धकारए। प्रमुपलिष्ध
, w	३ म्नाबिरद्ध कारसा उपलिध्य	३ विरुद्ध कार्सा उपलिंध	३ श्रविरुद्ध कार्यश्रनुपलटिय	३ विरुद्ध स्वभाव धननलि
, >>	४ झाबरुद्ध पूर्वंचर उपल हिंघ	४ विरुद्ध पूर्वेचर उपलब्धि	४ मिषिरुद्ध कारियाधनुपल बिष	
><	र् भविरुद्ध उत्तरबर उपलिह्य	५ विरुद्ध उत्तरचर उपलिष्ध	प्रजाबरुट पूर्वचरअनुपल डिध	
U.P	६ भविरुद्ध सहैचर उपलिष्ध	६ विह्य सहबार उपलिष्ध	६ अविरुद्ध उत्तरसनुपलिध्य	
			७ प्रविरुद्ध सहैचरप्रमुपल दिघ	

हेतुश्रोंके कुल मिलाकर बाबीस भेद हुए

\$; 4



# श्रवेदानीमवसरप्राप्तस्यागमप्रमास्यकारस्य कारसस्य प्रहत्यक्षाप्तेश्याद्याह—

# वाप्तवचनादिनिबन्धनमर्थक्षानमागमः ॥९९॥

, ग्राप्तेन प्रणीतं वचनमाप्तवचनम् । ग्रादिशब्देन हस्तसंज्ञादिपरिग्रहः । तिश्ववन्धनं यस्य तत्तथोक्तम् । ग्रनेनाक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतं च संगृहीतं भवति । ग्रयंज्ञानमित्यनेन चान्यापोहज्ञानस्य

# ( आगम प्रमाग् )

ग्रब ग्रागम प्रमाणका वर्णन करते हुए उसका कारणतथा स्वरूप बतलाते हैं-

# श्राप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः ।।६६।।

सूत्रार्थ — ग्राप्तके बजनादिके निमित्तसे होनेवाले पदार्थोके ज्ञानको श्रागम
प्रमाण कहते हैं। आप्त द्वारा किष्त वचनको आप्तवचन कहते हैं, ग्रादि शब्दसे
हस्तका इशारा प्रादिका महण होता है, उन ग्राप्त वचनादिका जिसमें निमित्त है उसे
आप्त वचन निबंधन कहते हैं, इस प्रकारका लक्षण, करनेसे अक्षरात्मक श्रुत और
ग्रनक्षरात्मक श्रुत दोनोंका ग्रहण होता है। सूत्रमें 'ग्रथं ज्ञानं' ऐसा पद ग्राया है उससे
बौद्धके ग्रन्थापीह ज्ञानका खण्डन होता है तथा शब्द संदर्भ ही सब कुछ है शब्दसे पृथक
कोई पदार्थ नहीं है ऐसा शब्दाद तवादीका खंडन हो जाता है। आप्त द्वारा कथित
शब्दोंसे पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह ग्रागम प्रमाण है। ग्रन्यापोह ज्ञान ग्रादिक

शब्दसन्दर्भस्य चागमप्रमाराज्यपदेशाभावः । शब्दो हि प्रमाराकारराकार्यस्वादुपचारत एव प्रकारा-व्यपदेशमद्वति ।

ननु वालीन्द्रियार्थस्य द्रष्टुः कस्यविदाप्तस्याभावान् तत्राऽबौक्तेयस्यागमस्यैव प्रामाण्यात् कथमाप्तवचननिवन्धनं तद् ? इत्यपि मनोरथमात्रम्ः ग्रतीन्द्रियार्थद्रस्ट्रभँगवतः प्राक्पसाधितत्वात्, प्रागमस्य चाऽगौरुपेयत्वासिद्धेः । तद्धि पदस्य, वाक्यस्य, वर्गानां वाऽम्युपगस्येत प्रकारान्तराऽ-

आगम प्रमाण नहीं कहलाते । स्राप्तके वचनको जो स्रागम प्रमाण माना वह कारणमें कार्यका उपचार करके माना है, क्रर्थात् वचन सुनकर ज्ञान होता है स्रतः वचनको भी स्रागम प्रमाण कह देते हैं, किन्तु यह उपचार मात्र है वास्तविक तो ज्ञानरूप ही स्रागम प्रमाण है।

विशेषां — प्राप्तक (सर्वज्ञक) वचन आदिक निमित्तसे जो पदार्थोंका बोध होता है वह धागम प्रमाण कहलाना है, इसप्रकार धागम प्रमाणका लक्षण है। यदि पदार्थोंक ज्ञानको धागम प्रमाण कहते हैं इतना मात्र लक्षण होता तो प्रत्यक्षादि प्रमाएगों में अतिब्याप्ति होती, क्योंकि पदार्थोंका ज्ञान तो प्रत्यक्षादिसे भी होता है अतः वचनोंके निमित्तसे होनेवाला ज्ञान धागम प्रमाण है ऐसा कहा है, "वचन निवंधनमर्थं ज्ञान मागमः" इतना ही धागम प्रमाणको लक्षण करते तो रथ्यापुरुषके वचन निवंधनमर्थं ज्ञान मागमः" इतना ही धागम प्रमाणको निमित्त वन जाते ख्रतः 'ख्राप्त' ऐसा विशेषण प्रयुक्त किया है। सूत्रमें "ख्रयं" यह शब्द धाया है उसका मतलब है प्रयोजनभूत पदार्थ, अथवा जिससे तात्पर्य निकले उसे अर्थ कहते हैं, तथा बौढ शब्दके द्वारा प्रयंक्षा ज्ञान होकर सिर्फ अत्यवस्तुका अपीह होना मानते हैं उस मान्यताका अर्थ पदसे खण्डन हो जाता है, अर्थात् शब्द वास्तविक पदार्थके प्रतिपादक है न कि अन्यापोहके। शब्द भीर अर्थ में ऐसा ही स्वाभाविक वाचक-वाच्य संबंध है कि घट शब्द द्वारा घट पदार्थ कथनमें अवश्य आ जाता है। घट पदार्थमें वाच्य शक्ति और शब्दमें वाचक शक्ति हुआ करती है। इसप्रकार आप्त पुरुषों द्वारा कहे हुए वचनोंको मुनकर पदार्थका जो जान होता है वह धागम प्रमाण है ऐसा निश्चय होता है।

शंका - अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानने देखनेवाले आप्तनामा पुरुष होना ही असंभव है, अतः अपौरुषेय आगमको ही प्रमाणभूत माना गया है, फिर जो ज्ञान आप्त बचनके निमित्तसे हो वह आगम प्रमाण है ऐसा कहना किसप्रकार सिद्ध हो ? सम्भवात् ? तत्र न सावत्प्रथमद्वितीयविकल्पौ घटेते; तथाहि-वेदपदवाक्यानि पौरुषेयाणि पदवाक्य-त्वाद्भारतादिपदवाक्यवत् ।

श्रपीरुपेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्च कथमपौरुपेयत्वं वेदस्योपपन्नम् ? न च तत्प्रसाधक-प्रामाणाभावोऽसिद्धः, तथाहि – तत्प्रसाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, प्रयोपत्यादि वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, तस्य शब्दस्वरूपमात्रप्रहृणे चिरतार्थत्वेन पौरुपेयस्वापौरुषेयत्वधमंग्राहकरवाभावात् । अनादिसस्वस्वरूपं वापौरुपेयन्वं कथमक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेश्चम् ? प्रक्षाणां प्रतिनियतकपादिविषयत्वा स्रनादिकालसम्बन्धाऽभावतस्तत्सम्बन्धसत्वेनाप्यसम्बन्धान् । सम्बन्धे वा तद्वदश्नागतकालसम्बद्ध-धमोदिस्बरूपेणापि सम्बन्धसम्भवान्न धमंत्रप्रतिवेदः स्यान् ।

समाधान—यह शंका असार है, अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानने वाले भगवान अरिहंत देव हैं ऐसा अभी सर्वज्ञ सिद्धिमें निश्चय कर श्राये हैं, तथा आगम अपौरुषेय हो नहीं सकता, आप अपौरुषेय किसको मानते हैं पदको, वाक्यको या वर्णोंको ? इनको छोड़कर अन्य तो कोई आगम है नहीं। पद और वाक्यको अपौरुषेय कहना शक्य नहीं, क्योंकि पद स्वयं रचना बद्ध हो जाय ऐसा देखा नहीं जाता। अनुमान प्रयोगवेदके पद और वाक्य पौरुषेय (पुरुष ढारा रचित) है क्योंकि पद वाक्य रूप है, जैसे महाभारत आदि शास्त्रोंके पद एवं वाक्य पौरुषेय होते हैं।

वेदको अपौरुषरूप सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण भी दिखाई नही देता, फिर किस प्रकार उसको अपौरुषेय मान सकेंगे ? वेदके अपौरुषेयत्वका प्रसाधक प्रमाण नहीं है यह वात असिद्ध भी नहीं । वेदके अपौरुषेयत्वको कौनसा प्रमाण सिद्ध करेगा । प्रत्यक्ष, अनुमान या अर्थापत्ति आदिक ? श्रावण प्रत्यक्ष प्रमाणतो कर नहीं सकता क्योंकि वह तो केवल शब्दके स्वरूपको जानता है, यह मुनायी देनेवाला पद वाक्य पौरुषेय है या अपौरुषेय है इत्यादिरूप शब्दके धर्मको श्रावण प्रत्यक्ष ज्ञान जान नहीं सकता । तथा अपौरुषेय तो अनादि कालसे सत्ताको ग्रहण किया हुआ रहता है इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष उसको कैसे जान सकता है ? इंद्रियां तो अपने अपने प्रतिनियत रूप शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करती है, इन्द्रियोंका अनादिकालसे कोई सम्बन्ध नहीं है अतः इंद्रियां अनादि अपौरुषेय शब्दके सत्ताके साथ संबंधको स्थापित नहीं कर सकती । अनादि कालीन पदार्थसे यदि इंद्रियां संबंधको कर सकती हैं तो उसके समान अनागतकाल संबंधी धर्म अध्यम के साथ भी सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगी ? फिर तो आप मीमासक आरमाके धर्मज बननेका निषेध नहीं कर सकेंगे। अर्थात् आपका यह कहना है कि कोई

- भारतानायनुमानं तत्पसाधकम्; तद्धि कर्षेऽस्मरसाहेतुप्रभवम्, वेदाघ्ययनशब्दवाच्यत्विलङ्गजैनिति वा स्यात्, कालत्वसाधनसमुत्यं वा ? तत्राधपक्षे किमिदं कर्त्तुरस्मरस्यं नाम-कर्तृस्मरस्याभावः, प्रस्मयमास्यकत् कत्वं वा ? प्रथमपक्षे व्यधिकरसाऽसिद्धो हेतुः, कर्तृस्मरसाभावो ह्यात्मन्यपौरुषेयत्वं वेदे वत्तंते इति ।

िंद्वितीयपक्षे तु ष्ट्यान्ताभावः; नित्यं हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्वृकं नाप्यस्मयेमाणकर्वृकं प्रतिपक्षम्, किन्त्वकर्वृकेवेव । हेतुस्व व्ययंविवेषणः; सित हि कर्तरि स्मरणमस्मरणं वा स्यान्नासित

भी पुरुष चाहे वह महायोगी भी क्यों न हो किन्तु धर्म ब्रधर्मरूप श्रद्धष्टको प्रत्यक्ष नहीं कर सकता । सो श्रापकी यह बात खंडित होगी, क्योंकि यहां इंद्रिय द्वारा धर्म आदिका ज्ञान होना स्वीकार कर रहे हैं श्रि अतः प्रत्यक्ष प्रमाण वेदके अपौरुपेयस्वको सिद्ध नहीं कर सकता ।

अनुमान प्रमाण भी वेदके प्रपौष्पेयत्वको सिद्ध नहीं कर सकता, श्राप प्रमुमानद्वारा अपौष्पेयत्वको सिद्ध करना चाहते हैं सो उस श्रनुमानमें कौनसा हेतु प्रयुक्त करेंगे, कर्त्ताका अस्मरणरूप या वेदाध्ययन शब्द वाच्यत्वरूप श्रयवा कालत्वरूप श्रयम पक्षमें प्रथन होता है कि कर्ताका श्रस्मरण इस पदका क्या अर्थ है, कर्त्ताके स्मरणका श्रभावरूप अर्थ है या अस्मयमाणकर्तृत्वरूप अर्थ है ? (स्मृतिमें आये हुए कर्त्ताका निषेध करना रूप श्रय है ?) प्रथम विकल्प कहो तो व्यधिकरण असिद्ध नामा हेत्वाभास बनता है कैसे सो हो बताते हैं –साध्य और हेतुका अधिकरण विभिन्न होना व्यधिकरण असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है, यहां पर कर्ताके स्मरण का अभावरूप हेतु है सो यह स्मरणका अभाव आत्मारूप अधिकरणमें है और अपौष्पेयत्वका सिद्ध करना है वह साध्य वेद में है) अतः व्यधिकरण असिद्ध हेत्वाभास होता है ।

दूसरा विकल्प – अस्मयंभाण कर्तृत्वरूप हेतु पदका अर्थं करते हैं तो इष्टांतका अभाव होगा, जो वस्तु नित्य होती है वह समयंभाण कर्तृत्वरूप भी नहीं है और अस्मयंभाणकर्तृत्वरूप भी नहीं है कौर अस्मयंभाणकर्तृत्वरूप भी नहीं है वह तो अकर्तृत्वरूप ही है। (क्योंकि निस्यवस्सुका कर्त्ता ही नहीं होता अतः उसके कर्त्ताका स्मरण है या नहीं क्र्यादि क्यमें गलत ठहरता है) हेतुका विशेषण भी व्ययं होता है क्योंकि कर्त्ताके होंने पर ही स्मरण और अस्मरण संबंधी प्रकृत होते हैं, कर्ताके अभाव में तो हो नहीं सकते, जैसे खरविषाणका

सरिविषाणवत् । घ्रयाऽकत्ं कत्वमेवात्र विवक्षितम् ; तर्हि स्मर्थमाणग्रहणं व्यर्थम् , जीर्णकृपप्रासादादि-भिश्यभिवारस्य । ग्रय सम्प्रदायाऽविच्छेदे सत्यऽस्मर्थमाणकत्ं कत्वं हेतुः; तथाप्यनेकान्तः । सन्ति हि प्रयोजनाभावादस्मर्थमाणकत्ं काणि 'वटे वटे वैश्ववणः' [ ] इत्याधनेकपदवाक्यान्य-विच्छिन्तसम्प्रदायानि । न च तेषामपौरुषेयस्वं भवतापीष्यते । ग्रसिद्धरचायं हेतुः; पौराणिका हि ब्रह्मकत्ं करवं स्मरन्ति ''वक्वेम्यो वेदास्तस्य विनिःसुताः'' [ ] इति । ''प्रतिमन्वन्तरं

स्मरण या ग्रस्मरण कुछ भी नहीं होता । यदि कहा जाय कि वेदको ग्रयौरुषेय सिद्ध करनेमें श्रकतृंत्वको ही हेतु बनाया है तो फिर उसका ग्रस्मर्यमाणत्व विशेषण व्यर्थ ठहरेगा ? तथा पुराने कूप महल ग्रादिके साथ हेतु व्यभिचरित होता है, क्योंकि ये पदार्थ कर्ता द्वारा रचित होते हुए भी अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप हैं (कर्ताकि स्मरणसे रहित हैं) यदि कहा जाय कि जिसमें संप्रदायके विच्छेदसे रहित श्रस्मर्यमाणकर्तृत्व है उसको हेतु बनाते हैं तो यह हेतु भी श्रनेकान्तिक दोष युक्त है।

भावार्थ — जिस वस्तुमें शुरूसे सभी तक परंपरासे कर्ताका स्मरण न हो उसे स्नस्मयमाण कर्तृत्व कहते हैं, वेद इसी प्रकारका है उसके कर्ताका परंपरासे सभी तक किसीको भी स्मरण नहीं है अतः इस अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु द्वारा अपीरुषेयत्वसाध्यको सिद्ध किया जाता है, जीएां कृप आदि पदार्थ भी अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप है किन्तु संप्रदाय अविच्छेद रूप अस्मर्यमाणकर्तृत्व नहीं है क्योंकि जीएांकृपादिका कर्त्ता वर्त्तमान कालमें भले ही अस्मर्यमाण हो किन्तु पहले अतीतकालमें तो स्मर्यमाण ही था, अतः जीएांकृप आदिका अस्मर्यमाण कर्तृत्व विभिन्न जातिका है ऐसा परवादो भीमांसकादिका कहना है सो यह कथन भी अनेकान्त दोष युक्त है, इसीको आगे बता रहे हैं।

वट वट में वैश्रवण रहता है, पर्वत पर्वत पर ईश्वर वसता है, इत्यादि पद एवं वाक्य प्रयोजन नहीं होनेसे अविच्छिल्ल सम्प्रदायसे अस्मर्यमाएं कर्तारूप हैं किंतु उन पद एवं वाक्योंको आप भी अपौरुषेय नहीं मानते हैं, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप है वह अपौरुषेय होता है ऐसा कहना व्यभिचरित होता है । यह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु असिद्ध भी है, अब इसी दोषका विवरण करते हैं—आपके यहां पौरािएक लोग ब्रह्माको वेदका कर्ता मानते हैं, ''वक्त्रभ्योवेदास्तस्य विस्तृताः'' उस ब्रह्माजीके मुखसे वेद शास्त्र निकला है ऐसा आगमवाक्य है। प्रतिमन्वन्तर (एक मनुके वाद दूसरे मनुको उत्पत्ति होने में जो बीचमें काल होता है उस अंतरालको

चैव श्रुतिरत्या विधीयते" [ ] इति चाभिधानात्। "यो वेदांश्च प्रहिर्णोति" [ ] इत्यादिवेदवाक्येम्यश्च तत्कर्ता समर्थते।

स्मृतिपुराणादिवच्च ऋषिनामाङ्किताः काण्यमाध्यन्तिनतैतिरीयादयः वाखाभेदाः कथमस्ययै-माणकत् काः ? तथाहि-एतास्तःकृतकःवातन्नभामभिरङ्किताः, तद्रव्यःवात्, तद्रश्रकाणितस्वाद्वाः ? प्रथम-पद्मे कथमासामपीरुवेयस्यमस्मयंमाणकत् कस्यं वा ? उत्तरपक्षद्वयेपि यदि तावदुत्सन्ना वाखा कष्वादिना च्छा प्रकाशिता वा तदा कथं सम्प्रदायाऽविच्छदोऽतीन्द्रियार्थद्विनः प्रतिवेपस्य स्यात् ? प्रथानविच्छन्तैव सा सम्प्रदायेन रष्टा प्रकाशिता वा; तहि यावद्भिक्षाच्यायैः सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावतां नामभि-स्तस्याः किन्नाङ्कितस्व स्यादियेषाभावान् ?

प्रतिसन्वन्तर कहते हैं) प्रमारण वर्ष व्यतीत होनेपर अन्य श्रन्य श्रृतियोंका निर्माण होता है, इत्यादि तथा जो वेदोंका कर्ता है वह प्रसन्न हो इत्यादि वेद वाक्योंसे वेदकर्त्ताका स्मरण है ऐसा निश्चित होता है।

जिस प्रकार स्मृतिग्रंथ, पूराएएग्रंथ ग्रादिमें ऋषियों के नाम पाये जाते हैं उसीप्रकार कण्वऋषि निर्मित काण्व. मध्यंदिनका माध्यंदिन तैत्तिरीय इत्यादि शाखा भेद वेदोंमें पाये जाते हैं फिर उन वेदोंको अस्मर्यमाण कर्त त्वरूप कैसे मान सकते हैं. वेद इन ऋषियों के नामोंसे अंकित क्यों हैं ? उनके द्वारा किया गया है या देखा गया है अथवा प्रकाशित हैं ? यदि उनके द्वारा किया गया है तो वह अपौरुषेय किस प्रकार कद्रलायेगा और अस्मर्यमाण भी किस प्रकार कहलायेगा ? ग्रर्थातु नहीं कहला सकता। उनके द्वारा वेद देखा गया है अथवा प्रकाशित किया गया है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि व्युच्छित्र हुई वेद शाखाग्रों को देखा या प्रकाशित किया ग्रथवा ग्रव्युच्छित्र वेद शाखाओं को देखा या प्रकाशित किया ? प्रथम विकल्प माने तो वेदके संप्रदायका श्रविच्छेद किस प्रकार सिद्ध होगा ? तथा अतीन्द्रिय पदार्थके ज्ञाताका खंडन भी किस प्रकार सिद्ध होगा ? ग्रथीत् नहीं हो सकता, क्योंकि कण्व भ्रादि ऋषियोंने ब्युच्छिन्न हए वेद शाखाओंका देखा है ! द्वितीय विकल्प माने तो संप्रदाय परंपरासे जितने भी उपाध्यायों द्वारा वेद शास्त्रायें देस्ती या प्रकाशित की गयी हैं उन सबके नाम वेदोंमें क्यों नहीं अंकित हुए ? ग्राशय यह है कि जब वेद शाखा ग्रनविच्छन्न संप्रदायसे चली श्रायी है तब उस संप्रदायको अनिच्छन्न बनाये रखने वाले सभी महानुभावोंके नाम वेदमें अंकित होने चाहिए किन्हींके नाम हो और किन्हींके न हो ऐसा होनेमें कोई विशेष कारए। तो है नहीं।

एतेन 'छिलमूलं बेदे कर्तृ स्मरणं तस्य क्ष्णुअबो मूलस् । न चासौ तत्र तिष्ठयस्वेन विद्यते' इत्यपि प्रत्युक्तस् । यतोऽस्यक्षेण् तस्तुअवायावात् तत्र तिच्छल्रभूलस्, प्रमाणान्तरेण् वा ? प्रध्यक्षेण् वेत्; कि भवत्सस्यिन्धता, सर्वसम्यिन्धता वा ? यदि भवत्सस्यिन्धता; तद्यागमान्तरेणि कर्तृ ग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्ते स्तरुक्तत्वेन् स्तरुक्त्यस्याप्रवृत्ते स्तरुक्त्यक्षस्याप्रवृत्ते स्तरुक्त्यस्याप्रवृत्ते स्तरुक्त्यस्याप्रवृत्ताविण परेः कर्तृ सद्भावास्युपनमात् ततो व्यावृत्तम-स्मर्थमाण्कर्तृ कत्वमपीरुपयस्यप्त्यत्वत् इति प्रव्याविष्यारः, न; परकीयास्युपनमस्याप्रमाण्तवात्, अन्यथा वेदेषि परेः कर्तृ सद्भावास्युपनमतोऽस्मर्यमाण्कर्तृ कत्वादित्यसिद्धो हेतुः स्यात् ।

मीमांसक का कहना है कि बेठके विषयमें कर्ताका स्मरण छिन्नसूल हो गया है, स्मरण ज्ञानका कारण अनुभव है वह वेदके विषयमें नहीं रहा है १ इत्यादि सो यह कथन भी खंडित होता है, आगे इसीको बताते हैं – प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा वेदकर्ताका अनुभव नहीं होनेसे उसको छिन्नसूल मानते हैं अथवा अनुमानादि प्रमाण द्वारा अनुभव नहीं होनेसे छिन्नसूल मानते हैं १ प्रथम पक्ष कहो तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण किसका है आप स्वयंको होने वाला प्रत्यक्ष या सर्वसम्बन्धी प्रत्यक्ष ? आपके प्रत्यक्ष द्वारा वेदकर्ताका अनुभव नहीं आता इसलिये उसको छिन्नसूल कहो तो अन्य बौद्ध आदिके आगमकर्त्ताका भी आपको अनुभव नहीं है अतः वह आगम भी छिन्नसूल होनेसे अस्मर्यमाण कर्त्तृत्वरूप सिद्ध होता है और इस तरह अस्मर्यमाण कर्त्तृत्वरूप सिद्ध होता है और इस तरह अस्मर्यमाण कर्त्तृत्वरूप सिद्ध होता है और इस तरह अस्मर्यमाण कर्त्तृत्वरूप

भावार्थ — वेदका कर्ता स्मरणमें नहीं आता अतः वेद अपौरुषेय है ऐसा मीमांसकका कहना है किन्तु यह हेतु सदीव है, क्योंकि ऐसे बहुतसे पद वाक्य एवं शास्त्र हैं कि जिनके कर्ताका स्मरण नहीं है, अपनेको स्मरण नहीं होने मात्रसे वह वस्तु अकृतक नहीं कहलाती। स्मरणका मूल अनुभव है और अनुभव प्रत्यक्ष ध्रादि प्रमाणसे होता है, हमको वेदकर्ताका अनुभव प्रत्यक्षसे नहीं होनेके कारण उस वेदको अस्मयंमाण कर्तृत्वरूप मानते हैं तो बौद्धादिक ग्रंथको भी अस्मयंमाण कर्तृत्वरूप मानना होगा ? क्योंकि उस ग्रन्थका भी हमको प्रत्यक्षसे अनुभव नहीं है।

मीमांसक - बौढ ग्रादिक ग्रागमका कर्ता हमारे प्रत्यक्ष भने ही न हो किन्तु वे परवादी तो कर्ताका सद्भाव स्वीकार करते ही हैं ग्रतः उनका ग्रागम अस्मर्यमाण कर्तृत्व नहीं होनेसे अपीष्वेय सिद्ध नहीं होता, इसतरह उस ग्रागमसे व्यावृत्त हुआ अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु वेदमें अपौष्वेयत्वको सिद्ध कर देता है । ग्रतः यह हेतु ग्रव्यभिचारी है !

स्य वेदे सिवनातकनुँ विशेष विप्रतिपत्ते : कर्तृं स्मरणुमऽतोऽप्रमाण्म्-तत्र हि कैचिद्धिरण्य-गर्भम्, सपरे प्रष्टकादीन् कर्तृन्-मरस्तीति । नन्वेयं कर्तृं विशेषे विप्रतिपत्ते स्तद्विगेष्टस्मरणुमेवाप्रमाण् स्यात् न कर्तृं मात्रस्मरणम्, अन्यया कादस्वर्यादीनामपि कर्तृं विशेषे विप्रतिपत्तेः कर्तृं मात्रस्मरणुत्वेना-स्मयेमाणुकर्तृं कस्यस्य भावात्पुनरप्यनेकान्तः । स्य वेदे कर्तृं विशेषे विप्रतिपत्तिवस्कर्तृं मात्रेषि विप्रति-परोस्तस्मरणुमप्यप्रमाणुम्, कादम्बर्यादीनां तु कर्तृं विशेषे एव विप्रतिपत्ते स्तरप्रमाणुमिस्यनैकान्तिक-रवाभावोऽस्मर्यमाणुकर्तृं कस्वस्य विपक्षे प्रवृत्यभावात् । नतु वेदे सौगतावयः कत्तर्ति स्मरन्ति न

जैन—ऐसा नहीं है, परवादीकी मान्यता स्रप्रमाण हुया करती है, यदि उनका सिद्धांत स्वीकार करते तो उन्होंने वेदमें कर्ता माना उमको भी स्वीकार करना होगा । फिर उसका स्रस्ययंमाणकर्तृंत्व हेतु श्रसिद्ध हेत्वाभास ही कहलायेगा ।

मीमांसक — वेदमें कत्तिके विषयमें परवादी विवाद करते हैं अर्थात् कत्तीको स्वीकार करके भी निश्चित कर्त्ता विशेष तो उनके यहां भी सिद्ध नहीं होता, अतः बौद्ध ग्रादिका वेद कर्त्त् विषयक स्मरण ज्ञान श्रश्माणभूत है, उन परवादियोंमें कोई तो ब्रह्माको बेदकर्त्ता बतलाते हैं और कोई श्रष्टक नामा दैत्यको वेदकर्त्ता बतलाते हैं।

जैन — इसतरह कर्ता विशेषमें विवाद होनेसे उस कर्ता विशेषका स्मरण ज्ञान ही प्रप्रमाणभूत कहा जा सकता है किन्नु कर्ता सामान्यका स्मरण ज्ञान तो प्रमाण भूत ही कहलायेगा, यदि कर्ता विशेषमें विवाद होने मात्रसे वेदको ग्रयौरुषेय मानकर ग्रस्मयंमाण कर्तृत्व हेतु द्वारा उसे सिद्ध किया जाय तो कादंवरी ग्रादि ग्रंथोंके कर्ता विशेषमें भी विवाद देखा जाता है कि इस कादंवरी ग्रादि ग्रंथका कर्त्ता बाण नामा कि अथवा शंकर है ? इत्यादि सो यहां कर्त्ता सामान्यका स्मरण होते हुए भी कर्त्ता विशेषका तो ग्रस्मरण ही रहता है श्रवः ग्रस्मयंमाण कर्तृत्व होनेसे वेद ग्रयौरुषेय है ऐसा कहना गलत ठहरता है, क्योंकि ग्रस्मयंमाण कर्तृत्व नामा हेतु पौरुषेय ग्रागममें भी पाया जाता है ग्रतः ग्रमैकांतिक हेत्वाभास बनता है।

शंका — वेदमें कर्ता विशेषके समान कर्ता सामान्यमें भी विवाद है ग्रतः वेद कर्त्ताका स्मरण अप्रमाणभूत है किन्तु कादंबरो ग्रादि ग्रंथोंमें ऐसी बात नहीं है, वहां तो सिर्फ कर्त्ता विशेषमें ही विवाद है ग्रतः वहां कर्ताका स्मरण प्रमाणभूत माना जाता है इसप्रकार अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं बनता, क्योंकि यह विपक्षमें नहीं जाता। मीमांसका इत्येवं कतृ'मात्रे विश्वतिपत्तेर्यदि तदश्रमाण्यः, तहि तद्वदस्मरणमप्यऽप्रमाणं किन्न स्याद्वि-प्रतिपत्ते रिविषेषात् ? तथा चासिद्धो हेतुः ।

ग्रथ यचनुषलम्भपूर्वकमस्मर्यमाण्कर्तृं कस्यं हेतुत्वेबोच्येतः तदोक्तप्रकारेणाऽसिद्धानैकान्तिकस्ये स्याशम्, तदभावपूर्वके तु तस्मिन्तयोरनवकाशःः नः, श्रत्र कत्रंऽभावग्राहकस्य प्रमाणान्तरस्येवाऽ-सम्भवात् । ग्रस्मादेवानुमानात्तदभावसिद्धावन्योन्याश्रयः—श्रतो ह्यऽनुमानात्तदभावसिद्धौ तस्पूर्वकमस्मर्य-माण्कर्तृं कत्वं सिद्धर्यातः, तत्सिद्धौ चातोऽनुमानान्तदभावसिद्धिरितः ।

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं, बौद्ध ग्रादि परवादी वेद कर्ताका स्मरण होना मानते हैं किन्तु भीमांसक तो स्मरण होना मानते ही नहीं इसप्रकार सामान्य कर्त्ताके बारे में भी विवाद है ऐसा मानकर उस कर्ताके स्मरणको अप्रमाण कहेंगे तो कोई ऐसा भी कह सकता है कि वेदकर्ताका अस्मरण श्रप्रमाणभूत है, क्योंकि उसमें विवाद है। इसतरह वेदकर्ता का स्मरण होना और स्मरण नहीं होना इन दोनोंमें विवाद ही रह जाता है अतः भीमांसक द्वारा दिया हुन्ना अस्मर्यमाणकर्तृत्व नामा हेतु श्रसिद्ध होता है।

मीमांसक—वेद धपौरुपेय है, क्योंकि उसके कलाका अस्मरण है, इस अनुमान के अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेनुको यदि अनुपन्ने सन्दिस किया जाता है अर्थातु कलिक स्मरणका अनुपन्ने होनेसे अस्मर्यमाए। कल्ंत्व है, ऐसा माना जाय तब तो वह हेतु असिद्ध एवं अनैकान्तिक हो सकता है किन्तु कलिक स्मरणका अभाव होनेसे अस्मर्य-माएाकर्तृत्व है ऐसा मानेंगे तब असिद्धादि दोष नहीं आते हैं।

जैन—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वेदकत्ति अभावको ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाणान्तर संभव नहीं है, यदि इसी अस्मर्यमागकर्तृत्व हेतु वाले अनुमान द्वारा वेदकत्तिका अभाव सिद्ध करेंगे तो अन्योन्याश्रय होगा—अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतुसे कर्त्ताका अभाव सिद्ध होनेपर उसके अभाव पूर्वक होनेवाला अस्मर्यमाणकर्तृत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर इस अनुमानसे कर्त्ताका अभाव सिद्ध होवेगा, इस तरह दोनों असिद्ध कोटीमें रह जाते हैं। नतु वेदे कतृं सद्भावाभ्युणमे तत्कतृं : पुरुषस्थावश्यं तदगुष्ठातसमये अनुष्ठातृग्णामनिष्वितप्रामाण्यामां तत्प्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरणं स्थात् । ते ह्यहण्यक्षेषु कर्मस्वेवं निःसंशयाः प्रवर्तन्ते । यदि
तेषां नद्विषयः सत्यत्वनिष्ठवयः, सोणि तदुपदेष्टुः स्मरणात्स्यात् । यदा वित्रादिप्रामाण्यवशात्स्वयमस्ष्ट
फल्लेष्विष कर्ममु तदुपदेशात्प्रवत्तंन्ते 'पित्रादिभित्रतदुपदिष्टं तेनानुष्ठीयते', एवं वेदिकेष्विष कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु कर्त्तुः स्मरणं स्थात् । न वाभिश्वक्तानामणि वेदार्थानुष्ठातृगणां तैर्वाणकानां तत्स्मरण्यस्ति ।
तथा चैद प्रयोगः-कर्तुः स्मरण्योग्यत्वे सत्यस्मर्यमाण्यकतृं कत्वाद्यीक्षये वेदः' । तद्यसम्बद्धमः
म्रामानतरेष्ट्यस्य हेतोः सद्भाववाधकप्रमाण्यात्मस्यवेन सद्भावसम्भवतः सन्दिग्धविपक्षयावृत्तिकत्वेनानैकान्तिकत्वात् ।

मीमांसक - बात यह है कि वेदकर्ताका सद्भाव मानते हैं तो उस वेदकर्ता का स्मरए। उन पुरुषोंको ग्रवश्य होना चाहिये जिनको कि वेदमें लिखित कियाका श्रनुष्ठान करना है, वे अनुष्ठान करने वाले पुरुष पहले तो वेदकी प्रमाणताको जानने वाले नहीं होते हैं जब वे उसकी प्रमागाताका निश्चय करते हैं तब ग्रनुष्ठायक बनते हैं क्योंकि जब तक अनुष्ठानका फल नहीं जाना है तब तक उसमें निःसंशयरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार वेदकी प्रमाणताका निश्चय होना चाहिए यह बात सिद्ध हई, ब्रब उस वेद विषयक प्रमारगताका निश्चय अनुष्ठायक पुरुषोंको किसप्रकार होगा यह देखना है, वह निश्चय तो वेदका उपदेश देने वाले पुरुषका स्मरण होने से होगा, जैसे कि जिन कियाग्रोंका फल अज्ञात है उन कियाग्रोंमें ग्रापने माता पिताके प्रमारगताके निमित्तासे किया संबंधी उपदेशको पाकर प्रवृत्ति होती है कि पिताजीने इस प्रकार बताया था [ऐसी किया बतलायी थी ] इत्यादि, फिर तदनुसार वे पृत्रादि भ्रमुष्ठानमें प्रवृत्ति करते हैं । ठीक इसीप्रकार वैदिक क्रियानुष्ठान करते समय भी वेद कर्ताका स्मरण होना चाहिए किन्तु वेद विहित कियानुष्ठानोंमें प्रवृत्त हुए त्रैविंगिक पुरुषोंको ऐसा स्मरण ज्ञान होता तो नहीं ! इसीसे अनुमान होता है कि वेदकर्ता ु स्मरण होने योग्य होकर भी स्मरणमें नहीं स्राता स्रतः ग्रस्मर्यमाण होनेसे वेद ग्रपीरुषेय है।

जैन-पह भीमांसक का विस्तृत कथन असंबद्ध प्रलाप मात्र है, आपका अस्मर्यमाण कर्तृत्व नामा हेतु बौद्धादिक पौरुषेय आगममें जाना संभव है उसका उस विपक्षीभूत पौरुषेय आगममें जानेमें कोई बाथक प्रमाण तो दिखायी नहीं देता अतः यह हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यादृत्ति नामा अनैकांतिक हेत्वाभास बनता है। . किन्तु, विपक्षविरुद्धं विशेषण् विपक्षाद्वचावनं मानं स्वविरोध्यमादाय निवन्तं । न च पीरुपेयत्वेन सह कर्त्तुं स्मर्ण्यायत्वस्य सहानवस्यानलक्षणः परस्यरपरिहारस्यितिलक्षण्। वा विरोधः सिद्धः । सिद्धौ वा तत एव साध्यप्रसिद्धेः 'ग्रस्मर्यमाणुकर्तुं कत्वात्' इति विशेष्योपादानं व्ययंम् ।

यच्चोक्तम्-नदनुष्ठानसमय इत्यादिः, तदागमान्तरेषि समानम् न वा इति चिन्त्यताम्- न चायं नियमः-'अनुष्ठातारोऽभिन्ने तार्थानुष्ठानसमये तत्कत्तौरमनुस्मृत्येव प्रवर्तन्ते'। न खलु पारिएन्यादिप्रसीत-व्याकरस्मप्रतिपादितशाब्दव्यवहारानुष्ठानसमये तदर्थानुष्ठातारोऽवश्यन्तया व्याकरस्मप्रसीतारं पारिस्था-दिकमनुस्मृत्येव प्रवर्त्तन्त इति प्रतीतम् । निविचततस्मयानां कर्नृत्यरस्याव्यातरेकेस्माप्यासुतरं भवस्यादिसाधुशब्दोरसम्भान्। तत्र भवस्सम्बन्धिप्रस्थक्षेसानुभवाभावात्। तत्र तन्ध्यप्तमूलम् ।

दूसरी बात यह है कि हेतुका जो विशेषण होता है वह विपक्षसे विरुद्ध होता है अतः जब वह विपक्षसे व्यावृत्त होता है तब स्व विशेष्यको लेकर त्यावृत्त होता है, ऐसा ही नियम है। किन्तु यहां प्रकरणमें पौरुषेय रूप विपक्षके साथ कत्तांके स्मरणको योग्यताका सहानवस्था विरोध या परस्पर परिहार विरोध तो सिद्ध नहीं है, अर्थात् जहां पर पौरुषेय हो वहांपर कत्तांके स्मरणको योग्यता नहीं रहे ऐसा इन दोनोंमें अंधकार और प्रकाश के समान कोई विरोध तो है नहीं जिससे कत्तांके स्मरणके अभावमें पौरुषेय भी नहीं रहता ऐसा नियम बन सके १ पौरुषेयत्वमें और कत्तांसिरण की योग्यतामें जवरदस्ती विरोधको सिद्ध भी कर लेवे तो फिर उत्तने मात्रसे ही साध्य (भ्रपौरुषेयत्व) की सिद्ध हो जायगी, फिर तो ग्रस्मर्यमाण कर्तृ त्व हेतु रूप विशेष्यको भ्रहण करना व्ययं ही ठहरेगा।

मीमांसक ने कहा कि वेद विहित अनुष्ठानको करते समय कर्ताका स्मरण प्रवश्य होता है इत्यादि, सो यह बात प्रन्य प्रागममें भी समान है १ प्राप विचार करें कि इस तरह है कि नहीं । यह नियम नहीं बन सकता कि प्रमुष्ठान को करने वाले व्यक्ति शास्त्र विहित कियाको करते समय उस शास्त्रके कर्ताको जरूर स्मरण करते हों पाणिनि आदि प्रथकार द्वारा प्रणीत व्याकरणमें प्रतिपादित किये गये धानु लिंग आदि संबंधी शब्द होते हैं उनको व्यवहारमें प्रयोग कस्ते समय पाणिनि आदि प्रथकारका स्मरण करके ही प्रयोग करते हैं ऐसा प्रतीत नहीं होता । व्याकरण किये बना भी शीझतासे "भवति" इत्यादि धानुपद आदि साधु शब्दोंको उपलब्ध करते हैं । इसप्रकार आप सीमांसक के प्रत्यक्ष द्वारा वेदकर्ताका धानुभव नहीं होनेसे वेदकर्ताका स्मरण खिन्नमूल

नापि सर्वसम्बन्धियत्यक्षेणः तेन हानुभवाभावोऽसिद्धः। न हार्वाष्ट्रमा 'सर्वेषां तत्र कर्तृ वाहक-स्वेन प्रत्यक्षां न प्रवर्शते' इत्यवसातुं शक्यभिति तत्र तत्स्मरणस्य छिन्नमूलस्वासिद्धेरस्मयंमाण्कर्तृ क-स्वादित्यसिद्धो हेतुः।

भ्रय प्रमाणान्तरेणानुभवाभावः; तन्नः, श्रनुमानस्य त्रागमस्य च प्रमाणान्तरस्य तत्र कर्तृ-संद्भावावेदकस्य प्रावप्रतिचादितस्वात् ।

किञ्ज, प्रस्मयंमालकर्तृं कत्वं वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा स्यात् ? वादिनः चेत्; तदनै-कान्तिकं "सा ते भवतु सुप्रीता" [ ] इत्यादौ विद्यमानकर्तृं केप्यस्य सम्भवात् । प्रतिवादिन-

माना जाता है ऐसा कहना गलत है। अब सर्ब संबंधी प्रत्यक्षके द्वारा अनुभव नहीं होनेसे बेदकत्तांका स्मरण छिन्नमूल माना जाता है, ऐसा दूसरा पक्ष कहा जाय तो वह भी गलत होता है, क्योंकि सर्व संबंधी प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाल अनुभवका अभाव असिद्ध है, इसमें भी कारण यह है कि हम जैसे लोगोंका प्रत्यक्ष ज्ञान "सभी जीवोंके प्रत्यक्ष द्वारा बेदकर्ताका अनुभव नहीं होता" ऐसा जाननेके लिये समर्थ नहीं है। जब सबके प्रत्यक्षका निर्णय ही नहीं कर सकते तो बेदकर्ताका स्मर्ण छिन्नमूल होनेसे बेदकी अस्मर्यमाण कर्तृत्व रूप मानते हैं ऐका कहना कैसे सिद्ध हो सकता है श अर्थात् नहीं हो सकता। इस तरह अस्मर्यमाण कर्तृत्व रूप मानते हैं ऐका कहना कैसे सिद्ध हो सकता है श अर्थात् नहीं हो सकता। इस तरह अस्मर्यमाण कर्तृत्व रूप मानते हैं ऐका कहना कैसे सिद्ध हो सकता है श

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा वेदकत्तिके ध्रमुभवका घ्रमाव सिद्ध नहीं होता तो मत हो अन्य प्रमाण द्वारा उस घ्रभावको सिद्ध किया जाय १ सो यह कथन गलत है, घ्रमुमान और ग्रागमस्य जो अन्य प्रमाण है वह तो वेदमें कर्ताका सद्भाव ही सिद्ध करता है, न कि ग्रभाव, इस बात का पहले ही प्रतिपादन कर दिया है।

मीमांसक वेदको अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये अस्मर्यमाण कर्तृत्व नामा हेतु प्रस्तुत करते हैं भो वेदकर्त्ताका स्मरण किसको नहीं, वादीको ( मीमांसकको ) या प्रतिवादीको (जैनादिको) अथवा सभीको ? वादीको कहो तो हेतु अनैकान्तिक बन जायगा, वर्योकि "सा ते भवतु सुप्रीता" इत्यादि आगम वाक्य कर्त्तायुक्त होते हुए भी अस्मर्यमाण कर्तृत्व वाले हैं, अर्थातु इन वाक्योंका कर्त्ता भी स्मरणमें नहीं आता । प्रतिवादीको वेदकर्ताका स्मरण नहीं है ऐसा कहो तो असिद्ध हेत्वाभास होवेगा, क्योंकि

ध्वेत्; तदक्षिद्धम्; तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कत्तरिम् । एतेन सर्वस्यास्यरणं प्रत्यास्थातम् । स्रविस्म-ज्ञानविज्ञानरहितो वा कयं सर्वस्य तत्र कत्रेऽस्मरण्यवेति ?

किंत्र, प्रतः स्वातन्त्र्येसापी रुपेयस्व साध्येत्, पौरुपेयस्वसाधनमनुमानं वा बाध्येत ? प्राच्य-विकल्पे स्वातन्त्र्येसापौरिष्ययत्वस्यादः साधनम्, प्रसङ्गो वा ? स्वातन्त्र्यपक्षे नाऽतोऽपौरुषेयस्वसिद्धिः पदवावयस्वतः पौरुपेयस्वप्रसिद्धेः। धतो न ज्ञायते किमस्मर्थमास्सकृतंत्रवादपौरुपेयो वेदः पदवाक्यान्सकस्वास्त्रौरुपेयो वा ? न च सन्देहहेतोः प्रामाण्यम् ।

ननु न प्रकृताद्धे तोः सन्देहोस्पनिर्येनास्याऽपामाण्यम् किन्तु प्रतिहेतुतः, तस्य चैतस्मिन्सत्यऽ-प्रवृत्तेः कव संग्रयोत्पत्तिः ? तदयुक्तम्; यथेत्र हि प्रकृतहेतोः सद्भावे पौद्येयत्वसाधकहेतोरप्रवृत्तिर-

प्रतिवादी को तो वंदकर्ताका स्मरण् ही है। वादी प्रतिवादी सभीको वेदकर्ताका स्मरण नहीं है ऐसा कहना भी इसी उपर्युक्त कथनसे खण्डित होता है। जब हमें सभी जीवोंका ज्ञान ही नहीं होता तब कैसे कह सकते हैं कि सभीको वेदकर्राका स्मरण् नहीं है?

तथा ग्राप मीमांसक को इस हेनु द्वारा क्या साधना है स्वतन्त्रतासे मात्र ग्रापैरुपेयाने को सिद्ध करना है ग्रयमा पौरुपेयपने को सिद्ध करने वाले अनुमान में बाधा उपस्थित करना है? प्रथम विकल्पमें प्रश्न होता है कि यह हेनु स्वतंत्रतासे ग्रपौरुपेयत्वको साधने वाला है ग्रथम विकल्पमें प्रश्न होता है कि यह हेनु स्वतंत्रतासे ग्रपौरुपेयत्वको साधने वाला है ग्रया प्रसंग साधन रूप है? स्वतन्त्रतामें ग्रपौरुपेयत्व को साधने वाला है ऐसा कहो तो इस हेनुसे (ग्रस्मयंमाएकतृंत्वसे) ग्रपौरुपेयत्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि पद वाक्यत्वरूप अन्य हेनुसे पौरुपेयत्व प्रसिद्ध होना संभव है। ग्रतः निर्णीत नहीं होता कि वेद अस्मयंमाणकर्तृत्व होनेसे ग्रपौरुपेय ग्रयया पद वाक्यात्मका रचा हुमा होनेसे पौरुपेय है। इस प्रकार जो संदेहास्पद होता है वह हेनु प्रामाणिक नहीं कहलाता।

शंका — धस्मर्यमाणकर्तृत्व नामा हेतु संदेहास्पद होनेसे अप्रामाणिक नहीं होता अपितु प्रतिकूल हेतु द्वारा ध्रप्रामाणिक हो सकता है किन्तु उस प्रतिकूल हेतुकी यहां पर प्रंकृति नहीं है ग्रतः किसप्रकार संशय होगा ?

समाधान—यह कथन ब्रयुक्त है, जिस प्रकार श्रस्तर्यमाणकर्तृत्व हेतुके रहने पर पौरुषेयत्व को सिद्ध करने वाला प्रति हेतु प्रवृत्ति नहीं करता ऐसा कहा जाता है भिष्ठोखते तथा पदताक्यत्वलक्षराहेतुसद्भावे सत्यस्मयंमाराकर्तृकत्वस्याप्यप्रवृत्तिरस्तु विवेषाभावात् । तन्न स्वतन्त्रसाधनमिदम् ।

नापि प्रसङ्गसाधनम्; तरखलु 'पौरुवेवरवाम्भुपगमे वेदस्य तरकर्तृ: पुरुषस्य स्मरणश्रसङ्गः स्यात्'। इत्यनिष्ठापादनस्वभावम्। न च कर्नृःमरणं परस्यानिष्ठम्; स हि पदवाश्यावेन हेतुना तरकर्तृः स्मरणं प्रतीयन् कथं तरस्मरणस्यार्गम्हतां ब्र्यात् ?

पौरुषेयस्वसाधनानुमानवाथापक्षेपि किमनेनास्य स्वरूपं बाध्यते. विषयो वा ? न तावस्वरूपम्; प्रपौरुषेयस्वानुमानस्याप्यनेन स्वरूपबाधनानुषङ्गात्, तयोस्नुत्यवलत्वेनान्योग्यं विशेषाभावात् ।

उसीप्रकार पद वाक्यत्वनामा हेनुके रहने पर उसका प्रतिहेतु अस्मर्यमाण कर्तृत्व प्रवृत्ति नहीं करता ऐसा भी कह सकते हैं, दोनों कथनोंमें या हेनुओंमें कोई विशेषता तो है नहीं। इसलिये अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु स्वनन्त्रतासे प्रयुक्त हुआ है ऐसा कहना असिद्ध है।

इस हेतुको प्रसंग साधनरूपसे प्रयुक्त किया है ऐसा कहना भी गलत है, प्रसंग साधन तो तब बनता जब बेदको पौरुषेय मानकर कर्त्ताका स्मरण होना नहीं मानते, ऐसे समय पर अनिष्टका आपादन हो सकता था कि जैनादि परवादी यदि वेदको पौरुषेय स्वीकार करते हैं तो उन्हें कर्त्ताका स्मरण भी अवश्य मानना होगा । इत्यादि, किन्तु जैनादिके लिये कर्त्ताका स्मरण मानना अनिष्ट नहीं है वे तो पदवाबयत्व हेतु द्वारा वेदकर्ताका स्मरण सिद्ध करते ही हैं अर्थात् वेदमें पद एवं वाक्योंकी रचना दिखायी देती है अतः वह अवश्यमेव पुरुष द्वारा रचित पौरुषेय है । इसप्रकार वेद कर्त्ताका स्मरण मानना इष्ट ही है फिर वह अनिष्ट कैसे होगा ?

विशेषार्थ — "परेष्टयार्जनष्टापादनं प्रसंग साधनम्" परवादोके इष्टको लेकर उससे उनका ग्रनिष्ट सिद्ध करके बताना प्रसंग साधन हेनु कहलाता है। वाद विवाद करते समय सामनेवाले व्यक्ति द्वारा स्वसिद्धांतको सिद्ध करनेके लिये श्रनुमानका प्रयोग किया जाता है, अनुमानमें सबसे अधिक महत्वशाली हेनु हुआ करता है, उस हेनुमें प्रसिद्ध विकद्ध ग्रादि दोष तो होने ही नहीं चाहिये किन्तु ऐसा भी हेनु नहीं होना चाहिए कि जिस हेनुको लेकर परवादी हमारे अनिष्टको सिद्ध करके दिखावे। अनुमानके प्रमुख दो भवयव होते हैं साध्य और साधन, इसीको पक्ष और हेनु कहते हैं, प्रतिज्ञा और हेनु इस तरह भी कहा जाता है। साध्य और साधन दोनों अवयव ऐसे होने चाहिए कि

भ्रतुत्यबलस्व वा किमनुमानबाधया ? येनैव दोषेणास्याऽनुत्यबलस्वं तत्त एवाप्रामाण्यप्रसिद्धेः। विषय-बाधाच्यनुवपन्नाः तुत्यबलस्वेन हेत्वोः वरस्परविषयप्रतिवन्ये वेदस्योभयधर्मेशून्यस्वानुषङ्गात् । एकस्य वा स्वविषयसाधकस्वेऽन्यस्यापि तत्प्रसङ्गाद् धर्मद्रयारमकस्वं स्थात्। भ्रतुत्यबलस्वे तु यत एवानुत्यबलस्वं तत एवाऽप्रामाण्यप्रसिद्धेः किमनुमानबाधयेन्युक्तम् ।

एतेन

दोनों भी हमें इष्ट हो मान्य हो । यहां मीमांसकके अपौष्णेय वेदका प्रकरण है, "अस्मयंमाणकर्नृ त्वात् वेदः अपौष्णेयः" वेद अपौष्णेय (किसी पुरुष द्वारा रचा हुमा नहीं स्वयं ही बना हुमा है ) है (साध्य) क्योंकि इसके कर्ताका स्मरण नहीं है (हेतु) इसप्रकार मीमांसक का अनुमान प्रयोग है, इसमें अस्मयंमाणकर्नृ त्व हेतु है, इसका जैनाचायंने विविध प्रकारसे खंडन किया है एवं उसमें असिद्धादि दोष सिद्ध क्रिये हैं। जब यह हेतु सदोष सिद्ध क्रिये हैं । अस्मयंमाणकर्नृ त्व हेतु प्रसंग साधन तब बनता जब जैन वेदको पौद्येय मानकर भी उसके कर्ताका स्मरण होना स्वीकार नहीं करते अर्थात् अस्मयंमाणकर्नृ त्वरूप हेतुको तो मानते और साध्य बनाते पौद्येयत्वको, तब अनिष्ट का प्रसंग प्राप्त हो सकता था कि यदि जैनादि अन्य वादी वेदकर्ताका स्मरण होना नहीं मानते तो उन्हें वेदको अपौद्येय भी मानना होगा इत्यादि । किन्तु ऐसा प्रसंग ग्रा नहीं सकता, क्योंकि जैन ग्रादि वादी पहलेसे ही वेद कर्ताका स्मरण होना बतलाते हैं । इसप्रकार मीमांसकका उपर्यु क हेतुको निर्दोष सिद्ध करनेका प्रयत्त असफल होता है ।

पौरुषेयत्वको सिद्ध करने वाले अनुमान में बाघा ध्राती है ऐसा मोमांसकका कहना है सो उसमें प्रश्न होता है कि प्रसंग साघनरूप अनुमान द्वारा इस अनुमानका स्वरूप बाधित किया जाता है ? स्वरूप बाधित किया जाता है ? स्वरूप बाधित किया जाता तो शक्य नहीं, क्योंकि यदि पौरुषेयस्व साध्यवाला अनुमान उक्त अनुमान से बाधित हो सकता है तो आपका अपौरुषेय साध्यवाला अनुमान भी उक्त अनुमान से बाधित हो सकता है, क्योंकि ये दोनों अनुमान (पौरुषेय साध्यवाला और अपौरुषेय साध्यवाला) तुत्यवल बाले हैं परस्पर में विशेषता नहीं है। यदि मान लिया जाय कि उक्त दोनों अनुमान द्वारा वाथा उपस्थित करना

111 25 35

## "वेदस्याध्ययनं सर्वं गुवंध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनदान्यत्वाद्युनाध्ययन यथा'' [ मी० स्ती० घ० ७ स्ती० ३४१ ] इत्यनेबानुमानेन पौरुवेयत्त्रप्रसाधकानुमानस्य वाधाः इत्यवि प्रत्याख्यातमः प्रकृतदोषासामत्राप्यविशेषात् ।

किंत्र, ग्रत्र निविधेषणमध्ययनसञ्द्वाच्यत्वमधौरुपेयत्वं प्रतिपादयेत्, कर्वऽस्मरणविधिष्टं दा ? निविधेषणस्य हेनुत्वे निश्चितकत् केषु भारतादिष्वपि भावादनैकान्तिकत्वम् ।

व्ययं है, क्योंकि जिस दोषके कारण तुल्य बल नहीं है उसी दोषसे एक अनुमान भ्रप्रामाणिक सिद्ध होगा। पौरुषेयसाध्यवाले अनुमान का विषय वाधित किया जाता है ऐसा दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं, क्योंकि तुल्य बलशाली हेतुश्रोंमें (पववाक्यत्व रूप हेतु और अस्मर्यमाणकर्तृ त्वरूप हेतु में) परस्परके विषयोको प्रतिबंध करानेकी सामर्थ्य समानरूपसे होनेके कारण विचारा वेद दोनों धर्मोंसे (पौरूषेय और अपौर्षयसे) शून्य हो जायेगा। अथवा उक्त दोनों अनुमानोंमेसे एक अनुमानने अपने विषयको सिद्ध किया तो दूसरा अनुमान भी अपने विषयको सिद्ध करेगा और इस तरह वेद दो धर्मात्मक (पौरुषेय धर्म और अपौरुषेय धर्म) हो जायेगा। और यदि उक्त दोनों अनुमानोंमें अनुल्यवल है (समान वल नहीं है) तो फिर जिस कारणसे समानवल नहीं है उसी कारणसे एकं अनुमान अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है इसलिये फिरसे उसमें प्रसंग साधनरूप अनुमान द्वारा वाधा उपस्थित करनेसे क्या प्रयोजन रहता है ? कुछ भी नहीं।

मीमांसकका दूसरा अनुमान प्रयोग है कि—वेदका जो भी घ्रष्ट्ययन होता है वह सब गुरु अध्ययन पूर्वक होता है क्योंकि वह वेदाध्ययनस्प है जैसे वर्त्तमानकालका वेदका अध्ययन गुरुसे होता है। सो इस अनुमान द्वारा हमारे पौरुषेय प्रसाधक अनुमान में बाधा देना भी असंभव है, क्योंकि इसमें वे ही पूर्वोक्त दोप आते हैं कोई विशेषता नहीं है।

तथा इस अनुमानका वेदाध्ययन वाच्यत्वहें हु विश्लेषण रहित होकर ही अपौरुपेयत्व साध्यको सिद्ध करता है अथवा "कर्ताका अस्मरणरूप" विशेषण सहित होकर अपौरुपेय साध्यको सिद्ध करता है ? प्रथम विकल्प माने तो भारत आदि निश्चित कर्तावाले य थोमें भी उक्त हेतु जला जानेसे अनैकान्तिक होता है । अर्थात् महाभारत आदि पौरुपेय य श्रंथोंका अध्ययन भी गुरु अध्ययन पूर्वक होता है अतः ऐसा

किन, यथाभूताना पुरुषाणामध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेनाध्ययनभ्यव्यवन्ययनभ्यवन्य । भ्रयान्ययाभूतानां ता । यदि तथाभूतानां तदा सिद्धसाधनम् । भ्रयान्ययाभूतानां ता । सिद्धसाधनम् । भ्रयान्ययाभूतानां ति सिद्धसाधनम् । भ्रयान्ययाभूतानां ति सिद्धसाधनम् । भ्रयान्ययाभूतानां ति । सिद्धसाधनम् सर्व-पुरुषाणामतीन्द्रयार्थदर्शनशास्त्रवे । स्वयः स्वयं पुरुषाणामतीन्द्रयार्थदर्शनशास्त्रवे । स्वयः स्वयं । तद-प्यसाम्भ्रतम् । यदि प्रे राणायास्त्रवाभूतार्थभितावने भ्रयामाण्याभावः सिद्धः स्यात् स्यादेतन् यावता गुणावद्ववन्यभावे तद्याप्त्रविक्तिक्तावात् तत्र सापवादं प्रामाण्यम्, तथाभूतां भ्ररणामतीन्द्र-यार्थदर्शनशासिकं । स्वयः समायं द्वा कृतस्त्रवाभूतप्रे राणाभ्रयेतृत्वासामर्थ्यनाऽकोषपुरुषाणामीन्द्रभाविकं । सिद्धसाधनं न स्यात् ?

नहीं कह सकते कि जिसका अध्ययन गुरु पूर्वक चलाग्रारहावह ग्रंथ भ्रपीरुषेय ही होताहै।

यहां एक प्रश्न है कि श्रध्ययन बाच्यत्व हेतु अध्ययन पूर्वकत्व साध्यको सिद्ध करता है सो वर्तमानमें जिस तरहके पुरुष होते हैं और उनके द्वारा ग्रध्ययन चलता है । उसी प्रकारके पुरुषों द्वारा ग्रध्ययन चला श्रा रहा है ऐसा ग्रध्ययन पूर्वकत्व सिद्ध करना है अथवा विशिष्ट पुरुषों द्वारा ( अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेवाले अतीन्द्रिय ज्ञानी पुरुषों द्वारा ) अध्ययन चला श्रा रहा है ऐसा ग्रध्ययन पूर्वकत्व सिद्ध करना है ! प्रथम पक्ष कहो तो सिद्ध साधन है, हम मानते ही हैं कि श्रध्ययन गुरुपूर्वक होता है । दूसरा पक्ष कहो तो हेतु श्रप्रयोजक कहलायेगा ? ( जो हेतु सपक्ष में तो रहे भौर पक्षसे व्यावृत होवे ऐसा उपाधिके निमित्तसे संबंधको प्राप्त हुशा हेतु अप्रयोजक दोष युक्त होता है ) जैसे कि ईश्वरको सिद्धिमें दिये गये सिन्नवेशत्व शादि हेतु श्रप्रयोजक दोष युक्त होता है ) जैसे कि ईश्वरको सिद्धिमें दिये गये सिन्नवेशत्व शादि हेतु श्रप्रयोजक दोष युक्त होते हैं ।

मीमांसक – हम तो वर्तमानमें जैसे पुरुष होते हैं उन पुरुषोंके द्वारा वेदाध्ययन होना मानते हैं और उसी हेतु से अपौरुषेय साध्यको सिद्ध करते हैं ऐसा करने पर भी सिद्ध साध्यन नामा दोष नहीं आता, क्योंकि हम विश्वके संपूर्ण व्यक्तियोंको अतीन्द्रिय पदार्थोंक आनसे रहित मानते हैं किसी कालका भी पुरुष हो वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका अतिपादन करनेवाले बेदकी रचना कर नहीं सकता, अतः वेद अपौरुषेय ही सिद्ध होता है।

भ्रयः न गुराबद्धक्तृकत्वेनैव शब्देऽप्रामाण्यनिवृत्तिरपौरुषेयत्वेनाप्यस्याः सम्भवात् तेनायमदोषः । तदुक्तम्—

> "शब्दे दोषोद्भवस्ताबद्दनत्रधीन इति स्थितम् । तदभावः क्वचिताबद्गुणवद्दक्तृक्त्वतः ॥१॥ तद्गुण्रैरक्कृष्टानां शब्दे सङ्कान्त्यऽसम्भवान् । यद्वा वक्तृरभावेन न स्युरोषा निराश्रयाः ॥२॥"

> > [ मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६२-६३ ]

जैन—यह कथन असुन्दर है, वेदके वाक्य उस प्रकारके अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रतिपादन करते हैं ऐसा तब सिद्ध हो जब उसमें अप्रामाण्यका ग्रभाव सिद्ध हो किन्तु वह सिद्ध नहीं है। आप लोग गुणवान वक्ताका ग्रभाव मानते हैं, जब गुणवान वक्ता ही नहीं है तब उसके गुणोंद्वारा दोषोंका निराकरण नहीं हो सकता और दोषोंका निराकरण नहीं हो सेकता और दोषोंका निराकरण नहीं होनेसे वेदका प्रामाण्य सदीय ही बना रहता है ऐसे अप्रामाण्यभूत वेदको तो अतीन्द्रिय ज्ञान रहित पुरुष भी रच सकते हैं। अतः जो कहा था कि वेद अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रकाशक है। विश्वक संपूर्ण पुरुषों में इसप्रकारके वेदका प्रणयन करने की शक्ति नहीं है इत्यादि, सो यह कथन ग्रसत्य है। इसप्रकार वेदाध्ययन बाज्यत्व नामा पूर्वोक्त हेसु सिद्ध साधन कैसे नहीं हुआ ? अर्थात् हुआ ही।

मीमांसक – शब्दमें श्रप्रामाण्यकी निवृत्ति गुणवान वक्ताके निमित्तसे ही होती हो सो बात नहीं है, अपौरुषेयत्वके निमित्त से भी श्रप्रामाण्यकी निवृत्ति हो सकती है, अतः हमारा हेतु सिद्ध साधन नहीं है कहा है कि शब्दमें दोषोंको उत्पत्ति तो वक्ताके कारण हुआ करती है उन दोषोंका प्रभाव कहीं वेदवाक्यके अनंतर उत्पन्न हुए स्मृत्ति प्रादिके शब्दोंमें तो गुणवान वक्ताके निमित्तसे होता है ।।१।। वक्ताके गुणोंसे निराकृत हुए दोष कोई शब्दोंमें तो गुणवान वक्ताके निमित्तसे होता है ।।१।। वक्ताके गुणोंसे निराकृत हुए दोष कोई शब्दों जाकर संकामित तो होते नहीं तथा अपौरुषेय होनेसे वेदमें वक्ता का प्रभाव है ही, फिर उस वेदमें दोष कंसे रह सकते हैं १ क्योंकि आश्रपके बिना दोष रहते नहीं ।।२।। इसप्रकार स्वयं ही निश्चित हो जाता है कि वेदमें अपौरुषेयत्व होनेके कारण प्रामाण्य है।

इति । तदप्यसमोधोनम् ; यतोऽपौक्षेयत्वमस्याः किमन्यतः प्रमाणात्प्रतिपक्षम्, स्रत एव वा ? यद्यन्यतः; तदाऽस्य वैयर्थ्यम् । स्रत एव चेत्; नन्वतोऽनुमानादपौक्षेयत्वसिद्धौ प्रेरणायामशामाष्या-भावः स्यात्, तक्शावाच्च तथाभृतप्रे रणाप्रसेतृत्वासामस्येन सर्वपुरुवासामीहकत्वसिद्धिरित (रितीत) रेतरास्त्रयः । तस्र निविधेवस्योयं हेत्ः प्रकृतसान्धसाधनः ।

श्रथः सविशेषणः; तदा विशेषण्यः केवलस्य गमक्त्वाद्विशेष्योपादानमन्थंकम् । मवतु विशेषण्यःयेव गमक्त्वम् का नो हानिः, सर्वथाऽपौरुपेयत्वसिद्ध्या प्रयोजनात्; तद्व्ययुक्तम्; यदाः कर्त्रऽ-स्मर्ग्या विशेषण् किमभावास्यं प्रमाणम्, अर्थापतिः, अनुमानं वा ? तत्राद्यः पक्षो न युक्तः; प्रभाव-प्रमाण्यस्य स्वरूपसामश्रीविषयाऽनुपपत्तितः श्रामाण्यस्येव प्रतिषिद्धत्वात् ।

जैन — यह कथन असमीचीन है, वेदका प्रपौरुषेयपना ग्रन्य प्रमाणसे जाना जाता है या इसी वेदाध्ययन वाध्यस्व हेतुसे जाना जाता है ? यदि ग्रन्य प्रमाणसे जाना जाता है तो यह हेतु व्यर्थ ठहरता है और इसी हतुसे जाना जाता है तो अन्योन्याश्रय ग्राता है — वेदाध्ययनवाध्यस्व हेतुवाले अनुमानसे वेदका ग्रपौरुषेयस्व सिद्ध होने पर उसमें श्रप्रमाण्यका अभाव सिद्ध होने पर उसमें श्रप्रमाण्यका अभाव सिद्ध होने पर सभी पुरुषोंके अतीन्त्रिय प्रयंका प्रतिपादन करनेवाले वेदकी रचना करनेकी असामध्यं निश्चित होकर वेद अपौरुषेय सिद्ध होगा । ग्रतः निर्णय होता है कि वेदाध्ययन वाच्यस्व हेतु निर्विशेषण होनेसे प्रकृत साध्य जो ग्रपौरुषेयस्व है उसको सिद्ध नहीं कर पाता ।

श्रव यदि मीमांसक अपने वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतुमें विशेषण जोड़ देते हैं तो हम जैन कहेंगे कि श्रकेला विशेषण ही साध्यका गमक होनेसे विशेष्यका ग्रहण व्यर्थ ही ठहरता है।

मीमांसक – भ्रकेला विशेषण साध्यका गमक हो जाय इसमें हमारी क्या हानि है ? हमारा प्रयोजन तो वेदको सर्वथा घ्रपौरुषेय सिद्ध करनेका है वह चाहे जिससे हो।

जैन — आपने विशेषण मात्रको हेतु रूप स्वीकार कर लिया सो ठीक है किन्तु यह कर्त्ताका अस्मरणारूप विशेषण कौनसा प्रमाण कहलायेगा — अभाव प्रमाण, अर्थापति या अनुमान ? अभाव प्रमाणरूप है ऐसा कहना बनता नहीं, क्योंकि अभावप्रमाणको सामग्री, स्वरूप एवं विषय ये सब किसी प्रकारसे भी सिद्ध नहीं हो पाते हैं, अर्थात् न अभाव प्रमाणका स्वरूप सिद्ध है और न विषय आदि ही सिद्ध हैं, अतः इसमें प्रामाण्य

किन्त, सदुप्तम्भकप्रमाण्पन्तकितृत्तिनिबन्धनास्य प्रवृत्तिः "प्रमाण्पन्तकं यत्र" [मो० दक्षो० प्रमाल० दक्षो० १ ] इत्याद्यभिधानात् । न च प्रमाण्पनकस्य वेदे पुरुषसद्भावावेदरुस्य निवृतिः, पदवाक्यस्वलक्षण्स्य पौरुषेयत्वप्रसाधकत्वेनानुमानस्य प्रतिपादनात् । न चास्याऽप्रामाण्यम्-भिधातु शक्यम् स्वतेऽस्याऽप्रामाण्यम्-किमनेन वाधितत्वात्, साध्याविनाभावित्वाभावाद्वा स्यात् ? तत्राद्यपन्ने चक्रकप्रसंगः; तयाहि—न यावदंभावप्रमाण्यवृत्तिनं तावत्त्रस्वुतानुमानवाधा, यावच्च न तस्य बाधा न तावत्सदुवन्तम्भकप्रमाण्यविवृत्तिः, यावच्च न तस्य विवृत्तिन तावत्त्रस्ववन्धनाऽभावास्य प्रमाण्यवृत्तिः, तद्यवृत्ती च नानुमानवाधीत् । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; स्वसाध्याविनाभावित्वस्यात्र

नहीं है, इसके प्रमाणताका खंडन "ग्रभावस्य प्रत्यक्षादावन्तर्भावः" नामा प्रकरणमें प्रथम भागमें हो चुका है।

यहां पुनः ग्रभाव प्रमाणकी किचित् चर्चा करते हैं, सत्ता ग्राहक पांचों प्रमाणों की (प्रत्यक्ष अनुमान उपमा अर्थापत्ति और ग्रागमकी ) जहां निवृत्ति होती है वहां अभावप्रमाण प्रवृत्त होता है ऐसा भागके मीमांसा श्लोकवात्तिक ग्रंथमें लिखा है वेदमें ऐसे भ्रभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ग्रर्थात् वेदमें पुरुषके सद्भावकी बतलाने बाले पांचों प्रमाण प्रवृत्त नहीं होते किन्तू निवृत्त होते हैं ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हम जैनका पदवाक्यत्व हेतवाला अनुमान प्रमाण वेदको पौरुषेय सिद्ध करता है। इस अनुमानको अप्रमाण भी नहीं कहना । यदि आप इसे अप्रमाण मानते हैं तो किस कारणसे मानते हैं ? अन्य अनुमान द्वारा बाधित होनेके कारण ग्रथवा साध्याविनाभावी हेत्के नहीं होनेके कारण ? प्रथम पक्ष कहो तो चक्रक दोष ग्राता है - जब तक ग्रभाव प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता तबतक हमारे प्रस्तुत अनुमानमें बाधा नहीं आती और जब तक प्रस्तुत श्रदुमान बाधित नहीं होता तब तक सत्ताग्राहक प्रमाणोंकी निवृत्ति हो नहीं सकती और पांचों प्रमाण जबतक निद्वत्त नहीं होते तबतक उनके निवृत्तिसे होनेवाला श्रभाव प्रमाण भी प्रवृत्त नहीं हो सकता । इस तरह श्रभाव प्रमाण जब प्रवृत्त नहीं होता तब हमारे अनुमानमें बाधा भी कौन देगा ? दूसरा पक्ष-जैनके अनुमानमें साध्या-विनाभावी हेत नहीं है अतः वह अप्रमाण है ऐसा कहना भी अयुक्त है, हमारा पद बानगरन हेत् अपने पौरुषेयत्वसाध्यका अवश्य ही अविनाभावी है, क्योंकि जो पदवाक्य रूप रचित होता है वह पौरुषेयके बिना कहीं पर भी दिखायी नहीं देता है - ग्रत: इस हित्में साध्यके प्रविनाभावका ग्रभाव नहीं है।

सम्भवात् । न खलु पदवाक्यारमकत्वं पौरुषेयत्वमन्तरेण् क्वचिद्दर्श्यं येनास्य स्वसाध्याविनाभावाभावः स्यात् ।

एतेन कर्तुं रस्मरत्समन्यषानुषपद्ममानं कर्त्रःआवनिश्चायकमर्षापत्तिगम्यमपौरुपेयत्वं बेदाना-मित्यपास्तम्; ग्रन्यथानुषपद्ममानत्वासम्प्रवस्थात्र प्राणेव प्रतिपादितत्वात् । कर्त्रेऽस्मरत्ममनुमानरूप-मऽपौरुपेयत्वं प्रसाधयतीर्थय्यनुषपश्चयः, प्राणेव कृतीत्तरत्वात् ।

एतेन---

''ग्रंतीतानागतौ कालो वेदकारविवर्जितौ । कालस्वानद्यथा कालो वर्त्तं मानः समीक्ष्यते ॥१॥'' [ ]

कत्तांके अस्मरणको अन्यथानृपपित होनेसे वेद अपौरुषेय है अर्थात् वेद कत्तां का स्मरण हो नहीं अतः वह पुरुषकृत नहीं है, इस प्रकार करांकि अभावके निश्चयरूप अर्थापिताद्वारा वेदका अपौरुषेयरव गम्य होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यहां अन्यथानृपपद्यमानस्व ही असंभव है। इम विषयका पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं कि वेदकर्ताका स्मरण होता है। विशेषणको अनुमान प्रमाण रूप माना जाय ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, हमने पहले बता दिया है कि कर्रााका अस्मरण हेतु वाला अनुमान अपौरुषेयरवको सिद्ध करनेमें असमर्थ है।

इसप्रकार कर्रााका अस्मरण होनेसे वेद अपौरुषेय है यह प्रथम अनुमान तथा "वेदाध्ययन शब्द वाध्यत्वात् वेद: अपौरुषेयः" यह द्वितीय अनुमान ये दोनों ही खंडित हो गये। इसीप्रकार निम्नलिखित अनुमान भी खंडित हुआ समक्ष्मा चाहिये कि अतीतानागत काल वेदके करांसि रहित है, क्योंकि वे कालरूप हैं, जैसे वर्रामान काल वेदकरांसि रहित है, भावार्थ यह है कि जैसे वर्रामानमें वेदरचना करने वाला कोई पुरुष दिखायी देता है, भावार्थ यह है कि जैसे वर्रामानमें वेदरचना करने वाला कोई पुरुष दिखायी नहीं देता वैसे ही अतीत अनागत कालमें रचयिता पुरुष नहीं था और न होगा। अतः वेद अपौरुषेय कहलाता है। ऐसा मीमांसकका तीसरा अनुमान भी पूर्वोक्त दो धनुमानोंके समान दोषोंसे सराहै, इसमें कोई विशेषता नहीं है, तथा इस अनुमानका कालत्व हेतु अन्य आगम आदिमें चला जाता है।

अतीतानागत काल वेद रचनामें जो असमर्थ है ऐसे पुरुषोंसे युक्त था और होगा ऐसा मीमांसक कहते हैं उसमें प्रश्न होता है कि जिस तरह वर्रामान काल वेद रचनेमें असमर्थ पुरुषोंसे युक्त है अथवा वेदकत्तसि रहित काल है। क्या उसीतरह अतीता- · इत्यपि प्रत्युक्तम्; प्राक्तनानुमानद्वयोक्ताशेवदोषासामत्राप्यविशेषात् । घागमान्तरेप्यस्य तुरुयरवाच्च ।

किंच, इदानीं यथाभूतो वेदाकरण्यसम्बंपुरुवयुक्तस्तत्कतृ पुरुवरहितो वा कालः प्रतीतोऽतीतोऽनागतो वा तथाभूतः कालत्वात्साध्येत, प्रन्यथाभूतो वा ? यदि तथाभूतः; तदा सिद्धसाध्यतः। प्रयान्य-थाभूतः; तदा सिन्नवेशास्त्रिवरऽप्रयोजको हेतुः । प्रथ तथाभूतस्यैवातोतस्यानागतस्य वा कालस्य तद्र-हितत्वं साध्यते, न च सिद्धसाध्यताऽन्यथाभृतस्य कालस्यासम्भवात् । नन्वन्यथाभूतः कालो नास्तीत्ये-तत्कुतः प्रमाणात्वतिपन्नम् ? यद्यस्यताः; तहि तत एवापौरुषेयत्वसिद्धः किमनेन ? प्रत एवेति चेत्; ननु 'प्रन्ययाभूतकालाभावसिद्धावतोऽनुमानात्तद्वहितत्वसिद्धः, तिसद्धदेशान्ययाभूतकालाभावसिद्धः' इत्यन्योष्याप्रयः।

नागत काल वैसे पुरुषोंसे युक्त था एवं होगा, प्रथवा अतीतानागत काल किसी अन्य प्रकारका था १ यदि वर्रामान जैसा अतीतादि काल था ऐसा कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि वर्रामानके जैसे पुरुष वेदको रचते हैं ऐसा हम नहीं कहते हैं। यदि अतीतादि काल जन्यथाभूत (वर्रामानसे विशिष्ट) था ऐसा कहो तो कालत्व नामा सामान्य हेतु सन्निवेशत्व आदि हेतुके समान अप्रयोजक बन जायगा।

मीमांसक – वर्तामान जैसा ही अतीतादि काल वेद कर्ता रहित सिद्ध किया जाता है और ऐसा साध्य बनानेमें सिद्ध साध्यता भी नहीं होती क्योंकि ग्रन्यथाभूत (ग्रन्थ प्रकारका) काल है ही नहीं।

जैन — अन्यथाभूत काल नहीं है ऐसा किस प्रमाणसे जाना है ? इस कालत्व नामा हेतुवाले अनुमानको छोड़ अन्य किसी प्रमाणसे जाना है ऐसा कहो तो उसी प्रमाणसे वेदका अपीरुषेयत्व भी सिद्ध होबेगा, इस अनुमानकी क्या जरूरत है ? तथा यदि कालत्व हेतुवाले इसी अनुमानसे अन्यथा कालका अभाव सिद्ध होता है ऐसा दूसरा विकल्प कहो तो अन्योग्याश्रय होगा — अन्यथाभूत कालका अभाव सिद्ध होवे तब उस अनुमानसे वेदकत्तांसि रहित कालपना सिद्ध होवेगा और वेदकत्तां रहित कालत्वके सिद्ध होने पर अन्यथाभूत कालके अभावकी सिद्धि होवेगी।

इस तरह यहां तक यह निर्णय हुआ कि अनुमान प्रमाणसे वेदका अपौरुषेयस्व सिद्ध नहीं होता है। अब अन्य प्रमाणोंका विचार करते हैं, आगम प्रमाण भी मीमांसक के अपौरुषेय वेदको सिद्ध नहीं कर सकता, इसमें भी अन्योन्याश्रयदोष झाता है, नाप्यागमतोऽपौरुषेयस्वसिद्धिः इतरेतपात्रयानुषंगात् । तथाहि-मागमस्याऽपौरुषेयस्वसिद्धाव-प्रामाण्यामावसिद्धिः, तस्सिद्धे रचातोऽपौरुषेयस्वसिद्धिरिति । न चाऽपौरुषेयस्वप्रतिपादकं वेदवाक्यमस्ति । मापि विधिवाक्यादऽपरस्य परैः प्रामाण्यमिष्यते, अन्यथा पौरुषेयस्वभेव स्मात्तस्त्रविपादकानां "हिरण्य-गर्भः समवत्तेताग्रे" [ऋग्वेद श्रष्ट० ५ मं० १० सू० १२३] इत्यादिप्रज्ञरतरवेदवावयानां श्रवणात् ।

ग्रपीरुषेयत्वभर्माभारतया प्रमाणप्रसिद्धस्य कस्यचित्यदवाक्यादेरसम्भवान्न तस्सादृत्येनोपमा-नाटस्यपोरुषेयत्वसिद्धिः।

नाप्यर्थापतेः; प्रभौद्येयस्वव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्यार्थस्य कस्यचिदप्यभावात् । स ह्यप्रामाण्या-भावलक्षयो वा स्यात्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादानस्वभावो वा, परार्थश्रव्दोच्चारस्यको वा ? न तावदाद्यः

इसीका खुलासा करते हैं कि आगमका अपौरुषेयपना सिद्ध होने पर उससे अप्रामाण्यका अभाव सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर आगमका अपौरुषेयप्व सिद्ध होवेगा। तथा अपौरुषेयप्वका प्रतिपादन करनेवाला कोई वेदवाक्य भी नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि वेदमें जो जो वाक्य विधिपरक है वही प्रमाणभून है ऐसी मोमांसककी माग्यता है यदि आप मोमांसक अग्य वाक्य को भी प्रमाण मानते हैं तो वेदमें पौरुषेयप्त पना सिद्ध होवेगा "हिएण्यगर्भः समवर्तताओं" इत्यादि बहुतसे वेद वाक्य मुननेमें आते ही हैं (जिनसे कि वेदका पौरुषेयप्त स्पष्ट होता है) अतः, आगम प्रमाणसे वेदकी अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता। उपमा प्रमाणसे भी अपौरुषेयप्त सिद्ध नहीं होता कैसे सो बताते हैं—अपौरुषेय धर्मका आधारभूत ऐसा कोई, पद वाक्य प्रमाण अग्र सिद्ध नहीं होता है, अतः उसके साथ साइय्यको दिखलाकर उपमा द्वारा वेदको अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता है करना शक्य नहीं, सारांश यह है कि कहींपर कोई पद या वाक्य पुरुषके बिना उच्चारित या रिचत दिखायी देता तो उसकी उपमा देकर कह सकते हैं कि अमुक पद एवं वाक्य बिना पुरुषके उपलब्ध हुए वैसे ही वेद वाक्य बिना पुरुषके बने हैं इत्याद। किन्तु जितने पद वाक्य दिखायी सुनायी देते हैं वे सब पुरुषक विने हैं इत्याद। किन्तु जितने पद वाक्य दिखायी सुनायी देते हैं वे सब पुरुषक विन हैं इत्याद। किन्तु जितने पद वाक्य दिखायी सुनायी देते हैं वे सब पुरुषक विन हैं इत्याद। किन्तु जितने पद वाक्य दिखायी सुनायी देते हैं वे सब पुरुषक विन हैं इत्याद। किन्तु जितने पद वाक्य दिखायी सुनायी देते हैं वे सब पुरुषक विन हैं इत्याद। विन्तु जितने पद वाक्य दिखायी सुनायी देते हैं वे सब पुरुषक विन सुन स्वाव है।

प्रधापितिसे भी अपीरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता; प्रपीरुषेयत्वके विना सिद्ध न हो ऐसा कोई सब्दं संबंधी पदार्थ ही नहीं है जिससे कि अर्थापत्तिका अन्यबानुपपद्यमानत्व सिद्ध होवे िए मीमांसक अन्यबानुपपद्यमानत्व किसको बनायेंगे ? अत्रासाध्यके अभावको, अतीन्द्रियार्थ प्रतिपादन स्वभावको पक्षः प्रमामाण्याभावस्यागमान्तरेषि तुत्यस्वात् । न सासौ तत्र मिण्याः वेदीत तिन्मस्यास्त्रप्रसंगात् । प्रवानमान्तरेष तुत्यस्य कर्तुं रम्युपगमात्, पुरुवाएगं तु रागादिवोषदुष्टत्वेन तज्जनितस्याऽप्रमाण्यस्यात्र सम्भवात्तत्रासौ मिष्याः न वेदे तत्राप्रामाण्योत्पादकदोषाध्यस्य कर्तुं रमावात् । नन्तत्र कृतः कर्तुं रभावो निक्तितः ? प्रन्यतः, प्रत एव वा ? यद्यन्यतः; तत्रेबोच्यताम्, किमप्योपस्याः ? प्रपापत्तेरचेत्; नः इतरेकरात्रम्मानुष्यान्-प्रयोपत्तितो हि पुरुवाभावसिद्धावप्रमाण्याभावसिद्धः, तत्सिद्धौ चार्यापत्तितः पुरुवाभावसिद्धिरितः।

द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः; ग्रतीन्द्रियार्थप्रतिपादनलक्षणार्थस्यागमान्तरेषि सम्भवात् ।

ग्रथवा परार्थ शब्दो क्वारणरूपको ? प्रथम पक्ष—यदि वेद ग्रपौरुषेय नहीं होता तो उसमें ग्रप्रामाण्यका ग्रभाव नहीं हो सकता था ऐसी अर्थापित जोड़े तो ठीक नहीं, क्योंकि अप्रामाण्यका अभाव तो वेदसे भिन्न जो ग्रन्य ग्रागम हैं उनमें भी पाया जाता है जो कि पुरुषकृत है ग्रतः ऐसा नियम नहीं बना सकते कि ग्रपीरुषेयमें ही ग्रप्रामाण्यका ग्रभाव होता है। यदि कहा जाय कि ग्रन्य ग्रन्य ग्रागममें तो ग्रप्रामाण्यका अभाव वास्तविक रूपसे सिद्ध नहीं होता मिथ्यारूपसे भले ही हो ! तो फिर वेदमें भी ग्रप्रामाण्यका ग्रभाव मिथ्यारूपसे ही सिद्ध होवेगा।

मीमांसक— श्रन्य ग्रन्य जो आगम हैं उनके कर्त्ता पुरुष होते हैं और पुरुष जो होते हैं वे सब ही राग द्वेष आदि दोषोंसे ग्रुक्त ही होते हैं अतः ऐसे पुरुषों द्वारा रिवत भ्रागमोंमें अप्रामाण्य रहना स्वामाविक है, क्योंकि श्रप्रामाण्यका कारए। तो दोष ही है, वेदमें ऐसी बात नहीं है उसमें भ्रप्रामाण्य को उत्पन्न करने वाले दोषोंका भ्राश्यमभूत पुरुषकर्त्ताका ही भ्रभाव है !

जैन—अच्छा तो यह बताओं कि किस प्रमाण द्वारा वेदकर्ताका ध्रभाव सिद्ध किया जाता है ? अन्य प्रमाणसे या इसी ग्रधीपत्तिसे ? ग्रन्य प्रमाणसे कहो तो वह अन्य प्रमाण कौनसा है सो बताओं ? क्या वह प्रमाण अर्थापत्ति ही है ? यदि हां तो अन्योग्याश्रय दोष आता है, ग्रीर इसी प्रधीपत्तिसे कहो तो भी यही दोष आता है, ग्रीर इसी प्रधीपत्तिसे कहो तो भी यही दोष आता है, प्रथम तो अर्थापत्तिसे पुरुषके ग्रभावकी सिद्धि होगी अरैर उसके सिद्ध होने पर अर्थापत्तिसे पुरुषके ग्रभावकी सिद्धि होगी ।

दूसरा विकल्प था कि अतीन्द्रिय अर्थके प्रतिपादनका स्वभाव अन्यया वन नहीं सकता ( यदि वेद अपौरुषेय न होवे ) सो ऐसा अप्रामाण्यभावका अन्यथानुपपद्य- परार्थशस्त्रीच्यारणान्यवानुपपत्तीनित्यो वेदः; इत्यप्यसमीचीनम्; धूमादिवत्सादृश्यादप्यर्थश्रति-पत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणुरवात् ।

किंच, प्रपौरुवेयत्वं प्रसञ्यप्रतिषेषरूपं वेदस्यान्युगगम्यते, पर्युःदासस्वभावं वा ? प्रथमपक्षे तिक्ति सदुग्वस्थकप्रमाण्याह्यस्, उताऽभावप्रमाण्यिरच्छेष्यम् ? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; सदुग्वस्थक-प्रमाण्यव्यकस्यापौरुवेयग्राहकत्वप्रतिषेषात् । तद्याह्यस्य तुच्छस्वभावाभावरूपत्वानुपयत्ते स्व । प्रति-

मानत्व अपौरुषेयत्वके साथ होता हुआ दिखायी नहीं देता, सिर्फ वेद ही प्रतीन्द्रिय ग्रथंका प्रतिपादक हो सो बात नहीं है अन्य आगम भी उसके प्रतिपादक होते हैं।

परायं शब्दोच्चारण की अन्ययानुपपित होनेसे वेद नित्य ( प्रपौरुषेय ) है, प्रथित वेद नित्य नहीं होता तो शिष्यादिके लिये शब्दोंका उच्चारण किस प्रकार समभ्रमें आता कि यह वही शब्द है जो गुरु मुखसे सुना था, इत्यादि रूपसे वेद वाक्योंको नित्य सिद्ध करके अपौरुषेय बतलाना भी ठीक नहीं, शब्द तो धूमके समान सहशताके कारण अर्थ बोध करानेमें निमित्त है, इस विषयका आगे प्रतिपादन करने वाले हैं।

भावार्थ—पहले किसीके मुखसे "यह घट है" ऐसा शब्द सुना फिर कहीं पर घट देखकर दूसरेको बतलाया कि देखो ! यह घट है सो ऐसा शब्दोच्चारण तब हो सकता है जब वे शब्द नित्य हों, अन्यया नष्ट हुये उन शब्दोंका उच्चारण तथा अन्य पुरुषोंको उनका सुनना कैसे हो सकता है एवं अर्थबोध भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि वे शब्द तो खतम हो गये ? इसप्रकार मीमांसकने शब्दोच्चारणकी अन्यथानुपपत्ति जोड़कर वेदको नित्य एवं अपीरुषेय सिद्ध करना चाहा तब जैनाचार्य जवाब देते हैं कि यह शब्दोच्चारणकी अन्यथानुपपत्ति तो सहशताके कारण हुआ करती है, पहले शब्द सुना फिर कभी उसका प्रतिपादन किया इत्यादि सो वही शब्द पुनः पुनः प्रयोगमें नहीं आते किन्तु उनके सहश अन्य अन्य हो उत्पन्न हुआ करते हैं जैसे रसोई घरमें धूमको देखा वह अन्य है और पुनः कभी पर्वतपर देखा वह अन्य है उस सहश धूमसे भी अग्निका ज्ञान हो जाता है, उसीप्रकार पहले सुने हुए शब्द और पुनः किसी कालमें सुने हुए या उच्चारणमें आये हुए शब्द अन्य ही रहते हैं। उनसे अर्थ बोध भी होता रहता है, अतः शब्दोच्चारणमें आये हुए शब्द अन्य ही रहते हैं। उनसे अर्थ बोध भी होता रहता है, अतः शब्दोच्चारणकी अन्यथानुपपत्ति से वेदको नित्य या अपीरुषेय सिद्ध करना अश्वस्य है।

क्षिप्तरूच तुच्छस्वभावाभावः प्रावप्रवच्येन । द्वितीयपक्षस्तुः श्रद्धामावगम्यः; प्रभावप्रमाणस्याऽसम्भवत-स्तेन तद्गहरूणानुपपत्ते । तदसम्भवदच सत्सामग्रीस्वरूपयोः प्रावप्रवच्येन प्रतिषिद्धरवारिसद्धः ।

श्रथ पर्युदासरूपं तसम्प्रुपगम्यते । नन्वत्रापि कि पौरुपेयत्वात्स्यत्युदासन्त्र्यार्थौरुपेयत्व-शब्दाभिषेयं स्थात् ? तत्सत्त्वामित चेत्; तर्तिक निविश्वेषण्यः, श्रनादिविशेषण् विशिष्टं वा ? प्रथमपर्षे सिद्धसाध्यता; ततोश्यस्य वेदसत्त्वमात्रस्याध्यक्षादिश्रमाण्ऽसिद्धस्यात्माभिरम्युपगमात् । पौरुपेयत्वं हि कृतकत्वयः, ततश्चात्यत्सत्त्वमित्यत्र को वै विप्रतिपद्यते ? द्वितीयपक्षः पुनरविचारित्रमणीयः; वेदानादिसत्त्वे प्रत्यक्षादिश्रमाण्यतः प्रसिद्धस्यस्भवस्याऽनन्तरमेव प्रतिपादितत्वात् ।

यह भी प्रश्न है कि अपौरुषेय पदमें जो न ज समासका नकार है "न पौरुषेय: इति अपौरुषेय:" यह अभाव सूचक "अ" प्रसञ्यप्रतिषेधारमक है ( तुच्छ अभावरूप ) या पर्युदासारमक है ( तुच्छ अभावरूप ) या पर्युदासारमक है ( तुच्छ अभावरूप ) या पर्युदासारमक अपौरुषेयको कौनसा प्रमाण ग्रहण करता है। सत्ताग्राहक प्रमाण या अभाव ग्राहक अभावप्रमाण १ पहली बात तो कहना नहीं, वर्योकि सत्ताग्राहक पांचों ही प्रमाण अपौरुषेयत्वको ग्रहण नहीं कर सकते ऐसा हम जैनने बता दिया है। तथा सत्ताग्राहक प्रमाणों द्वारा तुच्छ स्वभाव वाले अभावरूप अपौरुषेय का ग्रहण होना भी शक्य नहीं है, हमने तुच्छ स्वभाव वाले अभावरूप अपौरुषेय का ग्रहण होना भी शक्य नहीं है,

अभाव प्रमाणसे अपीष्षेयत्व जाना जाता है ऐसा कहना भी श्रद्धा मात्र है, क्योंकि ग्रभाव प्रमाण ही श्रसंभव है तो उसके द्वारा अपौष्ष्यत्व क्या ग्रहणमें आयेगा १ अभाव प्रमाण श्रसंभव क्यों है इस बातको पहले भागके ''ग्रभावस्य प्रत्यक्षादावन्तर्भावः'' नाम प्रकरणमें कह चुके हैं।

पयुंदासात्मक अभाव इष्ट है ऐसा उत्तर पक्ष कही प्रयांत् "न पौरुषेयः इति अपीरुषेयः" जो पीरुषेय नहीं है वह अपीरुषेय है पीरुषेयसे जो अन्य हो वह अपीरुषेय एदका वाच्य है ऐसा कहा जाय तो प्रका होता है कि पौरुषेयसे अन्य जो वाच्य पदार्थ है वह कीनसा है श्वह वाच्यार्थ वेदका सत्व (अस्तित्व) है ऐसा उत्तर देवे तो पुनः अंका होती है कि वह सस्व निविशेषण है या अनादि विशेषण विशिष्ट है श प्रथम पक्ष माने तो सिद्ध साध्यता है क्योंकि पीरुषेयसे अन्य जो वेदका सत्व मात्र है जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणसे प्रसिद्ध है उसको हम जैन मानते ही हैं, पौरुषेयत्व अर्थ है इतकत्व स्रीर जो इससे अन्य है वह सत्व है ऐसा कीन्नहीं मानता श अर्थात् इतकत्व स्रीर जो इससे अन्य है वह सत्व है ऐसा कीन्नहीं मानता श अर्थात्

प्रस्तु बाऽगोरुषेयो बेदः; तथाप्यसौ व्यास्थातः, प्रश्यास्थातो वा स्वार्षे प्रतीति कुर्यात्? न तावद्व्यास्थातः; प्रतिप्रसंगात् । व्यास्थातस्वेतः; कुतस्तद्व्यास्थातः; प्रतिप्रसंगात् । व्यास्थातस्वेतः; कुतस्तद्व्यास्थानम्-स्वतः, पुरुषाद्वा ? न तावद्व्वतः; 'प्रयमेव मदीयपदवास्थानामर्थो नायम्' इति स्वयं वेदेनाऽप्रतिपादनात, प्रत्यथा व्यास्थाभेदो न स्यात् । पुरुषाच्वेत्; कथं तद्वपास्थानात्योश्येयादयंप्रतिपत्तौ दोषाशङ्का न स्यात् ? पुरुषा हि विपरीतमप्पर्यं व्यावक्षाणा द्व्यन्ते । संबादेन प्रामाण्यास्युपगमे च प्रयोश्येयत्वरूपनाजनिका तद्वद्वेदस्थापि प्रमाणान्तरसंवादादेव प्रामाण्योपपत्तः न च व्यास्थानानां संवादोऽस्ति; परस्परविरुद्धभावनानियोगादिव्यास्थानानामन्योन्यं विसंवादोपलम्भात् ।

सत्त्व इन दोनोंका अर्थ पृथक् पृथक् है ऐसा मानते ही हैं। दूसरा पक्ष-ग्रपौरुषेय शब्द का वाच्य अनादि विशेषण विशिष्ट है ऐसा कहा जाय तो यह भी अविचार पूर्ण कथन है, क्योंकि वेद अनादि है इस बातको प्रत्यक्षादि प्रभाण सिद्ध नहीं कर पाते हैं. इस विषयको अभी स्रभी कह स्राये हैं। जैसे तैसे वेदको स्रपौरुषेय मान लेवे तो भी वह वंद व्याख्यात होकर अर्थकी प्रतीति कराता है अथवा बिना व्याख्यात हुए ही अर्थकी प्रतीति कराता है ? बिना व्याख्यात हुए अर्थ प्रतीति कराना माने तो अतिप्रसंग होगा, फिर तो ग्रापके समान सभी परवादीको बिना व्याख्यानके वेदके वाक्य ग्रर्थ प्रतीति करा देते ? ( किन्तु ऐसा होता तो नहीं ) दूसरी बात - वेद व्याख्यात होने पर अर्थकी प्रतीति कराता है ऐसा माने तो उस वेदके पदोंका त्याख्यान कौन करेगा स्वतः ही होवेगा या पुरुष द्वारा होगा ? स्वतः होना अशक्य है, मेरे पद एवं वाक्योंका यही अर्थ है अन्य नहीं है ऐसा वेद स्वयं तो कह नहीं सकता, यदि कह देता तो उन वेद वाक्योंके व्याख्यानमें जो भावना, विधि ग्रादिरूप प्रभेद दिखायी देते हैं वे नहीं दिखते । वेद वाक्योंका व्याख्यान पुरुष करते हैं ऐसा माना जाय तो वह व्याख्यान पौरुषेय होनेसे उससे होनेवाला अर्थवीध दोषकी शंकासे रहित कैसे हो सकेगा स्रर्थात पूरुष दोष युक्त होनेसे उनके वचन निर्दोष ज्ञानके कारण कैसे हो सकेंगे ? क्योंकि पुरुष तो विपरीत ग्रर्थको भी कहते हुए दिखायी देते हैं। यदि कहा जाय कि पुरुषके व्याख्यानमें संवादसे प्रामाण्य माना जायगा अर्थात जो व्याख्यान संवादसे पुष्ट होता है उसको मानेंगे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इसतरह माननेसे ग्रपौरुषेयत्वको कल्पना व्यर्थ ठहरती है ग्रर्थात जिस प्रकार वेदका व्याख्यान पुरुषकृत होकर उसमें संवादसे प्रामाण्य ग्राता है उसीप्रकार वेदकी रचना पुरुषकृत हो कर भी उसमें संवादसे प्रामाण्य ग्रा सकता है। तथा मीमांसक के यहां जितने भी बंदके व्याख्याता पुरुष हैं उनके व्याख्यानोंमें संवादकपना है कहां ? किंच, असी तहपाक्याताऽतीत्त्रियाधंद्रष्टा, तहिपरीतो वा ? प्रथमपक्षे अतीत्द्रियाधंद्रशितः प्रतिचेषविरोधो धर्मादौ चास्य प्रामाध्योपपरोः "धर्मे चोदनैव प्रमाराम्" [ ] इत्यवचारराग-मूपपत्तिश्च ।

ष्रय तडिपरीतः; कथं तहि तद्भ्यास्थानाद्यथायंत्रतिपत्तिः ग्रयथार्थाभिधानाद्यंक्या तदनुप-पत्तोः? न च मन्वादीनां सातिकायप्रज्ञत्वास्तृडयास्थानाद्यथार्थप्रतिपत्तिः; तेषां सातिकायप्रज्ञत्वासिद्धः। तेषां हि प्रज्ञातिकायः स्वतः, वेदार्थाभ्यासात्, श्रदश्चत्, ब्रह्मण्णे वा स्यात्? स्वतःचेत्; सर्वस्य स्यादि-वेषाभावात्। वेदार्थाभ्यासाच्चेत् कि ज्ञातस्य, श्रज्ञातस्य वा तदर्थस्याभ्यासः स्यात्? न तावदज्ञातस्या-

उनमें तो परस्पर विरुद्ध भावना नियोग ग्रादि ग्रर्थ करना रूप विसंवाद ही दिखायी देता है।

बेदके व्याख्याता पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थके जाता हैं कि नहीं यह वात भी विचारणीय है, यदि वे व्याख्याता अतीन्द्रिय ज्ञानी ( धर्म ग्रादि सूक्ष्म पदार्थको जानने वाले ) हैं तब तो आप जो अतीन्द्रिय ज्ञानीका ( सर्वज्ञका ) निषेध करते हैं उसमें विरोध आवेगा तथा अतीन्द्रिय ज्ञानी धर्म ग्रादि ग्रदृश्य विषयोंका प्रतिपादन कर सकते हैं अतः "धर्म चोदनेव प्रमाणम्" ऐसी आपकी प्रतिज्ञा गलत ठहरती है, क्योंकि अतीन्द्रिय ज्ञानी भी धर्मादिके विषयमें प्रमाणभूत है ऐसा सिद्ध होनेसे धर्मादिके विषयमें वेद वाक्य ही प्रमाणभूत है ऐसा नियम विघटित हो जाता है।

वेदके वाक्योंका व्याख्यान करनेवाले पुरुष प्रतीन्द्रिय ज्ञानी नहीं हैं सामान्य हैं ऐसा दूसरा विकल्प माने तो उन सामान्य पुरुषोंके व्याख्यानोंसे यथार्थ ज्ञान किस प्रकार हो सकेगा ? वहां तो शंका ही रहेगी कि क्या मालूम यह अल्पज पुरुष यथार्थ प्रतिपादन कर रहा है श्रथवा विपरीत कर रहा है ? तुम कही कि हमारे यहां मनु आदि प्रधान पुरुष हुए हैं उनके सातिशय ज्ञान सूक्ष्म श्रादि अहश्य पदार्थोंको जानने वाला ज्ञान था अतः वे यथार्थ व्याख्यान करते थे, सो यह वात भी गलत है मनु आदिक सतिशय ज्ञान होना ही असिद्ध है, उनको सातिशय ज्ञान स्वयं होवेगा या वेदार्थक अध्याससे, अहष्ट (भाग्य) से श्रथवा ब्रह्माजीसे ? स्वतः होता है कही तो सभी पुरुषों को सातिशय ज्ञान होना हो प्रसिद्ध है, इसके सातिशय ज्ञान होना है कि उसके सम्याससे मनु आदि का ज्ञान सातिशय ज्ञान होना हो प्रसाम ने तो प्रश्न होता है कि उस वेदके धर्यका श्रभ्यास ज्ञात—समक्कर होगा श्रथवा श्रजात विना समके

ऽतिप्रसंगात् । ज्ञातस्य चेत्; कुतस्तज्जप्तिः-स्वतः, श्रन्यतो वा ? स्वतस्चेत्; श्रन्थोन्याश्रयः-सति हि वेदार्थाम्यासे स्वतस्तर्यरिज्ञानय्, तस्मिष्च तदर्थान्यास इति । श्रन्यतस्चेत्; तस्यपि तत्परिज्ञानमन्यत इत्यतोन्द्रियार्थदक्षिनोऽनम्युपगमेऽन्यपरम्परातो यथार्थनिर्ह्यानुपर्वतिः ।

भ्रष्टोपि प्रज्ञातिशयाऽसाषकः; तस्यात्मान्तरेषि सम्भवात् । न तथाविषोऽष्टोऽन्यत्र मन्वादा-वेवास्य सम्भवादिति चेत्; कृतोऽनेवास्य सम्भवः? वेदार्थानुष्ठानविष्ठेषाच्चेत्; स तिह् वेदार्थस्य भ्रातस्य, भ्रज्ञातस्य वाज्नुष्ठाता स्यात् ? भ्रज्ञातस्य चेत्; भ्रतिप्रसंगः। भ्रातस्य चेत्; परस्परात्रयः-सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये तद्यानुष्ठानविषेषसिद्धः, तस्सिद्धौ च तज्ज्ञानातिशयसिद्धिरिति।

होगा ? बिना समके प्रभ्यास द्वारा साति तथ होता है ऐसा कहो तो अतिप्रसंग होगा— फिर तो आबाल गोपालको वेदार्थका अभ्यास होने लगेगा। वेदके अर्थको समक्रकर अभ्यास किया जाता है ऐसा माने तो किसके द्वारा अर्थको समक्रा अपने द्वारा या अर्थि किसी है पहली बात माने तो अन्योन्याश्रय दोष खड़ा होगा—वेदार्थका अभ्यास होने पर स्वतः उसके अर्थका ज्ञान होवेगा और उसके होनेपर वेदार्थका अभ्यास होवेगा। अन्य किसी पुरुषद्वारा वेदार्थको समक्रकर अभ्यास किया जाता है ऐसा कहे तो अन्य पुरुषने भी किसी अन्य पुरुषते वेदार्थको समक्रकर अभ्यास किया जाता है ऐसा कहे तो अन्य पुरुषने भी किसी अन्य पुरुषते वेदार्थको समक्षा होगा, इसतरह प्रतीन्द्रिय आनीको नहीं मानने वाले आप मीमांसकके यहां अंध पुरुषोंकी परम्पराके समान दूसरे दूसरे पुरुषोंकी अनवस्थाकारी परंपरा तो बढ़ती जायगी किंतु वेदके अर्थका यथार्थ निर्णय तो हो नहीं सकेगा।

मनु श्रादिको ग्रहष्टसे (भाग्यसे) ज्ञानका ग्रतिशय होता है ऐसा कहना भी गलत है, ग्रहष्ट तो अन्य सामान्य जनों को भी होता है।

मीमांसक—प्रज्ञाका अतिशय करने वाला ग्रहष्ट तो मनु घादिमें ही हो सकता है सर्वसाधारण जनोंमें नहीं ?

जैन—तो फिर ऐसा धहष्ट मनुके किस कारणसे हुआ ? वेदार्थका अनुष्ठात करनेसे हुआ कहो तो वह भी वेदार्थको जाननेके बाद किया या बिना जाने किया ? बिना जाने किया कहो तो वहीं अतिप्रसंग होगा और जाननेके बाद किया तो उस वेदार्थको कैसे जाना, उसमें वही अन्योन्याध्यकी बात ग्राती है—वेदार्थके ज्ञानका अतिशय सिद्ध होने पर उसके धर्षका अनुष्ठान विशेष सिद्ध होवेगा और उसके सिद्ध कहाणोषि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सत्यऽतो मन्वादेस्तदर्थपरिक्रानातिययः स्यात् । तच्चास्य कुतः सिद्धक्-ी धर्मविशेषाच्चेत्; स एवेतरेतराश्रयः चेदार्थपरिक्रानाभावे हि तत्पूर्वकानुष्टानजनितषमं विशेषा-नुत्पत्तिः, तदनुत्पत्तौ च वेदार्थपरिक्रानाभाव इति । तन्नातीन्द्रियार्थदिशानोऽनभ्युपेनमे वेदार्थप्रति-पत्तिर्थटते ।

ा ननु व्याकरणाद्यस्यासाललोकिकपदवाक्यापंत्रतिपत्ती तदविविद्यवैदिकपदवाक्यापंत्रतिपत्तिएरि प्रसिद्धं रुख्युक्ताव्यादिवत्, तत्र वेदायंत्रतिपत्तावऽतीन्द्रियायंद्रतिना किचित्प्रयोजनम् इत्यप्यसारम्, लौकिकवैदिकपदानामेकरवेप्यनेकायंत्वव्यविद्यतेः अन्यपरिहारेण व्याचिक्यासित्।यंत्य निममीयनु-भक्तेः। न च प्रकरणादिक्यस्तिव्ययमः, तेषामप्यनेकप्रवृत्तिद्वित्तन्यानादिवत्। यदि च लौकिकनाम्या-

होनेपर वेदार्थ ज्ञानका अतिशय सिद्ध, होगा । ब्रह्माजीमे वेदार्थको जाना है ऐसा कहो तो ब्रह्माको वेदार्थका ज्ञान है, यह पहले सिद्ध होना चाहिये तब जाकर उसके ज्ञानका अतिशय सिद्ध हो सकेगा । ब्रह्माको वेदार्थका ज्ञान किससे हुआ ? धर्म विशेषसे हुआ कहो तो पहलेके समान अन्योग्याश्रय होता है—वेदाश्रके परिज्ञानका जबतक अभाव है तबतक उस परिज्ञानपूर्वक होनेवाले अनुष्टान विशेषसे धर्म विशेष उत्पन्न नहीं हो सकेगा, और धर्म विशेषके अभावमें वेदार्थक परिज्ञानका अभाव रहेगा । इसिलये अतीन्द्रिय ज्ञानीको नहीं माननेसे बेदार्थका ज्ञान होना भी घटित नहीं होता है।

मीमासक व्याकरण आर्दिका अभ्यास करनेसे जैसे लौकिक पद एवं वाक्योंके अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाया करती है वैसे ही लौकिक पदादिक सहश होनेवाले जो वैदिक पद वाक्य हैं उनके अर्थकी प्रतिपत्ति भी सिद्ध होवेगी, जिस तरह की अश्रुतपूर्व काव्य आदिके वाक्योंका अर्थम्यास होता हुआ देखा जाता है कि इसलिये वेदार्थको जाननेके लिये अतीन्द्रिय ज्ञानीको जरूरत होवे सो बात नहीं है।

जैन — यह कथन असार है, लोकिक पद और बैदिक पद सहरा होते हुए भी
अर्थ विभिन्न है अतः अन्य अर्थका परिहार करके यही अर्थ सही है ऐसा अर्थका नियम
निश्चित करना अध्यय है, अर्थीत एक एक पद एवं वावयंके अनेक अनेक अर्थ हुआ
करते हैं उन अनेक अर्थों में से यहां पर यही अर्थ अहण किया जायंगा ऐसा निराय होना
अर्थाक्य है, यदि कहा जाय कि अकरणके अनुसार अर्थका विराय हो जाता है। सो भी
बात नहीं है अकरण भी अनेक हुआ करते हैं जैसे दिसंधानकांच्य आदिमें एक एक
अकरणके अनेक अर्थ होते हैं। तथा यदि आप मीमांसक लोकिक अनिन आदि शंद्यक्ष

विज्ञब्देन।विशिष्टत्वाद्वं दिरुस्याग्न्यादिजन्दस्यायंत्रतिपत्तिः; तहि यौरुषेयेलाविशिष्टस्वात्यौरुषेयोसौ कथं न स्यात् ? लौकिकस्य ह्याग्यादिजन्दस्यायंवरतं यौरुषेयत्वेन व्याप्तम् । तत्रायं वैदिकोऽग्यादिजन्दः कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य तदर्थमेव ग्रहीतुं शक्तोति ? उभयमपि हि गृङ्गीयाज्यह्याद्वा ।

न च लौकिकवैदिकशब्दयोः शब्दस्वरूपाविशेषे संकेतग्रह्णसब्यपेक्षत्वेनाऽर्थप्रतिपादकत्वे ग्रनुच्चार्यमाण्योदच पुरुषेणाऽश्वरणे समाने प्रन्यो विशेषो विचले यतो वैदिका प्रपौरुषेयाः शब्दा लोकिकास्नु पौरुषेया स्युः। संकेते(ता)नतिक्रमेणार्थप्रत्यायनं चोप्रयोरिष ।

न चापौरुपेयत्वे पुरुषेच्छावशादर्थप्रतिपादकत्वं युक्तम्, उपलक्ष्यन्ते च यत्र पुरुषैः संकेतिताः शब्दास्तं तमर्थमविगानेन प्रतिपादयन्तः, श्रन्यथा तस्तकेतभेदपरिकल्पनानर्थक्यंस्यात् । तती थे

समान ही वैदिक ग्राम्नि ग्रादि शब्दसे प्रश्वेवोध होना मानते हैं तो लौकिक शब्दके समान वैदिक शब्द को भी पौरुषेय मानना होगा फिर वेद पौरुषेय कैसे नहीं कहलायेगा र लौकिक (जन साधारणमें प्रयोग ग्राने वाले) ग्राम्नि आदि शब्दोंका अर्थ पौरुषेयत्वको साथ व्याप्त है इस तरह जब सिद्ध है तब वैदिक ग्राम्नि ग्रादि शब्द पौरुषेयत्वको तो छोड़ देवे ग्रीर मात्र उसके ग्राप्त वाच्य पदार्थ जो साक्षात् जलती हुई ग्राम्नि नाम की चीज है उसको) वतलावे ऐसा किसप्रकार हो सकता है र वह शब्द या तो दोनों पौरुषेयत्व ग्रापीरुषेयत्व प्रमौंको छोड़ेगा या दोनोंको ग्रहण करेगा।

लौकिक शब्द और वैदिक शब्द इनमें शब्दत्व तो समान है तथा इस शब्दका यह अर्थ है इसप्रकारका संकेत प्रहण जिसमें हो वही शब्द अर्थका प्रतिपादक बन सकता है ऐसी जो शब्दकों योग्यता है वह भी दोनों प्रकारके (लौकिक वैदिक) शब्दोंमें समान है, दोनों ही शब्द उच्चारण किये बिना पुरुष द्वारा सुनायी नहीं देते इतनी सब समानता है तब कैसे कह सकते हैं कि लौकिक शब्द तो पुरुषकृत (पौरुषेय) है और वैदिक शब्द पुरुषकृत नहीं है १ (अपौरुषेय है) संकेतका अतिक्रमण किये बिना ही दोनों प्रकारके शब्द अर्थको प्रतीति कराते हैं अतः दोनोंमें समानता ही है।

यह भी बात है कि वैदिक शब्दोंको अपीरुपेय मानते हैं तो उनका अर्थ पुरुपकी इच्छानुसार करना शक्य नहीं है, किन्तु देखा जाता है कि वैदिक शब्दोंका पुरुष द्वारा जिन जिन अर्थों में संकेत किया गया है उन उन अर्थोंका बिना विवादके नररचितवचनरचनाऽविशिष्टास्ते पौरुवेयाः ययाऽभिनवकूपप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्सकूपप्रासादा-दयः, नररचितवचनाऽविशिष्टं च वैदिकं वचनमिति ।

न चात्राध्यसिद्धो हेतुः; वैदिकीनां चचनरचनानां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः। नाप्यप्रसिद्धविशेषणः पक्षः; म्राभनवङ्गपप्रासादादौ पुरुषपूर्वकरवेनास्य साध्यविशेषणस्य सुप्रसिद्धरवात्। न च हेतीः स्वरूपा-सिद्धत्वसुः तद्वचनरचनासु विशेषशाहकप्रमाग्णाभावेनास्याऽभावात्।

न चाप्रामाण्याभावलक्षस्मो विशेषस्तत्रेत्यभिघातव्यम्; तस्य विद्यमानस्यापि तक्षिराकास्कत्वा-भाषात् । याश्यो हि विशेषः प्रतीयमानः पौरुषेयत्वं निराकरोति तादशस्यास्याऽभावादऽविशिष्टत्वम् न पुनः सर्वेषा विशेषाभावात्, एकान्तेनाऽविशिष्टस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावान् । अप्रामाण्याभावलक्षसम्ब

प्रतिपादन होता है, यदि ऐसी बात नहीं होती तो उन अर्थोंके भिन्न भिन्न संकेत हुआ करते हैं उनकी कल्पना व्यर्थ ठहरती। इसलिये निश्चय होता है कि मनुष्यों द्वारा रचे हुए शब्दोंके समान ही जो शब्द हैं वे पौरुपेय ही हैं, जैसे नये बनाये हुए कूप महल स्नादिकी रचनाके समान पुराने कूप महल स्नादिकी रचनाके समान पुराने कूप महल स्नादि होते हैं तो उनको पुरुषकृत ही मानते हैं बैदिक शब्द मनुष्यों द्वारा रचे हुए शब्दोंके समान ही हैं अतः पौरुपेय हैं।

यह नर रचित वचन समानत्व हेतु ( मनुष्य द्वारा रचित शब्दके समान हो वेदके मब्द हैं ) ग्राश्रय ग्रसिद्ध दोष युक्त भी नहीं है, क्योंकि वैदिक शब्दोंकी रचना मनुष्य रचित शब्दके समान प्रत्यक्षमें ही प्रतीत होती है। इस हेतुका पक्ष अप्रसिद्ध विशेषणवाला भी नहीं है, सपक्ष—नवीन कृप महल ग्रादिमें पृष्पकृतपना देखा जाता ही है। अतः साध्यका पौष्पेय विषेषण मुप्रमिद्ध ही है, हेतुका स्वरूप भी असिद्ध नहीं है अर्थात् मनुष्य रचित शब्दोंके स्वरूप समान ही वैदिक शब्दोंका स्वरूप है, उन शब्दोंकी विशेषता वतलानेवाला कोई प्रमाण भी नहीं है जिससे कि वैदिक शब्दोंकी विशेषता सिद्ध हो जाय।

वैदिक शब्दोंमें श्रप्रामाण्यका श्रभाव है यतः लोकिक शब्दोंसे वैदिक शब्दोंमें विशेषता मानी जाती है ऐसा भी नहीं कहना, वैदिक शब्दोंमें अप्रामाण्यका श्रभाव भले ही पाया जाता हो किन्तु उससे पौरुषेयत्व नहीं हटाया जा सकता अर्थात् अप्रामाण्यका श्रभाव वेदको श्रपौरुषेय सिद्ध कर देवे सो शक्ति उसमें नहीं है। जिसके द्वारा वेदके शब्दोंका पौरुषेयत्व निराकरण किया जाय ऐसी कोई विशेषता उन शब्दोंमें नहीं है अतः विशेषो धोषवन्तमप्रामाध्यकारण् पुरुषं निराकरोति न गुणवन्तमप्रामाध्यनिवर्त्तकम् । न व गुणवतः पुरुषस्यामावादन्यस्य चानेन विशेषेण् निराकृतत्वासिद्धमेवापौरुषेयस्यं तत्रेत्वस्युपगन्तथ्यम्; तत्सद्भा-वस्य प्रावप्रतिपादितत्वात् । तदभावेऽशामाध्यामावसक्षण्यविशेषाभावत्रसंगाच्यः।

पौरुषेये प्रासादादौ हेतोर्दर्शनादपौरुषेये चाकाशादानउदर्शनाक्षानैकान्तिकरवम् । घत एव न विरुद्धस्वम्, पक्षधमैत्वे हि सति विपक्षे वृत्तियस्य स विरुद्धः, न चास्य विपक्षे वृत्तिः । नापि कालास्य-यापदिष्टरवम्, तद्धि हेतोः प्रत्यक्षाममबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रमुक्तः भवतेष्यते । न च यत्र स्वसाध्या-

वे लौकिक शब्दसे प्रविशिष्ट (समान) है किन्तु सर्वधा प्रविशिष्ट नहीं है, कोई वस्तु सर्वधा समान नहीं हुआ करती । आपने वैदिक शब्दोंमें प्रप्रामाण्याभाव नामका जो विशेष वतलाया वह विशेष तो मात्र प्रप्रामाण्यका कारण जो दोष युक्त पुरुष है उसीका निराकरण करता है, जो पुरुष गुणवान है प्रप्रामाण्यका हटानेवाला है उस पुरुषका निराकरण नहीं करता है। प्राप कहो कि गुणवान पुरुषका तो ग्रभाव है प्रौर दोष युक्त पुरुषका निराकरण त्रशामाण्याभाव विशेषसे हो जाता है, प्रतः प्रपने प्राप ही वैदिक शब्द प्रपौरुषेय सिद्ध हो जाते हैं? सो यह कथन भी प्रसत है गुणवान पुरुषका सद्भाव है इस बातको प्रभी प्रभी सर्वज्ञसिद्ध प्रकरणमें निश्चित कर आये हैं। तथा यह भी निश्चित है कि यदि प्राप मीमांसक गुणवान पुरुषको नहीं मानते तो अप्रामाण्य का ग्रभावरूप विशेष भी सिद्ध नहीं हो सकेगा उसका भी ग्रभाव होनेका प्रसंग प्रसात है।

"वैदिक शब्द पौरुषेय हैं ( पुरुषने बताये हैं ) क्योंकि वे ममुख्य रचित शब्दों के सभान रचनावाले ही देखे जाते हैं" यह हम जैनका स्रतुमान प्रमाण बेदके प्रपौरुषेय-त्वका निराकरण करनेके लिये प्रयुक्त हुआ है, इस प्रतुमानका मनुष्य रचित वचन रचना प्रविशिष्टस्व नामक हेतु प्रनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि पौरुषेय प्रासाद प्रादि की जो रचना है उसमें तो यह हेतु पाया जाता है प्रीर स्रपौरुषेयभूत प्राकाशादिक है उस विपक्षमें नहीं रहता । तथा विपक्षमें नहीं जानेके कारण ही विरुद्ध दोष पुक्त भी नहीं है, इसीको बतलाते हैं —जिस हेतुमें पक्ष धर्मस्व होकर विपक्षमें बृत्ति पायी जाय -वह विरुद्ध हेतु कहलाता है, किन्सु प्रस्तुत हेतु विपक्षमें नहीं रहता है।

विनामूतो हेतुर्धानिए प्रवस्तेवानः स्वसाध्यं प्रसावयति तत्रैव प्रवाःगाशारं प्रवृत्तिमासादयत्त्रवेव वर्षे व्यावत्त्रेयतिः एकस्यैकदैकत्र विविध्रतिषेषयोविरोवात् । प्रकरणसारवमपि प्रतिहेतोविषयेतव्यनं-प्रसावकस्य प्रकरण्विन्ताप्रवत्तं कस्य तत्रैव धाँमण् सद्भावोऽभिषीयते । न च स्वसाध्याविनाभूबहेतु-प्रसाधितधाँमण्गो विपरोत्तधर्मापेतत्वं सम्भवतीति न विपरोत्तधर्माधायिनो हेत्वन्तरस्य तत्र प्रवृत्तिरिति । तक्ष वेदपदवाक्ययोजित्यस्यं घटते ।

नापि वर्णानां कृतकरवतः शब्दमात्रस्यानित्यत्वसिद्धी तेषामप्यनित्यत्वसिद्धौ तेषामप्यनित्य-स्वोपपरो: । तथाहि-मनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् । न च कृतकत्वमसिद्धम्; तथाहि-कृतकः शब्दः

जैनका यह हेतू कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी नहीं है, जिस हेतूका पक्ष प्रत्यक्षसे बाधित हो या ग्रागमसे बाधित हो उसके बाद भी उसका प्रयोग किया जाय तो वह हेत् कालात्ययापदिष्ट नामा हेरवाभास होता है ऐसा आप मीमांसकका ही कहना है। धर्मीमें स्वसाध्यके साथ अविनाभाव रूपसे रहकर जो हेत स्वसाध्यको सिद्ध कर देता है ऐसा विशिष्ट हेलू जहां पर रहता है वहां पर ग्रन्थ प्रत्यक्ष श्रादि प्रमाण प्रवृत्त होकर उस हेत्के साध्यधर्मको हटा देवे, सो हो नहीं सकता, क्योंकि एक जगह एक कालमें एक ही धर्मका विधि श्रौर प्रतिषेध करनेमें विरोध आता है। प्रकरणसम नामा दोष भी हमारे हेतुमें नहीं है, जहां प्रति हेत् आकर साध्य धर्मसे विरुद्ध धर्मको सिद्ध कर देनेकी संभावना होती है, जिसमें प्रकरण चिंता होती है, ऐसे सत्प्रतिपक्षवाले हेतुको प्रकरणसम हेत्वाभास कहते हैं, स्वसाध्यके ग्रविनाभावी हेतूक द्वारा साध्यधर्मी के सिद्ध होने पर ऐसा दोष नहीं ब्राता, उस धर्मीमें विपरीत धर्म युक्त होनेकी संभावना नहीं रहती अतः साध्यसे विपरीत धर्मको सिद्ध करने वाला ग्रन्य हेत् उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता । इसप्रकार हम जैनका "नर रचित शब्द रचना ग्रविशिष्टत्वात्" हेतु ग्रसिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक कालास्ययापदिष्ट श्रीर प्रकरणसम इन पांचों दोषोंसे रहित है ऐसा सिद्ध होता है ग्रौर इसीलिये वह स्वसाध्यको ) वेदके पौरुषेयत्वको ) नियमसे सिद्ध करता है। ग्रतः वेदके पद एवं वाक्योंको नित्य रूप सिद्ध करना घटित नहीं होता। वेदके पद वाक्य तो पौरुषेय मनित्य ही सिद्ध होते हैं।

पद और वाक्योंके समान वर्णोंका नित्यपना ( प्रपोरुषेयत्व ) भी सिद्ध नहीं होता, शब्दमात्र ही फिर चाहे वे वर्णरूप हो पद रूप हो या वाक्यरूप हो सब कृतकत्व हेतु द्वारा ग्रनित्य ही सिद्ध होते हैं, ग्रर्थात् शब्द श्रनित्य हैं क्योंकि वे किये हुए हैं इस कारणान्त्रयव्यत्तिरेकानुविधाविश्वासदृदेव । न वेदमन्यसिद्धम्; ताल्वादिकारण्व्यापारे सत्येव शब्दस्यास्मलाभप्रतीतेस्तदभावे वाऽप्रतीतेः, वकादिव्यापारसद्भावासद्भावयोभंटस्यारमलाभालाभ-प्रतीतिवत् ।

मनुमानसे भव्दमें मनिस्यपना सिद्ध होनेपर वर्ण मादिका मनित्यपना स्वतः ही सिद्ध होता है। यह कृतकत्व हेतु प्रसिद्ध दोष युक्त भी नहीं है, इसीको बताते हैं-शब्द किया हुन्ना है क्योंकि उसका कारणके साथ ग्रन्वय व्यतिरेक है । जैसे घट का मिट्रीरूप कारण के साथ भ्रन्वय व्यतिरेक है। शब्दका कारणके साथ ग्रन्वय व्यतिरेक होना ग्रसिद्ध भी नहीं है तालू ओठ कंठ ग्रादि कारणोंका जब व्यापार होता है तभी शब्द उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं ऐसी ही सभीको प्रतीति आप रही है। जैसे कि चक चीवर मिट्टी ग्रादि कारणोंका अन्वय (सद्भाव) हो तो घट बनता है ग्रीर वे कारण न होवे तो नहीं बनता । इसतरह वेदके पद एवं वाक्य पौरुषेय ( पुरुष द्वारा रचित ) सिद्ध होते है तथा साथ ही अनित्य भी सिद्ध होते हैं क्योंकि जो पौरुषेय है वह अवश्य ही अनित्य होगा । मीमांसक ग्रादि परवादी वेद वाक्यके समान ग्रकार ग्रादि संपूर्ण वर्णमालाको भी नित्य अपौरुषेय मानते हैं, इस मान्यताका निरसन भी वेदके ग्रंपौरुषेयत्वका खंडन होनेसे हो जाता है क्योंकि यह मान्यता प्रत्यक्ष श्रनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधित है, कोई भी पद वाक्य या शब्द मात्र ही प्रयत्नके बिना उत्पन्न होता है या अनादिका हो ऐसा अनुभव में नहीं आता है, अनुभवके ग्राधार पर वस्त व्यवस्था हम्रा करती है यदि उसमें किसी प्रमाणसे बाधा नहीं म्राती है तो शब्द बर्गा आदि जब ताल आदिसे उत्पन्न होते हुए दिखायी दे रहे हैं तब बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य होता है कि वे उन्हें पौरुषेय स्वीकार करें। ग्रस्त ।

विशेषार्थ — मीमांसक ग्रादि वैदिक दार्शानिक ऋग्वेद ग्रादि चारों वेदोंको ग्रापीरुषेय एवं सर्वथा नित्य स्वीकार करते हैं, इनका कहना है कि वेदमें धर्म प्रधर्म प्रादि ग्रहश्य पदार्थोंका त्याख्यान पाया जाता है इन अह्म्य पदार्थोंका साक्षात्कार किसी भी प्राणीको चाहे वह मनुष्य हो या देवता हो या ग्रन्य कोई हो, हो नहीं सकता, इसका भी कारण यह है कि ग्रतीन्द्रिय ज्ञानी सर्वज्ञका ग्रस्तित्व नहीं है न था ग्रीर न आगामी कालमें होगा। वस यही कारण है कि सूक्ष्मतत्वका प्रतिपादन करनेवाला वेद ग्रपौरुषेय होना चाहिए। किन्तु विचार करने पर यह बात घटित नहीं होती, जब वेदके

पद एवं बाक्य अनुष्य द्वारा रचित पद और वाक्यके समान ही है तब कैसे कह सकते हैं कि वे अपौरुषेय हैं? रही बात अहश्य पदार्थके ल्याख्यानको सो सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें इसकाल्लिश्चय कर आये हैं कि किन्ही किन्ही मनुष्य विशेषोंके आवरणके हट जानेपर पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति रूप सर्वज्ञता हो सकती है, मीमांसक सर्वज्ञको नहीं मानते किन्तु यह मान्यता उन्हींसे बाधित होती है, क्योंकि बेदके पद एवं वाक्योंका अर्थ करनेवाला व्याख्याता पुरुष यदि अरूप ज्ञानी है तो वह अतीन्द्रिय पदार्थका ज्ञाता नहीं होनेसे विपरीत अतिपादन कर देगा और सर्वज्ञ है तो प्रतिज्ञा हानि नामक दोष ( सर्वज्ञ नहीं है ऐसी मान्यतामें दोष ) आयेगा । अतः निश्चित होता है कि वेदके वाक्य पद एवं वर्ण पुरुषकृत है अपौरुषेय नहीं है ।

।। वेदापौरुषेयत्ववाद समाम् ।।

## वेद भ्रपौरुषेयत्ववाद का सारांश

पूर्वपक्ष — सीमांसक — हमारी मान्यता है कि वेद अपौरुषेय है किसी पुरुष द्वारा उसकी रचना नहीं हुई है क्योंकि पुरुष को अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है, अतः धर्म अधर्म आदि बहुत से अतीन्द्रिय पदार्थोंका कथन नहीं कर सकता है, तथा यह रागी द्वेषी है इसलिये विपरीत अर्थ का प्रतिपादन भी कर सकेगा इत्यादि अनेक कारणोंसे हम मीमांसक वेद का कोई कत्ती नहीं मानते हैं। अनुमान के द्वारा भी वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है "वेद अपौरुषेय है क्योंकि उसके कत्ती का स्मरण, नहीं है"। स्मरण प्रत्यक्ष पूर्वक होता है किंतु वेद कत्तीका प्रत्यक्ष ज्ञान किसी को भी नहीं है। परस्परासे स्मृति चली ग्राना तभी सम्भव है जब पहले किसी न किसी को वह कर्ती प्रत्यक्ष हो। इस तरह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु वेदको अपौरुषेय सिद्ध करता है।

तथा---

वेदाध्ययनं सर्व गुर्वध्ययन पूर्वकं । वेदाध्ययन वाच्यत्वादधूनाध्ययनं गया ।।१।।

वेद का अध्ययन गुरु से गुरु द्वारा ही होता चला आया है क्योंकि वह वेदका अध्ययन है जैसे वर्तमान का अध्ययन ।

> स्रतीतानागतौ कालौ वेदकार विवर्जितौ । कालत्वात् तद् यथा कालो वर्तमानः समीक्ष्यते ।।१।।

भूत और भविष्यत काल वेद कर्ता से रहित है, क्योंकि काल रूप है। इन अनुमानोंके द्वारा वेद का अपौरुषेयपना श्रच्छी तरह सिद्ध होता है।

उत्तर पक्ष जैन — यह सर्व कथन युक्ति संगत नहीं है, आप वेदके पदको अपीरुषेय मानते हैं या वाक्य को या दोनों को ? दोनों को कहो तो वह अनुमान वाधित है - वेद पौरुषेय हैं क्योंकि पद एवं वाक्य रूप है, जैसे भारतादि ग्रन्थ हैं। आपने कहा कि वेद कर्ता का किसी प्रमाण से ग्रहण नहीं होता किन्तु यह कथन सिद्ध नहीं होता। तथा वेदके अपौरुषेयत्व को सिद्ध करने वाले अनुमान का हेतु असत् है। अस्मर्यमाण कर्तृत्व आपको है हमारे यहां वेद कर्ताका स्मरण है (जैन कालासुर नामक राक्षस को वेदका कर्ता मानते हैं जिसने पणु विल की पद्धति चलाकर अन्त में सुलसा आदि का होम कराया था) तथा चोरी आदिका उपदेश भी अपौरुषेय होनेसे सत्य

मानना होगा श क्योंकि प्रापके यहां सत्यता का निर्माय श्रीरुषेयस्व पर निर्मर है? श्रापके वेदमें ऋषियों के नाम हैं सो उसका अनादिपना कैसे श काण्य, माध्यन्दिन श्रादि ऋषि लोग, वेद के कर्ता हैं या उसके प्रकाशक हैं अथवा मात्र देखने वाले हैं यह बताना होगा। इन ऋषियों को वेद का कर्ता तो कहेंगे नहीं। प्रकाशक माने तो भी प्रश्न होगा कि क्या वेद नष्ट हो गया था सो उन ऋषियों ने प्रकाशक माने तो भी प्रश्न होगा कि क्या वेद नष्ट हो गया था सो उन ऋषियों ने प्रकाशन कराया श इस तरह मानने से तो अस्मर्यमाण कर्तृ त्व हेतु और अपौरुषेय साध्य दोनों ही नष्ट होते हैं। दूसरे अनुमानका वेदाध्ययनत्व हेतु विशेषण रहित है या अस्मर्यमाणकर्तृ त्वरूप विशेषण युक्त है श विशेषण पहित कहे तो अनेकांतिक होगा क्योंकि भारतादि ग्रन्थका अध्ययन भी गुरु अध्ययन पूर्णक है। तथा अपौरुषेय साध्य को किस प्रमाण से सिद्ध करेंगे इसी अनुमानसे या अन्य से श अन्य प्रमाण से करते हैं तो यह वेदाध्ययन ग्रादि हेतु वाले अनुमान के द्वारा करे तो अन्योग्याध्यय दोष ग्राता है।

म्रागम से गेद को अपीरुपेय सिद्ध करना अशक्य है, अन्योन्याश्रय दोप आता है अर्थात स्नागम स्रपौरुषेय सिद्ध होने पर शेदमें स्नप्रमाण्य का स्नभाव सिद्ध होगा स्नौर उसके सिद्ध होने पर श्रागमकी श्रपीरुषेयता सिद्ध होगी । जबरदस्ती श्रपीरुषेय बोद को मान भी लेवें तो उसके ब्याख्यान में विवाद है उस शेदका व्याख्यान सामान्य लोग करते हैं तो उन्हें थेद कथित ग्रतीन्द्रिय वस्तुका बोध नहीं होनेसे बेद का अर्थ अप्रमाण होगा। बेद व्याख्याता अतीन्द्रिय पदार्थीका ज्ञाता है ऐसा माने तो बेदको स्रपौरुषेय मानने का आग्रह व्यर्थ है। उसी ग्रतीन्द्रियदर्शी सर्वज्ञ के द्वारा गेद रचना हो जायगी ? म्नतः यह अनुमान प्रयोग सत्य है कि बेद के पद ग्रौर वाक्य पौरुषेय है क्योंकि बे पुरुष के द्वारा रचित पद, वाक्यके समान हैं। "यह पुरुप रचित वचन समानत्व" हेतू भ्रसिद्ध नहीं है क्योंकि गेदमें वचनों की रचना प्रत्यक्ष दिखाई देती है, भ्रनेकान्तिक दोष भी नहीं है क्योंकि यह हेत्र पक्ष सपक्ष में होकर विपक्ष जो ग्रापीरुषेय आकाशादि है उनमें नहीं जाता है। ग्रनेकान्तिक नहीं होने से विरुद्ध भी नहीं है तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होने के कारण कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है । प्रकररासम दोष भी सत्प्रतिपक्ष नहीं होने से दूर रहता है। इस तरह नर रचित पद रचना अविशिष्टत्व हेत् सम्पूर्ण दोषोंसे निर्मुक्त होकर ग्रपना साध्य जो शेदका पौरुषेयत्व है उसे सिद्ध करता है। ।। समाप्त ।।



ननु शब्दस्याऽनित्यस्वोपगमे ततोर्थन्नतीतिर्ने स्यात्, श्रस्ति चासौ । ततो 'नित्य: शब्द: स्वार्ध-प्रतिपादकरवाय्यथानुपपत्तेः' इत्यम्धूपगन्तव्यम् । स्वार्थेनावगतसम्बन्धो हि शब्द: स्वार्थं प्रतिपादयति, श्रन्ययाऽगृहीतसंकेतस्यापि प्रतिपत्तस्ततोऽर्थप्रतीतिप्रसंगः ।

सम्बन्धावगमस्च प्रमाराजयसम्पाद्यः; तथाहि–यदैकौ वृढोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसंकेताय प्रतिपाद-यति–देवदत्त गामन्याज गुक्लां दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थाग्योऽन्युत्पन्नसंकेतः शब्दार्थी प्रत्यक्षतः

मीमांसक के वेद ग्रपौरुवेयवाद का खण्डन होने पर पुनः वे लोग शब्द के नित्यता के विषय में ग्रपना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

मीमांसक—जैन शब्दको प्रनित्य मानते हैं किन्तु ऐसा मानने से शब्दों को सुनकर जो अर्थ प्रतीति होती है वह नहीं हो सकेगी, किन्तु "घट" ऐसा शब्द सुनते ही घट नाम की वस्तु का बोध अवश्य होता है अतः "शब्द नित्य है क्योंकि अपने वाच्य प्रयं की प्रतिपादनकी अन्ययानुपपत्ति है। ऐसी अनुमान सिद्ध बात स्वीकार करनी चाहिये। अपने वाच्य प्रयंके द्वारा जिसने संबंध को अहण किया है वही शब्द उस अर्थ का प्रतिपादन करता है, यदि संबंध प्रहण की जरूरत नहीं होतो तो जिसने वाच्य वाचक संबंधी संकेत को ग्रहण नहीं किया है वह पुरुष भी शब्द से अर्थ की प्रतीति कर लेता।

शब्द और ग्रर्थं का संबंध प्रत्यक्ष, ग्रमुमान श्रीर अर्थापति इन तीन प्रमाणोंसे जाना जाता है मागे इसी का खुलासा करते हैं—जब एक वृद्ध पुरुष जिसने पहले संकेत जान लिया है ऐसे अन्य पुरुष के लिये कहता है कि हे देवदत्त ! सफेद गाय को प्रतिपद्यते, श्रोतुर्व तद्विवयक्षेपत्यादिवेष्टोपतम्मानुमानतो गवादिविवयां प्रतिपत्ति पतिपद्यते, तत्प्रति-परयन्यथानुपपरया च तच्छव्दस्येव तत्र वाचिकां व्यक्ति परिकल्पयति पुनः पुनस्तच्छव्दीच्चारणादैव तद्यंस्य प्रतिपत्तोः। सोयं प्रमाणत्रयसम्पाद्यः सम्बन्धावगमो न सकृद्वावयप्रयोगात्सम्मवति । न चाऽस्थिरस्य पुनः पुनरुच्चारणं पटते, तदभावे नान्वयव्यतिरेकाम्यां वाचकशक्तप्रवगमः, तदसत्वाप्त प्रसावद्भिः पराववोषाय वाक्यमुच्चायते । न चैवम् । ततः पराधवाक्योच्चारणान्ययानुपपत्त्या निक्चीयते नित्योसी।

तदुक्तम्-"दर्शनस्य परार्थत्वाश्वित्यः शब्दः" [जैमिनिसू० १।१।१८]

दण्डा से निकाल दो । उस समय वहां पर तीसरा कोई अन्य पुरुष बैठा था जिसको कि गाय, दण्डा आदि शब्द और उनके वाच्यार्थ का संकेत मालूम नहीं था वह शब्द और प्रथं को अरवक्ष प्रमाण से जानता है अर्थातू गो आदि शब्दको कर्णजन्य प्रत्यक्षसे और गो पदार्थको नेत्रज प्रत्यक्ष से जानता है । और जिस देवदत्त के प्रति वृद्ध पुरुष ने वाक्य कहा था उसके गो आदि विषय के ज्ञान को गाय को ताड़ना आदि विषय के ज्ञान को गाय को ताड़ना आदि विषय के अर्थापति प्रमाण द्वारा उसी शब्द को वाचक शक्ति को जाना जाता है कि पुन: पुनः गो शब्द के उच्चारण से ही उसके अर्थ की प्रतिति होती है । इस प्रकार तीन प्रमाण द्वारा संपादित होने वाला संबंध का ज्ञान एक बार के वाक्य प्रयोग से होना संभव नहीं है । अनित्य शब्द का पुन: पुन: उच्चारण होना भी श्र्यक्ष है, उसके अभाव में अन्वय व्यतिरेक द्वारा वाचक शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है, और उसके अभाव होने पर प्रकार पुन: पुन: उच्चारण होना भी श्र्यक्ष है, उसके अभाव होने पर प्रकार पुन: पुन: उच्चारण होना भी श्र्यक्ष है, उसके अभाव होने पर प्रकार वाचक शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है, और उसके अभाव होने पर प्रकार पुन: पुन: उच्चारण होना भी श्र्यक्ष भी नहीं कर सकेंगे किन्तु यह नहीं होता, अत: पर के लिये वाक्य उच्चारण की अन्ययानुपपत्तिरूप प्रमाण द्वारा शब्द नित्य रूप सिद्ध होता है ।

मर्हाष जैमिनि भी कहते हैं कि ''दर्शनस्य परार्थस्वान्नित्यः शब्दः'' शब्दोंका उच्चारण पुनः पुनः किया जाता है उससे पर शिष्यादिको समक्षाया जाता है, इसीसे निश्चित होता है कि शब्द नित्य है।

शंका — पुनः पुनः उच्चारण में आने वाला शब्द सदृशता के कारण एक रूप प्रतीत होता हुन्ना श्रयं बोघ कराता है न कि नित्य होने के कारण ? भय मतम्-पुनः पुनरुच्चार्यमाणः शब्दः साहृश्यादेकत्वेन निरुचीयमानोऽर्थपतिपत्ति विदधाति न पुनित्यत्वात्; तदसमीचीनम्; साह्य्येन ततोर्थाऽप्रतिपत्तेः। न हि सह्यतया शब्दः प्रतीयमानो वाचकत्वेनाध्यवसीयते किरत्वेकत्वेन। य एव हि सम्बन्धग्रहणसमये मया प्रतिपन्नः शब्दः स एवायमिति प्रतीतेः।

किंच, साहस्यादयंत्रज्ञतीती भ्रान्तः शान्दः शत्ययः स्यात् । न झृत्यस्मित्नगृहोतसंकेतेऽत्यस्मादयं-प्रस्ययोऽभ्रान्तः, गोशब्दे गृहीतसंकेतेऽत्वशब्दाद्गवायंप्रस्ययेऽभ्रान्तःवप्रसङ्गात् । न च भूयोऽवयवसास्य-योगस्वरूपं साह्ययं झृत्ये सम्भवतिः विशिष्टवणीत्मकत्वाच्छव्दानां वर्णानां च निर्वयवत्वात् । न च गत्वादिविशिष्टानां गादीनां वाचकत्वं युक्तमः, गत्वादिसामान्यस्याऽभावात्, तदभावस्व गादीनां नाना-त्वायोगात्, सोपि प्रत्यभिज्ञया तेवामेकत्वनिद्वयात् । न चात्र प्रत्यभिज्ञा सामान्यनिवन्धनाः, भेदिनष्ठस्य सामान्यस्यैव गादिष्वसम्भवातः ।

समाधान — यह जैन ब्रादि परवादी की शंका ठोक नहीं है, क्योंकि साहस्य द्वारा उस शब्द से ब्रथं की प्रतिपत्ति नहीं होती यह प्रतीयमान शब्द सहशता के कारण वाचकपने से नहीं जाना जाता किन्तु एकत्व के कारण वाचकपनेसे जाना जाता है क्योंकि जिस शब्द को मैंने संबंध ग्रहण के समय में जाना था वही यह शब्द है, इस प्रकार की प्रतीति आती है।

किंच, साइश्य से अर्थ की प्रतीति होना माने तो शाब्दिक ज्ञान भ्रांत कहलायेगा, क्वोंकि जिसमें संकेतका ग्रहण नहीं हुआ है ऐसे शब्दमें भ्रन्य शब्द से होने वाली अर्थ प्रतीति अभ्रांत नहीं हो सकती यदि इसकी अभ्रांत माने तो जिस गो शब्द में संकेत हुआ था उसके नष्ट होने पर अश्व शब्द से गो अर्थ की प्रतीति होना और वह प्रतीति अभ्रांत है ऐसा स्वोकार करना होगा? क्योंकि संकेतित गो शब्द अनित्य होनेके कारण नष्ट हो चुकता है और अश्वादि अन्य शब्द उस वक्त उपस्थित हो सकते हैं। बहुत से अवयवों के साम्य का है योग जिसमें ऐसा साइश्य शब्द में होना संभव भी नहीं है, क्योंकि शब्द विश्वष्ट वर्णास्मक होते हैं और वर्ण निरवयव होते हैं। तथा सामान्य से विश्वष्ट ग आदि में वाचकत्व मानना भी ग्रुक्त नहीं, गत्वादि सामान्य का अभाव है, वह अभाव भी इसलिये है कि ग आदि में नानापने का अयोग है, वह अयोग भी इस कारण से है कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा ग आदि शब्दोंका एकपने का निश्वय होता है। शब्द में होने वाला प्रत्यभिज्ञान गत्वादि सामान्य के कारण होता है ऐसा

किंच, गस्वादीनां वाचकरवम्, गाविश्यक्तीनां वा ? व तावद्गरवादीनाम्; निरयस्य वाचकरवेऽ-समस्मताश्रयरणप्रसञ्जात् । नापि गाविश्यक्तीनाम्; तथा हि-गाविश्यक्तिविशेषो वाचकः, व्यक्तिमात्रं वा ? न तावद्गाविश्यक्तिविशेषः; तस्यानन्वयात् । नापि व्यक्तिमात्रम्; तदि सामान्यान्तः पाति, व्यक्तपन्त-भूँतं वा ? सामान्यान्तः पातित्वे स एवास्मन्मतप्रवेशः । व्यक्तयन्तभूँतत्वे तदवस्थोऽनन्वयदोष इति । ततोऽर्षप्रतिपादकस्वान्ययानुपपत्तेनित्यः शब्दः । तदुक्तम्—

> "श्रयोपित्तरियं चोक्ता पक्षधमीदिवज्जिता। यदि नाशिनिनित्ये वा विनाशिन्येव वा भवेत् ॥१॥ शब्दे वाचकसामर्थ्यं ततो दूषगामुख्यताम् । फलवद्वधवहारांगभुतार्थंप्रत्ययंगता ॥२॥

कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो भेदों में (विशेषों में) निष्ठ है उसका सामान्य का ग ग्रादि में होना ही ग्रसंभव है।

जैनादि परवादी गत्व ग्रादि सामान्यको ग्रर्थका वाचक मानते है ग्रथवा गकार म्रादि विशेष को ? गत्व म्रादि सामान्य को मान नहीं सकते. क्योंकि नित्य सामान्य को वाचक मान लेने पर हमारे (मीमांसक) मत में प्रवेश होने का प्रसंग म्राता है। गकार म्रादि विशेष को वाचक मानना भी ठीक नहीं है, इसी को बताते हैं— गकार स्नादि शब्द व्यक्ति विशेष पदार्थ का वाचक होता है स्रथवा व्यक्ति मात्र का वाचक होता है ? गकारादि शब्द व्यक्ति विशेष वाचक होना अशव्य है, क्योंकि उसका धन्वय नहीं होता है। व्यक्ति मात्र भी वाचक नहीं होता, क्योंकि वह व्यक्ति मात्र कौन सा लिया जाय, सामान्य में रहने वाला या व्यक्ति में रहनेवाला ? प्रथम विकल्प कहो तो वही हमारे मत में प्रवेश होने का दोप ब्राता है। दूसरा विकल्प-व्यक्ति में रहने वाला व्यक्ति मात्र वाचक होता है, ऐसा कहो ता वही ग्रनन्वय दोष भ्राता है। इसलिये मर्थ प्रतिपादकत्व की ग्रन्यथानुपपत्ति से शब्द नित्य रूप सिद्ध होता है। कहा भी है-अर्थापत्ति पक्ष धर्मत्वादि से रहित होती है यदि वह नित्यानित्यात्मक या केवल नित्य स्वभाव वाले शब्दमें वाचक शक्ति को सिद्ध करती है तो क्या दूषण है ऐसा कोई प्रश्न करेतो उसका उत्तर यह है कि प्रवृत्ति–निवृत्तिरूप जगत का फलवान व्यवहार म्रर्थ ज्ञान से होता है और अर्थ ज्ञान का हेतु शब्द है, (अर्थ ज्ञान के बिना व्यवहार निष्फल रूप माना जाता है) शब्द की योग्यता से अर्थ की प्रतीति होती है अर्तः युक्ति पूर्वक निष्फलस्वेन शब्दस्य योग्यस्वादवगम्यते ।
परीक्षमाग्यस्तेनास्य युक्त्या नित्यविनाश्यमेः ॥३॥
स घमोऽम्युपगन्तव्यो यः प्रधानं न बाधते ।
न ह्यङ्गाङ्गघऽनुरोधेन प्रधानफलबाधनम् ॥४॥
युज्यते नाश्चिपक्षे च तदेकान्तात्प्रसम्यते ।
न ह्यष्ट्रधृर्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ॥४॥
तथा च स्यादपूर्वीणि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत् ।
सम्बन्धदर्शनं चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥
सम्बन्धदर्शनं चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥
सम्बन्धदर्शनं चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥
सम्बन्धतानसिद्धिचेद्द्रधृत्यं कालान्तरस्यितिः ।
अभ्यस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥७॥
गोशव्ये ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥७॥

[ मी० क्लो० शब्दनि० क्लो० २३७-२४४ ] इति ।

प्रय विभिन्नदेशादितयोपलभ्यमानस्वादगकारादीनां नानास्वाऽनिस्यत्वे साध्येते; तत्रः प्रनेक-प्रतिपत्तः भिविभिन्नदेशादितयोपलभ्यमानेनादित्येनानेकान्तात् । विभिन्नदेशादितयोपलभ्यर्चेषां व्यक्षक-ध्वन्यधीनो, न स्वरूपभेदनिबन्धनः । तहुक्तम्—

"नित्यत्वं व्यापकत्वं च सर्ववर्गेषु वंस्थितम् । प्रत्यभिज्ञानतो सानाद्वाधसंगमविज्ञात् ।।१।।" [
"यो यो गृहीतः सर्वेस्मिन्देके छब्दो हि विद्यते ।
न वास्याऽवयवाः सन्ति येन वक्तंत भागशः।।२॥
हाब्दो वक्तंत इत्येव तत्र सर्वात्मकत्व सः ।
व्यञ्जकवन्यऽधीनत्वात्तद्देशे स च गृह्यते ।।३॥
न च व्वनीनां सामर्थ्यं व्याप्तुं व्योम निरन्तरम् ।
तेनाऽविच्छिद्रारूपेसानां सांवेत्र गृह्यते ।।४॥

शंका — विभिन्न देशादिपने से उपलब्ध होने के कारण गकार आदि शब्दों को नाना एवं अनित्य रूप सिद्ध करते हैं ?

समाधान— यह बात ठीक नहीं । इस कथन में अनेक प्रतिपत्ता द्वारा विभिन्न देशादिपने से उपलब्ध होने वाल सूर्य के साथ अनैकान्तिकता आती है, अर्थात् विभिन्न देशों में गकारादि वर्ण उपलब्ध होने के कारण प्रनेक है ऐसा माने तो विभिन्न देशों में स्पर्य उपलब्ध होने के कारण उसे भी अनेक मानना होगा । बात तो यह है कि शब्दों की विभिन्न देशों में उपलब्ध होने के कारण उसे भी अनेक मानना होगा । बात तो यह है कि शब्दों की विभिन्न देशों में उपलब्ध होनेका कारण उनकी व्यंजक ध्विन है न कि स्वरूप भेद है । अर्थात् व्यंजक ध्विनयां नाना होनेसे विभिन्न देशादि रूप से शब्द की उपलब्धि होती है, स्वरूप में भेद होने के कारण नहीं । कहा है कि—ककार से लेकर जितने वर्ण हैं वे सब नित्य हैं, तथा व्यापक हैं, इनका नित्यपना निर्वाध प्रत्यभिज्ञान प्रमाण द्वारा जाना जाता है ॥१॥ जो जो शब्द ग्रहण में आया है वह सब देश में रहता है अर्थात् व्यापक है, क्योंकि इसके अवयव नहीं होते हैं जिससे वह खण्ड खण्ड रूप से रहें ॥२॥ जहां भी शब्द है वहां सर्वात्मपने से है, किन्तु जहां पर उसकी व्यञ्जक ध्विनयं संपूर्ण ग्राकाश को निरन्तर रूप से व्याप्त नहीं कर सकती ग्रात: सर्वत्र अविच्छन्न रूप से साब्द ग्रहण में ग्राता है ॥३॥ व्यञ्जक ध्विनयां भिन्न भिन्न देशों में विभिन्न हैं

व्वनीनां भिन्नदेशस्य श्रृ जिस्तवानुष्ठद्ययते । श्रपूरितान्तराजस्वाहिच्छेदश्यावसीयते ॥४॥ तेवां चाल्पकदेशत्वाच्छश्येष्यश्वभुतामतिः । गतिमञ्जेगवत्वाच्यां ते चायान्ति यतो यतः ॥६॥ श्रोता ततस्ततः शब्दमायान्तमिव मन्यते ।"

[मी• इलो० शब्दनि० इलो० १७२-१७५]

श्रयेकेन भिन्नदेशोपलम्भाद् घटादिवम्नानात्वम्, न; घादिरयेनानेकान्तात् । इश्यते ह्याकेना-दित्यो भिन्नदेशः, न चैतावतासौ नाना । मध 'युगारंकेन भिन्नदेशोपलब्धेः' इति विशेष्योच्यते; तथाप्य-नेनैवानेकान्तः । जलपत्रेषु हि भिन्नदेशेषु सवितंकोप्येकेन युगपद्भिन्नदेशो गृह्यते । उक्तं च—

> ''सूर्यस्य देशिमन्तस्य न त्वेकेन न गृह्यते । न नाम सर्वथा ताबद्दष्टस्यानेकदेशता ॥१॥ सविशेषेण हेतुस्येतसापि व्यभिचारिता । इत्यते भिन्नदेशोयमित्येकोपि हि बुद्धयते ॥२॥

अतः शब्दों का मुनाई देना बीच में रुकता है ध्विनयों में देशों का अंतराल पड़ता है इसिलये जहां अंतराल हो वहां श्रवण ज्ञान में विच्छेद हो जाता है।।।।। व्यञ्जक ध्विन श्रल स्थान पर रहती है इस कारण से शब्द में भी श्रव्यापकपने का ज्ञान हो जाया करता है। उन ध्विनयों में गितपना तथा वेग रहता है श्रतः जैसी जैसी ध्विनयां निकट श्राती हैं वैसे वैसे श्रोता जन समभने लग जाते हैं कि शब्द ही श्रा रहा है।।।।।

शंका—एक ही पुरुष के द्वारा भिन्न भिन्न देश में शब्द उपलब्ध होता है अतः शब्द घटादि पदार्थोंके समान पृथक पृथक है ?

समाधान — यह कथन सूर्य के साथ अनैकान्तिक होगा, देखा जाता है कि सूर्य एक है किन्तु एक ही पुरुष द्वारा भिन्न भिन्न देश में उपलब्ध होता है किन्तु इतने मात्र से वह नाना ( अनेक ) नहीं होता । कोई परवादी कहे कि सूर्य के साथ होने वाले अनैकान्तिक दोष को हटाने के लिये विशेष्य जोड़ा जायगा कि "एक ही समय में" एक पुरुष द्वारा भिन्न देशों में उपलब्ध होने से शब्द धनेक रूप है ? सो इस विशेष्य होने पर भी उसी सूर्य के साथ व्यभिषार आता है, भिन्न देशों सूर्य के साथ व्यभिषार आता है, भिन्न देश स्प

जलपात्रेषु चैकेन नानेकः समितस्यते । युगपन्न च भेदेस्य प्रमासां तुल्यवेदनात् ॥३॥"

मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७६-१७८]

कदिचदाह—न तत्र सर्वितेक्ष्यते तस्य नयसि व्यवस्थानात्, तन्निमित्तानि तु तेषु प्रतिबिम्बानि प्रतीयन्ते ततो नानेकान्तः ।

> "ब्राहैकेन निमित्तेन प्रतिपात्रम् पृथक् पृथक् । भिन्नानि प्रतिबिस्बानि गृह्यन्ते युगपन्मया ॥१॥"

> > [ मी॰ श्लो॰ शब्दनि॰ श्लो॰ १७६ ]

एतत्कुमारिलः परिहरन्नाह-

"ग्रत्र ब्रूमो यदा यावज्जले सौर्येण तेजसा । स्फुरता चाक्षवं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितम् ॥१॥

होकर भी एक साथ एक पुरुष द्वारा अनेक रूप से ग्रहण में ग्राता है ? कहा भी है—
सूर्य विभिन्न देशों में एक के द्वारा ग्रहण नहीं होता हो सो भी बात नहीं है किन्तु ग्रनेक
रूप दिखाई देने मात्र से सूर्य अनेक रूप सिद्ध नहीं होता। सूर्य के भिन्न देशों में
उपलब्ध होने रूप हेतु में ग्रुपपत् ऐसा विशेषण जोड़ा जाय तो भी वही ग्रनैकान्तिक
दोष श्राता है क्योंकि जल पात्रों में एक साथ एक ही पुरुष द्वारा सूर्य एक होकर भी
अनेक दिखायी देता है, किन्तु तुल्य वेदन होने से यह भेद प्रतीति प्रमाणभूत नहीं
है।।३।।

शंका—जल पात्रों में सूर्य नहीं दिखता है सूर्य तो प्राकाश में स्थित है, उस सूर्य का निमित्त पाकर उन जल पात्रों में सूर्य के प्रतिबिच्च नाना रूप प्रतीत होते हैं, अत: सूर्य के हुट्टांत द्वारा शब्द के नानात्व को व्यभिचरित नहीं कर सकते। कहा है कि एक ही सूर्य का निमित्त लेकर प्रत्येक जलपात्र में पृथक पृथक सूर्य एक साथ मेरे द्वारा प्रहण किये जाते हैं, ऐसा जो प्रतिभास होता है वह भिन्न भिन्न प्रतिबिच्च के कारए होता है न कि एक सूर्य के कारण ।।१।।

समाघान---इस शंका का निरसन कुमारिल नामा गुरु करते हैं --जब जल में स्फुरायमान सूर्य तेज के साथ चश्रु तेज नाना रूप परिवर्तित होता है तब वह स्वस्थान स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकथा । भिन्नमूर्त्ति यथापात्रं तदास्यानेकता कुतः ॥२॥"

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८०-१८१ ]

यथा च प्रदीप:।

"ईयस्सम्मिलतं जुल्या यथा चलुषि इस्यते ।
पृथमेकोपि भिन्नत्वाच्चसुनुं तस्तयेव नः । १॥
प्रत्ये तु चोदयन्त्यत्र प्रतिबन्द्योदयिष्णः ।
स एव चेत्प्रतीयेत कस्माकोपिर दृश्यते ॥२॥
कृपादिषु कुतोऽघस्तात्प्रतिबिन्द्यादिनेक्षस्म ।
प्राङ्मुलो दर्पस् प्रथन् स्याच्च प्रत्यक्षुत्वः कथम् ॥३॥
तत्रैव बोधयेदयं बहियति यदीन्द्रियम् ।
तत्र त त्रास्त्रवेदं धरीरे तत् बोधकम् ॥४॥"

[ मी० इलो० शब्दनि० इलो० १८२-१८५ ]

पर सूर्य को जितने जल भरे पात्र हों उतने रूप भिन्न भिन्न घाकार में ग्रहण करता है, अत: सुर्य के प्रतिबिम्ब में अनेकता कहां हुई १ अर्थात नहीं हुई ।।१।।२।।

दीपक का हष्टांत है कि जब किंचित मिली हुई अंगुली को नेत्रपर रखकर दीप को देखते हैं, तब एक ही दीपक नाना रूप दिखाई देता है, वह हमारे ही चक्षु की दूत्ति विभिन्न (अनेक) हो जाने से दिखता है।।।।।

जल पात्र में सूर्य धादि के प्रतिबिम्बित हो जाने से सूर्यादिक नाना रूप दिखाई देते हैं ऐसा जो जैनादि मानते हैं, उनके प्रति हम मीमांसकों का प्रकृत है कि यदि सूर्य के कारण ही धनेक जल पात्रों में ध्रनेक सूर्य दिखायी देते हैं तो ऊपर आकाश में भी धनेक रूप क्यों नहीं दिखता है।।२।। तथा कूप आदि में नीचे की ध्रोर बिना प्रतिबिम्ब के कैसे दिखाई देता है ? कोई पुरुष पूर्व दिशा में मुख करके खड़ा होकर दर्पण में देख रहा है तब उसको ध्रपना मुख पिच्चम में कैसे दिखायी देता है ?।।३।। यदि कहा जाय कि किरण चक्ष दर्पण की ध्रोर जाने से उस तरफ अपना मुख दिखाई देता है तो वहीं पर पदार्थ का ज्ञान भी होना था ? किन्तु ऐसा नहीं होता । ध्रव यहां

भनाह-

"अप्सूर्यर्वेशनां नित्यं द्वे भा चलुः प्रवत्तं ते ।
एकसूर्य्वमधस्ताच्च तत्रोद्ध्वांशप्रकाशितम् ॥१॥
प्रिष्ठिष्ठानानृजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते ।
पारम्पर्यापितं स तमवाग्वृत्या तु बुध्यते ॥२॥
उद्ध्वंवृत्ति तदेकत्वादवागिव च मन्यते ।
प्रषद्तादेव तेनाकः सान्तरालः प्रतीयते ॥३॥
एवं प्राग्गतया वृत्या प्रत्यावृत्तिसम्पितम् ।
बुध्यमानो मुखं आन्तेः प्रत्याप्त्यवगच्छति ॥४॥
प्रमेकदेववृत्तौ च सत्यप् प्रतिविध्वके ।
समानबुद्धिगम्यत्वाधानात्वं नैव विद्यते ॥४॥

मी० क्लो० शब्दनि० क्लो॰ १८६-१६० ]

किञ्च,

"देशभेदेन भिन्नत्वं मतं तच्चानुमानिकम् । प्रत्यक्षस्तु स एवेति प्रत्ययस्तेन बाधकः ॥६॥

पर इसी को खुलासा करते हैं — जल में मुयं को देखने वाल मनुष्यों की चक्षु हमेशा दो प्रकार से प्रश्नित करती है, ऊपर धोर नीचे की धोर, इनमें से जो ऊपर का अंश प्रकाशित होता है उसका स्वरूप सीधा प्रकाशित नहीं हो पाता, क्योंकि रिश्म चक्षु का अधिष्ठान जो गोलक चक्षु है वह वक है, इसी कारण से चक्षु का तेज सूर्य को प्राप्त नहीं होता, हां परंपरा से जाकर नीचे की बृति से उसको जान लेता है।।२।। रिश्म चक्षु चूं कि ऊपर की तरफ भी जाती है, धौर सूर्य धाकाश में एक है अतः वह नीचे की और सांतराल प्रतीत होता है।।३।। इसी प्रकार दर्पण की तरफ पूर्व की धोर से मिकलकर जाती हुई चक्षु किरणें दर्पण में अपने को धिषत करती हैं अतः दर्पण में मुख को देखने वाला व्यक्ति आगित से पिश्चम में सुख को मान लेता है।।४।। इस प्रकार सूर्य अनेक देशों में उपलब्ध होते हैं किन्तु समान बृद्धि होने से सूर्य में नानात्व नहीं रहता है।।४।। दूसरी बात यह है कि देख भेद से, गकारादि खब्दों में भेद है ऐसा जिनका मत है वह प्रस्थक्ष से बावित होता है क्योंकि यह वही अन्द है इस प्रकार के ज्ञान द्वारा शब्दों में भ्रभेद से बावित होता है क्योंकि यह वही अन्द है इस प्रकार के ज्ञान द्वारा शब्दों में भ्रभेद

पयोयता यथा चेकी भिन्नदेशान् वजन्नपि । देवदत्तो न भिष्येत तथा शस्दो न भिष्यते ॥७॥ ज्ञातंकत्वो यथा चासौ द्ययमानः पुनः पुनः । न भिन्नः कानभेदेन तथा शस्दो न देशतः ॥६॥ पर्यायादिव रोधस्त्रेद्धपापित्वादपि दृश्यताम् ॥६॥" इष्टसिद्धो हि यो धर्मः सर्वेषा सोऽम्युपेयनाम् ॥६॥"

[मो० इलो० शब्दनि० इलो० १९७-२०० ] इति।

ध्रत्र प्रतिविधीयते । निस्यः शब्दोऽर्थप्रतिपादकत्वान्यषानुपपत्तेरित्ययुक्तम्, घूमादिवदनित्यस्यापि शब्दस्यावगतसम्बन्धस्य सादश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वसम्भवान् । न खलु य एव संकेतकाले दृष्टस्तैनैवार्य-

सिद्ध होता है।।१।। जिस प्रकार देवदत्त नामा कोई पुरुष है वह कम कम से विभिन्न देशों में जाता है किन्तु देवदत्त तो वहीं रहता है, उसमें कोई भेद नहीं है उसी तरह शब्द नाना देशों में उपलब्ध होते हुए भी एक है अनेक नहीं।।२।। जिस प्रकार जिसका एकत्व जान लिया है ऐसा देवदत्त विभिन्न काल में पुनः पुनः दिखाई देने पर भी भिन्न नहीं कहा जाता, उसी प्रकार शब्द के पुनः पुनः उपलब्ध होने पर भी देश भेद से भेद नहीं कहा जा सकता।।३।। यदि कहा जाय कि देवदत्त एक है पर उसकी पर्याय अनेक होने से देशादि का भेद बन जाता है ? तो इसी प्रकार शब्द एक है पर वह व्यापक होने से विभिन्न देशादि में भेद रूप उपलब्ध होता है ऐसा मानना चाहिये १ क्योंकि जो धर्म प्रस्था सिद्ध होता है वह सर्वथा स्वीकार करने योग्य होता है ।।४।। इस प्रकार शब्द में एकपना तथा नित्यपना सिद्ध होता है।

जैन — श्रव यहां पर मोमांसक के मंतव्य का खण्डन किया जाता है – शब्द है, क्योंकि अर्थ प्रतिपादकत्व की अन्यथानुपरित्त है। यह मोमांसक का अनुमान अयुक्त है, बाच्य बाचक संबंध सादृश्यता से जाना जाता है अतः अनित्य शब्द भी अर्थ का प्रतिपादक होना संभव है, जैसे धूम श्रादि पदार्थ अनित्य होकर भी अर्थिन को सिद्ध करते हैं। ऐसा नियम नहीं है कि जिस शब्द में बाच्य बाचक संबंध को जाना था वहीं अर्थ की प्रतीति करा सकता है, देखा जाता है कि धूम को महानस में देखा था वह तो अब पर्वतादि में नहीं है उसके सदस धूम है फिर भी उस धूम से अग्निका अनुमान होता है। ऐसा तो है नहीं कि जो धूम महानस में उपलब्ध हुआ था वही धूम पर्वतादि

प्रतीतिः कर्राध्येति नियमोस्ति, महानसदृष्टभूमसदृशादिष पर्यतपुमादिनिप्रतिवरसुपलम्भात् । न हि महानसप्रदेशोपलध्येव धूमव्यक्तिरत्यत्राप्यांन गमयितः, सदृशविरिष्णामात्रान्तव्यक्त्यन्तरस्य तद्गमक-त्वप्रतीतेः, प्रत्यया सर्वस्य सर्वगतत्वानुषंगः । सदृशविरिष्णामप्रधानतया च साव्यसाधनयोः सम्बन्धाव-घारण्यः । न स्नुनाश्चितसमानविरण्तीनां निस्तिल्यमादिव्यक्तीनां स्वसाध्येनाःविश्वासम्बन्धः शक्यो प्रहितुमः, स्रसाधारण्हपेण् तस्य तासामप्रतिभासनात्, स्रव धूमसामान्यभेवानिप्रतिवित्तकारण्यः, नः व्यक्तिसादृश्यस्यतिरेकेण तदसम्भवात् । न च 'पूमत्वान्यया प्रतिवन्नोगनः' इति प्रतिवितः, किन्तु धूमात् । सा च सामान्यविशिष्टव्यक्तिमात्रयोः सम्बन्धप्रहृते घटते । न तु धूमागिनसामान्ययोरवद्यं

पर प्रिंग को सिद्ध करता हो ? वहां तो महानस के समान परिणाम वाला अन्य कोई दूसरा ही धूम विशेष है वही साध्य का गमक होता है। अन्यथा सभी वस्तु सर्वगत व्यापक बैठेगी ? अर्थात महानस का धूम ही पर्वत पर है उसके सहश अन्य नहीं है ऐसा कहा जाय तो उसका मतलव धूम सर्वत्र व्यापक एक है ? इस तरह तो घट पट आदि सभी विषय में कहेंगे कि यह वही है इत्यादि फिर सभी पदार्थ सर्वगत ही कहलायेंगे ? साध्य साधन के संबंध को जानने के लिये सहश परिणाम ही प्रधानता से कारण होता है। यदि धूम आदि पदार्थ समान परिणाम से रहित हैं तो अल्पज्ञानी पुरुष अगिनस्प स्वसाध्य के साथ उनका जो अविनाभाव संवंध है उसको जान नहीं सकते, क्योंकि अल्पज्ञानी को उन धूमादि निविल पदार्थोंका असाधारण रूप से प्रतिभास नहीं होता है।

मीमांसक - सामान्य धूम ही अग्नि का ज्ञान करा देता है ?

जैन — विशेष धूम में पाया जाने वाला जो साहश्य है वही सामान्य धूम कहलाता है, उससे अन्य तो कुछ है नहीं, अर्थात् महानस पर्वत प्रादि स्थान विशेष के धूमों में जो समानता पायी जाती है वही धूम सामान्य है अन्य कोई व्यापक, एक, नित्य ऐसा धूम सामान्य नहीं होता है। तथा जब कोई पुरुष पर्वत पर धूम देखकर अग्नि का ज्ञान कर लेता है तब मैंने धूमत्व सामान्य से अग्नि को जाना ऐसा प्रतिभास नहीं होता किन्तु "बूम से अग्नि जानी" ऐसा ही प्रतीत होता है। यह प्रतिभास धूम और अग्नि में जो सामान्य परिणाम में युक्त व्यक्ति स्वरूप रहता है उसका संबंध जानने पर ही हो सकता है। तथा धूम सामान्य और अग्नि सामान्य में जो अनुमापक और अग्नि सामान्य से युक्त विशेष रूपता है

चानुमेयानुमापकयोः सामान्यविशिष्टविशेषरूपतोपगन्तव्या, प्रन्यया स्वाधान्यमात्रस्य दाहावर्थक्रिया-साधकत्वाऽभावात् ज्ञानावर्षक्रियायाश्चतत्साच्यायास्तदैवोत्परोः, वाहावर्थिनामनुमेयार्थप्रतिभासात् प्रवृत्यभावतोऽस्याप्रामाण्यप्रसंगः । सामान्यविशिष्टविशेयरूपता चात्र वाच्यवाचकयोरिष समाना न्यायस्य समानत्वात् ।

यदप्युक्तम्--

"सद्दारवास्त्रतीतिश्चेत्तदृद्वारेगाप्यवासकः । कस्य चैकस्य साहश्यास्कल्पातां वाचकोऽपरः ॥१॥

ऐसा नहीं समकता, यदि ऐसा मानेंगे तो सामान्य के दहन पचन प्रादि अर्थ किया का प्रभाव होने से उससे साधने योग्य जो ज्ञानादि अर्थ किया थी वह उसी अनुमान के वक्त हो उत्पन्न हो जायगी, फिर दहन पचन आदि कार्य को चाहने वाले पुरुष के अनुमेय अर्थका (अग्निका) प्रतिभास होने से जो प्रवृत्ति होती है वह नहीं हो सकेगी अतः सामान्य तो अप्रमाणभूत वन जायगा है जो यह धूम और अग्नि की वात है वही शब्द और अर्पू के बाच्य बाचकपने की है है न्याय तो सवंत्र समान होता है। इस कथन का निष्कर्ष यह निकला कि भीमांसक शब्द को सर्वत्र एक मानकर उसमें पदार्थ का वाचकपनी होना बतलाते हैं सो इस तरह फिर धूम के विषय में भी कह देंगे कि थूम सर्वत्र एक है पवंत आदि में वही एक रहता है और साध्य को सिद्ध कर देता है है किंतु ऐसा नहीं है महानस का धूम ही पवंत पर नहीं होता किन्तु उसके समान अन्य ही होता है इसी तरह इस घट बाच्य का यह 'घ' 'ट' शब्द बाचक होता है ऐसा सकेंत ग्रहण किया उस काल में और पुनः घट शब्द सुनकर घट का जान हुमा तब इन दोनों समयों में एक ही घट शब्द नहीं होता किन्तु उसके समान दूसरा ही रहता है, ऐसा प्रतीति के अनुसार मानना चाहिए।

मीमांसक के यहां पर कहा है कि — जो लोग संकेत काल का शब्द और व्यवहार का शब्द एक नहीं है किन्तु संकेतकाल के शब्द के समान दूसरा ही कोई नया शब्द व्यवहार काल में रहता है उस सहश शब्द से ही अर्थ प्रतिति होती है, ऐसा मानते हैं वह ठीक नहीं क्योंकि व्यवहार कालीन नया शब्द पदार्थ का वाचक नहीं वन सकता क्योंकि यदि जिसमें संकेत नहीं हुआ है ऐसा शब्द भी अर्थ का वाचक होता है तो किसी एक की सहशता से अन्य किसी का वाचकपना होना भी स्वीकार करना होता ?

ष्टहर्सगतत्वेन सर्वेषां तुत्यता यदा । ष्रषेवान्युवंद्रहश्वेतस्य तावान्क्षागः कुतः ॥२॥ डिस्ताव।नुपलन्धो हि प्रषेवान्सम्प्रतीयते ।" [ मी० इलो० शब्दनि० स्तो० २४५-२५० ]

इत्यादिः, तदप्यसारम्; श्रृनुमानवात्तंच्छेदप्रसंगात् । घूमादिनिगात्पूर्वोतनव्यधूमादिसाद्ययतो-ग्न्यादिसाध्यप्रतिपत्तावप्यस्य सर्वस्य समानस्वात् ।

एतेनैवमपि प्रत्युक्तम्-

"शब्दं ताबदनुच्चार्यं सम्बन्धकरणं कुतः। न चोच्चारितनष्टस्य सम्बन्धेन प्रयोजनम्॥"

[ मी० दली० शब्दनि० इलो० २१६ ] इत्यादि ! यतोऽङस्टे घूमे सम्बन्धो न शन्यते कर्त्तं मु । नापि ट्रष्टनष्टस्यास्य सम्बन्धेन प्रयोजनं किष्कित !

शब्द तो सभी समान हैं कोई संकेत संबंध की जरूरत तो नहीं रही ? यदि कहा जाय कि जिसमें पहले संकेत हुआ है वह शब्द अर्थ प्रतीति कराता है, तो प्रश्न होता है कि शब्द का उतने क्षण तक स्थिर रहना कैसे हुआ ? कम से कम दो बार वही शब्द उपलब्ध हो तब जाकर संकेत होना और अर्थ प्रतीति करना शक्य है।।१।।२।। इत्यादि, सो यह कथन बेकार है। इस तरह तो अनुमान की बात ही खतम हो जायगी ? इसी का खुलासा करते हैं—पहले रसोई घर में धूम को देखा फिर उसके समान पर्वत पर धूम देखा उस सहश धूम द्वारा अगिनका ज्ञान होता हुआ देखा जाता है वह नहीं हो सकेगा ? वहां भी कह सकेंगे कि रसोई घर में जो धूम देखा था वह तो पर्वत पर नहीं है अतः उससे अग्निका अनुमान ज्ञान नहीं हो सकता इत्यादि।

मीमांसक ने और भी कहा है कि — शब्द का उच्चारण जब तक नहीं करते तब तक उसका वाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध कैसे जोड़े रे और उच्चारण कर भी लेवे तो वह उच्चारण करते ही नष्ट हो जाता है तब उसका सम्बन्ध जोड़ने से लाभ ही बया हुग्रा रे कुछ भी नहीं ।।१।। इस कथन के प्रत्युत्तर में हम जैन कहेंगे कि धूम को बिना देखे तो उसका प्रश्नि के साथ जो सम्बन्ध है उसको जान नहीं सकते ग्रीर धूम जब तक देख लेते हैं तब तक वह खतम हो ही जाता है तब उसका ग्रनिसे सम्बन्ध जोड़ना ही व्यर्थ है रे

## यच्च साहश्ये दूषरामुक्तम्--

"तथा भिन्नमभिन्नः वा साध्ययं व्यक्तितो भवेत् । एवमेकमनेकं वा नित्यं वानित्यमेव वा ॥१॥ भिग्ने चैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्पिता । व्यक्त्यऽनन्यदर्थकं च साद्त्यं नित्यनिष्यते ॥२॥ व्यक्तिनित्यत्वमापन्नं तथा सत्यस्मदीहितम् ।"

[ मी० इलो० शब्दनि० इलो० २७१-२७३ ] इत्यादि;

तदप्ययुक्तम् स्वहेतोरेकस्य हि यादशः परिणामस्तादश एवापरस्य साद्श्यम्, न तु स्र एव । स च व्यक्तित्रयो भिन्नोऽभिन्नदव, तथाप्रतीतेः । न च जातिस्तथाभूता; नित्यव्यापित्वेनाभ्युपगमात् ।

भावार्थ — यहां पर आचार्य मीमांसक को समफा रहे हैं कि यदि ग्राप संकेत कालीन शब्द को एक ही मानकर अर्थ प्रतीति होना स्वीकार करते हो तो रसोई घर का धूम ग्रीर पर्वत का धूम दोनों धूमों को एक मानकर उसके द्वारा अग्नि का जान होना स्वीकार करना होगा ? यदि मीमांसक कहे कि ऐसी बात कैसे स्वीकार करें ? वह तो पुथक ही धूम होता है रसोई घर का धूम पर्वत पर कैसे आया ? सो यही बात शब्द के विषय में है, संकेत काल के शब्द और व्यवहार काल के शब्द अलग अलग ही हैं। जिस प्रकार रसोई घर के धूम के सहश पर्वत का धूम होने से उससे ग्राम का जान होना स्वीकार करते हैं उसी प्रकार संकेत काल के शब्द होने से उससे ग्राम का जान होना स्वीकार करते हैं उसी प्रकार संकेत काल के शब्द होने से उससे ग्राम की ग्राम की शब्द होने से उससे ग्राम की शब्द होने से ग्राम की शब्द होने से ग्राम की शब्द होने से ग्राम की ग्राम की शब्द होने से ग्राम की शब्द होने से ग्राम की शब्द होने से ग्राम की ग्राम की शब्द होने से ग्राम की ग्राम की ग्राम की शब्द होने से ग्राम की शब्द होने से ग्राम की ग

साइश्य धर्म में दूषण देते हुए मीमांसक के यहां कहा जाता है कि साइश्य धर्म व्यक्ति से (विशेष से) भिन्न होता है या ग्रभिन्न ? एक होता है या ग्रभिन्न ? यदि अनेक रूप है तो वह भी नित्य है कि धनित्य ? यदि साइश्य को व्यक्ति से भिन्न और सर्वथा नित्य मानते हैं तब तो वह सामान्य ही कहलायेगा ? तथा यदि व्यक्ति से ग्रभिन्न, एक नित्य मानते हैं तो ध्यक्ति भी नित्य बन जायगा ? क्योंकि उससे ग्रभिन्न जो साइश्य है वह नित्य है, इस तरह हमारा इष्ट तत्व ही सिद्ध होता है।।१।।२।।

भावार्थ यह है कि हम मीमांसक शब्द में साहश्य को न मानकर एकत्व मानते हैं, जैन शब्द को प्रनित्य मानते हैं ग्रतः वे वाच्य वाचक संबंध को साहश्यता के तथाञ्चताच्याः सामान्यनिराकरते निराकरिष्यमास्यत्वात् । ततः प्रवृत्तिमिन्छता निराण्छन्यादा न सामान्यमात्रस्य प्रतिपत्तिरम्यूपगन्तस्या ।

ननु सामान्यस्य विशेषमन्तरेणानुपरित्ततो लक्षितलक्षणया विशेषप्रतिपत्तेनं प्रकृतयाद्यमावानु-षंगः; इत्यप्रातोतिकम्; कमप्रतीतेरभावात् । क हि वाचकोद्भृतवाच्यप्रतिभासे प्राक् सामान्यावमासः पद्दवाद्विशेषप्रतिमास इत्यनुभवोस्ति ।

प्राधार पर सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु वह साहश्य तो सामान्य रूप सिद्ध होता है, क्योंकि साहश्य को धनेक तथा अनित्य मानेंगे तो उससे गब्द का वाच्यार्थ के साथ संबंध सिद्ध नहीं हो पाता है और अनेक एवं नित्य स्वभाव रूप साहश्य मानते हैं तो एक ही साहश्य द्वारा अर्थ प्रतीति हो जाने से अनेक निष्ठ साहश्य मानने की जरूरत नहीं रहती है, इत्यादि १ सो यह वर्णन अयुक्त है। जो बात शब्द के साहश्य के विषय में कही बही बात धूम धादि हेतु के विषय में कही जायगी, धूमादि एक हेतु का जैसा परिणाम है वैसा दूसरे धूमादि का भी परिणाम होना साहश्य कहलाता है न कि उसी एक के परिणाम को साहश्य कहते हैं। यह जो साहश्य परिणाम है वह व्यक्तियों से (धूम विशेषों से) कथिवात भिन्न है और कथिवात सामान्य में घटित नहीं होती, उस सामान्य को तो श्राप नित्य व्यापक मानते हैं ? और ऐसे नित्य सामान्य का हम जैन श्रागे निराकरए करने वाले हैं। इसलिये प्रवृत्ति को चाहने वाले पुरुष को हेतु से या शब्द से मात्र सामान्य प्रतिमांस होता है ऐसा नहीं मानना चाहिये।

शंका — सामान्य तो विशेष के बिना होता हो नहीं ग्रतः लक्षित लक्षण न्याय से ग्रर्थात् सामान्य के प्रतिभासित हो जाने से विशेष का प्रतिभास भी हो जाता है ऐसा हम मानते हैं इसलिये प्रवृत्ति होना इत्यादि का ग्रभाव होवेगा ऐसा जो दूषण दिया था वह नहीं ग्राता है ?

समाधान — यह कथन प्रतीति विरुद्ध है, ऐसी कमिक प्रतीति नहीं होती कि वांचक शब्द से उत्पन्न हुमा वाच्य का जो प्रतिभास है उसमें पहले सामान्य प्रतीत होता हो ग्रीर पीछे विशेष प्रतीत होता हो । किन्तः सामान्याद्विषेषः प्रतिनियतेन कपेण लक्ष्येत, साधारणेन वा ? न तावदाद्यः पक्षः, प्रतिनियतरूपत्याऽप्रतीतेः । न हि शब्दोण्चारणेनवायां जातिपरिमितो विशेषोऽसाधारण्ह्यतया- अनुभूयते प्रत्यक्षप्रतिभावाऽविशेषप्रसङ्कात् । प्रतिनियतरूपेण जातेरविनाभावाभावाण्च कृतस्तया तस्य लक्षण्य ? नापि द्वितीयः; साधारण्ह्यतया प्रतिपन्नस्यापि विशेषस्यार्थक्रियाकारिस्वाऽसामर्थ्यन प्रत्यक्षण्यः । पुनरिप साधारण्ह्यतातो विशेषप्रति- पत्रस्यहेतुस्वात्, प्रतिनियतस्यैव रूपस्य तत्र सामर्थ्योजलब्धेः । पुनरिप साधारण्ह्यतातो विशेषप्रति- पत्तावनवस्या स्थात् । साधारण्ह्यतया चातो विशेषप्रतिपत्तौ सामान्यस्यमान्यप्रतिपत्तौ सामान्य-प्रतिपत्तिव स्यान्न विशेषप्रतिपत्तिः, साधारण्ह्यतायाः सामान्यस्यभावस्यात् ।

किंच, यदि नाम शब्दाज्जातिः प्रतिपन्ना व्यक्तैः किमायातम्, येनासौ तां गमयति ? तयोः सम्बन्धाच्चेत्; सम्बन्धस्तयोस्तदा प्रतीयते, पूर्वं वा ? न तावतदा; व्यक्तेरनिधगतेः 'जातिरेव हि

दसरी बात यह है कि आपने जो सामान्य से विशेष का प्रतिभास होना बतलाया वह प्रतिनियत रूप द्वारा लक्षित होता है ग्रथवा साधारण रूप द्वारा लक्षित होता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, प्रतिनियत रूप से विशेष का प्रतिभास होता हुआ देखा नहीं गया है. इसी का खलासा करते हैं - जब शब्द का उच्चारण कर रहे हैं उस समय जाति परिमित विशेष ग्रसाधारण रूप से अनुभव में नहीं ग्राता, यदि ग्राता तो दोनों का ( सामान्य विशेष का ) अविशेष रूप से प्रत्यक्ष प्रतिभास हो जाता, तथा प्रतिनियत रूप के साथ सामान्य का ग्रविनाभाव होता ही नहीं ग्रतः उसके द्वारा विशेष का ज्ञान कैसे होगा ? दूसरा पक्ष -साधारण रूप से सामान्य द्वारा विशेष लक्षित किया जाता है ऐसा मानना भी ठीक नहीं है। मात्र साधारण रूप से जाना हमा जो विशेष है उससे श्रर्थ किया होना शक्य नहीं, बतः वह प्रवृत्ति का हेतू बन नहीं सकता, प्रवृत्ति कराने की सामर्थ्य तो प्रतिनियत रूप में ही होती है। यदि साधारण रूप से विशेष को जानकर फिर विशेष की प्रतिपत्ति होती है ऐसा माना जाय तब तो भ्रानवस्था होवेगी । तथा साघारण रूप से सामान्य के द्वारा विशेष की प्रतिपत्ति होती है ऐसा माने तो सामान्य से सामान्य की प्रतिपत्ति हुई ऐसा ही कहलायेगा? विशेष की प्रतिपत्ति तो होवेगी नहीं ? क्योंकि साधारण रूप तो सामान्य स्वभाव वाला ही होता है।

यह भी बात है कि शब्द से जाति सामान्य जानी भी गई तो उससे व्यक्ति का (विशेष का) क्या हुमा, जिससे वह व्यक्ति को बतला देवे ? जाति ग्रीर व्यक्तिका सम्बन्ध है अत: जाति को जानने से व्यक्ति का जानना भी हो जाता है ? ऐसा कहना केवला तदा प्रतिभासते' इत्यम्बुरगमात्, अन्यथा कि लक्षितलक्षग्या ? न च व्यक्त्यनधिगमे तत्संचंचा-विगमः; बिष्ठत्वात्तस्य । अय पूर्वमसौ प्रतीतः तथापि तदेवातौ भवतु । न ह्यं कदा तत्सम्बन्धेरन्यदाप्यसौ भवत्यतिप्रसङ्गात् । न च जातेर्विशेषनिष्ठतेव स्वरूपम्; व्यक्त्यन्तरात्रे तत्स्वरूपाऽसत्त्वप्रसङ्गात् । तत्कर्ष व्यक्त्यऽविनाभावोऽस्याः ?

किंच, सर्वदा जाटिब्यंक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षेत् प्रतीयते, घनुमानेन वा ? वत्यक्षेत् चेतिक युगपत्, क्रमेरा वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; सर्वब्यक्तीनां गुगपद्यक्तिभासनात् । न च तासामप्रतिभासे तथा संवधा-वसायोऽतिप्रसंगात् । नापि द्वितीयः; क्रमेरा निरवयेः सक्तव्यक्तिपरस्परायाः परिच्छेत्नस्वस्तः । कादाचित्के तु जातेर्व्यक्तिनिष्ठताधिगमे सर्वत्र सर्वदा न तिष्ठष्ठताधिगमः स्यात् । तस्र प्रत्यक्षेरा जातेस्त-

भी ठीक नहीं, उन दोनों का सम्बन्ध कब जाना जाता है, जब शब्द से जाति जानी है उसी वक्त या पहले ? उसी वक्त अर्थात शब्दोच्चारण के समय ही जाना जाता है, कहो तो गलत है, उस वक्त सिर्फ जाति (सामान्य) प्रतीत होती है ऐसा श्राप स्वयं मानते हैं तथा यदि शब्दोच्चारण के समय में ही सामान्यवत् विशेष भी जाना जाता है तो उस सामान्य को लक्षित लक्षणा कैसे कहा है ? "लक्षितेन (ज्ञानेन) सामान्येन लक्षणा — विशेष प्रतिपत्तिः तया" इस प्रकार 'लक्षित लक्षणा' शब्द की निष्पत्ति है। श्चर्थात् सामान्य के ज्ञात होने पर उससे विशेष के जानने को लक्षित लक्षणा कहते हैं, श्रतः दोनों को एक साथ जाना है ऐसा नहीं कह सकते। जब विशेष को उस समय जाना ही नहीं तब दोनों का सम्बन्ध भी कैसे जाने ? संबंध तो दो में होता है ? दुसरा पक्ष – झब्दोच्चारण के पहले ही दोनों का संबंध जाना हुम्रा रहता है ऐसा कहो तो जिस समय उस संबंध को जाना था उस समय ही वह रहे ? अन्य समय में उसको क्यों माने ? एक किसी काल में संबंध को जान भी लेवे तो उसको ग्रन्य काल में नहीं जोड़नाचाहिए ? ग्रन्यथा ग्रतिप्रसंग ग्रायेगा? घट पट का एक बार संबंध देखाया जाना तो उनको हमेशा संबंधित ही मानना पड़ेगा ? मात्र विशेष में निष्ठ रहना ही सामान्य का लक्षण नहीं है। यदि ऐसा होता तो व्यक्ति व्यक्ति के अंतराल में सामान्य केस्व€पका ग्रभावहोने काप्रसंग्रधाताहै। ग्रतः सामान्यका विशेष के साथ ग्रविनाभाव है यह किस प्रकार कह सकते हैं ?

तथा सामान्य सर्वदा विशेष में निष्ठ रहता है ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है कि अनुमान से प्रतीत होता है यह बताना होगा प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है कहो तो दोनों को एक साथ जानते हैं कि कम से प्रथम पक्ष कहना गलत होगा क्योंकि सब श्विष्ठताथिगमः । नाष्यनुमानेन; सस्याऽध्यक्षपुर्वकत्वेनाम्युपगमात् । तस्य चात्राऽत्रवृत्तावनुमानस्याच्य-प्रवृत्तिः । तस्र लक्षितलक्षराया विशेषप्रतिपत्तिः सम्भवति, इति वाध्यवाचकयोः सामान्यविन्नाष्टविद्येष-रूपतोपगन्तव्या धूमादिवत् ।

ननु यूमादेः सामान्यसद्भावातिक्षिष्ठस्योक्तन्यायेन गमकत्वमस्तु, शब्दे तु तस्याभावात्कवं तिक्षिष्ठस्य गमकत्वम् ? तदभावरच वर्णान्तरप्रहृणे वर्णान्तरानुसन्धानाभावात् । यत्र हि सामा-न्यमस्ति तत्रैकप्रहृणेऽपरस्यानुसन्धानं इष्टं यथा शावलेषप्रहृणे बाहुलेयस्य । वर्णान्तरे च गार्दौ गृह्ममाणे न कादीनामनुसन्धानम्; तदसाम्ब्रतम्; गादौ हि वर्णान्तरे गृह्ममाणे यदि भयमिष

विशेषों का एक साथ प्रतिभास नहीं होता है। सभी विशेषों को जाने बिना उनका सामान्य के साथ सदा रहने वाला संबंध भी नहीं जाना जा सकता, प्रन्यथा प्रतिप्रसंग होगा। सामान्य विशेष में निष्ठ है ऐसा प्रत्यक्ष द्वारा कम से प्रतिभासित होता है इस तरह का इसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि व्यक्तियां प्रसंख्य हैं उनको कम से जानना शक्य नहीं है। सामान्य का विशेष में निष्ठ रहता क्विवत् कदाचित् जानने में ब्राता है ऐसा कहे तो सर्वत्र हमेशा सामान्य विशेष में निष्ठ रहता है इस प्रकार का जान हीं हो सकेगा। इसलिये निष्पंय हुमा कि प्रत्यक्ष द्वारा सामान्य का विशेष में निष्ठ रहता है इस प्रकार का जान नहीं लाना जाता। ब्रमुमान के द्वारा भी वह निष्ठता ग्रहण में नहीं प्राती क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक होता है जब इस विषय में प्रत्यक्ष प्रवृत्त नहीं होता तो प्रमुमान भी प्रवृत्त नहीं होता तो अनुमान भी प्रवृत्त नहीं होता। ग्रतः लक्षित लक्षणा से विशेष को प्रतिपत्ति होना संभव नहीं है। इस प्रकार वाच्य वाचक में सामान्य से विशिष्ट विशेष रूपता रहती है ऐसा स्वीकार करना ही ठीक है, जैसे धुम प्रादि हेत् में मानी है।

मीमांसक—धूग झादि में तो सामान्य का सद्भाव है, अतः वह उस विशिष्ट साध्य का गमक हां सकता है, किन्तु शब्द में तो सामान्य का सद्भाव नहीं है अतः वह उस विशिष्ट अर्थ का ज्ञापक किस प्रकार हो सकता है ? शब्द में सामान्य का अभाव इमलिये है कि किसी वर्ण को ग्रहण करते है तो उसमें अन्य वर्ण का अनुसंधान नहीं दिखायी देता है, जहां पर सामान्य रहता है बहां पर एक को ग्रहण करते ही अन्य का अनुसंधान होता हुआ देखा जाता है, जैसे शाबलेय ग्रहण करने पर बाहुलेय का ग्रहण हो जाता है, वर्णान्तर ग्रहण में ऐसी बात नहीं होती, गकार आदि के ग्रहण हो जाने पर भी ककार आदि ग्रहण में नहीं आते हैं अतः इनमें श्रनुसंधान का अभाव है। वर्णः' इस्यनुवन्धानाभावः सोऽसिद्धः, तथानुभू(तथाभू)वानुसन्धानस्यानुभूयमानस्वेनाऽभावासिद्धः। प्रथ गावौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'शयमिष कादिः' इस्यनुसन्धानाभावाद् सामान्यसद्भावः; तिहं शावलेयादाविष व्यक्त्यन्तरे गृह्यमाणे 'श्रयमिष वाहलेयः' इस्यनुसन्धानाभावाद्गोत्सस्याप्यभावः। प्रथ 'गौगौः' इस्यनुमताकारप्रस्थयसद्भावाभ गोत्वाऽसत्त्वम्, तदन्यनाषि समानम्-तन्नापि हि 'वर्णो वर्णाः' इस्यनुमताकारप्रस्ययोस्तु, तत्क्यं वर्णेषु वर्णात्वस्य गादिषु गत्वादेः शब्दे शब्दत्वस्याभावः। निमत्ताऽविशेषात् ? तथाहि-समानासमानस्यामु व्यक्तिषु ववित् 'समानाः' इति प्रस्ययोऽन्वेत्यन्यन व्यावत्तेते। यत्र च प्रत्ययानुवृत्तिस्तत्र सामान्यव्यवस्या, नान्यत्र । सा च प्रत्ययानुवृत्तिगीदिस्विष समानेति कथं न तत्र सामान्यव्यवस्या, तथाप्यत्र सामान्यानस्युपगमे शावलेयादाविष सोस्तु। न हि

जैन—यह कथन गलत है, जब ग आदि वर्गान्तर का ग्रहण् होता है तब "यह भी वर्ग है" ऐसा ग्रन्य वर्ग में अनुसंधान का अभाव करना चाहते हैं तो वह प्रसिद्ध है क्योंकि ऐसा ग्रनुसंधान होते हुए श्रनुभव में ब्रा रहा है। श्रमिशाय यह हुआ कि कोई एक विवक्षित गत्व है उसमें ब्रन्य कत्व ब्रादि तो नहीं है किन्तु वर्गापने की समानता तो है ही ब्रतः उनमें वर्गन्व सामान्य का अनुसंधान तो ग्रवश्य होगा।

श्वंका –गकार भ्रादि वर्णान्तर के ग्रहण करते समय ''यह भी क आदि वर्गा है'' ऐसा अनुसंवान नहीं होता श्रतः उनमें सामान्य का सङ्काव नहीं मानते ?

समाधान — तो फिर शाबलेय आदि में अन्य व्यक्ति को ग्रहएा करते समय यह भी बाहुलेय है ऐसा अनुसंधान नहीं होने से उसमें गोत्व का ग्रभाव होवेगा।

शंका — शावलेय, बाहुलेय भ्रादि गायों में गो है गो है ऐसा अनुगत प्रत्यय पाया जाता है अतः उनमें गोत्व सामान्य का ग्रभाव नहीं होता है।

समाधान — ठीक है, यही बात शब्द के विषय में है "यह वर्ग् है यह वर्ग् है" इस प्रकार वर्गों में भी अनुगत प्रत्यय होता है, अतः ध्राप निमित्त की अविशेषता होते हुए भी वर्गों में वर्गों का यादि में गत्व, शब्द में शब्दत्व का अभाव किस प्रकार मानते हैं? अर्थात जैसे गो में अनुगत प्रत्यय होता है, वैसे वर्णों में भी अनुगत प्रत्यय होता ही है। समान और असमान रूप वाले व्यक्तियों में कहीं तो समान है ऐसा अनुगत प्रत्यय होता ही है। समान और असमान रूप वाले व्यक्तियों में कहीं तो समान है ऐसा अनुगत प्रत्यय होता है और अन्यत्र वह प्रत्यय नहीं होता, जहां पर समान प्रत्यय की अनुवृत्ति होती है वहीं पर सीमान्य की व्यवस्था होती है अप्यत्र नहीं। ऐसी प्रत्ययों की अनुवृत्ति ग आदि वर्गों में भी पायी जाती है, फिर उनमें सामान्य की व्यवस्था क्यों

तत्रापि तबाभूतप्रस्ययानुवृत्तिमन्तरेण् सामान्याम्युपगकेऽन्यन्निमित्तमृत्यस्यामः। यदि चात्राऽनुगताऽ-बाधिताऽक्षजप्रस्ययविषयस्वे सस्यपि मस्वादेरभावः; तींह् गादेरपि व्यावृत्तप्रस्ययविषयस्याभावः स्यात् । तथा च कस्य दर्शनस्य परार्थस्वान्तिस्यस्यं साध्येत ?

यच्चोक्तम्—'सास्स्येन ततोऽर्थाप्रतिपत्तोः' इति; तत्सदृशपरिएगमलक्षारामान्यविशिष्टव्यक्ते -रंथप्रतिपादकत्वसमर्थनात्त्रत्युक्तम् ।

यदप्यभिहितम्-साहक्यादर्थप्रतीतौ भ्रान्तः शाब्दः प्रत्ययः स्यात्; तद्ध्मादेरम्यादिप्रतिपत्तौ समानम् ।

यदप्युक्तम्-'गरवादीनां वाचकत्वं गादिव्यक्तीनां वा' इत्यादि; तत्सामान्यविशिष्टश्यक्ते वाचक-त्वसमर्थनादेव प्रत्युक्तम् ।

नहीं की जाय ? यदि नहीं करते तो शाबलेय आदि में भी गोत्व सामान्य को नहीं मानना चाहिए । क्योंकि गायों में भी अनुगत प्रत्यय के बिना ग्रन्य किसी निमित्त से गोत्व सामान्य की व्यवस्था होती हुई दिखायी नहीं देती । यदि आप भीमांसक गत्व ग्रादि में इन्द्रियों से गम्य, अवाधित ऐसा अनुगताकार प्रत्यय होते हुए भी उन शब्दों में गत्व ग्रादि का अभाव मानते हैं, तो गकार आदि का जो कि व्यावृत्त प्रत्यय का विषय है उसका भी ग्रभाव मानना होगा । इस तरह उसका ग्रभाव सिद्ध होने पर किसका उच्चारण करेंगे तथा "दर्शनस्य परार्थत्वात्" इत्यादि सूत्र द्वारा किस शब्द का नित्यपना साधा जायगा ।

तथा मीमांसक ने कहा था कि वर्णों की सहशता से प्रथं बोध नहीं होता किन्तु एकत्व से होता है, इत्यादि सो इस विषय का समाधान सहश परिणाम है लक्षण जिसका ऐसे सामान्य से विशिष्ट व्यक्ति से अर्थ प्रतिपत्ति होती है ऐसा सिद्ध करने से ही हो जाता है, प्रथित् गकार आदि वर्णों में सहश सामान्य रहता है उसी से पदार्थ का जान होता है न कि वहीं पहले संकेत काल के मुने हुए शब्द से। प्रापने कहा था कि संकेत काल के मान्द द्वारा प्रथं बोध न होकर उसके सहश प्रन्य मान्द द्वारा प्रथं बोध हो से समाधान धूम से होने वाले प्रशिन के जान के हण्दांत से हो जाता है, जैसे रसोई घर का धूम पर्वत पर नहीं रहता कि तु उसके सहश रहता है भीर उस सहश धूम से होने वाला ग्रनिन का जान सत्य

यच्चोक्तम्—'यो यो गृहीतः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; पक्षस्यानुमानवाधितत्वात् । तथाहिस्रतेको गोशस्य एकेनैकदा भिन्नदेशस्वभावतयोपलम्भभातत्वाद् घटादिवत् । न वानेकप्रतिपक्तः भिर्मित्रदेशतयोपलस्यमानेनादित्यादिना, कालभेदेन भिन्नदेशादितयोपलस्यमानेन देवदरोन वा स्यभिवारः;
'एकेनैकदा' इति विद्येषस्यभावतात् । एकेनैकदा दक्षनस्पर्धनास्यां भिन्नस्वभावतयोपलस्यमानेन
घटादिना वा; 'भिन्नदेशतया' इति विद्येषस्यात् । जलपात्रसंक्रान्तादित्यादिशतिवस्वस्तद्वपभिवारः;
तेषामग्रेभेकत्वश्रसाधनात् । सथास्यत्र सर्वगतत्वादिधसंसम्भवे घटादाविष सोशस्त्—

'न चास्याऽवयवाः सन्ति येन वर्त्तेत भागशः । घटो वर्त्तेत इत्येव तत्र सर्वात्मकश्च सः ॥''

कहलाता है वैसे ही संकेत कालीन शब्द व्यवहार काल में नहीं रहते हुए भी उसके सदृज्ञ धन्य शब्द के द्वारा घट आदि पदार्थ का होने वाला ज्ञान सत्य कहलाता है।

पहले कहा गया था कि जो जो शब्द ग्रहण किया है वही सर्वत्र देशों में विद्यमान है इत्यादि, किन्तु यह कथन अयुक्त है, इस पक्ष में अनुमान से बाधा आती है-गो शब्द अनेकों हैं, क्योंकि एक ही पुरुष द्वारा एक काल में विभिन्न देश तथा स्वभाव से उपलब्ध होते हैं. जैसे घट ग्रादि पदार्थ विभिन्न देशों में विभिन्न स्वभावों में उपलब्ध होते हैं तो उन्हें श्रनेक मानते हैं। अनेक देश तथा स्वभावों से उपलब्ध होना रूप जो हेत् है वह जानने वाले अनेक व्यक्तियों द्वारा विभिन्न देशों में उपलब्ध होने वाले सूर्य से ग्रनैकान्तिक नहीं होता है, तथा काल भेद से भिन्न देशों में उपलब्ध होने वाले देवदत्त के साथ भी अनैकान्तिक नहीं होता है। इन्हीं दो व्यभिचारों को दूर करने के लिये एक पूरुष द्वारा, और एक समय में इस प्रकार के दो विशेषण हेत में जोड़ दिये हैं। तथा ये दो विशेषण होते हुए भी दर्शन ग्रीर स्पर्शन की ग्रुपेक्षा भेद स्वभाव रूप से उपलब्ध होने वाले घटादि के साथ हैत् व्यभिचरित होता था ग्रतः "भिन्न देशतया" यह तीसरा विशेषण ग्रहण किया है। इस हेत् में कोई शंका उपस्थित नहीं करना कि अनेक जल पात्रों में संकामित हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के साथ व्यक्तिचार माता है, क्योंकि इन प्रतिबिम्बों के विषय में आगे सिद्ध करने वाले हैं कि वे जल पात्रों में स्थित प्रतिबिम्ब अनेक हैं। इस प्रकार निर्दोष हेत् से शब्द में अनित्यपना तथा श्रव्यापकपना सिद्ध हो जाता है, तो भी श्राप मीमांसक पक्ष व्यामोह के कारण शब्द में सवंगतस्य मादि धर्म मानते हैं तो घट पट आदि पदार्थों में भी सर्वगृतत्व ग्राटि धर्म इत्यादेरत्राप्यभिधातुं शस्यत्वात् । यथा च — क्वचिद्रक्तः क्वचित्यीतः क्वचित्कृष्णुश्च गृद्यते । प्रतिदेशं घटस्तेन विभिन्नो सम युक्तिमानु ॥

तथा-

उदात्तः कुत्रचिच्छब्दोऽनुदात्तस्य तथा क्वचित् । धकारो मि(कारिक)धितोऽन्यत्र विभिन्नःस्याद घटादिवत् ॥

ननु 'व्यक्करव्यत्तिषमां एवोदातादयो नाऽकारादिवर्माः, ते तु तत्रारोपातद्वर्मा इवावभासन्ते जपाकुसुमरक्ततेव स्कटिकादाविति । उक्तव्य---

> "बुद्धितोत्रत्वमन्दरवे महरवाल्यस्वक्त्वना । सा च पट्वी भवस्येव महातेजःप्रकाशिते ॥१॥ मन्दप्रकाशिते मन्दा घटादाविष सर्वेदा । एवं दीर्वादयः सर्वे ध्वनिथमी इति स्थितम् ॥२॥"

[मी० इलो० शब्दनि० इलो० २१६-२२० ]

मानने होंगे ? कोई कह सकता है कि-घट के अवयव नहीं होते हैं जिससे कि वह खण्ड खण्ड रूप से सर्वत्र रह जाय, अतः "घट है" इत्यादि वाक्य का अर्थ घट पूर्ण रूप से एक जगह विद्यमान है ऐसा ही होता है न कि सर्वत्र विद्यमान ऐसा। घट कहीं पर लाल, कही पीला, कहीं काला दिखाई देता है अतः वह प्रतिदेश में विभिन्न है ऐसा कहना यदि युक्ति संगत है तो शब्द कहीं तो उदात्त अकार रूप उपलब्ध होता है कहीं अनुदात्त अकार रूप योग कर सी घट आदि के समान प्रतिदेश में विभिन्न है ऐसा भी स्वीकार करना चाहिये।

मीमांसक — श्रापने जो उदात्त आदि भेद किये वे शब्द के न होकर ब्यञ्जक ध्विनियों के हैं, ब्यञ्जक ध्विनियों के धर्मों का शब्द में आरोप होता है श्रतः शब्द के हैं ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे कि स्फिटिक में स्वयं में लालिमा नहीं है किन्तु जपा कुसुम की लालिमा श्रारोपित होने से स्फिटिक की है ऐसा मालूम पड़ता है। कहा भी है— महान प्रकाश के होने पर तीव बुद्धि होती है श्रीर अन्य प्रकाश के होने पर मन्द बुद्धि होती है ऐसा बुद्धि में तीव प्रकाश में घट मंद दिखता है श्रीर तीव प्रकाश में घट मंद दिखता है श्रीर तीव प्रकाश में लीव दिखायी देता है सो मन्द तीव धर्म प्रकाश के थे किन्तु उसका आरोप घट श्रादि में करते हैं वैसे ही दीर्घ, हस्त, उदात, अनुदात, इत्यादि धर्म ध्वनियों के हैं किन्तु उनका शब्दों में श्रारोप किया जाता है।

तदय्यसारम्; यतो यद्यदातादिषमं रहितोऽकारादिस्तस्सिहितस्य ध्वतिः रक्तेवरस्यभावजपा-कुसुमस्स्राटकवत् वविद्युपलच्यः स्यात् तदा स्यादेतत् 'धन्यपर्थस्तदारोपात्तद्वमंतयेयावकाति' इति । न वासौ स्वप्नेपि तथोपलस्यते । शब्दषमंतया चैते प्रतीयमाना यद्यन्यस्पष्टान्तेऽन्यत्र कः समादवास-हेतुः? वाषकाभावस्थैन्सोत्रापि समानः। विपरीतदर्शनं हि वाषकम्, यया द्विवन्द्रदर्शनस्यकवन्द्र-दर्शनम् । न वात्र तदास्त-उदात्तादिषमात्मकस्यैवाकारादेः सर्वदा प्रतीतेः। तथापि तत्कत्पने रक्तादि-धर्मरहितस्य घटादेर्दर्शनं तथेव कल्यताम् । तथाविषस्यानुपलस्थावसत्वम्; शब्देपि समानम् ।

किञ्चेदं बुद्धे स्तीत्रत्वं नाम ? किं महत्त्वरहितस्यार्थस्य महत्त्वेनोपलम्भः, यथाऽवस्थितस्याऽन स्यन्तस्वष्टतया वा ? प्रथमे विकल्पे भ्रान्तताऽस्याः स्यात् । 'सा च पट्वी भवत्येव महातेजःप्रकाशिते

जैन-यह कथन ग्रसार है, ग्राप जैसा कह रहे हैं वैसा उदात्त ग्रादि धर्म रहित ग्रकार ग्रादि स्वर उपलब्ध होते तथा ध्वनियां उन उदात्तादि धर्मों से युक्त कहीं उपलब्ध होती तब तो उन ध्वनियों के धर्मों का ग्रकारादि वर्णों में ग्रारोप कर लेते. जैसे कि लाल रंग युक्त जपा कुसूम ग्रीर सफेद स्फटिक प्रथक उपलब्ध होते हैं तब लाल रंग का स्फटिक में ब्रारोप हो जाता है, किन्तु उदात्त ब्रादि धर्म रहित वर्ण कभी स्वप्न में भी उपलब्ध नहीं होते । शब्द के धर्म रूप से प्रतीत होते हए भी उनको दूसरे के माना जाय तो अन्यत्र कैसे विश्वास होगा कि यह घट में दिखाई देने वाले रूप भ्रादिक घट के हैं अथवा ग्रन्य के द्वारा श्रारोपित हैं ? बाधकाभाव होने से घट में रूपादि धर्म निजी माने जाते हैं ऐसा कही तो यही बात शब्द में है। उसमें भी उदात्तादि धर्म दिखायी देते हैं वे उसी के हैं ग्रारोपित नहीं, क्योंकि उसमें कोई बाधा नहीं है। बाधा तो विपरीत दिखाई देने से माती है, जैसे कि दो चन्द्र का दिखना एक चन्द्र दर्शन से बाधित होता है। ऐसा विपरीत दर्शन शब्द में नहीं है, शब्द में तो उदात्तादि धर्म रूप श्रकारादि की सर्वदा प्रतीति होती है, फिर भी उनको आरोपित मानेंगे तो घट ग्रादि के लाल ग्रादि धर्म को भी ग्रारोपित मानना पड़ेगा। यदि लाल श्रादि धर्म से रहित घट का अनुपलम्भ होने से उस नरह के घट का असस्य मानते हैं तो यही बात शब्द में है, उदात्तादि धर्म रहित शब्द का अनुपलम्भ होने से उस तरह के शब्द का ग्रसत्व ही है।

किय, बुद्धि की तीव्रता किसे कहते हैं महत्व रहित पदार्थ को महत्व रूप जानना बुद्धि की तीव्रता है घथवा जैसा पदार्थ है वैसा अस्यन्त स्पष्ट रूप से जानना बुद्धि की तीव्रना है ? प्रथम विकल्प कहो तो वह बुद्धि की तीव्रता भ्रान्त कहलायेगी षटादौ सर्वदा' इति च निदर्शनमयुक्तम् ; नं हि महातेजःसामध्यविस्पीपि घटौ 'महान्' इत्यवभासते, किरस्वत्यन्तस्पष्टतया । द्वितीयविकरूपे तु महत्त्वादिषमं रहितस्यास्याऽत्यन्तस्मष्टतया श्रह्मां स्थात् । तथा च न व्यक्तकव्यनिधमन्त्रिविषयित्वं स्यात् ।

एतेन बुढिमन्दरवेऽज्यता निरस्ता । न खलु मन्दतेजसः प्रकाशिते घटादौ महत्त बुढिमन्दरवेना-स्यरवप्रतीतिरस्ति । ततो 'महाताल्वादिब्यापारे महत्त्वाविधमंपितोऽल्ये चाल्यस्वादिधमंपितः शब्द एवोरपश्चते' इत्यम्युयगन्तथ्यम् ।

यदि च तात्वादयो ध्वनयो वास्य ब्यञ्जकाः; तहि तहघापारे तद्वमंतितस्यास्य नियमेनोप-लब्धिनं स्यान् । कारकव्यापारो ह्योपः—स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधापनं नाम, न ब्यञ्जक ब्यापारः । न सनु यत्र यत्र ब्यंजकः प्रदीपादिस्तत्र तत्र ब्यंगपघटादिसन्निधापनभुपलब्धिकां नियम-

महातेज से प्रकाशित हुए घटादि में वह बुद्धि पट होती है ऐसा जो हब्टांत दिया वह श्चयुक्त है, क्योंकि महान प्रकाश के सामर्थ्य से छोटा घट महान रूप से प्रतिभासित नहीं होता किन्तु ग्रत्यंत स्पष्ट रूप से प्रतिभास होता है। दूसरा विकल्प — जैसी वस्तु है वैसा अत्यंत स्पष्ट रूप से जानना बुद्धि की तीवता है, ऐसा कहो तो महत्व स्नादि धर्म से रहित ग्रत्यन्त स्पष्ट रूप से घट का ग्रहण होना ही सिद्ध होता है, फिर उदात्तादि धर्म व्यंजक ध्वनि के अनुविधायी होते हैं ऐसा कहना असत्य ही ठहरता है। इसी तरह बुद्धि की मंदता से घट में अल्पता आती है ऐसा कहना भी खण्डित हुआ समकता चाहिए । क्योंकि मंद प्रकाश से प्रकाशित हुए महान घटादि में बुद्धि के मंद होने मात्र से अल्पता की प्रतीति नहीं होती है, इससे निश्चय होता है कि ताल कंठ भ्रादि का महा व्यापार ( जोर जोर से पूरा मुख खोलके बोलना इत्यादि रूप व्यापार ) होने पर महान शब्द उत्पन्न होता है, और ग्रन्प व्यापार के होने पर ग्रन्प धर्म युक्त शब्द उत्पन्न होता है। यदि मीमांसक तालु आदि को या ध्वनियों को शब्द का व्यंजक कारण मानते हैं तो उस व्यापार के होने पर उदात्त आदि धर्म युक्त शब्द की नियम से उपलब्धि होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यह काम तो कारक व्यापार का है, जो कि अपने निकट रहने पर नियम से कार्य की सिन्निधि कर देता है। किन्तू इस कार्य को क्यंजक व्यापार नहीं कर सकता, जहां जहां व्यंजक (प्रगट करने वाले को व्यंजक ग्रीर उत्पन्न करने वाले को कारक कहते हैं ) दीपकादि है वहां वहां व्यांग्य जो घटादि है उनकी उपलब्धि या निकटता होती ही है ऐसा नियम नहीं है, यदि ऐसा होता तो तोस्ति, मन्यया सयोरविषेषप्रसंगात्, चक्रादिव्यापारवेयव्यानुषंगाच्य । अय घटादेरसर्वेगतत्वान्न सद्भवक्षनसन्निष्याने सर्वेत्रोपलम्भः, शब्दस्य तु सम्भवति विषयंयात्; इस्यप्यनिरूपितानिषानम्; तस्य सर्वेगतत्वाऽसिद्धे: । तथाहि-न सर्वेगतः शब्दः सामान्यविषेषवस्ये सति बाह्यं केन्द्रियप्रस्थलस्य षटादिवत् । ततो घटादिम्यः शब्दस्य विवेषाभावादुभयोः कार्यस्य व्योगयस्य वाम्युपगन्तव्यम् ।

ि क्वनयः श्रोत्रशाह्माः, न वा ? श्रोत्रशाह्मत्वे प्रत एव शब्दाः तल्लक्षरास्वात्तेषाम् । तत्र च तास्विका एवोदालादयो घर्माः । तथा नापरशब्दकल्पनानयंवशम् । प्रथ न त्रीत्रश्राह्माः, कथं सहि तद्वमां उदालादयस्तद्वाह्माः ? न हि रूपादीनां घर्मा भासुरत्वादयो रूपादेपहृष्टो श्रोत्रेरा गृह्मन्ते । प्रथ न भावतस्तेन ते गृह्मन्ते, किन्स्वारोपात् । ननु चाऽगृहीतस्यारोपोपि कथम् ? प्रन्यथा श्रासुरत्वादेरिय तत्रारोपः स्यात् । प्रथ व्यवकस्वाद् ष्वनीना तद्वर्माएव तत्रारोप्यन्ते, न रूपादीनां

कारक और व्यंजक कारणों में झन्तर ही नहीं रहता । फिर तो दीपक जलने मात्र से घट तैयार हो जाता, कुम्भकार, चक्र मिट्टी ग्रादि को क्रिया व्यर्थ ही ठहरती ।

.शंका — घट आदि पदार्थ असर्वगत होने से व्यंजक कारण के निकट होने पर भी उसकी सर्वत्र उपलब्धि नहीं होती, किन्तु शब्द तो सर्वगत है म्रतः व्यंजक के निकट होने पर उसकी सर्वत्र उपलब्धि हो जाती है।

समाधान—यह कथन ग्रसत् है। शब्द का सर्वगतत्व ग्रसिद्ध है। इसी को ग्रमुमान द्वारा सिद्ध करते हैं — शब्द सर्वगत नहीं है, क्योंकि सामान्य विशेष रूप होकर बाह्य एक इन्द्रिय (कर्षा) के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, जैसे घट धादि एक इन्द्रिय (तेत्र) द्वारा प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार घट धादि से शब्द की कोई विशेषता सिद्ध नहीं होने से दोनों में कार्यस्व या व्यंगत्व समान रूप से कोई एक ही मानना चाहिये।

मीमांसक के यहां शब्द की व्यंजक ध्वितयां माती हैं वे कर्ण द्वारा ग्राह्म हैं तो उसीको शब्द कहना होगा, क्योंकि शब्द का यही लक्षण है। तथा ध्वितयों में उदात्त आदि धर्म वास्तविक ही माने जाते हैं। इस प्रकार ध्वित्यां ही शब्द रूप सिद्ध होने से इनसे श्रन्य शब्द की कल्पना करना व्यंथं ठहरता है। यदि कहा जाय कि ध्वित्यां कर्ण ग्राह्म नहीं हैं तो उनके उदात्तादि धर्म किस प्रकार कर्ण ग्राह्म हो सकेंगे ? इपादि युक्त पदार्थों के भासुरत्वादि धर्म इपादि के कर्ण द्वारा श्रग्रहीत होने पर ग्रहण में नहीं श्राते हैं।

विपर्ययात्; नतु ज्ञानजनकत्वाभापरं व्यंजकत्वम् । तथा सत्यत्येन चक्नुषा व्यश्यमानः पर्वतो महानिष तद्वमरिषात्तत्यरिमाण्तया प्रतीयेत सर्षपदच वृहत्परिमाण्तया, न चैवच् । तन्तेते व्वनिषमा उदात्ता-दयोऽपि तु शब्दधर्माः । तथाप्यस्यैकव्यक्तिकत्वे षटादेर्रीय तदस्तु विशेषाभाषात् ।

ननु चास्यैकःवे नभोवत्कारणानायत्तत्वाश्च तदुत्कवीपकवीम्यामुरकवीपकवी स्यातायः तच्छ-द्देपि समानम्-तस्यानि हि प्रत्येकमेकव्यक्तिकत्वे ताल्वोत्कवीप्यकवीम्यामुरकवीपकवीयोगो न स्यात्, किन्तु सर्वत्र तुल्यप्रतीतिविषयता स्यात्। ननु चासिद्धं ताल्वादेमहत्स्वादेः, शब्दस्य महत्त्वादिकमः, तथाहि—

मीमांसक – उदात्त झादि धर्म कर्ण द्वारा भाव रूप से ग्रहण नहीं होते किन्तु आरोप से ग्रहण में आते हैं ?

जैन — ग्रहण किये बिना आरोप भी किस प्रकार हो सकता है ? अन्यया शब्द में भामुरत्व ब्रादि धर्म का ब्रारोप भी मानना पड़ेगा।

मीमांसक— ध्वनियां शब्द की व्यंजक हुआ करती हैं अतः उनके धर्म का स्रारोप शब्द में हो जाता है किन्तु रूपादि शब्द के व्यंजक नहीं हैं अतः उसका उसमें स्रारोप नहीं होता है !

जैन—ज्ञान को उत्पन्न करना व्यंजक कहलाता है इससे अन्य तो व्यंजकत्व नहीं है श्रव यदि ऐसे व्यंजक का धर्म पदार्थ में ( व्यंग्य में ) धारोपित होता है ऐसा माना जाय तो छोटी सी चक्षु द्वारा व्यज्यमाण पर्वत महान होते हुए भी चक्षु जितना छोटा दिखायी देगा? क्योंकि चक्षु व्यंजक हैं और व्यंजक का धर्म व्यंग्य में धारोपित होता है ऐसा ध्रापने कहा है? तथा सरसों बृहत् परिमाण वाली दिखायी देगी, क्योंकि चक्षु का धर्म उसमें आरोपित होता है? किन्तु ऐसा नहीं होता इससे सिद्ध होता है कि उदात्तादि धर्म ध्वनियों के नहीं हैं, श्रपितु शब्दों के हैं। ऐसी बात होते हुए भी यदि शब्दों को एक व्यक्तिरूप ही माना जाय तो घट पट धादि को भी एकत्व रूप मानना होगा ? दोनों में कोई विश्रोषता नहीं है।

शंका—घट आदि को यदि एक रूप माना जाय तो स्राकाश के समान वह भी कारणाधीन नहीं होगा ? फिर कारण के उत्कर्ष ( मिट्टी के स्रधिक ) होने पर घट का उत्कर्ष (बड़ा) होना और कारए। के प्रपक्ष ( मिट्टी के अल्प ) होने पर घट का स्रपक्ष ( खोटा ) होना सिद्ध नहीं होगा ? "कारणानुविधायित्वं यच्चाल्पत्वमहस्वयोः । तदसिद्धं न वर्णो हि वद्धं ते न पदं क्वचित् ॥ वर्णान्तरज्ञनौ तावत्तत्पदत्वं विहत्यते । प्रपदं हि भवेदेतद्यदि वा स्यात्पदान्तरम् ॥ वर्णोऽजवयवत्वानु वृद्धिहासौ न गच्छति । व्योमादिवदतोऽभिदा वृद्धिस्य स्वभावतः ॥'

मी० क्लो० शब्दनि० क्लो० २१०-२१२]

धत्रोच्यते-कि कारणातुविधायिस्वमत्पस्वमहत्त्वयोः स्वभावसिद्धत्वादसिद्धम्, स्राहोस्वि-स्कारणाल्पस्वमहत्त्वास्यां शब्दस्याल्पस्वमहत्त्वे एव न विद्येते स्वभावतस्त्वद्रहितस्वान् इति ? तत्राद्यपसे स्वभावे एव वास्याऽल्पस्वमहत्त्वे विद्येते, न तु ते तस्य कारणाल्पस्वमहत्वाभ्यां कृते इत्यायातम्, तथा

समाधान – यह बात शब्द में भी घटित होती है प्रत्येक क, ल आदि शब्द को एक व्यक्ति रूप ही मानते हैं तो शब्द तालु ग्रादि के उत्कर्ष से उदात ग्रीर ग्रपकर्ष से ग्रमुदात धर्म युक्त होता है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होगा अपितु सर्वत्र समान ही प्रतीत होगा।

मीमांसक – तालु ग्रांदि के महत्त्व से शब्द का महत्त्व आदि रूप होना असिख है, इसी को ग्रन्थाधार से सिख करते हैं — शब्द के कारण जो तालु ग्रांदिक हैं उसके अरूप और महान होने से शब्द ग्रन्थ और महान होता है ऐसा मानना ग्रसिख है क्योंकि न वर्ण बढ़ता हुआ दिखाई देता है और न कहीं पर पद ही बढ़ता हुआ दिखाई देता है और न कहीं पर पद ही बढ़ता हुआ दिखाई देता है ।।१।। तथा जब वर्णान्तर उत्पन्न होता है तब उसका पदत्व नष्ट होता है ऐसा माना जायगा तो प्रथम वर्ण को ग्रपदत्व बन जाने का या पदान्तर रूप होने का प्रसंग ग्रांता है ।।२।। श्रवयव रहित होने के कारण वर्ण वृद्धि ग्रोर हास को प्राप्त नहीं होता है । उसमें तो ग्रांकाण आदि के समान स्वभाव से ही वृद्धि होने की असिखि है ।।३।।

जैन—यह कथन घसार है, ब्रापने जो कहा कि कारण के अनुसार शब्द में अल्पत्व और महत्व होना असिद्ध है, सो क्यों असिद्ध है शब्द में वे घर्म स्वभाव से सिद्ध होने से अथवा स्वभाव से उन घर्मों से रहित होने से ? प्रथम पक्ष लेवे तो शब्द के स्वभाव में ही ग्रस्प महत्व है कारण कि प्रत्प महत्व से किया हुधा नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ ? फिर शब्द के समान घट ग्रादि में भी स्वभाव से ग्रस्पत्व और महत्व होता है न कि मिट्टी च घटादेरिप तथा तत्सत्त्वप्रसंगः । निर्हेतुकत्वेन सर्वेदा भावानुषंगरचोभयत्र समानः । द्वितीयस्तु पक्षोऽ-संगतः; तयोस्तत्र प्रतीयमानत्वेन स्वभावतस्त्वद्रहितस्वासिद्धः । न खलु महति तास्वादौ महानऽस्पे चाल्पः शब्दो न प्रतीयते, सर्वेत्र तयोरनास्वासप्रसंगात् ।

यदप्युक्तम्—'न हि वर्णो वर्द्धते' इत्यादि; तत्र यदि तावत् 'श्रन्पतात्वादिजनितो वर्णा-दिरत्यो महतस्तात्वादिव्यापारान्न वर्द्धते' इत्युच्यते; तदा सिद्धसाधनम् । न हि घटोऽप्पान्मृत्यण्डात्त-षाविधो जातोऽन्यतः स एव वर्द्धते भण्डत्वप्रसंगात्, घटान्तरमेव वा स्यात् । श्रयान्योपि वृद्धिमान्न जायते; तन्न; तथाविषस्य दृष्टत्यात् । श्रष्टस्य वाऽपह्मवाऽयोगात् ।

एतेनैतन्नरस्तम्-

"ग्रथ ताद्रूप्यविज्ञानं हेतुश्त्यिभधीयते । तथापि व्यभिचारित्वं शब्दत्वेपि हि तन्मति: ॥१॥

आदि कारण की श्रत्यता महत्ता से, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि घटादि का श्रत्य महत्व निहेंतुक होता तो सर्वदा बना रहता है सो यह दोष शब्द में भी घटित होता है। दूसरा पक्ष भी गलत है क्योंकि शब्द में वे दोनों धर्म प्रतीत हो रहे हैं श्रदः शब्द स्वभाव से ही श्रत्यत्वादि धर्म से रहित होता है ऐसा कहना श्रसिद्ध ठहरता है। शब्द तालु श्रादि के महान व्यापार होने पर महान श्रीर श्रन्य व्यापार में श्रत्य रूप से प्रतीत नहीं होता हो सो बात नहीं है प्रतीति में श्राते हुए भी इन श्रन्यत्व श्रादि को शब्द में न माना जाय तो सर्वत्र (घटादि में) नहीं मानने का प्रसंग आता है।

श्रापने कहा कि वर्ण बढ़ता नहीं है इत्यादि सो उसमें यह बात है कि जो वर्ण अल्प तालु आदि से उत्पन्न हुआ है वह महान तालु श्रादि के व्यापार होने पर बढ़ता नहीं है ऐसी मान्यता हो तब तो सिद्ध साधन है, क्योंकि जो घट अल्प मिट्टी से अल्प आकार में बन चुका है वही घट अन्य अन्य मिट्टी द्वारा बढ़ाया नहीं जा सकता, अन्यया उसमें अघटत्व का प्रसंग होगा अथवा घटान्तरपना आयेगा। यदि कहा जाय कि दूसरा वर्ण भी नहीं बढ़ता तो यह कथन असत्य है, क्योंकि अन्य अन्य वर्ण उदान्त आदि रूप से बढ़ते हुए देखे जाते हैं, देखे हुए धर्म का अपस्नव असंभव है।

इसी प्रकार निम्नलिखित कथन भी निरस्त होता है कि वर्ए में उस प्रकार की अल्प महत्वरूप प्रतीति होने से उसे ग्रल्पत्वादि से युक्त मानते हैं तो शब्दत्व सामान्य में भी उस प्रकार की प्रतीति होने के कारण व्यभिचार दोष ग्राता है। जिस प्रकार लोक ल्यवहार में माना जाता है कि ग्रल्प महत्व धर्म व्यक्ति में रहते हैं ग्रीर व्यवस्यत्पत्वमहत्त्वे हि तत्तवधानुविधीयते । तथैवानुविधातायं व्वन्यत्पत्वमहत्त्वयोः ॥२॥

[ मी॰ बलो॰ शब्दानि॰ ब्लो॰ २१३-२१४ ] इति।

सद्वयपरिणामो हि सामान्यम् । तस्य च वर्णवदऽल्पत्वमहत्त्वसम्भवात् कथं तेनानेकान्तः ? भवत्कत्पितं तु सामान्यमग्रे निषद्धत्वात्वर्षवाणप्रकथमिति कथं तेन व्यभिचारोद्भावनम् ?

यदप्युच्यते —

थ्यंग्यानां चैतदस्तीति लोकेप्दैकान्तिकं न तत् । दर्यंसास्प्रमहत्त्वे हि इदयतेऽनुपतन्मुखम् ॥१॥ न स्थादथ्यंगयता तस्मिस्तत्क्रियाजन्यतापि वा । न चास्योच्चारगादन्या विद्यते जनिका क्रिया ॥२॥"

मि० इलो० शब्दनि० इलो० २१४-२१६ 1

उनका अनुविधाता सामान्य होता है, उसी प्रकार ध्विन के शल्प महत्व धर्म का श्रनु-विधाता वर्गो है ऐसा मानना चाहिये इत्यादि ।

इस भीमांसक के कथन का अभिजाय यह है कि ध्विन के अल्प महत्व के कारण वर्ण में वैसा ज्ञान हो जाया करता है यदि ऐसा न मानकर अल्प्रत्वादि को वर्ण के निजी धर्म माने जायेंगे तो शब्दत्व सामान्य में अल्प्रत्वादि की प्रतीति होने से उसमें भी उन धर्मों को मानना पड़ेगा। किन्तु यह कथन गलत है, हम जैन सहश परिणाम को सामान्य मानते हैं उस सामान्य में वर्ण के समान अल्प्रत्व महत्व धर्म रहना संभव होने से उसके साथ व्यभिचार दोष देना किस प्रकार संभव है? और आप मीमांसक द्वारा मान्य सामान्य का आगे निराकरण किया है अतः सर विधाण सहश उस सामान्य द्वारा व्यभिचार दोष का उद्भावन किस प्रकार हो सकता है अर्थांत् नहीं हो सकता है।

मीमांसक — शब्द व्यंग्य है व्यंग्य व्यञ्जक का अनुकरण करते हैं यह बात लोक में भी देखी जाती है, अतः वह अनैकान्तिक नहीं है, दर्पण के अल्प महत्व के अनुसार उसमें पड़ा हुआ मुख का प्रतिबिम्ब छोटा बड़ा दिखता है।।१॥ किन्तु इतने मात्र से मुख में व्यंग्य धर्म नहीं हो अथवा वह दर्पण की किया से जन्य हो सो बात नहीं है। तथा शब्द में उच्चारण को छोड़कर अन्य उत्पन्न होने रूप किया भी नहीं होती है। तदप्यचारः; आन्तेनाऽआन्तस्य व्यभिचाराऽयोगात् । सन्दे हि महत्वादिशस्ययोऽआन्तो वाधवजितत्वादिरकुत्तम् । मुखे तु आन्तो विपर्ययात् । न चान्यस्य आन्तत्वेऽत्यस्यापि तत्, अन्यया सकत्वश्च्यतानुषंगः-स्वप्नादिशस्ययदत्त्वकत्वश्चयानां आन्ततापत्तेः । न च खंगे प्रतिबिम्बतदीर्षतया मुखमेवाऽऽभाति दर्पत्ते तृ वत्तुं लत्या गौरनीचे काचे नीलतयाः किन्तु तदाकारस्तत्र प्रतिबिम्बतस्तद्ध-मिनुकारो प्रतिभाति । न च शब्दस्याप्याकारो व्वनौ, व्वनेवा शब्दे प्रतिबिम्बतस्तद्धमिनुकारो अवती-स्वप्तव्यम्; शब्दस्याऽभूतंत्वेन पूर्ते व्वनौ तत्प्रतिविम्बनाऽसम्भवात् । मूर्तानामेव हि मुखादौनां भूतें दर्पतादौ तत्प्रतिविम्बतं हष्टं नाऽभूतीनामात्मादोनाम् । न चाऽश्रोत्रयाद्याद्यके व्यवेः प्रतिबिम्बतो-प्याकारः श्रोत्रेण प्रहीतुं शक्योऽतिप्रसंगात् । तद्ग्राह्यते वा प्रपरशब्दकल्पना व्यवस्युक्तम् ।

## यच्चाप्युक्तम्--

जैन-यह कथन ग्रसत् है, भ्रान्त प्रतिभास द्वारा ग्रभान्त प्रतिभास में व्यभिचार देना अयुक्त है, शब्द में जो अल्प महत्व का ज्ञान होता है वह तो सस्य है, क्योंकि इस ज्ञान में बाधा नहीं भ्राती, किन्तु मुख में होने वाला ग्रह्पत्वादि का ज्ञान बाधा यक्त होने से भ्रान्त है। अन्य के भ्रान्त होने से अन्य कोई भ्रान्त नहीं बनता ग्रन्यथा सकल शुन्यता का प्रसंग होगा। स्वप्न ज्ञान भ्रान्त होने से सभी ज्ञानों को भ्रांत मानना होगा । प्रतिबिम्ब की बात कही सो उस विषय में खुलासा करते हैं-तलवार में प्रतिबिम्ब के दीर्घरूप होने से मुख ही दीर्घ रूप प्रतीत होने ऐसा नहीं है तथा दर्पण में वर्त ल रूप एवं सफेद नीली काच में नील रूप प्रतीत होवे सो भी नहीं है किन्त दर्पण आदि प्रतिबिम्बित हम्रा मुख का जो म्राकार है वही दर्पणादि के वर्तु लादि धर्म का भ्रनुकरण करता है। किन्तु शब्द के विषय में ऐसी बात नहीं है भ्रर्थात शब्द का म्राकार ध्विन में या ध्विन का ग्राकार शब्द में प्रतिबिम्बित होकर उसके ग्राकार का अनुकरण करता है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आप शब्द को अमृतिक मानते हैं श्रमूर्तिक का मूर्तिक ध्वनि में बिम्बित होना असंभव है। देखा जाता है कि मूर्तिक मुख ग्रादि मूर्तिक दर्पणादि में प्रतिबिम्बित होते हैं किन्तु ग्रमूर्त ग्रात्मा आदि नहीं होते हैं। तथा मीमांसक ध्वनि को श्रोत्र बाह्य नहीं मानते हैं इसलिये शब्द में ध्वनि का स्नाकार प्रतिबिम्बित होने पर भी श्रोत्र द्वारा ग्रहण होना स्रशक्य है सन्यथा स्रति-प्रसंग होगा. यदि ध्वनियों के ग्राकार को श्रोत्र ग्राह्म मानते हैं तब तो शब्द को मानना ही व्यर्थ ठहरता है क्योंकि शब्द का सारा कार्य तो ध्वनियों ने किया।

"यथा महत्यां जातायां मृदि व्योग्नि महत्त्ववीः। धल्पावामल्पधीरेवमत्यन्ताऽकृतके मितिः॥ तेनार्त्रवं परोपाधिः शब्दवृद्धौ मतिस्रामः ( मतिस्रमः)। न व स्यूलस्वमूक्ष्मत्वे लक्ष्येते शब्दवितनी॥''

[ मी॰ क्लो॰ शब्दनि॰ क्लो॰ २१७--२१८ ]

त्तदप्यसमीचीनम्, त्योभ्नोऽतीन्द्रियत्वेन महत्वादिप्रत्यविषयत्वायोगात् । तद्योगो चाल्यया सातयाः बष्टको व्योमप्रदेवोऽल्पो महत्या च महानिति नाऽनेनाऽनेकान्तः । निरवयवत्वे हि तस्यागुः-बद्धधापित्वासम्भवः, प्रत्यन्ताकृतकत्वेन च कमयौगपद्याभयं क्रियाविरोध इति वश्यते । तद्या शब्द-स्यापि सावयवत्वाभ्युपगमे—

> "पृथम् न चोपलम्यन्ते वर्णस्यावयवाः क्वचित् । न च वर्णेष्वनुस्यूता दृश्यन्ते तन्तुवत्पटे ॥१॥

मीमांसक — जिस प्रकार मिट्टी की खदान में बड़ा भारी गड्डा खोदने पर आकाश में महानपने की बुद्धि होती है (परवादी पोल को आकाश मानते हैं अतः किसी भी ठोस वस्तु को भीतर भीतर ही पोल करे तो उममें आकाश है अन्यथा नहीं ऐसी इनकी कल्पना है, उसी के आधार पर हप्टांत दे रहे हैं) और अल्प गड्ढे के खोदने पर अल्पपने की बुद्धि होती जब कि आकाश अत्यंत अकृतक है।।।। इसी प्रकार शब्द में बुद्धि का अम हो जाता है अर्थात् व्वनियों की बुद्धि में शब्द वृद्ध हुआ और हानि में हीन हुए ऐसा जान हो जाया करता है, किन्तु शब्द में स्थूलत्व भीर सुक्षमत्व (बुद्धि हानि ) नहीं होते हैं।

जैन — यह मीमांसक का कथन असत्य है, आकाण ग्रतीन्द्रिय है उसमें बड़ा छोटा ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता है। जब वह अतीन्द्रिय ही है तब ग्रत्य गड़ दे के खोदने पर महान ग्राकाण हुमा ऐसी कल्पना नहीं हो सकती और महान गड़दे के खोदने पर महान ग्राकाण हुमा ऐसी कल्पना नहीं हो सकती और न इसके द्वारा अनैकान्तिक दोष आता है। तथा ग्राप ग्राकाका को निरवयवी मानते हैं निरवयत्व में श्रगु के समान व्यापकपना भी ग्रसंभव है तथा ग्रत्यंत श्रञ्जक ऐसे आकाश में कमणः और युगपत रूप से ग्रंथ किया का होना भी ग्रसंभव है ऐसा ग्रागे निश्चित करने वाले हैं। मीमांसक शब्द को सावयव मानते हैं तो उनके ग्रंथ का निम्नलिखित कथन विरुद्ध होता है कि — वर्ण के अवयव कहीं पर

तेषामनुपलब्घेश्व न जाता लिङ्गतो गतिः । नागमस्तत्परस्वास्मिन्नाऽव्यये चोपमा क्वचित् ॥२॥ न चास्यानुपपत्तिः स्याद्वर्णस्यावयर्वविना । ययान्यावयवानां हि विनाप्यवयवान्तरैः ॥३॥ प्रत्यक्षेणावबुद्धस्व वर्णोऽवयववजितः । किन्न स्याद्वयोमवच्चात्र निगं तदहिता मृतिः॥४॥"

[ मी० क्लो॰ स्फोटवा० क्लो० ११-१४ ]

इति वची विरुद्धघेत।

यन्तुनरुक्तम्-'व्यञ्जकष्टनन्यभीनत्वात्तदेशे स च गृह्यते' इत्यादि; तत्र कृतो ब्वनयः प्रतिपक्षा येन तदधीना शब्दधृतिः स्यात् ? प्रत्यक्षेण, सनुमानेन, प्रवीपत्या वा ? प्रत्यक्षेण वैदिक क्षेत्रवेण, स्पर्धनेन वा ? न तावच्छ्रोत्रेण; तथा प्रतीरयभावात् । न खलु शब्दवत्तत्र घ्वनयः प्रतिभासन्ते विप्रतिपत्यभाव-

पृथक् नहीं दिखते हैं, तथा वस्त्र में जैसे तंतु दिखायी देते हैं वैसे वर्ण में श्रवयव दिखाई नहीं देते हैं, श्रतः प्रस्यक्ष प्रमाण से वर्ण के अवयवों की सिद्धि नहीं होती ।।१।। श्रव्यक्ष खोने से श्रवुमान द्वारा भी वर्ण के अवयव सिद्ध नहीं होते हैं। श्रागम भी शब्द के अवयवों का प्रतिपादक नहीं है, तथा श्रदृष्य होने से उपमा द्वारा भी उसके अवयव सिद्ध नहीं होते।।२।।

ऐसा भी नहीं है कि अवयवों के बिना वर्ण की व्यवस्था नहीं बनती हो, जैसे अवयवों में अन्य अवयवों की जरूरत नहीं पड़ती वैसे वर्ण में अवयव की जरूरत नहीं है जब प्रत्यक्ष से ही वर्ण अवयव रहित प्रतीत होता है तब उसे आकाश के समान अवयव रहित क्यों न माना जाय? वर्ण अवयव रहित है क्योंकि वैसी प्रतीति होती है, इस प्रकार के हेनु से भी वर्ण अवयव रहित सिद्ध होते हैं।।३।।४।। इत्यादि ।

मीमांसक ने कहा था कि गब्द व्यञ्जक ध्विन के ग्रघीन है, व्यञ्जक ध्विन जहां होती है वहां वर्ण ग्रहण में भ्राता है, इत्यादि । सो इस पर हम जैन का प्रश्न है कि व्यंजक ध्विनयों को किस प्रमाण से जाना है जिससे कि शब्द का सुनना उसके ग्रधीन माना जाम, प्रत्यक्ष से भ्रमुमान से श्रथवा भ्रषीपत्ति से १ प्रत्यक्ष से माने तो यह कौनसा प्रत्यक्ष है कर्णोन्द्रिय प्रत्यक्ष से कहो तो ठीक नहीं है क्योंकि उस तरह की

प्रसङ्गात् । तत्र व्वनिप्रतिभासे बापरसाब्दकल्यनार्वयय्येमिखुक्तम् । ग्रयं स्पार्धनप्रत्यक्षेण् ते प्रतीयन्ते— स्वकरपिहितवदनो हि वदन् स्वकरसंस्पर्धनेन तान्प्रतिपद्यते, वदतो मुखाग्ने स्वितनूतादेः प्रेरणोपलम्भानं सनुमानेनेति; तदप्यसाम्प्रतम्; वायुवत्तात्वादिव्यापारानन्तरं कष्कांशानामप्युपलम्भेन शब्दाभिव्यक्करत्वप्रसङ्गात् । वकनुववत्रप्रदेश एवेषां प्रक्षयेण श्रोतृष्योत्रप्रदेश गमनाभावान्न तत्; इत्यन्यत्रापि समानम् । न हि वायवीपि तत्र गन्छन्तः समुपलम्पन्ते । शब्दप्रतिपत्यन्ययानुपपत्या प्रतिपत्तिस्त्रभयत्रसमाना । यथा च स्तिमितभाषिण्यो न कष्कांशोषलम्भस्तथा वायूपलम्भोवि नास्ति । स्तिमितस्य कल्पनमुभयत्र समानम् । तत्र प्रत्यक्षेणानुमानेव वा तत्प्रतिपत्तिः ।

प्रतीति नहीं होती, जैसे कान में शब्द मुनाई देते हैं बैसे ध्वनियां सुनाई नहीं देती, यदि सुनाई देती तो विवाद ही नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि यदि कान में ध्वनियां सुनाई देती हैं तो शब्द को मानना व्ययं है क्योंकि शब्द का कार्य ध्वनि द्वारा सम्पन्न हो जाता है इस विषय में पहले कह चुके हैं।

मीमांसक — घ्वनियां स्पर्शनज प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतीत होती हैं, इसी का खुलासा करते हैं — अपने हाथ से मुख को ढककर बोलता हुमा पुरुष प्रपने हाथ के स्पर्श से उन ध्वनियों को जान लेता है, तथा अन्य पुरुष की ध्वनि को बोलने वाले के मुख के आगे स्थित कथासादि के हिलने से अनुमान द्वारा जान लिया जाता है ?

जैन— यह कथन ग्रसार है क्योंकि तालु आदि के व्यापार के ग्रनंतर जिस प्रकार वायु उपलब्ध होतो है उस प्रकार कफ के अंश भी उपलब्ध होते हैं ग्रत: उन्हें भी शब्द के ग्रभि व्यंजक कारए। मानने का प्रसंग ग्राता है मीमांसक – कफ के ग्रंश बोलने वाले के मुख प्रदेश में नष्ट हो जाते हैं मुनने वाले के कान तक नहीं जाते ग्रत: उनको शब्द के व्यंजक कारण नहीं मानते ?

जैन — वायु के विषय में भी यही बात है वह भी कान के प्रदेश में जाती हुई उपलब्ध नहीं होती है।

मीमांसक – व्यंजक वायु नहीं होती तो शब्द को प्रतोति नहीं हो सकती थी, इस प्रकार की श्रन्ययानुपर्यात से उसकी सिद्धि होती है 🎗

जैन — यही ग्रन्यथानुपपत्ति कफांश में भी हो सकती है । तथा जिस प्रकार स्तिमितभाषी (मुख़ को ग्रल्प मात्रा में खोलकर धीमें स्वर में बोलने वाला ) पुरुष के भ्रथार्थापस्या तेषां प्रतिपत्तिः; तथाहि-शब्दस्याविष्रत्यत्वाष्ट्रीत्यद्येते संस्कृतिरेव तु क्रियते । साच विशिष्टा नोपपचेत यदि ब्वनयो न स्युः । तदुक्तम्—

> ' शब्दोल्पर्तिनिषद्धस्वादन्यवानुपपतितः । विशिष्टसंस्कृतैजैन्म व्यनिम्यो व्यवसोयते ॥१॥ तद्भावभाविता चात्र शक्त्यस्तित्वाववोधिनी । श्रोत्रशक्तिवदेवेष्टा बुढिस्तत्त्र हि संहृता ॥२॥ कुडचार्तिप्रतिबन्धोपि युज्यते मातरिश्वनः । श्रोत्रादेरभिषातोपि युज्यते तीत्रवर्तिना ॥३॥"

[मी० ब्लो॰ शब्दनि॰ ब्लो॰ १२६-१२६ ]

कफांश उपलब्ध नहीं होते उसी प्रकार वायु भी उपलब्ध नहीं होती है। यदि कहा जाय कि वायु के रहते हुए भी स्तिमित भाषी होने के कारण वह उपलब्ध नहीं होता ऐसा मानना पड़ेगा। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा व्यंजक ध्वनियों को प्रतीति होना सिद्ध नहीं होता।

मीमांसक — प्रयोपित द्वारा घ्वनियों की प्रतीति होती है, इसका विवरण आगे करते हैं—िनत्य होने से णब्द तो उत्पन्न किया नहीं जाता, हां उसकी संस्कृति (संस्कार ) की जाती है, वह संस्कृति विशिष्ट होने के नाते यदि ध्वनियां न होवे तो उत्पन्न नहीं हो सकती, जैसा कि कहा है— शब्द की उत्पत्ति होना निषिद्ध हो चुका है अतः अर्थापित प्रमाण द्वारा निश्चय होता है कि ध्वनियों से विशिष्ट संस्कृति की ही उत्पत्ति होती है।।१।। ध्वनियों के होने पर ही विशिष्ट संस्कृति का होना संभव है इस प्रकार की तद्भावभावित्व नामकी जो शक्ति है वही ध्वनियों के अस्तित्वका ज्ञान कराती है, श्रोत्रशक्ति के समान यह शक्ति भी स्वीकार करना इष्ट है, अर्थात् जिस तरह कर्ण में श्रवण शक्ति सिद्ध होती है उसी तरह ध्वनियों में संस्कारोत्पादक शक्ति सिद्ध होती है, क्योंकि इन उभय शक्तियों में शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान उसमें नियत है अर्थात् कर्ण में श्रवण शक्ति और ध्वनियों में संस्कारोत्पादक शक्ति इन दोनों के होने पर हो शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।।।। भित्ति ग्रादि से शब्द के व्यंजक वायु का प्रतिबंध होना भी संगत है अर्थात् शब्द समूर्त होने से उसका भित्ति ग्रादि से प्रतिबंध होना भी संगत है अर्थात् शब्द अप्ति पूर्ण है।

इति; तत्र केयं विशिष्टा संस्कृतिनीय-शब्दसंस्कारः, स्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारो, वा ? परेण हि त्रेषा संस्कारोऽम्युगम्यते । स च –

"स्याच्छब्दस्य हि संस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा।"

[ मी० इलो० शब्दनि० इलो० ५२ ]

''स्थिरवाय्यपनीस्या च संस्कारोस्य भवन्भवेत् ।''

[ मी० इलो० शब्दनि० इलो० ६२ ]

इत्यभिधानात् ।

तत्राक्षे पक्षे कोयं शब्दसंस्कारः-शब्दस्योगलय्यः, तस्यात्मभूषः ववजिदतिशयः, प्रनत्तिशय-स्यावृत्तिर्वा, स्वरूपरिपोषो वा, व्यक्तिसमयायो वा, तद्वह्रणापेक्षब्रहण्या वा, व्यंजकसित्रधानमात्रं

जैन — यह सब बर्गन तब ठीक हो सकता जब आपका यह विशिष्ट संस्कृति अर्थात् संस्कार सिद्ध हो, बताइये कि संस्कृति किसे कहते हैं। शब्द संस्कार को या कर्ग संस्कार को अथवा उभय संस्कार को ? क्योंकि आपके यहां शब्द के लिये ये तीन प्रकार के संस्कार माने जाते हैं जैसा कि कहा है कि — शब्द के संस्कार से या इंद्रियों के संस्कार से अथवा उभय के संस्कार से शब्द की अभिव्यक्ति होती है इत्यादि। शब्द का संस्कार स्थिय वायु की अपनीति से (स्थिर वायु के हट जाने से) होता है। इस प्रकार आपके यहां माना है। प्रथम पक्ष — शब्द के संस्कार को विशिष्ट संस्कृति कहते हैं ऐसा माने तो शब्द संस्कार का अर्थ क्या होता है शब्द सी उपलब्धि होने को शब्द संस्कार कहते हैं अथवा उस शब्द का कहीं पर आत्मभूत अतिशय होने को, अमितिशयकी व्यावृत्ति होने को, स्वरूप के परिपोध होने को, व्यक्ति में समवाय होने को, व्यक्तिग्रहण की अपेक्षा से उसकी ग्रहणता होने को, व्यक्ति का सिन्न्यान होने को अथवा आवरण का विगम होने को शब्द की उपलब्धि होने को शब्द संस्कार कहते हैं तो यह ध्वतियों की गमक कैसे होगी, क्योंकि शब्दोपलब्धि तो केवल श्रोत्र से होती है, फिर उसमें अन्य निमित्त की कल्पना करे तो हेतुओं का कोई नियम ही नहीं रहेगा कि प्रमुक वस्तुका अमुक निमित्त है।

शब्द का आत्मभूत कोई अतिशय होनेको शब्दसंस्कार कहते हैं प्रयवा भ्रनतिशय व्यावृत्ति होने को शब्द संस्कार कहते हैं ऐसे दो पक्ष भी ठीक नहीं, आगे इसीको कहते हैं—अतिशय दृश्य स्वभाव वाला ही होता है और ग्रनतिशय व्यावृत्ति वा, ग्रावरएाविगमो वा स्यात् ? यदि शब्दोणलिबः; कथमसौ ब्वनीनां गमिका शब्दे श्रोत्रमात्रभावि-स्वात्तस्याः ? तथाप्यन्यनिमित्तकस्पने हेतुनामनवस्थितिः स्यात् ।

तस्यारमभूतः किरवदित्रयोऽनित्रयय्यावृत्तिवां इत्यनापि स्रतिशयो दृश्यस्वभाव एव, स्रनित्रयय्यावृत्तिस्वदृश्यस्वभावखण्डनमेव । ते चेत्ततोऽन्ये; तत्करलीपि अब्दस्य न किश्विरक्वमिति तदवस्थाऽस्थाऽश्रृतिः । प्रथाऽनन्ये; तदा शब्दस्यापि कार्यतया स्रनित्यत्वानुषंगः । यो हि यस्मादसमर्थ-स्वभावपित्यागेन समर्थस्वभावं लभते स चेत्र तस्य जन्यः ववेदानीं जन्यताव्यवहारः ? न च समर्थ-स्वभाव एव जन्यो न शब्दः इत्यभिधातभ्यभः तस्याऽतो विरुद्धधर्माध्यासतो भेदानुषंगान् । तत्र चोक्तो दोषः ।

श्रोत्रश्रदेशे एव चास्य संस्कारे तावन्मात्रक एव शब्दः, न सर्वगतः स्यात्। तस्यैवान्यत्र तद्विगर्ययेष्णावस्थाने इस्याऽऽदृश्यत्वप्रसंगात् निरंशत्वव्याघातो विप्रतिपरयभावश्चास्य परिणामिस्व-

अदृश्य स्वभावका खंडन स्वरूप ही है, अब यदि ये दोनों प्रकार के शब्द संस्कारशब्द से अन्य हैं और इनको ध्विनयों द्वारा किया जाता है तो ध्विनयों ने शब्द का तो कुछ भी नहीं किया, अतः इस शब्द का अश्रवण पूर्ववत् रहेगा, अर्थात् उक्त संस्कारों के हो जाने पर भी चूंकि वे शब्द से पृथक हैं अतः शब्द अभिव्यक्त न होने के कारण सुनायी नहीं देगा। उक्त दोनों प्रकार के संस्कार शब्द से अभिन्न हैं ऐसा माने तो शब्द कार्य स्प सिद्ध होने से अनित्य वन जायगा। अर्थात् शब्द से अभिन्न ऐसा जो आत्मभूत अतिशय आदि है उसको ध्विनयों ने किया तो इसका मतलब शब्द को ही किया, जो किया गया है वह अनित्यरूप होता ही है। क्योंकि जो जिससे असमर्थ स्वभावका परिस्थाग करके समर्थ स्वभावको प्राप्त करता है वह स्पष्ट रूप से उसका कार्य है फिर भी उसको जन्य ( प्रयात् कार्य) न माना जाय तो जन्यताका व्यवहार कहां माने ? समर्थ स्वभाव ही जन्य है शब्द नहीं ऐसा कहना भी अनुवित है, नित्य शब्द का समर्थ स्वभाव जन्य माने तो विरुद्ध धर्म युक्त होने से उसको शब्द से भिन्न मानना होगा और उस भिन्न पक्ष में वही उक्त दोष आयेगा, अर्थात् शब्द से भिन्न रहने वाला समर्थ स्वभाव ध्विनयों से जन्य है तो ध्विनयों द्वारा शब्द का कुछ भी किया गया अतः वह अश्रवण रूप ही बना रहेगा।

तथा यदि इस शब्द का संस्कार केवल श्रोत्र प्रदेश में ही होता है तो उतना मात्र ही शब्द है सर्वगत नहीं ऐसा निश्चय होता है। यदि कहा जाय कि श्रोत्र प्रदेश उपलब्ध होने वाला शब्द ही उस प्रदेशसे अन्य जगह विपर्ययरूप से ग्रर्थात् अनुपत्तव्ध प्रसिद्धे । यदस्माधिः 'श्रावण्स्वभाविताकोत्पांत्मत्पृद्यन्तद्वव्यम्' इत्यभिषोयते तबुष्माभिः 'वर्णः' इत्याख्यायते । यो च श्रावण्स्वभावोत्पादिवनाको ग्रन्दोत्पादिवनाकावस्माभिरिष्टौ तौ युष्माभिः शब्दाभिश्यक्तितिरोभावाविति नाम्नैव विवादो नार्षे । इत्येतररूपता चैकस्य ब्रह्मवादं समर्थयते तद्वच्चेतनेतररूपतयाप्येकस्थाप्त्वस्थित्यविरोधात् । षटादेरिष चैवं सर्वगतत्वानुषंगः-'सीपि हि दृष्टप्रदेशे इत्योज्यत्र चास्य संस्कारे सर्वदेगेपलिब्धः स्यात्, न वा क्वचिक्कदाचित विवोधाभावात ।

स्वरूपपरिपोषः संस्कारोस्यः, इत्यप्यऽचित्रताभिधानम्ः, नित्यस्य स्वभावान्यवाकरणाऽ-सम्भवात् । करणे वा स्वभावातिशयपक्षभावी दोषोनुषज्यते ।

रूप से मौजूद रहता ही है तो एक ही शब्द में दृश्यत्व और अदृश्यत्वका प्रसंग आने से उसको निरंश मानने का सिद्धांत गलत साबित होता है, तथा दृश्य और ग्रदृश्य स्वभावका परिवर्तन मानने से शब्द में परिणामीपना भी सिद्ध होता है ग्रत: जैन ग्रौर मीमांसकका शब्दविषयक विवाद भी समाप्त होता है। क्योंकि जिसको हम कर्रा द्वारा सुनामी देना रूप स्वभाव वाला विनाश एवं उत्पत्तिमान पुदगल द्रव्य नाम देते हैं उसी को स्राप 'वर्एं' इस नामसे कहते हैं। तथा जिसको हम श्रावण स्वभावका उत्पाद विनाश होना रूप शब्दका उत्पाद विनाश मानते हैं उसीको ग्राप शब्दकी ग्रिभिव्यक्ति तिरोभाव कहते हैं, इस तरह केवल नाम में विवाद रहा न कि अर्थ में । दूसरी बात यह है कि यदि आप मीमांसक एक ही शब्द में दृश्यत्व और श्रदृश्यत्व मानते हैं तो इस मान्यतासे ब्रह्मवादका समर्थन हो जाता है, क्योंकि जिसप्रकार दृश्यत्व ग्रीर ग्रदृश्यत्वकी एकमें (शब्द में) अवस्थिति हो सकती है उस प्रकार चेतन और अचेतनकी भी एक में (बहा में) अवस्थित होना अविरुद्ध होगा । केवल कर्ण प्रदेशमें उपलब्ध होते हए भी शब्दको सर्वगत माना जाय तो घटादि पदार्थको भी सर्वगत मानने का प्रसंग आग्रेगा... उसके विषय में भी कह सकते हैं कि हष्ट प्रदेश में घट हश्य रहता है और अन्यव ग्रदृश्य । ऐसा कहते हुए कोई मुख तो वक्र नहीं होता । केवल कर्ण प्रदेशमें शब्दका संस्कार न होकर सर्वत्र होता है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो हमेशा शब्दकी उपलब्धि होगी क्वचित् कदाचित् नहीं, क्योंकि सर्वत्र शब्द संस्कार हो चुका है कोई भेद विशेष नहीं रहा।

स्वरूप का परिपोष होना शब्द संस्कार कहलाता है ऐसा चौथा विकल्प भी चर्चा योग्य नहीं, क्योंकि नित्यके स्वभावका अन्यथाकरण ग्रसंभव है ग्रथींतु जब शब्द नापि व्यक्तिसम्बायः; वर्णस्य व्यक्त्यध्सम्भवात्, अन्यया सामान्यात्कोस्य विशेषः ? श्रत एव न तद्ग्रहणापेक्षप्रहणुता ।

नापि व्यंजकसन्निधानमात्रम्; सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रतिपत्तृषिः सर्ववर्णानां ग्रहण्यसंगात् । ननु प्रतिनियतेन घ्वनिना प्रतिनियतो वर्णः संस्कृतः प्रातिनयतेनैव प्रतिपत्त्रा प्रतीयते तथैय सामर्थ्यात् : उक्तं च—

सर्वथा नित्य है तब ध्विन द्वारा उसके स्वरूपका परिपोष होना रूप संस्कार कैसे संभव हो सकता है १ प्रर्थात् नहीं हो सकता । यदि नित्य शब्द के स्वभावका अन्यथाकरण मानते हैं तो स्वभावातिशय के पक्ष में दिया गया दोष ग्राता है ।

भावार्य — व्यंजक ध्विन द्वारा शब्द के स्वभावका परिपोष होना शब्द संस्कार कहलाता है ऐसा शब्द संस्कार का अर्थ करते हैं तो प्रथम तो नित्य शब्द में संस्कार होना ही अश्वय है, दूसरे स्वरूप या स्वभावका परिवर्तन होने रूप जो संस्कार है वह शब्दसे भिन्न है या अभिन्न है ऐसा प्रश्न होता है, यदि भिन्न है तो ध्विनने शब्द का कुछ भी नहीं किया, शब्द तो जैसा पहले अश्ववण (सुनाई नहीं देना) रूप था वैसा ही रहा? उक्त संस्कार शब्द से अभिन्न है तो ध्विन ने शब्दको किया ऐसा सिद्ध होता है इससे शब्द अनिस्थरूप ठहरता है, इस तरह स्वरूपपरिपोषको शब्द संस्कार कहते हैं ऐसा चौषा विकल्प असत् हो जाता है।

व्यक्ति में (क, ग, ख ग्रादि में) समवाय होने को शब्द संस्कार कहते हैं ऐसा पंचम विकल्प भी अनुचित है, वर्णकी ( शब्द की ) व्यक्ति असंभव है यदि शब्द में व्यक्ति अर्थात् विशेष संभव है तो सामान्य से इसमें क्या विशेषता है कि शब्द में व्यक्ति औ मान ली जाय ग्रीर सामान्य न माना जाय ? ग्रतः व्यक्ति में समवाय होने को शब्द संस्कार कहते हैं ऐसा पक्ष गलत है। व्यक्ति ग्रहण की ग्रपेक्षा से शब्दग्रहणता का होना शब्द संस्कार है ऐसा छठवां विकल्प भी पूर्ववत् ग्रसत् है ?

व्यञ्जक का सन्निधान होने मात्र को शब्द संस्कार कहते हैं ऐसा सातवां विकल्प भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यंजक के सन्निधान को शब्द संस्कार मानेंगे तो सर्वत्र सर्वेदा सभी प्रतिपत्ता को सर्ववर्णी का ग्रहण हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है। "विषयस्यापि संस्कारे तेनेकस्यैव संस्कृतिः । नरैः सामध्येभेदाच्च न सर्वेरवगम्यते ॥१॥ ययैवोत्यद्यमानोयं न सर्वेरवगम्यते । दिग्देशाद्यविभागेन सर्वोत्यति भवकापि ॥२॥ तथैव यस्समोपस्थेनदिः स्याद्यस्य संस्कृतिः । तरेव श्रूयते शब्दो न दूरस्थैः कथन्वन ॥२॥"

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८३-८६ ] इति ।

तद्य्यपेशलम्; तेषां तदुपलम्भाऽसामय्यं सर्ववाऽनुगलम्भप्रसंगाद्वघिरवन् । यदा तस्समीपस्यै-व्यंत्र्जकैर्यञ्यतेऽसी तदा तैरेवोपलम्यते इत्यय्यमुन्दरम्; यतस्तेषां व्यंजकैः कि क्रियते येन ते तैनिय-

मीमांसक — प्रतिनियत घ्विन द्वारा प्रनिनियत वर्ण संस्कृत ( संस्कारित ) किया जाता है एवं प्रतिनियत पुरुष से ही उसकी प्रतीति होती है, क्योंकि वैसी ही सामध्यं देखी जाती है। कहा भी है— विषय का संस्कार माने तो उस संस्कार में भी उक्त ध्विन द्वारा एक का ही संस्कार किया जाता है, तथा प्रतिपत्ता पुरुषों में सामध्यं भेद होने से भी सभी पुरुषों द्वारा तब वर्ण प्रहण में नहीं आते।।१।। शब्द संस्कार रूप से उत्पद्यमान यह शब्द जिस प्रकार दिशा और देश ग्रादिके अविभाग से सबके प्रति होता हुम्राभी सबके द्वारा ज्ञात नहीं होता, उसी प्रकार जिस पुरुष के समीपवर्त्ती ध्विन द्वारा जिस शब्दका संस्कार हुम्रा है उन्हीं पुरुषों से वही शब्द सुनायी देता है, दूरस्थ पुरुषों द्वारा किसी प्रकार भी सुनायी नहीं देता।।२।।३।।

जैन — उपर्युक्त सारा कथन प्रयुक्त है, क्योंकि पुरुषों में शब्द ग्रहण की सामर्थ्य नहीं मानी तो उनको शब्दका सर्वदा श्रमुलंभ ही रहेगा जैसा बिघर पुरुषोंको रहता है।

मंका—जब उस पुरुष के समीपस्य व्यंजक व्विन द्वारा वह शब्द अभिव्यक्त होता है तब उसी पुरुष द्वारा वह उपलब्ध किया जाता है म्रतः सर्वेदा म्रनुपलंभ होने का प्रसंग नहीं म्राता ?

समाधान—यह कथन असुन्दर है, व्यंजक ध्वनि द्वारा उनका क्या किया जाता है कि जिसके कारण वे नियम से उन व्यंजकों की श्रपेक्षा करते हैं? क्योंकि मेनापेक्षन्तेऽकिष्ट्यिक्तरेऽपेक्षाऽसम्भवात्-? तद्ग्रहले योग्यतेति चेत्; किमास्मनः, शब्दस्य, इन्द्रियस्य वा ? श्राद्यविकत्पद्वये सर्वदोपलम्भोऽनुपलम्भो वा स्यात् । र्इन्द्रियसंस्कारस्तु निराकरिष्यते ।

यदण्युक्तम्—ययैवोरपद्यमानोऽयमित्यादिः, तदण्यसंगतमः, न हि दिगाद्यपेक्षयाऽस्माभिस्तदृग्रहण-मिष्यतेऽिष तु श्रवणाःन्तर्गतत्वेन । भ्रतो यस्यैव श्रवणाःन्तर्गतो यः शब्दः स तेनैव गृह्यते । सर्वगतवर्णपक्षे तु नाग्रं परिहारो निख्लवर्णानां सक्तशितपतृश्रवणाःन्तर्गतत्वेन तथैवोपलस्मप्रसंगात् ।

ं भ्रीवरणविगमः शब्दसंस्कारः, इत्यप्यसत्यम्, यतः प्रमाणान्तरेण शब्दसद्भावे सिद्धे तस्या-वरणं सिद्धचेत् स्पार्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने चटेऽस्थकारादिवत् । न नासौ सिद्धः । तत्कयमस्यावरणम् ?

कुछ किये विना तो उनकी अपेक्षा होना अशक्य है। यदि कहा जाय कि शब्द ग्रहण की योग्यता लाना व्यंजक ध्विन का कार्य है तो वह योग्यता आत्मा की है या शब्द की भ्रथवा इन्द्रिय की ? प्रथम के दो पक्ष माने तो या तो शब्दों का सर्वदा उपलंभ ही होगा या सर्वदा अनुपलंभ ही होगा। व्यंजक द्वारा इन्द्रिय में शब्द ग्रहण की योग्यता लायी जाती है ऐसा इन्द्रिय संस्कार का पक्ष तो आगे निराकृत होने वाला ही है।

, "जैसे उत्पद्यमान यह शब्द सबके द्वारा सुनायो नहीं देता" इत्यादि पूर्वोक्त कथन भी असंगत है, क्योंकि हम जैन दिशादि की अपेक्षा से शब्द का ग्रहण होना नहीं मानते अपितु कर्ण के अंतर्गत होने की अपेक्षा से मानते हैं। प्रसिद्ध ही है कि जिस पुरुष के कर्ण के अंतर्गत जो शब्द होता है वह उसी के द्वारा ग्रहण होता है। किन्तु आपके वर्ण को सर्वगत मानने के पक्ष में उक्त रोत्या अति प्रसंग का परिहार नही हो सकता, आपके यहां तो सभी वर्ण सभी प्रतिपत्ता पुरुषों के कर्गान्तर्गत होने से सर्वदा उपलब्ध होने का प्रसंग अवक्य आता है।

श्रावरण का विगम हो जाना शब्द संस्कार है ऐसा स्राठवा विकल्प भी प्रसत्य है, क्योंकि किसी प्रमाणांतर से शब्द का सद्भाव सिद्ध होवे तो उसका स्रावरण सिद्ध हो सकता है जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष से घटके ज्ञात होने पर उसमें संबकार स्रादि का स्रावरण स्राना सिद्ध होता है। किन्तु शब्द अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है स्रतः उसका स्रावरण स्राना सिद्ध होता है। किन्तु शब्द अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है स्रतः उसका स्रावरण किस प्रकार सिद्ध हो सकता है? तथा आपने शब्द को निर्द्ध माना है, निर्द्ध प्रसाम स्रावरण स्राम स्रान्ध स्राप्त स्राप्त (स्राप्त को किसीका स्रावरण स्राक्त स्रावरण स्राम्य स्राप्त होना।

नित्यस्याऽस्याऽनाधेयाऽप्रहेयाऽतिष्ठयात्मतयाऽस्याकिविश्वरुत्वाच्च । न चार्अकिवित्वरूर. कस्यचिदावर्णः
मतिप्रसंगात् । उपलव्धिप्रतिवन्धकारणात्तच्चेत्; नः तज्जननेकस्वभावस्य तदयोगात् । न हि कारणाः
ऽत्तये कार्यक्षयो युक्तस्तस्याऽतत्कार्यंत्वप्रसंगात् । कथमेवं कुड्यादयो घटादीनामावारका इति चेत्;
तज्जनकस्वभावत्वच्डनात् । कथमन्यस्योपलव्यि जनयन्तीति चेत् ? तं प्रति तत्स्वभावत्वात् । कथमेकस्योभयक्पता ? इत्यन्धवोद्यम्, तथा रष्टत्वात् । अव्यस्यापि स्वभावत्वच्डनेऽनित्यतेत्युक्तम् ।

सबंगतत्वे चास्यावियमास्त्वायोगः । ब्रावर्ध्या हि येनावियते तदावारकम्, यथा पटो घटस्य । झध्दस्त्वावारकमध्ये तद्वेत तत्यादवें च सर्वत्र विद्यमानत्वात्कयं केनविदावियेत ? प्रत्युत स एवावारकः

शंका—शब्द का आवरण अकिचित्कर नहीं होगाक्योंकि वह शब्द के उपलब्धिकाप्रतिबंधकरनारूपकार्यकरताहै?

समाधान — ऐसानही हो सकता, उसके जनन रूप एक स्वभाव का उसमें अयोग है। कारण के रहते हुए कार्य का क्षय होना तो युक्त नहीं ग्रन्यथा वह उसका कार्य ही नहीं कहलायेगा।

शंका — श्रावरण को इस तरह का माना जाय तो घटादि पदार्थों के भित्ति आदिक श्रावारक किस प्रकार कहे जाते हैं ?

समाधान— घटादि में उपलब्धि को उत्पन्न करने का जो स्वभाव है उस स्वभाव का भित्ति आदिक खंडन करते हैं ब्रर्थात् घटादि की उपलब्धि नहीं होने देते म्रतः वे उनके आवारक कहलाते हैं।

शंका—यदि ऐसा हैतो भित्ति के इस तरफ स्थित श्रन्य पुरुषको वे घटादिक उपलब्धि को कैसे उत्पन्न कर देते हैं ?

समाधान — उसके प्रति उपलब्धि स्वभाव मौजूद है, उसका खंडन नहीं हुआ है। यदि कहा जाय कि एक ही घट में किसी के प्रति तो उपलब्धि स्वभाव ग्रीर किसी के प्रति तो उपलब्धि स्वभाव ग्रीर किसी के प्रति ग्रमुपलब्धि स्वभाव ऐसी उभयरूपता कैसे हो सकतो है ? सो यह प्रश्न भी व्ययं का है, क्योंकि ऐसा देखा ही जाता है। घट के समान ग्राब्द के स्वभाव का खंडन होना स्वीकार करेंगे तो उसको ग्रानित्य मानना होगा। इस विषय में पहले से ही कहते ग्रा रहे कि स्वभाव का परिवर्तन, स्वरूप का परिपोप, स्वभाव का खंडन आदि जिसमें संभव है वह पदार्थ ग्रानित्य कहलाता है।

स्यात् । तक्षत्तदावारकप्रपि सर्वगतमिति चेत्; न तह्यांशारकम् । न ह्याकाशमारमादीनामावारकम् । मूर्त्तत्वात्तदिति चेत्; न तहि सर्वगतं घटादिवत् ।

श्रव याबद्वयोमन्यापिनो बहुव एवास्यावारकाः तेः किं सान्तराः, निरन्तरा वा ? यदि सांतराः; न तर्हि तस्यावरणम्, तन्मध्ये तद्वेते तत्पादवं च विद्यमानत्वात् । श्रव स्वमाहास्त्यात्त्यापि स्वदेवे तदावारकाः; तद्यांन्तराले तदुपलस्भप्रसंगः । तथा च सान्तरा प्रतिपत्तिः प्रतिवर्णं खण्डकाः प्रतिपत्तिस्व

मीमांसक शब्द को सर्वगत मानते हैं, सर्वगत रूप इस शब्द में आवियमाणत्वका (ढकने योग्य होने का ) प्रयोग ही रहेगा । इसी का आगे खुलासा करते हैं—आवार्ष (आवरण करने योग्य ) पदार्थ जिसके ढारा आवृत किये जाते हैं उसे आवारक कहते हैं, जैसे वस्त्र घट का आवारक है। किन्तु शब्द में यह सब घटित नहीं होता, क्योंकि शब्द तो आवारक के मध्यमें उसके देशमें उसके पासमें सर्वत्र ही विद्यमान रहने से वह किस प्रकार आवृत किया जा सकता है ? बल्कि शब्द ही उस आवारक का आवारक वन बैठेगा।

मीमांसक - शब्द के समान शब्द का ग्रावारक भी सर्वगत है ?

समाधान—तो फिर उसे आवारक ही नहीं कहेंगे, क्योंकि सर्वगत रूप पदार्ष आवारक हो और वह सर्वगत पदार्थ को आवृत करे ऐसा देखा नहीं जाता जैसे सर्वगत आकाण सर्वगत आत्मा को आवृत नहीं करता।

मीमांसक—भाकाश धमूर्त है भ्रतः धावारक नहीं किन्तु यह शब्द का भ्रावारक मूर्त है अतः उसको भ्रावृत कर सकता है  $\Gamma$ 

जैन—तो फिर उसे सर्वगत नहीं मान सकते जैसे घटादि मूर्न होने से सर्वगत नहीं कहलाते ।

मीमांसक - प्राकाश तक व्यापक ऐसे बहुत से प्रावारक मानेंगे ?

जैन—ठीक है, किन्तु वे सांतर हैं कि विरंतर १ यदि सांतर हैं तो शब्द का श्रावरण नहीं कर सकते, क्योंकि ग्रावारक के मध्य में, देश में एवं उसके पास सर्वेत्र ही शब्द विद्यमान है।

भीमासक – शब्द के सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी वे ग्रावारक अपने माहास्म्य से ग्रपने स्थान पर शब्दों को ग्रावृत करते हैं। स्यात् । सर्वत्र सर्वतः सर्वात्मना विश्वमानत्वात्र दोषस्त्रेतः, नैवमः, प्रतिप्रदेशमकाराध्वित्रहुत्वस्य ध्वन्यादि-वैफल्यस्य चानुषंगात्, तदभावेष्यन्तराले उपलम्भसम्भवात् । भ्रयान्तरालेऽसन्तोष्यावारकाः; तह्याँक-मेवावारकं प्रदेशनियतं कल्पनीयं कि तद्बहुत्वेन ? भ्रत्यत्राविद्यमानं कथमावारकमिति चेत् ? श्रंतराल-विदिति बूमः । तश्रसान्तराः । निरन्तरत्वे चैवाम् तद्वच्छव्दस्यापि निरन्तरत्वादावार्यावारकभावः समान एवोभयत्र । श्रथ वस्तुस्वाभाव्यात् स्तिमिता वायव एव तदावारकाः; ननु टप्टे वस्तुग्येतहक्तु

जैन—तो फिर आवारक रहित बीच के स्थान में शब्द की उपलब्धि होने का प्रसंग ग्रायेगा, और इस तरह होने पर शब्दों की प्रतीति सांतर होने लगेगी एवं प्रत्येक वर्षा की खंड खंड रूपसे प्रतीति होने लगेगी।

मीमांसक-—शब्द सर्वत्र सर्वदा सर्वात्म रूपसे विद्यमान रहने मे खंडशः प्रतीति होने का प्रसंग नहीं आयेगा ।

जैन--ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस तरह मान लेने पर प्रत्येक प्रदेश में बहुत से अकार, इकार श्रादि है ऐसा मानना होगा एवं उनकी श्रीभव्यंजक ध्वनियां भी व्यर्थ हो जायेंगी, क्योंकि ध्वनियों के नहीं होने पर भी आवारक के अंतराल में शब्द की उपलब्धि होना शक्य है।

मीमांसक—यद्यपि ग्रंतराल में [ शब्द और ग्रावारक के बीच में ] ग्रावारक नहीं हैं तो भी वे शब्दों को ग्रावृत करते हैं ?

जैन—तो फिर प्रदेश में नियत कोई एक ही ब्रावारक मानना चाहिये  ${\bf r}$  बहुत से ब्रावारक मानने में क्या लाभ है ।

मीमांसक—ग्रन्य प्रदेश में आवारक नहीं रहेगा तो वह शब्द को ग्रावृत कैसे करेगा ?

जैन — जैसे प्रंतराल में नहीं रहते हुए भी आवारक शब्द को ब्राष्ट्रत करता है कैसे अन्य प्रदेश में नहीं रहते हुए उसको आबृत कर सकते हैं कोई विशेषता नहीं है। इस प्रकार आवारकों को सांतर मानने के पक्ष में दोष ग्राते हैं। दूसरा निरंतर का पक्ष माने तो शब्दके समान ब्रावारक भी निरंतर होने से इनमें आवार्य—प्रावारक समान रूप से लागू होगा अर्थात् आवारक शब्द को ब्राष्ट्रत कर सकते हैं तो शब्द भी ग्रावारक को आबृत कर सकेंगे।

शक्यम्, यथा हब्देऽभनौ दाहकत्वेन 'बस्तुस्वाभाव्यायान्विहति न जसम्' इत्युच्यते । न च तथाविषा वायवो हद्यः । नापि सन् शब्दस्तैरावियमाखो येनैवं स्यात् । श्रद्धकल्पनमुभयत्र समानम् । तन्न किंचित्त-स्यावारकम् ।

ग्रस्तु वा तत्, तथाप्यस्य कुतो विगमः ? ब्वनिन्यद्वेत्; नः, तत्सद्भावावेदकप्रमाराप्रतिवेधत-स्तेषामसत्त्वात् । सस्वे वा कुतस्तेषामृत्यत्तिः ? तात्वादिव्यापाराच्वेतः; नः, तद्वच्छव्दस्यापि तद्व्यापारे सरयुपलम्भतस्तत्कायंतानुषंगात् । ननु खननाद्यनन्तरं व्योमोपलस्यते, न च तत्कायंमतोऽनेकान्तिकत्वम् । तदुक्तम्—

मीमांसक —वस्तु स्वभावही ऐसा है कि स्तिमित वायु रूप श्रावारक ही शब्द को आवृत कर सकते हैं, ग्रब्द उनको आवृत नहीं कर सकते ?

जैन – हष्ट (प्रत्यक्ष) वस्तु में इस तरह कह सकते हैं, जैसे कि ग्राग्न में दाहक गुण देखकर कहते हैं कि भ्राग्न वस्तु स्वभाव के कारण ही जलाती है, जल नहीं जला सकता इत्यादि । किन्तु भ्राग्न के समान स्विमित वायु तो हा्टिगोचर नहीं है, न शब्द ही उनके द्वारा श्राद्वत होता हुआ हांटिगोचर होता है जिससे कि वैसा मान लेवे । यदि अह्प्ट बिना देखे हो वैसी कल्पना करनी है तो दोनों प्रकार से कर सकते हैं अर्थात् शब्द को वायु आदृत करतो है तो शब्द वायु को क्यों नहीं आदृत करता ? इस-लिये उस शब्द को कोई भ्रावारक रूप वस्तु सिद्ध नहीं होती।

जैसे तैसे मान लेवे कि शब्द का ग्रावारक है तो भी उस आवारक का विगम (हटाना, नष्ट होना ) किनसे होगा ? ध्वित से होगा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि ध्विनयों के सद्भाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का निषेध हो चुका है ग्रतः उनका अभाव ही है। यदि हटाग्रहमे ग्रस्तित्व मान भी लेवे तो उनकी उत्पत्ति किससे होगी शितालु, ओठ ग्रावि के ध्यापार से ध्विनयों को उत्पत्ति होती है ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि यदि तालु ग्रावि के ध्यापार से ध्विन को उत्पत्ति होती है तो उसी ध्यापार से शब्द की उत्पत्ति भी संभव है, उस ध्यापार के होने पर शब्द की उपलब्धि भी पायी जाती है ग्रतः शब्द उसी का कार्य है।

मीमांसक —पृथ्वी खोदकर पोल होती है उसमें ग्राकाश ( मोमांसक आदि परवादियों ने ठोस जगह में ग्राकाश को ग्रावृत माना है ) उत्पन्न हुन्ना ऐसा कहा जाता है किन्तु वह खनन किया का कार्य नहीं कहलाता, ग्रतः जैन ने अभी जो कहािक "धनैकान्तिकसा तावढे तूनामिह कथ्यते। प्रयत्नानन्तरं दर्शिनत्येपि न विरुद्धयते ॥१॥"

[ मी० श्लो॰ शब्दनि० श्लो॰ १६ ]

"ग्राकाशमपि नित्य सचदा भूमिजलावृतम् । •यज्यते तदपोहेन खननोरसेचनादिभिः ॥२॥

प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि हस्यते । तेनानैकान्तिको हेतुर्यंदुक्तं तत्र दर्शनम् ॥३॥

म्रच स्थगितमप्येतदस्त्येवेत्यनुमीयते । शब्दोपि प्रत्यभिज्ञानात्प्रागस्तीत्यवगम्यताम् ॥४॥''

[मी० इलो० शब्दनि० इलो० ३०-३३]

ताल ग्रादि के व्यापार के ग्रनंतर शब्द उपलब्ध होने से उसका कार्य है। सो यह कथन अनैकान्तिक होता है क्योंकि उसके अनंतर उपलब्ध होने मात्र से कोई उसका कार्य नहीं बन जाता । जैसा कि कहा है-पक्ष विपक्ष दोनोंमें हेतुके जाने से अनेकांतिक दोष आता है किन्तू यहां शब्द के विषय में दूसरी बात है अर्थात् ''शब्द नित्य है क्योंकि वह अक्र-तक हैं" ऐसा हमारा अनुमान प्रमाण है, सो उसमें तालु ग्रादि के व्यापार के ग्रनंतर शब्द के उपलब्ध होने से शब्द उसका कार्य रूप सिद्ध होने से अनित्य के कोटी में आ जाता है ऐसा प्रकृतकत्व हेत् में प्रनैकांतिकपना उपस्थित करना ठीक नहीं, क्योंकि नित्य बस्तु भी प्रयत्न के (व्यापार के) ग्रनंतर उपलब्ध हो सकती है कोई विरोध नहीं है।। १।। इसी का स्पष्टीकरण करते हैं-आकाश भी नित्य होता है किन्तु भूमि जल श्रादि से ब्रावृत होने पर उसके ब्रावरण को खनन उत्सेघन (खोदना पानी को निकाल देना ) ग्रादि किया द्वारा हटाने पर वह ग्राकाश उपलब्ध (प्रगट) होता है । उससमय उस नित्य झाकाश में भी "प्रयत्न के अनंतर हुआ" ऐसा ज्ञान हो जाया करता है । अतः उपर्युक्त शब्द के अकृतकत्व हेतु को अनैकांतिक कहना असत् है ॥२॥३॥ अथवा इस ग्रकृतक हेतु वाले अनुमान को थोड़ी देर के लिये स्थगित कर दीजिये, तो भी ग्रन्य श्चनमान से भी शब्द की नित्यता सिद्ध होती है। वह इस प्रकार है -- शब्द निस्य है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से उसका ग्रस्तित्व तालुब्यापार के पूर्व में भी सिद्ध होता है।।४।। इत्यादि ।

तदप्यसंगतम्; व्वतौनामप्येवं ताल्वाविष्यापारकार्यत्वामावप्रसंगत् । एकस्पता चाकाशस्या-प्यसिद्धाः स्वविज्ञानजननैकस्वभावस्वे हि तस्य न खननाद्यनन्तरमेवोपलिष्यः किन्तु पूर्वमिष स्यात् । तदस्वभावस्वे वा न कदाचनाप्युपलिष्यः स्वाद्विषेषाभावात् । विषेषे वा एकस्पताव्याघातः । प्रत्यभि-ज्ञानाच्छव्ये प्राक् सरवसिद्धिस्य व्यनाविष समाना 'य एव पूर्वभकारस्य व्यंजको व्यनिः स एव पश्चादिष' इति प्रतीतेः । तथा च व्यंजनस्यापि सर्वत्र सर्वदा सद्भावे ताल्वादिव्यापारकौकत्यं सर्वत्र सर्वात् । प्रतः प्रतितिस्व स्यात् । तम्र ताल्वादिव्यापारकौकता व्यनौनामेव । स्रतः कयं तेषां सत्वमुत्वादकाभावात् ?

सन्तु वा ते, तथाप्यतः क्विवदावरणिवामे विवक्षितवर्णविश्वित्वतवर्णोपलिब्बन्नसंगः; व्यापकत्वेन सर्वेषां तत्र सद्भावात्, तथा च ब्वन्यन्तरस्य वैकल्यम् । ननु वावार्याणामिवावारकार्णा तद्वच्च तदपनेतृीणां भेदस्तेनायमदोषः । उक्तश्व—

जैन - यह सारा कथन असंगत है, इस तरह शब्द को तालू आदिका कार्य न माना जाय तो ध्वनियों को भी ताल आदि के ज्यापार का कार्य नहीं माना जायगा। तथा स्रापके उपर्युक्त कथन से स्राकाश की एक रूपता भी असिद्ध हो जाती है, क्योंकि यदि ग्राकाश में ग्रपने ज्ञानको उत्पन्न करने का एक स्वभाव है तो खनन के ग्रनंतर ही उसकी उपलब्धि नहीं होगी ग्रपित पहले भी होगी, अथवा यदि उक्त स्वभाव ग्राकाश में नहीं है तो "यह भ्राकाश है" इस तरह कभी भी उसकी उगलब्धि नहीं हो पायेगी क्योंकि उस नित्य एक स्वभाव वाले आकाश में कोई भेद विशेष नहीं है। यदि श्राकाश में विशेष है तो उसको एक रूप मानने का सिद्धांत खंडित हो जाता है। ग्रापने प्रत्यभिज्ञान द्वारा तालु आदिके व्यापार के पूर्व में शब्दका ग्रस्तिन्व करना चाहा सी यह न्याय ध्विन में भी घटित हो सकता है, क्योंकि ग्रकार वर्ण की व्यंजक ध्विन जो पूर्व में थी वही पश्चात भी है ऐसा प्रतीत (प्रत्यभिज्ञान) होता ही है। इसप्रकार व्यञ्जक ध्वनिका सर्वत्र सर्वदा सद्भाव होने पर उनके लिये किया गया ताल आदिका व्यापार व्यर्थ ही ठहरता है एवं ध्वनि द्वारा व्यक्त होने वाले शब्दरूप व्यंग्यकी प्रतीति भी सर्वत्र सर्वदा होनेका प्रसंग आता है। अतः ताल आदि के व्यापार का कार्य ध्वनियां ही है ऐसा कथन असिद्ध होता है. ग्रौर जब उनका कोई उत्पादक कारण सिद्ध नहीं होता तब अस्तित्व भी किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ?

यदि मान लिया जाय कि ध्वनियों का सद्भाव है ग्रीर उनके द्वारा शब्द के ग्रावरण का निगम होता है तो भी कहीं एक जगह ग्रावरण का विगम होने पर विवक्षित "श्रांजकातां हि बायूनां भिक्षावयवदेशताः। जातिभेदस्व तेनंश संस्कारो व्यवतिष्ठते ॥१॥ श्रान्यायं प्रेरितो वायुर्ययान्यं न करोति वंः। तथान्यवर्गसंस्कारशाक्तो नान्यं करिष्यति ॥२॥ श्रान्येस्तास्वादिसयोगेर्वर्गो नान्यो ययेव हि । तथा स्वन्यन्तराक्षेपो न स्वन्यन्तरसारिभिः॥३॥ तस्मादुर्वस्यभिव्यक्योः कार्याधारितिः ॥३॥ समाद्र्यस्यभिव्यक्योः॥४॥"

[मी० इलो० शब्दनि० इलो० ७१-६२]

1 144

एक वर्ग के समान निखिल वर्णोंकी उपलब्धि होनेका प्रसंग आता है, क्योंकि व्यापक होने के कारण निखिल वर्णों का वहां पर ( जहां आवरण विगम हुआ है ) सद्भाव है, भ्रीर इस तरह सब वर्णोंकी उपलब्धि हो जाने पर श्रन्य व्वनियां व्यर्थ ठहरती है ।

मीमांसक — ब्रावार्य शब्दों के समान ब्रावारक (स्तिमित वायु) एवं ब्रावारक का विगम करने वाली ध्वनियां इनमें भेद पाया जाता है ख्रतः उपर्युक्त दोष नहीं ख्राता । कहा भी है— व्यंजक वायुओं के भिन्न भिन्न अवयव देश होते हैं । तथा जाति भेद भी होते हैं ख्रतः वर्णोंका इस प्रकार का संस्कार सिद्ध होता है ।।१।। शब्दों की उत्पत्ति मानने वाले आप जैनों के यहां जिस प्रकार अन्य अर्थके लिये (अन्य शब्दके लिये ) भ्रेरित हुई वायु किसी अन्यको नहीं करती अर्थात् तालु ख्राद्धि के व्यापार रूप वायु प्रतिनियत चकार इकार आदिको करती है अन्य टकार ऋकार आदिको नहीं उसी प्रकार उक्त वायु द्वारा शब्दोंका संस्कार होना मानने वाले हम भीमांसक के यहां अन्य वर्णों के संस्कार करने में श्रांति रखने वाली वायु किसी अन्य वर्णों के संस्कार करने में श्रांति रखने वाली वायु किसी अन्य तालु ख्रादिके संयोग से अन्य वर्णों कहीं किया जाता ऐसा आप जैन मानते हैं उसी प्रकार अन्य ध्वित द्वारा होने वाला शब्द संस्कार अन्य कोई ध्वित्यों द्वारा नहीं किया जाता ऐसा हम मीमांसक मानते हैं ।।।।। इसलिये उत्पत्ति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष इनमें कार्य की अर्थापत्ति समान ही दिसीयी देती है । अर्थात् जैन उत्पत्ति रूप कार्य की अर्थापत्ति से शब्द की सिद्धि करते हैं और भीमांसक अभिव्यक्ति रूप की अर्थापत्ति से उसकी सिद्धि करते हैं और भीमांसक अभिव्यक्तिरूप कार्य की अर्थापत्ति से उसकी सिद्धि करते

तदस्यसमीक्षिताभिषानम्, ग्रमिश्रंदेशिःभिन्नेन्द्रियमाश्चः वावार्यं ग्रावरणभेदस्याभिन्यंजकभेदस्य वाऽप्रतीतेः। न व्यतु घटशराबोदव्यनादीनां तथाविधानामावरण्य्यंजकभेदो हष्टः, काण्डपटादेरेक-स्पेवावरण्यवस्य प्रदीपादेवर्षकस्येवाभिन्यांजकत्वस्य प्रसिद्धेः। तथा च प्रयोगः-शब्दाः प्रतिनियता-वरणावार्याः प्रतिनियतस्यंजकश्यंग्या वा न भवन्ति, समानदेशेकेन्द्रियप्राद्यस्याद्यस्याद्वरः, घटादिवत् । न

है। सामर्थ्य भेद तो सर्वत्र ही है, वाहे प्रयत्न के अनंतर शब्दका उत्पन्न होना रूप पक्ष प्रहण करे वाहे विवक्षा के अनंतर शब्दका प्रभिव्यक्त होना रूप पक्ष प्रहण करे सामर्थ्य का भेद तो इच्ट ही है। अर्थात् प्रयत्न के अनंतर शब्द उत्पन्न होते हुए भी हर कोई प्रयत्न से (तालु आदि के व्यापार से) हर कोई शब्द उत्पन्न नहीं होता क्योंकि प्रयत्न में पृथक् पृथक् सामर्थ्य होती है ऐसा जैन कहते हैं और व्यंजक व्वनिसे शब्दका संस्कार होकर शब्द व्यक्त होता है तो भी हर कोई ध्वित से हर कोई शब्द संस्कार नहीं होता क्योंकि ध्वित आदि में पृथक् पृथक् सामर्थ्य होती है ऐसा मीमांसक मानते हैं।।।। इत्यादि

जैन-यह प्रतिपादन बिना सोचे किया गया है, क्योंकि ग्रभिन्न देश में होने वाले एवं ग्रभिन्न इन्द्रिय ( कर्सोन्द्रिय द्वारा ) ग्राह्य होने वाले ग्रावार्य में ( शब्द में ) आवरण का भेद और अभिव्यंजक का भेद प्रतीत नहीं होता। क्योंकि उक्त प्रकार के घट. शराव, उदंचन ( पानी सींचने का पात्र विशेष ) ग्रादि के ग्रावरण एवं व्यंजक में भेद नहीं देखा जाता है ग्रपित एक ही वस्त्र ग्रादि रूप ग्रावरण देखा जाता है तथा दीपकादि एक ही व्यंजक देला जाता है अर्थात आवार्य रूप घटादि का आवरण एक वस्त्रादि से हो जाता है उनके लिये प्रत्येक में प्रथक ग्रावरण की जरूरत नहीं पड़ती, तथा एक ही दीपक रूप व्यांजक उन घटादि की अभिव्यक्ति कर देता है उनके लिये प्रत्येक में पृथक् पृथक दीपक की जरूरत नहीं पड़ती । अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि - शब्द प्रतिनियत ग्रावरण द्वारा भावार्य नहीं होते एवं प्रतिनियत व्यंजक द्वारा व्यंग्य नहीं होते, क्योंकि समान देश और एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं जैसे घटादिक हैं। आप मीमांसक फ्रावार्य भूत वर्णों में देश भेद भी स्वोकार नहीं कर सकते यदि करेंगे तो उनमें व्यापकपने का ग्रभाव हो जायगा । देश भेद तो उन पदार्थों में पाया जाता है जो परस्पर के देश का परिहार करके श्रवस्थित रहते हैं जैसे गो श्रीर हाथीमें देश भेद पाया जाता है। इस ग्रनुमान प्रमाण द्वारा शब्द के ग्रावरण का भेद मानना श्रसिद्ध होता है, इसलिये ग्रावरणके भेद से शब्द के जाति में भेद की कल्पना तथा उस

चाऽउवार्यं वर्णावां देशभेदो युक्तः; व्यापकरवाभावप्रसंगान् । देशभेदो हि परस्परदेशपरिहारेणावस्थाना-स्प्रसिद्धो गोकुच्यप्यत् । तथा चावरणभेदस्याऽवतः कथं जातिभेदप्रकल्पनं तदपनेतृजातिभेदप्रकल्पनं च श्रेयो यतो 'जातिभेददव' इत्यादि शोभेत ।

मन्वेकेन्द्रियश्राह्यस्यापि व्यंगपस्य व्यंजकमेदी रष्टः, यथा भूमिगन्यस्य जलसेकः न शरीर-गन्यस्य । प्रस्थापि मरीचिचक्रसहायस्तेलाच्यंगो न भूमिगन्यस्येति । सत्य रष्टः; स तु विषयसस्कारकस्य व्यञ्जकस्य, न त्यावरशाविगमहेतोः । नैव वा गन्यस्याभियञ्जका जलसेकादयोऽपि तु कारकाः,

भ्रावरण को हटाने वाले ध्वनि में जाति भेद की कल्पना करना श्रंथस्कर नहीं है, श्रतः भ्रापके मीमांसा श्लोक वार्त्तिकका जाति भेदश्र…इत्यादि पूर्वोक्त कथन असत् ठहरता है ।

मीमांसक—जो व्यंग्य एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है उसमें भी व्यंजक का भेद देखा जाता है, जैसे - भूमिकी गंधका अभिव्यंजक जलसेक (पानी का सींचना) होता है यह जलसेक शरीरकी गंधका ग्रभिव्यंजक नहीं है ग्रीर शरीर गंधका ग्रभिव्यंजक मरीचि ग्रादि ग्रनेक पदार्थका उवटन जिसमें सहायक है ऐसा तेलका श्रभ्यंग (मालिश) होता है वह उस भूमि गंधका ग्रभिव्यंजक नहीं हो पाता, अभिग्राय यह है कि भूमिगंध और शरीर गंध ये दोनों व्यंग्यभूत एक ही प्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं किन्तु इनके व्यंजक में भेद है।

जैन — ठीक है, किन्तु यह भेद विषय में संस्कार करने वाले क्यंजकका है न कि स्रावरण करने वाले कारण का। दूसरी बात यह है कि जलसेक आदिक भूमिगंधके सिक्यंजक नहीं हैं अपितु कारक हैं ( उसको प्रगट करने वाले न होकर उत्पन्न करने वाले हैं) क्योंकि जलसेक प्रादिकी सहायता से पृथियो आदि के विशिष्ट गंथकी उत्पत्ति ही होती है उसका भी कारण यह है कि जलसेकादि के सहायता के पहले जस गंधके सद्भाव को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है कि जिससे पृथियी में गंध पहले बा और उसको जलसेक ने व्यक्त किया ऐसा सिद्ध हो सके। हां जो कारकभूत कारण होते हैं उनमें यह नियम देखा जाता है कि एक इन्द्रिय ग्राह्म होने पर एवं समान देश में होने पर भी उस कार्य का कारण एक नहीं होता। जैसे एक देश में स्थित होने पर भी सभी यवबीजादि शालिक श्रंकुर को और यवके श्रंकुर को उत्पन्न करता है। इस तरह शब्दके प्रावरण में भेद मानना खंडित होता है।

तन्सहकारिराः पृषिव्यादैविशिष्टस्य गन्यस्योत्पत्तेः पूर्वं तत्र तत्सङ्कावावेदकप्रमासाभावात् । कारकास्यां चेकेन्द्रियसाह्ये समानदेशे च कार्ये नियमो रष्टः । यथैकत्र स्थिता धपि यववीजादयो न सर्वे शास्यंकुर्रं यवांकुरं चोत्पादयन्ति, किन्तु शालिबीजमेव शास्यंकुरं यववीजं च यवांकुरम् इति ।

एतेन 'ग्रन्थेस्तास्वादिसंयोगें' इत्यादि निरस्तम्; कथम् ? ब्वन्यन्तरसारिभिस्तास्वादि-भिर्मेखपि ब्वन्यन्तराक्षेपो नास्ति तथापि य एव तैराक्षित्यते तत एव सर्ववर्शम् कुवेध्वंन्यन्तराक्षेपपक्षदो-पस्तदवस्य: । तम्न शब्दसंस्कारोभिष्यक्तिषंदते ।

भावार्थ - व्यंजककारण और कारककारण इनमें समानता नहीं है। जैसे एक ही प्रदीप प्रकोष्ठक में स्थित सभी पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है, एक ही सर्य भूमंडलको प्रकाशित करता है इस प्रकारका अभिव्यंजक कारण स्वयं एक होकर भी अनेकों को प्रकाशित करने रूप अनेक कार्योंको करता है। किन्तु कारक कारण ऐसा नहीं होता, जैसे एक यव बीज रूप कारक कारण एक हो यवांकुर को उत्पन्न करता है भ्रन्य यवांकुर एवं शालि अंकुरको उत्पन्न नहीं कर सकता, एक मिट्टी रूप कारक कारण घट को ही उत्पन्न करता है वस्त्रादि को नहीं, इस प्रकार कारक ग्रीर व्यंजक में महान अंतर है। इसलिये मीमांसक ने ऊपर जो हष्टांत दिया था कि भूमिकी गंध ग्रीर शरीरकी गंध गंधकी अपेक्षा एक व्यग्य रूप होकर भी उनके व्यंजक में भेद है भूमि गंध जलसेक रूप व्यंजक से प्रगट होती है और शरीर गंध उबटनादि से, ऐसे ही शब्द रूप व्यंग्य एक होने पर भी उसके व्यंजक व्वनिमें भेद होगा इत्यादि सो यह दृष्टांत गलत है, क्योंकि प्रथम तो इस हष्टांत में व्यंजक कारण न होकर कारक कारण है श्रर्थात् जल सेकादि कारण गंधको प्रगट नहीं करते श्रपितु उत्पन्न ही करते हैं, दूसरे, कारक और व्यंजक में अंतर है। कारक एक ही कार्यको करने वाला होता है ग्रतः अनेक कार्योंके कारकों में भेद सिद्ध होता है किन्तु ग्राप ध्वनिको शब्दका ग्रभिब्यंजक मानते हैं न कि कारक ग्रतः दीपकके समान एक ही ध्वनि द्वारा संपूर्ण शब्द (या वर्ण) एक साथ प्रगट होने का ग्रतिप्रसंग आप मीमांसक के यहां अवश्य ग्राता है।

इसीप्रकार "अन्य तालु म्रादिके संयोग से म्रन्य शब्दका संस्कार नहीं होता" इत्यादि पूर्वोक्त कथन भी खंडित होता है, कैसे सो बताते हैं—यद्यपि घ्वन्यन्तर को करने वाले तालु आदिके व्यापार से अन्य घ्वनिका म्राक्षेप ( प्रन्य घ्वनिको उत्पन्न करना) नहीं होता है तथापि तालु म्रादिसे जो भी कोई एक घ्वनि उत्पन्न की जायगी

## भयेन्द्रयसंस्कारोसौ । तदुक्तम्--

"ग्रथापीन्द्रियसंस्कारः सोप्यधिष्ठानदेशतः। शब्दं च श्रोष्यति श्रोत्रं तेनाऽसंस्कृतशब्कुलि ॥१॥ ग्रप्राप्तकसंदेशत्वाद्घ्वनेनं श्रोत्रसंस्क्रिया। ग्रत्नोऽधिष्ठानभेदेन संस्कारनियमस्यितः॥२॥

[मी० इलो। शब्दनि • इलो० ६६-७० ]

"यद्यपि च्यापि चैकं च तथापि घ्वनिसंस्कृतिः। श्रिधिष्ठानेषु सा यस्य तच्छब्दं प्रतिपत्स्यते ॥१॥"

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६८ ] इति ।

उसी एक ध्वनिसे संपूर्ण वर्ण सुनायी दे सकनेसे (क्योंकि सर्व वर्ण सर्वत्र मौजूद हैं) अन्य ध्वनिका आक्षेप होनेका जो पक्ष है अर्थात् अन्य अन्य ध्वनिसे अन्य अन्य वर्ण प्रगट किये जाते हैं ऐसा जो मीमांसक का पक्ष है उसमें तो दोष आते ही हैं भ्रर्थात् अन्य अन्य ध्वनिको कल्पना व्यर्थ ठहरती है क्योंकि एक ध्वनि द्वारा संपूर्ण वर्ण प्रगट होना सिद्ध होता है। अतः शब्द संस्कार को अभिव्यक्ति कहते हैं भ्रीर वह ध्वनिसे होती है इत्यादि कथन घटित नहीं होता।

मीमांतक— ध्वनिसे इन्द्रिय का संस्कार होता है, जैसा कि कहा है— इन्द्रिय संस्कार वहां होता है जहां उसका अधिष्ठान देश है, जैसे ओवेन्द्रियका थोत्र देश है ( कर्ण की पोल ) सो श्रोत्र यदि संस्कार द्वारा सुसंस्कृत नहीं है तो वह शब्दको नहीं सुनेगा।।१।। श्रन्य ध्विन कर्ण देश में प्राप्त न होने से कर्ण संस्कार को कर नहीं सकती, श्रतः अधिष्ठान के विभिन्न होने से ध्विन द्वारा होने वाले संस्कार का नियम ( श्रन्य श्रन्य ध्विन स्वत्य श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार होना ) सिद्ध होता है।।२।। यद्यपि श्रोत्र ब्यापी और एक है तो भी उसके अधिष्ठान प्रनेक अनेक हैं उनमें से जिस प्रविष्ठान में ध्विन द्वारा संस्कार होता है वही ओवाधिष्ठान उस शब्दको जानता ( सुनता ) है।।३।। इत्यादि ।

षत्रापि सकुत्संस्कृतं श्रोत्रं युगपत्सवंवर्णान् श्रृत्युयात् । न ह्यास्त्रनादिना संस्कृतं वातः सिहितं वीलघवलादिकं कश्वित्पस्यति कश्विन्ति । बलातैलादिना संस्कृतं श्रोत्रं वा कांश्चिदेव गकारादीन् श्रृत्योति कांश्चिन्तेतीति नियमो दृष्टो येनात्रापि तथा कल्पना स्यात् ।

ततो निराकृतमेतत-

"तथा(यया)घटादेदींपादिरप्तिव्यक्कत इष्यते । चक्षुपोऽनुग्रहादेवं व्वनिः स्याच्छ्रोत्रसंस्कृतेः ॥१॥ न चा(च)पर्यनुगोगोत्र केनाकारेण संस्कृतिः । उत्पत्तावपि तुल्यस्वाच्छक्तिसत्तराप्यतीन्द्रया ॥२॥''

मो० इलो० शब्दनि० इलो० ४२-४३ ] इति ।

जैन—इस पक्ष में भी एक बार सुसंस्कृत हुआ श्रोत्र युगपत् संपूर्ण वर्णोंको सुन सकता है ऐसा पूर्वोक्त दोष ग्राता ही है। प्रसिद्ध बात है कि अंजन आदि से सुसंस्कृत हुआ नेत्र निकटवर्त्ती नील धवल ग्रादि वस्तु में से किसी को तो देखे और किसी को न देखे ऐसा नहीं होता अपितु नेत्र नीलादि सभी को देखती है। तथा बला तेल (संपूर्ण शब्दोंको सुनने की शक्ति को उत्पन्न करने वाला कोई तेल ) द्वारा मुसंस्कृत हुआ श्रोत्र किन्हीं गकारादिको तो सुने और किन्हीं वर्णोंको न सुने ऐसा नहीं होता। इसी प्रकार यदि ध्वनि द्वारा श्रोत्र देश मुसंस्कृत होना मानते हैं तो सभी वर्ण उस श्रोत्र द्वारा सुनायी देते हैं ऐसा ग्रनिष्ट मानने का प्रसंग ग्रवस्य आता है।

इसीलिये निम्नलिखित कथन भी निराकृत हुआ समफ्रना चाहिये कि —िजस प्रकार चक्षु के अनुग्रह से ग्रथांत् चक्षु के संस्कार के निमित्त होने से दीपादिक घटादि-पदार्थ के ग्रमिच्यंजक माने जाते हैं उस प्रकार श्रोत्र संस्कार की घ्विन श्रमिच्यंजक है ऐसा मानते हैं। इसमें व्यर्थ के प्रश्न नहीं करना चाहिये कि वह श्रोत्र संस्कार किसी रूप से होता है? किसी एक घ्विन द्वारा संस्कार होने पर सब वर्ण सुनायी देना चाहिये। क्योंकि शब्द की ग्रभिव्यक्ति मानने के पक्षमें यदि ऐसे प्रश्न उठा सकते हैं तो शब्द की उत्पत्ति मानने के पक्ष में भी ये ही प्रश्न उठा सकते हैं। क्योंकि जिस तरह शब्द की अभिव्यक्ति की शक्ति श्रतीन्द्रिय है उस तरह शब्द की उत्पत्ति की शक्ति प्रतीन्द्रिय है उस तरह शब्द की उत्पत्ति की शक्ति श्रतीन्द्रिय है उस तरह शब्द की उत्पत्ति की शक्ति श्रतीन्द्रिय है उस तरह शब्द की उत्पत्ति की शक्ति श्रतीन्द्रिय है उस तरह शब्द की उत्पत्ति की शक्ति श्रतीन्द्रिय है उस तरह शब्द की उत्पत्ति इत्यादि।

प्रदीपादिनानुगृहीतचलुवा पटाधनेकार्षवहरावत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेगाप्येकदानेकशब्दश्रवरा-प्रसङ्गात् । प्रयोगः-श्रोत्रयेकेन्द्रियप्राह्याभिश्रदेशावस्थितार्थयहराय्य प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियद्वाच्चक्षर्वत् । तत्र श्रोत्रसंस्कारोप्यभिव्यक्तिर्थटते ।

भावार्थ — उपर्युक्त भीमांसा घलोक बात्तिक ग्रन्थ के उद्धरण में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यंजक और कारक कारए समान होते हैं। ग्रथित् मीमांसक का कहना है कि ध्वनियां शब्द को व्यक्त करती है ऐसा हम मानते हैं, इस मान्यता में जैन प्रश्न करते हैं कि ध्वनि द्वारा एक साथ सब शब्द ( वर्ष् ) क्यों नहीं व्यक्त होते ? इत्यादि सो यह प्रश्न हम मीमांसक जैन के प्रति भी कर सकते हैं कि तालु आदि से शब्द उत्पन्न किये जाते हैं तो एक साथ सब शब्द क्यों नहीं उत्पन्न किये जाते हैं तो एक साथ सब शब्द क्यों नहीं उत्पन्न किये जाते इत्यादि । किन्तु जैनाचार्य ने इसका समाधान पहने ही दिया है कि व्यंजक कारण और कारक कारण समान नहीं होते इनका कार्य समान नहीं होता एक व्यंजक कारए रूप प्रदीप एक साथ ग्रनेक घटादिको अभिव्यक्त ( प्रकाशित ) करता है किन्तु एक कारक कारण रूप यवबीज ग्रनेक यवांकुरों को या शालि अंकुरों को उत्पन्न नहीं करता । यही तो कारक ग्रौर व्यंजक में ग्रंतर है —कारक तो उस वस्तु को नयी रूप से निर्माण करता है किन्तु व्यंजक ऐसा नहीं है वह तो केवल बनी बनायी वस्तु को प्रकाशित करता है । अतः यदि ध्वनि शब्द को केवल ग्रभिव्यक्त करती है तो उसको एक साथ सब वर्णों को अभिव्यक्त करने का प्रसंग ग्राता ही है । किन्तु तालु ग्रादि के व्यापार से शब्द की उत्पत्ति मानने वाले जैन के पक्ष में ऐसा ग्रति प्रसंग दौष नहीं होता ।

यदि मीमांसक ध्वनि द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होना ही मानते हैं तो जिस तरह प्रदीपादि से अनुप्रहीत ( सुसंस्कृत ) हुई चक्षु वस्त्र म्रादि अनेक पदार्थों को प्रहण करती है ( देखती जानती है ) उस तरह ध्वनि से अनुप्रहीत ( सुसंस्कृत ) हुआ श्रोत्र भी एक साथ अनेक शब्दों को अवण कर सकता है ऐसा अनिष्ट मानने का प्रसंग अवश्य आता है। अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि—श्रोत्र एक ही इंद्रिय से ग्राह्म प्रभिन्न देश में ग्रवस्थित पदार्थों को ग्रहण करने के लिये प्रतिनियत संस्कार द्वारा संस्कारित होने योग्य नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय रूप है जैसे चक्षु इन्द्रिय रूप होने से प्रतिनियत संस्कारक द्वारा संस्कारित होने योग्य नहीं है। इस प्रकार श्रोत्र संस्कार को प्रभिव्यक्ति कहते हैं ऐसा कहना घटित नहीं होता।

श्रस्तु तहर्घ भवसंस्कारः । न चात्रोक्तदोषानुषञ्जः । तदुक्तम्-

"द्वयसंस्कारपक्षे तु वृथा दोषद्वये वचः । येनान्यतरवैकल्यात्सर्वैः सर्वो न गृह्यते ॥१॥"

[मी० श्लो• शब्दनि० श्लो० ५६]

तदप्यमुक्तम्; उक्तदोषादेव, तबाहि-यदैकवर्णवाहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णान्त्रतिपद्यत संस्कृतं च वर्णं सर्वत्र सर्वदाऽवस्थितत्वेन, अन्यवा तत्रप्रतीतिरेव न भवेतदात्मकत्वात्तस्य । अतो व्यङ्गचव्यञ्जकभावस्य विचार्यमाणस्याऽयोगान्न व्यंजकब्बन्यभीनो विभिन्नदेशकालस्वभावतया शब्दस्योगसम्भोऽपि तु तत्स्वभावभेदनिबन्धन. ।

मीमांसक—तो फिर उभय संस्कार ( शब्द तथा इन्द्रिय दोनों का संस्कार ) स्वीकार करना चाहिए अर्थात् उभय संस्कार से शब्द की अभिव्यक्ति होती है ऐसा मानना चाहिये। इस पक्ष में तो उक्त दोष नहीं आयेगा। जैसा कि कहा है—इन्द्रिय संस्कार और शब्द संस्कार दोनों संस्कारों के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है ऐसा मानने पर भी दो दोष आते हैं अर्थात् शब्द संस्कार के पक्ष में दिया हुआ और इन्द्रिय संस्कार के पक्ष में दिया हुआ और इन्द्रिय संस्कार के पक्ष में दिया हुआ और इन्द्रिय संस्कार के पक्ष में दिया हुआ इस तरह दो दोष उभय संस्कार के पक्ष में आते हैं ऐसा जैनादि परवादी कहे तो वह असत् है, क्योंकि दोनों संस्कारों में से किसी एक के नहीं होने के कारण ही सब वर्ण सबके द्वारा ग्रहण नहीं होते हैं।।।।

जैन — यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि इस पक्ष में वही दोष आते हैं। आगे इसी को बताते हैं — जब एक वर्ण को ग्राहक पने से सुसंस्कृत हुआ श्रोत्र सुसंस्कृत वर्ण को ग्रहण करता है (सुनता है) तब वहां पर स्थित जो सब वर्ण हैं उनको ग्रहण करेगा ही क्योंकि सुसंस्कृत (संस्कारित हुआ) वर्ण सर्वत्र सर्वदा अवस्थित ही रहता है, यदि सुसंस्कृत वर्ण को श्रोत्र ग्रहण नहीं करेगा तो उसको प्रतीति ही नहीं होवेगी, इसका भो कारण यह है कि वर्ण हमेशा तदात्मक (उसी एक रूप) होता है। इसलिए शब्द और ध्विन में व्यंग्य—व्यंजक भाव मानने का जो सिद्धांत है वह विचार करने पर प्रयुक्त साबित होता है। अतः विभिन्न देश काल एवं स्वभाव रूप से शब्द की उपलब्धि होना व्यंजक ध्विन के अभीन नहीं है अपितु शब्द में स्वयं उस प्रकार का स्वभाव है कि वह कमशः ही उस्पन्न होता है।

यच्चोत्तस्-'खलपात्रेषु च' इत्यादि; तद्य्यताम्प्रतस्; तत्रोपलम्यमानस्यादित्यप्रतिविम्बस्याने-कत्वात् । 'गगनतलावलम्बी हि सविता तत्रोपलम्यते' इत्यत्र न प्रत्यक्षं प्रमाग् तस्वरूपात्रतिमाधनात् । तस्य हि स्वरूपं गगनतलावलम्ब चैकं च, तप्रावधासते । यच्चावभासि जलपात्रावलम्ब चौनैकं च, तद्बृक्षच्छायादिवहस्वन्तरमेव । न चान्यप्रतिभासेऽन्यप्रतिभासो नामाऽतिप्रसंगात् । न च जलभानीगंगन-भानुना साहक्यादेकत्वम्; कमनीयकामिनीनयनयोरिष तत्प्रसंगात् । नापि तद्विकारे जलभानुविकारा-देकत्वस्, वृक्षच्छाययोरिष तत्प्रसंगात् ।

ननु तत्र तरप्रतिविश्वानां बस्त्वन्तरम्बे कुतः प्रादुर्घोवः स्यादिति चेत् ? जलादित्यदिलक्षग्य-स्वसामग्रीविषेवात् । तर्हि स्वच्छताविषेयसञ्ज्ञावाज्जलादर्शादयो मुखादित्यादिप्रतिविश्वाकारविकार-

मीमांसक ने पहले कहा था कि -- सूर्य के एक रहते हुए भी जल पात्रों में नाना रूप दिखायी देता है वैसे वर्ण एक होकर नाना प्रतीत होते हैं इत्यादि सो वह कथन अनुचित है जल पात्रों में जो सर्य का प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है वह अनेक ही है, क्योंकि उन पात्रों में आकाशस्थित सूर्य उपलब्ध होता है ऐसा मानना प्रत्यक्ष प्रमाण रूप नहीं है भ्रयात ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत होना कही तो वह प्रामाणिक नहीं, क्योंकि उसमें सूर्यका स्वरूप प्रतिभासित हो नहीं होता । सूर्यका स्वरूप तो गगनतल में भवलंबित एवं एक रूप रहना है वह स्वरूप जल पात्रों में तो है नहीं। भीर जो यहां प्रतीत हो रहा वह जल पात्रों में अवलंबित एवं अनेक रूप है, अतः यह जल पात्रावलंबी प्रतिबिम्ब सूर्य से अन्य कोई वस्तु रूप ही है जैसे कि वृक्षकी छाया वृक्ष से भ्रन्य किसी वस्तु रूप है। ग्रन्य के प्रतिभास में किसी ग्रन्य का प्रतिभास मानना तो ग्रतिप्रसंग का कारण होगा। जल में स्थित सर्य में और ग्राकाण में स्थित सर्य में सहशता होने से एकपना है ऐसा कहना भी अयुक्त है, यदि सहशता होने के कारण एकपना माना जाय तो किसी सुन्दर ललना के दो नेत्रोंको भी एक मानना पडेगा। यदि कहा जाय कि म्राकाश स्थित सूर्य में विकार माने पर ( मेघादिका मावरण माने पर ) जल में स्थित सुर्य बिंब में भी विकार आता है अतः इन दोनों को एक मानना चाहिए, सो यह भी गलत है क्योंकि इस तरह माने तो बुक्ष ग्रीर छाया में भी एकत्व भानना होगा। क्योंकि वृक्ष में हिलना आदि विकार आने पर छाया में भी विकार तो ग्राता ही है।

शंका — जल पात्रों में स्थित सूर्य के प्रतिबिम्बों को सूर्य से पृथक् वस्तु रूप मानते हैं तो उनका प्रादुर्भाव किसक्षे होगा ? षारिएाः कस्मान्न सर्वदोषलभ्यन्ते इति चेत्? स्वसामग्रयऽभावतोऽभावाच्छ्व्वसुखादिवत् । कदिचद्धि विकारः सहकारिनिवृत्तावय्यनिवर्तमानौ रष्टो यया घटादिः, किष्चतु निवर्त्तमानौ यथा शब्दादिः, भ्रविन्त्यशक्तित्वाद्भावाम् । ताल्वादिव्यापारसहकारिनिवृत्तौ हि पुद्गलस्य श्रावएस्वभावव्यावृत्तिः । स्रम्बनितानिवृत्तौ बाल्हादनाकारव्यावृत्तिः । स्रम्बनितानिवृत्तौ बाल्हादनाकारव्यावृत्तिः। स्रम्बनितानिवृत्तौ बाल्हादनाकारव्यावृत्तिरात्मनः सकलजनप्रसिद्धा, एवमादित्यादिसहकारिनिवृत्तौ खलादेस्तरप्रतिविक्याकारिनवृत्ति ।

समाधान — जल और सूर्य आदि रूप स्व सामग्री विशेष से उक्त प्रतिबिम्बों का प्रादुर्भाव होता है।

शंका—तो फिर स्वच्छता विशेष का सद्भाव हमेशा होने से जल और दर्पणादि पदार्थ मुख और सूर्य के प्रतिबिम्ब घादि के आकार को घारण करने वाले हमेशा क्यों नहीं दिखायी देते ?

समाधान-वे दर्पणादि पदार्थ स्व सामग्री का ग्रभाव होने से हमेशा उक्त ग्राकारों को हमेशा धारण करते हुए उपलब्ध नहीं होते जैसे कि स्व सामग्री के ग्रभाव में शब्द की उपलब्धि नहीं होती एवं सूख की सामग्री के ग्रभाव में सूख की उपलब्धि नहीं होती । कोई कोई विकार ऐसा होता है कि वह सहकारी कारण के निवृत्त होने पर भी ( हट जाने पर भी ) स्वयं निवृत्त नहीं होता जैसे घटादि पदार्थ रूप श्राकार को कराने वाले चक, दंडा आदि के निवृत्त होने पर भी जो मिट्टी का घटाकार रूप विकार निर्मित हम्रा वह बना ही रहता है। तथा कोई कोई विकार ऐसा होता है कि सहकारी कारणों के निवृत्त होने पर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है जैसे शब्दादि विकार उनके सहकारी कारणभूत ताल ग्रादि के व्यापार के निवृत्त होने पर ( हट जाने पर अथवा समाप्त होने पर ) स्वयं भी समाप्त हो जाते हैं। क्योंकि पदार्थों में विभिन्न प्रकार की अचित्य शक्तियां हुआ करती हैं उन विभिन्न शक्तियों के कारण ही इस प्रकार सहकारी के निवृत्त होने पर निवृत्त होना अथवा नहीं होना इत्यादि रूप प्रभेद दिखायी देता है। ताल ग्रादि के व्यापार रूप सहकारी कारण के निवृत्त हो जाने पर शब्दरूप पुद्गल के श्रावण स्वभाव ( सुनायी देने की शक्ति ) की व्यावृत्ति ( निवृत्ति या समाप्ति ) हो जाती है। तथा माला वनिता ग्रादि सहकारी कारणों के निवृत्त हो जाने पर ग्राल्हाद रूप सुख की ग्रात्मा से व्यावृत्ति हो जाती है यह बात सर्व जन प्रसिद्ध ही है। इसी तरह सूर्य ग्रादि सहकारी कारणों के निवृत्त हो जाने पर जलादि में सूर्य के प्रतिबिंबाकार की निवृत्ति होती है, इसमें कोई विरोध नहीं।

ततो निराकृतमेतत्-भात्र बूमो यदा तावज्बने सौसँगं इत्यादिः स्वप्रदेशस्यतया सिवतु-प्रंहुणासिद्धेः । 'वाक्षुषं तेवः प्रतिस्रोतः प्रवत्तितम्' इति चातौवाःसंगतम्, प्रमाणाभावात् । न हि चक्षु-स्तेजासि जलेनाभिसम्बन्ध्य पुनः सवितारं प्रति प्रवत्तितानि प्रत्यक्षादिप्रशणतः प्रतीयन्ते । यथा च चक्षुरस्मीनां विषयं प्रति प्रवृत्तिनांस्ति तथा चक्षुरप्राप्यकारित्वप्रघट्टके प्रतिपादितम् । इत्यक्षमित-विस्तरेण ।

यच्चान्यदुक्तम्-'विशमेदेन भिन्नत्वम्' इत्यादिः, तदप्यसारम्; यतो यदि पत्यक्षमेवानुमानस्य बावकं नानुमानं प्रत्यक्षस्यः, तहि चन्द्राकदि। स्वैयोध्यक्षं देशाहेशान्तरप्राप्तिलिगजनितगत्यनुमानेन

इस प्रकार सूर्यं का जल में स्थित प्रतिबिंब सूर्यं से पृथक्भूत पदार्थं है ऐसा सिद्ध होने से उसके एकत्व का दृष्टांत देकर शब्द में एकत्व सिद्ध करना खंडित होता है ऐसे ही यह कथन भी खंडित हुया समभता चाहिये कि — जब जल में सूर्यं के तेज के कारण चक्षुका तेज भी स्फुरायमान हो जाता है तब सूर्येबिंब नाना रूप परिवर्तित होता है तथा इसीलिये स्वप्रदेश में स्थितरूप से सूर्यं का ग्रहण नहीं हो पाता इत्यादि । आप मीमांसक के उपर्युक्त कथन में "चक्षुका तेज स्फुरमान होकर सूर्यविव नाना रूप परिवर्तित होता है" ऐसा कहना तो अत्यंत ग्रसम्बद्ध है क्योंकि ऐसा मानने में सर्वया प्रमाणका अभाव है । क्योंकि चक्षु की किरएों जल से संबद्ध होकर पुनः सूर्य के प्रति प्रवृत्ति करती हुई किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीत नहीं होती हैं । दूसरी बात यह है कि चक्षु की न कोई किरएों हैं और न वे अपने विषयभूत घट पट ग्रादि पदार्थ के प्रति गमन करती हैं, इस विषय का प्रतिपादन चक्षुप्राप्यकारित्यखण्डन मे पहले ही ( प्रयम भाग में ) हो चुका है, अब उस विषय में ग्रविक नहीं कहना है ।

मीमांसक ने पूर्व में कहा था कि गकारादि वर्गों में देशभेद से भेद सिद्ध करने वाला अनुमान "वही यह गकारादि है" इस प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है इत्यादि । सो वह ग्रसार है, क्योंकि यदि एकांत से प्रत्यक्ष ही अनुमान का बाधक माना जाय ग्रनुमान को प्रत्यक्ष का बाधक नहीं माना जाय तो चन्द्र सूर्य ग्रादि में स्थिरतारूप प्रनीति कराने वाला प्रत्यक्ष देश से देशांतर की प्राप्ति रूप हेतु से जनित गित को सिद्ध करने वाले अनुमान द्वारा वाध्य नहीं हो सकेगा ।

शंका — चन्द्रादिकी स्थिरता प्रतीत कराने वाले प्रत्यक्ष में वाधित विषय होने से प्रत्यक्षपना ही नहीं माना जाता ? बाध्यं न स्यात् । प्रयास्य प्रत्यक्षरूपतैव नास्ति वाधितविषयस्यात्; तस्प्रकृतेषि समानम्, स्नुनपुनर्जातन-स्रकेशादिवत्सास्स्यप्रतीत्या तम्नानात्वप्रसाधकानुमानेन चाऽत्राप्येकत्वप्रतीतैवीधितविषयत्वाऽविशेषात् । म्रतोऽयुक्तमेतत्—

समाधान—सो यह बात प्रकृत गकारादि शब्दों में भी समान रूप से घटित होगी, म्रागे इसीको बताते हैं — कट कर पुनः उत्पन्न हुए नख ग्रीर केशादि में एकत्व की प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्ष झान जिस प्रकार साहश्य प्रतीति से उन नखादि के नानापने को सिद्ध करने वाले अनुमान झान द्वारा बाधित होता है, उसी प्रकार गकारादि वर्णों में एकत्व की प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्ष झान साहश्य प्रतीति से उन गकारादि वर्णों में एकत्व की सिद्ध करने वाले अनुमान द्वारा बाधित होता है, नखादि के एकत्व को विषय करने वाला प्रत्यक्ष और गकारादि वर्णों के एकत्व को विषय करने वाला प्रत्यक्ष और गकारादि वर्णों के एकत्व को विषय करने वाला प्रत्यक्षों के विषय समान रूप से बाधित हैं कोई विशेषता नहीं है।

भावार्थ — मीमांसक गकार, ककार ग्रादि वणों को सारे विश्व में एक एक रूप ही मानते हैं। मीमांसक के प्रति यदि प्रश्न किया जाय कि गकारादि वणें एक एक ही हैं तो भिन्न भिन्न देश में भिन्न भिन्न व्यक्ति द्वारा एक ही गकारादिका सुनायी देना एवं मुख से उच्चारण करना कैसे होता है? तो इसका उत्तर देते हैं कि वे वर्ण सर्वत्र एक ही हैं किन्तु उनके व्यंजक कारण पृथक् पृथक् हैं, ग्रतः विभिन्न देशादि में विभिन्न रूप से उपलब्ध होते हैं इत्यादि। जैनाचार्य ने वर्ण के इस व्यंजक कारण का ग्रानेक प्रकार से निरसन किया है, शब्द या वर्ण तालु ग्रादि से प्रगट नहीं किये जाते ग्रापितु नये नये उत्पन्न किये जाते हैं। जैसे नख ग्रीर केशादिक कट कर पुनः पुनः नये उत्पन्न होते हैं। यदि कदाचित् गकारादि वर्णों में "यह वही गकार है जिसको कल सुना था" इत्यादि रूप एकत्व प्रत्यभिज्ञान हो भी तो वह ज्ञान अनुमान द्वारा वाधित होता है। इस पर मीमांसक का कहना है कि एकत्व प्रत्यभिज्ञान को हम प्रत्यक्ष प्रमाण रूप मानते हैं ग्रतः वह अनुमान द्वारा वाधित नहीं हो सकता, सो यह कथन ग्रस्त है, क्योंकि अनुमान से प्रत्यक्षज्ञान वाधित होता हुआ देखा जाता है, प्रत्यक्ष ज्ञान मुर्यादि को स्थिर बताता है किन्तु वह देशांतर गमनरूप ग्रमुना प्रमाण से वाधित है। संसार में ऐसे प्रत्यक्षज्ञान (सांव्यावहारिक प्रत्यक्षज्ञान ) होते ही हैं कि जो ग्रमुमान

"स एवेति मतिनीपि सारुयं न च तत्क्वचित् । विनावयवसामान्यैर्वर्गोष्ववयया न च ॥"

[मी० इलो॰ स्फोटवा० इलो॰ १८] इति।

म्रवयवसामान्यस्याप्यत्रात एव प्रसिद्धः । तेनायुक्तमुन्तम्-'पययिएं' इत्यादि, देवदत्ते हि 'स एवायम्' इति प्रत्ययः, श्रत्र तु 'तेनानेन चायं सहशः' इति । न च सहशप्रत्ययादेकत्वम्; गोगवययोरिप तत्प्रसंगात् । यद्यप्रच्यते---

> "जैनकापिलनिर्दिष्टं शब्दश्रोत्रादिसर्पग्म् । साधीयोऽस्मात्तदस्यत्र युक्त्या नैवावतिष्ठते ॥१॥"

> > [मी० इलो० शब्दनि० इलो० १०६]

द्वारा वाधित होते हैं। ग्रतः जिसको मीमांसक प्रत्यक्ष रूप मानते हैं ऐसे प्रत्यभिज्ञान द्वारा शब्दों में एकत्व सिद्ध करना ग्रसंभव है।

इसलिये निम्नलिखित कथन भी अनुचित है कि  $_{-}$ गकार फ्रांदि वर्णों में ''बही यह हैं'' ऐसा जो एकरव का ज्ञान होता है उसको असस्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वर्णों में अवयव नहीं होते और अवयव सामान्यों के बिना उन गकारादि वर्णों की सादृश्य प्रतीति होना अशक्य है।।१।।

गकार धादि वर्णों के घ्रवयव सामान्य प्रधांत घ्रनेक पृथक् पृथक् गकार घीर उन सब में पाया जाने वाला सहश सामान्य तो साहश्यप्रतीति रूप हेतु वाले अनुमान द्वारा भलीभांति सिद्ध होता है। अतः मीमांसक का पूर्वोक्त कथन खण्डित होता है कि—पर्याय रूप से अर्थात् कालकम से एक ही देवदत्त विभिन्न देश में जाता है उसमें भेद नहीं मानते, वैसे शब्द में भी भेद नहीं मानना चाहिए। सो देवदत्त में तो "वहीं यह देवदत्त हैं" इस प्रकार की एकत्व प्रतीति निराबाध रूप से ग्राती है, किन्तु गकारादि शब्दों में तो उसके समान यह गकार है अथवा इस वर्णों के समान यह वर्णे है ऐसी साहश्य प्रतीति ग्राती है। साहश्य प्रतीति से एकत्व की सिद्धि करना तो ग्रानुचित है अन्यया गाय और रोफ में भी एकत्व सिद्ध करना होगा।

मीमांसक का कहना है कि — जैन और सांस्य कमशः शब्द ग्रीर श्रोत्र का गमन होना मानते हैं सो यह इस वक्ष्यमान कल्पना से कुछ सही होते हुए भी हम मीमांसक की युक्ति द्वारा खंडित हो होता है।।।। ग्रर्थात् जैन की मान्यता है कि शब्द जैनेन हि निर्दिष्टं श्रोतारं प्रति शब्दस्य सर्पणं काण्विन तु वक्तारम् श्रोत्रादेयंत्तदेव साधीयोऽ-स्मान्नैयायिकोपकल्पितात् वीचीतरंगन्यायेन शब्दस्यामूर्त्तस्यागमनात् । तदप्यत्र मुक्त्या नेवाविष्ठते । यस्मात—

"शब्दस्यागमनं तावदरूटं परिकल्पितम् ।
मूर्त्तिस्पर्शादिमस्यं च तेषामभिभवः सताम् ॥१॥
स्वगग्राह्यत्वमन्ये च भागाः सूक्ष्माः प्रकल्पिताः ।
तेषामदृश्यमानानां कयं च रचनाक्षमः ॥२॥
कीदृशाद्ववनभिदाद्वर्ग्यभेदश्य जायताम् ।
द्ववित्वेन विना चैयां संक्लेषः (सन्तेषः)कल्प्यते कथम् ॥३॥
ग्रागच्छतां च विश्लेषो न भवेद्वायुना कथम् ।
लघवोऽवयवा ह्याते निवदा न च केनचित् ॥४॥
वृक्षाद्यमिहृतानां च विश्लेषो लोष्टवद्भवेत् ।
एकवोश्वयेवे च नान्येषां स्यात्पृतः श्रृतिः ॥४॥

श्रोता के पास चला जाता है श्रीर सांख्य कहते हैं कि श्रोत वक्ता के पास चला जाता है, सो यह मान्यता इस नैयायिक की कल्पना से श्रेयस्कर ही है क्योंकि नैयायिक तो शब्द को श्रमूर्त्त मानकर पुनः उसका वीचीतरंग न्याय से आगमन होना मानते हैं। किन्तु यह जैनादि सभी परवादियों का कथन हमारी युक्ति के आगे ठहरता नहीं। श्रागे इसी का खुलासा करते हैं—शब्द का श्रागमन मानना श्रहष्ट परिकल्पना मात्र है श्रथांत् प्रमाण से सिद्ध नहीं है, तथा शब्दों को मूर्तिक स्पर्शादिमान मानना एवं श्रिमभव मानना भी असिद्ध है।।१।। स्पर्शनेनिद्धय द्वारा शब्दों का ग्रग्राह्म कहना, उनके सूक्ष्म भाग किल्पत करना यह सब श्रसत् है (क्योंकि यदि शब्द स्पर्शादिमान है तो स्पर्शनेनिद्धय से ग्राह्म क्यों नहीं इत्यादि प्रश्न होते हैं और उनके समाधानकारक उत्तर नहीं मिलते ) यदि शब्द अदृश्य हैं तो उनका रचनाक्रम किस प्रकार होगा यह भी एक समस्या है।।२।। तथा किस तरह के रचना भेद से वर्ण भेद होगा १ शब्दों में द्रवपना (तरलपना) भी नहीं है फिर उनका परस्पर संग्लेष किस प्रकार होगा ? ग्र्यात् नहीं हो सकता।।३।। जब शब्द कर्ण के पास श्रा रहे हों तब उनका वायु द्वारा विश्लेष भी कैसे नहीं होगा १ व्योंकि शब्द तो लघु श्रवयवरूप हैं उनको किसी ने संबद्ध भी नहीं किया है।।४।। श्राते हुए शब्द जब बृक्ष, भित्त श्रादि से श्रभिहत होवेंगे तब मिट्टी के

न चावान्तरवर्णानां नानात्वस्यास्ति कारणम् । न चैकस्यव सर्वामु गमनं दिक्षु युज्यते ॥६॥''

[ मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १०७-११२ ]

इत्यादि । तद्वयञ्जनवाथ्वागमनेपि समानम् । शक्यते हि शब्दस्थाने वायुं पठित्वा 'वायोरा-गमनं तावदहष्टं परिकल्पितम् 'इत्याद्यभिधातम् ।

किंच, प्रत्यकरणनागौरवदोषो भेवत्पक्ष एवानुषण्यते; तथाहि—शब्दस्य पूर्वोपरकोटघोः सर्वत्र च देकेऽनुष्तभ्यमानस्य सत्त्वम्, तस्य चावारकाः स्तिमिता वायवः प्रमाणनीऽनुषतभ्यमानाः कस्पनीया।,

ढेले के समान बिखर जायेंगे। एक कोई विवक्षित शब्द कर्गप्रदेश में प्रविष्ट होगा तब वह अन्य को सुनायी नहीं देना चाहिये? क्योंकि वह तो उतना ही अब्यापक था।।।।। आते हुए शब्दों से ग्रवांतर शब्द हो जाय ऐसा एक को नानारूप करने का कोई निमित्त भी नहीं दिखायी देता। तथा ताजु श्रादि से निर्मित एक शब्द सब दिशाओं में एक साथ गमन भी किस प्रकार कर सकता है? श्रथीत् नहीं कर सकता।।६।। इत्यादि।

सो यह मीमांसक का कथन उनके व्यंजक वायु के श्रागमन के विषय में भी समानरूप से घटित होता है। शब्द के विषय में जितने भर भी प्रश्न थे उनमें शब्द के स्थान पर वायु को रखकर हम जैन कह सकते हैं कि व्यंजक वायु का ध्रागमन मानना श्रदृष्ट परिकरिपत मात्र है, जब वायु स्पर्शयुक्त है तो वह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा क्यों नहीं श्रदृण होती ? अदृष्यभूत वायुका रचना कम भी किस प्रकार होवे ? इत्यादि।

दूसरी बात यह है कि — अदृष्ट की कल्पना करना रूप दोष तो आप भीमांसक के पक्ष में ही ग्राता है, कैसे सो बताते हैं – शब्द की पूर्वाप्रकोटि ग्रायींत् ग्रादि अंत दिखता है तो भी उसे नहीं मानना ग्रीर अट्ट नहीं देखे ऐसे नित्यत्व की कल्पना करना, सर्वत्र देश में व्यापक रूप उपलब्ध नहीं होने पर भी व्यापक मानना, शब्द का ग्रावरण करने वाली स्तिमित वागु किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है तो भी उसकी ग्रहष्ट कल्पना करते रहना, स्तिमित वागुको हटाने वाली व्यंजक वागु स्वीकार करना तथा उनमें नाना शक्तियों की कल्पना भी करना, इस प्रकार इतनी सारी ग्रहष्ट कल्पनायें ( जो कि प्रमाण से ग्रसिद्ध हैं ) ग्राप मीमांसकों को ही करनी होगी हम जैन को नहीं। हम जैन शब्द को पुद्गल द्रव्य की पर्यायरूप मानते हैं, ग्रागे यथा ग्रवसर ( तृतीय भाग में ) सिद्ध करेंगे कि शब्द ग्रावाग द्रव्यका गुण नहीं है ग्रिप्तु क्दपनोदकारचान्ये, तेषां शक्तिनानात्वं कल्पनीयम्, नास्मत्पक्षे । पौद्गिलिकत्वं च यथावसरं गुणुनियेष-प्रक्रमे प्रसावयिष्यामः । तिस्सद्धं घटस्य चक्रादिव्यापारकार्यस्ववच्छन्दस्यताव्वादिव्यापारकार्यत्विनिति साञ्चक्तम-- 'श्राप्तवचनम' इत्यादि ।

पुद्गल (जड़) द्रव्य की पर्याय है। अंत में यह निश्चय होता है कि जैसे घट कुंभकार, चक्र आदि के व्यापार का कार्य है वैसे शब्द तालु श्रादि के व्यापार का कार्य है। इसलिये आगम प्रमाण लक्षण करते हुए श्रीमाणिक्यनंदी ग्राचार्य ने ठीक ही कहा कि— "आप्तवचनादिनिवंधनमर्थज्ञानमागमः" न्नाप्त पुरुष के वचनादि के निमित्त से होनेवाला पदार्य का ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है इत्यादि।

विशेषार्थ-शब्द के विषय में विवाद है कि वह नित्य है कि अनित्य, मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, उनका कहना है कि शब्द को श्रनित्य मानेंगे तो उनके उत्पत्ति कारण बतलाना होगा, उत्पन्न होकर श्रोता के पास कैसे गमन करेंगे. मार्ग में वाय, वृक्ष, पर्वतादि से टकरायेंगे। तथा शब्द ग्रनित्य है तो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायेंगे, प्रथवा कुछ समय तक ठहर भी जाये तो भी जिस शब्द में बाल्यकाल में संकेत हम्राथा वह मागे यूवा काल म्रादि में नहीं रहता भ्रतः उस शब्द की सुनते ही अर्थ बोध होता है वह कैसे घटित होगा। शब्द में द्रवत्व नहीं होने से अनेक शब्दों में परस्पर संश्लेप भी कैसे हो, तथा वक्ता के मुख से निकले हुए ऋमिक एक एक शब्द एक ही किसी श्रोता के कर्ण में प्रविष्ट होगा क्योंकि अध्यापक एवं एक है अत: ग्रन्थ अनेक श्रोताग्रों को उस वक्ता का व्याख्यान कंसे सुनाई देगा इत्यादि । प्रभाचन्द्राचार्य ने कहा कि ये शब्द विषयक प्रश्न ग्राप मीमांसक के ग्रभिव्यंजक वायू में ठीक इसी तरह लाग होते हैं, अर्थात व्यंजक वायू जब वक्ता के पास शब्द को प्रगट करने जायेगी तब मार्ग के वृक्ष आदि से टकराकर बिखर जायगी। शब्दों का आवृत होना मानते हैं सो उनका म्रावरण कौन है, उनको कौन दूर करेगा, आवारक के दूर होते ही सारे वर्गा सुनाई देने चाहिए क्योंकि वर्गा नित्य एवं व्यापक है ? गकार आदि वर्गा विश्वभर में एक एक हैं तो पथक पथक रूप से हजारों श्रोताग्रों को एक साथ कैसे सुनाई देते हैं यदि शब्द व्यापक है तो एक विवक्षित स्थान पर सर्वागरूप से अर्थात समुचेरूप से कैसे उपलब्ध होगा ? बंबई से लेकर देहली तक लगी हुई रेल की पटरी एक जगह सर्वांग रूप से कैसे उपलब्ध हो ? विशाल मंडप पर छाया हुआ। वस्त्र एकत्र पूर्ण रूपेन कैसे प्राप्त हो ? अर्थात् यह असंभव है इसी प्रकार एक ही शब्द सवंत्र देश में व्याप्त है तो एक व्यक्ति को एक स्थान पर सर्वांगरूप से कैसे सुनायी दे सकता है ? अर्थात् नहीं दे सकता, शब्द जब नित्य है तो उसमें संकेत होने पर सभी को उससे अर्थ बोध होना चाहिए इस तरह कोई भी पुरुष किसी भी भाषा का अनिभन्न नहीं रहेगा । इत्यादि प्रक्तों का सही उत्तर मीमांसक दे नहीं सकते । अतः निष्कर्ष यह है कि शब्द पुद्गल द्रव्य को पर्याय है अर्थात् एक जड़ पदार्थ की अवस्था विशेष है और वह मिट्टी की एक अवस्था विशेष जो घट है उसके समान अपने निमित्त कारण के मिलने पर प्रादुर्भूत होती है, अर्थात् शब्द का उपादान तो भाषावर्गणारूप पुद्गल द्रव्य है और निमित्त अनेकों हैं (तालु खादि का व्यापार ) इस शब्द के भाषात्मक, अभाषात्मक, अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक, तत, वितत, घन, सुषिर धादि अनेक प्रभेद हैं और इनके निमित्त कारण भी अनेक हैं । यहां प्रकरण में तो केवल मनुष्य के तालु आदि के ब्यापार से उत्पन्न हुए शब्दों का वर्णन है। अस्तु।

।। शब्दनित्यत्ववाद समाप्त ।।

## शब्दिनत्यत्ववाद के खण्डन का सारांश

मीमांसक-शब्द नित्य है क्योंकि अर्थ प्रतिपादन की अन्यथानुपपत्ति है, शब्द . ग्रनित्य होता तो उसमें संकेत नहीं हो सकता । शब्द और ग्रर्थ का वाच्य वाचक संबंध तीन प्रमाणों से जाना जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान ग्रौर ग्रर्थापत्ति जब कोई पुरुष संकेत जानने वाले किसी दूसरे व्यक्ति को कहता है कि हे देवदत्त सफेद गाय को दण्डे से भगा दो, पास में कोई तीसरा पुरुष हैं जो संकेत ज्ञान से रहित है वह देवदत्त के द्वारा गाय को हटाता ग्रादि को प्रत्यक्ष से देखकर शब्द और अर्थ समक्ष लेता है कि इस वाक्य का यह अर्थ है तथा गाय को हटाने की किया से देवदत्त को तद्-विषयक ज्ञान है ऐसा अनुमान लग जाता है। पुनश्च शब्द की वाचक शक्ति और पदार्थ की वाच्य शक्ति का ज्ञान अर्थापत्ति से होता है कि इस शब्द में पदार्थ को कहने की शक्ति है इत्यादि। जैन सहश गब्द से अर्थ का बोध होना मानते हैं अर्थात संकेत कालीन शब्द नष्ट होकर पदार्थ को जानते समय अन्य सदृश शब्द ग्राता है उससे ग्रर्थ ज्ञान होना मानते हैं। किन्तु ऐसा मानने पर शाब्दिक ज्ञान भ्रान्त सिद्ध होगा। गौ ग्रादि शब्द गोत्वादि सामान्य के बाचक हैं या गो व्यक्ति के वाचक हैं यह भी विचारणीय है गो शब्द सामान्य का वाचक है ऐसा माने तो सामान्य नित्य होने से उसका वाचक शब्द भी नित्य होगा । गो व्यक्ति का वाचक गो शब्द है ऐसा माने तो गो के नष्ट होने पर गो शब्द का अस्तित्व समाप्त होगा । क्योंकि शब्द को म्रनित्य माना ? तथा ये लोग शब्द को ग्रनेक मानते हैं, किन्तू वह भी ठीक नहीं सूर्य एक है तो भी ग्रनेक देशों में ग्रनेक रूप दिखता है वैसे शब्द भी एक होकर अनेक जगह उपलब्ध होता है। प्रत्यभिज्ञान से भी शब्द का एकत्व सिद्ध होता है ग्रतः शब्द को एक नित्य एवं व्यापक मानना चाहिये ।

जैन — यह मीमांसक का शब्द नित्यवाद धनेक दोषों से भरा हुआ है। आपको शब्द अनित्य मानने में यह आपित दिखती है कि शब्द अनित्य होने पर अर्थ ज्ञान नहीं होगा, सो अयुक्त है, सदृश शब्द से अर्थ ज्ञान होता है अर्थात् किसी ने "गाय" यह शब्द कहकर बालक को संकेत किया कि इस पदार्थ को गाय कहना, अब जब कभी वह बालक पुन: गाय शब्द सुनता है तो वह शब्द संकेत किये गये शब्द के सदृश रहता है अतः उसको सुनते ही वह सास्नायुक्त पशु का ज्ञान कर लेता है। जैसे रसोई घर को अगिन और धूम के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर पुन: पर्वतादि में उस धूम के

समान अन्य धूम को देखकर ग्रांनि का ज्ञान होता है। ग्रापने शब्द को एकत्वरूप माना है किंतु शब्द में अनुगत प्रत्यय से अनेकपना सिद्ध होता है, तथा एक ही पुरुष एक ही समय में अनेक गो शब्द को विभिन्न देशों से ग्रहण कर लेता है इसलिये भी शब्द अनेक हैं। ग्राप तालु ग्रादि के व्यापार से व्यञ्जक वागु उत्पन्न होना मानते हैं तो उनसे शब्द उत्पन्न होते हैं ऐसा क्यों नहीं मानते ? ध्विन शब्दों की व्यञ्जक ही है तो उस व्यंजक के होते ही त्यंग्य से बद्ध व्यंजक के होते ही व्यंग्य होवे ऐसा क्यों उपलब्ध होता है शब्द व्यंग्य होवे ऐसा क्यों हो व्यंग्य होवे ऐसा क्यों हो व्यंग्य होवे हो ऐसा विस्ताई नहीं देता है।

तथा श्रभिव्यंजक वायु से शब्द व्यक्त होते हैं तो एक साथ सब शब्द व्यक्त होना चाहिये थे ? क्योंकि सभी शब्द मौजूद हैं, यदि कहा जाय कि जैसे घट रूप कार्यों की कमशः उत्पत्ति होती है वैसे शब्दों की कमशः ग्रभिव्यक्ति होती है तो यह भी असत है घट रूप कार्य स्वकारण कलाप से उत्पन्न होता है न कि ग्रभिव्यक्त, ग्रतः वह क्रमश: होना संगत है किन्तु अभिव्यक्ति में क्रम नहीं होता, जैसे एक घड़ा बनाने की इच्छा से कुंभकार ने मिट्टी का एक पिंड चाक पर रखा, तो उससे घडा रूप एक ही कार्य उत्पन्न होगा, अन्य नहीं, किन्तु व्यंजक ऐसा नहीं होता, किसी ने श्रन्धकार में रखे हए किसी एक घड़े को ढ़ंढने के लिए दीपक जलाया, वह दीपक उस घड़े को तो प्रकाशित करेगा ही, साथ ही समीप में रखे हुए ग्रन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करेगा। कहने का भाव यह है कि मृत पिंड एक काल में एक ही घट का कारण है. किंद दीपक विद्यमान सभी पदार्थों का प्रकाशक या अभिव्यंजक है। इसी प्रकार शब्द की व्यंजक एक वायु जब उसे अभिव्यक्त करे, तब सभी शब्दों की अभिव्यक्ति एक साथ होनी चाहिये, सो होती नहीं है। इस प्रकार यह दोष केवल ग्रिभिव्यक्ति के पक्ष में श्राता है न कि उत्पत्ति के पक्ष में । श्रतः निश्चित होता है कि तालू श्रादि के व्यापार से शब्दों की उत्पत्ति ही होती है न कि अभिव्यक्ति, यदि अभिव्यक्ति होती तो सभी शब्दों की होनी चाहिए, इसलिये शब्द को नित्य मानना सिद्ध नहीं होता है।

## 

नतु शब्दार्थयोः सम्बन्धासिद्धेः कथमाप्तप्रशातोपि शब्दोऽर्थे ज्ञानं कुर्याद्यत ग्राप्तवचन-निवन्धनमित्यादि वचः शोभेतेत्याशङ्कापनोदार्थम् 'सहजयोग्यता' इत्याद्याह—

सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयः वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।।१००॥

बौद्ध — जैन ने शब्द को अनित्य सिद्ध करके ग्राप्त पृष्टय के शब्द द्वारा होने वाले पदार्थ के ज्ञान को ग्रागम प्रमाण बताया। किंतु शब्द और ग्रर्थ का कोई भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, फिर ग्राप्त का कहा हुग्रा वचन पदार्थ का ज्ञान किस प्रकार करा सकता है जिससे ग्राप्तवचनादि निबन्धन ... इत्यादि आगम प्रमाण का लक्षण घटित हो सके ?

जैन-- अब इस शंका का समाधान अग्रिम सूत्र द्वारा करते हैं--

सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयः वस्तु प्रतिपत्ति हेतवः ।।१००।।

सूत्रार्थ— शब्द वर्ण वाक्यादि में ऐसी सहज योग्यता है जिस योग्यता के कारण तथा संकेत होने के कारए। ( यह घट है इस पदार्थ को घट शब्द से पुकारते हैं इत्यादि संकेत के कारण ) वे शब्दादिक अर्थ का ज्ञान कराने में हेतु हो जाते हैं। सहजा स्वाभाविकौ योग्यता शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकाक्तिः ज्ञानज्ञेययोज्ञीप्यज्ञापक-शक्तिवत् । न हि तत्राप्यतो योग्यतातोऽन्यः कार्यकारणभावादिः सम्बन्धोस्तीत्युक्तम् । तस्यां सस्यां संकेतः । तद्वशाद्धि स्फुटं शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।

शब्द और पदार्थ में सहज स्वाभाविक योग्यता होती है उसी के कारण शब्द प्रतिपादक और पदार्थ प्रतिपाद की शक्ति वाला हो जाया करता है, जिस प्रकार ज्ञान और जेय में आप्य ज्ञापक शक्ति हुआ करती है। ज्ञान और जेय में भी सहज योग्यता को छोड़कर अन्य कोई कार्य कारण ध्रादि सम्बन्ध नहीं होता, इस विषय को पहले ( प्रथम भाग में ) निविकल्प प्रत्यक्षवाद और साकार ज्ञानवाद प्रकरण में भलीभांति सिद्ध कर दिया है।

विशेषार्थ - शब्द ग्रौर पदार्थ में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है न कि कार्यकारण आदि सम्बन्ध । ज्ञान और ज्ञेय अथवा प्रमाण और प्रमेय में भी कार्य कारण ग्रादि सम्बन्ध नहीं पाये जाते ग्रपित ज्ञाप्य ज्ञापक सम्बन्ध ही पाया जाता है । बौद्ध ज्ञान ग्रौर ज्ञेय में कार्य कारण सम्बन्ध मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है भ्रतः ज्ञान कार्य है ग्रीर उसका कारण ज्ञेय (पदार्थ) है किन्तु यह मान्यता सर्वथा प्रतीति विरुद्ध है। ज्ञानानुभव आत्मा में होता है अथवा यों कहिये कि अगिन और उष्णतावत् आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है ऐसा आत्मा से अपृथक्भूत ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होना सर्वथा असंभव है इसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में प्रकाशित हो चुका है वहां निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद ग्रीर साकार ज्ञानवाद नामा प्रकरण में सिद्ध कर दिया है। ज्ञान ग्रात्मा से ही उत्पन्न होता है ज्ञेय से नहीं, फिर भी प्रतिनियत ज्ञेयको जानता अवश्य है, अर्थात् अमुक ज्ञान अमुक पदार्थ को जान सकता है अन्य को नहीं ऐसी प्रतिकर्म व्यवस्था ज्ञानकी क्षयोपशम जन्य योग्यता के कारण हुग्रा करती है। भ्रस्तु। यहां पर शब्द ग्रौर पदार्थ के योग्यता का कथन हो रहा है कि ज्ञान ग्रौर ज्ञेय के समान ही शब्द और अर्थ में परस्पर में वाच्य वाचक सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध के कारए। ही ''घट'' यह दो ग्रक्षर वाला शब्द कंब्ग्रीवादि से विशिष्ट पदार्थ को कहता है और यह कंबुग्रादि आकार से विकिष्ट घट पदार्थभी उक्त शब्द द्वारा ग्रवश्यमेव वाच्य होता है ( कहने में या जाता है ) तथा शब्द द्वारा पदार्थ में बार बार संकेत भी किया जाता है कि यह गोल ग्रीवादि ग्राकार वाला पदार्थ घट है इसको

## यथा मेर्वादयः सन्ति ॥१०१॥

इति ।

ननु चासौ सहजयोग्यताऽनिस्या, नित्या वा ? न तावदिनित्या; ग्रनवस्थाप्रसङ्घात्–येन हि प्रसिद्धसम्बन्धेन 'ग्रयम्' इत्यादिना शब्देनाप्रसिद्धसम्बन्धस्य घटादैः शब्दस्य सम्बन्धः कियते तस्याप्य-त्येन प्रसिद्धसम्बन्धेन सम्बन्धस्तस्याप्यन्येनेति । नित्यत्वे चास्याः सिद्धं नित्यसम्बन्धाच्छव्दानां वस्तु-प्रतिपत्तिहेतुत्वमिति सोमांसकाः; तेष्यतत्त्वज्ञाः; हस्तसंज्ञादिसम्बन्धवच्छव्दार्थसम्बन्धस्यानित्यत्वेष्यर्थ-प्रतिपत्तिहेतुत्वसम्भवात् । न खलु हस्तसंज्ञादीनां स्वार्थेन सम्बन्धो नित्यः, तेषामित्यत्वे तदाधित-सम्बन्धस्य नित्यत्वविरोधात् । न हि भित्तिव्यपाये तदाश्रितं चित्रं न व्यपंतीत्यभिन्नातुं शक्यम् ।

घट कहना, घट ऐसा होता है इत्यादि । इस प्रकार शब्द श्रीर श्रर्थ की सहज योग्यता श्रीर संकेत ग्रहण इन दो कारणों से शब्द द्वारा पदार्थ का बोध होता है ।

इस तरह शब्द की योग्यता के होने पर संकेत होता है स्रौर संकेत से शब्दादिक वस्तु के प्रतीति में हेतु हो जाते हैं।

यथा मेर्वादयः सन्ति ।। १०१।।

सूत्रार्थे— जैसे मेरुपर्वत ग्रादि पदार्थ हैं ऐसा कहते ही ग्रागमोक्त मेरुपर्वेत की प्रतीति हो जाया करती है।

मीमांसक — यह सहज योग्यता अनिस्य है या नित्य ? अनिस्य है ऐसा तो कह नहीं सकते क्योंकि अनवस्था दूषण आता है कैसे सो ही बताते हैं — प्रसिद्ध सम्बन्ध वाले "यह" इत्यादि शब्द द्वारा अप्रसिद्ध सम्बन्धभूत घट आदि शब्द का सम्बन्ध किया जायगा, पुनः उस शब्द का भी किसी अन्य प्रसिद्ध सम्बन्ध वाले शब्द द्वारा सम्बन्ध किया जाना और उसका भी अन्य द्वारा (क्योंकि योग्यता अनित्य होने से नष्ट हो जाती है और उसका पुनः प्रनः अन्य शब्द द्वारा सम्बद्ध करना पड़ता है) हां यदि इस सहज योग्यता को नित्य रूप स्वीकार करते हैं तो उस नित्य योग्यता का सम्बन्ध होने के कारण ही नित्य रूप शब्द पदार्थ का बोध कराने में हेतु होते हैं ऐसा स्वयमेव सिद्ध होता है ?

जैन—यह कथन असत् है, शब्द और धर्य का सम्बन्ध अनित्य होते हुए भी हस्त संज्ञा ग्रादि के सम्बन्ध के समान ये भी धर्य की प्रतिपत्ति कराने में हेतु होते हैं धर्यात् हस्त के इशारा से नेत्र के इशारा से जिस प्रकार अर्थ बोध होता है जो कि न बानित्यत्वेऽस्यार्थप्रतिपतिहेतुत्वं न दृष्टम्; प्रत्यक्षविरोधात् । एवं शब्दार्थसम्बन्धेप्येतद्वाज्यस्-सः हि न ताबदनाश्चितः; नभोवदनाश्चितस्य सम्बन्धत्वाऽसम्भवात् । माश्चितस्वेतिक तदाश्रयो नित्यः, म्रानित्यो वा ? नित्यस्वेत्; कोमं नित्यत्वेनाभिन्नेतत्दाश्चयो नाम ? जातिः, व्यक्तिवा ? न ताबज्जातिः; तस्याः शब्दार्थत्वे प्रवृत्याद्यभावप्रतिपादनात्, निराकिरध्यमाण्त्वाज्य । व्यक्तेस्तु तदाश्चयत्वे कयं नित्यत्वमनम्युपगमात्त्वाप्रतीत्यभावाज्य । म्रनित्यत्वे च तदाश्चयत्वस्य सिद्धं तद्वचपाये सम्बन्धस्या-नित्यत्वं भित्तव्यपाये चित्रवत् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—

स्रिनित्य है उसी प्रकार शब्द श्रीर श्रर्थ का सम्बन्ध ग्रनित्य होते हुए भी उसके द्वारा अर्थ बोध होता है। हस्त संजा (हाथ का इशारा) ग्रादि का ग्रपने श्रर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्यों कि स्वयं हस्तादि ही ग्रनित्य हैं तो उनके आश्रय से होने वाला सम्बन्ध नित्य रूप किस प्रकार हो सकता है? भित्ति के नष्ट होने पर उसके ग्राधित रहने वाला चित्र नष्ट नहीं होता ऐसा कहना तो ग्रशक्य ही है। ग्राधित यह है कि स्वयं हस्त संजादि ग्रनित्य है ग्रतः उसका अर्थ सम्बन्ध भी नष्ट होने वाला है जैसे कि भित्ति नष्ट होती है तो उसका चित्र भी नष्ट होता है।

हस्त संज्ञा श्रादि अनित्य होने पर भी उससे ग्रर्थ बोध नहीं होता हो सो ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि ऐसा कहना प्रत्यक्ष से विरुद्ध पड़ता है—हम प्रत्यक्ष से देखते हैं हस्तादि के इशारे अनित्य रहते हैं तो भी उनसे अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। इसी हस्त संज्ञाका न्याय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में लगाना चाहिए, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनाश्रित तो हो नहीं सकता क्योंकि आकाश के समान अनाश्रित वस्तुका सम्बन्ध होना असंभव है। अब यदि यह शब्दार्थ सम्बन्ध आश्रित है तो प्रश्न होगा कि उसका आश्रिय नित्य है या अनित्य है? शब्दार्थ सम्बन्ध का आश्रय नित्य है ऐसा कहे तो नित्यक्ष से अभिप्रंत ऐसा यह शब्दार्थ सम्बन्ध का आश्रय कौन हो सकता है जाति (सामान्य) या व्यक्ति ? विशेष) वह आश्रय जातिक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ में जाति की प्रवृत्ति आदि नही होती ऐसा पहले सिद्ध हो चुका है तथा आगे चीथे परिच्छेद में (तृतीय भाग में) इम जाति अर्थात् सामान्य का निराकरण भी करने वाले हैं। शब्दार्थ के सम्बन्ध का प्राथय व्यक्ति है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो उस सम्बन्ध को नित्यक्ष किस प्रकार कह सकते हैं? क्योंकि आपने व्यक्ति को (विशेष को) नित्य माना ही नहीं और न नित्यक्ष से उसकी प्रतीति ही

"निस्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः । सूत्रागां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृशिः ॥"

[ वाक्यपदी० १।२३ ] इति;

सश्चापरिणामविशिष्टस्यार्थस्य शब्दस्य तदाश्रितसम्बन्धस्य चैकान्ततो नित्यत्व।सम्भवात् । सर्वया नित्यस्य वस्तुनः कमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासम्भवतोऽक्तर्यं चाऽस्वविवाण्यवत् । अनवस्थादूषस्यं चायुक्तमेवः 'श्रयस्' इत्यादेः शब्दस्यानादिपरम्परातोऽर्थमात्रे प्रसिद्धसम्बन्धस्यात्, तेनावगतसम्बन्धस्य घटादिशब्दस्य सकेतकरणात् ।

होती है। व्यक्ति ग्रनित्य ही है अतः उसके ग्राश्रित रहने वाला उक्त सम्बन्ध भी ग्रनित्य सिद्ध होता है जैसे कि भित्ति के ग्रनित्य होने से तदाश्रित चित्र भी ग्रनित्य होता है। इस प्रकार शब्दार्थ सम्बन्ध अनित्य है ऐसा निश्चय हुया। इसलिये परवादी का निम्न कथन ग्रसत् होता है कि — महर्षियों ने शब्द और अर्थों के सम्बन्ध नित्यरूप स्वीकार किये हैं तथा मूत्र प्रमुतंत्र एवं भाष्यों का प्रणयन करने वाले पुरुषों ने भी शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है।।१।।

तथा सहश परिएगाम से विशिष्ट ऐसा अर्थ और शब्द के एवं उसके श्राक्षित रहने वाले सम्बन्ध के सर्वथा नित्यपना होना असंभव ही है। क्योंकि सर्वथा नित्य वस्तु में कम से अथवा युगपत् अर्थिकिया का होना अशक्य है और अर्थिकिया के अभाव में उस वस्तु का असस्व ही हो जाता है, जैसे अश्वविषाएं में अर्थिकिया न होने से उसका असस्व है। गब्दार्थ सम्बन्ध को अनित्य माने तो अनवस्था दोष आता है ऐसा मीमांसक का कहना तो अयुक्त ही है, क्योंकि "अयम्" यह इत्यादि शब्दका अर्थमात्र में सम्बन्ध अनादि प्रवाह से चला आ रहा है, उस प्रसिद्ध सम्बन्ध द्वारा जिसका सम्बन्ध जात हुआ है ऐसे घट आदि शब्द में संकेत किया जाता है। अतः अनवस्था नहीं होती।

तथा शब्दार्थ में नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले ग्राप मीमांसकादि प्रवादी के यहां भी उक्त अनवस्था दोष समान रूप से संभावित है, कैसे सो बताते हैं — शब्द को नित्य मानते हुए भी एवं शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हुए आपने उसके ग्राभिज्यक्त और अनभिज्यक्त भेद किये हैं अतः अनभिज्यक्त सम्बन्ध वाले शब्द का

नित्यसम्बन्धवादिनोपि चानवस्थादोषस्तुत्य एव-प्रतमित्यक्तसम्बन्धस्य हि शब्दस्याभिव्यक्त-सम्बन्धेन शब्देन सम्बन्धाभिव्यक्तिः कर्तव्या, तस्याप्यन्येनाभिव्यक्तसम्बन्धेनेति । यदि पुनः कस्यचित्स्वत एव सम्बन्धाभिव्यक्तिः; अपरस्यापि सा तथैवास्तीति संकेतक्रिया व्यथा । शब्दविभागास्युपगमे चालं सम्बन्धस्य नित्यस्वकत्पनया । कत्पने चाऽगृहीतसंकेतस्याप्यतोऽर्यप्रतिपत्तिः स्यात् । संकेतस्तस्य व्यक्तः; इत्यप्ययुक्तम्; नित्यस्य व्यगयस्वायोगात् । नित्यं हि वस्तु यदि व्यक्तं व्यक्तमेव, प्रयाव्यक्त-मप्यव्यक्तमेव, प्रभिन्नस्वभावत्वात्तस्य । शब्दाभिव्यक्तिपक्षानिक्षित्तदोषानुषगञ्चात्रापि तृत्य एव ।

जिसकी श्रीभव्यक्ति हो चुकी है ऐसे शब्द के द्वारा सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करनी होगी श्रीर उस पूर्व शब्द का भी किसी अन्य अभिव्यक्त सम्बन्ध वाले शब्द द्वारा संबंधाभिव्यक्त करना होगा। इस श्रनवस्था को दूर करने के लिये किसी एक शब्द की संबंधाभिव्यक्ति स्वतः ही होती है ऐसा मानते हैं तो दूसरे शब्द की सम्बन्धाभिव्यक्ति भी स्वतः हो सकती है इसलिये फिर उसमें संकेत करना व्यर्थ ही हो जाता है श्रथात् शब्दार्थ का सम्बन्ध स्वतः ही श्रभिव्यक्त होता है तो उसके लिये वृद्ध पुरुषादि के द्वारा "यह घट है" इत्यादि रूप से बार बार संकेत क्यों किया जाता है ? इस संकेत क्रिया से ही स्पष्ट होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध स्वतः श्रभिव्यक्त नहीं होता । यदि शब्दों में विभाग स्वीकार किया जाय कि "श्रयम्" इत्यादि शब्द प्रभिव्यक्त सम्बन्ध वाला है श्रीर "घटः" इत्यादि शब्द अनभिव्यक्त सम्बन्ध वाला है तो फिर सम्बन्ध को नित्य मानने की कल्पना ही व्यर्थ है। उस सम्बन्ध को यदि नित्य मानने का हटाग्रह हो तो संकेत ग्रहण के बिना भी शब्द से श्रथंकी प्रतीति होती है ऐसा मीमांसक को स्वीकार करना होगा।

मीमांसक—नित्य शब्द के सम्बन्ध को संकेत द्वारा व्यक्त किया जाता है अर्थात् संकेत उसका व्यंजक माना गया है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, नित्य वस्तु व्यक्त करने योग्य नहीं होती, क्योंकि नित्य वस्तु यदि व्यक्त है तो सदा व्यक्त ही रहेगी ग्रीर ग्रव्यक्त है तो सदा अव्यक्त ही रहेगी, इसका भी कारण यह है कि नित्य वस्तु सदा एक अभिन्न स्वभाववाली होतो है। तथा संकेत द्वारा सम्बन्ध की ग्राभिव्यक्ति मानने के इस पक्ष में पहले के शब्दाभि-व्यक्तिके पक्षमें दिये गये दूषण भी समान रूप से ग्राप्त होते हैं। किंच, संकेतः पुरुषाश्रयः स चातीन्द्रयार्थज्ञानविकलतयान्यथापि वेदे संकेतं कुर्यादिति कथं न मिष्यारवलक्षरामस्यात्रामाण्यम् ?

र्किच, असौ नित्यसम्बन्धवद्यावेकार्धनियतः, अनेकार्धनियतो वा स्यात् ? एकार्धनियतद्येक्ति-मेकदेवेन. सर्वात्मना वा ? सर्वात्मनैकार्धनियमे अर्थान्तरे वेदाश्त्रतिपत्तिनं स्वात्, ततद्याम्याज्ञान-लक्षणमप्रामाण्यम् । एकदेवेन चेत्; स किमेकदेशोऽप्रिमतंकार्धनियतः, धनिभमतेकार्धनियतो वा ? भनिभमतेकार्धनियतद्येत्; कथं न भिष्यास्वलक्षणमप्रामाण्यम् ? अभिमतेकार्धनियतद्येक्तिं पुरुषात्, स्वभावाद्वा ? प्रथमपक्षे अपौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासी व्यवः । पुरुषो हि रागाखन्थस्वात्प्रतिक्षित्यते,

िंकच, संकेत पुरुष के झाश्रित होता है और पुरुष अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित होते हैं अतः ऐसे पुरुष द्वारा वेद में स्थित शब्दोंका विपरीत अर्थ में भी संकेत किया जाना संभावित होने से इस वेदवाक्य में मिथ्यापन रूप अप्रामाण्य कैसे नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।

तथा यह संकेत नित्य सम्बन्ध के वश से एक ग्रर्थ में नियत है अथवा अनेक अर्थों में नियत है ? एक अर्थ में ही नियत है ऐसा कहे तो एक देश से नियत है अथवा सर्वात्मना-सर्वस्वरूप से नियत है ऐसी आशंका होती है ? यदि एक अर्थ में सर्व स्वरूप से संकेत का होना स्वीकार करते हैं तो वेद से अन्य अर्थ में प्रतीति नहीं हो सकेगी और इस तरह अर्थांतर में इस वेद को अज्ञानरूप अप्रामाणिक ही माना जायगा। नियत एक अर्थ में एक देश से संकेत होता है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो वह एक देश से होने वाला संकेत भी अभिमत एक ग्रर्थ नियत है ( ग्रर्थात ग्रपने को इष्ट ऐसे एक अर्थ में नियत है ) अथवा अनिभमत ( अनिष्ट ) एकार्थ नियत है ? यदि भ्रनभिमत एकार्थ नियत है ऐसा मानेंगे तो वेद में मिथ्यापना रूप अप्रामाण्य का प्रसंग प्राप्त होता है अर्थात स्वयं मीमांसक को अनिष्ट ऐसे धर्य में एकदेशरूप संकेत होने से वेद में विपर्यासरूप अप्रमाणता सिद्ध होती है। क्योंकि अनिभमत एकार्य में संकेत किया जाता है ऐसा मान लिया। दुसरा विकल्प-संकेत अभिमत एकार्थ नियत होता है ऐसा माने तो वह भी किस कारण से होता है पूरुष से होता है ग्रथवा स्वभाव से होता है ? पुरुष से होता है ऐसा कहो तो वेद को ग्रापीरुषेय सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि मीमांसक सभी पूरुषों का सर्वदा राग द्वेषादि दोषयुक्त मानकर उनका निराकरण करते हैं। यदि रागादिमान पुरुष से वेद के एकदेश से होने वाला अर्थ का नियम जाना जाता है तो वेद को अपौरुषेय मानने से क्या प्रयोजन सधता है ? कुछ

तस्माच्नेद्व देकदेशोऽर्थनियमं प्रतिपत्तते, किमपील्येयत्वेत ? प्रतेकार्थनियमं च किरुद्धोःप्यमः सम्मवेत्, तथा चास्य मिथ्यात्वम् ।

किंच, ग्रसी सम्बन्ध ऐन्द्रियः, ग्रतीन्द्रियः, श्रनुमानगम्योः वा स्थात् ? न तावदेन्द्रियः, स्वेनिद्रये स्वेन रूपेराप्रतिभासमानत्वात् । ग्रतीन्द्रियस्वेतः, कथं प्रतिपन्त्यंगं ज्ञापकस्य निश्चयापेक्षसात् ? सिश्चिमात्रेस्य ज्ञापनेऽतिप्रसंगात ।

धनुमानगम्यरुचेत्; न; लिगाभावात्। तस्य हि लिगं ज्ञानम्, प्रर्थः, शब्दो वा ? न तावज्ज्ञानम्; सम्बन्धासिद्धौ तत्कार्यरुवेनास्याऽनिश्चयात् । नाप्यर्थः; तस्य तेन सम्बन्धासिद्धेः। च हि सम्बन्धार्य-

भी नहीं। श्रयति वेद को अपौर्षय इसिलये मानते हैं कि रागादियुक्त पुरुष वेद की रचना को प्रामाणिक रूप नहीं कर सकते किन्तु जब रागादियुक्त पुरुष वेद वाक्य का अभीमत एक निश्चित अर्थ कर सकते हैं तब उस वेद को अपौर्षय मानने का कुछ प्रयोजन नहीं रहता है। संकेत अनेक अर्थों में नियत है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो वेद वाक्य का विरुद्ध अर्थ होना भी संभव है और विरुद्ध अर्थ संभावित होने से वेद में मिथ्यापनारूप अप्रमाएगता आ जाती है।

तथा यह शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा गम्य है अथवा अतीन्द्रिय है या कि अनुमानगम्य है १ इन्द्रियगम्य तो हो नहीं सकता क्योंकि अपने इन्द्रियों द्वारा (कर्ण तथा नेत्र ) असाधारण रूप से शब्दार्थ सम्बन्ध प्रतिभासित नहीं होता है ( इसका भी कारण यह है कि बाच्य बाचक का सामर्थ्य अतीन्द्रिय होता है ) शब्दार्थ सम्बन्ध अतीन्द्रिय है ऐसा कहे तो वह सम्बन्ध प्रतीनिका निमन्त कंसे हो सकता है ? क्योंकि जाएक अर्थान् प्रतीतिका हेतु नहीं हो सकता जो निश्चय रूप हो। सन्निधान होने मात्र से किसी को जापक माना जाय तो अतिप्रसंग होगा।

श्रवदार्थं का निस्य सम्बन्ध अनुमानगम्य होता है ऐसा कहे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि हेतुका अभाक है, हेतु के बिना अमुमान की प्रवृत्ति नहीं होती, यहां नित्य सम्बन्ध को जानने के लिये हेतु जानको बनावे या प्रथंको ग्रथवा शब्दको श जानको तो बना नहीं सकते क्योंकि सम्बन्ध ही प्रसिद्ध है तो उसके कार्य रूप इस जानका निक्चय कैसे होवे ? अभिप्राय यह है परवादी जानको पदार्थ का कार्य मानते हैं सो सम्बन्ध रूप पदार्थ के असिद्ध रहने पर उसका कार्य रूप जान भी अनिक्चय स्वरूप ही होगा। सम्बन्ध को जात करने के लिये अर्थको हेतु बनाते हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि

योस्तादारम्यम्; सम्बन्धस्यानित्यत्वानुषंगात् । नापि ततुत्पत्तिः; ग्रनम्युपगमात् । ग्रसम्बद्धरुवार्थः कथं सम्बन्धं ज्ञापयत्यतिप्रसंगात् ? ज्ञापने वा शब्दा एवं सम्बन्धविकताः किमर्थं न ज्ञापयन्त्यत्वं सिद्धोप-स्थापिना नित्यसम्बन्धेन ? तत्रार्थोपि लिगम् । नापि शब्दः; ग्रयंपक्षोक्तदोषानुषंगात् । ततो नित्य-सम्बन्धस्य प्रमालतोऽप्रसिद्धे नं तद्वशाद्धं दोऽयंप्रतिपादकः ।

ग्रय स्वभावादेवासौ तत्प्रतिपादकः; तम्न; 'श्रयमेवास्माकमर्थो नायम्' इति वेदेनानुक्तेः । तदुक्तम्—

> "ग्रयमर्थो नायमर्थं इति शब्दा वदन्ति न । कल्प्योयमर्थः पुरुषेश्ते च रागादिविप्लुताः ॥१॥"

> > [प्रमाणवा० ३।३१२]

अर्थका शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध के साथ सम्बन्ध होना ग्रसिढ है कैसे सो बताते हैं—
सम्बन्ध और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध तो होता नहीं, यदि इनमें तादात्म्य माना
जायगा तो अर्थके समान सम्बन्ध को भी ग्रनित्य मानना पड़ेगा। सम्बन्ध भीर ग्रथंमें
तदुत्पत्ति सम्बन्ध होना तो ग्रशक्य है क्योंकि ऐसा परवादी ने माना नहीं। और शब्दार्थ
नित्य सम्बन्ध के साथ जब तक अर्थ सम्बद्ध नहीं होता तब तक वह ग्रथं उक्त सम्बन्ध
को किस प्रकार बतला सकता है १ अर्थात् नहीं बतला सकता ग्रन्यथा ग्रतिप्रसंग होगा।
ग्रथवा यदि ग्रसम्बद्ध ग्रथं द्वारा नित्य सम्बद्ध ज्ञापित भी होवे तो भी कुछ लाभ नहीं,
इस तग्ह तो सम्बन्ध रहित केवल शब्द ही ग्रथंका जापन क्यों नहीं कर लेवे १ अर्थात्
नित्य सम्बन्ध के बिना भी शब्द ग्रपने वाच्यार्थ को कहने में समर्थ है ग्रतः इस सिद्ध
उपस्थायी (सब कार्य हो चुकने पर उपस्थित होने वाले) नित्य सम्बन्ध को परिकत्यना
से अब बस हो। उससे क्या प्रयोजन है १ इस प्रकार नित्य सम्बन्ध का हेतु ग्रथं है
ऐसा द्वितीय पक्ष गलत सिद्ध हुग्ना। शब्दको हेतु मानना भी ग्रयुक्त है इस पक्ष में भी
ग्रथं पक्ष में दिये हुए दोष आते हैं। इसलिये नित्य सम्बन्ध प्रमाण द्वारा ग्रसिद्ध होने
से उसके द्वारा वेद ग्रथंका प्रतिपादक होता है ऐसा कहना ग्रसिद्ध होता है।

मीमांसक - वेदवाक्य स्वभाव से ही अर्थ के प्रतिपादक हुआ करते हैं ?

जैन – यह कघन भ्रसत् है ''हमारे वाक्यों का यही अर्थ है, यह मर्थ नहीं है'' ऐसा वेद द्वारा कहा नहीं जाता है। जैसा कि ग्रन्थांतर में वतलाया है कि –– शब्द श्राप इति । ततो लौकिको वैदिको वा शब्दः सहज्रयोग्यतासकैतवशादेवार्यश्रतिशादकोऽस्युपगन्तव्यः प्रकारान्तरासम्भवात ।

स्वयं नहीं कहते हैं कि यह ग्रथं है, इसका यह ग्रथं नहीं होता इत्यादि, ऐसा ग्रथं तो पुरुषों द्वारा किया जाता है भीर वे पुरुष रागादि ग्रुक्त ही होते हैं।।१।। इस कारिका से निष्कित होता है कि शब्द अपने अर्थको नही बतलाते हैं। इसलिये यह निष्कित निकलता है कि लौकिक शब्द हो बोहे बैदिक शब्द हो दोनों ही सहज योग्यता ग्रीर संकेत होने के कारण ही ग्रथंक प्रतिपादक हुआ करते हैं। ग्रथं प्रतिपत्ति के लिये ग्रन्य कोई प्रकार नहीं पाया जाता।

विशेषार्थ - शब्द द्वारा घटादि पदार्थ का ज्ञान किस कारण से होता है इस विषय में विवाद है मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और उस नित्य शब्द का स्वदाच्य के साथ नित्य सम्बन्ध भी मानते हैं किन्तू यह मान्यता ग्रसमीचीन है, क्योंकि शब्द भीर अर्थका सम्बन्ध यदि नित्य है तो एक शब्द एक ही अर्थका वाचक हो सकेगा तथा हमेशा उसी एक अर्थको ही बतायेगा किन्तु ऐसा नहीं होता । तथा शब्द नित्य न होकर म्रनित्य होता है ऐसा अभी शब्द नित्यवाद का निराकरण करते हुए निश्चय कर आये हैं। मीमांसक की इस विषय में शंका है कि यदि शब्द और अर्थका सम्बन्ध ग्रनित्य मानते हैं उसमें संकेत किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि जैन शब्द को ग्रनित्य मानते हैं ग्रतः जिस शब्द में संकेत हुआ वह तो नष्ट हो चकता है तथा जिस शब्दका श्चर्यके साथ सम्बन्ध होता है वह भी नष्ट हो जाता है तब इस घट शब्द का यह वाच्य है इत्यादि रूप से संकेत कैसे होवे ? ग्राचार्य ने इसका समाधान किया है कि शब्द अनित्य है किन्तु तब सदश अन्य शब्द उत्पन्न होता रहता है उसमें संकेत होता है, अमुक शब्दका ग्रमुक ग्रर्थ होता है इत्यादि रूप से वाच्य-वाचक सम्बन्ध ग्रीर उसमें संकेत होना ये सब परंपरागत चले ग्राते हैं, गुरु से शिष्य को, माता पिता से बालक को संकेत होता रहता है, यह संकेत परंपरा गंगा प्रवाह के समान चली क्या रही है अर्थात गंगा की घारा वही नहीं रहती अपितु प्रतिक्षण नयी नयी बहती चलती है। इसी प्रकार शब्द भीर मर्थका सम्बन्ध तथा उनमें होने वाला संकेत नित्य बना नहीं रहता किन्तु गुरु शिष्यादि की परंपरा से चला आ रहा है। यहां तो शब्द और ग्रर्थ के सम्बन्ध का विषय है अतः उनके लिये प्रतिपादन किया है ऐसे ही शब्द तथा पदार्थ भी कथंचित नित्य और कथंचित अनित्य होते हैं, स्याद्वाद द्वारा यह सब घटित हो सकता है। किंतु मीमांसक, बौद्ध आदि परवादी के यहां प्रत्येक वस्तु को एक धर्मात्मक माना जाता है अतः कुछ भी सिद्ध नहीं होता, राब्द को नित्य मानकर मीमांसक चाहे जितना विवाद करे और बौद्ध प्रनित्य का पक्ष लेकर फैराड़ा करें किंन्तु सार नहीं निकलता, इनकी अच्छी युक्तियां भी एकांत के कारण सदोष हो जाती हैं अतः शब्द और अर्थके संबंध को प्रनित्य मानना होगा और अर्थके संबंध को प्रनित्य मानना होगा अर्थके संबंध को प्रनित्य मानना होगा और अपनित्य होते हुए भी अनादि प्रवाह रूप मानना होगा । इस प्रकार शब्द में सहज स्वाभाविक वाचक शक्ति है और अर्थ में वाच्य शक्ति है अतः घट आदि शब्द हारा घट पदार्थ का ज्ञान होता है ऐसा मानना चाहिये, तथा शब्द हारा घर्य बोध होने में संकेत भी कारण है ऐसा निर्वाध सिद्ध हुआ।

॥ समाप्त ॥



ननु चार्थप्रतिपादकस्वमेषामसम्भाज्यम्, य एव हि शब्दाः सरययं इण्टास्ते एवातीतानागतादौ तदभावेषि दरयन्ते । यदभावे च यद्दृष्टयते न तत्तत्प्रतिबद्धम् यथाऽरवाऽभावेषि दरयमानो गौनं तत्प्रति-बद्धः, प्रथमिावेषि दरयन्ते च शब्दाः, तन्नैतेऽर्यप्रतिपादकाः, किन्स्वन्यापोहमात्राभिधायकाः । तदप्य-विचारितरमणौयम्; ग्रर्थवतः शब्दान्तद्रहितस्यास्यान्यस्वात् । न चान्यस्य व्यभिचारेऽज्यस्याप्यसौ

बौद्ध — जैन शब्द में सहज योग्यता ग्रादि के होने के कारण अर्थ की प्रतीति होना सिद्ध करते हैं अर्थात् शब्द अर्थका प्रतिपादन करते हैं ऐसा इनका कहना है किंतु शब्द द्वारा अर्थका प्रतिपादन होना असंभव है, नयों कि जो शब्द विद्यमान धर्थ में देखे गये हैं वे ही ग्रतीत अनागत काल में अर्थ के नहीं होने पर भी देखे जाते हैं ? जिसके नहीं होने पर जो दिखायी देता है वह उसके साथ सम्बद्ध (अविनाभावी) नहीं होता, जैसे अथव के नहीं होने पर गो दिखायी देने से वह उसके साथ सम्बद्ध नहीं मानी जाती, पदार्थ के ग्रभाव में भी शब्दों की उपलब्धि होती ही है ग्रतः ये अर्थों के प्रतिपादक नहीं हो सकते, शब्द तो केवल अन्यापोह के प्रभिद्यायक (प्रतिपादक) होते हैं। अर्थात् गब्द द्वारा अन्य अर्थ का व्यावत्तं न मात्र होता है न कि विवक्षित अर्थ की प्रतिपाद । अ्रपोहयते अन्याय्यं येनासी अन्यापोहः शब्द इति । ऐसा अन्यापोह का निश्कित अर्थ है अर्थात् गो ग्रादि शब्द गो अर्थ के वाचक न होकर केवल अथवादि अर्थ के व्यावत्तं हैं।

जैन — यह कथन अविचारपूर्ण है, अर्थ के सद्भाव में होने वाले शब्दों से अर्थाभाव में होने वाले शब्द भिन्न हैं, अर्थाभाव में होने वाले शब्दों का व्यभिचार अर्थ युक्तः, अन्यया गोपालघटिकादिधूमस्यानिन्धभिचारोपलभ्कात्पर्वतिविश्वेशवर्गिनोपिः सं स्याव्, तथा च कायहेतवे दत्तो जलाञ्जलिः । सकल्लभून्यता चं, स्वप्नादिप्रत्ययानां विश्वविद्विभ्रमोपलम्भतो निव्वित-प्रत्ययानां तत्प्रसङ्कात् । 'यत्नतः परीक्षितं कार्यं कार्या नातिवर्रति ' इत्यन्यवापि समानम्—प्यन्ततो हि शब्दोष्यं स्वतरस्यभावतया परीक्षितोर्यं न व्यभिचरति ' इति । तथा चान्यापोहमात्राभिधायित्यं शब्दानां श्रद्धामावगम्यम् ।

किंच, ग्रन्यापोहमात्राभिधायित्वे प्रतीतिविरोध:-गवादिशब्दैस्यो विश्वरूपावसायेन प्रस्यय-प्रतीते:। ग्रन्यनिषेधमात्राभिधायित्वे च तत्रैव चित्तार्थस्वास्सास्तादिमनोर्थस्यास्त्रेऽप्रसीते: तद्विषयाया

के सद्भाव में होने वाले शब्दों में लगाना ठीक नहीं यदि इस तरह अन्य का व्यभिचार दोष अन्य में लगायेंगे तो गोपालघटिका झादि में होने वाला धूम प्रग्नि से व्यभिचरित होता हुआ देखकर उस व्यभिचार को पर्वतादि प्रदेशस्य धूम में भी लगाना चाहिए ? और इस प्रकार धूमादि हेतु व्यभिचार युक्त मानने पर कार्य हेतु के लिये जलांजिल ही दी जायगी, अर्थात् कार्य हेतु की मान्यता ही नष्ट हो जायगी। दूसरा दोष सकल भून्यता का आयेगा, अर्थात् अन्य का व्यभिचार किसी अन्य में लगाते हैं तो स्वप्नादि में होने वाला अर्थ प्रतिभास भ्रांत हुआ देखकर सभी प्रतिभासों को भ्रांत मानना होगा ? क्योंकि अन्य का दोष अन्य में लगा सकते हैं ? और इस तरह सभी प्रतिभास (ज्ञान) भ्रांत हैं तो इनके विषयभूत पदार्थ भी भ्रांत (काल्पनिक) कहलायेंगे।

बौद्ध — यह प्रसंग नहीं आता क्योंकि यत्न से परीक्षा किया हुआ कार्य कारण के साथ व्यभिचारित नहीं होता अर्थात् पर्वतादि का धूम रूप कार्य अपने अग्नि रूप कारण के साथ व्यभिचरित नहीं होता अतः सब कार्य हेतु सदीष होना या सकल भून्यता आना इत्यादि दोष नहीं आते।

जैन – ठीक है, यही बात मन्द के विषय में है, कोई कोई शब्द अर्थ के विद्यमान नहीं होते हुए उपलब्ध होने पर भी अन्य शब्द तो ऐसे नहीं है अर्थात् यत्न से परीक्षा करने पर निर्णात होता है कि अमुक शब्द अर्थवान् है और अमुक शब्द नहीं इस प्रकार परीक्षित हुआ शब्द कभी भी व्यभिचरित नहीं होता । अतः शब्द केवल अन्यापोह के अभिषायक है ऐसा कहना अद्धा मात्र है।

गवादिबुद्धे जंनकोन्यो ब्वनिरत्नेषणीयः। प्रयेकेनंव गोशब्देन बुद्धिवस्योत्पादाल परो ब्वनिष्टृंग्याः, नः एकस्य विधिकारिणो निषेषकारिणो वा ब्वनेयुं गपिद्धज्ञानवयलक्षरणकलानुपनम्भात्। विधिनिषेष-ज्ञानयोद्यनात्र्योत्यं विरोधात् कथमेकस्मात्सम्भवः ?

यदि च गोशब्देनागोशब्दनिवृत्तिर्भुष्यतः प्रतिपद्यते; तिह् गोशब्दश्रवणानन्तरं प्रवस्तरम् 'भ्रमौ:' इत्येषा श्रोतुः प्रतिपत्तिर्भवेत् । न चैवम्, भ्रतो गोबुढधनुत्पत्तिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

शब्द केवल अन्यापोह के वाचक ही है ऐसा मानना प्रतीति विरुद्ध भी है, क्यों कि गो आदि शब्दों से अस्तित्वरूप निश्चय द्वारा सास्नादिमान पदार्थों की प्रतीति हो रही है फिर कैंसे कह सकते हैं कि शब्द केवल अन्यापोह का वाचक है? यदि गो आदि शब्द अन्य का निषेध मात्र करते तो उसी अर्थ में शब्द का कर्त्तव्य समाप्त हो जाने से सास्नादिमान गो पदार्थ उससे प्रतिभासित नहीं हो सकेगा अतः उस गो आदि विषय को करने वाला गो शादि के ज्ञानका जनक कोई अन्य शब्द ही खोजना पड़ेगा ! अर्थात् गो शब्द ने केवल अन्य अर्थ जो अश्वादि है उसका निषेध किया है सास्नायुक्त गो पदार्थ को नहीं कहा है उस सास्नायुक्त पदार्थ को कहने वाला कोई दूसरा शब्द ही चाहिये।

बौद्ध—एक ही गो शब्द से दोनों ज्ञान (ग्रन्य का अपोह सम्बन्धी ग्रीर सास्नायुक्त गो सम्बन्धी ) उत्पन्न किये जाते हैं अतः अन्य शब्द नहीं खोजना पडता ?

जैन—ऐसा शक्य नहीं। विधिकारक या निषेधकारक एक ध्विन या शब्द द्वारा एक साथ दो ज्ञान उत्पन्न करना रूप फल उपलब्ध नहीं होता है। तथा विधि रूप ज्ञान (गो है इत्यादि) और निषेध रूप ज्ञान (अश्वादि नहीं है) ये परस्पर में विरोध रूप है इन दोनों का एक शब्द से प्रादुर्भाव होना किस प्रकार संभव है? प्रथात् संभव नहीं है।

तथा यदि गो शब्द द्वारा मुख्य रूप से अगोशब्द की निवृत्ति होना ही मानते हैं तो गो शब्द को सुनते ही सबसे पहले ''अगो'' इस प्रकार का सुनने वाले को ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता । यदि ऐसा होता तो गो का ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता । बौद के तत्त्वसंग्रह ग्रंथ में भी पूर्वपक्ष रूप से यही बात कही है—तुम बौद के मत में शब्द द्वारा होने वाले के मत में शब्द को अन्यापोह का वाचक माना जाता है किन्तु शब्द द्वारा होने वाले

"नन्वन्यापोहङ्ग च्छान्यो बुष्मत्पक्षेत्रनुविशितः। निवेषमात्रं नैवेहं प्रतिमासेऽवगम्यते।।१॥ किन्तु गौगंवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशव्दतः। विधिक्षावसायेन मतिः शाब्दी प्रवर्तते।।२॥"

[तत्त्वसं० का० ६१०-११ पूर्वपक्षे ]

"यदि गौरित्ययं शब्द: समर्थोन्यनिवर्तने । जनको गवि गोबुद्धि(द्धे) मृंग्यतामपरी व्यनिः ॥३॥ ननु ज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलइयम् । अपवादिविधज्ञानं फलमेकस्य वः कथम् ॥४॥ प्रागगौरिति विज्ञानं गोशब्दश्यविशो भवेत् । येनाउगोः प्रतिपेधाय प्रवत्तो गौरिति ब्वनिः ॥॥॥

[ मामहालं ० ६।१७-१६ ]

ज्ञान में अन्यापोहरूप निषेध मात्र प्रतिभासित नहीं होता अपितु गो शब्द से नो का अस्तित्वरूप प्रतिभास ही होता है एवं गवय, हाथी, बुझ इत्यादि शब्द से अस्तित्वरूप अर्थ ही प्रनीत होता है न कि अन्यापोह रूप ।।१-२।। भामह विरिचित काव्या-लंकार नामा प्रथ में भी इसी तरह कहा है—यदि "गोः" इस प्रकार का शब्द केवल अन्य अथ्वादिकी निवृत्ति करने में समर्थ है तो गो पदार्थ में गो का ज्ञान कराने वाला कोई अन्य शब्द को लाव होगा ।।३।। बौढ कहे कि अन्य शब्द की लोब करना पड़े तो पड़ने दो शि सो भी बात नहीं क्योंकि शब्द ज्ञान रूप फलको उत्पन्न करने वाले माने हैं। किन्तु यह बात भी नहीं है कि वे विधि और निषेध रूप दो ज्ञानों को उत्पन्न कर सकते हों। अतः आप बौढ के यहां एक हो गो शब्द से अन्यापोह और अस्तित्व रूप दो ज्ञान उत्पन्न कर सकते हों। अतः आप बौढ के यहां एक हो गो शब्द से अन्यापोह और अस्तित्व रूप दो ज्ञान उत्पन्न कर सकते हों। किन्तु होना किस प्रकार स्वीकार किया है ?।।४।। यदि शब्द अन्यापोह के बाचक है तो गो शब्द को मुनने वाले पुरुष को पहले "अगीः" इस प्रकार का ज्ञान होना था ? किन्तु होता तो नहीं। फिर आगे का प्रतिषेध करने के लिये गो शब्द प्रवृत्त होता है ऐसा किस प्रकार माना लाय अर्थात् नहीं मान सकते।।॥।

िकच, प्रपोहलक्षर्णं सामान्यं वाच्यत्वेनाभिषीयमानं पर्यु दासलक्षर्णं चाभिष्ठीयेत, प्रसज्यलक्षर्ण् वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यतायदेव ह्यगोनिवृत्तिलक्षर्णं सामान्यं गोशब्देनोच्यते भवतातदेवास्माभिर्गो-स्वास्यं भावलक्षर्णं सामान्यं गोशब्दवाच्यमित्यभिषीयेत. ब्रभावस्य भावान्तरात्मकत्वेन व्यवस्थित-स्वात ।

करवायं भवतामस्वादिनिवृत्तिस्वभावो भावोऽभिभ्रोतः ? न तावदसाधाररणो गवादिस्व-सक्षणारमा; तस्य सकलविकल्पगोचरातिकान्तरवात् । नापि द्यावलेयादिव्यक्तिविद्येष ; श्रसामान्य-प्रसंगतः । यदि गोशन्दः शावलेयादिवाचकः स्यात्तिह् तस्यानन्वयाल स सामान्यविषयः स्यात्। तस्मास्सर्वेषु सजातीयेषु शावलेयादिपिण्डेषु यस्प्रस्येकं परिसमाप्तं तन्निवन्धना गोबुद्धिः, तच्च गोरवा-स्यमेव सामान्यम् । तस्याजोऽजोङ्गवन्देनाभिधानान्नाममात्रं भिष्यतः। उक्तज्य—

किंच, बौद्ध मत में शब्द का वाच्य अपोह सामान्य माना है सो वह अपोह पर्युदास लक्षण वाला है या प्रसज्य लक्षण वाला है ? प्रथम पक्ष में सिद्ध साध्यता है (सिद्ध को ही सिद्ध करना है) क्योंकि जिसको ग्राप अगो निवृत्तिरूप सामान्य गो शब्द द्वारा वाच्य होना मानते हैं उसी को हम जैन गोत्व नामध्रेय सद्भावरूप सामान्य गो शब्द द्वारा वाच्य होना मानते हैं अर्थात् आप उस सामान्य को अगो व्यावृत्ति नाम देते हैं और हम गोत्व सामान्य नाम देते हैं, क्योंकि पर्युदास लक्षण वाला अभाव भावांतर स्वभाव वाला होता है।

स्रापके मत में यह अश्वादि की निर्वृत्ति (स्रागे व्यावृत्तिरूप स्रत्यापोह) स्वभाव वाला पदार्थ कौनसा है । असाधारण गो आदि स्वलक्षणरूप पदार्थ प्रथित् क्षणिक निरंश निरन्वयरूप पदार्थ (बौद्ध मत में स्वलक्षण को क्षणिक निरंश एवं निरन्वयरूप पदार्थ (बौद्ध मत में स्वलक्षण को क्षणिक निरंश एवं निरन्वय माना है ) तो हो नहीं सकता क्योंकि यह स्वलक्षणरूप पदार्थ संपूर्ण विकल्पों के अगोचर है । अश्वादि की निर्वृत्तिरूप स्वभाव वाला पदार्थ शावलेयादि व्यक्ति विशेषरूप (वितक्वरी गो आदि विशेष गो रूप) है ऐसा माने तो स्नसामान्य का प्रसंग आता है (स्रय्यत् सामान्य का स्रपोह असामान्य है ऐसा अर्थ होता है और स्नसामान्य तो विशेष ही है किन्तु बौद्ध शब्द हारा केवल सामान्य ही वाच्य होता है ऐसा मानते हैं) तथा यदि गो शब्दको शावलेयादि विशेष का वाचक मानेंगे तो अन्वय नहीं होने से उसका सामान्य विषय नहीं वन सकता । इसलिये सभी सजातीय शावलेयादि गो व्यक्तियों में जो प्रत्येक में परिसमाप्त होकर रहता है तथा जिसके निमित्त से गो का ज्ञान होता है वह गोस्व नामका सामान्य है और वह गो शब्द हारा

"ग्रागोतिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पित् । गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहिगिरा स्फुटम् ॥१॥ भावान्तरात्मकोऽभावो येन सर्वो व्यवस्थितः । तत्रास्वादिनिवृत्यात्मा भावः क इति कथ्यताम् ॥२॥ नेष्टोऽसाभारणस्ताबद्वियोषो निर्विकल्पनात् । तथा च शावलेयादिरसामान्यभसंगतः ॥३॥"

[ मी० श्लोह० ग्रपोह० श्लो० १-३ ]

"तस्मात्सर्वेषु यद् पं प्रत्येकं परिनिष्ठितम् । गोबुद्धिस्तन्निमत्ता स्यादगोरवादन्यच्च नास्ति तत् ॥"

[मी० क्लो० भ्रपोह० क्लो० १०]

द्वितीयपक्षे तु न किचिद्वस्तु वाच्यं शब्दानामिति स्रतोऽप्रवृत्तितिवृत्तिप्रसंगः । तुच्छरूपा-भावस्य चानम्यूपगमान्न प्रसच्यप्रतियेषाभ्यूपगमो युक्तः; परमतप्रवेशानुषंगात् ।

वाच्य होता है ऐसा मानना चाहिये। उसी गोत्व सामान्य को ग्राप अगो अथवा अपोह शब्द से कहते हैं तब तो नाम मात्रका भेद रहा। कहा भी है—जिन्होंने ग्रगो निवृत्ति रूप सामान्य को गो शब्द का वाच्य माना है उन्होंने ग्रगोह इस नाम से गोत्वरूप वस्तु को ही कहा ऐसा समभना चाहिए।।१।। क्योंकि सभी ग्रभाव भावांतर स्वभाव वाले माने गये हैं यदि गो शब्दका ग्रथं अथवादि निवृत्तिरूप है तो वह कौनसा पदार्थ है उसको बताना चाहिए।।२।। ग्रसाधारणभूत क्षणिक स्वलक्षण को ग्रथवादि निवृत्तिरूप पदार्थ कहते हैं ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि स्वलक्षण रूप विशेष को ग्रपने निर्विकरूप (शब्द के ग्रगोचर) स्वीकार किया है, तथा ऐसा मानने से शावलेयादि को ग्रसामान्य मानने का प्रसंग ग्राता है।।३।। इसलिये सभी गो पिण्डों में प्रत्येक में परिसमाप्त होकर जो पदार्थ रहता है ग्रीर जिसके निमित्त से गोपनेका ज्ञान होता है वह गो शब्द द्वारा कहा जाता है, उस पदार्थ का नाम गोत्व सामान्य ही है इससे भिन्न कुछ भी नहीं।।१।। इस प्रकार मीमांसाक्ष्तोकवात्तिक नामा ग्रंथ में शब्दका वाच्य विधिरूप अर्थ होता है ऐसा निश्चय किया गया है।

अपोह सामान्य का वाच्य प्रसज्य लक्षण वाला ग्रभाव है ऐसा दूसरा पक्ष भाने तो शब्दों द्वारा कुछ भी वाच्य नहीं होता ऐसा मर्थ निकलता है, फिर तो गो प्राप च ये विभिन्नसामान्यशब्दा गवादयो ये च विशेषशब्दाः शावलेयादयस्ते भवदिभिन्नायेण पर्यायाः प्राप्नुवन्त्यपंभेदाभावाद्बृक्षपादपादिशब्दवत् । न लानु नुच्छरूपाभावस्य भेदो युक्तः; वस्तुन्येव संस्पृ(संस्)ष्टस्वेकत्वनानात्वादिविकत्पानां प्रतीतेः । भेदाम्युपगमे वा प्रभावस्य वस्तुरूपतापत्तिः; तथाहि—ये परस्परं भिद्यन्ते ते वस्तुरूपा यथा स्वलक्षाणानि, परस्परं भिद्यन्ते चात्र्योहा इति ।

न चापोद्यालक्षणसम्बन्धिभेदावपोहानां भेवः; प्रमेयाभिष्येयादिशब्दानामप्रवृत्तिप्रसंगात्, तदभिषेयापोहानामपोद्यालक्षणसम्बन्धिभेदाभावतौ भेदासम्भवात् । श्रत्र हि यक्तिश्विद्वयच्छेद्यत्वेन

म्नादि शब्द से न प्रवृत्ति हो सकती है और न निवृत्ति हो सकती है। तथा ऐसे तुच्छा-भाव रूप प्रसज्य प्रतिषेध ग्रभाव को ग्राप सौगतने माना भी नही, यदि मानेंगे तो नैयायिकादि के मत में ग्रापका प्रवेश हो जायेगा।

तथा जो विभिन्न सामान्य के अभिधायक गो आदि शब्द हैं और जो विशेष के अभिधायक शावलेय आदि शब्द हैं ये सबके सब आपके अभिप्रायके अनुसार पर्याय-वाची शब्द बन जायेंगे? क्योंकि शब्द केवल प्रसज्य अभावरूप प्रपोह को कहते हैं अतः सबका वाच्य एक अभाव ही है उनमें कुछ भी अर्थ भेद नहीं रहता जैसे कि ''वृक्ष और पादप'' इन शब्दों में अर्थ भेद नहीं रहता । तुच्छाभावरूप अपोह में किसी प्रकार का अर्थ भेद आदि होना तो अयुक्त है। किसी प्रकार का अर्थका भेद आदि भेद तो वस्तुभूत पदार्थ में होता है, क्योंकि संसृष्टपना, एकपना, नानापना इत्यदि भेद तो वस्तु में ही प्रतित होते हैं (न कि अभाव में) यदि अन्यापोह रूप अभाव में भेदको मानना इष्ट है तो उस अभाव के वस्तुरूपता सिद्ध होती है, कैसे सो ही बताते हैं— जो परस्पर में भेदको प्राप्त होते हैं व वस्तुरूप होते हैं जैसे स्वलक्षण वस्तुरूप होने से भेदको प्राप्त होते हैं, अश्वादि निवृत्तिरूप अपोह भी भेदको प्राप्त होते हैं अतः व वस्तुरूप हैं।

अपोह करने योग्य प्रश्वादि अपोह्य पदार्थरूप सम्बन्धियों के भेद से अपोहों में (अभावों में ) भेद होता है ऐसा कहना भी अशक्य है, इस तरह मानने से तो प्रमेय, अभिधेय श्रादि शब्दों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। आगे इसी का खुलासा करते हैं— जिस प्रकार गो शब्दका अर्थ अगोब्यावृत्ति है उस प्रकार प्रमेय शब्दका अर्थ अपोब्यावृत्ति है उस प्रकार प्रमेय शब्दका अर्थ अपोक्यावृत्ति है सो ये अनिभधेय शादि अपोह्य किसी हो हो है। अतः अपोह्य अपोह्य क्रायेस विश्वाह ही है। अतः अपोह्य क्रायेस अपोह्य हिस्से हो सकते क्यों कि इनका अस्तिस्व हो नहीं है। अतः अपोह्य क्रायेस

कल्प्यते तस्तर्यं व्यवच्छेवाकारेणालम्ब्यमानं प्रमेवादिस्यभावमेवावितष्ठते । न ह्यविषयीकृतं व्यवच्छेतुं शक्यमतिप्रसंगात् । न च सम्बन्धिभेदो भेदकः, अन्यषा बहुणु शावनेषादिव्यक्तिव्वेकस्याऽगोपोहस्याऽ-भावप्रसंगः । यस्य चान्तरंगाः शावनेषादिव्यक्तिविशेषा न भेदकाः 'तस्याऽक्वादयो भेदकाः' इत्यतिसाह-सम् ! सम्बन्धिभेदाच्च वस्तुन्यपि भेदो नोषतम्यते किमुताऽत्रस्तुनिः, तथाहि-देवदत्तादिकमेकमेव वस्तु युगपत्क्रमेण् वानेकैराभरणादिभिरभिसम्बद्धयमानमनासादितभेदमेवोषलम्यते ।

भवतु वा सम्बन्धिमेदाद्भेदः; तथापि-वस्तुभूतसामान्यानम्युपगमे भवतां स एवापोहाश्रयः सम्बन्धो न सिद्धिमासादयति यस्य भेदात्तद्भेदःस्यात्। तयाहि-गवादीनां यदि वस्तुभूतं सारूप्यं

सम्बन्धियों के भेद से ग्रपोहों में भेद करना ग्रसंभव है। प्रमेय ग्रादि शब्दों में जिस किसी को भी व्यवच्छेद्यरूप से कल्पित किया जायगा वह सब ही व्यवच्छेद्यग्राकार से विषय हो जाने से प्रमेयादि स्वभावरूप हो स्थित होता है। जो अविषयीकृत होता है वह तो व्यवच्छेद होने योग्य ( जानने योग्य ) ही नहीं होता, यदि प्रविषय को व्यवच्छेद्य मानेंगे तो स्राकाश पूष्पादि को भी व्यवच्छेद्य मानने का अतिप्रसंग स्रायेगा। तथा सम्बन्धियों के भेद अपोहों में भेद करते हैं ऐसा बौद्ध का कथन गलत ही है, यदि ऐसा मानेंगे तो बहुत से शाबलेयादि गो व्यक्तियों में एक ही ग्रगो रूप ग्रपोह पाया जाता है उसका अभाव होवेगा। ग्रव्यभिचारीपने से उन्हीं में नियत रूप से रहने बाले श्रंतरंग शाबलेय श्रादि गो व्यक्तियां जिस गीत्व सामान्य रूप अपोह के भेद नहीं करती हैं उस गोत्व सामान्य के भेद ग्रश्वादिक करते हैं ऐसा बौद्ध का कहना तो अतिसाहस पूर्ण है ग्रथीत ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है । सम्बन्धी पदार्थों के भेद से भेद होने की मान्यता भी असत है, सम्बन्धी के भेद से तो वस्तू में भी भेद होना प्रशक्य है फिर भ्रवस्तूरूप ग्रपीह में तो क्या हो सकता है। इसीको बताते हैं - एक देवदलादि कोई पदार्थ है वह युगपत या कमशः अनेक वस्त्राभरण आदि से सम्बन्ध को प्राप्त होता हम्रा भी म्रनेक या भेद रूप नहीं हो जाता एक ही रहता है। उसी प्रकार सम्बन्धी के भेद से ग्रपोह में भेद होना ग्रसंभव है।

ग्रापके हटाग्रह से मान लेवे कि सम्बन्ती के भेद से श्रपोह में भेद होता है तो भी ग्रापके मत में सामान्य को वास्तविक पदार्थ नहीं माना ग्रतः ग्रपोह का ग्राश्रय भूत सम्बन्धी ही सिद्ध नहीं होता जिसके कि भेद से ग्रपोह में भेद करना है। आगे इसीका खुलासा करते हैं –यदि गो ग्रादि पदार्थों में वास्तविक साहश सामान्य सिद्ध प्रसिद्धं भवेत्तवाश्वाखपोहात्रयत्वयविशेषेतुंवां प्रसिद्धणे त्रान्यवा । छतोऽपोहविषयत्वमेषाभिण्छताऽवश्यं सारूप्यसंगोकर्त्तव्यम् । तदेव च सात्रान्यं वस्तुभूतं भविष्यतीत्यपोहकत्वना वृषेव ।

यदि वाऽसत्यिति सारूप्ये झावलेयादिष्वगोपोहुकल्पना तदा गवाहवयोरपि कस्मान्न कल्प्येताऽसौ विशेषाभावात् ? तदुक्तम्—

> "प्रयाऽसत्यपि सारूप्ये स्यादपोहस्य कत्वना । गवाश्वयोरयं कस्मादगोपोहो न कल्प्यते ॥१॥ शावलेयाच्च भिन्नत्वं बाहुलेयाश्वयोः समम् । सामान्यं नान्यदिष्टं चेत्ववागोपोहः प्रवत्तंताम् ॥२॥''

> > [मी० क्लो० ग्रपोह० क्लो० ७६-७७ ]

होवे तो अध्व आदि पदार्थों के अपोह का आश्रयपना इनमें सिद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं, अर्थात् गो आदि पदार्थों में सादृष्य या सामान्य को नहीं मानते तो वे पदार्थे अन्यापोह के आश्रयभूत नहीं हो सकते। अतः गो आदि में अपोह का विषयपना चाहने वाले बौद्ध को सादृष्य धर्मको अवश्य स्वीकार करना होगा। और इस तरह सादृशको स्वीकार करने पर वहीं सामान्य होने से वास्तविक सामान्य भी सिद्ध होगा फिर अपोह की कल्पना करना व्यथं ही है।

यदि शावलेय प्रादि गो व्यक्तियों में साहश्य के नहीं रहते हुए भी अगो प्रापेह की कल्पना शक्य है तो गो और अश्व में भी उक्त कल्पना को क्यों नहीं कर सकेंगे १ साहश्य का अभाव तो समान ही है १ अन्यत्र भी कहा है कि साहश्य के अभाव में भी यदि अपोह की कल्पना संभावित है तो गो अश्वों में किस कारण से एक अगो अपोह किल्पत नहीं किया जाता १ ।।१।। यदि कहा जाय कि गो और अश्व में भिन्नता होने के कारए। एक अगो अपोह श्राध्यद्य की कल्पना नहीं होती तो शाबल्यादि गो में भी यही बात है अर्थात् शाबलेय गो से बाहुलेय गो और अश्व समान रूप से भिन्न है फिर भी उक्त गो की केवल अश्व से अगो व्यावृत्ति होती है, बाहुलेय से महीं होती ऐसा क्यों ? आप बौद के यहां जब वास्तविक सामान्य को स्वीकार ही नहीं किया तब यह अगो अपोह किस आश्रय में रहे १ अर्थात् कहीं पर भी नहीं रह सकता।।२।।

यया च स्वलक्षालादिषु समयासम्भवात्र शब्दार्वत्वं तथाऽपोहेषि । निश्चितार्थो हि समय-कृत्समयं करोति । न चापोहः केन चिदिन्द्रियैव्यंवसीयते; तस्यावस्तुत्वादिन्द्रियाणां च वस्तुविषय-स्वात् । नाष्यनुमानेन; वस्तुभूतसामान्यमन्तरेणानुमानस्यैवाऽपवृत्तोः ।

भावार्थ-बौद्ध मत में सामान्य को काल्पनिक माना है, वे साहश्य को सारूप्य नाम देते हैं इस सारूप्य या साहश्य को भी वे लोग नहीं मानते ग्रतः यहां अपोहवाद प्रकरण में ग्राचार्य कह रहे हैं कि आपके यहां गो शब्द का ग्रर्थ सास्नायुक्त गो पदार्थ न होकर "ग्रगोव्यावृत्ति" होता है. किसी ने "गौ:" ऐसा कहा तो उसका ग्रर्थ किया जायगा कि यह सामने स्थित पदार्थ ग्रश्व नहीं है हाथी नहीं है इत्यादि, गो को ग्रन्य पणुओं से पृथक् करना गो शब्द का कार्य है। सो सबसे पहले तो ऐसा प्रतीत ही नहीं होता, गो शब्द सुनते ही सास्नायुक्त पशुका बोध होता है न कि यह ग्रश्व नहीं इत्यादि निषेध रूप ( ग्रपोह रूप ) वस्तुका, सभी ग्राबाल गोपाल को इसी प्रकार की शाब्दी प्रतीति होती है। फिर भी थोड़ी देर के लिये बौद्ध के आग्रह से मान लिया जाय कि गो शब्द अगोव्यावृत्ति का वाचक है, किन्तू इसमें प्रश्न होता है कि अगो-व्यावृत्तिरूप पदार्थ कौनसा है ? यह तो अभाव रूप है और अभाव में भेद नहीं होता. अब समस्या यह आती है कि शाबलेयादि अनेक गो व्यक्तियों में गोत्व सामान्य तो है नहीं क्योंकि सामान्य को काल्पनिक मान बैठे हैं, जब गो व्यक्तियों में गोत्व ही नहीं तो वे गो व्यक्तियां किस प्रकार श्रगो से व्यावृत्त हो सकती हैं ? क्योंकि जैसे अध्वादि में अगोपता है वैसे गो व्यक्तियों में है। बड़ा आश्चर्य है कि गो में गोत्व सामान्य नहीं है और फिर भी उनको ग्रश्वादि से व्यावृत्ति होती है। अश्वादि पशुश्रों से गो व्यक्तियों को भिन्न करने का कारण कौन होगा यदि उनमें गोत्व सामान्य नहीं माना जाय ग्रतः सामान्य को काल्पनिक मानना और गो ग्रादि शब्दों का ग्रगो व्यावृत्ति आदि रूप ग्रर्थ करना ये दोनों ही सिद्धांत गलत साबित होते हैं। ग्रागे इसी को कह रहे हैं।

जिस प्रकार बौद्धाभिमल क्षणिक निरंशभूत स्वलक्षण आदि में संकेत का होना ग्रसंभव होने से शब्दार्थपना घटित नहीं होता उसी प्रकार ग्रपोह में भी शब्द ग्रीर ग्रथपना घटित नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि "इस शब्द का यह ग्रथ है" इस प्रकार जिसको ग्रथ का निश्चय हुआ वह पुरुष ही संकेत का जाता होने से संकेत को करता है, किन्तु ग्रपोह किसी पुरुष के द्वारा इन्द्रियों से जाना नहीं जाता है स्रस्तु वा समयः, तथापि-कथमस्वादीनां गोवञ्चानभिषेयत्वम् ? सम्बन्धानुभवकारोऽक्वादेस्त-द्विषम्रस्त्रेनादृष्टः' इत्यनुत्तरम्, यतो यदि यद्गोक्षन्दवंकेतकाले हृष्टं ततोऽत्यत्र गोवञ्चप्रवृत्तिर्नेष्यते, तदैकस्मास्त्रकेतेन विषयोकृताच्छावलेयादिगोपिण्डात् धन्यद्वाहुलेयादि गोवञ्चेनापोद्धां न भवेत् ।

इतरेतराश्रयदत्र-म्रगोध्यवच्छेदेन हि गोः प्रतिपत्तिः, स चाःगोगॉनिषेषात्मा, ततदत्र म्रगौः इत्यत्रोत्तरपदार्थो वक्तथ्यो यो 'न गौः' इत्यत्र नत्रा प्रतिषेध्येत । न ह्यनिर्ज्ञातस्वरूपस्य निषेयो विषातुं

क्योंकि वह अवस्तु रूप ( अभाव रूप ) है और इन्द्रियां वस्तु रूप विषय को ग्रहण करती हैं, अतः इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान द्वारा अपोह का निश्चय करके उसमें संकेत होना अशक्य है। अनुमानज्ञान द्वारा भी अपोह का निश्चय करना ग्रशक्य है क्योंकि वस्तुभूत सामान्य के बिना उसमें अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अपोह में संकेत होता है ऐसा मान भी लेवे तथापि ग्रश्वादि पदार्थ गो शब्द से बाच्य नहीं यह कैसे सिद्ध हो सकता है ?

• बौद्ध — गो शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध का अनुभवन करते समय अध्वादि पदार्थ उस अनुभव के विषय होते हुए नही देखे जाते, अतः वे पदार्थ गोशब्द से बाच्य नहीं होते ?

जैन — यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि गो शब्द के संकेत काल में जो देखा है उसको छोड़कर अन्यत्र गो शब्द की प्रवृत्ति होना आपने स्वीकार नहीं किया है तो संकेत द्वारा विषयभूत एक शाबलेयादि गो विशेष से जो अन्य है ऐसे बाहुलेयादि गो विशेष गो शब्द द्वारा अश्वादि से अपोह्य (अपोह करने योग्य) नहीं हो सकेंगे अर्थात् गो शब्द से विवक्षित एक शाबलेय गो ही अश्वादि से ज्यावृत्य हो सकेंगी अन्य बाहुलेयादि गो अश्वादि से अज्यावृत्त ही रह जायगी।

शब्द का अर्थ अन्यापोह है ऐसा माने तो इतरेतराश्रय दोष भी श्राता है कैसे सो ही बताते हैं — अगो का ब्यावतंन करके गो की प्रतीति होगी और जो श्रगो है वह गोका निषेध स्वरूप है खतः "अगो" इस पद में स्थित गो शब्द है उसका अर्थ क्या है सो बताना होगा ? जिसका कि प्रतिषेध "न गौः" इस प्रकार के नज समास द्वारा किया जाता है। अर्थको बिना जाने उसका प्रतिषेध करना तो शक्य महीं है, क्योंकि अनिर्जात स्वरूप का निषेध करना अशक्य है ऐसा नियम है।

शक्यः । श्रयाःगोनिवृत्यात्मा गौरेव, नन्वेवमगोनिवृत्तिस्वभावःवाद्गोरगोप्रतिपत्तिद्वारेरगैव प्रतीतिः, श्रगोध्च गोप्रतियेधात्मक्त्वाद्गोप्रतिपत्तिद्वारेरग्रेति स्फुटमितरेतराभयत्वम् ।

ग्रयाज्ञोज्ञान्देन यो गौनिषिष्यते स विधिरूप एवागोन्यवच्छेरलक्षणापोहसिद्धपर्यम् तेनेतरे-तराध्यत्वं न भिष्यितः यद्येवस्–'सर्वस्य जन्दस्यापोहोज्यं ' इत्येवमपोहकल्पना बृषा विधिरूपस्यापि ज्ञन्दार्थस्य भावात्, ग्रन्थयेतरेतराश्रयो दुनिवारः । तदुक्तम्—

> "सिद्धश्चागौरपोह्योत गोनिषेधातमकश्च सः। तत्र गौरेव वक्तव्यो नत्रा यः प्रतिषिध्यते ॥१॥

## शंका-अगो की निवृत्तिरूप जो पदार्थ है वह गो ही है।

समाधान—इस तरह कहने पर तो गो नामा पदार्थ अगो की निवृत्तिरूप स्वभाव वाला सिद्ध होता है अतः गो का ज्ञान अगो के जानने के अनंतर ही हो सकेगा, पुनश्च "अगो" नामकी वस्तु भी गो के प्रतिषेध स्वरूप होने से गो की प्रतीति होने के अनन्तर ही अगो का ज्ञान होवेगा इस प्रकार स्पष्टतया इतरेतराश्रय दोष आता है। अर्थात् गो का ज्ञान तब होवे जब अगो का व्यावर्त्तन हो और अगो भी गो के निषेध रूप होने से गो को ज्ञात करने के अनन्तर ही व्यावृत्त हो सकती है इसलिए गो ज्ञान और अगो आन परस्पराश्रित सिद्ध होकर गो शब्द द्वारा अर्थ बोध होना दुर्लभ हो जाता है।

बौद्ध—''ग्रगो'' इस पद में स्थित जो गो शब्द है उस गो शब्द से जिस गो अर्थका निषेध किया जाता है वह विधिरूप ही है ( प्रस्तित्वरूप ही है, ग्रगो की निवृत्ति रूप नहीं है ) ग्रगो के व्यवच्छेद स्वरूप ग्रपोह की सिद्धि के लिये उसका प्रयोग होता है अत: उक्त इतरेतराश्रय दोष नहीं होगा ?

जैन—यदि ऐसी बात है तो "सभी शब्दका अर्थ अपोह ही होता है" ऐसा कहना व्यर्थ है क्योंकि विधिरूप भी शब्दका अर्थ होता है ऐसा मान लिया। अन्यथा वही इतरेतराश्रय दोष आना दुर्निवार है। जैसा कि कहा है — अगो पद में जो गो शब्द है वह ज्ञात होकर ही अपोहित किया जा सकता है जो कि गो का निषेध स्वरूप है, "न गीं:', इस नज समास द्वारा जो प्रतिसिद्ध होता है वह पदार्थ गो ही है ऐसा बौद का कहना है।।।। नज समास द्वारा प्रतिसिद्ध होने वाले उस अर्थको अगो की स चेदगीनिवृत्यात्मा भवेदन्योन्यसंश्रयः । सिद्धरुचेदगौरगोहार्णं वृषापोक्त्रभल्पनम् ॥२॥ गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावेप्य(पि)गौः कुतः । नाषाराषेयवृत्यादिसम्बन्धरुचाप्यभावयोः ॥३॥"

[ मो० इलो० ग्रपोह० इलो० ५३-५५ ]

दिग्नागेन विशेषण्यिक्षेध्यभावसमयनार्थम् "नीलोरपलादिशव्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टा-नर्षानाहः" [ ] इत्युक्तम्, तदयुक्तम्, यस्य हि येन कविषद्वास्तवः सम्बन्धः सिद्धस्तत्ते न विशिष्टमित्ति वक्तुं युक्तम्, न च नीलोरपलयोरनीलानुरपलव्यवच्छेदरूपयेनाभावरूपयोराघाराधेय-स्वादिः सम्बन्धः सम्भवतिः, नीरूपय्वात् । द्यादिग्रह्णेन संयोगसमवार्यकार्यसमयादिसम्बन्धग्रह्णम् । न चासति वास्तवे सम्बन्धे तदिलिष्टस्य प्रतिपत्तियुं कार्ऽतिप्रसङ्कान् ।

निवृत्ति रूप माने तो स्पष्टरूप से इतरेतराश्रय दोष प्राता है, यदि अगो पद का विधि-रूप अर्थ करते हैं और केवल अगो व्यावृत्ति रूप अपोह की सिद्धि के लिये उसका प्रयोग करते हैं तो उस अपोह की कल्पना करना वृथा हो है।।२।। तथा गो शब्द का अर्थ अप्रसिद्ध है तो अगो का अर्थ भी नहीं हो पाता और अगो का ग्रभाव रूप गो पदार्थ भी किस हेतु से सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् नहीं हो सकता। अभिप्राय यह है कि गो शब्द और अगो शब्द इन दोनों शब्दों का भी अर्थ सिद्ध नहीं होता, सभावों में आधार आधेयवृत्ति आदि रूप सम्बन्ध होना भी अश्ववय है।।३।।

बौद्ध मत के ग्रन्थकार दिग्नाग ने कहा है कि — विशेषण और विशेष्य भाव के समर्थन के लिये प्रयुक्त हुए नील, उग्पल ग्रादि शब्द अर्थांतर की ( ग्रनील, अनुत्पल ग्रादि की ) निवृत्तिरूप विशिष्ट ग्रथोंको ही कहते हैं इत्यादि, सो यह कथन ग्रयुक्त है। इसी का खुलासा करते हैं —जिसका जिसके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध रहता है तो वह उससे विशिष्ट है ऐसा कह सकते हैं किन्तु ग्रनील ग्रीर ग्रमुत्पल की व्यावृत्ति के कारण ग्रभावरूप सिद्ध हुए नील ग्रीर उत्पल पदार्थों में आधार ग्राधेय ग्रादि सम्बन्ध होना ग्रशक्य है व्योंकि ग्रनीलादि अभाव नीरूप है। ग्रादि शब्द से संयोग सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध, एकार्यसमवाय सम्बन्ध इत्यादि सम्बन्धों का ग्रहण करना चाहिये, ग्रर्थात् इन ग्रनील ग्रनुत्पल आदि की व्यावृत्तिरूप नीरूप पदार्थों में संयोग सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध ग्रादि सम्बन्ध भी नहीं हो सकते। ग्रीर जब वास्तविक

नास्माकभनीलादिव्यावृक्त्या विविद्योऽनुरपलादिव्यवच्छेदोऽभिभती यतीयं दोषः स्यात् । कि तर्हि ? प्रनीलानुत्पलाम्यां व्याकृतः वस्तवेव तथा व्यवस्थितम् । तच्वार्थान्तरव्याकृत्या विशिष्टः वस्वै-नोच्यते; इरयप्यपेशलम्; स्वलक्षस्याऽवाच्यत्वात् । न च स्वलक्षसस्य व्यावृत्त्या विशिष्टस्यं सिद्धपति; यतो न वस्स्वपोहोऽसाधारसं तु वस्तु, न च वस्स्वऽवस्तुनोः सम्बन्धो युक्तः, वस्तुद्वयाधारस्वात्तस्य ।

भस्तु वा सम्बन्धः, तथापि विशेषस्यत्वमयोहस्याऽयुक्तम्, न हि सत्तामात्रेस् किश्विद्विशेषसम् । कि तहि ? ज्ञातं सद्यस्वाकारानुरक्तया बुढया विशेष्यं रख्यति तद्विशेषसम् । न चापोहेऽयं प्रकारः

सम्बन्ध ही नहीं तो उस सम्बन्ध से (विशेषण विशेष्य से ) विशिष्ट ( युक्त ) पदार्थं की प्रतीति होना भी अशक्य है अन्यया ग्रतिप्रसंग होगा।

बौद्ध—हम लोग भ्रनील की व्यावृत्ति से विशिष्ट भ्रनुत्पल का व्यवच्छेद नहीं मानते जिससे यह भ्राधार आधेय सम्बन्ध का भ्रभाव होना रूप दौष संभावित हो सके। किन्तु भ्रनील और अनुत्पल से व्यावृत्त वस्तु ही उस रूप से (नीलोत्पल रूप से) व्यवस्थित होना मानते हैं, भ्रोर उस भ्रथांतर की व्यावृत्ति से विशिष्ट वस्तु को शब्द द्वारा कहा जाता है?

जैन — यह कथन असुन्दर है, आपके यहां अर्थान्तर से व्यावृत्त पदार्थं को वास्तविक माना है, वास्तविक पदार्थं स्वलक्षण रूप (क्षणिक निरंशरूप) होता है अरीर स्वलक्षण अवाच्य होता है ऐसी आपकी भान्यता है अतः अर्थान्तर व्यावृत्तकप स्वलक्षण शब्द द्वारा कहा जाता है ऐसा कथन असत् ठहरता है। तथा स्वलक्षण का व्यावृत्ति से विशिष्टरूप होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि व्यावृत्ति अर्थात् अर्थात् अर्थात् अपोह वस्तु रूप (वास्तविक) नहीं है, वस्तु तो असाधारण स्वरूप वाली होती है। वस्तु अवस्तु का सम्बन्ध होना भी असम्भव है और इसका कारण भी यह है कि सम्बन्ध दो वास्तविक सद्भावरूप वस्तुओं में हो होता है।

उक्त अनील व्यावृत्ति रूप नील आदि पदार्थों में सम्बन्ध होना मान लेवे तो भी अपोह के ( ग्रभाव के ) विशेषणपना श्रयुक्त ही है क्योंकि किसी की सत्ता होने मात्र से वह विशेषण नहीं बन जाता अर्थात् अपोह का अस्तित्व है अतः विशेषण रूप होवे हो ऐसा नियम नहीं है। विशेषण तो वह होता है कि जो पदार्थ ज्ञात हो एवं अपने आकार से अनुरक्त हुए ज्ञान द्वारा विशेष्य को रंजित करे। अपोह में यह प्रकार सम्भवति । न स्वरवादिबुद्धभाषोहोऽध्यवसीयते । कि तिह् ? वस्त्वेव । अपोहज्ञानासम्भवस्त्रीक्तः प्राक् । न चाज्ञातोप्यपोहो विशेषणं भवति । "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इत्यभि-धानात् ।

मस्तु वाऽपोहज्ञापनम्, (जानम्;) तथापि-म्रथं तदाकारबुद्धधभावातस्याऽविशेषएात्वम् । सर्वं हि विशेषएां स्वाकारानुरूपां विशेष्ये बुद्धि जनयदृष्टम्, न त्वन्याद्यां विशेषएामन्यादेशीं बुद्धि विशेष्ये जनयति । न खलु नीलमुत्यले 'रक्तम्' इति प्रत्यवमृत्यादयति, दण्डो वा 'कुण्डली' इति । न

सम्भव नहीं है। क्योंकि अपोह अज्ञात है। अश्वादि के ज्ञान द्वारा अपोह का निश्चय नहीं किया जाता किन्तु वस्तु का ही निश्चय किया जाता है, इसका भी कारण पहले बता दिया है कि अपोह का ज्ञान होना असम्भव है। अज्ञात होते हुए भी अपोह विशेषण बन सकता है ऐसा तो नहीं कहना क्योंकि "नागृहोत विशेषणा विशेष्य बुद्धिः" जिसने विशेषणा को ग्रहण नहीं किया वह ज्ञान विशेष्य में प्रवृत्त नहीं होता ऐसा नियम है।

यदि मान लिया जाय कि अपोह का ज्ञान होना शक्य है तो भी तदाकार (अपोहाकार ) रूप ज्ञान के नहीं होने से उसमें विशेषणपना आना अशक्य है (बौद्ध मत में ज्ञान पदार्थ के आकार हुए बिना उसको जान नहीं सकता ) क्योंकि जो भी विशेषण होता है वह सबंही विशेष्य में अपने अाकार के अनुरूप ज्ञानको उत्पन्न करता हुआ देखा गया है, ऐसा तो होना नहीं कि विशेषण किसी अन्याकार हो और विशेष्य में अभी अने अन्याकार हो और विशेष्य में किसी अन्य आकाररूप ज्ञानको उत्पन्न करे। नोल विशेषण कमल में "यह लाल है" ऐसे ज्ञान को उत्पन्न करा सकता है क्या श्रिक्ष ज्ञान को उत्पन्न करा सकता है होता की अन्याव सि अनुरक्त (अपोह में संसक्त ) नहीं होता अपितृ सन्द्रावाकार ही होता है। अर्थात् शब्दादि की व्यावृत्ति क्य अपोह किसी का विशेषण नहीं हो सकता। इस प्रकार सिद्ध होता है कि अपोह किसी का विशेषण नहीं हो सकता। इस प्रकार सिद्ध होता है कि अपोह किसी का विशेषण नहीं वन सकता। किर भी जबरदस्ती उसमें विशेषणपना माना जाता है तब तो सब सबके विशेषण हो सकते। यदि कदाचित् ध्रकादि पदार्थों में होने वाले शब्द ज्ञान को अभावाकार

वाश्वादिध्वभावानुरक्ता शाब्दी बुद्धिश्पनायते । किन्तिह ? भावाकाराध्यवसायिनी । तथापि विशेष-एत्वे सर्वे सर्वस्य विशेषएां स्थात् । अनुरागे वा अभावरूपेण वस्तुनः प्रतीतेर्वस्तुत्वमेव न स्यात्, भावा-भावयोविरोधात् । शब्देनाऽमध्यमानत्वाच्चाऽसाधारणवस्तुनो न व्याकृत्वा विशिष्टत्वं प्रस्येतुं शक्यम् । उक्तञ्च—

> "न चासाधारएाँ वस्तु गम्यतेपोहवत्तया । कयं वा परिकस्पोत सम्बन्धो वस्त्ववस्तुनो. ॥१॥ स्वरूपसस्वमात्रेण न स्यात्कि चिद्विशेषणम् । स्वबुद्धधा रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणम् ॥२॥ न चाप्यस्वादिशब्देम्यो जायतेपोहमासनम् । विशेष्ये बुद्धिरिष्टेह न चाज्ञातविशेषणा ॥३॥ न चाम्यरूपमत्यास्क् कुर्याञ्जानं विशेषणम् ॥४॥ कथं वाज्याहशे जाने तद्वचेत विशेषणम् ॥४॥

माना जायगा तव तो वस्तु की अभावरूप प्रतीति आ जाने से उसमें वस्तुपना ही नहीं रहेगा, क्योंकि भाव और अभाव का (वस्तु और अवस्तु का ) एकत्र रहना विरुद्ध है। अर्थात् एक वही वस्तु और अवस्तु नहीं होती। दूसरी बात यह है कि आप बौद्ध के यहां पर असाधारण वस्तु को (स्वलक्षण को) शब्द द्वारा अगम्य (अवाच्य) माना है अतः उसका अपोह से विशिष्टपना जानना शक्य नहीं है। मीमांसा श्लोक वार्त्तिक अन्य में भी कहा है कि—

श्रसाधारण वस्तु (स्वलक्षण ) अपोह से विशिष्ट प्रतीत नहीं हो सकती तथा स्वलक्षणरूप वस्तु और अपोह रूप अवस्तु का सम्बन्ध मी किस प्रकार परिकित्यत हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।।१।। बिना सम्बन्ध के अस्तित्व मात्र से कोई किसी का विशेष्य नहीं बनता है, क्योंकि जिसके द्वारा अपने ज्ञान से विशेष्य को अनुरक्त किया जाता है वह विशेष्य कहलाता हैं।।२।। अश्वादि शब्दों से अपोह का प्रतिभाम नहीं होता अतः उनकी व्यावृत्तिरूप अपोह को विशेषण नहीं बना सकते और जो ज्ञान विशेषण के प्रतिभास से रहित है वह विशेष्य में प्रवृत्ति करा नहीं सकता।।३।। विशेषण अन्य रूप हो और उसके द्वारा विशेष्य में किसी अन्य विशेषण रूप ज्ञान उत्पन्न कराता

प्रधान्यथा विशेष्येषि स्याद्विशेषणुकल्पना । तथा सति हि यत्कि चित्रप्रसञ्चेत विशेषणुम् ॥॥॥ प्रभावगम्यरूपे च न विशेष्येस्ति वस्तुता । विशेषितमपोहेन वस्तु वाच्यं न तेऽस्त्यतः ॥६॥"

[ मी॰ श्लो० ग्रपोह॰ श्लो० ८६-८१ ]

"शब्देनागम्यमानं च विशेष्यमिति साहसम्। तेन सामान्यमेष्टव्यं विषयो बुद्धिशब्दयोः॥"

[ मी० इलो० ग्रपोह० इलो० ६४ ]

इतश्य सामान्यं वस्तुभूतं राब्दविषयः; यतो व्यक्तीनामसाधारणवस्तुरूपाणामशब्दवाच्यस्वान्न व्यक्तीनामपोद्योत, प्रयुक्तस्य निराक्तुं मशक्यस्वात्, घ्रपोद्योत सामान्यं तस्य वाच्यस्वात् । प्रपोहानां

है तो वह उसका विशेषण है ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं ?।।४।। यदि श्रन्य प्रकार के विशेषण में श्रन्य ही कोई विशेषण की कल्पना की जा सकती है तब तो चाहे जिसका चाहे जो विशेषण बन सकता है।।४।। तथा विशेष्य रूप वस्तु का श्रभाव रूप प्रतिभास होना स्वीकार करे तो उसकी वस्तुता ही समाप्त हो जाती है। अपोह विशेषण युक्त स्वलक्षण का होना भी श्रशक्य है न्योंकि श्रापके यहां स्वलक्षण रूप वस्तु को अवाच्य माना है।।६।। बड़ा आश्च्य है कि शब्द द्वारा श्रगम्य भी है श्रौर वही विशेष्य भी है ऐसा कहना तो श्रतिसाहसपूर्ण श्रनुचित है। इस प्रकार यहां तक के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ग्रपोह और शब्द में (श्रथवा शब्द का श्रथं ग्रन्यापोह करने पर) वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नहीं है, इसलिये जो शब्द द्वारा वाच्य हो एवं बुद्धि द्वारा गम्य हो ऐसा गोत्वादि सामान्य हो गो श्रादि शब्द का विषय है ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि ग्रपोह का ग्रथं सामान्य है वह काल्पनिक होता है उसी को शब्द द्वारा कहा जाता है इत्यादि वौद्धाभिमत सर्वया अयुक्त सिद्ध हो चुका है।।।।।

शब्द के विषयभूत गोत्वादि सामान्य को वास्तविक इसलिये माना जाता है कि गो आदि विशेषों का अपोह किया नहीं जाता, क्योंकि असाधारण स्वलक्षण रूप गो आदि विशेष शब्द द्वारा वाच्य नहीं है जो अवाच्य होता है उसका निराकरण (अपोह) करना असंभव है, सामान्य का निराकरण शक्य है क्योंकि वह वाच्य है। अश्वादि- त्वभावरूपतयाऽपोक्तस्वासम्भवात्, श्रभावानामभावामावात्, वस्तुविषयस्वात्प्रतिवेषस्य । प्रपोक्तत्वेऽ-पोहानां वस्तुत्वमेव स्थात् । तस्मादश्वादौ गवादेरपोहो भवन् सामान्यभूतस्यैव भवेदित्यपोक्तस्वादस्तुत्वं सामान्यस्य । तदुक्तम् —

> "यदा चाऽशब्दवाच्यत्वात्र व्यक्तीनामपोद्यता । तदापोद्यते सामान्यं तस्यापोहाच्च वस्तुता ।।१।। नाऽपोद्यत्वमभावानामभावाऽभाववर्जनान् । व्यक्तोऽपोहान्तरेऽपोहस्तस्मास्यामान्यवस्तुनः ।।२।।''

[मी० ब्लो० अपोह० ब्लो॰ ६४-६६ ]

यावन्मात्र पदार्थों को आपने शब्द द्वारा अन्यापोह रूप माना है अतः वे अपोह के विषयभूत पदार्थ अभाव रूप स्थित होने के कारण व्यावर्त्तन करने के अयोग्य हैं, अभाव का अभाव तो होता नहीं, क्योंकि प्रतिषेध वस्तु विषयक हुआ करता है, यदि अपोहभूत पदार्थों के अपोह्यपना शक्य है तो वे वस्तु रूप ही सिद्ध होंगे। इसलिये अध्वादि में गो आदिका अपोह होता है तो उसका अर्थ यही है कि सामान्य का ही अपोह होता है, श्रीर यदि ऐसा है तो अपोह करने योग्य होने से सामान्य का वास्तविकपना प्रसिद्ध हो ही जाता है। जैसा कि कहा है—गो विशेष अर्थात् शावलेयादि गो अशब्द बाच्य होने से अपोह्य योग्य नहीं है, अपोह्य योग्य सामान्य हो है, उसका अपोह करना शक्य होने से उसमें वस्तुपना सिद्ध है।।।।। अभावों में अभाव न होने से उनके अपोह्यस्व भी नहीं बनता गो रूप अपोह से अन्य अध्वादि रूप अपोहांतर में अपोह करना इच्ट है तो गोस्व आदि सामान्य परमार्थभूत है ऐसा सिद्ध होता है। इस कारिकाद्वय से निश्चित होता है कि गोत्वादि सामान्यों को परमार्थभूत माने बिना वे अन्यापोह के विषय नहीं हो सकते।

भावार्थ — बौद्ध के यहां विशेष को अवाच्य भाना जाता है अतः शाबलेय आदि गो विशेष शब्द द्वारा कहे नहीं जा सकते। शब्द द्वारा केवल सामान्य वाच्य होता है, सो इस पर आचार्य कह रहे हैं कि यदि आप सामान्य को परमार्थभूत मानते हैं तो वे शब्द द्वारा वाच्य हो सकते हैं किन्तु आपने ऐसा स्वीकार नहीं किया, बड़ा आआर्य है कि गो विशेष तो अवाच्य है और गोत्व सामान्य काल्पनिक, ऐसी दशा में गो शब्द किस अर्थ को कहेगा? बौद्ध गो आदि शब्द का अर्थ अन्य का अपीह मानते हैं किन्तु जिस्सका अपीह करना है वह अन्य यदि विशेष रूप है तो शब्द के गम्य नहीं और यदि

किंच, अपोद्धानां परस्परतो वेललण्यं वा स्यात्, धवैलक्षण्यं वा? तत्राद्यपक्षे [प्र]भावस्था-गोशब्दाभिष्येयस्थाभावो गोशब्दाभिषेयः, स चेत्पूर्वोक्तादभावादिललण् ; तदा भाव दव अवेदभाव-निवृत्तिरूपत्वाद्भावस्य । न चेदिललण्यः, तदा गौरप्यगौः प्रसञ्येत तदवैलक्ष्येण् (तदवैलक्षण्येन) तादात्म्यप्रतिपत्तेः । तम्र वाच्याभिमतापोहावां भेदसिद्धिः ।

नापि वाचकाभिमतानाम्; तथाहि-शब्दानां भिन्नसामान्यवाचिनां विशेषवाचिनां च परस्परतो-ऽपोहभेदो वासनाभेदनिमित्तो वा स्यात्, वाच्यागोहभेदनिमित्तो वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; श्रवस्तुनि

सामान्य है तो वास्तविक नहीं फिर किसका ध्रपोह ? तथा श्रपोह भी अभाव रूप है उस अर्थ को शब्द द्वारा कैसे कहा जाय ? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, इनका समाधान कारक उत्तर बौद्ध नहीं देपाते । कम से कम सामान्य को परमार्थभूत मानते हैं तो शब्द का कुछ वाच्य सिद्ध हो सकता है अतः बौद्धों को पुनः पुनः कहा जा रहा है कि अपोह करने योग्य सामान्य को तो वास्तविक मानना ही चाहिए।

किंच, गो शब्द अश्व शब्द इत्यादि शब्दों द्वारा वाच्य होने वाले प्रपोहों में परस्पर में विलक्षणता है अथवा अविलक्षणता है यह भी एक प्रश्न है। यदि उक्त अपोहों में विलक्षणता है तो अगो शब्द के अभिध्य रूप अभाव (अपोह) का जो अभाव है वह गो शब्द का अभिध्य है, वह अभाव यदि पूर्वोक्त अभाव से (अगो शब्द के बाच्यभूत अभाव से ) विलक्षणा है तो वह सद्भाव रूप ठहरता है क्योंकि सद्भाव अभाव की निवृत्ति रूप हुआ करता है। दूसरा पक्ष-अपोहों में परस्पर में अविलक्षणता है ऐसा माने तो गो पदार्थ भी अगो बन जायगा अर्थात् दोनों एक रूप हो जायेंगे, क्योंकि गो शब्द और अगो शब्द के बाच्यभूत अपोहों में अविलक्षणता (समानता) होने से उनमें एकत्व का प्रतिभास ही होगा। अतः वाच्य रूप से स्वीकार किये गये अपोहों में भेद की सिद्धि नहीं होती है।

वाचक रूप स्वीकृत हुए पदार्थों में भी ( शब्दों में ) भेद की सिद्धि नहीं होती, ग्रागे इसी को बताते हैं — भिन्न भिन्न सामान्यों के वाचक शब्द ग्रीर विशेषों के वाचक शब्द हैं इनके अपोहों में परस्पर में जो भेद पड़ता है वह वासना भेदों के कारण पड़ता है अथवा वाच्यों के अपोह भेदों के कारण पड़ता है ? प्रथम पद्ध प्रमुक्त है, क्योंकि वाचकों के प्रपोह अवस्तुरूप है ऐसे अवस्तु में वासना का होना ही असंभव है, वह असंभव इसलिये है कि जिस अपोह को यहां वासना का कारण माना है वह तुच्छ वासनाया एवासम्बदात्। तदसम्भवश्च तद्धे तोनिविचयप्रस्थयस्थायोगात् । नापि वाच्यापोहभेदनिमित्तः; तदभेदस्य प्रापेव कृतोत्तरत्वात् ।

ननु प्रत्यक्षेण् व शब्दानां कारणभेदाहिरुद्धधर्माध्यासाच्य भेदः प्रसिद्ध एवः इत्थप्यसाम्प्रतपः यतो वाचकं शब्दमञ्जीकृत्यैवमुच्यते । न च श्रोत्रज्ञानप्रतिभासिस्वलक्षणारमा शब्दो वाचकः; संकेत-कालानुभूतस्य व्यवहारकालेऽचिरनिरुद्धत्वात् इति न स्वलक्षणस्य वाचकत्वं भवदेभिप्रायेणु । तदुक्तम्—

"नार्थशब्दविशेषेण वाच्यवाचकतेष्यते । तस्य पूर्वमदृष्टत्वात्सामान्यं तूपदिश्यते ॥१॥" [

रूप होने से वासना रूप ज्ञान का विषय नहीं हो सकता अर्थात् बौद्धागतानुसार जो ज्ञान का कारण है वही उसका विषय (ज्ञेय) माना गया है, यहां वासना ज्ञान अवस्तु रूप अपोह में होना कह रहे सो यह कथन निविषय में ज्ञान का अयोग होने से अपुक्त है। वाच्यों के अपोहों में भेद होने के कारण वाचक शब्दों के अपोहों में परस्पर में भेद होता है ऐसा दूसरा पक्ष भी गलत है क्योंकि वाचक शब्दों के अपोहों में भेद होना अशक्य है ऐसा पूसरा पक्ष भी गलत है क्योंकि वाचक शब्दों के अपोहों में भेद होना अशक्य है ऐसा पहले ही उत्तर दे आये हैं।

बौद्ध—तालु ऋदि कारणों के भेद होने से तथा विरुद्ध धर्माध्यास ऋषीत् भिन्न धर्मों के ग्रहण होने से शब्दों में भेद होना सुप्रसिद्ध ही है? अर्थात् यह शब्द तालु से हुआ है और यह कंठ से इत्यादि रूप से शब्दों में भेद देखा जाता है अतः वाचक शब्दों का पारस्परिक भेद तो इन कारण भेदों से ही होना स्वीकार करना चाहिये, ऐसा करने से उपर्युक्त दोष नहीं आते?

जैन — यह कथन असत् है। यो आदि शब्द परमार्थभूत यो अर्थ के बाचक होते हैं ऐसा स्वीकार करने पर ही इस तरह कह सकते हैं किन्तु आपके यहां करणें ज्ञान में प्रतिभासित होने वाला स्वलक्षण रूप शब्द अर्थ का वाचक हो ही नहीं सकता क्योंकि संकेत काल में अनुभूत किया गया शब्द व्यवहार काल में विनष्ट हो चुकता है इसका भी कारण यह है कि स्वलक्षण रूप पदार्थ सर्वथा क्षणिक एवं निरंश माने हैं? इसिलये आपके अभिप्रायानुसार स्वलक्षण रूप शब्द में वाचकपना होना अशक्य है। कहा भी है — प्रर्थ विशेष और शब्द विशेष से बाच्य वाचकता होना मान नहीं सकते क्योंकि ये दोनों ही व्यवहार काल में श्रदृष्ट हो जाते हैं अर्थात् संकेत कालीन शब्दार्थ

## "सत्र शब्दान्तरापोहे सामान्ये परिकल्पिते । तथैवावस्तुरूपत्वाच्छब्दभेदो न कल्प्यते ॥२॥"

[ मी० श्लो० अपोह० श्लो० १०४ ]

ततो ये प्रवस्तुनी न तयोगंम्यगमकभावो यथा खपुग्य-खर-विषाग्ययोः । प्रवस्तुनी च बाच्यवाचकापोही मवतामिति । नतु मेघाभावाद्दष्टघभावप्रतिपरोतन्तिनति हेतीः; इत्यप्ययुक्तभः तिद्विक्ताकाशालोकात्मकं हि वस्तु मत्यकेऽत्रापि प्रयोगेस्त्येव, ग्रमावस्य भावान्तरस्वभावत्वप्रति-पादनात् । भवत्यक्षे तु न केवलमपोह्योबिवादास्पदीभूतयोगंम्यगमकत्वाभावोऽिय तु वृष्टिमेघाद्य-भावयोरिय ।

विनष्ट होने से ब्यवहार करते समय वे तो रहते नहीं, उस समय तो सामान्य शब्दार्थ ही कहने में आते हैं।।१।। सामान्य शब्द और अर्थ में वाच्य वाचकभाव माने ऐसा भी प्राप बौद्ध कह नहीं सकते, क्योंकि शब्द को अन्यापोह का वाचक माना है एवं उस अपोह रूप सामान्य को काल्पनिक माना है अतः अवस्तु रूप सामान्य से शब्दों का भेद होना सर्वथा अशक्य ही है।।२।। इन दोनों कारिकाओं का भावार्थ यह है कि — विशेष स्वलक्षणभूत क्षणिक जिसको कि वास्तविक मानते हैं उस शब्द और धर्थ में तो वाच्य वाचक भाव होना अशक्य है क्योंकि प्रथम वात तो यह है कि ये धणिक हैं दूसरी वात बौद्धों ने इनमें वाच्य वाचकता मानी भी नहीं। सामान्य शब्द और अर्थ में वाच्य वाचक भाव तो भी नहीं बनता, क्योंकि आपने सामान्य को अवस्तु माना है। अतः पहले जो कहा था कि वाच्य के भेद से अपोह में भेद होता है इत्यादि, सो घटिन नहीं होता।

इस प्रकार बौद्ध के यहां सामान्य बाच्य और उसके वाचक शब्द ये तथा इनके अपोह अवस्तु रूप स्वीकार किये हैं। जो अवस्तु रूप होते हैं उनमें गम्यगमक भाव नहीं होता जैसे आकाण पुष्प और स्वर विषाण में गम्यगमक भाव नहीं होता। आपके वाच्य वाचक अपोह भी अवस्तु रूप ही है अत: गम्यगमकपना ग्रसंभव है।

बीढ — ग्रवस्तु में गम्य गमकपना नहीं होता ऐसा कहना ग्रमैकान्तिक दोष युक्त है, क्योंकि "मेर्चो का ग्रभाव होने से वर्षा का ग्रभाव है" इस प्रकार ग्रभाव रूप साध्य और अभाव रूप हेतु में गम्यगमकपना पाया जाता है ये साध्य साध्य भो तो अवस्तु रूप हैं?

किंच, अपोही वाच्यः; धयावाच्यो वा ? बाच्यश्चेतिंक विविध्वेषेत्व, अन्यव्यावृत्या वा ? यदि विधिव्येष्यः, कथमपोहः सर्वशन्दार्वः ? अथान्येब्यावृत्याः, तिहि नापोहीपि शन्दाधिगम्यो धृष्यः । अनवस्था च-तद्वपाकृतेरिप व्याकृत्यन्तरेणाभिधानात् । अथाऽवाच्यः; तिहि अन्यशब्दार्वाऽपोहं शब्दः प्रतिपादयति दृत्यस्य व्याधातः ।

किंच, 'नान्यापोहः भ्रनन्यापोहः' इत्यादी विचिक्त्यादन्यद्वाच्यं नोपलस्यते प्रतिवेषद्वयेन विघेरे-वाष्यवसायात ।

जैन — यह कथन अयुक्त है, इस अनुमान प्रयोग में भी सद्भाव रूप मेघ रहित आकाश एवं सूर्य प्रकाश स्वरूप वस्तु मौजूद ही है, क्योंकि ग्रभाव भावांतर स्वभाव वाला होता है ऐसा हम प्रतिपादन करते हैं। आप बौड के मत में विवाद में आगत अपोहों में ही केवल गम्य गमक का अभाव हो सो बात नहीं ग्रपितु वृष्टि ग्रभाव ग्रौर मेघ अभाव में भी गम्य गमक भाव नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यह अपोह शब्द द्वारा वाच्य है कि अवाच्य है ? यदि वाच्य है तो विधि रूप शब्द से वाच्य है अथवा अन्य ब्यावृत्ति से वाच्य होता है ? यदि विधिरुप शब्द द्वारा वाच्य है तो सभी शब्दार्थ अपोह रूप हो होता है ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं ? अथित नहीं कह सकते, क्योंकि अपोह विधि अर्थात् अस्तित्व रूप शब्द द्वारा वाच्य होने से सभी शब्दों का अर्थ अपोह (अभाव) ही होता है ऐसा आपका सिद्धांत खंडित होता है। अन्य व्यावृत्ति से अपीह वाच्य होता है ऐसा कहो तो स्वलक्षण के समान अपोह भी शब्द द्वारा मुख्य रूप से गम्य होना सिद्ध नहीं होता। तथा इस तरह मानने से अनवस्था भी आती है क्योंकि अन्य व्यावृत्ति भी कार्य श्राय होता। यदि अपोह को अवाच्य मानते हैं तो गो आदि शब्द अन्य शब्दार्थ के अपोह का प्रतिपादन करता है ऐसे बौद्ध के मत का व्याघात हो जाता है।

किंच, "न ग्रन्यापोह: भ्रनन्यापोह:" इत्यादि शब्द में विधि रूप वाच्य को छोड़ कर ग्रन्य कुछ भी अर्थ नहीं निकलता है क्योंकि वो प्रतिषेष द्वारा तो विधि का ही निष्चय होता है, ग्रथांत् जिस शब्द में (या वाक्य में) दो नकार प्रयुक्त होते हैं उसका विधि रूप प्रर्थ ही होता है। कश्यायमन्यायोहशञ्दवाच्योर्थो यत्रात्यायोहसंज्ञा स्यात् ? ग्राय विजातीयव्यावृत्तानर्याना-श्रित्यानुभवादिकमेण् यदुत्पन्तं विकल्पभ्रातं तत्र यत्प्रतिभाति ज्ञानात्मभूतं विजातीयव्यावृत्तार्याकार-त्याध्यवस्तितमर्थप्रतिविश्वकं तत्रान्यायोह इति संज्ञा । ननु विजातीयव्यावृत्तपदार्थानुभवद्वारेण् साव्यं विज्ञानं तथाभूतार्थाध्यवसाय्युत्पदाते इत्यत्राविवाद एव । किन्तु तत्त्याभूतपारमाधिकार्यग्राह्यभ्य-पगन्तव्यभव्यवस्यायस्य ग्रहण्डपत्वात् । विजातीयव्यावृत्तेष्व समानपरिणामरूपवस्तुधमंत्वेन व्यवस्थापितत्वाभाममात्रमेव मिञ्चते ।

जैन का बौद्ध के प्रति प्रश्न है कि अन्यापोह शब्द द्वारा जिसको कहा जाता है वह पदार्थ कौनसा है जहां पर कि ग्रन्यापोह संज्ञा ग्रर्थात् संकेत किया जाय प्र

बौद्ध— विजातीय अक्वादि से व्यावृत होने वाले पदार्थों का आश्रय लेकर अनुभवादि कम से जो विकल्प जान होता है उस जान में जो जानात्मभूत प्रतीत होता है, तथा जो विजातीय से व्यावृत्त होने वाले अर्थों के आकार रूप से अध्यवसित (निश्चत) होता है एवं जो अर्थ प्रतिविम्च स्वरूप (ज्ञान से अभिन्न) है उस वस्तु में अन्यापोह संज्ञा की जाती है (ऐसा हमारे विज्ञानाई त वादी बौद्ध भाई का कहना है) इसका स्पष्टीकरण करते हैं— "गीः" यह शब्द प्रथम तो गो से विजातीय भूत अभव, हस्ती आदि से पृथक् जो लंडी गो मुंडी गो इत्यादि गो विशेष हैं उनका आश्रय लेकर कम से अनुभव आदि उत्पन्न होते हैं, अर्थात् पहले तो खंड आदि गो का अनुभव नामा निविकल्प दर्शन प्रादुर्भूत होता है पुनः सविकल्प ज्ञान होता है उसके अनन्तर संकेत काल में ज्ञात किये हुए वाच्य वाचक का स्मरण होकर उससे वाच्य वाचक की योजना होती है और "यह गो है" इस प्रकार विकल्प ज्ञान होता है, ऐसा ज्ञान जिसमें हो वह अन्यापोह का वाच्यार्थ है?

जैन — ठीक है, विजातीय ग्रथं से व्यावृत्त होने वाले पदार्थों के ग्रनुभव कम से होने वाला शाब्दिक ज्ञान उस तरह का श्रव्यवसाय करने वाला उत्पन्न होता है इसमें कोई विवाद नहीं है किन्तु उस प्रकार के उक्त ज्ञान को वास्तविक पदार्थ का ग्राहक है ऐसा स्वीकार करना होगा क्योंकि श्रव्यवसाय ग्रर्थात् निक्चायकपना उसी ज्ञान में संभव है कि जो उस विषय को ग्रह्ण करता है। ग्रामिश्राय यह है कि यदि विज्ञानाई तवादी बौद्ध ने जो यह कहा कि गो श्रादि शब्द से होने वाला शाब्दिक ज्ञान पदार्थ का निक्चय कराता है सो तब संगत हो सकता जब उक्त ज्ञानके विषयभूत ग्रर्थ

यच्चोक्तम्—"तत्प्रतिबिम्बकं च शब्दैन जन्यमानत्वात्तस्य कार्ययेवेति कार्यकारएभाव एव वाच्यवाचकभावः" [ ] तदम्यमुक्तम्; शब्दाद्विशिष्टसंकेतसब्यपेक्षाद्वबहुषार्ये प्रतिपत्तिप्रवृत्ति-प्राप्तिप्रतीतेः स एवास्यार्थो युक्तः, न तु विकल्पप्रतिबिम्बकमात्रं शब्दान्तस्य वाच्यतयाऽत्रतीतेः ।

ग्रतोऽयुक्तम् – "प्रतिविभ्वस्य मुख्यमन्यापोहत्वं विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षर्यास्यभ्यावृत्तेर-चौपचारिकम्" [ ] इति । प्रन्यापोहस्य हि वाच्यत्वे मुख्योपचारकल्पना ग्रुक्तिमती,

को पारमाधिक स्वीकार किया जाय! किन्तु आपने पदार्थ मात्र को काल्पनिक माना है अतः उक्त कथन बनता नहीं। तथा जिसे श्राप विजातीय पदार्थ से व्यावृत्ति होना कहते हैं श्रयीत् गो शब्द विजातीय ग्रश्वादि से गो श्रयों को व्यावृत्त करता है वह भी उन गो व्यक्तियों में होने वाले समान परिणाम रूप वस्तुभूत गोत्व धर्म के निमित्त से होता है, यह तो नाम मात्र का भेद है कि विजातीय व्यावृत्ति और समान परिणाम, गो व्यक्तियां समान परिणाम के कारण विजातीय से व्यावृत्ति होती है अथवा विजातीय से पृथक् होने के कारण उनमें समान परिणाम है। समान परिणाम ग्रयीत् गोत्व ग्रादि सामान्य एक वास्तविक धर्म है ऐसा स्वीकार करने पर ही उपर्युक्त कथन सिद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं।

बौद्ध का कहना है कि ज्ञान में अर्थका प्रतिबिम्ब शब्द द्वारा उत्पन्न होता है ग्रतः वह शब्द का कार्य है, इसलिये वाच्य वाचक भाव को कार्य कारण भाव रूप मानना चाहिये ? सो यह अयुक्त है, क्योंकि विशिष्ट संकेत की अपेक्षा रखने वाले शब्द से गो, घट, पट आदि वाह्य पदार्थ में प्रतिपत्ति होने पर एवं प्रवृत्ति और प्राप्ति होने पर ऐसा कह सकते हैं कि वहो इस शब्द का अर्थ है, केवल विकल्प ज्ञान में प्रतिबिबित होने मात्र से नहीं कह सकते, ज्ञानके प्रतिबिब स्वरूप पदार्थ तो शब्द से वाच्य होता हुया प्रतीत ही नहीं होता।

भावार्थ — गो भ्रादि शब्द किसको कहते हैं ऐसा बौद्ध के प्रति प्रश्न होने पर विज्ञानार्द्ध तवादी बौद्ध ने उत्तर दिया कि जो ज्ञान में प्रतिबिंबित होता है वह शब्द द्वारा वाच्य होता है तब जैनाचार्य ने कहा कि यह बात तो तब संभव है जब उस वाच्यार्थ को परमार्थभूत स्वीकार करे किन्तु विज्ञानार्द्ध तवादी ने ज्ञानको ही परमार्थभूत माना है बाह्यार्थ को नहीं, अतः अभुक शब्द का अभुक वाच्य है इत्यादि व्यवस्था होना भ्रमक्य है।

तच्चास्य नास्तोरकुक्तम् । ततः प्रतिनियताच्छव्दात्प्रतिनियतेऽवे प्राणिनां प्रवृत्तिदर्शनास्तिदः शब्द-प्रस्ययानां वस्तुभूतावविषयत्वम् । प्रयोगः-ये परस्यरासकीर्णप्रवृत्तयस्ते वस्तुभूतावविषयकः यदा श्रोत्तादिशस्ययाः, परस्यराऽसंकीर्णप्रवृत्तयस्य दण्डीत्यादिशाव्दप्रत्यया इति । न-वायमसिद्धो हेतुः; 'दण्डी विषाणी' इत्यादिश्रीव्यनी हि लोके द्रव्योगाधिकौ प्रसिद्धौ, 'सुक्तः कृष्णो भ्रमति वक्ति' इत्यादिकौ तु गुणुक्रियानिमित्तौ, 'गौरक्वः' इत्यादौ सामान्यविज्ञेषोगाधी, 'इहात्मनि ज्ञानम्' इत्यादिकौ सम्बन्धोपाधिकावेवेति प्रतीतेः।

इसलिये बौद्ध का निम्नलिखित कथन ग्रयुक्त सिद्ध होंना है कि जो ज्ञान के प्रतिबिब स्वरूप है वह मूख्य ग्रन्यापोहत्व है ग्रीर विजातीय से व्यावृत्तभूत स्वलक्षण के निमित्त से होने वाला अन्यापोहत्व औपचारिक है। अन्यापोह को वाच्य रूप स्वीकार करने पर ही मूख्य अन्यापोहत्व ग्रौर ग्रौपचारिक ग्रन्यापोहत्व ऐसा भेद करना युक्ति संगत होता है किन्तू अन्यापीह वाच्य हो नहीं सकता ऐसा अभी अभी सिद्ध हो चका है। इस प्रकार शब्द का अर्थ अपोह है ऐसा सिद्ध नहीं होता इसलिये प्रतिनियत शब्द से प्रतिनियत अर्थ में प्राणियों की प्रवृत्ति होती हुई देखकर निश्चित हो जाता है कि शब्द जन्य ज्ञानों का विषय परमार्थभूत पदार्थ हैं। अनुमान प्रयोग - जिन ज्ञानों की प्रवृत्तियांएक दूसरे की अपेक्षा किये बिना परस्पर असंकीर्ग होती हैं वे ज्ञान परमार्थ-भूत बस्तू को विषय करने वाले होते हैं, जैसे कर्णादि से होने वाले ज्ञान परस्पर की अपेक्षा से रहित असंकीर्ण होते हैं, "दण्डी" इत्यादि शब्द जन्य ज्ञान भी परस्पर में ग्रसंकीर्ण है ग्रतः परमार्थभूत वस्तु विषयक है । यह परस्पर ग्रसंकीर्ण प्रवृत्ति रूप हेत् श्रसिद्ध भी नहीं, क्योंकि 'दण्डी' विषाणी-दण्डा वाला, सींग वाला इत्यादि रूप प्रतीति ग्रौर शब्द ये दोनों द्रव्य की उपाधि रूप से ग्रर्थात् द्रव्य के निमित्त से होने वाले लोक में प्रसिद्ध ही है। "शुक्ल कृष्ण" तथा "चलता है, घूमता है" इत्यादि शब्द श्रीर ज्ञान तो गुण और किया के निमित्त से प्रवृत्त होते हैं। "गो श्रश्व" इत्यादि शब्द तथा ज्ञान नो सामान्य भीर विशेष उपाधि निम्नितक ग्रर्थात् गोत्व सामान्य भौर उससे व्यावृत्त होना रूप विशेष इनसे प्रवृत्त होते हैं। "इस ग्रात्मा में ज्ञान है" इत्यादि में होने बाले ् शब्द तथा ज्ञान सम्बन्ध निमित्तक हैं, इस प्रकार प्रतीति सिद्ध बात है कि शाब्दीक ज्ञान परमार्थ वस्तु को विषय करते हैं।

इस तरह शब्द का वाच्य अन्यापोह न होकर वास्तविक गो आदि पदार्थ ऐसा सिद्ध होने पर श्रव यहां पर बौद्ध श्रपना विस्तृत विवेचन प्रस्तृत करते हैं— नतु चाक्रतसमया व्वनयोषीभिधायकाः, कृतसमया वा ? प्रथमपक्षेतिप्रसंगः । द्वितीयपन्ने तु वब तैयां संकेतः-स्वलक्षरो, जातौ वा, तक्षीणे वा, जातिमत्ययं वा, बुद्धधाकारे वा प्रकारान्तरासम्मवात् ? न तावस्वलक्षरो; समयो हि व्यवहारां कियमाणः संकेतव्यवहारकालव्यापके वस्तुनि बुक्तो नान्यत्र । न व स्वलक्षरणस्य संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वमः, शावलेयादिव्यक्तिविषेषाणां वैशाविभेदेन परस्परतोऽत्यन्तव्यावृत्तत्याऽन्वयाभावात्, तत्रानन्त्येन संकेतासम्भवाण्य । विकल्पबुद्धावष्याहृत्य तेषु संकेताम्युपगमे विकल्पसमारोपितार्थविषय एव शब्दसंकेतः, न परमार्थवस्तुविषयः स्यात् । स्थिरकष्पत्वाद्धिमावलादिभावानां संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वेन समयसम्भवोप्यसम्भाव्यः; तेषामप्यनेकासुप्रवयस्वभावानां प्रादुर्भवानन्तरमेवापविगत्वा तदसम्भवान् ।

बौद्ध-जिनमें संकेत नहीं किया है ऐसे शब्द अर्थों के ग्रभिघायक होते हैं अथवा संकेत वाले शब्द अर्थाभिधायक होते हैं ? प्रथम पक्ष में अति प्रसंग दोष आता है। द्वितीय पक्ष माने तो प्रश्न होता है कि उन शब्दों का संकेत किसमें होता है स्वलक्षण में गोःवादि सामान्यभूत जाति में, ग्रथवा उस जाति से युक्त गो ग्रादि पदार्थ में, या गो स्रादि पदार्थाकार हुई बुद्धि में ? इनको छोडकर अन्य प्रकार में तो संकेत हो नहीं सकता । स्वलक्षण में शब्दों का संकेत होता है ऐसा प्रथम विकल्प ठीक नहीं, क्यों कि संकेत व्यवहार के लिये किया जाता है ( लौकिक एवं पारमार्थिक प्रयोजन सिद्धि के लिये ) अतः वह संकेतकाल और व्यवहारकाल इन दोनों कालों में व्यापक रूप से रहने वाली वस्तु में ही करना युक्त है न कि क्षणिक स्वलक्षण में। इसका कारण यह कि स्वलक्षण को क्षणिक निरंश एवं निरन्वय माना है अतः वह संकेत काल से लेकर व्यवहार काल तक व्यापक रूप से रह नहीं सकता, तथा स्वलक्षण विशेष रूप है स्रतः शाबलेय, बाहुलेय, खंडी मुंडी स्रादि स्वलक्षणभूत गो विशेषों में देश भेद एवं स्वभावादि भेद पाये जाने से (पृथक पथक स्थान में स्थित होना एवं वर्ण ग्राकारादिका भेद होना) इनमें परखर में अत्यंत भिन्नता है इसलिये इनमें ग्रन्वय का भी अभाव है. तथा अंनत संख्या प्रमाण हैं इस प्रकार के गो ग्रादि विशेष पदार्थों में गो ग्रादि शब्द द्वारा संकेत करना सर्वया ग्रसम्भव है। ग्रर्थातु जो गो शब्द है वह मुण्डी गो का बाचक है इत्यादि रूप अन्वय या संकेत गो विशोष में होना ग्रशक्य है। विकल्प बुद्धि में आरोप करके उन शब्दोंमें संकेत किया जाता है ऐसा माने तो शब्दों का संकेत केवल विकल्प में ब्रारोपित पदार्थों को विषय करता है परमार्थभूत पदार्थों को नहीं ऐसा सिद्ध होता है।

शंका — हिमाचल ग्रादि पदार्थ स्थिर एवं एक रूप होते हैं ग्रतः संकेत काल से व्यवहार काल तक व्यापक रूप से वे रहते ही हैं उनमें संकेत होना संभव है ?

समाधान — ऐसा सम्भव नहीं, हिमाचलादि पदार्थ भी ग्रनेक श्रगुओं के समूह रूप होते हैं इन श्रगुओं के प्रचय प्रादुर्भीव के श्रनंतर ही अपविगत (विनन्द) हो जाते हैं श्रतः इनमें संकेत का होना श्रसंभव ही है।

तथा इन शाबलेयादि गो विशेषों में यदि संकेत किया जाय तो वह स्रमुत्पन्न गो विशेषों में करे कि उत्पन्न गो विशेषों में करे ? अनुत्पन्न गो विशेषों में तो वास्तविकपने से संकेत हो नहीं सकता क्योंकि जो प्रमुत्पन्न है अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ वह पदार्थ श्रसत् ही है श्रसद्भूत संपूर्ण स्वभाव से रहित पदार्थ संकेत का आधार नहीं होता। उत्पन्न हुए गो श्रादि विशेषों में संकेत किया जाना भो श्रशक्य है इसका भी कारण यह कि पदार्थ का श्रमुभव एवं शब्द का स्मरण होने पर ही संकेत किया जाना शक्य है किन्तु शब्द के स्मरण काल में पदार्थ विनष्ट हो चकता है।

शंका — संपूर्णस्वलक्षणभूत विशेष क्षणों में अभेदपने से साहत्रय का आरोप करके संकेत किया जाता है ?

समाधान — तो फिर ठीक ही है स्वलक्षण अवाच्य है यह तो भली भांति सिद्ध हुआ, बुद्धि में आरोपित हुआ जो साहश्य है उसी को शब्दों द्वारा संकेतित किया जाता है न कि स्वलक्षण को ! यदि स्वलक्षण शब्द द्वारा वाच्य होता तो शाब्दिक ज्ञान का प्रतिभास स्पष्ट रूप से होता किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान स्पष्ट रूप से प्रतीति में आता है उस प्रकार शाब्दिक ज्ञान स्पष्ट रूप से प्रतीति में नहीं आता। अनुमान द्वारा भी सिद्ध होता है कि — जो जिसके द्वारा किये

## ' अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद्दाहं दश्घो हि मन्यते । भन्यथा वाहराज्येन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥१॥''

[ वाक्यप० २।४२५ ]

न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति, येनास्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दैरभिधीयेत एकस्य द्विस्व-विरोधात्। तक्र स्वतक्षस्य संकेतः।

नापि जातौ; तस्याः क्षणिकत्वे स्वलक्षणस्यवान्वयाभावान्न संकेतः फलवान् । प्रक्षणिकत्वे तु क्रमेण ज्ञानोत्पादकत्वाभावः । निर्ध्यकस्वभावस्य परापेकाप्यसम्भाव्या । प्रतिषिद्धा वेयं यथास्थानम् इत्यलमितप्रसंगेन ।

हुए ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होता वह उसका अर्थ (विषय) नहीं कहलाता, जैसे रूप और शब्द से किये गये ज्ञान में रसका प्रतिभास नहीं होने से वह उसका अर्थ नहीं कहलाता, शाब्दिक ज्ञान में स्वलक्षण प्रतिभासित नहीं होता अतः वह भी उसका वाच्यार्थ नहीं है। कहा भी है—स्पश्चेतिद्वय द्वारा अपिन का सम्बन्ध करके दम्ध हुआ पुरुष उस अपिन को अन्य प्रकार से जानता है और अपिन शब्द द्वारा किसी अन्य प्रकार से ही उस अपिन पदार्थ को जानता है, अर्थात् स्पश्चेतिद्वय से होने वाला अपिन का ज्ञान स्पष्ट रूप है और प्रपिन शब्द से होने वाला अपिन का ज्ञान स्पष्ट रूप है और प्रपिन शब्द से होने वाला अपिन का ज्ञान स्पष्ट रूप है और प्रपिन शब्द से होने वाला अपिन रूप वाच्यार्थ का ज्ञान सस्पष्ट रूप है।।।।।

ऐसा तो होता नहीं कि एक ही वस्तु में दो स्वरूप (स्पष्टत्व ग्रीर ग्रस्पष्टत्व ) हो जिससे कहना सम्भव होवे कि ग्रस्पष्टत्व वस्तुगत धर्म ही है और वह शब्दों द्वारा कहा जाता है। किन्तु एक में दो स्वरूप का विरोध है। इसलिये स्वलक्षण में संकेत होना ग्रशक्य है ऐसा निज्वय होता है।

गोत्व ग्रादि सामान्य रूप जाति में शब्दों का संकेत होता है ऐसा दूसरा विकल्प भी असत् है, क्योंकि जाति को क्षणिक माने तो स्वलक्षण के समान उसमें भी संकेत करना लाभदायक नहीं (क्योंकि संकेत से लेकर व्यवहारकाल तक उसका प्रस्तित्व नहीं रहता ) भौर यदि उक्त जाति को ग्रक्षणिक मानते हैं तो वह जाति जान को उत्पन्न नहीं कर सकेगी, तथा जो अक्षणिक अर्थात् नित्य एक स्वभाव रूप होता है उसको पर की अपेक्षा भी असम्भव है, हम बौद्ध ने नित्य एक रूप जाति का (सामान्य का) यथास्थान प्रतिषेष भी किया है अतः उसके विषय में प्रधिक नहीं कहते।

नापि तद्योगे संकेतः; तस्यापि समक्षायादिलक्षग्यस्य निसक्कतत्वात् । जातितद्योगयोदनासंभवे तद्वतोप्पर्यस्थासम्भवांत्कयं तत्रापि संकेतः ? बुद्धचाकारे वा; स हि बुद्धितादारम्येन स्थितस्वान्न बुद्धयस्तरं प्रतिपाद्यमर्थं वानुगच्छति ।

किंत्र, इतः शब्दादर्षकियार्थी पुरुषोऽप्रक्रियाक्षमान्यिनिवज्ञाय प्रवित्वयते हित मन्यमानै-व्यवहर्षु विरिष्णियायका निबुज्यन्ते न व्यवनितया । न चासौ विकल्पबुद्धधाकारोऽधिनोभित्र त शीता-पनौदादिकार्यं सम्पादयित् समर्थः ।

सामान्य रूप जाति का जिसमें सम्बन्ध हो उसमें संकेत करते हैं ऐसा तीसरा विकल्प भी उचित नहीं, क्योंकि समवाय ग्रादि सब प्रकार के सम्बन्ध का हम बौढ़ ने निराकरण किया है। चौधा विकल्प—जातिमान् पदार्थ में संकेत किया जाता है ऐसा कहना भी असत् है क्योंकि सामान्य रूप जाति और जाति संयोग वाला पदार्थ इन दोनों के ग्रसंभव होने पर जातिमान् पदार्थ का होना भी ग्रसंभव ही है ग्रतः उसमें किस प्रकार संकेत किया जा सकता है? पांचवा विकल्प—मो ग्रादि पदार्थ के आकार रूप हुई बुद्धि में संकेत किया जाता है ऐसा मानना भी अनुक्त है, क्योंकि वह बुद्धि में स्थित पदार्थ का आकार बुद्धि में तादात्म्यपने से स्थित हो चुका है वह ग्रन्य बुद्धि में प्रथा प्रतिपाद्यभूत पदार्थ में अनुगमन नहीं करता ग्रतः उसमें संकेत कैसे सम्भव है? दूसरी बात यह है कि—अर्थ किया के इच्छुक पुरुष उस अर्थ किया में समर्थ ऐसे पदार्थों को ज्ञात करके प्रवृत्ति करेंगे ऐसा मानकर व्यवहारी जनों द्वारा शब्दों को नियुक्त किया जाता है न कि बिना प्रयोजन के किन्तु विकल्प बुद्धि में स्थत यह जो ग्रयांकार है वह अर्थीजन के श्रभिलित शीतापनोद ग्रादि कार्य को करने में समर्थ नहीं है। फिर उसमें संकेत करना भी किसलिय ?

तथा यदि बुद्धि में स्थित स्रथांकार में शब्दों का संकेत होना स्वीकार करे तो हम प्रपोहवादी बौद्धों का पक्ष ही स्वीकृत होता है, आगे इसी को बताते हैं—अपोह-बादी के मत में भी बुद्धि में स्थित स्राकार बाह्य रूप से प्रतीत होता है एवं शब्द से बाच्यार्थ होता है ऐसा मोना ही है, यह शब्द प्रयं विवक्षा को तो उसका कार्य होने से जतलाता है जैसे धूम सग्निका कार्य होने से उसको अतलाता है।

किंच, बुद्धपाकारे शब्दसंकेतास्युपगयेऽपोहवादिपक्ष एवास्युपमतो भवेत्; तवाहि-प्रपोहवादि-नापि बुद्धपाकारो बाह्यरूपतयाध्यवसितः शब्दार्थोभीष्ट एव, धर्यविवक्षां च कार्यतया प्राब्दो गमयति यथा भूमोग्निमिति ।

भत्र प्रतिविधीयते। कृतसमया एव व्ननयोऽषाँभिषायकाः। समयश्य सामान्यविशेषात्मकाँऽ-भिषीयते न जात्पादिमात्रे। तथाभूतरुवार्यो वास्तवः संकेतञ्चवहारकालव्यापकत्वेन प्रमाणसिद्धः 'सामान्यविषेषात्मा तदयंः' [ परीक्षामु० ४।१ ] इत्यत्रातिविस्तरेण वर्णयिष्यते। सामान्यविशेष-योवस्तुभूतयोस्तस्सम्बन्धस्य वात्र प्रमाणतः प्रसाधिषय्यमाणस्थात्। न वात्राप्यानन्त्याद्वपक्तीवां

भावार्थ — शब्दों के द्वारा होने वाला संकेत स्वलक्षरण, जाति इत्यादि में नहीं होता किन्तु अपोह में होता है ऐसा हम बौद्ध मानते हैं, कोई कोई वादी प्रथांकार हुई बुद्धि में संकेत का होना स्वीकार करते हैं वह तो कुछ प्रभिन्न ते है वयोंकि वह आकार अपोह जैसा ही काल्पनिक है। स्वलक्षरण रूप वास्तविक पदार्थ में संकेत इसलिये नहीं होता कि वह क्षणिक एवं निरंश है अतः व्यवहार काल तक नहीं रहता सामान्य रूप जाति भी काल्पनिक एवं क्षणिक होने से संकेत योग्य नहीं। अन्त में यही मानना होगा कि शब्द द्वारा अपोह में संकेत होता है।

जैन — अब यहां बौद्धों का उपर्युक्त विवेचन खण्डित किया जाता है — संकेत के किये जाने पर ही शब्द अर्थ के अभिभायक (वाचक) होते हैं और वह संकेत सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में ही होता है न कि केवल सामान्यरूप जाति या विशेष में । तथा उस प्रकार का संकेतित हुप्रा पदार्थ काल्पनिक न होकर वास्तविक है क्योंकि संकेत काल से व्यवहार काल तक व्यापक रूप होने से प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है । इस संकेत के विषयभूत पदार्थ का आगे (तृतीय भाग में) "सामान्य विशेषात्मा तदर्थ विषयः" इस सूत्र की टीका में अति विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे । वहां पर हम अच्छी तरह प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा सिद्ध करेंगे कि सामान्य और विशेष वास्तविक गुण धर्म हैं एवं इनका सम्बन्ध भी काल्पनिक न होकर वास्तविक तादात्म्यस्वरूप है । बौद्ध ने कहा था कि व्यक्तियां अनंत होने के कारण तथा उनका परस्पर में अनुसमन नहीं होने के कारण उनमें संकेत होना अशक्य है सो कथन अयुक्त है, व्यक्तियों में संकेत भली प्रकार से हो सकता है क्योंकि उनमें सहश परिणाम (गोत्वादि सामान्य) पाया जाता है उस सहश परिणाम की अपेक्षा लेकर क्षयोपश्चम विशेष के कारण

परस्पराननुममाच्य संकेताऽसम्भवः; समानचरित्सामावेक्षया क्षयोपसमिववेषाविभू तोहास्वप्रमाऐान तासां प्रतिभासमानतया संकेतविवयतोपपत्तेः, कथमन्यबानुमानप्रवृत्तिः तत्राप्यानन्त्याननुगमरूपतया साध्यसाधनव्यक्तीनां सम्बन्धप्रहणासम्भवात् ?

प्रन्यस्थावृत्यां सम्बन्धवहरूपम्; इत्थप्यसत्; तस्या एव सहशारिशामसामान्यासम्भवे प्रसंभाव्यमानत्वात् । न चाऽसहवेष्वप्यर्षेषु सामान्यविकल्पजनकेषु तद्दर्शनद्वारेश् सहशव्यवहारे हेतुत्वम्; नीलादिविवेषार्शामप्यभावानुषंगात् । यथा हि परमार्थतोऽसस्या अपि तथाभूतविकल्पोत्पादकदर्सन-

आविभूत हुए तर्क प्रमाण द्वारा उन व्यक्तियों का ( शावलेय खंड मुंड म्रादि गो विशेष अथवा मनुष्य विशेषोदि वस्तु विशेष का ) प्रतिभास होता है अतः वे संकेत के विषय हो सकती है। यदि ऐसा न भाना जाय तो यनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेगी ? क्योंकि यनुमान की साध्य साधन रूप व्यक्तियां भी अनंत एवं म्रानुगमरूप होती हैं अतः उनके सम्बन्ध का ( अविनाभाव ) ग्रहण होना भी म्रशस्य हो जायगा।

शंका-—साध्य साधन व्यक्तियों के सम्बन्ध का ग्रहण ग्रन्य की व्याद्वत्ति से (असाध्य ग्रसाधन की व्याद्वति से )होता है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, सह अपिरणाम रूप सामान्य के न होने पर अन्य व्यावृत्ति होना असंभव है ऐसा अभी सिद्ध कर चुके हैं। जो सहश सामान्य का कवल विकल्प उत्पन्न करते हैं ऐसे पदार्थ यद्यपि खंडादि विसहश रूप हैं फिर भी उन विसहशों की प्रतीति से सहशता का व्यवहार कराने में हेतु हैं ऐसा कहना भी अयुक्त है क्यों कि ऐसा मानने से नील ग्रादि संपूर्ण विशेषणों का अभाव हो जाने का प्रसंग आयेगा, इसीका स्पष्टीकरण करते हैं —जिम प्रकार परमार्थ से असहश ऐसे खंड आदि गो विशेष हैं जो कि सहश सामान्य के विकल्प को उत्पादक होकर विसहश प्रतीति के कारण हैं वे सहश न्यवहार को करते हैं, उसी प्रकार जो स्वयं ग्रनील ग्रादि स्वभाव वाले हैं तो भी नील ग्रादि विकल्प के उत्पादक हैं तथा उस रूप प्रतीति के हेतु से ही नीलादि व्यवहार को करते हैं ऐसा मानना होगा, ग्रार्थात् नील ग्रादि विशेषण स्वयं नीलादिरूप नहीं हैं केवल उस विकल्प को उत्पन्न करते हैं ऐसा ग्रनिष्ट सिद्ध होने का प्रसंग आयेगा। दूसरी बात यह भी है कि यदि पदार्थों में सहश परिणाम नहीं

हेतवः सङ्गध्ययद्वारमाजो भावाः तथा स्ववभनीलादिस्वभावा ग्रिप नीलादिविकल्पोत्पादकदर्शन-निम्मत्तत्या नीलादिव्यवहारभावस्व प्रतिपत्येयन्ते । सद्द्यपरित्यामाभावे च श्रवानां सजातीयेतर-व्यवस्थाऽसम्भवाक्कृतः कस्य व्यावृत्तिः ? ग्रन्यव्यावृत्या सम्बन्धावगेमेपि चैतस्सर्वं समानम्—तन्नानन्त्या-ननुगमरूपत्वस्याऽविवेषात् । ततो 'ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते तस्याभिधायकाः यथा सास्नादिमत्यर्थेःकृतसमयोऽद्वशब्दः, न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन्वस्तुनि सर्वे व्वनयः' इत्यत्र प्रयोगेऽसिद्धो हेतुः; उक्तप्रकारेणार्थे व्वनीनां समयसम्भवात् ।

्मानेंगे तो उनमें सजातीय और विजातीय ( गो ग्रीर अश्वादि ) की व्यवस्था ग्रसंभव होने से किस पदार्थ से किसकी व्यावृत्ति करेंगे ? ग्रर्थात गो शब्द ग्रन्य की व्यावृत्ति कराता है अर्थातु विजातीय ग्रश्वादि की व्यावृत्ति कराता है ऐसी ग्रन्यापोह की व्यवस्था कैसे होगी ? क्योंकि सजातीय विजातीय कोई है नहीं । अतः सदृशसामान्य के बिना गो आदि शब्द का संकेत होना ग्रादि सिद्ध नहीं होता । इसी प्रकार अनुमान के साध्य साधन रूप व्यक्तियों का सम्बन्ध ग्रहण ग्रन्य व्यावृत्ति से होता है ऐसा बौद्ध का पूर्वोक्त कथन भी श्रसत् सिद्ध होता है। अर्थात् अन्य व्यावृत्ति से सम्बन्ध का ग्रहण होने की मान्यता में भी यही संकेत के पक्ष में दिये गये दूषण आते हैं। आगे इसी को कहते हैं-साध्य साधन रूप व्यक्तियां ग्रनंत होने से तथा उनमें परस्पर ग्रनुगमन नहीं होने से उनके ग्रविनाभाव सम्बन्ध को ग्रन्य व्यावत्ति से कैसे ग्रहण कर सकते हैं ? क्योंकि साध्य साधन व्यक्तियां क्षणिक एवं निरन्वय होने से अन्य व्यावृत्ति के काल में रह नहीं सकती, तथा अनंत होने से उनके सम्बन्ध को जान नहीं सकते । अतः अन्य व्यावृत्ति से शब्दों का संकेत ग्रहण एवं साध्य साधन का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता ऐसा सुनिश्चित ग्रसंभवत् बाधक प्रमाण से सिद्ध हो गया । इसलिये बौद्ध का उक्त ग्रनुमान गलत ठहरता है कि जिनमें परमार्थ रूप से संकेत नहीं हैं वे अब्द ग्रर्थाभिधायक नहीं होते हैं जैसे सास्नादिमान गो पदार्थ में जिसका संकेत नहीं किया है ऐसा ग्रश्व शब्द उस गो अर्थ को नहीं कहता, सब शब्द सब वस्तु में परमार्थ रूप से संकेतित नहीं होते अतः वे उनके स्रभिधायक (वाचक) नहीं होते हैं इत्यादि, सो इस अनुमान का "भावतः अकृतसमयत्वात् -परमार्थं से संकेत किये गये नहीं होने से" हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, ंक्योंकि हमारे पूर्वोक्त प्रतिपादन से प्रर्थात सहश परिणाम की अपेक्षा से शब्द में संकेत किया जाना संभव है ऐसा भली भांति सिद्ध हो गया है।

यच्च हिमाचलादिमावान।मध्यतेकपरमागुप्रचशातमनां क्षरिगकत्वेन समयासम्भव इत्युक्तम्; तदध्युक्तिमात्रम्; सर्वया क्षरिगुकत्वस्य बाह्याच्यात्मिकार्थं प्रतिवेतस्यमानत्वात् । तथा चोत्पन्नेष्वप्यर्थेषु संकेतसम्भवात्, प्रयुक्तमक्तम्-'उत्पन्नेष्वतृत्पनेषु वा संकेतासम्भवः' इत्यादि ।

ननु शब्देनायंस्याभिषेयत्वे साक्षादेवातोयंत्रतियत्तेरिन्द्रियसंहतेर्वेकत्यप्रसंगः; तम्नः ध्रतोऽयं-स्याऽस्यष्टकारतया प्रतिपत्तेः, स्यष्टाकारतया तत्त्रतिषस्ययंप्तिन्द्रियसंहतिरप्युपपदाते एवेति कयं तस्या वैकल्यम् ? स्पष्टाऽस्पष्टाकारतयायंत्रितिमासभेदश्च सामग्रीभेदाश्च विरुध्यते, दूरासन्नार्योपनिबद्धेन्द्रिय-प्रतिभासवत् ।

बौद्ध ने कहा था कि हिमाचल ग्रादि पदार्थ भी ग्रनेक ग्रागुओं के समूह रूप एवं क्षिएिक होने से उनमें संकेत नहीं हो सकता, सो यह कथन श्रयुक्त है, क्योंकि हम ग्रामे बाह्य एवं ग्रम्थंतर रूप जड़ चेतन पदार्थ में सर्वथा क्षणिकपने का निषेष करने वाले हैं। तथा उत्पन्न हुए पदार्थों में संकेत होना सम्भव है ग्रतः पूर्वोक्त कथन श्रसत्य सिद्ध होता है कि—उत्पन्न पदार्थ हो चाहे श्रनुत्पन्न पदार्थ हो दोनों में भी संकेत श्रसंभव है इत्यादि।

बौद्ध — शब्द द्वारा अर्थ का अभिधेयत्व होना स्वीकार करेतो उससे व्यवधान रहित साक्षात् हो अर्थ की प्रतीति हो जाने में चक्षु आदि इन्द्रिय समूह व्यर्थ सिद्ध होता है १

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, शब्द से अर्थ का अस्पष्टरूप प्रतिभास होता है, अतः उस पदार्थ का स्पष्टाकार से प्रतिभास होने के लिये चक्षु आदि इन्द्रिय समूह उपयुक्त होता हो है, इसलिये उसकी व्यर्थता किस प्रकार होगो र यर्थात् नहीं होगो । एक ही पदार्थ का स्पष्टाकार और अस्पष्टाकार रूप से प्रतिभास का भेद होना सामग्री के भेद होने से विश्व नहीं पड़ता अर्थात् विभिन्न सामग्री के कारण से एक ही पदार्थ कभी स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, जैसे दूर और निकट होने के कारण एक ही पदार्थ चक्षुइन्द्रिय द्वारा अस्पष्ट और स्पष्ट रूप प्रतीत होता है, अर्थात् पदार्थ के दूर होने रूप आदि सामग्री से चक्षु द्वारा उसका अस्पष्ट प्रतिभास होता है और निकट में होना आदि सामग्री से स्पष्ट प्रतिभास होता है, इसी प्रकार एक ही पदार्थ का अन्यष्ट और इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट प्रतिभास होता है, इसी प्रकार एक ही पदार्थ का अन्य द्वारा अस्पष्ट और इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट प्रतिभास होता है, इसी प्रकार एक ही पदार्थ का अन्य द्वारा अस्पष्ट और इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट प्रतिभास होता है,

प्रयाऽसस्यय्यर्थेऽतीतानागतादी शब्दस्य प्रकृति (ते)निस्यायिभयावकत्वम्; तदसत्; तस्येदानी-मभावेषि स्वकाले भावात्, भ्रन्यया शत्यक्रस्याय्यर्थेविषयत्वाभावः स्यात् तद्विषयस्यापि तस्कालेऽभावात् । प्रविसंवादस्तु प्रमास्यान्तरप्रकृतिलक्षस्योऽध्यक्षवच्छाव्येय्यनुमूयत एव । 'धासीद्विह्नः' इत्याद्यतीतिवषये वाक्ये विशिष्टभस्मादिकायंदर्शनोत्भृतानुमानेन संवादोष्यव्येः, चन्द्राक्ष्यहस्याद्यनागतायंविषये तु प्रत्यक्षप्रमाचैनेव । क्वचिद्वसंवादात्सर्वत्र शाब्दस्याऽभामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि क्वचिद्वसंवादात्सर्वत्रा-प्रामाण्यप्रसंगः । ततो निराकतमेतन—

बौद्ध---अतीत स्रनागतादि काल में पदार्थ के नहीं रहते हुए भी उसमें शब्द की प्रवृत्ति पायी जाती है ऋतः शब्द को स्रर्थ का स्रभिधायक नहीं मानते 🎗

जैन - यह कथन अयुक्त है, उक्त पदार्थ इस समय नहीं होने पर भी स्वकाल में तो विद्यमान हो था स्रतः शब्द उसके स्रभिधायक हो सकते हैं यदि ऐमा न माना जाय तो उक्त पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय भी नहीं हो सकेगा क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के काल में भी उसके विषयभूत पदार्थ नहीं होते । ग्रभिप्राय यह है कि ग्रापके क्षणिक मतानुसार शाब्दिक ज्ञान के समय ग्रीर प्रत्यक्ष ज्ञान के समय दोनों समयों में भी पदार्थ विद्यमान नहीं रहता भ्रतः यदि पदार्थ के विद्यमान नहीं होने के कारण शब्द को भ्रर्थ का अभिधायक नहीं मानते तो प्रत्यक्ष ज्ञान को भी उसका ग्राहक नहीं मानना होगा । यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष ज्ञान में अविसंवाद रहता है अतः वह अर्थ का ग्राहक माना जाता है सो यह वात शाब्दिक ज्ञान में भी संभव है, ग्रर्थात् प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति होना रूप ग्रविसंवाद प्रत्यक्ष के समान शब्द जन्य ज्ञान में भी अनुभव में ग्राता ही है। "ग्रग्नि थी" इत्यादि अतीत अर्थ को विषय करने वाले वाक्य में विशिष्ट भस्म (राख) भ्रादि कार्य के देखने से उत्पन्न हुए अनुमान प्रमाण द्वारा संवाद हो जाता है अर्थात सत्यता श्राती है तथा चन्द्र ग्रहण सर्य ग्रहण श्रादि आगामी पदार्थ को विषय करने वाले वाक्य में तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही संवाद हो जाता है। यदि कहा जाय कि शब्दजन्य ज्ञान के विषयभूत पदार्थ में कहीं कहीं विसंवाद देखा जाता है ग्रतः सभी शब्दजन्य ज्ञान में श्रप्रामाण्य माना गया है तो प्रत्यक्षज्ञान के विषय में भी कहीं विसंवाद देखा जाने से उसे भी सर्वत्र अप्रामाणिक मानना होगा । इसलिये शाब्दिक ज्ञान में सत्यता मानना ग्रावश्यक है एवं शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ में संकेत होना उसका ग्रहण होना इत्यादि "क्रन्यदेवेक्त्रियमाम्भान्यस्थ्यदस्य गोषरः । शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते ॥१॥" [ ] "ग्रन्ययेवामिनसम्बन्धादृहं दम्भोभिमन्यते । ग्रन्यया दाहशब्देन दाहार्थं सम्प्रतीयते ॥"

सामग्रीभेदाहिशदेतरप्रतिभासभेदो न पुनिविषयभेदात्, सामान्यविशेषात्मकार्यविषयतया सकलप्रमाणानां तद्भेदाभावादित्यग्रेवस्यमाण्तवात् । ततो 'यो यत्कृते ग्रत्यये न प्रतिभासते' इत्यादि-

प्रयोगे हेत्रसिद्धः; सामान्यविशेषात्मार्थलक्षणस्यलक्षणस्य शाब्दप्रत्यये प्रतिभासनात् ।

मानना भी श्रावश्यक है। इसलिये निम्नलिखित कथन निराक्टत हुआ समक्ष्ता चाहिए कि — इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने वाला पदार्थ अन्य है और शब्द के गोचर पदार्थ कोई अन्य ही है, क्योंकि अन्यपुरुष शब्द से तो पदार्थ को जान लेता है किन्तु उसको प्रस्यक्ष देख नहीं सकता, अतः निश्चय होता है कि शब्द के गोचर पदार्थ कोई अन्य ही है।।।। अग्नि के सम्बन्ध से दग्ध हुआ पुरुष स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा उस अग्नि को अन्य प्रकार से (स्पष्ट रूप से) जानता है, और वही पुरुष यदि अग्नि शब्द द्वारा अग्नि को जानता है तो किसी अन्य प्रकार से (अस्पष्ट रूप से) जानता है इत्यादि।

यह समकता आवश्यक है कि विशदप्रतिभास और अविशदप्रतिभास सामग्री के भेद से होता है न कि विषयभूत पदार्थ के भेद से, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण हो बादे अनुसान प्रमाण हो अथवा अन्य शब्दज प्रमाणादि हो, सभी प्रमाणों का विषय सामान्य विशेषात्मक एक ही पदार्थ है। प्रमाणों के विषय में भेद नहीं है इसकी आगे ( तृतीय भाग में ) सिद्ध करने वाले हैं। इसलिये पहले बौद्ध ने जो कहा था कि—"जो जिसके द्वारा किये हुए ज्ञान में प्रतीत नहीं होता वह उसका विषय नहीं होता" इत्यादि सो उक्त अनुसान का हेतु ( शब्दज ज्ञान में स्वलक्षण प्रतीत नहीं होना रूप हेतु ) असिद्ध है, क्योंकि शाब्दिक ज्ञान में सामान्यविशेषात्मक स्वभाव वाला स्वलक्षण प्रतिभासित होता है।

प्रयोगः-यद्यत्र व्यवहृतिमृणजनयति तत्तद्विषयम् यषा सामान्यविषेशस्यके वस्तुनि व्यवहृति-मृपजनयस्यस्यः तद्विषयम्, तव व्यवहृतिमृपजनयति च सव्य इति । न चासिद्धो हेतुः; बहिरन्तक्ष्य शाब्दव्यवहारस्य तथाभूते वस्तुन्युपनम्भात् । भवस्कित्यतस्वलक्षस्यस्य तु प्रस्यक्षेऽन्यत्र व । स्वप्नेप्यप्रति-भासनात् ।

प्रतिज्ञापदयोध्य व्याघातः; तथाहि—'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्' इत्यनेन राब्देन कश्चिवथॉभिधोयते वा, न वा ? नाभिधोयते चेत्; कथमिन्द्रियग्राह्यस्यान्यत्वमतः प्रतीयते ? अथाभिधोयतेर्यः; तर्हि तस्यैव तद्विययत्वप्रसिद्धः कथस्र शब्दस्थार्यागोचरत्वप्रतिज्ञाऽतो ध्याहन्येत ? साक्षादिन्द्रियग्राह्यागोचरोऽन

अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि — जो जहां पर व्यवहार को (विकल्प ज्ञान को) उत्पन्न करता है वह उसका विषय होता है, जैसे सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में प्रत्यक्षज्ञान व्यवहार को उत्पन्न करता है अतः वह उसका विषय है, ग्रन्थ भी उक्त पदार्थ में व्यवहार को उत्पन्न करता है अतः वह उसका विषय है। उसमें व्यवहार को उत्पन्न करना हम हम हम विषय है। उसमें व्यवहार को उत्पन्न करना हम हम हम विकार करता हम हम विकार करा कर करना हम हम विकार कर करना हम हम विकार के वस्तु में (सामान्य विशेषात्मक वस्तु में) शब्द जन्य ज्ञान द्वारा होने वाला व्यवहार उपलब्ध होता है। प्राप सौगत द्वारा परिकल्पित स्वलक्षण हम वस्तु तो प्रत्यक्ष ग्रीर प्रत्य प्रमुमानादि में ही क्या स्वप्न में भो प्रतिभासित नहीं होती। जैसे गधे के सींग किसी भी प्रमाण में प्रतीत नहीं होते।

तथा शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ प्रतिभासित होना नहीं मानेंगे तो प्रतिक्षा ग्रीर पद का व्याघात हो जाने का प्रसंग आता है, ग्रागे इसी को बताते हैं—यदि शब्द किसी भी ग्रर्थ को नहीं कहता तो "इन्द्रिय द्वारा अन्य ही ग्राह्य होता है" इस शब्द द्वारा कोई अर्थ कहा जाता है कि नहीं? यदि नहीं कहा जाता तो यह अर्थ इन्द्रिय ग्राह्य अर्थ से अन्य है (पृथक् है) ऐसा इस शब्द से किस प्रकार प्रतीत होता है शि और उक्त शब्द द्वारा अर्थ कहा जाता है तो वहीं अर्थ उस शब्द का विषय है ऐसा सिद्ध ही हुआ, फिर "ग्रर्थ शब्द के श्रगोचर है" ऐसा प्रतिक्षा वाक्य कैसे खण्डित नहीं होगा ? अवश्य ही होगा।

बौद्ध---शब्द का गोचरभूत पदार्थं झध्यवधानरूप से इन्द्रिय ग्राह्य के ग्रगोचर है ? साम्बिति चेतु: यारम्पर्येणासौ तद्गोचरो भवति, न वा ? यदि न भवति; तिहि 'साक्षात्' इति विशेषण् स्थबंस् । श्रय भवति; तिहि तन्ज्ञा (तज्जा)श्रतीतिः किषिन्द्रियजप्रतीतितुरुया, तद्विलक्षणा वा ? यदि तत्तुस्या; तदा 'शब्दाप्रत्येति विनष्टाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते' इत्यनेन विरोधः । तद्विलक्षणा चेत्; न तिहि प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयभेदसाधनम्, इकत्रापि विषये तदम्युग्गमात् ।

दाह्यब्देन वात्र कोर्थोभित्रेत:-किमिनः, उष्णस्पर्धः, रूपविशेषः, स्कोटः, तद्दुःस वा ? प्रस्तु यः करिचत्, विमेशिविकरपैभवतां सिद्धमिति चेत् ? एतेषां मध्य योर्थोशित्रे तो भवतां तेनार्थेनार्थवस्व-प्रसिद्धेः तस्यानर्थविषयस्वाभावः सिद्ध इति ।

जैन-तो फिर परम्परा से वह अर्थ शब्द के गोचर होता है ? अथवा परंपरा से भी नहीं होता ? यदि परम्परा से भी शब्द के गोचर नहीं होता तो साक्षात गोचर नहीं होता ऐसा उक्त वाक्य में साक्षात् विशेषण देना व्यर्थ ठहरता है। ग्रर्थ परंपरा से शब्द के गोचर होता है ऐसा माने तो वह शब्द से होने वाली अर्थ की प्रतीति इन्द्रियज प्रतीति के समान है प्रथवा उससे विलक्षण है ? यदि इन्द्रियज प्रतीति के समान है तो अंध पूरुष शब्द से अर्थ को जानता है किन्तू उस अर्थ को प्रत्यक्ष तो नहीं देखता है अर्थात चक्ष ग्राह्म अर्थ अन्य है और शब्द गोचर अर्थ अन्य है ऐसा आपने पहले कहा था उस कथन के साथ विरोध ग्राता है ? क्योंकि यहां पर शब्दज प्रतीति ग्रीर इन्द्रियज प्रतीति इन दोनों को समान मान लिया । इन्द्रियज प्रतीति से शब्दज प्रतीति विलक्षण हआ करती है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो आप बौद्ध का वह सिद्धांत गलत ठहरता है कि -- "प्रतीति के जिलक्षण होने से अर्थात भिन्न भिन्न प्रतीति के होने से ही प्रतीति के विषयभत पदार्थों के भेद सिद्ध होते हैं'' क्योंकि यहां पर एक विषय में भी प्रतीति भेद मान लिया । श्रभिप्राय यह है कि आप "प्रमय द्वैविध्यात प्रमाण द्वैविध्यम -प्रमेय दो प्रकार का होने से प्रमाण दो प्रकार का होता है" ऐसा मानते हैं ग्रर्थात प्रमेय सामान्य भीर विशेष के भेद से दो प्रकार का है इसलिये उनको जानने के लिये प्रमाण भी दो प्रकार के-प्रत्यक्ष थीर अनुमान मानने पड़ते हैं, किन्तु यहां एक ही प्रमेय अर्थात विषय में दो विलक्षण प्रतीतियों का होना स्वीकार किया।

दाह शब्द द्वारा अन्य ही अर्थ प्रतीत होता है इत्यादि पूर्वोक्तः कथन में दाह शब्द से कीनसा ग्रर्थ लेना इष्ट है। ग्रग्नि, उष्णस्पर्ध, रूपविशेष, स्फोट प्रथवा दाह से होने वाला दुःख ? नन्त्रेवं दहनसम्बन्धायणा स्कीटो हुःखं वा तथा दाहग्रव्यादिष किन्न स्वादर्षप्रतीतरिषयेषात् ? तन्नः ग्रन्थकार्यस्वात्तस्य, न खलु दहनप्रतीतिकार्यं स्कीटादि । कि तहि ? दहनदेहसम्बन्धविशेषकार्यम्, सुपुप्ताद्यवस्यायामप्रतीताविष ग्रम्नेस्तस्यम्बन्धविशेषात् स्कीटादेदेशनात्, दूरस्यस्य चक्षुषा प्रतीता-वप्यदर्शनात्, मन्त्रादिवलेन त्विगिद्धयेगापि प्रतीतावप्यदर्शनात् । तस्मादिभन्नेषि विषये सामग्रीभेदा-द्विग्यदेतप्रतिभासभेदोऽस्युपयन्तव्यः ।

बौद्ध — दाह शब्द से कोई भी अर्थ लेते हैं इन विकल्पों से आप जैनों का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

जैन—इतने प्रकार के पदार्थों के मध्य में जो पदार्थ आप बौद्धों को इच्ट होगा उस अर्थ द्वारा शब्द का अर्थवान्पना अर्थात् अर्थ को विषय कर सकना सिद्ध होने से शब्द श्रवास्तविक अर्थ को विषय करते हैं (अथवा शब्द अनर्थ को विषय करता है) ऐसी आपकी मान्यता गलत सिद्ध होती है।

बौद्ध – जैसे अग्नि के सम्बन्ध से स्फोट या दुःख होता है वैसे अग्नि शब्द से भी स्फोट या दुःख क्यों नहीं होता दियों कि अर्थ की प्रतीति तो समान ही है ? अर्थात् यदि इन्द्रिय ग्राह्य अर्थ और शब्द गोचर अर्थ एक ही है और शाब्दिक प्रतीति और इन्द्रियज प्रतीति समान है तो अग्नि शब्द से स्फोटादि क्यों नहीं होते ?

जैन — ऐसा कहना उचित नहीं है, स्फोट ग्रादि होना किसी ग्रन्य का कार्य है, ग्रिन की प्रतीति का कार्य स्फोटादि नहीं है, वह कार्य तो ग्रिन ग्रीर घरीर के सम्बन्ध विशेष के कारण होता है, यदि स्फोट ग्रादि ग्रीन की प्रतीति का कार्य होता तो सुप्त उन्मत्त ग्रादि दशा में ग्रीन के प्रतीति के नहीं रहते हुए भी उस ग्रीन के सम्बन्ध विशेष से स्फोटादि होना कैसे दिखायी देता? दूर में स्थित पुरुष के चक्ष द्वारा ग्रीन के प्रतीत होने पर भी स्फोटादि क्यों नहीं होते तथा मंत्रादि के बल से युक्त होने पर स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा प्रतीत होने पर भी स्फोटादि क्यों नहीं दिखाई देते? ग्रतः निश्चय होता है कि ग्रीन के प्रतीति होने मात्र से स्फोट या दुःख नहीं होता ग्रीपद ग्रीन और शरीर के संयोग हो जाने से उक्त कार्य होता है इसलिये स्फोट ग्रादि ग्रीन प्रतीति का कार्य नहीं है। ग्रतः बौदों को विषय के ग्रीक्त रहने पर भी सामग्री के भेद से विश्वद ग्रीर ग्रीवशद रूप प्रतिभासों का भेद स्वीकार करना चाहिए। ग्रायीत् विभिन्न सामग्री के कारण भिन्न भिन्न प्रतिभास होता है न कि विषयभेद के कारण।

तथा चेदसय्यपुक्तम्—'न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्येकस्य द्विश्वविरोधात्' इति । यदि चामावोभिधीयते सन्देभावो नाभिधीयते इति क्रियाप्रतिवेधात्र किचिक्ततं स्यात् । तथा च कथं नदीदेशद्वीपपर्वतस्वर्गापवर्गादिस्वाप्तप्रागीतवाक्यास्प्रतिपत्तिः श्रोयःसाधनानुष्ठाने प्रवृत्तिर्वा ? अन्यथा सर्वस्मादिष वाक्यात्सर्वत्रार्थे प्रतिपत्तिप्रकृत्यादिप्रसंगः ।

सत्वेतरध्यवस्थाभावस्य तस्वेतरप्रिविषरोरभावात् । तथाच 'यत्सत्तत्सवंमक्षणिकं काणिके क्रमयौगपद्याम्यामयंक्रियाविरोधात्' इत्यादेरिव 'यत्सत्तत्सवं क्षणिकं नित्ये क्रमयौगपद्याम्याक्षयाविरोधात्' इत्यादेरिव 'यत्सत्तत्सवं क्षणिकं नित्ये क्रमयौगपद्याम्याक्षयानु-पदरोः' इत्यादेरप्यसत्त्वानुषंगः । विपर्ययप्रसंगो वा, सर्वयार्थाक्षस्पित्वित्वविदेशवात् । कस्यचिदनुमान-

इस प्रकार सामग्री के भेद के कारण प्रतिभासों में भेद होना सिद्ध होने पर बौडों का उक्त कथन विरोध को प्राप्त होना है कि — एक वस्तु के दो रूप (विशय 'ग्राविशद ) नहीं हो सकते, क्योंकि एक के द्वित्वपने का विरोध है इत्यादि ।

यदि शब्दों द्वारा अभाव अर्थात् अपोह ही कहा जाता है सद्भाव नहीं कहा जाता इस प्रकार भाव रूप किया का ही निषेध किया जाता है तो शब्द द्वारा कुछ भी नहीं किया जाता ऐसा अर्थ निकलता है ? फिर तो नदी, देश, द्वीप, पर्वत, स्वर्ग, मोक्ष आदि पदार्थों में आप्त प्रणीत शब्द से प्रतिपत्ति किस प्रकार हो सकती है ? तथा मोक्ष के साधनभूत अनुष्ठान में प्रवृत्ति भी किस प्रकार हो सकती है ? और यदि शब्द से कुछ नहीं किये जाने पर भी अर्थ प्रतिपत्ति एवं प्रवृत्ति स्वादि होती है तो सभी वाक्य से सब अर्थों में प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति हो जाने का प्रसंग भी प्राप्त होता है।

तथा शब्द द्वारा कुछ प्रतीत नहीं होता अपोह ही प्रतीत होता है ऐसा माने तो सत्य और असत्य की व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्यों कि तत्व और असत्य की व्यवस्था नहीं हो सकेगी, क्यों कि तत्व और असत्य की प्रतिपत्ति का अभाव है। जब सत्य असत्य की व्यवस्था नहीं है तब "जो सत् है वह सर्व ही अक्षणिक है क्यों कि क्षणिक में कम और ग्रुगपतरूप से अर्थ किया का विरोध है" जैसे यह वाक्य आप बौद्ध को असत्य रूप है वसे "जा सत् है वह सर्व क्षणिक है क्यों कि नित्य में कम और युगपत् रूप से अर्थ किया का विरोध है" यह वाक्य भी असत्य रूप होना चाहिए ? अथवा उपर्युक्त वाक्यों में से पहले का वाक्य सत्य और अंत का वाक्य असस्य ऐसा विपयंय का प्रसंग आ सकता है ? क्यों कि शब्द या वाक्य सर्वथा किसी भी अर्थ का स्पर्ण ही नहीं क्रते। यदि आप बौद्ध किसी अनुमान वाक्य को किसी प्रकार

वानसस्य कथिबदर्थसंस्पश्चित्वे सर्वेषार्थस्यानभिषेयत्विवरोधः । स्वपक्षविपक्षयोक्व सत्यासत्यत्व-प्रदर्शनाय शास्त्रं प्रणयन् वस्तु सर्वेषाऽनभिषेयं प्रतिजानाति इत्युपेक्षण्गीयप्रज्ञः, सर्वेषाभिषेयरहितेन तेन तस्य प्रणेतुमशक्तेः ।

"शक्तस्य सूचकं हेतुवचोऽशक्तमिप स्वयम्" [ प्रमाणवा० ४।१७ ] इत्यभिषानात् । तत्कृतां तत्त्वसिद्धिमुपजीवति, नार्थस्य तद्वाच्यतामिति किमिप महाद्भुतम् ! वस्तुदर्शनवंशप्रभवत्वाद्धेतुवचो वस्तुसूचकम्; इत्यक्षणिकवादिनोपि समानम् । मद्वचनमेवार्थदर्शनवंशप्रभवं न पुनः परवचनम्; इत्यन्य-त्रापि समानम् ।

से अर्थ का स्पर्ध करने वाला ( अर्थ का वाचक ) मानते हैं तब तो सर्वधा सभी शब्द अर्थ को कहते ही नहीं ऐसा आपका सिद्धांत विरुद्ध पड़ता है। स्वपक्ष की सरयता और विपक्ष की असरयता का अदर्शन कराने के लिये शास्त्र को रचने वाले आपके बौद्ध अस्थकार वस्तु को सर्वथा अनिभिधेय ( अवाच्य ) रूप मानने की प्रतिज्ञा करते हैं सो यह अस्थकार उपेक्षणीयप्रज्ञ — उपेक्षा करने योग्य ज्ञान वाला अर्थात् मूर्ख है क्यों कि इधर तो सरय असरय की व्यवस्था शास्त्र से ( शब्द से ) होना मानकर शास्त्र रचता है और इधर वस्तु को शब्द द्वारा अनिभिधेय मानता है सो यह सर्वथा अनुवित है, क्यों कि सर्वथा अनिधेय रहित शब्द द्वारा शास्त्र का प्रणयन करना ही अशक्य है।

बौद्ध ग्रन्थ प्रमाणवात्तिक में कहा है कि - हेतु वचन स्वयं ग्रशक्त होकर श्रक्त स्वलक्षण का सूचक हुआ करता है अर्थात् स्वरूप से असमयं ऐसा हेतु वचन समयं रूप स्वलक्षण को (साध्य को) सिद्ध करता है, सो शब्द द्वारा की गयी तस्व सिद्धि को तो अंगीकार करना ग्रीर ग्रयं शब्द से वाच्य नहीं होता ऐसा कहना महाग्रास्वर्यकारी है।

बौद्ध — हेतुषचन वस्तु का (स्वलक्षणभूत साध्य का) सूचक इसलिये होता है कि उसकी उत्पत्ति वस्तुभूत धूमादि दर्शन के ग्रन्वय से हुई है? ग्रर्थात् हेतु का वचन वास्तविक धूमादि को देखना रूप प्रतीति से उत्पन्न होता है ग्रतः स्वलक्षणभूत साध्यार्थ को सिद्ध करता है?

जैन— तो यही बात हम जैनादि ग्रक्षणिक बादी के पक्ष में हो सकती है ग्रथीत् जो शब्द सत्यार्थ प्रतीत होते हैं वे ग्रथींभिषायक होते हैं ऐसा सिद्ध होता है। "हमारे वचन ही अर्थ दर्शन के ग्रन्यय से हुए हैं पर बचन नहीं" "ऐसा कहो तो जैन . सकलवनतो विवदामात्रविषयत्वास्त्रुपगमाच्य, तावन्मात्रत्वकृत्वेन व शाब्दस्य प्रामाण्ये सर्वे साव्यविकानं प्रमातां स्थात्, प्रत्यागमस्यापि प्रतिवाद्यभिद्यापप्रतिपादकत्वविविषात् ।

किंच, मर्पव्यभिचारवच्छव्यानां विवक्षाव्यभिचारस्यापि दर्शनात्कथं ते तामपि प्रतिपादयेषुः ? योजस्खलनादौ झुन्यविवक्षायामप्यन्यशस्त्रभ्योगो इश्यते एव । 'सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति' इति नियमोर्ज्यविशेषप्रतिपादकत्वेप्यस्याप्त्त् ।

भी कह सकते हैं कि हमारे बचन ही अर्थ दशन प्रभव है परके नहीं ? सो समान ही बात है।

तथा सम्पूर्ण बचन (साध्य साधन के वचन या अन्य वचन ) विवक्षामात्र को विषय करते हैं ऐसा माना जाता है, सो विवक्षामात्र के सूचक होने से शाब्दिक ज्ञान में प्रामाण्य स्वीकार करे तो सभी शाब्दिक ज्ञान प्रामाण्यक होंगे, फिर परवादी के आगम वचन में भी प्रामाण्यकता माननी होगी, वयोंकि वे वचन भी प्रतिवादी के अभिप्राय प्रर्थात् विवक्षा के सूचक हैं।

किंच, जिस प्रकार शब्दों का ग्रर्थ के साथ व्यभिचार देखने में आता है ग्रर्थात् बिना ग्रर्थ के भी शब्द प्रवृत्त होते हैं उस प्रकार विवक्षा व्यभिचार भी देखने में ग्राता है ग्रर्थात् विवक्षा के बिना भी शब्द प्रवृत्त होते हैं ग्रथवा विवक्षा ग्रन्य होती है और शब्द प्रन्य निकलते हैं ग्रतः शब्द विवक्षा का भी किस प्रकार प्रतिपादन कर सकते हैं ! गोत्र स्वलन ग्रादि में (गोत्र अर्थात् नाम उसका स्खलन अर्थात् नाम तो कुछ हो ग्रीर कहे कुछ अन्य रूप ) देखा भी जाता है कि कहने की विवक्षा तो कुछ ग्रन्य रहती है और शब्द प्रयोग होता है कुछ अन्य ही । यदि कहा जाय कि "सुविवे-चितं कार्य कारएं न व्यभिचरित" भली प्रकार से विवेचित हुग्ना कार्य कारण के साथ व्यभिचरित नहीं होता ऐसा नियम है ग्रतः विचार पूर्वक प्रयुक्त हुए शब्द विवक्षा के साथ व्यभिचरित नहीं हो सकेंगे, सो यह नियम ग्रयं प्रतिपादकत्व में भी सुघटित होगा अर्थात् संकेत ग्रादि पूर्वक प्रयुक्त हुया शब्द अर्थ के साथ व्यभिचरित नहीं होता ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

न चास्य विवक्षायास्तदिषिरूढार्षस्य वा प्रतिपादकःवं युक्तम्; ततो बहिरर्षे प्रतिपत्तिप्रवृत्ति-प्राप्तिप्रतीतेः प्रत्यक्षवत् । यथैव हि पत्यकारप्रतिपत्तृप्रतिष्यानसामग्रीसापेकारप्रत्यक्षार्यप्रतिपत्तिस्तवा संकेतसामग्रीसापेकादेव शब्दाच्छब्दार्थप्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा, ग्रन्ययाऽतो बहिरर्षे प्रतिपत्यादि-

दूसरी बात यह है कि शब्द केवल विवक्षा को कहते हैं श्रथवा विवक्षा में श्रिविरूढ़ पदार्थ को कहते हैं ऐसा मानना ही अनुचिन है, क्योंकि अन्तरंग में स्थित विवक्षा में श्रथवा विवक्षा में अधिकृढ़ पदार्थ में शब्द द्वारा प्रतीति, प्रवृत्ति एवं प्राप्ति नहीं होती अपितु उससे भिन्न बाह्य घट पट आदि पदार्थों में होती है जैसे प्रत्यक्ष द्वारा बाह्यार्थ में प्रतीति, प्रवृत्ति एवं प्राप्ति हुआ करती है।

भावार्थ शब्द अर्थ के वाचक न होकर विवक्षा के वाच क होते हैं ऐसा किसी बौद्धादि के प्रतिपादन करने पर जैनाचार्य कहते हैं कि शब्द में ग्रर्थ व्यक्तिचार के समान विवक्षा व्यभिचार भी देखा जाता है, अर्थात जिस प्रकार अर्थ के नहीं होते हए भी उसके वाचक शब्द कोई कदाचित् उपलब्ध होते हैं उस प्रकार विवक्षा के नहीं होते हए या ग्रन्य विवक्षा के होते हुए भी कदाचित ग्रन्य कोई शब्द मुख से निकल जाया करते हैं, ऐसा होना हुया देखा ही जाता है कि कहने की इच्छा रहती है घट और शब्द निकलता है पट, विवक्षा रहती है रमेश की ग्रीर शब्द निकलता है जिनेश, यदि कहा जाय कि विचार पूर्वक शब्द बोलते हैं तो विवक्षाव्यभिचार नहीं होता तो यहा बात ग्रर्थन्यभिचार के विषय में है ग्रर्थात जो शब्द विचार पूर्वक बोला जाता है वह ग्रर्थ से व्यभिचरित नहीं होता। स्रतः शब्द विवक्षा को ही कहते हैं स्रर्थ को नहीं इत्यादि कथन प्रयुक्त सिद्ध होता है। शब्द को सुनकर प्रयं का ज्ञान ग्रवश्य होता है इसलिये वह उसका अवश्य वाचक है। शब्द द्वारा पदार्थ का जैसा प्रतिभास होता है वैसा पदार्थ साक्षात उपलब्ध भी होता है, शब्द को सनकर पदार्थ को उठाना, देना ग्रादि किया भी होतो है फिर किस प्रकार शब्द को अर्थ का प्रतिपादक नहीं माने १ प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी इसी प्रकार पदार्थ की प्रतिपत्ति खादि होती है, किसी खन्य प्रकार से नहीं। अत: जिस प्रकार प्रत्यक्ष को अर्थ का प्रतिपादक मानते हैं उसी प्रकार शब्द को भी अर्थ का प्रतिपादक मानना ही होगा।

सर्वजन सुप्रसिद्ध बात है कि जिस प्रकार प्रतिपत्ति करने वाले पुरुष के प्रणिचान (एकाग्रमन ) रूप सामग्री की जिसमें श्रपेक्षा है ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष- विरोबः । न वार्षेऽधिनोऽधित्वादेव प्रवृत्ताः शब्दोऽप्रवृत्तं कः; प्रध्यक्षादेरप्येवमप्रवृत्तं कत्वप्रवृक्तात् तदर्बेप्यप्रिक्ताचादेव प्रवृत्तिप्रसिद्धेः। परम्परवा प्रवृत्तेकत्वं शब्देप्यस्तु विशेषाभावात्।

का चैयं विवक्षा नाम-र्कि शब्दोच्चारलेच्छामात्रम्, 'मनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामि' इस्यमिप्रायो वा ? प्रयमपक्षे वक्तुश्रोत्रोः शास्त्रादौ प्रवृत्तिनं स्यात् । न ससु कश्चिदनुन्मतः शब्द-निमित्ते च्छामात्रप्रतिवस्यर्थं शास्त्रं वाक्यान्तरं वा प्रलेतुं श्रोतुं प्रवर्तते । दशदादिमादिवाक्यैः सह

भूत अर्थ की प्रतीति होती है उस प्रकार संकेत रूप सामग्री की जिसमें अपेक्षा है ऐसे शब्द से शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है, यदि ऐसा नहीं होता तो बाह्य घटादि पदार्थ में शब्द से प्रतिभास एवं प्रवृत्ति आदि नहीं होनी थी।

शंका — बाह्य पदार्थ में अर्थ के इच्छुक पुरुष की प्रवृत्ति होने का कारण श्राथिपना ही है अर्थात् उक्त अर्थ की इच्छा होने के कारण प्रवृत्ति होती है न कि शब्द से अतः शब्द को अप्रवर्त्तक माना जाता है ?

समाधान — तो फिर प्रत्यक्षादि को भी इसी तरह ग्रप्रवर्त्तक मानना होगा क्योंकि प्रत्यक्षभूत पदार्थ में भी अर्थ की इच्छा होने के कारण ही प्रवृत्ति होती है। प्रत्यक्ष ज्ञान परम्परा से अर्थ में प्रवृत्ति कराता है अतः उसको प्रवर्त्तक माना है ऐसा कही तो शब्द भी परम्परा से अर्थ में प्रवृत्ति कराता है अतः उसको भी प्रवर्त्तक मानना चाहिये। उभयत्र समानता है कोई विशेषता नहीं है।

तथा विवक्षा किसे कहना यह भी विचारणीय है शब्दोच्चारण की इच्छा होने भात्र को विवक्षा कहते हैं अथवा इस शब्द द्वारा इस प्रयं का प्रतिपादन करता है ऐसा अभिप्राय का होना विवक्षा है ! प्रथम पक्ष माने तो वक्ता और श्रोता की शास्त्रादि में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । इसी का स्पष्टीकरण करते हैं — कोई भी बुढिमान् वक्ता और श्रोता शब्दोच्चारण की इच्छा मात्र के लिये और केवल उसकी जानने के लिए शास्त्र या बाक्यांतर का प्रणयन एवं श्रवण के लिये प्रवृत्त नहीं होते अर्थात् वक्ता अपनी विवक्षा को जानने के लिये शब्दोच्चारण करता हो और श्रोता वक्ता की विवक्षा को जानने के लिये शब्दोच्चारण करता हो और श्रोता वक्ता की विवक्षा को जानने के लिये शब्दोच्चारण को मुनता हो ऐसा नहीं है । यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो दशदाडिमादि संदर्भ रहित वाक्यों के समान सभी वाक्य संदर्भ रहित वन आयेंगे क्योंकि सभी वाक्य समान रूप से अपनी इच्छा मात्र के अपनुमापक हैं । अभिप्राय यह है कि

सर्ववाक्यानामविष्ठेषप्रसंगदन्, सर्वेवां स्वप्रमवेण्यामात्रानुमागकश्याविष्ठेवात् । श्रव 'धनेन शब्देनामुमर्य' प्रतिपादयामि' इत्यिभप्रायो विवक्ता, तस्मूषकत्वेन शब्दानामनुमानस्वयः, तदम्ययुक्तमः, व्यप्रिचारात् । न हि शुक्रशारिकोन्मतादयस्तयाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति ।

किंच, समयानपेक्षं वास्य तास्त्रमधित्रायं गमयेत्, तत्सापेक्षं वा ? प्राचिविकल्पे सर्वेषामधैत्रति-पत्तिप्रसंगात्र करिचद्भाषानभिज्ञः स्यात् । समयापेक्षस्तु राब्दोऽर्षमेव किं न गमयति ? न सृयमधीद्-

शब्द केवल विवक्षा को ही कहते हैं उसीके अनुमापक है ऐसा माना आय तो दश् दाडिमाः, षट पूपाः इत्यादि निर्धंक वाक्य और "हे देवदत्त अत्र आगच्छ" इत्यादि सार्धंक वाक्य और "हे देवदत्त अत्र आगच्छ" इत्यादि सार्धंक वाक्य इत दोनों में कोई विशेषता नहीं रहेगी (या तो दोनों सार्धंक माने जायेंगे या दोनों निर्धंक माने जायेंगे ) क्योंकि सभी अपनी विवक्षामात्र को कहते हैं अर्थं को तो कहते ही नहीं ? फिर कैसे कह सकते हैं कि अमुक वाक्य अर्थ को कहता है अतः सार्धंक है और अमुक वाक्य वैसा नहीं है इत्यादि । दूसरा पक्ष — "इस शब्द द्वारा इस अर्थं का प्रतिपादन करता हूं" ऐसा अभिशाय होने को विवक्षा कहते हैं और अस विवक्षा के सूचक शब्द होते हैं अतः शब्द विवक्षा के अनुमापक है ऐसा मानना भी अनुचित है क्योंकि इस तरह को मान्यता में भी व्यभिचार आता है, कैसे सो बताते हैं — शुक सारिका पक्षी तथा उन्मत्त पृश्व आदि उपर्युक्त लक्षण वाली विवक्षा से वाक्य का उच्चारण नहीं करते हैं अतः सभी शब्द एवं वाक्य विवक्षा को हो कहते हैं ऐसा नियम करना व्यभिचरित हो जाता है।

किंच, जिसमें संकेत की अपेक्षा नहीं है वह वाक्य उस प्रकार के अभिप्राय को (इस शब्द द्वारा इस अर्थ का प्रतिपादन करता हूँ) जतलाता है अथवा जिसमें संकेत को अपेक्षा होती है वह वाक्य उक्त अभिप्राय को जतलाता है? प्रथम विकल्प माने तो सभी वाक्यों से सब अर्थों की प्रतिपत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होता है फिर तो कोई भी व्यक्ति किसी भी भाषा से अपरिचित नहीं रहेगा शक्योंकि इस शब्द का यह अर्थ होता है इस अर्थ को घट कहते हैं, इस अर्थ को संस्कृत भाषा में "घटः" कहते हैं, हिंदी भाषा में 'घड़ा' कहते हैं हत्यादि प्रकार से शब्द एवं वाक्य में संकेत किये विना ही वे शब्दादि उस उस अर्थ को कहते हो ला मान लिये हैं। संकेत की अपेक्षा वाले वाक्य उस प्रकार के अभिप्राय को जतला देते हैं ऐसा इसरा पक्ष माने तो अब्द अर्थ

हिमेति वेन तत्र साक्षाल क्रोत । यश्याशस्यसमयस्यादिकेवें शब्दाप्रवृत्ती न्यायः, सोऽभिप्रायेपि समान इत्यभिप्रायावगमीपि शब्दाल स्यात् । तल स्वलक्षास्याभिधानेनानिर्देश्यत्वम् ।

किंत्र, तच्छब्देनाऽप्रतिपाद्याऽनिर्देश्यत्वमस्योच्येत, प्रतिपाद्य वा ? न ताबदप्रतिपाद्य; प्रति-प्रसंगात् । प्रतिपाद्य चेत्; न; स्ववचनविदोधात् । शब्देन हि स्वलक्षस्गं प्रतिपादयता निर्देश्यत्वमस्या-स्युपगतं स्यात्, पुनश्च तदेव प्रतिधिद्धिति । कथं चानिर्देश्यब्देनाप्यस्यानिप्रधाने प्रनिर्देश्यत्वीसिद्धः ?

को ही कहता है ऐसा क्यों न माना जाय ? शब्द कोई ग्रथं से डरता तो नहीं है जिससे कि वह उसमें साक्षातु प्रवृत्ति नहीं कर सके।

. शंका—श्रयं ग्रनन्त हुन्ना करते हैं अतः उनमें शब्द द्वारा संकेत किया जाना श्रवाक्य है, इसीलिये तो शब्द द्वारा श्रयं में साक्षात् प्रवृत्ति नहीं हो पाती ?

समाधान—तो फिर यही न्याय अभिप्राय में लगता है अर्थात् अभिप्राय अनंत हुआ करते हैं अतः शब्द द्वारा अभिप्राय को जानना अशक्य है। इस प्रकार शब्द से अर्थ का प्रतिपादन होना सिद्ध होने से स्वलक्षण्ररूप अर्थ शब्द द्वारा अवाच्य है ऐसा बौद्ध का कहना निराकृत हुआ समक्षता चाहिये।

तथा शब्द द्वारा स्वलक्षण का प्रतिपादन विना किये उसका प्रतिदेश्यपना ( ग्रवाच्यपना ) कहा जाता है अथवा उसका प्रतिपादन करके कहा जाता है ? बिना प्रतिपादन करके कहा जाता है ऐसा माने तो अतिप्रसंग होगा, फिर तो घटादि पदार्थ भी अनिर्देश्य वन जायेंगे । स्वलक्षण का प्रतिपादन करके फिर उसका अनिर्देश्यपना कहा जाता है ऐसा माने तो स्ववचन विरोध होगा, क्योंकि शब्द द्वारा स्वलक्षण का प्रतिपादन कर रहे हैं तो उसका निर्देश्यत्व हो स्वीकार किया और पुनः उसीका निषेध किया । तथा "अनिर्देश्य" इस प्रकार के शब्द द्वारा भी यदि स्वलक्षण को कहा नहीं जाय तो उसका अनिर्देश्यत्व कैसे सिद्ध होगा ? आंति मात्र से अनिर्देश्य शब्द द्वारा स्वलक्षण का अनिर्देश्यत्व सिद्ध करते हैं ऐसा कहो तो स्वलक्षण परमार्थ से अनिर्देश्य है अथवा असाधारण है ऐसा कहना ग्रसिद्ध होगा ।

शंका — प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उस प्रकार के स्वलक्षण की सिद्धि होती है ?

समाधान—यह कथन भ्रयुक्त है, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तो शब्द से निर्देश करने योग्य साधारण श्रीर श्रसाधारण स्वरूप वस्तु का प्रतिपादन होता है। भ्रान्तिमात्रात् ततस्तिस्द्वौ न परमार्थतस्त्वनिर्देश्मसाभारएं वा खिद्धघेत् । त्रस्यक्षात्त्वाभूतस्यास्य प्रसिद्धिः; इत्यपि मनोरद्यमात्रम्; निर्देश योग्यस्य साधारणासाधारण्ड्यस्य वस्तुनस्त्रेन साक्षा-त्करणात् । वस्तुश्यतिरेकेण नापरा निर्देश्यतः स्त्रधारण्यता वा प्रतिभाति' इत्यसाधारण्तायामपि समानम् । 'वस्तुस्वरूपमेव सा' इरयन्यत्रापि समानम् ।

क्तिन, विकल्पप्रतिभास्यज्यापोहगता वाश्यता वस्तुनि प्रतिषिध्यते, वस्तुगता वा ? आव-विकल्पे सिद्धसाध्यता । न हान्यापोहवाष्यतेव वस्तुवाच्यता; तत्प्रतियेधविरोधात् । द्वितीयपक्षे तु

शंका—बस्तु से मितिरिक्त निर्देश्यता या साधारएता प्रतिमासित नहीं होती समाधान—यही बात ग्रसाधारणता के विषय में भी है अर्थात् ग्रसाघारणता भी वस्तु से अति/रक्त प्रतिभासित नहीं होती ।

शंका — श्रसाधारणता तो वस्तुका निजी स्वरूप है ग्रतः उसके साथ प्रस्यक्ष द्वारा प्रतिभासित हो जाती है ?

समाधान-साधारएता और निर्देश्यता भी वस्तु का निजो स्वरूप है ग्रतः वे दोनों भी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतिपादित होते हैं ऐसा प्रतीति सिद्ध सिद्धांत स्वीकार करना चाहिये।

भावार्थ — बौढ वस्तुगत स्रसाधारण धर्म को वास्तविक और प्रत्यक्षप्रभाण द्वारा प्रतिभासित होना मानते हैं और उसी वस्तुक साधारण धर्मको काल्पनिक एवं प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रतिभासित न होकर शब्द द्वारा प्रतिभासित होना मानते हैं, और इस काल्पनिक धर्म का प्रतिपादक होने से ही शब्द का विषय प्रभाव रूप मानते हैं। इस मान्यता का निरसन करते हुए स्राचार्य ने कहा कि प्रत्यक्ष प्रमाण में तो साधारण स्रसाधारण दोनों ही धर्म प्रतिभासित होते हैं न कि केवल असाधारण। तथा वस्तु का निर्देश्यपना भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। अतः शब्द द्वारा स्वलक्षणभूत वस्तु का प्रतिपादन नहीं होता, स्रर्थात् स्वलक्षण शब्द से अनिर्देश्य है ऐसा बौढ का कथन गलत ठहरता है।

अब इस प्रकरण के अन्त में बौद्ध के प्रति एक प्रश्न धौर रह जाता है कि — ग्राप स्वलक्षण रूप वस्तु में वाच्यता का निषेघ करते हैं सो वह बाच्यता स्वलक्षण रूप वस्तुगत धर्म है अथवा विकल्पप्रतिभासक बुद्धि में स्थित घन्यापोह गत धर्म है ? स्वत्रचनिरोध इस्युक्तम् । ततः प्रामाणिकत्त्रमात्मनोऽम्युरगण्ळवा प्रतीतिसिक्षा वाच्यतार्थस्याम्यु-पगन्तव्या ।

प्रथम पक्ष कहे तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि अन्यापोहगत वाच्यता ही वस्तुगत वाच्यता । मिश्रे कहलाती है अतः अन्यापोहगत वाच्यता निषेघ करने पर भी वस्तुगत वाच्यता । का निषेघ करने पर भी वस्तुगत वाच्यता । का निषेघ करते हैं ऐसा माने तो स्ववचन विरोध आता है अर्थात् ('वस्तु शब्द से अवाच्य है' ऐसा शब्द द्वारा प्रतिपादन करते हैं तो उसका वाच्यपना स्वयं सिद्ध होता है इत्यादि । इस बात को अभी स्वलक्षण का निर्देश्यपना सिद्ध करते समय कहा हो है । अतः अपने मत की (अथवा आत्मा की) आमाणिकता को मानने वाले वौद्धादि को प्रतीति सिद्ध ऐसी पदार्थ की वाच्यता स्वीकार करना चाहिए अर्थात् शब्द द्वारा वास्तविक अर्थ कहा जाता है न कि काल्यनिक । शब्द प्रथं के अभिधायक हैं न कि अन्यापोह के, यो श्रादि शब्द सीधे यो अर्थ को कहते हैं न कि अन्य अश्वादि के अपोह को । ऐसा प्रमाणसिद्ध सिद्धांत सभी को स्वीकार करना चाहिये ।

॥ ग्रपोहवाद समाप्त ॥

## ग्रपोहवाद के खण्डन का सारांश

बौद्ध शब्द द्वारा पदार्थ का ज्ञान होना नहीं मानते हैं उनका कहना है कि शब्द पदार्थ के अभाव में भी प्रतीत होते हैं अतः पदार्थों के वाचक न होकर अन्यापोह के वाचक हैं। ग्राचार्य का कहना है कि ऐसा सर्वथा नहीं है कोई शब्द ग्रर्थ के ग्रभाव में होते हुए भी धर्थ सद्भाव में होने वाले शब्द भी मौजूद है ग्रतः शब्द को अन्यापोह का बाचक नहीं मानना चाहिए । जो परीक्षा करके प्रयोगों में लाया जायगा वह शब्द ग्रर्थ से व्यभिचरित नहीं होगा। शब्द अन्यापीह को कहता है ऐसा मानना प्रतीति विषद्ध भी है, आप गी शब्द से अगी-व्यावृत्ति रूप ज्ञान होना मानते हैं, किन्तु गी शब्द से विधि रूप गो का ही ज्ञान उत्पन्न हुन्ना देखा जाता है। तथा शब्द का वाच्य न्रपोह है तो सुनने वाले को पहले "ग्रनो" ऐसा सुनाई देना चाहिए ? किन्तु ऐसा नहीं होता यदि होता तो गाय का ज्ञान नहीं हो सकता था। अपोह का लक्षण पर्युदास अभाव रूप है या प्रसज्य सभाव रूप है १ पर्यु दास सभाव रूप मानने में कोई दोष नहीं स्नाता, ब्राप उसे ब्रगोनिवृत्ति कहते हैं भौर हम जैन गोत्व सामान्य कहते हैं। तथा ग्रगो निवृत्ति गो है सो क्या है ? गाय का स्वलक्षण है ऐसा कही तो वह शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आप वस्तू का स्वरूप क्षणिक होने से शब्दगम्य होना नहीं मानते हैं। आप शब्दों का अर्थ अपोह करते हैं सो बुक्ष, हस्ती, ग्रह, गो, अश्व इत्यादि ग्रनेक सामान्यवाची शब्द हैं इनका परस्पर में ग्रपोह है ग्रर्थात गो शब्द का ग्रश्व शब्द में ग्रपोह है और ग्रथ्व शब्द का गो शब्द में ग्रपोह है इत्यादि सो इन ग्रपोहों में भेद होने का कारण कौन है यह भी सिद्ध नहीं होता, वासना के भेद से खपोह में भेद होना शक्य नहीं, क्योंकि वासना स्वयं ही ग्रवस्तु है। वाच्य के निमित्त से ग्रपोहों में भेद होना भी ग्रसम्भव है।

शंका — जैनादि शब्द को विधि रूप से पदार्थ का वाचक मानते हैं सो वह शब्द संकेतित होते हैं या विना संकेत किये हुए ? संकेत किये हुए हैं तो संकेत हुआ स्वलक्षण में और ग्रहण हुआ अन्य किसी में क्योंकि स्वलक्षण क्षणिक है, ग्रतः शब्द में संकेत का अभाव होने से वह अपोह का वाचक है ऐसा मानते हैं।

समाधान – यह कथन ग्रसत् है, क्योंकि पदार्थ को स्वलक्षण रूप न मानकर सामान्य विशेषात्मक माना है । ग्रापका कहना है कि शब्द द्वारा स्पष्ट प्रतिभास नहीं होता ब्रतः वे ब्रपोह मात्र को कहते हैं सो शब्द से अस्पष्ट ज्ञान होना दोषास्पद नहीं है, शब्द से ब्रस्पष्ट जानकर पुनः चक्षु ब्रादि इन्द्रियों से उन पदार्थों को स्पष्ट जाना जाता है।

धापने कहा कि इन्द्रिय द्वारा अन्य ही कोई वस्तु ग्रह्ण होती है और शब्द के द्वारा धन्य, सो इस पर हम पूछते हैं कि शब्द गोचर पदार्थ वास्तविक है कि नहीं श् यदि हैं तो अस्पष्ट श्राकार होने मात्र से उसको नहीं मानना गलत है और यदि वास्तविक नहीं है तो उसका मानना हो व्यर्थ है।

धापका कहना है कि शब्द द्वारा मात्र ध्रभाव कहा जाता है किन्तु स्वर्ग, मोक्ष, वर्म ध्रादि शब्द से सद्भाव रूप अर्थ का ज्ञान होता हुआ देखा जाता है ध्रन्यथा इन धर्मीद का प्रतिपादन करने वाले बुद्ध भगवान असत्वादी कहलायेंगे। यदि सचमुच में गो शब्द अगो व्यावृत्ति को करता है तो उसके सुनने पर गाय रूप अर्थ में तत्काल प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि अगो की व्यावृत्ति करने में कुछ समय तो लगेगा ही। दूसरी बात यह है कि अगो—व्यावृत्ति करते समय भी गो का ज्ञान होना धावश्यक है। गो के ज्ञान बिना ध्रगो का ज्ञान कैसे होगा और अगो का ज्ञान न होने पर उसकी व्यावृत्ति भी कैसे होगी। अर्तः द्राविड़ो प्राणायाम को छोड़कर गो शब्द का वाच्य सोधा गाय रूप अर्थ ही जानना चाहिये। इस प्रकार बौद्ध के अपोहवाद का निरसन हो जाता है।



सस्यम्; बाच्य एवार्षः। तहाचकस्तु पदादिस्फोट एव. न पुनवँणाः। ते हि कि समस्ताः, व्यस्ता वा तहाचकाः? यदि व्यस्ताः; तदेकेनैव वर्णेन गवाद्यवंश्रतिपत्तिरूत्यादितेति हितौयादिवर्णो-च्वारणमनर्थकम्। श्रय समुदिताः; तन्नः, क्रमोत्पन्नानामन्तरिवनष्टत्वेन समृदायन्येवासम्भवात्। न च युगपदुत्पन्नानां तेषां समुदायकत्पनाः, एकपुरुषापेक्षया युगपदुत्पत्यसम्भवात्, प्रतिनियतस्यानकररण-

जब जैन ने बौद्ध के प्रति सिद्ध किया कि शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ ही वाच्य होता है, तब वैपाकरणवादी भर्जु हिर आदि अपना मंतक्य उपस्थित करते हैं—

पदार्थं वाज्य ही होते हैं इसमें कोई ग्रसस्य बात नहीं है किन्तु उस वाज्यभूत पदार्थों का वाजक तो पदादिस्कोट ही होता है। वर्ण, वाक्यादि से व्यक्त होने वाला नित्य, व्यापक ऐसा पदादि का ग्रयं है वह पदादिस्कोट कहलाता है, वही पदार्थं का वाजक है न कि वर्ण (शब्द)। ग्रागे इसीका वर्णन करते हैं — जैनादि परवादी गकारादि वर्णों को ग्रयं का वाजक मानते हैं सो समस्त वर्ण वाजक होते हैं या व्यस्तवर्ण वाजक होते हैं? यदि व्यस्तवर्ण वाजक होते हैं तो एक ही वर्ण से गो ग्रादि अर्थ की प्रतीति उत्पन्न हो जायगी। द्वितीय आदि वर्ण का उज्जारण तो व्ययं ठहरेगा। समस्त वर्ण वाजक होते हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो वर्ण कम से उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं उनमें समस्त रूप समुदाय की कल्पना प्रसम्भव है। युगपत् उत्पन्न हुए वर्णों में समुदाय की कल्पना होवेगी ऐसा कहना भी ग्रयुक्त है क्योंकि एक पुरुष की अपेक्षा लेकर (ग्रयांनू एक पुरुष से) युगपत् समुदाय रूप ग्रनेक वर्ण उत्पन्न

प्रयस्त्रप्रेभवस्वासेषाम् । न च भिन्नपुंरुषप्रयुक्तगकारोकारिवतर्जनीयानां समुदायेष्यर्षप्रतिपादकं प्रति-पन्नम्; प्रतिनियतवर्षाकमप्रतिपरस्यूतरकालभावित्वेन शान्दप्रतिपत्तेः प्रतिभासनात् ।

न चान्त्यो वर्णः पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णानां क्रमोत्यादे सत्यर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णानामन्त्यवर्णं प्रत्यनुष्ठाहरूक्वायोगात्। तद्वि धन्त्यवर्णं प्रति जनकत्वं तेषां स्थात्, प्रयंज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं वा ? न तावज्जनकत्वयः; वर्णाहर्णोत्पत्तरभावात्, प्रतिनियतस्थानकर्णादिप्रभवत्वात्तस्य, वर्णाभावेष्याद्य-वर्णोत्यस्युप्तप्रभाच्य । नाप्ययंज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं तेषामन्त्यवर्णानुपाहकत्वमः; श्रविद्यमानानां सहकारित्वस्यवासस्भवात् । यथा चान्त्यवर्णं प्रति पूर्ववर्णाः सहकारित्वं न प्रतिपद्यन्ते तथा तज्जनित-सवेदनात्वर्णः, तत्प्रभवसंकाराच्य ।

हो ही नहीं सकते, क्योंकि उन वर्णों की उत्पत्ति प्रतिनियत स्थान, तालु, कंठ, ओष्ठ प्रादि प्रतिनियत किया, ईवत् स्पष्टकरण आदि एवं प्रयत्न से हुआ करती हैं। पृथक् पृथक् पुरुष द्वारा युगपत् प्रयुक्त किये गकार औकार और विसर्जनीयका समुदाय वनकर उसमें अर्थ का प्रतिपादकत्व ( वाचकत्व ) आयेगा ऐसा कहना भी गलत है, क्योंकि प्रतिनियत वर्णकम से प्रतिपत्ति होकर उत्तर काल में शाब्दिक ज्ञान होता है, ऐसा ही सभी को प्रतिभासित होता है।

वणों का कम से उत्पाद होने पर पूर्व पूर्व वर्णों द्वारा अनुग्रहीत हुआ प्रतिम वर्ण अर्थ का प्रतिपादक होता है ऐसा कोई कहे तो वह अयुक्त है, क्योंकि पूर्व वर्ण प्रतिम वर्ण के प्रति अनुप्राहक नहीं हो सकते। परवादी पूर्व वर्ण को अंतिम वर्ण का अनुप्राहक मानते हैं सो उसमें प्रश्न होता है कि पूर्व वर्ण अंतिम वर्ण के प्रति जनक रूप से अनुप्राहक है अथवा अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति में सहकारि रूप से अनुप्राहक है है जनक रूप से अनुप्राहक तो हो नहीं सकते क्योंकि वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होती ही नहीं, वह तो अपने प्रपने नियत तालु, कंठ, प्रोष्ठ, प्रूष्टां, दंत, जिह्वा धादि आठ स्थान, अपने नियत ईपत् स्पष्टकरण धादि करण एवं प्रयत्न से हुधा करती है। तथा अन्य वर्ण के अभाव में भी आखवर्ण की उत्पत्ति देशों जाती है अतः पूर्व वर्ण का जनक रूप से अनुप्राहक है ऐसा कहना असत्य है। अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति में पूर्व वर्ण अंत्यवर्ण के सहायक होने से अनुप्राहक माने जाते हैं ऐसा द्वितीय विकल्प भी अनुचित्त है, क्योंकि अंत्यवर्ण के समयं पूर्व वर्ण विद्यमान हैं, अविद्यमान पदार्थ में सहकारीपना तो असंभव हो है। जिस प्रकार पूर्व वर्ण अंतिम वर्ण के प्रति सहकारियना तो असंभव हो है। जिस प्रकार पूर्व वर्ण अंतिम वर्ण के प्रति सहकारियना तो असंभव हो है। जिस प्रकार पूर्व वर्ण विद्यमान वर्ण के प्रति सहकारियना तो असंभव हो है। जिस प्रकार पूर्व वर्ण विद्याल वर्ण के प्रति सहकारियना तो असंभव हो है। जिस प्रकार पूर्व वर्ण विद्याल के प्रति सहकारियना तो असंभव हो है।

क्रिंक, सेवेबनअक्षत्रवंस्काराः स्वोत्पादकविज्ञानविषयस्मृतिहेतवो नार्थात्तरे क्षावमृत्पादयितुं समर्थाः। न स्वतु घटजानप्रभवः संस्कारः पटे स्मृति विद्यवदृष्टः। न च तत्संस्कारप्रभवस्मृतीनां तत्सहायताः, तासां युगपदुरनस्यभावात्। ययुगपदुत्पन्नानां चावस्वित्यसम्भवात्। न वास्तिवसंस्कार-प्रभवेका स्मृतिः सम्भवतिः, प्रम्योन्यविषद्धानेकाविनुभवप्रभवसंस्कारात्। न वान्यवर्षाऽनपेक्ष एव "गौः" इत्यत्रात्या वर्णीर्थं(चं)भ्रतिपादकःः, पूर्ववर्षीच्चारत्यवैद्यानुषंगात्। घटलाव्यास्यव्यवस्थितस्यापिक समृताः व्यस्ता वार्ष-

होते उसी प्रकार उन वर्णों से उत्पन्न हुए ज्ञान भी सहकारी रूप सिद्ध नहीं होते, न उन ज्ञानों से प्रादुर्भूत संस्कार ही सहकारी रूप सिद्ध होते हैं, क्योंकि अंतिम वर्ण के काल में पूर्व वर्णों के ज्ञान तथा संस्कार भी नष्ट हो चुकते हैं, जैसे पूर्व वर्ण नष्ट हो चुकते हैं।

किञ्च, पूर्व वर्णों के ज्ञानों से उत्पन्न हुए संस्कार अपने उत्पादक जो ज्ञान हैं उनके विषय में ही स्मृति उत्पन्न कर सकते हैं अन्य ग्रर्थ में ज्ञान को उत्पन्न कराने में वे ( संस्कार ) समर्थ नहीं हो सकते । घट ज्ञान से उत्पन्न हुआ संस्कार पट में स्मृति को उत्पन्न करता हमा देखा नहीं जाता । पूर्व ज्ञानों के संस्कारों से उत्पन्न हुई स्मृतियां अंत्य वर्ण को सहायता करती हैं ऐसा भी नहीं मान सकते वयों कि उन स्मृतियों की एक साथ उत्पत्ति नहीं होतो । और जो प्रयुगपत् ( कम से ) उत्पन्न होते हैं उनका ग्रवस्थान होना ग्रसंभव है। ऐसा भी संभव नहीं है कि संपूर्ण संस्कारों से एक स्मृति उत्पन्न हो जायगी घौर अंस्यवर्ण को सहायक बनेगी, क्योंकि ऐसा माने तो परस्पर में विरुद्ध ऐसे अनेक अर्थों के जानों से उत्पन्न हुए संस्कार भी एक स्मृति को प्रादुर्भत कर सकेंगे। प्रयात यदि भिन्न भिन्न गकार धौकार घादि वर्गों के ज्ञानों से उत्पन्न हुए संस्कार विभिन्न होकर भी एक स्मृति को उत्पन्न कर सकते हैं तो घट, पट मादि पदार्थों के ज्ञानों से उत्पन्न हुए संस्कार भी एक स्मृति को (सब घट पट आदि का एक खिवड़ी रूप स्मरण ) उत्पन्न कर सकते हैं, ऐसा अनिष्ट प्रसंग आता है। "गौः" इस पद में गुकार भीकार भीर विसर्ग रूप तीन वर्ण हैं, इनमें अंतिम क्सिर्ग वर्ण अन्य दो वर्णों की अपेक्षा को किये बिना ही अर्थ प्रतिपादन करता है ऐसा मानना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि इस तरह तो पूर्व के दो बर्खों का उच्चारण करना व्यर्थ ठहरेगा । नथा दसरा दोष यह आयेगा कि यदि विसर्व अन्य वर्ण की अपेक्षा किये बिना अर्थ का प्रतिपादक है तो "घट:" इस शब्द के अंत में, स्थित विसर्ग भी सास्नादिमान गी अर्थ : प्रतिपादकाः सम्भवन्ति । प्रस्ति च गवादिशब्दैभ्योऽषंप्रतीतिः, तदन्यषानुपपत्या वर्णेश्वतिरिक्तोऽषं-प्रतीतिहेतुः स्कोटोऽम्युपगन्तव्यः ।

श्रोत्रविज्ञाने चासौ निरवयवोऽकमः प्रतिभासते, श्रवण्यापारानन्तरमभिन्नार्यावभासिन्याः संविदोऽनुभवात् । न चासौ वर्णविषयाः, वर्णानां परस्यरव्यानृतस्यत्येकप्रतिभासजनकत्वविरोधात् । न चेथं सामान्यविषयाः, वर्णस्वव्यतिरेकेणापरसामान्यस्य गकारौकारविसर्जनीयेष्वसम्भवात्, वर्णस्वस्य च प्रतिनियतार्पश्रत्यायकत्वायोगात् । न चेथं भ्रान्ताः, अवाध्यमानत्वात् । न चानाध्यमानप्रत्ययगोचर-स्यावि स्कोटस्यासत्वम्, अवयविद्रश्यादरप्यसत्त्वस्राताः, वित्यक्षासौ स्कोटोऽभ्युपगन्तय्यः। प्रनित्यत्व संकेतकालानुभूतस्य तदेव व्यक्तत्वास्तानान्तरे देशांतरे च गोशब्दववणासकृत्वादिमदयंप्रतीतिनं स्यात्,

का प्रतिपादक हो सकेगा ? क्योंकि अन्तिम विसर्गादि वर्ण को अर्थ प्रतिपादन करने में पूर्व वर्णों की अपेथा नहीं होती ऐसा स्वीकार कर लिया है। ख्रतः निश्चय होता है कि व्यस्त वर्ण या समस्त वर्ण अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं। किन्तु गो आदि शब्दों से अर्थ की प्रतिपत्ति होती अवश्य है ख्रतः अन्यथानुपपत्ति रूप प्रमाण से अर्थप्रतिपत्ति का हेतु वर्ण के श्रतिरिक्त स्फोट नामा पदार्थ है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

यह स्फोट श्रोत्र ज्ञान में निरंश एवं अकम रूप प्रतिभासित होता है, क्योंिक श्रवण व्यापार के अनन्तर एक अर्थ को अवभासन करने वाला ज्ञान अनुभव में आता है, यह ज्ञान वर्ण विषयक ( वर्ण को विषय करने वाला—वर्ण को जानने वाला ) तो हो नहीं सकता, क्योंिक परस्पर में व्यावृत्त रूप होने से वर्णों को एक प्रतिभास के जनक मानने में विरोध आता है। तथा इस ज्ञानको सामान्य विषयक भी नहीं कह सकते, क्योंिक वर्णत्व के अतिरिक्त अन्य सामान्य का उन गकार श्रोकार श्रौर विसर्ग में अभाव ही है, और यह जो वर्णत्व सामान्य है उसमें प्रतिनियत श्रयं की प्रतीति कराने का अयोग है (सामध्यं नहीं है) एक अर्थ का अवभासन कराने वाला उक्त ज्ञान भ्रांत भी नहीं है क्योंिक श्रवाध्य है। इस तरह श्रोत्र ज्ञान में जो निरंशादि रूप प्रतीत होता है वह स्फोट है ऐसा समक्षना चाहिए। यदि इस श्रवाध्रित ज्ञान के विषयभूत स्फोट की सत्ता नहीं मानेंगे तो अवयवी द्वव्य रूप गो आदि पदार्थों की सत्ता भी नहीं रहेगी। इस स्फोट को नित्य रूप स्वीकार करना चाहिए। क्योंिक श्रनित्य मानने पर संकेत काल में श्रवृत्त हुए स्फोट का उसी वक्त नाज हो जाने से कालांतर में और देशांतर में गो शब्द के श्रवण से सास्नादिमान गो अर्थ का वोध नहीं हो सकेगा इसका कारण यह

श्रसंकेतिताच्छ्रस्थात्यंत्रतिपत्ते रसम्भवात् । सम्भवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशस्थाद्गवार्यप्रतिपत्तिः स्यात्, संकेतकरणवेयर्ष्यं चासज्येत ।

श्रत्र प्रतिविधोयते । प्रतीयमानासूर्ववर्णाञ्चसविधिष्टादन्त्यवर्णादर्थप्रतीतेरन्युपगमादुक्तदीया-भावः। न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धम्; वृत्तफलसंयोगाभावस्य अप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तह्र्यनात्, रूटं चोत्तरसंयोगं कुवंत्पाक्तनसंयोगाभावविधिष्टं कर्मं, परमाण्वगिनसंयोगद्य परमाणी तद्गतपूर्वरूपप्रथंसविधिष्टो रक्तनामुत्पादयन्त्रतीतः।

है कि संकेत रहित शब्द से (स्फोट से) श्रयं बोध होना ग्रसंभव है। यदि संकेत रिहत शब्द से पदार्थं की प्रतीति होती तो जिस द्वीप में गायें नहीं होती ऐसे द्वीपांतर से आये हुए व्यक्ति को गो जब्द सुनकर गो अर्थ का प्रतिभास होता ? किन्तु होता तो नहीं, तथा बिना संकेत के ही शब्द से अर्थ ज्ञान होता है तो संकेत करना (यह गो है इस पदार्थ को गो कहते हैं इत्यादि) भी व्यर्थ हो जाता है। अतः नित्य व्यापक ऐसे स्फोट पदार्थ को मानना चाहिए जिससे कि अर्थ प्रतीति की सिद्धि होवे ?

जैन - प्रव यहां पर उपर्युक्त स्फोटवाद का निराकरण किया जाता है स्फोट से प्रयं की प्रतिपत्ति नहीं होती अपितु प्रतीयमान पूर्व वर्एं का ध्वंस विशिष्ट
जिसमें हुआ है ऐसे अंतिम वर्णं से प्रयं की प्रतिपत्ति होती है ऐसा सिद्धांत है इससे
उक्त दीप (पूर्व वर्णं का उच्चारण करना व्ययं होगा इत्यादि ) नहीं ग्राता । प्रापने
कहा था कि पूर्व वर्णं तो नष्ट हो चुकते हैं वे किस प्रकार अंत्यवर्णं के सहकारी होंगे
सो ऐसा नहीं है ग्रभाव के सहकारी होने में कोई विरोध नहीं है, देखा जाता है कि
वृत और फल के संयोग का ग्रभाव शाखा से अप्रतिबद्ध हुए गुरु भार वाले फल की
गिरने रूप किया को उत्पन्न करने में सहायक होता है, तथा पूर्व संयोग का जिसमें
ग्रभाव हो चुका है ऐसा विशिष्ट कर्म (किया) उत्तर संयोग को करता हुमा देखा
जाता है। पूर्व रूप का जिसमें नाश हो गया है ऐसा परमागु एवं अग्नि का संयोग
परमागु में रक्तता को उत्पन्न करता हुमा भी प्रतीत होता है धर्यात् मिट्टी ग्रादि के
कुष्ण वर्णं के परमागु ग्रम्मि संयोग को प्राप्त होते हैं तो वे ग्रपने पूर्व के कुष्ण वर्णं का
अभाव करके लाल वर्णं को उत्पन्न करते हैं सो लाल वर्णं के उत्पादन में कृष्ण वर्ण
का ग्रभाव सहकारी होता ही है। ग्रतः ग्रभाव में भी सहकारीपना सिद्ध होता है।

यद्वा, पूर्ववर्णीवज्ञानाभावविज्ञाष्टः तज्ज्ञानजनितसंस्कारसञ्ज्योको वाऽन्त्यो वर्णोऽयंप्रतीरहु-रपादकः । वनु संस्कारस्य कथं विषयान्तरे विज्ञानजनकरवयुः इत्यप्यचोद्यम् तद्भावमावितयार्थप्रतीते-रुपादकेः ।

वृत्रंवर्षाविज्ञानप्रभवसंस्कारस्य प्रणालिकयाऽन्त्यवर्णसहायतां प्रतिप्खते; तथाहि-प्रथमवर्षों तावडिज्ञानम्, तेन च संस्कारो जन्यते । ततो द्वितीयवर्णविज्ञानम्, तेन च पूर्वज्ञानाहितसंस्कारसहितेन विज्ञिष्टः संस्कारो जन्यते । एवं तृतीयादाविष योजनीयं यावदन्त्यः संस्कारोऽर्थप्रतिपत्तिजनकान्त्यवर्णन् सहायः ।

ष्ययवा. शब्दार्थोपलन्धिनिमित्तक्षयोपसमप्रतिनियमादिननष्टा एव पूर्ववर्णसिविदस्तत्संस्कारा-इचाऽन्त्यवर्णसंस्कारं विद्यति । तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसम्यपेक्षो वान्त्यो वर्ण. पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः ।

अथवा पूर्व वर्ण के ज्ञानका अभाव जिसमें है एवं उस ज्ञान से उत्पन्न हुआ संस्कार जिसमें अपेक्षित है ऐसा अंतिम वर्ण अर्थ के प्रतिभास को उत्पन्न करता है।

शंका — ग्रन्य पदार्थ का संस्कार अन्य में ज्ञान को किस प्रकार उत्पन्न करेगा ? श्रयात् पूर्व के गकारादि वर्ण के ज्ञान एवं संस्कार गो रूप अन्य अर्थ में ज्ञान को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ?

समाधान—यह शंका गलत है, "उसके होने पर होना" इस प्रकार से ग्रर्थ प्रतिभास की उपलब्धि देखी जाती है अर्थात् पूर्व वर्गा के ज्ञान के संस्कार के होने पर ही अंत्य वर्गा ग्रर्थ ज्ञान का उत्पादक होता है, अंत्य वर्गा से अर्थ प्रतीति हो रही अतः पूर्व वर्गा ज्ञान के संस्कार अवश्य हैं ऐसा निश्चय हो जाता है।

पूर्व वर्ण के ज्ञान से उत्पन्न हुन्ना संस्कार प्रवाह रूप से अंतिम वर्ण की सहायता को प्राप्त करता है, आगे इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—पहले प्रथम वर्ण का ज्ञान होता है उस ज्ञान से संस्कार उत्पन्न होता है, उस संस्कार से दूसरे वर्ण का ज्ञान होता है, पूर्व ज्ञान का प्राप्त हुन्ना है संस्कार जिसको ऐसा वह द्वितीय वर्ण ज्ञान विशिष्ट संस्कार को उत्पन्न करता है, इस प्रकार तीसरे ध्रादि वर्ण एवं ज्ञानादि में भी लगाते रहना चाहिये जब तक कि अंत्य संस्कार अर्थ प्रतिपत्ति का उत्पादक अंतिम वर्ण को सहायक बने।

भ्रथवा शब्द से भ्रयं की उपलब्धि होने में निमित्तभूत ज्ञानावरणादि के क्षयोपद्य का प्रतिनियम इस तरह का होने के कारण ग्रविनष्ट रूप ऐसी पूर्व वर्णों की वाक्यार्षक्रतिपत्तावप्ययमेव न्यायोऽङ्क्षीकत्तं व्यः । वर्णाहर्णोत्परयभावक्रतिपादमं च सिद्धसाधनमेव । तदेवं यथोक्तसहकारिकाररणसञ्ययेक्षादन्यवर्णादयेप्रतिपत्तेरन्वयव्यतिरेकाम्यां निश्चयात् स्फोटपरि-कल्पनाऽसम्भव एव; तदभावेप्ययंप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेरण सम्भवेऽन्यथानुपपत्तः प्रक्षयात् । न खलु दृष्टादेव काररणात्कार्योत्पतावष्टकाररणान्तरपरिकल्पना युक्तिः स(किस)ङ्गता प्रतिप्रसंगात् ।

न चैवंवादिनो वर्णेम्यः स्फोटाभिव्यक्तिष्ठंटते; तथाहि-न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यक्वयन्ति; उक्तप्रकारेण तेवां सामस्त्यासम्भवात् । नापि प्रत्येकम्; वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्षप्रसंगात, एकेनैव

संविद (ज्ञान) श्रीर उनसे होने वाले संस्कार ये सबके सब श्रंत्य वर्ण के संस्कार को करते हैं, या उक्त प्रकार के संस्कार से प्राहुभूंत हुई स्मृति की जिसको श्रपेक्षा है ऐसा अंतिम वर्ण गो श्रादि पदार्थ के प्रतिभास का हेतु बनता है। वाक्य से होने वाले अर्थ के प्रतिभास में भी यही त्याय स्वीकार करना चाहिये। वैयाकरणवादी ने कहा था कि वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति नहीं होती सो हमारे लिये सिद्ध साधन हो है, प्रध्यंत् हम जैन भी वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होना नहीं मानते। इस प्रकार उक्त सहकारी कारण की जिसमें अपेक्षा है ऐसे श्रंतिम वर्ण से श्रथं की प्रतिपत्ति होना सिद्ध होता है, इसमें अन्वय व्यतिरेक से निश्चय होता है अर्थात् श्रंत्यवर्ण के सद्भाव में श्रथं प्रतिपत्ति होती है उसके श्रभाव में श्रथं प्रतिपत्ति होती, श्रतः स्फोट की कल्पना श्रसंभव ही है। क्योंकि उक्त प्रकार से स्फोट के श्रभाव में भी श्रथंप्रतिति होना संभव है इसलिये स्फोट के साथ श्रथं प्रतिपत्ति की श्रन्थयानुपपत्ति करना श्रशक्य है। प्रत्यक्षभूत कारण से कार्य की उत्पत्ति होना सिद्ध होने पर उसमें अदृष्ट ऐसे श्रप्रत्यक्षभूत कारणांतर की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है, श्रन्थया श्रतिप्रसंग उपस्थित होगा।

समस्त वर्ण से अर्थ प्रतीति होती है या व्यस्तवर्ण से इत्यादिरूप से प्रक्न करने वाले परवादी वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति होना मानते हैं किन्तु वह घटित नहीं होता, उस पक्ष में भी हम ग्राप से पूर्ववत् प्रक्षन करेंगे कि समस्त वर्ण स्फोट को ध्यक्त करते हैं कि व्यस्त वर्ण। समस्त वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि उक्त प्रकार से वर्णों का समस्तपना होना ही दुर्लभ है। प्रत्येक प्रत्येक व्यस्त वर्ण भी स्फोट को व्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि यदि प्रत्येक वर्ण ही उसको व्यक्त कर लेगा तो अन्य ग्रन्य वर्ण का उच्चारण व्यर्थ ही हो जाता है इसका भी कारण यह है कि एक वर्ण द्वारा ही इस स्फोट की सर्व रूप से ग्राभिव्यक्ति हो चुकती है। वर्णेन सर्वारस्याप्रिय्यक्तस्यात् । पदार्थान्तरप्रतिविक्तस्यवच्छेदार्थं तवुच्चारण्मिति चेत्; नः तवुच्चारणेषि तत्प्रतिपत्ते रेवानुषंगात् । यद्याहि "गौः" इति पदस्यार्थो गकारोच्चारण्गात्प्रतीयते तथौ-कारोच्चारण्गत् 'प्रीशनसः' इति पदार्थोषि, तथा च 'गौः' इति पदादेव 'गौः, श्रीशनसः' इत्यर्थद्वयं प्रतीयेत । संशयो वा स्यात्-'किमेकपदस्कोटाभिन्यक्तये गाधनेकवर्णोच्चारणं पदान्तरस्कीटव्यवच्छेदेन, कि वानेकपदस्कोटाभिन्यक्तयेऽनेकाधवर्णोच्चारण्यु इति ।

... न च पूर्ववर्णः स्कोटस्य संस्कारेऽन्त्यो वर्णस्तस्याभिव्यञ्चनः इति न वर्णान्तरोज्वारणवैयस्येषुः प्रभिव्यक्तिस्यतिरिक्तसंस्कारस्वरूपानववारणात् । न बलु तत्र तैवेंगास्यः संस्कारो निर्वर्यते; तस्य

शंका—श्रन्य ग्रथं की प्रतिपत्ति का व्यवच्छेद करने के लिये दूसरे वर्णों को उच्चारण करना पड़ता है ? अर्थात् केवल एक वर्ण का उच्चारण करने से श्रपने विवक्षित ग्रथं को छोड़कर श्रन्य अर्थ का प्रतिभास भी हो सकता है श्रतः उस अन्य ग्रथं के प्रतिभास को रोकने के लिये दूसरे वर्णों का उच्चारण करते हैं ?

समाधान — ऐसा नहीं है, दूसरे वर्ण का उच्चारण करने पर भी अन्य ग्रथं की प्रतिपत्ति हो सकती है, उसका व्यवच्छेद फिर भी नहीं हो सकेगा। कंसे सो बताते हैं— 'गौ:' इस पद का अर्थ जैसे गकार वर्ण के उच्चारण से प्रतीत होता है वैसे औकार वर्ण के उच्चारण से प्रतीत होता है वैसे औकार वर्ण के उच्चारण से प्रतीत होता है वस्त कर से तो "गौ:' इस एक पद से हो गो और औधनस ( शुक ) इन दो वस्तुका प्रतिभास होवेगा। अथवा संशय हो जायगा कि पदांतरके स्फोट का व्यवच्छेद करके एक पद के स्फोट को व्यक्त करने के लिये ग आदि अनेक वर्णों का उच्चारण किया गया है, या अनेक पदों के स्फोट को व्यक्त करने के लिये ग अदि अनेक वर्णों का उच्चारण किया गया है। अभिप्राय यह है कि पूर्व वर्णादि का उच्चारण करने पर भी निश्चय नहीं हो सकंगा कि यह उच्चारण अनेक पदों के स्फोट को व्यक्त करने के लिये किया है श्रथवा एक पद के स्फोट को व्यक्त करने के लिये किया है श्र

वैयाकरणवादी — पूर्व वर्णों द्वारा स्फोट का संस्कार हो जाने पर अंतिम वर्ण उसका मिभव्यंजक बनता है अतः वर्णीतर का उच्चारण व्यर्थ नहीं ठहरता ?

जैन---ऐसा नहीं कह सकते, अभिव्यक्ति को छोड़कर ग्रन्य कोई संस्कार का स्वरूप अवधारित नहीं होता है भ्रषीत् ग्रभिव्यक्ति ही संस्कार है। परवादी के यहां मूर्लेष्ट्रेव भावात् । नापि वासनाक्ष्यः; घ्रचेतनत्वात् स्फोटस्य तच्चैतन्याम्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोधः । नापि स्थितस्थापकः; प्रस्यापि मूर्तं द्रव्यवृत्तिस्वात्, स्फोटस्य चाऽमूर्तः स्वाम्युपगमात् ।

किंच, ग्रसौ सस्कारः स्कोटस्वरूपः, तद्वभौ वा ? तत्राखविकल्पोऽयुक्तः; स्फोटस्य वर्णोत्पाच-त्वानुषंगात् । द्वितीयविकल्पोऽसम्भाव्यः; व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पानुषपत्ते : । स्कोटात्तस्याव्यतिरेके तत्कररो स्कोट एव इतो भवेत्, तथा चास्याऽनित्यत्वानुषंगात् स्वाम्युपगमविरोधः । ततस्तद्वमंस्य व्यतिरेके सम्बन्धानुषपत्तिः तदनुषकारकत्वात् । तस्योपकाराम्युपगमे व्यतिरिक्ताऽव्यविरिक्तविकल्पा-

संस्कार तीन प्रकार का माना है वेग संस्कार, वासना संस्कार और स्थितस्थापक संस्कार, इनमें से वेग नाम का संस्कार वणौं द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसको मूर्तिक द्वव्यों में हो स्वीकार किया है। वासना नाम का संस्कार वर्ण द्वारा नहीं किया जा सकता क्योंकि स्फोट अचेतन है और वासना चेतन रूप मानी जाती है। यदि स्फोट को चेतन स्वरूप स्वीकार करेंगे तो स्व शास्त्र से विशेष थ्रायेगा, क्योंकि श्रापके शास्त्र में स्फोट को अचेतन माना है। स्थितस्थापक संस्कार भी वर्ण द्वारा किया जाना श्रशक्य है क्योंकि यह मूर्त द्रव्य में पाया जाता है और स्फोट को आपने श्रमूत्तं माना है।

तथा यह वर्ण ज्ञान से उत्पन्न हुन्ना संस्कार स्कोट स्वरूप ही है अथवा उसका धर्म है ? स्फोट स्वरूप ही है ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि ऐसा कहने से स्फोट वर्ण द्वारा उत्पन्न किया जाता है ऐसा सिद्ध होता है और इससे स्फोट के नित्य मानने का व्याघात होता है । उक्त सस्कार स्फोट का धर्म है ऐसा द्वितीय विकल्प भी असंभव है, क्योंकि वह धर्म स्फोट से पृथक् है कि अप्यक् है ऐसे दो विकल्प होकर दोनों ही सिद्ध नहीं हो पाते । अर्थात् स्फोट से उक्त संस्कार रूप धर्म अप्रथक मानते हैं तो उसके करने पर स्फोट को किया ऐसा होता है और इससे स्फोट के अनित्यत्व प्रसंग आने से स्वमत में विरोध होता है अर्थात् स्फोट को नित्य मानने का व्याघात होता है । स्फोट से उक्त संस्कार रूप धर्म पृथक् है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो स्फोट के साथ उस धर्म का सम्बन्ध न होने से उसका अनुपकारक ही रहेगा, यदि उसे उपकारक माना जाय तो भी वह भिन्न है कि अभिन्न ऐसे विकल्प होकर दोनों विकल्पों में वही पूर्वोक्त अनवस्थाकारी दोष उपस्थित होता है । तथा स्फोट से भिन्न ऐसा उक्त संस्कार रूप धर्म का सद्भाव मान लेने पर भी स्फोट का अनिभ्यक्त स्वरूप समाप्त नहीं होने से

नुसंबः, तत्रासि पूर्वोक्त एव दोषोऽनवस्थाकारी । न व व्यतिरिक्तवर्मतद्भाविषि स्फोटस्थानिकव्यक्त-स्वरूपापरित्यामे पूर्ववदर्षप्रतिवसिद्देतुत्वय् । तत्त्यामे वाऽनित्यत्वप्रसक्तिः ।

किंच, पूर्ववर्णः संस्कारः स्कोटस्य क्रियमाणः किमेक्देशेन क्रियते, सर्वात्मना वा ? यद्येक्देशेन; तद्वा तद्देशानामप्यतीयन्तिरानयन्तिरपक्षयोः पूर्वोक्तदोषानुषंगः । सर्वात्मना तु संस्कारे सर्वत्र सर्वेषां तत्नीऽर्वप्रतिपत्तिः स्यान् ।

र्किच, स्कोटसंस्कारः स्कोटविषयसंवेदनोत्पादनम्, प्रावरणापनयनं वा ? यद्यावरणापनयनम्, तदैकत्रैकदावरणापगमे सर्वदेशावस्थितः सर्वदा व्यापिनित्यतयोपलम्येत, नित्यव्यापिताम्यामपगता-

जैसे संस्कार के पहले अर्थ प्रतिपत्ति का हेतुपना उसमें घटित नहीं होता था वैसे संस्कार के पश्चात् भी घटित नहीं होगा, नयों कि स्फोट तो अनिभव्यक्त स्वरूप ही है। भीर यदि स्फोट का अनिभव्यक्त स्वरूप समाप्त होता है तो स्पष्ट रूप से स्फोट का अनिस्यपना सिद्ध होता है। अर्थात् वर्ण ज्ञान जन्य संस्कार से स्फोट के अनिभव्यक्त स्वरूप का त्याग होता है इसका अर्थ स्फोट अनित्य है, अनित्य का यही लक्षण है कि जो अपने स्वरूप में परिवर्शन करें।

दूसरी बात यह है कि पूर्व वणों द्वारा स्फोट का संस्कार किया जाता है वह एक देश से किया जाता है अथवा सर्व देश से किया जाता है? यदि एक देश से किया जाता है तो वह एक एक देश स्फोट से भिन्न है कि अभिन्न ऐसे दो पक्ष उपस्थित होकर उनमें वही पूर्वोक्त दोष म्राता है। स्फोट का सर्व देश से संस्कार किया जाता है ऐसा पक्ष माने तो सर्वत्र सभी प्राणियों को उससे म्रथं की प्रतीति होवेगी, क्योंकि स्फोट व्यापक एवं नित्य है।

िक च, स्फोट संस्कार इस पद का क्या ग्रयं है स्फोट के विषय में संवेदन का उत्पादन करना या ग्रावरण को दूर करना श्यिद आवरण को दूर करना श्यिद आवरण को दूर करना स्फोट संस्कार कहलाता है तो एक जगह एक बार आवरण के दूर होने पर सर्व देश में ग्रवस्थित व्यक्तियों द्वारा हमेशा के लिये नित्य व्यापी रूप से उसकी उपलब्धि हो सकेगी, क्योंकि नित्य एवं व्यापी रूप से जिसका ग्रावरण दूर हो गया है ऐसे स्फोट का सर्वेद्य उपलम्य स्वमाव ही रहता है। ग्रावस्थाय यह है कि स्फोट में सदा एकसा स्वाप रहता है इसलिये यदि उसमें उपलम्य स्वमाव है तो वही हमेशा रहेगा

वरस्यस्य स्वेत्र सर्वेदिषेतम्यस्यभावस्यात् । धनुष्यान्यस्यभावस्य स्वान्त नवनिस्कदार्षिस्केनिकरमु-पत्रम्येत । स्वेकदेशेनावरस्यापगयः क्रिवतः नन्येवमावृतानावृत्तस्य सम्बद्धस्यमस्यानुष्ठकतः । स्रयोऽ-विनिर्भोगस्यादेकवानावृतः सर्गवानावृतोऽस्यूपगम्यतः तहि तदवस्योऽश्रेषदेशावस्यितस्यतिवस्यतिवस्यतः । स्या च निरवस्त्वादेकवानावृतः सर्गवानावृतः तदैकवावृतः सर्गवाप्यावृत इति मनाविप नोयलस्येत ।

श्चन रुकोटविषयसंवेदनोत्पादस्तत्संस्कारः; सोप्ययुक्तः; वर्गानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्तिजननेपि सामर्थासम्भवात्, न्यायस्य समानत्वात् ।

ग्रथ मतस्-पूर्ववर्णश्रवरणज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोऽन्त्यवर्णश्रवरणज्ञानानन्तरं पदादिस्कोट-स्याभिव्यक्तेरयमदोषः; तदप्यसंगतम्; पदार्वप्रतिपत्तेरप्येवं प्रसिद्धः स्फोटपरिकल्पनार्यनक्यात्।

ग्रतः श्रावरण के दूर होते हो सबंत्र सर्वदा उसकी उपलब्धि होने लगेगी अर्थात् समी को सर्वदा अर्थ प्रतीति होने का ग्रतिप्रसंग ग्रायेगा। यदि स्फोट में अनुपलभ्य स्वभाव मानते हैं तो कहीं पर कभी भी किसी पुरुष को उसकी उपलब्धि नहीं हो संकेगी प्रवयोंकि सदा सर्वत्र एकसा स्वभाव रूप है। यदि कहा जाय कि एक देश से ही स्फोट के ग्रावरए। का ग्रपगम किया जाता है तो आवृत और ग्रनावृत ऐसे स्फोट के ग्रनवय हो जाने से निरंश मानने का सिद्धांत बाधित होता है। यदि निर्विभाग होने से स्फोट को एक जगह श्रनावृत होने से सर्वत्र अनावृत मानते हैं तो वही दोष ग्राता है कि सर्व देश में ग्रवस्थित हुए पुरुषों द्वारा स्फोट उपलब्ध होने से सभी को अर्थ प्रतीति होने का प्रसंग ग्राता है। तथा निरंश होने से स्फोट एकत्र ग्रनावृत है तो सर्वत्र अनावृत ही रहता है उस प्रकार कदाचित् एक जगह ग्रावृत है तो सर्वत्र आवृत है हस तरह की कल्पना संभावित होने पर वह स्फोट किचित् भी उपलब्ध नहीं होवेगा और इसलिये अर्थ प्रतीति भी किचित्मात्र नहीं हो सकेगी।

स्फोट के विषय में संवेदन का उत्पाद होना स्फोट संस्कार कहलाता है ऐसा प्रथम पक्ष कहें तो भी अयुक्त है, क्योंकि जिस प्रकार वर्णों में अर्थ प्रतीति को उत्पन्न करने की सामर्थ्य आप नहीं मानते उस प्रकार उनमें स्फोट प्रतीति को उत्पन्न करने की सामर्थ्य भी नहीं मान सकते, न्याय तो सर्वत्र समान होना चाहिये, यदि अर्थ प्रतीति की सामर्थ्य नहीं तो स्फोट प्रतीति की भी नहीं।

वैयाकरणवादी — पूर्व वर्ण के श्रवण ज्ञान से उत्पन्न हुआ है संस्कार जिसको ऐसे पुरुष के अंत्व वर्ण के श्रवण ज्ञान के प्रनन्तर पदादि स्फोट की प्रभिव्यक्ति हो जाने से यह दोष नहीं भारता ? चिदारमध्यतिरेकेण् तत्त्वान्तरस्यास्यार्थप्रकाशनसामध्यांतस्थवाच्च स एव हि चिदारमा विशिष्टयक्तिः स्कोटोऽस्तु । 'क्फुटति प्रकटोभवत्यर्थोरिकम्' इति स्कोटिश्वतात्मा । पदार्थक्वानावरण्वीयांन्तरायक्षयो-पश्चमिविश्वष्टः पदस्कोटः । वाक्यार्थक्वानावरण्वीयन्तिरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यस्कोटः इति । भावश्रुतक्कातपरिणुतस्यात्मनस्याभियानाऽविरोधात् ।

वायवः स्कोटाभिव्यक्षकाः; इत्यय्ययुक्तम् शब्दाभिव्यक्तिवत्स्कोटाभिव्यक्ते स्तेम्योऽनुपपत्ते । तैवां च व्यञ्जकत्वे वर्णकत्पनार्वेभत्यम्, स्कोटाभिव्यक्तावर्षप्रतिपत्ती नामीवामनुपयोगात् । स्यिते च स्कोटस्य वर्णवायृत्यादात्पृत्वं सञ्जावे वर्णाना वायूनां वा व्यजकत्वं परिकल्प्येत । न चास्य सञ्जावः कृतिस्वरक्षमाणाद्यतिपत्रः । यञ्चोक्तम्—

जैन—यह कथन भी असंगत है, इस तरह तो अर्थ प्रतिपत्ति भी हो सकती है अतः स्फोट की कल्पना करना व्यर्थ ही हो जाता है। तथा चैतन्य आत्मा को छोड़ कर अन्य बस्तु में अर्थ प्रकाशन को सामध्यें हो असंभव है इसिलये वही विशिष्ट शक्ति बाला चैतन्य आत्मा "स्फोट" है ऐसा मान लेवे ? "स्फुटित प्रकटी भवति अर्थः अस्मिन् इति स्फोटः चिदालमा" इस प्रकार निरुक्ति सिद्ध अर्थ भी उपलब्ध होता है। पदार्थ सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्म और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा का होना पदस्फोट कहलाता है। वाक्यार्थ सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्म और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा का होना वाक्य स्फोट कहलाता है, ऐसा मानना चाहिये। भाव अतज्ञान से परिणत आत्मा को इस तरह कहने में कोई विरोध नहीं आता।

स्फोट के ग्रिभव्यंजक संस्कार न होकर वायु है ऐसा कहना भी ग्रयुक्त है, क्योंकि जैसे शब्द को वायु ग्रिभव्यक्त नहीं कर सकती वैसे स्फोट को भी अभिव्यक्त नहीं कर सकती। दूसरी बात यह भी है कि वायु द्वारा स्फोट का ग्रिभव्यक्त होना मानने पर वर्ण को स्वीकार करना व्यर्थ ठहरता है, क्योंकि स्फोट के ग्रिभव्यक्ति से अर्थ की प्रतीति हो जाने पर वर्णों की कोई उपयोगिता नहीं रहती है। तथा वर्ण ग्रीर वायु के उत्पाद के पहले स्फोट का सद्भाव सिद्ध होता तो वर्ण ग्रयवा वायु उसके अभिव्यंजक माने जाते, किन्तु किसी भी प्रमाण से स्फोट का सद्भाव ज्ञात नहीं होता है।

े इस स्फोट के विषय में भर्नुंहरि का कहना है कि — नाद से ( पूर्व वर्णाया वायु से ) प्राप्त हो गया है संस्कार जिसमें, तथा अंतिम ब्वर्ना के साथ ( अंतिम वर्णा "नादेनाऽहितबीजायामन्ये(स्प्ये)न व्यक्तिना सह । म्रावृत्तिपरिपाकायां बुढौ शब्दोऽवभासते ॥"

[ वाक्यप० शाम्ध ] इति;

तदप्येतेनापाकृतम्; नित्यत्रमन्तरेगामपि चार्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादितमेव ।

यञ्च श्रवणव्यापारानन्तरमित्याबुक्तम्; तदय्यसारम्; घटादिशब्देषु परस्परव्याकृतकालप्रत्या-सत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण् स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्येकस्याघ्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात् । न चाभिन्नप्रतिभासमात्रादभिन्नार्थव्यवस्या, ग्रन्यमा दूरादविरलानेकतरुषु एकप्रतिभासादेकत्वव्यवस्या स्यात् । न चास्य बाघ्यमानत्वान्नेकत्वव्यवस्यापकत्वम्; स्फोटप्रतिभासेपि बाध्यमानत्वस्य प्रदक्षित-त्वात् । न खलु निरवयवोऽक्रमो निरयत्वादिषमपितोऽसौ क्वविदिष प्रत्ययेऽवभासते ।

या वायु के साथ ) जिसमें समस्त रूप से परिपाक हो चुका है ऐसी बुद्धि में शब्द प्रथित् स्फोट प्रतिभासित होता है। इत्यादि। सो यह कथन भी पूर्वोक्त रीत्या निराकृत हुआ समक्रना चाहिए। क्योंकि नित्य स्फोट या नित्य शब्द के बिना भी अनित्य रूप शब्द ब्रारा प्रयंकी प्रतीति भलो प्रकार से हो जाती है ऐसा हम जैन सप्रमाण सिद्ध कर चके हैं।

ग्रीर जो कहा था कि — श्रवण व्यापार के अनन्तर एक ग्रथं बुद्धि में श्रवभासित होता है वह स्कोट है, इत्यादि सो वह भी ग्रसार है, क्योंकि घटादि शब्दों में
परस्पर में व्यावृत्त एवं काल की निकटता से विशिष्ट ऐसे वर्णे ही ग्रथं के प्रकाशक होते हुए प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं उक्त वर्णों के ग्रतिरिक्त स्कोट रूप कोई एक पदार्थं ग्रथं प्रकाशन करता हो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान के गोचर ही नहीं है। तथा ज्ञान में एक ग्रभिन्न ग्रथं प्रतिभासित होने मात्र से कोई ग्रभिन्न एक ग्रथं की व्यवस्था नहीं हुन्ना करती है, यदि सर्वथा ऐसा माना जाय तो ग्रविरल रूप से स्थित ग्रनेक बुक्ष दूर से एक ग्रभिन्न रूप प्रतिभासित होने से उनको भी एक मानना होगा। बुक्षों में होने बाला एकत्व का प्रतिभास बाध्यमान है ग्रतः उन बुक्षों में एकत्व स्थापित नहीं किया जाता, ऐसा कही तो स्फोट के प्रतिभास में भी बाध्यमानत्व दिखला चुके हैं। ग्रापका नित्य निरंश श्रादि धर्म युक्त ऐसा यह स्फोट किसी भी ज्ञान में ग्रवभासित नहीं होता है। कथं चैवं शब्दस्कोटबद्दगत्थादिस्कोटोप्पऽषंप्रतीतिनिमित्तं न स्यात् ? यथेव हि शब्दः इत-संकेतस्य भविषदयें प्रतिपत्तिहेतुस्तवा गन्धादिरप्यविशेषात् । 'एवंविषमेकं गन्धं समाघाय स्पर्शं च संस्पृद्ध रसं चास्त्राद्य रूपं चालोक्य त्वयेवंविषोधंः प्रतिपत्तव्यः' इति समयग्राहिए। पुनः कवित्ता-द्यगन्धाषुपलस्मात् तयाविषाधंनिर्एयश्रसिद्धो गन्धादिविशेषाभिव्यंगधो गन्धादिस्कोटोऽस्तु [ वर्एं ] विशेक्षाभिव्यंगधपदादिस्कोटवत् ।

एतेन हस्तपादकररणमात्रिकाञ्जहाराविस्फोटोच्यापादितो द्रष्टव्यः। पदाविस्फोट एव, न तु स्वावयविजयाविजेवाभिव्यंगयो हंसपदमाविहंस्तस्कोटः, विकृष्टिताविलक्षणः पादस्फोटः, हस्तपाद-

यदि शब्द का स्फोट अर्थ प्रतीति का निमित्त है ऐसा स्वीकार करते हैं तो गंध का स्फोट, रसका स्फोट आदि भी क्यों न स्वीकार किये जांय ? क्योंकि जिस प्रकार शब्द जिसने संकेत को जाना है ऐसे पुरुष के किसी पदार्थ में ज्ञान का हेतु होता है उस प्रकार गंधादि भी ज्ञान का हेतु होता है कोई विशेषता नहीं है। जैसे शब्द या स्फोट में संकेत होता है कि इस शब्द का यह अर्थ है वैसे गंधादि में भी संकेत होता है कि—इस प्रकार के एक गंध को सूघकर, स्पर्ण को खूकर, रसको चखकर और रूप को देखकर तुम ऐसे पदार्थ को जानना, इस तरह किसी पुरुष ने संकेत कराया पुन: किसी स्थान पर उस उस प्रकार के गंध रस आदि को प्राप्त कर उस प्रकार के अर्थ का निर्णय करते ही हैं, इसलिये गंधादि विशेष अभिव्यंग्य ऐसा गंधादि स्फोट भी स्वीकार करना चाहिये, जैसे कि वर्ण विशेष अभिव्यंग्य पदादि स्फोट स्वीकार करते हो है

इसी तरह स्नाप को हस्तरफोट, पादस्फोट, करणस्फोट, मात्रिकास्फोट, स्रंगहारस्फोट आदि को भी मानने का प्रसंग झाता है, उसका प्रतिपादन भो हमने गंबादिस्फोट के समान कर लिया समक्षना चाहिए।

वैयाकरणवादी—केवल पदादिस्फोट ही सिद्ध होता है, न कि प्रपने ध्रवयवों की किया विशेष से अभिन्यंग्य होने वाले हंसपक्ष्मादिरूप हस्तस्फोट ( हंस के ब्राकार रूप हाथ को बनाना ) या विकृहित लक्षण वाला पादस्फोट ( पैरों को ध्रमाना ) हस्त तथा पादका एक साथ व्यापार होने रूप करणस्फोट, दो करण रूप मात्रिका स्फोट, सात्रिका समूह रूप अंगहार स्फोट। अभिन्नाय यह है कि ये हस्तादि स्फोट केवल स्फोट नाम से भले ही कहे जाते हों किन्तु शब्दस्फोट में जैसा स्फोट का लक्षण पाया जाता है वैसा इनमें नहीं पाया जाता।

समायोगलक्षाग्रः करणुस्कोटः, करणुढयरूपो मात्रिकास्कोटः, मात्रिकासमुहलक्षगोंऽगहारस्कोटो वैति
ममोरयमात्रम्, तस्यापि स्वस्वावयवाभिव्यंगघस्य स्वाभिनेयार्यप्रतिपतिहेतोरशक्यिनराकरण्शवात् । तिन्नराकरणे वा शब्दस्कोटाभिनिवेको दूरतः परित्याव्यः झाक्षेपसमाधानानामुभयत्र समानत्वात् । ततः शब्दस्कोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्यायोगान्नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनवन्धनं प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् । किन्तु परं वाक्यं वा तिम्नवन्धनत्वेन प्रतिपत्तव्यम् ।

जैन — यह कथन भी मनोरख मात्र है, अपने अवयव द्वारा अभिव्यंत्य करने योग्य ऐसे ये हस्तादि स्फोट भी अपने अभिनेय प्रयं की प्रतिपत्ति कराने हेतु है जैसे कि शब्द स्फोट अर्थ की प्रतिति कराने में हेतु है, अतः इन स्फोटों का निराकरण अशक्य है अर्थात् यदि शब्द स्फोट या पदादि स्फोट को स्वीकार करते हैं तो गंध स्फोटादि एवं हस्तस्फोटादि को भी स्वीकार करना होगा ( जो कि आपको अनिष्ट है ) यदि हस्तादि स्फोट का निराकरण करना ही है तो शब्द स्फोट की मान्यता को दूर से ही छोड़ देना चाहिये। आप इन गंधादि स्फोटों के पक्ष में जो भी आक्षेप (शंका) करेंगे वहीं आक्षेप शब्द स्फोट के पक्ष में आपतित होंगे तथा उन आक्षेपों का जो समाधान आप देंगे वही समाधान गंधादि स्फोट के पक्ष में रहेगा इस तरह उभय पक्ष में समाम ही शंका समाधान है। कोई विशेषता नहीं है। इस प्रकार शब्द स्फोट के स्वरूप का विचार करने पर वह विचार के अयोग्य प्रतीत होता है अतः शब्द स्फोट अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण नहीं है ऐसा बुद्धिमानों को निश्चय करना चाहिये। अतः शब्द स्फोट अर्थ की प्रतीति नहीं कराता अपितु पद एवं बाक्य अर्थ की प्रतीति कराता है ऐसा मुनिश्चत प्रमाण में सिद्ध होता है।

विशेषार्थ — शब्द स्फोट का खंडन करते हुए जैन ने कहा कि अर्थ की प्रतीति कव्द द्वारा न होकर अहण्य ऐसे स्फोट द्वारा ही होती है तो गंधादि अर्थ की प्रतीति के लिये गंधादि स्फोट भी मानने होंगे एवं क्रिया विशेष की प्रतीति के लिये हस्तादि स्फोट भी मानने होंगे? इस पर परवादी ने कहा कि अवयव क्रिया का अनुकरण करना ही हस्त आदि स्फोट है अतः इनको मानना व्ययं है? किन्तु यह कथन शब्द विषयक स्फोट में भी घटित होता है, शब्द का अर्थ ही स्फोट ही अन्य कुछ नहीं इत्यादि । यहां पर हस्तस्फोट आदि का जो वर्गान किया है वे स्फोट तो केवल शरीर की क्रिया विशेष हैं, नृत्य करते समय हस्त पादादिका जो विचित्र प्रकार से चुमाना

होता है उसकी अपेक्षा लेकर समकाया है कि यदि शब्द स्फोट की कल्पना करे तो इन स्फोटों की कल्पना भी करनी होगी। इस स्फोट नामा वस्तु की कल्पना भर्तृ हरि ब्रादि ने की है। यहां प्रथम तो इन परवादियों के मंतव्य पर विचार करेंगे फिर जैनाचार्य का निर्दोष कथन प्रस्तुत करेंगे।

वक्ता के मुख से वर्णों का कमशः उच्चारण होकर श्रोता के कर्णा जन्य ज्ञान का उस्पाद तथा चिंतन होने तक चारों चीजें होती हैं—नाद, स्कोट, ध्वनि (व्यक्ति) ग्रीर स्वरूप। जैसा कि कहा है—

> नादै राहित बीजाया मन्येन ध्वनिना सह । आवृत्त परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽनधार्यते ।।१।। ि वाक्य १।८४। ी

धर्य — नाद हारा प्राप्त हुमा है संस्कार जिसमें ऐसी बुद्धि में ध्विन के साथ पूर्ण उच्चारण होने पर शब्द अवधारित होता है। (पहले इसी प्रकरण में मूल संस्कृत में यह क्लोक घाया है किन्तु उसमें पाठ भेद है) यहां पहले नाद फिर संस्कार और फिर ध्विन होती है ऐसा बताया है। थोता जिसकी सहायता से वर्ण ध्विनयों को प्रहण करने में समर्थ होता है वह नाद शब्द का वाच्य है, नाद के समकाल में ही स्फोट नामा पदार्थ प्रमुभव में घाता है, यह स्फोट नित्य एवं एक है और नाद हारा प्रगट होता है—

् प्रहरण प्राह्मयोः सिद्धा योग्यता नियता यथा । व्यंग्य व्यंजक भावेन तथैव स्फोट नादयो: ।।

[वाक्य शह्छा]

भ्रयं — जिस प्रकार ग्रहण भ्रीर ग्राह्म में स्वतः सिद्ध योग्यता है उसी प्रकार स्फोट और नाद में व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध है, स्फोट व्यंग्य है भ्रीर नाद उसका व्यंजक है। नाद से नित्य एक ऐसा स्फोट प्रगट होता है। उसका स्वरूप—

"अनेक व्यक्तयभिव्यंग्या जातिः स्फोढ इति स्मृता ॥

वाक्य शह ३

अनेक व्यक्ति रूप श्रभिव्यंग्य होने वाली जो जाति है वह रफोट कहलाता है। शब्द का श्रवरा पूर्ण होते ही हमें जो उसके ग्रथं की या भाव ज्ञान को तात्कालिक उपलिध्य होती है उसे ही रफोट कहते हैं। नाद ग्रीर रफोट के लिए ऐसा भी कह सकते हैं कि नाद बाह्य न्विय ना विषय है ग्रीर सहसा उद्भूत रफोट प्राणचेतना का विषय है। रफोट स्वयं एक है किन्तु उसका अभिव्यंजक नाद (शब्द वर्ण) जब स्वयं उत्पन्न होकर उसको प्रगट करता है तब भाव ज्ञान की उपलब्धि होना रूप रफोट अनुभव में ग्राता है। रफोट के अनन्तर ध्विन नामकी प्रक्रिया होती है "रफोट अर्थ के ज्विन्य के समान है श्रीर ध्विनयां अर्थ है वह "स्वरूप माना चौथा चरण है। इस प्रकार ये चार प्रक्रिया शब्द ग्रीर अर्थ के वीच में हुआ करती हैं। इनमें से यहां पर रफोट का विशेष विचार किया है।

ब्रव जैन सिद्धांतानुसार उपर्युक्त परवादी के कथन पर विमर्श करते हैं, शब्द पुद्गल नाम के दृश्य एवं जड़ पदार्थकी पर्याय (ग्रवस्था ) है, जो कूछ काल तक ठहरती है। विशेष प्रयोग द्वारा अधिक काल तक भी ठहर सकती है। शब्द के ग्रक्षरात्मक श्रनक्षरात्मक, भाषात्मक ग्रभाषात्मक, तत्वितत घन सुबिर ग्रादि ग्रनेक भेद पाये जाते हैं जिनका राजवात्तिक आदि ग्रन्थों में वर्णन पाया जाता है। पूद्गल के प्रतेक भेदों में भाषा वर्गणा नाम का एक भेद है। यही भाषा वर्गणा सब प्रकार के शब्दों को उत्पत्ति उपादान है। शब्द के निर्माण में उपादान तो एक भाषा वर्गणा ही है किन्तु निमित्त श्रनेक प्रकार के हैं। यहां प्रकृत में मुख विनिर्गत शब्द की चर्चा है जो भाषात्मक एवं अक्षरात्मक है। इसका उपादान एक भाषा वर्गगा होते हुए भी निमित्त कारण तालू, कंठ खादि अनेक हैं। शब्द में रूपादि गूण यद्यपि पूदगल होने के नाते रहते हैं किन्तू वे ग्रव्यक्त रूप से रहते हैं। प्रतिकल वायु से उपघात होना, यन्त्र द्वारा ग्रहण में आ जाना इत्यादि प्रक्रिया से शब्द का मृत्तिकपना सहज ही सिद्ध होता है म्रतः उसको स्रमूर्त मानने का परवादि का सिद्धांत स्रसत्य है । ध्वनि स्रौर नाद ये दोनों तो शब्द के ही नामांतर हैं जिसको परवादी ने शब्द से प्रथक तत्व रूप स्वीकार किया है। भाषा वर्गणा सर्वत्र व्यापक है उसका अस्तित्व भी सदा रहता है। प्रतीत होता है कि इसी वजह से परवादी शब्द को नित्य एवं व्यापक मान बैठे हैं। क्योंकि मिथ्यात्व के उदय से वस्तु स्वरूप का विपर्यास हम्रा ही करता है। यहां केवल भाषा रूप अक्षरात्मक शब्द की चर्चा है, इसके ग्रकारादि स्वर और ककारादि व्यंजन रूप भेद हैं। जब कोई व्यक्ति मूख से शब्द का उच्च।रण करने के लिये प्रयत्नशील होता है तत्काल ही वहीं पर स्थित भाषा वर्गणा उन अकारादि शब्द रूप परिणमन कर जातो है और श्रोता के कर्ण तक पहुंचती है। भाषा वर्गणा का शब्द रूप परिवर्त्तन होकर कर्ण तक पहंचने में जो प्रक्रिया होती है शायद उसी को भर्ज हिर ने ध्वनि वाद इत्यादि नाम दिये हैं। स्फोट का जो वर्णन वे लोग करते हैं वह काल्पनिक है। हां जो लोग उसको भाव ज्ञान रूप मानते हैं उस पर विचार करने पर आभास होता है कि शब्द को मूनकर जो श्रावण प्रत्यक्ष ज्ञान ( सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष ) होता है जी कि शब्द श्रवण के पहले आत्मा में लब्धि रूप अवस्थित रहता है उसकी स्फोट नाम से माना है क्या ? मिथ्यात्व के उदय से स्वरूप विपर्यास, कारण विपर्यास, एवं भेदा भेद होते ही हैं, जैसे द्रव्य दृष्टि से नित्य धर्म को देखकर सांख्य संपूर्ण वस्तु को नित्य धर्मात्मक ही मान बैठे हैं। पर्याय दृष्टि से अनित्य धर्म को देखकर बौद्ध संपूर्ण वस्तु को क्षणिक ही मान बैठ हैं। ऐसे ही शब्द के विषय में विपर्यास हुआ है। ग्रस्तु। ग्रतः युक्ति और प्रामाणिक धागम से यही सिद्ध होता है कि शब्द पुद्गल द्रव्य की ग्रवस्था विशेष है कुछ समय तक या प्रयोग विशेष श्रधिक काल तक रहने वाली पर्याय है इस शब्द में ऐसी ही वाचक शक्ति है कि वह वाच्यार्थ का ज्ञान कराती है। स्फोट के विषय में वैयाकरणवादी का अधिक आग्रह देखकर आचार्य ने समकाया कि अकारादि वर्ण और पद एवं वाक्य ये ही घट पट आदि अर्थ के वाचक हैं ये ही अर्थ की प्रतीति कराने में हेत हैं। वक्ता के मूख से शब्द विनिर्गत होकर श्रोता तक पहुंचते हैं उससे श्रोता को ज्ञान हो जाता है इसके बीच में तीसरी कोई चीज नहीं है, नाद ध्वनि, स्फोट ग्रादि सब मनगढंत कल्पनायें हैं। हांयदि शब्द सूनकर जो ग्रथं प्रतिभास होता है जो कि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपश्चम स्वरूप है उसे स्फोट नाम देते हैं तो बात अलग है तब तो यही निरुक्ति होगी कि "स्फुटति प्रकटी भवति ग्रर्थः अस्मिन् इति स्फोटः चिदात्मा" ग्रर्थात् जिसमें अर्थ स्फुट होता है वह आत्मा स्फोट है ग्रयवा उसमें ग्रभिन्न रूप से ग्रवस्थित श्रृत ज्ञान स्कोट है। ग्रत: अकारादि वर्गा, देवदत्तादि पद एवं वाक्य ये पुद्गल पर्याय रूप शब्द, घट, पट, गो, जीव, मनुष्य, पशु आदि चेतन भ्रचेतन ग्रर्थ, और ग्रात्मा में स्थित ज्ञान इन तीनों को छोड़कर चौथा स्फोट नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है ऐसा दृढ़ निश्चय हम्रा।

अंत में एक प्रश्न रह जाता है कि - मुख से निकले हुए शब्द कमशः उत्पन्न होकर विनष्ट होते हैं तो श्रोता को अक्षर समूह से होने वाला ज्ञान कैसे होगा ? इस जिटल समस्या को प्रभाचन्द्राचार्य ने बहुन ही मुन्दर रीति से सुलक्षाया है कि -- "पूर्व वर्ण विज्ञानाभाव विशिष्टः तज्ज्ञानजनित संस्कार मन्यपेक्षो वा अंत्यवर्णो अयं प्रतीत्यु-त्यादक." । अथवा "पूर्व वर्णज्ञान प्रभव संस्कार अपालिकया अंत्यवर्णे सहायतां प्रतिपद्यते" । यहा शब्दार्थोपलिब्ध निमित्त क्षयोपशम प्रतिनियमादिवनष्टा एव पूर्व वर्णे संविदस्तत्संस्काराश्च अंत्यवर्णे संस्कार विद्यति इति । वर्णे कमशः उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं किन्तु उनका विज्ञान जन्य संस्कार नष्ट नहीं होता अतः अंतिम वर्णे को वह संस्कार सहायता पहुंचाता है और उससे अर्थ का प्रतिमास होता है । या पूर्व वर्णे जान से संस्कार होता है अपैर वह प्रवाह कम से अंतवर्ण को महायक होता है । अथवा शब्द और अर्थ की उपलब्धि में निमित्तभूत क्षयोपशम के प्रनिनयम से अविनष्ट ऐसे जो पूर्व पूर्व वर्णे के ज्ञान हैं एवं तज्ज्ञानित संस्कार हैं वे अंतिम वर्णे के संस्कार को करते हैं और उससे अर्थ की प्रतिति होती है । अर्थान् शब्द और अर्थ को जानने का ज्ञानावरण को क्षयोपशम आत्मा में मौजूद रहता है अतः कमशः वर्णे पद एवं वाक्य को सुनकर सर्थ बोध हो जाता है ।

इस प्रकार निष्चय हुआ कि शब्द ग्रीर अर्थ बोध के बीच में तीसरा स्फोट नामका कोई पदार्थ नहीं है। यदि इसे मानना है तो 'स्फुटति प्रतिभासते ग्रयं: अस्मिन् इति ग्रात्मा, जिसमें अर्थ प्रतिभासित होता है ऐसा चैनन्य ग्रात्मा या उसका ज्ञान ही स्फोट है ऐसा मानना चाहिए। इस तरह स्फोटबाद का निरसन हो जाता है।

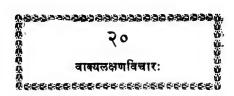
## स्फोटवाद के निरसन का सारांश

वैद्याकरणवादी — पदार्थ बाच्य होते हैं इनमें कोई विवाद नहीं किन्तु वर्णों को उनका वाचक मानना अयुक्त है, वाचक तो पद वाक्यादि का स्फोट होता है, वर्णों के द्वादा प्रगट होने वाला नित्य व्यापक ऐसा जो अर्थ है वह स्फोट कहलाता है। वर्णों को बाचक माने तो व्यस्त वर्ण् वाचक है या समस्त वर्ण् वाचक है? प्रथम पक्ष कहो तो एक गकार से भी अर्थ का ज्ञान होने का प्रसंग ग्राता है द्वितीय पक्ष कहो तो वर्णों का समुद्राय असंभव है क्योंकि कम से उत्पन्न ग्रीर नष्ट होने वाले वर्णों का समूह होना ग्रावय है। अंतिम वर्ण् पूर्व वर्णों की अपेक्षा लेकर अर्थ का वाचक होता है ऐसा कहना भी सुशोभित नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने से ग श्रादि वर्णों का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा। यदि कहा जाय कि पूर्व वर्णों के ज्ञान से उत्पन्न हुए जो संस्कार हैं उनकी सहायता से अंतिम वर्ण् श्रयं का वाचक होता है तो यह भी श्रयुक्त है क्योंकि जिस तरह घट के ज्ञान में उत्पन्न हुया संस्कार पट की प्रतीति नहीं कराता, उसी तरह पूर्व वर्णों का संस्कार ग्रंतिम वर्ण् का सहायक नही हो सकता। इस प्रकार व्यस्त वर्ण् या समस्त वर्णों से अर्थ की प्रतीति होना सिद्ध नही होता। ग्रतः मानना होता है कि प्रयं की प्रतीति में हेतु एक स्कोट नामक तत्त्व है। यह स्कोट नित्य, व्यापक एवं एक स्प है।

जैन—यह कथन ठीक नहीं, मुनने में झाया हुआ जो पूर्व वर्ग्ग है उससे विजिष्ट ऐसा क्रन्तिम वर्ग्ग, अर्थज्ञान को कराता है अतः पूर्व वर्ग्ग का उच्चारण व्यर्थ होगा इत्यादि दोष नहीं आते हैं।

पूर्व वर्गा नष्ट होने से वह ग्रन्तिम वर्गा का सहायक नहीं हो सकता ऐसा कहना भी ठोक नहीं, क्योंकि हम तो अभाव को भी सहकारी मानते हैं। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि पूर्व वर्गा से उत्पन्न हुए ज्ञान के संस्कार वश ग्रन्त वर्गा ग्रयं का बोध कराता है। इसी प्रकार पद ग्रीर वाक्य में समक्षता चाहिये। वर्ग, पद, वाक्य से ग्रयं बोध होने में क्षयोपणम भी कारण है, ग्रयांत् इव्यत्व की ग्रयेक्षा पूर्व वर्गों के ज्ञान और उनसे होने वाले संस्कार दोनों ग्रविनष्ट हैं ग्रतः ग्रन्त वर्ग में संस्कार करते हैं। पूर्व वर्ण स्कोट का संस्कार करते हैं ग्रेस कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि स्कोट का ग्रमिक्यक्ति के सिवाय दूसरा संस्कार करते हैं। ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि स्कोट का ग्रमिक्यक्ति के सिवाय दूसरा संस्कार क्या हो

सकता है। यदि सस्कार से मतलब स्कोट विषयक ज्ञान से है, सो भी ठीक नहीं है, क्यों कि वर्ण अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकते वैसे ही स्फोट का ज्ञान भी उत्पन्न नहीं कर सकते। वर्ण पद आदि और उनके उच्चारण के धनन्तर होने वाली धर्ष प्रतीति इन दोनो को छोडकर तीसरा स्फोट नामक तस्व किसी प्रकार भी प्रतीत नहीं होता है, अतः उसकी कल्पना करना निर्थंक है। जब हष्ट कारण से हो कार्य उत्पन्न हो सकता है तो अहण्ट कारणातर की कल्पना करना बुद्धिमत्ता नहीं है। इस प्रकार वैयाकरणो हारा मान्य एक, व्यापक, नित्य स्फोट को परिकल्पना सिद्ध नहीं होती है।



कि पुनः पदं बाक्यं वा यन्निबन्धनाऽर्यप्रनिपनिनित्यिभिधीयते ? वर्णाना परस्परापेक्षासां निरपेक्षः समुदायः पदम् । पदानां तु तदपेक्षःसां निरपेक्षः सपुदायो वाक्यमिति । नन्वेवं कथमिदं साधनवाक्यं घटते-'यत्सत्तत्सवं परिसामि यथा घट , मश्च शब्द 'इति ? 'तस्मात्परिसामी' इत्याका-ङ्क्षसारसाकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेः, इत्यय्यवोद्यम्, कस्यचित्प्रतिपनुस्तदनाकाङ्क्षस्योपपत्ते । निराका-

वैयाकरणवादी के स्फोटवाद का निराकरण करने के अनंतर प्रश्न होता है कि पद एवं वाक्य किसे कहते है जिसके द्वारा कि अर्थ की प्रनीति होती है र सो यहां उनका निर्दोष लक्षण प्रस्तुन करते हैं— "वर्णाना परस्परा पेक्षाणां निरपेक्ष: समुदाय: पदम्। पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्ष: समुदाय: वाक्यम्" अर्थात् परस्पर में सापेक्ष किन्तु वर्णान्तर से निरपेक्ष ऐसा वर्णों का जो समुदाय है उसको पद कहते हैं, तथा वाक्यांतर गत पद से तो निरपेक्ष और परस्पर पदों में सापेक्ष ऐसे पद समूह का नाम वाक्य है।

श्रंका — निरपेक्ष पदों का समुदाय वाक्य है ऐसा वाक्य का लक्षण करने पर साधन वाक्य किस प्रकार घटित होगा ? क्योंकि जो सत् है वह सर्व परिणामी (क्षणिक) होता है क्योंकि वह सत् रूप है, जैसे घट है, शब्द भी सत् है, इस प्रकार उपनय वाक्य तक श्रनुमान प्रयोग करने पर भी "इमलिये परिणामी है" इस वाक्यांतर की श्रपेक्षा रहती ही है। अतः जैन को श्रनिष्ट ऐसे सापेक्ष पदों का समूह ही वाक्य रूप सिद्ध होता है ? ङ्क्षत्वं हि प्रतिपत्त्वभमें वाक्येथ्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दवर्भस्तस्याचेतनस्वात् । स चेत्रप्रतिभक्ता तावतार्थं प्रत्येति, किमिरयपरमाकाङ्क्षेत् ? पक्षभमेंपसंहादपर्यन्तसाधनवाक्ष्यावर्षप्रतिपत्तावि निगमनवचना-पेक्षायाम् निगमनान्तपत्वावयववाक्यादप्यवप्रतिपत्तौ परापेक्षाप्रसंगान्न विविद्याक्षाङ्क्षास्वसिद्धः । तथा च वाक्याभावात्र वाक्यार्यप्रतिपत्तीः कस्यवितस्यात् । ततो यस्य प्रतिपत्त्वपत्ति परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदिवेषु निराकाङ्क्षस्वं तस्य तावस्यु वाक्यस्वसिद्धिरित प्रतिकत्तव्यस्य ।

एतेन प्रकरणादिगम्यपद्मान्तरसापेक्षश्रूयमाण्समुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपद-वद्यान्वरतं प्रतिपादितं प्रतिपत्तस्यम् ।

समाधान — यह शंका ठीक नहीं, किसी प्रतिपत्ता पुरुष को उक्त श्रिप्तम वाक्य की अपेक्षा नहीं भी होती:। निराकांक्षत्व धर्म (अपेक्षा नहीं होनाः) तो प्रतिपत्ता का धर्म है (जानने वाले चेतन आत्मा का) उस धर्म का वाक्यों में आक्रोप मात्र किया जाता है, यह धर्म शब्द का नहीं है क्योंकि शब्द तो अचेतन है। धव बहु प्रतिपत्ताः पुरुष उतने साधन वाक्य मात्र से साध्यार्थ को ज्ञात कर लेता है तो अन्य वाक्य की व्यों अपेक्षा करेगा श्रिष्वीत् नहीं करेगा। यदि पक्ष धर्मोपसंहार स्वरूप उपनय पर्यंत के साधन वाक्य से अर्थ प्रतीति हो जाने पर भी निगमन वाक्य की अपेक्षा होती हो है ऐसा आग्रह करेंगे तो निगमन तक पंच अवयव स्वरूप वाक्य से अर्थ प्रतीति होने पर भी पुनः वाक्यात्र को अपेक्षा मानना होगी और इस तरह किसी भी वाक्य में निराकांक्षत्व सिद्ध नहीं होगा, फिर तो कोई वाक्य ही नहीं कहलायेगा शक्योंकि आगे आगे वाक्यांतर की अपेक्षा बढ़ती ही जायगी, और इस तरह किसी भी वाक्य से अर्थ को प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये अस प्रतिपत्ता पुरुष को जितने परस्पर सापेक्ष पदों के समुदाय में निराकांक्षत्व होता है उस पुरुष को उतने में ही वाक्य की सिद्धि हो जाती है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

एक अन्य प्रकार का भी वाक्य होता है, वह इस प्रकार होता है—प्रकरण ग्रादि से जो गम्य होता है ऐसे पदांतर की जिसमें ग्रंपेक्षा रहती है एवं प्रकरण बाह्य पद की ग्रंपेक्षा जिसमें नहीं होती ऐसे पद मात्र को ग्रंपेक्षा जिसमें नहीं होती ऐसे पद मात्र को ग्रंपेक्षा ऐसे पद समूह को भी वाक्य कहते हैं, जैसे 'सत्यभाषा' यह एक पद है तो इसमें प्रकरण प्राप्त तिष्ठित या भवित पद स्वयं कल्पना से मतनकर उससे वाक्यार्थ निकाला जाता है। ग्रतः पूर्वोक्त वाक्य लक्षण में इस वाक्य का भी संग्रह हुआ समक्ष्या वाहिये।

यच्चोच्यते--

"धास्यातशब्दः संवातो जातिः संघातवर्तिनी । एकोऽनवयवः ग्राब्दः कमो बुद्धभऽनुसंहृती ॥१॥ षदमाखः पदं चास्यं पदं सापेक्षमित्यपि । वास्यं प्रति सर्तिभिक्षा बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥२॥"

[बाक्यप०२।१-२]

इति; तदप्युक्तिमात्रम्; सस्मादाख्यातशब्दः पदान्तरनिरपेक्षः, सापेक्षो वा वाक्यं स्यात् ? न तावदाद्यः पक्षः; पदान्तरनिरपेक्षस्यास्य पदत्वात् । क्रन्ययः। क्रान्श्यतपदाभावः स्यात् । क्रितोयपक्षेपि

भावार्य — सूत्र तथा श्लोकों में ऐसे वाक्य या पद पाये जाते हैं जिनमें प्रध्या-हार रूप से प्रकरण के अनुसार अन्य वाक्य या केवल पद जोड़कर अर्थ प्रतिभास कराया जाता है। जैसे "न देवाः" इस सूत्र के वाक्य में "नपुंसकाः भवंति" इतना वाक्य साकांक्ष है अर्थात् प्रकरण प्राप्त अध्याहत किया जाता है। इसी तरह "तत्र च सत्य-भामा" इस वाक्य में "तिष्ठित" इतना पद अपेक्षित है। फिर भी ये दोनों वाक्य कहलाते हैं क्योंकि प्रकरण के ज्ञाता पुरुष को इतने वाक्य से भी अर्थ प्रतिभास होता है।

वाक्य के विषय में भर्गुंहिर ने कहा है कि — धातु किया रूप पद को वाक्य कहते हैं, वर्णों के संघात को भी कोई विद्वान वाक्य मानते हैं, इसी तरह वर्ण समुदाय में स्थित वर्णात्व जाति को, निरवयव एक शब्द को, वर्णों के कम को, बुद्धि को एवं परामर्थ को भी कोई कोई विद्वान वाक्य मानते हैं।।।। तथा प्राद्यपद सापेक्ष ऐसा अंतिम पद वाक्य कहलाता है अथवा ग्रंत्यपद सापेक्ष प्राद्यपद वाक्य है, इत्यादि रूप से वाक्य के लक्षण में न्यायवेदी पुरुषों के भिन्न भिन्न ग्रन्न ग्राह्मपत हैं।।।।

किन्तु परवादी का उपगुंक्त प्रतिपादन असत् है। आगे क्रमशः उक्त वाक्य लक्षणों का निरसन किया जाता है— आख्यात अब्द अर्थात् क्रियापद पदांतर निरपेक्ष होकर वाक्य कहलाता है या सापेक्ष होकर ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि जो पदांतर निरपेक्ष होता है वह वाक्य नहीं अपितु पद रूप होता है, ग्रन्यथा क्रिया पद में पदस्व का अभाव हो जायेगा। दूसरे पक्ष में भी क्रिया पद कहीं पर निरपेक्ष होता है कि नहीं होता ? प्रथम पक्ष कहो तो हमारे जैन मत का प्रसंग आता है। अर्थात् क्रिया पद

वबन्तिन्निरपेक्षोसी, न वा ? प्रथमपक्षेऽस्मन्मत्रवर्षणः । द्वितीयपक्षरत्वयुक्तः; पदान्तरसापेक्षस्याप्यस्य वबन्तिन्निरपेक्षत्वाभावे प्रकृतार्थापरिसमाप्त्या वावयत्वाऽयोगादद्वं वाक्यवत् ।

संघातो बाक्यमित्यत्रापि देशकृतः, कालकृतो वा वर्णानां संघातः स्यात् ? न तावदाद्यविकल्पो युक्तः; क्रमोत्यश्रप्रव्वंसिनां तेषामेकस्मिन्देषेऽवस्थित्या सघातत्वासम्भवात् । द्वितीयविकल्पे तु पदरूपता-मापन्नेम्यो वर्णोन्योऽसौ भिन्नः, स्रभिन्नो वा ? न तावद्वित्रशोनंषः; तथाविधस्यास्याऽश्रतोतेः, संघातन्व-विरोधाच्य वर्णान्तरवत् । स्रव तेम्योऽभिन्नोसौ; कि सर्वेषा, कथाश्वद्वा ? सर्वया चेत्; कथमसौ संघातः संघातिस्वरूपत् ? श्रन्यथा मतिवर्णं संघातप्रसंगः । न चैको वर्णः संघातो नामातिग्रसंगात् । कथाश्व-

परस्पर के पदांतर का सापेक्ष होकर अन्य पद से निरपेक्ष होता है उसको वाक्य कहते हैं सो यही हम जैन के वाक्य का लक्षण है। दूसरा पक्ष — किया पद कहीं पर भी निरपेक्ष नहीं होता ऐसा कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि पदांतर का सापेक्ष होकर भी यदि यह किया पद कहीं निरपेक्ष नहीं होवेगा तो प्रकृत अर्थ की समाप्ति नहीं होने से उसमें वाक्यपने का अयोग रहेगा जैसे कि अधूरे बाक्य में वाक्यपना नहीं होता।

वर्ण संघात को वाक्य कहते हैं ऐसा वाक्य लक्षण का पक्ष माने तो प्रक्त होगा कि वर्णों का संघात ( समूह ) देशकृत है या कालकृत है १ प्राद्य विकल्प ठीक नहीं, क्योंकि वर्ण कम से उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, प्रतः उनमें एक देश में प्रवस्थित होना रूप देशकृत संघात ग्रसंभव है । दूसरा विकल्प-वर्ण संघात कालकृत है ऐसा माने तो प्रक्षन होता है कि यह कालकृत संघात पदरूपता को प्राप्त हुए वर्णों से भिन्न है कि ग्रमिन्न है १ भिन्न तो हो नहीं सकता क्योंकि ऐसा वर्णों से भिन्न कालकृत वर्ण संघात कभी प्रतीत हो नहीं होता, वर्णों से भिन्न संघात पर प्राप्त वर्णों से अभन्न है ऐसा दितीय विकल्प कहे तो वह सर्वथा ग्रभिन्न है या कथंचित् ग्रमिन्न है है सर्वथा कहे तो उसे संघात कभी कहेंगे १ क्योंकि वह तो संघाति के स्वरूप के समान एक रूप हो गया १ अर्थात् समूह रूप नहीं रहा । यदि एकमंक हुए को भी संघात माना जाय तो प्रत्येक वर्णों को भी संघात माना पड़ेगा । किन्तु एक वर्णों को संघात रूप मानना ग्रहित प्रसंग का कारण है श्रमांत् इस तरह की मान्यता से ग्रतिप्रसंग दोष ग्राता है । पद प्राप्त वर्णों से कालकृत वर्णों संघात कथंचित् व्रभिन्न है ऐसा कहो तो हमारे जैन मत का प्रसंग होगा, वर्णोंकि जैन ही ऐसा मानते हैं कि परस्पर में सापेक और

च्चेत्; जैनमतप्रसंगः-परस्परापेक्षाऽनाकाङ्क्षपदरूपताप्तवर्णानां कालप्रत्याचित्तरूपसंघातस्य कथाचि-द्वर्णेम्योऽभिक्षस्य जैनोक्तवाव्यलक्षर्णानतिकमात् । साकाङ्क्षान्योन्यानपेक्षाणां तु तेवां वाक्यत्वे प्राक्यतिपादितदोषानुषंगः।

एतेन जातिः संधातर्वातनी वाक्यम्; इत्यपि नोत्सृष्टम्; निराकाङ्क्षान्योन्यापेक्षपदसंपात-वर्षितन्याः सरवपरित्यामलक्षरायाः कवश्वित्ततोऽभिन्नाया जातेर्वाक्यत्वघटनात्, भ्रन्यवा संघातपक्षीक्ता-भेषदीषानुषंगः ।

एकोलबयवः शब्दो बाक्ययः; इत्येततु मनोरयमात्रमः; तस्याप्रामाणिकत्वात्, स्फोटस्यार्य-प्रतिपादकत्वेन प्रागेव प्रतिविद्वितत्वात् ।

क्रमो बाक्यमिः बेतत्तु संघातवाक्यपक्षाः नातिशेते इति तहोषेग्येव तद्दृष्टं द्रष्टश्यम् ।

अन्य से निराकांक्ष ऐसे पद रूपता को प्राप्त हुए वर्णों का काल प्रत्यासत्ति रूप संघात होना वाक्य है, जो कि अपने वर्णों से कथंचित् श्रीभन्न श्रीर कथंचित् भिन्न है। यदि उक्त वर्णों संघात रूप वाक्य अन्य वाक्य के पदों से सापेक्ष एवं परस्पर में निरपेक्ष है तब तो पहले बताये हुए दोष आयेंगे। अर्थात् वाक्यांतर की अपेक्षा रहेगी तो कभी भी वाक्य से अर्थों की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि आगे आगे वाक्य की अपेक्षा बढ़ती जाने से कोई भी वाक्य पूर्ण नहीं हो पाने से अर्थ बोध नहीं करा सकता।

संघात वर्तिनी जाति अर्थात् वर्णों के वर्णस्य को वाक्य कहना भी पहले समान ठीक नहीं, क्योंकि इसमें वाक्यपना तब हो सकता है जब वाक्यांतर निरपेक्ष एवं परस्पर सापेक्ष पदों के संघात में वर्तन करने वाली सहश परिणाम रूप जाति को वाक्य माना जाय, जो कि स्वपदों से कथंचित् भिन्नाभिन्न स्वरूप वाली है, अन्यथा संघात को वाक्य मानने के पक्ष में जो दोष कहे थे वे इस पक्ष में भी लागू होंगे।

एक निरंश शब्द को अर्थात् स्फोट को वाश्य कहना तो मनोरख मात्र है, क्योंकि निरंश स्फोट अप्रामाणिक है। स्फोट अर्थ की प्रतीति कराता है ऐसा मंतव्य का अभी स्फोटवाद प्रकरण में निरसन कर चुके हैं।

वर्णों का कम वाक्य है ऐसा वाक्य का लक्षण भी संघात वाक्य के पक्ष के समान है कोई भेद नहीं, संघात को वाक्य मानने में जो दोष आता है उसी दोष से यह वाक्य लक्षण भी दूषित है ऐसा निश्चय करना चाहिये। बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यम्, द्रश्यवाक्यं वा सा स्यात् ? प्रथमपकल्पनायां सिद्धसाच्यता, पूर्वपूर्ववर्णकानाहितसंस्कारस्यात्मनो वाक्यावंग्रहत्युपरित्यतस्यान्त्यवर्णकवर्णाऽनन्तरं वाक्यार्थाववोध-हेतोचुं द्वधात्मनो भाववाक्यस्याऽस्माभिरभीष्टत्वात् । द्रव्यवाक्यरूपतां तु बुद्धेः कत्वेतनः श्रद्धित-प्रतीतिविरोधात् ?

एतेनानुसंहृतिविक्यम्; इत्यपि चिन्तितम्; यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतो भाव-वाक्यस्य परामर्शात्मनोऽभीष्टत्वात् ।

'भ्राखं पदमन्त्रयमन्यदा पदान्तरापेक्षं वाक्यम्' हत्यपि नोक्तवाक्याद्भिखते, परस्परापेक्षपद-समुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वप्रसिद्धः, भ्रम्यचा पदादिसिद्धं रभावानुषंगः स्थात् ।

अन्ये मन्यन्ते-पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदशानानि वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते ।

बुढि को वाक्य मानने का पक्ष प्रहण करे प्रथांत वणों की बुढि को वाक्य कहते हैं ऐसा माने तो प्रवन होता है कि वह बुढि कीनसी है द्रव्यवाक्य रूप या भाव वाक्य रूप ? प्रथम पक्ष में सिद्ध साध्यता है, क्योंकि पूर्व पूर्व वर्ण के ज्ञान से प्राप्त हुआ है संस्कार जिसके ऐसे आत्मा के जो कि वाक्य के अर्थ को प्रहण करने में परिणत है अंतिम वर्ण के श्रवण के अनन्तर वाक्यार्थ का अवबोध हो जाता है उसका कारण रूप जो बुढि है वह भाव वाक्य है ऐसा हम जैन भी स्वीकार करते हैं। द्रव्य वाक्य रूप बुढि है ऐसा कहना तो कोई भी सचेतन व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि यह प्रतीति विरुद्ध है, प्रयांत् द्रव्य वाक्य जड़ रूप है और बुढि चेतन रूप है।

परामशं रूप अनुसहित को बाक्य मानने का पक्ष भी पूर्ववत् है, क्योंकि पद रूपता को प्राप्त हुए वर्णों का परामशं जिसमें प्रतिभासमान है ऐसे आहमा को अनुसहित रूप भाववाक्य मानना हमें इच्ट ही है। अंतिम पद की जिसमें अपेक्षा है ऐसा आखपद वाक्य कहलाता है, अथवा आखपद की जिसमें अपेक्षा है ऐसा अंतिमपद वाक्य कहलाता है, अथवा आखपद की जिसमें अपेक्षा है ऐसा अंतिमपद वाक्य कहलाता है ऐसे बाक्य के लक्षण भी हमारे पूर्वोक्त वाक्य लक्षण से पूथक् नहीं है, क्योंकि परस्पर सापेक्ष एवं अन्य से निरपेक्ष ऐसे पदों का समुदाय वाक्य है और यही लक्षण उक्त वाक्य लक्षण में है, यदि परस्पर की अधेक्षा से रहित पद को वाक्य माना जाय तो पद ही वाक्य बन जाने से पद का अभाव ही हो जायेगा।

मीमांसक प्रभाकर की मान्यता है कि — पद के बर्थ के प्रतिपादन पूर्वक बाक्य के बर्थ का अवबोध कराने वाले पद ही वाक्य संज्ञा को प्राप्त होते हैं। "पदार्थानां तु मूलत्विष्टं तद्भावनावतः।"

[मी० इलो० वाक्या.० इलो० १११ ].

"पदार्थपूर्वकस्तस्माद्वाक्यार्थोयमवस्थितः।"

मी० श्लो० वाक्या • श्लो० ३३६]

इस्यभिश्वानात्; तेप्यत्वसर्पविलप्रवेशत्यायेनोक्तवाक्यलक्षसामेवानुसरन्ति; श्रन्योन्यापेक्षानाका-ङ क्षाक्षरपदसमदायस्य वाक्यत्वेन तैरप्यम्यपगमात् ।

यदि च पदान्तरार्षेरिन्वतानामेवार्थानां पदैरिभधानात्पदार्थप्रतिपत्तेवक्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात्; तदा देवदत्तपदेनेव देवदत्तार्थस्य गामस्याजेत्यादिपदवाक्यार्थरन्वतस्याभिधानाच्छेपपदीच्चारस्य वैयरुर्यम् । प्रथमपदस्यैव च वाक्यरूपताप्रसंगः । यावन्ति वा पदानि तावतां वाक्यस्वं यावस्तुश्च पदार्थान

वाक्य के प्रयं का कारण पदों का अर्थ है ऐसा हम जानते हैं। इसलिये यह वाक्यार्थ पद के अर्थ पूर्वक अवस्थित होता है इत्यादि। सो यह अन्वित अभिधान रूप वाक्य का लक्षण करने वाले प्रभाकर भी अंध सर्प विल प्रवेश न्याय के समान हम जैन के वाक्य के लक्षण का ही अनुसरण करते हैं, अर्थात् जिस प्रकार चींटी आदि के उपद्रव के भय से अंधा सर्प विल से निकलता है किन्तु घूमकर उसी बिल में प्रविष्ट होता है उस प्रकार जैन के वाक्यलक्षण को नहीं वाहते हुए भी घुमाकर उसी लक्षण को स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि अन्योग्य में सापेक्ष और वाक्यांतर से निराकांक्ष ऐसे पद समुदाय को ही वाक्य रूप से प्रभाकर द्वारा स्वीकृत किया गया है अतः जैन का वाक्य लक्षण ही सर्व मान्य एवं निर्दोश सिद्ध होता है।

## धन्विताभिधानवार

वाक्य लक्षण का निश्चय होने के अनन्तर वाक्य के अर्थ पर विचार प्रारम्भ होता है, परवादी प्रभाकर वाक्यार्थ को इस प्रकार मानते हैं कि — सपूर्ण पद अपने पूर्वोत्तर पदों के अर्थों से अन्वित ( सहित ) ही रहते हैं अतः उन्हीं अर्थों का पदों हारा कथन किये जाने से पद के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ प्रतिपत्ति हो जाती है। आशाय यह कि किसी विविद्यात वाक्य में जो भी पद हैं वे एक दूसरे पद के अर्थ से सिहत हुआ करते हैं अतः पद के अर्थ का बोध होने पर वाक्यार्थ का बोध हो जाता है। किन्तु ऐसा अन्वित अभिधान मानने पर दूषण यह आता है कि — कोई एक विवक्षित वाक्य में स्थित देवदत्तादि पद हैं उनमें से एक देवदत्त पद द्वारा ही देवदत्त अर्थ के साथ गां अस्याज (गाय को हटाक्रो) इत्यादि पद एवं वाक्य के अर्थों का अन्वित कथन

स्ताबक्तं वाक्यार्थस्वं स्यात् । स्रविबक्षितपदार्थव्यवच्छेत्रार्थस्वात्रः 'गाम्' इत्यादिपदोच्चारत्यवैयध्यंस्, ६१यशच्याकृत्या वाक्यार्थंप्रतिपत्तिः स्यात्–प्रवमपदेनाभिहितस्य द्वितीयादिपदाभिधेयरिन्वतस्यार्थस्य द्वितीयादिपदैः पुनः पुनः प्रतिपादनात् ।

श्रथ द्वितीयादिपदैः स्वार्थस्य प्रधानभावेन पूर्वोत्तरपदाभिषेयार्थैरान्वतस्याभिधानं नावपदेन प्रतीयमदोषः; तर्हि यावन्ति पदानि तावन्तस्तदर्धाः पदान्तराभिषेयार्थान्विताः प्राधान्येन प्रतिपत्तव्या इति तावस्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तयः कथं न स्युः? न ह्यान्यपदोच्चारणात्तदर्थस्याशेषपूर्वपदाभिषेयैरिन्वतस्य प्रतिपत्तेविक्यार्थावविष्योशेषप्रतिवतस्य, द्वितीयादिपदोचन्वराणात् तदर्थस्य। प्रतिपत्तिक्यार्थियराभिषेयरिन्वतस्य, द्वितीयादिपदोच्चारणात् तदर्थस्य। प्रतिपत्तित्वप्यताभिषेयरिन्वतस्य, द्वितीयादिपदोच्चारणाच्चाऽशेषपदाभिषेयैरिन्वतस्य,

हो जाने से उन शेष पदों का उच्चारण करना व्यर्थ ठहरता है। तथा प्रथम पद को ही बाक्यपना प्राप्त होता है। ग्रथवा एक वाक्य में जितने पद हैं उन सबको वाक्यपना प्राप्त होता है एवं जितने एक एक पद के ग्रथं हैं उन सबको वाक्यार्थपना प्राप्त होता है।

शंका — ग्रविवक्षित पद के ग्रयं का व्यवच्छेद विवक्षित पद से हो जाता है ग्रतः गां इत्यादि पदों का उच्चारण करना व्ययं नहीं ठहरता है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, इस तरह तो पुनः पुनः प्रवृत्ति रूप आवृत्ति से वाक्य के ग्रथं की प्रतिपत्ति होती है ऐसा मानना होगा अर्थात् द्वितीयादि पदों के अभिधेयों से अन्वित ( सहित ) अर्थ का प्रथम पद द्वारा कथन हो चुकता है उसी को द्वितीयादि पदों द्वारा पुनः पुनः कहा जाता है, ऐसा स्वीकार करना होगा।

शंका — पूर्वोत्तर पदों के अभिधेय अर्थों के साथ अन्वित ऐसा अपना अर्थ प्रधान रूप से द्वितीयादि पदों द्वारा कहा जाता है प्रथम पद द्वारा वैसा प्रधान रूप से नहीं कहा जाता अतः उक्त दोख नहीं आयेगा ?

समाधान — तो फिर जितने पद हैं उतने उनके अर्थ हैं म्रीर पदांतर के म्राभिधेय मर्थ से म्रान्तित प्राध्यान से प्रतिपत्ति के योग्य हैं ऐसा अर्थ निकलता है म्रतः उतने वाक्य एवं म्रर्थ प्रतिभास कैसे नहीं कहलायेंगे। म्रायांत् म्रवश्य कहलायेंगे। म्रामासक का यह जो कहना है कि म्रांतिम पद के उच्चारण से म्रतेष पूर्व पदों के म्रामाध्य मर्थों से म्रान्तित ऐसे उसके म्रर्थ की प्रतिपत्ति हो जाने से वाक्यार्थ का बोध होता है किन्तु प्रथम पद के उच्चारण से म्रवांतर पदों के श्राभिधेयों से भन्वित ऐसे

श्रव गस्यमानैस्तैस्तस्यान्वितस्व न पुनरभिषीयमानैः तेनायमदोषः; किमिदानीमभिषीयमान एव पदस्यार्थः? तथोपगमे कथमन्विताभिधानम्-विवक्षितपदस्य गम्यमानपदान्तराभिषेयार्थान्सम्-विषयस्वात्?

म्राय पदानां द्वौ व्यावारौ —स्वार्याभिषानव्यापारः, पदान्तरार्थंगमकत्वव्यापारस्य । कथमेवं पदार्थप्रतिपत्तिराषृत्या न स्यात् ? पदव्यापारात्यतीयमानस्येव गम्यमानस्यापि पदार्थत्वात् । न च पदव्यापारात्प्रतीयमानत्वाविषयेपि कस्विद्याभयमानः कस्विद्याम्यमान इति विभागो युक्तः ।

उसके ग्रर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता एवं द्वितीयादि पद के उच्चारण से अशेष पदों के अभिधेयों से अन्वित ऐसे उसके अर्थ की प्रतिपत्ति से भी वाक्यार्थ का अवबोध नहीं हो पाता, सो इस तरह की मान्यता में क्या विशेष कारण है वह हिंदगोचर नहीं होता, अर्थात् जब सभी पद परस्पर के अर्थ से अन्वित हैं तब ग्रंतिम पद से तो वाक्यार्थ का अवबोध हो और प्रथमादि पद से न हो ऐसा भेद भाव होने में कोई निमित्त दिखायी नहीं देता, अतः पद का अर्थ अन्य पद के अर्थ से अन्वित ही रहता है और उससे वाक्यार्थ का जान होता है ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं है।

प्रभाकर — जो पद गम्यमान हैं ( पदांतरों से गोचरीकृत हैं ) उनसे उस उच्चार्यमान पद का ब्रथं ब्रन्वित होता है न कि अभिधीयमान पदों से, अतः उक्त दोप नहीं आता ?

जैन — तो क्या ग्राप इस समय पद का अर्थ अभिधीयमान ही मानते हैं ? यदि हां तो ग्रापका अन्वित अभिधानवाद अर्थात् पूर्व पद का अर्थ उत्तर पद से अन्वित होता है ऐसा कहना किस प्रकार सिद्ध होगा ? क्योंकि विवक्षित पद गम्यमान पदांतरों के अभिधेय ग्रार्थों को विषय ही नहीं करता है।

प्रभाकर — पदों के दो त्यापार ( कार्य ) होते हैं - एक अपने अर्थ के कथन में व्यापार और दूसरा पदांतर के अर्थ के गमकत्व में व्यापार, अतः अन्वित स्रभिधान रूप वाक्यार्थ घटित हो जायगा ?

जैन — इस तरह तो आवृत्ति से पद के अर्थ की प्रतिपत्ति होना रूप पूर्वोक्त दोष कैसे नहीं भ्रायेगा ? अर्थात् अवश्य आयेगा। क्योंकि पद के ब्यापार से प्रतीयमान के समान गम्यमान का भी अर्थ होता है क्योंकि दो पद के ही अर्थ हैं। पदब्यापार से प्रतीयमानता समान होते हुए भी किसी को अभिधीयमान और किसी को गम्यमान मानने का विभाग तो युक्तियुक्त नहीं है।

नतु पदप्रयोगः श्रेक्षावता पदार्षप्रजिपस्यथः, वावरार्षप्रतिपस्ययाँ वामिषीयेत ? न तावस्यदार्ध-प्रतिपस्ययः; अस्य प्रवृत्त्यः हतुत्वात् । अय वावयार्षप्रतिपस्ययः; तदा पदप्रयोगानन्तरं पदार्थे प्रतिपत्तिः साक्षाद् भवतीति तत्र पदस्याभिधानव्यापारः पदार्थान्तरे तु गमकत्वव्यापारः; तदप्यसान्त्रतम्; 'वृक्षः' इति पदप्रयोगे शासादिमदर्थस्यैव प्रतिपत्तेः। तदयांच्य प्रतिपन्नात् 'तिष्ठति' इत्यादिपदवाच्यस्य स्थानाद्ययंस्य सामर्थ्यतः प्रतीतेः, तत्र पदस्य साक्षाद्वपापाराऽभावतो गमकत्वायोगात् तदर्थस्येव तद्गमकत्वात् । परम्परया तत्रास्य व्यापारे लिगवचनस्य जिगिप्रतिपत्तौ व्यापारोऽस्तु, तथा च शाव्द-मेवानुमानज्ञानं स्यात् । जिगवाचकाच्छव्दाल्लिगस्य प्रतिपत्तेः सैव शाब्दो, न पुनस्तस्प्रतिपन्निजग-

प्रभाकर — बुद्धिमान पुरुष पद का प्रयोग पद के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये करते हैं अथवा वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये करते हैं ? पद के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये तो कर नहीं सकते, क्योंकि पद का अर्थ प्रवृत्ति का हेतु नहीं है। वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये पद प्रयोग करते हैं ऐसा द्वितीय पद्म माने तब तो ठीक ही है, पद प्रयोग के अनंतर पद के अर्थ में तो साक्षात् प्रतिपत्ति होती है, इसलिये उसमें पद का अभिधान ब्यापार होगा और पदार्थांतर में गमकत्व ब्यापार होगा ?

जैन — यह कथन अनुचित है, 'बृक्षः' इस प्रकार के पदप्रयोग के होने पर शाखादिमान् अर्थ की ही प्रतीति होती है। तथा उस प्रतिपन्न अर्थ से 'तिष्ठित' इत्यादि पद के वाज्यभूत स्थानादि अर्थ की सामर्थ्य से प्रतीति होती है, उस अर्थ में वृक्ष पद का साक्षात् व्यापार नहीं होने से उसका वह गमक वन ही नहीं सकता, वह तो उसी अर्थ का गमक रहेगा। यदि कहा जाय कि वृक्ष पद का तिष्ठित पद के अर्थ में परंपरा से व्यापार होता है तो हेतु वचन का साध्य के प्रतिपत्ति में व्यापार होता है ऐसा भी मानना होगा, और इस तरह मान लेने पर अनुमान जान शाब्दिक ही कहलायेगा।

शंका—हेतु के बाचक शब्द से हेतु की प्रतीति होती है उसे ही शाब्दिक ज्ञान कहते हैं किन्तु शब्द से ज्ञात हुए हेतु से जो साध्य का ज्ञान होता है उसे तो शाब्दिक नहीं कह सकते अन्यथा श्रातप्रसंग होगा ?

समाधान — तो फिर वृक्ष शब्द से होने वाली स्थानादि अर्थ की प्रतीति भी शाब्द्रिक मत होवे अन्यथा अतिश्रसंग होगा। अर्थात् जिस प्रकार शब्द से जात हुए हेतु द्वारा होने वाले साध्य के ज्ञान को परंपरा से पद रूप शब्दजन्य होते हुए भी शाब्दिक नहीं मानते उसी प्रकार वृक्षपद द्वारा परंपरा से होने वाले स्थानादि अर्थ ज्ञान को ल्लिमिप्रतिपत्तिरतिप्रसंगात्; तर्हि बृक्षशब्दास्त्यानावर्षप्रतिपत्तिर्भवन्ती शाब्दौ मा भूत्तत एव, प्रस्य स्वार्षप्रतिपत्तावेव पर्यवसितत्वाल्लिगशब्दवत् ।

किंच, विशेष्यपदं विशेष्यं विशेष्यासामान्येनान्वितम्, विशेषण्विशेषेण् वाऽभिष्ठते, तदुभयेन वा? प्रथमपक्षे विशिष्टवाक्यार्थश्रतिपत्तिविरोषः । द्वितीयपक्षे तु निश्चयासम्भवः – प्रतिनियत-विशेषण्यय शब्देनानिर्दिष्टस्य स्वोक्तविशेष्येऽन्वयसंत्रौतः, विशेषणान्तराणामपि सम्भवात् । वक्तुरभि-प्रायास्त्रतिनियत्विशेषण्यस्य तत्रान्वयश्चेतः, नः, यं प्रति शब्दोच्चारण् तस्य वक्त्रभिन्नायाऽप्रत्यक्षतस्तद-निर्णयभ्रसंगात्, आस्मानमेव प्रति वक्तुः शब्दोच्चारणानर्थक्यात् । तृतीयपक्षे तु उभयदोषानुषंगः ।

शाब्दिक नहीं मानना चाहिये, बृक्ष शब्द तो श्रपने अर्थकी प्रतीति में ही सीमित है जैसे हेतु शब्द श्रपने श्रर्थ प्रतीति में सीमित है।

दूसरी बात यह है कि — विशेष्य पद विशेष्य को विशेषण मामान्य से अन्वित कहता है या विशेषण विशिष्ट से अन्वित विशेष्य को कहता है अथवा उभय से अन्वित विशेष्य को कहता है ? प्रथम पक्ष माने तो विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होने में विरोध आता है। दूसरा पक्ष माने तो निश्चय नहीं हो सकता, प्रथित् शब्द से जिसका निर्देश नहीं किया है ऐसे प्रतिनियत विशेषण का अपने उक्त विशेष्य में अन्वय करने में संशय उत्पन्न होगा, क्योंकि विशेष्य में अन्य ग्रन्थ विशेषणों का होना भी संभव है, अत: अपने इस विशेष्य में अमुक विशेषण ही ग्रन्थित है ऐसा निश्चय नहीं हो सकता।

शंका—वक्ता के स्रभिप्राय से प्रतिनियत विशेषण का उस विशेष्य में स्रन्वय हो जाता है ?

समाधान—नहीं हो सकता, जिस पुरुष के अति शब्द का उच्चारण किया जाता है उस पुरुष को बक्ता का प्रभिन्नाय अप्रत्यक्ष रहता है (ज्ञात नहीं रहता) अतः उस विशेषण का निर्णय होना असंभव ही है। यदि कहा जाय कि वक्ता को अपने प्रति ही अभिन्नाय प्रत्यक्ष रहता है अर्थात् वक्ता स्वयं तो अपने अभिन्नाय को जानता है उससे वह नियत विशेषण का निश्चय कर लेगा? सो ऐसा कहे तो शब्द का उच्चारण ही व्यर्थ ठहरता है, कोई स्वयं के लिये तो शब्दोच्चारण करता नहीं। तीसरे पक्ष में (विशेष्य पद विशेषण को सामान्य और विशेष रूप उभय विशेषण से अन्वित कहता है) तो उभयपक्ष के दोष आते हैं (विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिति नहीं होना और निश्चय नहीं होना)

एतेन क्रियासाथान्येन क्रियाविशेषेण तदुभयेव वान्वितस्य साधनस्य, साधनसामान्येन साधन-विशेषेण तदुभयेन वान्वितायाः प्रतिपादनमास्यातेन प्रत्यास्यातम् ।

यदि च पदात्पदार्चे उत्पन्नं ज्ञानं वाक्यार्षाच्यवसायि स्यात्; तर्हि चझुरादिप्रभवं रूपादिज्ञानं गन्याच्यवसायि किन्न स्यात्? अयस्य गन्यादिसाक्षात्कारित्वाभावान्त्रायं दोषः; तर्हि पदोत्थपदार्थ-ज्ञानस्यापि वाक्यार्षावभासित्वाभावात्कयं तदष्यवसायित्वं स्यात्? चक्षुरादेर्गन्यादाविव पदस्य वाक्यार्थसम्बन्धानवधारस्यतः सामर्ष्यानुपपरोः। तन्नान्विताभिष्यानं श्रेयः।

इसी प्रकार वाक्य में जो पद कर्म कारकादि साधन रूप होता है वह किया सामान्य से ग्रन्वित मर्थ को कहता है कि किया विशेषण से म्रथवा उभय रूप से मन्वित ग्रथ को कहता है ऐसे प्रक्न होते हैं और उन सब पक्ष में वही दूषण ग्राने से उनका निराकरण भी पूर्वोक्त रीत्या हो जाता है। ऐसे ही किया पद साधन सामान्य से मन्वित ग्रथ को कहता है या साधन विशेष से ग्रथवा उभय से ग्रन्वित अर्थ को कहता है इस प्रकार तीनों पक्षों की मान्यता सदोष होने से खंडित होती है।

तथा यदि पद से पद के अर्थ में ज्ञान उत्पन्न होता है और वह वाक्यार्थ का निश्चय करता है तो चल्नु आदि से उत्पन्न हुआ रूपादि ज्ञान गंध का निश्चय क्यों नहीं कर सकता ? आश्य यह है कि 'देवदत्तः' आदि कोई एक पद देवदत्त संज्ञा वाले मनुष्य का ज्ञान कराता है और साथ ही अन्य 'तिष्ठित' पद का ज्ञान भी (विना शब्दोच्चारण के ही) कराता है, ऐसा माना जाय तो नेत्र से उत्पन्न हुआ नील ज्ञान गुलाब की सुगंधी को जानता है ऐसा विरुद्ध कथन भी मानना होगा।

शंका—रूपादि ज्ञान गंधादि का साक्षात्कारी नहीं होने से उसका निश्चायक नहीं होता श्रतः विरुद्ध मान्यता का दोष नहीं श्राता ।

समाधान—तो फिर पद से उत्पन्न हुमा पद के अर्थ का ज्ञान भी वाक्यार्थ का साक्षात्कारी नहीं होने से उसका निश्चायक किस प्रकार हो सकता है? अर्थात् नहीं होती हो सकता । क्योंकि जिसप्रकार चक्षु आदि की गंधादि विषय में सामर्थ्य नहीं होती उसी प्रकार पद की वाक्यार्थ संबंध का अनवधारण होने से उसमें सामर्थ्य नहीं होती अर्थात् पद से वाक्य के अर्थ का ज्ञान नहीं होता । अतः अन्वित अभिधानबाद अर्थात् पदों से पदान्तरों के अर्थों से अन्वित अर्थों का ही कथन होता है इसलिये पदके अर्थ के प्रतीति से वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है ऐसा प्रभाकर का मत श्रीयक्कर नहीं है ।

नाध्यभिहितात्वयः, यतोऽभिहिताः पदैरषाः शब्दान्तरादन्वीयन्ते, बुद्धपा वा ? न तावदाकः पकः, शब्दान्तरस्योज्ञपदार्थनिवयस्याभिहितान्वयनिवन्धनस्याभावात् । हितीयपक्षे तु बुद्धिरैव वावयं ततो वावयार्थप्रतिपर्तः, न पुनः पदान्येव । नतु पदार्थन्योज्ञेक्षाबुद्धिसन्त्रिवानानात्परस्परमन्त्रितम्यो वावयार्थप्रतिपर्तः परम्परया पदेम्य एव भावान्तातो व्यतिरिक्तं वावयम्, तिहि प्रकृत्यादिव्यतिरिक्तं पदमिष मा भूत्, प्रकृत्यादीनामन्वितानामभिषाने अभिहितानां वान्त्रये पदार्थप्रतिपत्तिप्रतिद्वते ।

ननु 'पदमेव लोके वेदे वार्षप्रतिपत्तये प्रयोगाहंम् न तु केवला प्रकृतिः प्रत्ययो वा, पदादपो-दृष्द्य तद्बुट्यादनार्थं यथाकषचित्तदभिभानात् । तदुक्तम्—"ग्रय गौरिश्यत्र कः शब्दः ?:गकारौकार-

भाट्ट का स्रभिहित सन्वयवाद रूप वाक्यार्थ भी अयुक्त है, स्रथीत् पदों द्वारा कहे हुए अथों का अन्वय ( सम्बन्ध ) वाक्यार्थ में होता है अतः "पदंः अभिहितानां स्रयानां स्रन्वयः सम्बन्धः वाक्यार्थः" पदों द्वारा कहे हुए अर्थ वाक्य से परस्पर में संबद्ध होते हैं स्रतः वे ही वाक्य का अर्थ है ऐसा भाट्ट का मतन्य भी समीचीन नहीं है, क्योंकि पदों द्वारा कहे हुए अर्थ शब्दांतर से परस्पर में संबद्ध किये जाते हैं या बुद्धि से संबद्ध किये जाते हैं या बुद्धि से संबद्ध किये जाते हैं या बुद्धि से संबद्ध किये जाते हैं श्रथम पक्ष अनुचित है, क्योंकि अशेष पदों के स्रयों को विषय करने वाला ऐसा अभिद्वित सन्वय का निमित्तभूत कोई शब्दांतर ही नहीं है। द्वितीय पक्ष बुद्धि से उक्त प्रयों का सम्बन्ध किया जाता है ऐसा माने तो बुद्धि वाक्य कहलायेगी क्योंकि उसीसे वाक्य के अर्थ की प्रतीति हुई है, पद ही वाक्य होते हैं ऐसा कथन तो प्रसिद्ध ही रहा दि

शंका — अपेक्षा बुद्धि का सिन्नधान होने के कारए। परस्पर में अन्वित हुए पदों के अर्थों से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है अतः परंपरा से पदों द्वारा ही वाक्य का अर्थ हुआ है इसलिये इनसे व्यतिरिक्त वाक्य नहीं है ?

समाधान — तो फिर प्रकृति प्रत्यय द्यादि सं व्यतिरिक्त पद भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि परस्पर में सम्बद्ध हुए प्रकृति प्रत्यय ग्रादि का कथन करने पर ग्रथवा ग्राभिहित (कथित) प्रकृति श्रादिका श्रन्वय (सम्बन्ध) होने पर पद के ग्रायं की प्रतिपत्ति होती है ऐसा सुप्रसिद्ध ही है। ब्रतः इन प्रकृति आदि से भिन्न पद का ग्रास्तित्व भी नहीं रहेगा।

शका— लोक में तथा वेद में धर्य प्रतिपत्ति के लिये पद ही प्रयोग के योग्य होता है, केवल प्रकृति (धातु और लिंग) या केवल प्रत्यय प्रयोगार्ह नहीं होते, हां विसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" [ कावरका० १।१।४ ] इति । यथैव हि वर्णोऽनंदाः प्रकल्पितवाना-भेदस्तवा 'गौः' इति पदमप्यनशमपोद्वृताकाराविभेदं स्वार्षेप्रतिपत्तिनित्तमवसीयते । इत्यप्यनालो-विताभिधानम्; वावयस्थैवं तात्त्विकतस्प्रसिद्धः, तद्वश्रुत्पादनार्थं ततीऽपोद्वृत्य पक्षनामुपदेशाहाक्य-स्यैव लोके शास्त्रे वार्षप्रतिपत्तवे प्रयोगाहंत्वात् । तदुक्तम्—

> "द्विषा कैदिवल्पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधापि वा । धपोद्घृत्यैव वाक्येम्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥"

] इति ।

ततः प्रकृत्याद्यवयवेभ्यः कथञ्चिद्धान्तमिननं च पदं प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्, न तु सर्वेषाऽ-नंशं वर्णेवत्तद्वम्राहकाभावात् । तद्वत्यदेभ्यः कथञ्चिद्धिन्तमभिननं च वाक्यं द्वव्यभाववाक्यभेदभिन्नं प्रोक्तलक्षरालक्षितं प्रतीतिपदमारूढमभ्युपगन्तव्यम् धलं प्रतीत्यपलापेनेति ।

प्रकृति म्रादि को पद से पृथक् करके पद की ब्युत्पत्ति के लिये कर्याचित् जनाचित् उनका कथन किया जाता है। जैसा कि कहा है—'गी:' इस पद में कौन सा शब्द पद संज्ञक है? ऐसा प्रक्न होने पर भगवान् उपवर्ष उत्तर देते हैं कि गकार, भौकार और विसगं ये पद संज्ञक हैं इत्यादि। जिस प्रकार वर्ण अनंश है तो भी उसमें मात्रा के निमित्त से भेद प्रकल्पित करते हैं, उसी प्रकार "गीः" यह पद अनंश है तो भी उसमें कल्पित अकारादि भेद (गकारादि भेद) अपने गो अर्थ की अतिपर्शि के लिये करते हैं श

समाधान—यह कथन भी श्रविचार पूर्ण है, इस तरह तो वाक्य का तात्विक-पना भली प्रकार से सिद्ध होता है, उपर्युक्त पद सिद्धि के लिये किया गया प्रतिपादन वाक्य में भी घटित होता है कि लोक में अध्वा शास्त्र में अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये वाक्य का प्रयोग ही योग्य होता है, केवल वाक्य की निष्पत्ति के लिये उससे पदों को पूथक् करके उपदेश दिया जाता है इत्यादि । जैसा कि कहा है—किन्हीं विद्वानों ने वाक्यों से पदों को पूथक् करके दो प्रकारों में अर्थात् सुवंत और तिडत में विभाजित किया है, किन्हीं ने नाम, आख्यात, निपात और कर्म प्रवचनीय रूप चार प्रकार से विभाजित किया है और किन्हीं ने उक्त चार प्रकार में उपसर्ग मिलाकर पांच प्रकार से विभाजित किया है, जैसे कि प्रकृति और प्रत्यवादि से पद को विभक्त करते हैं ॥१॥ इत्यादि । वास्तविक बात तो यह है कि – प्रकृति आदि श्रवयवों से पद कर्थांचत् भिन्न और कर्यांचत् अभिन्न है ऐसा प्रतीति सिद्ध सिद्धांत स्वीकार करना चाहिए, पद को सर्वया श्रनश रूप नहीं मानना चाहिए, क्योंक जैसे वर्ण को सर्वया अनग्र रूप ग्रहण

प्रामाण्यं सुचियो थियो यदि मतं संवादतो निश्चितात, स्मृत्यादेरिप किन्न तन्मतमिदं तस्याऽविशेषात्स्फुटम्। तत्संख्या परिकल्पितेयमधूना सन्तिश्चतेऽतः कथम्, तस्माज्जेनमते मतिर्मतिमता स्थेयाच्चिर निर्मले ॥१॥ इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे

तृतीयः परिच्छेदः ॥ श्रीः ॥

करने वाला कोई प्रमाण नहीं है वैसे पद को सर्वथा अनंश रूप ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। जैसे प्रकृति ग्रादि से पद कथ चित भिन्नाभिन्न है वैसे पदों से वाक्य कथंचित् भिन्न और कथंचित् स्रभिन्न है ऐसा समभना चाहिये। इस प्रकार "पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समदायो वाक्यमं ऐसा पूर्वोक्त वाक्य का लक्षरा ही निर्दोष एवं प्रतीतिपद में आरूढ सिद्ध होता है ऐसा अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधान-वादी भाइ एवं प्रभाकर को मानना चाहिये। उसके द्रव्यवाक्य और भाववाक्य ऐसे दो भेद हैं, द्रव्यवाक्य वचनात्मक है ग्रीर भाववाक्य ज्ञानात्मक है ऐसा समक्षता चाहिए। अब प्रतीति की ग्रपलाप से बस हो।

श्रव श्री प्रभाचन्द्राचार्य संपूर्ण तृतीय परिच्छेद में श्रागत विषयों का उपसंहार करते हुए अन्तिम मंगल श्लोक कहते है- बुद्धिमान पुरुष प्रमाण में प्रामाण्य मुनिध्चित संवाद से आता है ऐसा नानते है सो स्मृति, प्रत्यिभज्ञान ग्रादि प्रमाणों में भी सुनिश्चित संवाद मौजद होने से उन्हें भी प्रमाणभूत क्यो न माना जाय ? अर्थात अवश्य मानना चाहिये। जब स्मृति ग्रादि ज्ञान भी प्रमाणभूत सिद्ध होते हैं तब ग्रन्य अन्य परवादियों की प्रमाण संस्था किस प्रकार सिद्ध हो सकती है? नहीं हो सकती। इस प्रकार निर्दोष प्रमाण. संख्या ग्रादि समस्त विषयों का प्रतिपादन करने वाला. स्यादाद से निर्मल ऐसे जैन मत में सभी बुद्धिमानों की बुद्धि सदा स्थिर होवे। अर्थात गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके निर्मल सम्यक्तव को धारण करना चाहिये इसी से उभय-लोक में सूख एवं कल्याण होगा । ग्रस्तु ।



# वाक्यलक्षणविचार का सारांश

वाक्य का लक्षण क्या है इस विषय में विभिन्न मतों में विवाद है, जैसा कि कहा है—

भ्राख्यात शब्दः संघातो जातिः संघातवित्तनी । एकोऽनवयवः शब्दः कमो बुद्धयनुसंहती ।।१।। पदमार्खं पदं चान्त्यं पदं सापेक्ष मित्यपि । वाक्यं प्रति मतिभिन्ना बहुवा न्यायवेदिनाम् ।।२।।

स्रयं—भवित आदि घातु के शब्दों को वाक्य कहना चाहिए ऐसा कोई परवादी कहते हैं, कोई वर्णों के समूह को, कोई वर्ण समूह के जाति को (वर्णस्व को) एक निरंश शब्द को, कोई वर्णों के कम को, कोई बुद्धि को, कोई अनुसंहती अर्थात् पद रूपता को प्राप्त हुए वर्णों के परामर्श को, कोई आदि पद को अन्तिम पद की अपेक्षा होना और सन्तिम पद को आदि पद की अपेक्षा होने को वाक्य कहते हैं।

प्रभाकर प्रन्वित ग्रिभिधान को वाक्य कहते हैं, अर्थात् एक एक पद के ग्रयं के प्रतिपादन पूर्वक वाक्य का अर्थ होता है, अतः वाक्यार्थ का ग्रवबोध करते हुए पद ही वाक्य संज्ञा को प्राप्त होते हैं ऐसा इनका मंतव्य है।

भाट्ट प्रभिहित अन्वय को वाक्य कहते हैं, अर्थात् पदों के द्वारा कहे हुए अर्थों का अन्वय होना वाक्य कहलाता है। जैनाचार्य ने इन विविध वाक्य लक्षणों में अन्याप्ति आदि दूषण को बतलाते हुए समालोचना की है और वाक्य एवं पद के निर्दोष लक्षण का प्रणयन किया है, "वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्ष: समुदाय: पदम्"। "पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्ष: समुदाय: पदम्"। "पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्ष: समुदाय को निरपेक्ष ऐसे वर्णों के समुदाय को पद कहते हैं, तथा परस्पर सापेक्ष और अन्य से निरपेक्ष ऐसे पदों के समुदाय को वाक्य कहते हैं, घट: एक पद है इसमें दो वर्णा हैं ये दोनों तो परस्पर सापेक्ष हैं किन्तु इन दो को छोड़कर अन्य वर्ण की अपेक्षा नहीं है। "देवदत्त ! गां अभ्याज" इस वाक्य में देवदत्त, गां, अभ्याज ये तीन पद हैं ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं किन्तु अन्य पदों से निरपेक्ष हैं इनका समुदाय वाक्य संज्ञा को प्राप्त होता है,

ग्रभिप्राय यह है कि प्रतिपत्ता को जितने परस्पर सगपेक्ष पदों का समुदाय होने पर निराकांक्षा होती है, अन्य पदों की श्राकांक्षा नहीं होती वह पद समूह वाक्य कहलाता है।

स्राख्यात शब्द को वाक्य कहे तो प्रश्न होता है कि वह धातु पद अन्य पदं की अपेक्षा रखता है या नहीं, अदि रखता है तो कहीं पर भी निराकांक्ष न होने से प्रकृत अर्थ की परिसमाप्ति नहीं हो सकेगी, और यदि अन्य पद की अपेक्षा नहीं है तो एक पद को ही वाक्य कहने का प्रसंग आता है। वर्ग्य समूह को वाक्य कहे तो वही उपर्युक्त दोष आता है। वर्ग्य समुदाय में जो वर्ग्यपना अर्थात् वर्ग्यत्व सामान्य है उसे वाक्य कहे तो भी अयुक्त है क्योंकि परवादी सामान्य को व्यापक एक नित्य मानते हैं ऐसा सामान्य खरविषाणवत् असत् है।

एक निरंश शब्द अर्थात् स्फोट को वाक्य कहना तो स्फोट के निराकरण से ही निराकृत हो जाता है।

इसी प्रकार कम, बुद्धि श्रादि को वाक्य कहना भी बाधित होता है। प्रभाकर का अन्वित ग्रभिषान लक्षण भी अंध सपं विल प्रवेश न्याय का अनुसरण करता है अर्थात् अंधा सपं बीटी ग्रादि के कारए। विल से निकलता है और पुनः उसी में प्रविष्ट होता है उसी प्रकार जैन के वाक्य लक्षण की ग्रनिच्छा करके पुनः उसी का ग्रहण करना होता है क्योंकि पदों का ग्रथं ग्रन्वित करके वाक्यार्थं का श्रवबोध कराने वाले पदों को वाक्य कहना जैन के वाक्य लक्षण को परिपुष्ट करना है। ग्रभिहित का अन्वय करना वाक्य है ऐसा भाट्ट का लक्षण भी सदीष है, क्योंकि पदों के द्वारा कहा हुआ अर्थं यदि शब्दांतर से अन्वित होता है ऐसा कहना तो अपुक्त है, क्योंकि शब्दांतर अशेष श्रयं का निमित्त नहीं होता, यदि कहे कि पदों द्वारा कहा हुआ प्रथं बुद्धि से अन्वित किया जाता है तो बुद्धि को वाक्य कहने का प्रसंग श्राता है। इस प्रकार अन्य प्रवादियों के वाक्य के लक्षण सदोष सिद्ध होते हैं ग्रतः "पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुद्दायः वाक्यं" परस्पर सापेक्ष और अन्य पदों से निरपेक्ष ऐसे पद समूह को वाक्य कहना चाहिए, यही लक्षण निर्दोष सिद्ध होता है।

#### ।। सारांश समाप्त ।।

इस प्रकार श्री माणिक्यनंदी विरचित परीक्षामुख सूत्र ग्रन्थ की टीका स्वरूप प्रमेय कमल मार्राण्ड में तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुम्रा ।

# उपसंहार

उपसंहार इस पकार है कि—प्रथम ही परोक्ष प्रमाण का लक्षण है, तदनंतर उसके स्मृति, प्रत्यिभज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पांच भेद बतलाये हैं, पुतः स्मृति प्रत्यिभज्ञान और तर्क को प्रमाण नही मानने वाले जैनेतर परवादियों के प्रति इनके प्रामाण्य की सिद्धि की है। अनंतर अनुमान प्रमाण का लक्षण एवं भेद दर्शाया, हेतु के लक्षण का प्रणयन करते हुए त्रैक्ट्यवादी बौद्ध भीर पांच रूप्यंदी नैयायिक के हेतु लक्षण का खण्डन किया एवं पूर्ववत् ग्रादि अनुमान के भेदों का निरसन किया, हेतु के कुल बाबीस भेद सोदाहरण कहे। आगम प्रमाण का लक्षण करते ही मीमांसक ने अपीर्ष्येय वेद का पक्ष रक्षा अतः उसका निरसन किया। पुनन्न शब्द वित्यत्व का निराकरण, अपोहवाद एवं स्फोटवाद निराकरण किया है, तथा वाक्य का निर्दांच लक्षण बताया है। प्रमंयकमनमार्गण्डग्रन्थ के राष्ट्र भाषानुवाद स्वरूप इस द्वितीय भाग में बीस प्रकरणों का समावेग है, उपगुँक्त तृतीय परिच्छेद के स्मृति प्रमाण ग्रादि प्रकरणों के पूर्व ग्रयं कारणवाद ग्रादि द्वितीय परिच्छेद के प्रकरण हैं। श्री माणिक्यनंदी आवार्यविरचित परीक्षामुल ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के ग्रंतिम सात सूत्र तथा तृतीय ग्रध्याय के स्पृत्यं सूत्र एक सौ एक ( ग्रथवा ६६) कुल १०८ सूत्र इस हिंदी भाषानुवाद रूप द्वितीय भाग में समाविष्ट हुए हैं।

इस प्रकार उक्त सूत्र एवं प्रकरणों का अनुवाद अल्प बुद्धि अनुसार मैंने ( आर्थिका जिनमति ने ) किया है, इसमें अज्ञान एवं प्रमाद वश यदि स्खलन हुआ हो तो बुद्धिमान सज्जन संशोधन करें।

> गच्छन्तः स्खलनं क्वापि भवेदेव प्रमादतः । हसति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥१॥

इम् प्रकार परीक्षामुख का अलंकार स्वरूप श्री प्रभाचन्द्राचार्यदेव विरचित प्रमेयकमलभारीण्डनामा ग्रन्थ का द्वितीय भाग परिपूर्ण हुग्रा ।

।। इति भद्रं भूयात् ।।



#### ग्रय प्रशस्ति

प्रणम्य शिरसा वीरं धर्मतीर्थप्रवर्तकम् । तच्छासनान्वयं किञ्चिद् लिख्यते सुमनोहरम् ॥१॥ नभस्तत्वदिगवीराब्दे कुन्दकुन्द गणी गुणी । संजातः संघनायको मूलसंघप्रवर्त्तकः ॥२॥ आम्नाये तस्य संख्याताः विख्याताः सुदिगंबराः । प्राविरासन जगन्मान्याः जैनशासनवर्द्धकाः ।।३।। क्रमेरा तत्र समभूत सूरिरेकप्रभावकः । शांतिसागर नामा स्यात् मुनिधमंप्रवर्त्तकः ॥४॥ बीरसागर ग्राचार्यस्तत्पद्वे समलंकृतः ध्यानाध्ययने रक्तो विरक्तो विषयामिषात ॥४॥ ग्रथ दिवंगते तस्मिन् शिवसिन्धुम् नीश्वरः। चतुर्विधगरगैः पुज्यः समभूत गणनायकः ॥६॥ तयो: पार्थ्वे मया लब्धा दीक्षा संसारपारगा। ब्राकरी गुणरत्नानां यस्यां कायेऽपि हेयता ।।७।। [ विशेषकम् ] प्रशमादिगुणोपेतो धर्मसिन्धुर्मुनीश्वरः । म्राचार्यपद मासीनो वीरशासनवर्द्धकः ॥=॥ आर्या ज्ञानमती माता विदुषी मातृवत्सला। न्यायशब्दादिशास्त्रेषु धत्ते नैपुण्य माञ्जसम् ॥६॥ कवित्वादिगुणोपेता प्रमुखा हितशासिका । गर्भाधानिकयाहीना मातैव मम निश्छला ।।१०।। नाम्ना जिनमती चाहं शुभमत्यानुप्रेरिता। यया कृतोऽनुवादोयं चिरं नन्द्यात महीतले ।।११।।

इति भद्रं भूयात् सर्वे भव्यानां

# परीक्षामुख सूत्र पाठः

#### प्रथम परिच्छेदः

#### त्रमाणादर्भ संसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः । इति बक्ष्ये तयोर्रूक्ष्म सिद्धमन्वंलधीयसः ॥१॥

- १ स्वापूर्वार्थं व्यवसायात्मक ज्ञानं प्रभाराम्।
- २ हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थं हि प्रमाण-
- ३ तक्षिश्चयात्मक समारोप विरुद्धस्वादनु-मानवत्।
- ४ ग्रनिश्चितोऽपविधं.।
- प्र दृष्टोऽपि समारोपालाह्क।
- ६ स्वोन्मुखतया प्रतिभासन स्वस्य व्यव-साय:।
- ७ ग्रथस्येव तदुन्मुखतया।
- घटमहमात्मना वेद्यि ।
- ६ कर्मवत्कर्तृकरण क्रिया प्रतीतेः।
- १० शब्दानुच्चारगोऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत्।
- ११ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छस्त-देव तथानेच्छेत्।
- १२ प्रदीपवत्।
- १३ तत्प्रामाण्य स्वतः परतश्चेति ।

#### अथ द्वितीय परिच्छेदः

- १ तद्वेषा।
- २ प्रत्यक्षेत्ररभेदात्।
- ३ विश्वदं प्रत्यक्षम्।
  - ४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा
  - ' प्रतिभासनं वैशद्यम् ।

- ५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः साव्यव-हारिकम्।
- ६ नार्थालोकौ कारएां परिच्छेदात्वात्तमोदत्।
- तदन्त्रय व्यतिरेकानु विधानाभाव।च्च केशोण्ड्क ज्ञान वन्नतःचरज्ञानवच्च।
- द अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशक प्रदीपवत् ।
- स्वावरण क्षयोपशमलक्षण योग्यतया हि
   प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।
- १० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना क्ष्यभिचार ।
- ११ सामग्रीविशेषविश्लेषितास्त्रिनावरणमती -न्द्रियमशेषतो मूख्यस्।
- १२ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्ध-सम्भवात्।

### वय तृतीयः परिच्छेदः

- १ परोक्षमितरत्।
- २ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृति प्रत्यभिज्ञानतर्का-नुमानागमभेदम् ।
- ३ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः।
- ४ सदेवदत्तोयथा।
- वर्शन स्मरण कारसकं सङ्कलनं प्रत्यभि-ज्ञानम्, तदेवेदं, तत्सव्हां, तद्विलक्षरां,
- तत्प्रतियोगीत्यादि ।

- ६ यथा स एवामं देवदत्त ।
- ७ गोसच्योगवव।
- द गोविलक्षामा महिष।
- ६ इदमस्माद् दूरम्।
- १० बुक्षोऽवमिस्यादि ।
- ११ उपलभानुपलभ निमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह ।
- १२ इदमस्मिन्तत्वेव भवत्यसति न भवत्येवेति व ।
- १३ यथाऽकावेव धूमस्तदभावे न मबस्येवेति च।
- १४ साधनात्साध्यधिज्ञानमनुमानम् ।
- १५ साध्याविमाभावित्वेन मिश्चितो हेतुः।
- १६ सहक्रमभावनियमोऽविना भाव ।
- १७ सहचारिक्योध्यायम्यापकयोश्च सहभाव ।
- १८ पूर्वोत्तरचारिसोः कार्यकारसायोक्च क्रम-भावः।
- १६ तर्कात्तिव्रागंय।
- २० इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यम्।
- २१ सन्दिश्धविषयंस्तान्युत्पन्नाना साध्यत्व यथा स्यादित्यसिङ्कपदम् ।
- २२ ग्रानिष्टाध्यक्षादिवाधितयो साध्यत्व माभदितीध्यावाधित वचनम् ।
- २३ न चासिद्धवदिष्ट प्रतिवादिन ।
- २४ प्रत्यायनाय हीच्छा वस्तुरेव ।
- २५ साध्य धर्म क्विचतद्विशिष्टो वा धर्मी।
- २६ पक्ष इति यावत्।
- २७ प्रसिद्धी धर्मी ।
- २८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सतेतरे साध्ये।
- २१ अस्ति सवंज्ञो नास्ति सरविवाणम्।
- ३० प्रमाणोत्रयसिद्धे तु साध्यथमं विशिष्ठता।

- ३१ ग्रन्तिमानयं देश परिस्तामी शब्द इति यथा।
- ३२ व्याप्तीतु साध्य वर्ग एव।
- ३३ धन्यया तदघटनात्।
- ३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमान-स्यापि पक्षस्य वचनम् ।
- ३ साध्यधीमिरिंग साधनधर्मावकोधनाय पक्ष-धर्मोपसहारवत् ।
- ३६ को वात्रिधा हेतुमुक्तवा समर्थयमानो न पक्षयति ।
- ३७ एतद्वयमेवानुमानाग नोदाहरराम्।
- ३ व हि तत्साध्यप्रतिपत्त्वग तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात्।
- ३६ तदविनाभाव निश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धे ।
- ४० व्यक्तिरूप च निदर्शनं सामान्येन सुब्याप्ति-स्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनस्थान स्थात् दशन्तान्तरापेक्षणात् ।
- ४१ नापि व्याप्ति स्मरणार्थं तथाविश्व हेतु प्रयोगादेव तत्स्मृते ।
- ४२ तत्परिमशिषीयमान साध्यधीमिणि साध्य-साधने सन्देहयति ।
- ४३ कुतोऽन्यथोपनयनिगमने।
- ४४ न च ते तदगे साध्यर्धामिश्य हेतुसाध्यो-वंचनादेवासशयात्।
- ४५ समर्थन वा वर हेतु रूपमनुमानावयवो वास्तुसाध्येतदुपयोगात्।
- ४६ बालब्युत्पत्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासी न वादेऽनुषयोगात् ।
- ४७ हडान्तो हे वा बन्वयव्यतिरेक भेदात् ।

- ४८ साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदश्येते सोऽन्वय-दृष्टान्तः।
- ४६ साध्याभावे साधनाभावी यत्र कथ्यते सं व्यतिरेकद्रष्टान्त ।
- ५० हेतो हपसहार उपनय ।
- ४१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम्।
- प्रेर तदनुमान हेथा।
- ५३ स्वायंपरार्थ भेदात्।
- ५४ स्वार्थमुक्त लक्षराम्।
- ४४ परार्थं तुतदर्शपरामशिवचनाज्जे।तम्।
- ४६ तदवचनमपि तद्वेतुरवात्।
- ५७ स हेतुद्वे घोपलब्ध्यनुपलब्धि भेदात् ।
- ४८ उपलब्धिविधिप्रतिषेशयोरनुपलब्धिश्<del>य</del>।
- ५६ ग्रविरुद्धोपलब्धिविधौ बोढा व्याप्यकार्य कारण पूर्वोत्तर सहचर भेदात्।
- ६० रसादेकसामग्रधनुमानेन रूपानुमानिमच्छ द्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारण हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये।
- ६१ न च पूर्वोत्तर चारिगोस्तादात्म्य तदु-त्पत्तिर्वाकाल व्यवधाने तदनुपलक्षे ।
- ६२ भाव्यतीतयोर्मरण जाग्रद्बोधयोरुपि नारि-ष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।
- ६३ तद्वयापाराश्रित हितद्भावभावित्वम्।
- ६४ सहचारिकोरपि परस्परपरिहारेगावस्था-नात्सहोत्पादाच्च ।
- ६५ परिशामी शब्दः, कृतकस्वातः, य एव स एव दृष्टी यथा घटः, कृतकस्वायम्, तस्मा-त्यरिशामी, यस्तु न परिशामी स न कृतको दृष्टी यथा बन्ध्यास्तमन्त्र्या, कृतकस्वायम्, तस्मारपरिशाभी।

- ६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिव्यद्दिगरादे ।
- ६७ अस्त्यत्र छाया छत्रात्।
- ६८ उदेष्यति शकटं कृतिकोदयात् ।
- ६६ उदगाद्भरिंगः प्राक्ततं एव ।
- ७० अस्त्यत्र मातुर्लिगे रूप रसात्।
- ७१ विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिबेधे तथा।
- ७२ नाम्त्यत्र क्षीतस्पर्श सौक्व्यात् ।
- ७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो घुमात्।
- ७४ नास्मिन् श्रदीरिशि सुसमस्ति हृदय शल्यात्।
  - ७५ नोदेध्यति मुहूर्तान्ते शकट रैवरबृदयात् ।
- ७६ नोदगादभरिंगम् हृतात्पूर्वं पुष्योदयात् ।
- ७७ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽवन्भिनाः दर्शनात्।
- ७८ अविरुद्धानुवलिध प्रतिवेधे सप्तथा स्वभाव-व्यापक कार्यकारण पूर्वोत्तर सहचरानु-पलम्भभेदात्।
- ७६ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः।
- ८० नास्त्यत्र शिशपा वृक्षानुपलक्षे ।
- ८१ नास्त्य त्राप्रतिबद्धसामध्योंऽश्निष्ट्रं मानुप-
- ८२ नास्त्यत्र धूमोऽनग्ने ।
- न भविष्यति मृहर्तान्ते शकट कृतिकोदयाः
   नुपलब्धे ।
- ८४ नोदगाद्भरिएम् हुर्तात्प्राक् तत एव।
- म्यास्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानु-पलक्षे ।
- ८६ विरुद्धानुपलव्यिविधौ श्रेषा विरुद्धकार्ये कारणस्वभाषामुषलव्यि भेदात्।

- पथास्मिन् प्राणिति व्याधि विशेषोस्ति
   तिरामयचेष्टानुपलब्वेः ।
- दद ग्रस्त्वत्र देहिनि दु.खिमष्टसंयोगाभावात्।
- ष्ट अनेकान्तात्मकं बस्त्वेकान्तस्वरूपानु-षलब्धे:।
- ६० परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भाव-नीयम्।
- ६१ ग्रभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात्।
- १२ कार्य कार्यमविरुद्ध कार्योपलब्धी।
- ६३ नास्त्यत्र गुहायाम् मृगक्रीडनं मृगारिसं-शब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्यो-पलब्धौयथा।
- ६४ ब्युत्पन्न प्रयोगस्तु तथोपपत्याऽन्यथानुप-पत्त्येव वा।
- ६५ ग्राग्निमानयं देशस्त्रथैव धूमवस्वोषपत्ते-धूमवस्वान्यथानुपपत्ते वी।
- ६६ हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ।
- १७ तावता च साध्यसिद्धिः।
- ६८ तेन पक्षस्तदाघार सूचवायोक्तः।
- ६६ स्राप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।
- १०० सहज योग्यता संकेत वशाद्धि शब्दादयो-वस्तुप्रतिपत्ति हेतवः।
- १०१ यथा मेर्वादयः सन्ति ।

#### अथ चतुर्थः परिच्छेदः

- सामान्यविशेषात्मा तदथौ विषयः ।
- २ श्रनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगो वरत्वात्पूर्वोत्तरा-कारपरिहारावाप्तिस्थिति लक्षगणपरिणा-मेनार्था क्रियोपपत्तेश्च ।
- ३ सामान्यं द्वेषा, तिर्यगुष्वंताभेवात् ।

- ४ सहश परिस्तामस्तियंक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् ।
- ५ परापरिववत्तं न्यापि द्रव्य सूर्घ्वता मृदिव स्थासादिषु ।
- ६ विशेषश्च।
- ७ पर्यायव्यतिरेकभेदात्।
- द एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिगामाः पर्याया ग्रात्मनि हर्ष विषादादिवत् ।
- अर्थान्तरगतो विसद्य परिगामो व्यतिरेको गोमहिपादिवत् ।

#### अथ पञ्चमः परिच्छेदः

- १ अज्ञाननिषृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलस्।
- २ प्रमाणादभिन्नं भिन्नचा।
- ३ यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्या-दत्ते उपेक्षते चेति प्रतीते: ।

#### वय पष्टः परिच्छेदः

- १ ततोऽन्यत्तदाभासम्।
- २ ग्रस्वसंविदितगृहीतार्थं दर्शन संशयादयः प्रमागाभासाः।
- ३ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात ।
- ४ पुरुषान्तर पूर्वार्थगच्छतृ सस्पर्श स्थासु पुरुषादि ज्ञानवत्।
- ४ चक्षुरसयोर्द्रश्ये संयुक्तसमवायवच्च ।
- ६ श्रवेशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्या कस्मा-द्धमदर्शनाद्वितिवज्ञानवत् ।
- वैश्वदेऽिष परोक्षं तदामासं भीमांसकस्य करगाज्ञानवत्।
- व्यतिस्मस्तदिति ज्ञानं स्मर्गाभासम्,
   जिनदत्ते स देवदत्तो यथा।

- सस्यो तदेवेदं तिस्मन्नेव तेन सहशं यमलक विदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम् ।
- १० श्रसम्बद्धे तज्ज्ञानं तकीभासम्, यावांस्त-त्पुत्रः स श्यामी यथा।
- ११ इदमनुमानाभासम्।
- १२ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः।
- १३ ग्रनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ।
- १४ सिद्धः श्रावराः शब्दः ।
- १५ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागम लोक स्ववचनैः।
- १६ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाञ्जलवत् ।
- १७ अपरिसामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत् ।
- १८ प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्चितःचाद धर्मवत्।
- १६ शुचि नरशिरः कपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्ख सक्तिवत्।
- २० माता मे बन्ध्या पुरुष संयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धबन्ध्यावत् ।
- २१ हेत्वाभासा श्रसिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकि-व्यित्कराः।
- २२ ग्रसत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः।
- २३ भविद्यमानसत्ताकः परिगामी शब्दश्वाक्षु-षत्वात् ।
- २४ स्वरूपेगासत्त्वात्।
- २४ प्रविद्यमानिक्चयो मुग्धबुद्धि प्रत्यग्निरत्र भूमात्।
- २६ तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते संदेहात्।
- २७ सांस्यं प्रति परिग्णामी शब्दः कृतकत्वात्।
- २८ तेनाज्ञातत्वात्।
- २६ विपरीत निश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽ-परिगामी शब्दः कृतकत्वात् ।

- ३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्सिकः।
- ३१ निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्।
- ३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्।
- ३३ शङ्कितबृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।
- ३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाजिरीघात्।
- ३५ सिद्धे प्रत्यक्षादि बाधितेच साध्ये हेतुर-किचित्करः।
- ३६ सिद्धः श्रावगः शब्दः शब्दत्वात् ।
- ३७ किश्विदकरणात्।
  - ३८ यथाऽनुष्णोऽग्निईव्यत्वादित्यादौ किञ्चि-त्कर्तुभशक्यस्वात् ।
- ३६ लक्षरा एवासौ दोषो व्युत्पन्न प्रयोगस्य पक्षदोषेर्गंव दुष्टत्वात्।
- ४० दृष्टान्ताभाषा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनो-भयाः।
- ४१ भ्रपौक्षेयः शब्दोऽमृतंत्वादिन्द्रिय सुख परमागु घटवत्।
- ४२ विपरीतान्बयश्च यदपौरुषेयं तदमूतंम् ।
- ४३ विद्यदादिनाऽति प्रसंगात्।
- ४४ व्यतिरेकेऽसिद्धतद्वचितरेकाःपरमाग्णिन्द्रय-सुखाकाशवत्
- ४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्ना-पौरुषेयम्।
- ४६ बालप्रयोगाभासः पंचावयवेषु कियद्धीनता।
- ४७ ग्राग्निमानयं देशो धूमवस्वात् यदित्यं तदित्यं यथा महानस इति ।
- ४८ धूमबांश्चायमिति वा।
- ४६ तस्मादग्निमान् घूमवांश्चायमिति ।
- ५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तोरयोगात्।

- ५१ रागद्धे वमोहाक्रान्त पुरुषवचनाज्जातमाग-माभासम्।
- ५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकाराज्ञयः सन्ति घावष्यं मारायकाः।
- ५३ अंगुरुवये हस्तियूषशतमास्त इति च।
- ५४ विसंवादात्।
- ४५ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम्।
- ५६ लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषे-धस्य परवृद्ध्यादेश्चासिद्धेरतदिषयत्वात ।
- ४७ सौगतसांक्ययोगप्राभाकरजेमिनीयानाम्-प्रत्यक्षानुमानागमोपमानायपित्यभावे रेकैकाधिकैव्यस्तिवत् ।
- ध्व सनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाशान्तरत्वम् ।
- ५६ तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमागान्तरत्वम् भप्रमागस्याव्यवस्थापकत्वात् ।
- ६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात्।
- ६१ विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्।

- २ तथाऽप्रतिभासनात्कायकिर**रणाच्य**ा
- ६३ समर्थस्य करले सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।
- ६४ परापेक्षरो परिसामित्वमन्य**या तदभा**वात्।
- ६४ स्वयमसमर्थस्य ग्रकारकत्वात्पुर्ववत् ।
- ६६ फलाभासं प्रमाणादिभन्नं भिश्वमेव वा।
- ६७ धभेदे तद्वधवहारानुपपत्तेः।
- ६८ व्यावृत्त्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्-व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसंगात्।
- ६९ प्रमासाद्व्यानृत्येवाप्रमासात्वस्य ।
- ७० तस्माद्वास्तवो भेदः।
- ७१ भेदे त्वास्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः।
- ७२ समवायेऽतिप्रसंगः।
- ७३ प्रमाणतदामासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिह्न-तापरिह्नतदोषौ वादिनः साधनतदामासौ प्रतिवादिनो दूषग्रभूषणे च।
- ७४ संभवदन्यद्विचारगौयम्।

पर्तकामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः । संविदे माहको बालः परीक्षादक्ष वद व्यधाम् ॥१॥

॥ इति परीक्षामुखसूत्र पाठ समाप्त ॥



# विशिष्ट शब्दावली

(म) प्रर्थंकारए।वाद — ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है ऐसा नैयायिक तथा बौद्ध मानते हैं इसको प्रयं , कारए।वाद कहते हैं।

म्रक्षेपार्थं गोचरत्व—पारमार्थं प्रत्यक्ष प्रमास्त म्रक्षेप (संपूर्स) पदार्थों को विषय करता है, इसकी भ्रम्नेषार्थं गोचरत्व कहते हैं।

भ्रन्यादृश - भ्रन्य तरह का।

श्रांकचित्र-किचित न जानकर अशेष को जानने वाले सर्वत्र को श्रांकचित्र कहते हैं।

ध्रवेदज्ञ-वेद को नहीं जानने वाला।

ध्रव्युत्पञ्च--- ग्रजानकार, अनुमानादि के विषय में धक्रानी ।

म्रष्ट—भाग्य, नहीं देखा हुमापदार्थ, वैशेषिक म्रादि पुण्य पाप को म्रष्ट कहते हैं एवं उसकी म्रात्मा का गुण् मानते हैं।

भकुष्टप्रभव--बिना बोये उगने धान्य तृरण म्रादि ।

भन्वय-व्यतिरेक-साध्य के होने पर साधना का होना धन्वय है, साध्य के श्रधाव में साधन का नहीं होना व्यतिरेक हैं।

स्रविद्धकर्ण — नहीं छेदा गया है कर्ण जिसका उस व्यक्ति को स्रविद्धकर्ण कहते हैं। यौग मत के एक ग्रन्थकार का नाम अविद्ध कर्ण है।

भ्रपवर्ग-मोक्ष ।

ब्रहंकार—गर्व को ब्रहंकार कहते हैं। सांस्य का कहना है कि प्रधानसत्त्व से महान् (बुढि) घौर महान् से ब्रहंकार आविर्धात होता है।

ग्रंडज-मंडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी को ग्रंडज कहते हैं।

भ्रनेकांत—भ्रनेके अंताः धर्माः यस्मिन् स भ्रनेकांतः जिसमें भ्रनेक धर्म (स्वभाव या गुण्) पाये जाते हैं उसको भ्रनेकांत कहते हैं। जैन प्रत्येक पदार्थ को भ्रनेक धर्म रूप मानते हैं भतः इस मत को भ्रनेकांत मत भी कहते हैं।

> भनेकांत नाम का एक हेतु का दोण भी माना है, ग्रथवा जो कथन व्यभिचरित होता है उसे भी भनेकांत कहते हैं।

प्रम्युदय—इस लोक सम्बन्धी तथा देवपति सम्बन्धी सुख एवं वेभव को प्रम्युदय कहते हैं। प्रक्रमानेकांत—मुखों को प्रक्रम धनेकांत कहते हैं। द्रव्य गुखों की प्रक्रम धर्यात् युगपत्वृत्ति होती है। भ्रप्रेतप्रतिबन्धकरव-प्रतिबन्धक से (क्कावट) रहित होना। भ्रविचारक ज्ञान - विचार रहित निर्विकल्प ज्ञान।

धनुमान—''साधनात् साध्य विज्ञानशनुमानम्'' साधन ( हेतु ) से होने वाले साध्य के ज्ञान को धनुमान कहते हैं।

भ्रवाधित विषयत्व—श्रनुमान में स्थित हेतु वाधा रहित पक्ष वाल। या साध्य वाला होना भ्रवाधित विषयत्व है।

म्रसत् प्रतिपक्षत्व—सुल्य बलवालाधन्य हेतु जिसकेपक्ष को बाधित नहीं करता उस हेतु को म्रसत् प्रतिपक्षत्व गुरा वाला हेतु कहते हैं।

ग्रन्तव्याप्ति—हेतु का केवल पक्ष में ही व्याप्त रहना ग्रन्तव्याप्ति कहलाती है। ग्राह्य—ग्रकुन को ग्राह्य कहते हैं तथा प्रपशकुन को भी ग्राह्य कहते हैं। ग्राह्मयंमारा कर्न रब—कत्तों का स्मरसा नहीं होना ग्रस्मयंमारा कर्न व्याकलाता है।

श्रश्रतकाव्य-जिस काव्य को सुना न हो।

क्रपोहवाद—गो प्रादि संपूर्ण शब्द ब्रथं के वाचक न होकर केवल क्रन्य के निषेषक हैं ऐसी बौद्ध की मान्यता है।

ग्रन्यापोह--ग्रन्य का श्रपोह ग्रर्थात् व्यावर्तान या निषेध ।

अकृतसमयध्वित-जिसमें संकेत नहीं किया है ऐसी ध्वित को प्रकृतसमयध्वित कहते हैं। ग्रन्थिताभिधानवाद-वाक्य में स्थित पद सबंधा वाक्यार्थ से ग्रन्थित (सम्बद्ध) ही रहते हैं ऐसा प्रभाकर का ( मीमांसक का एक भेद ) मत है।

म्रिभिहितान्वयवाद—वाक्य में स्थित प्रत्येक पद बाक्य के ग्रयं को कहता है ऐसा भाट्ट मानता है। म्रिभिधीयमान—कहने में मा रहा मर्थ या राज्य मिश्वीयमान कहताता है। म्रथमं—पाप को मुधमं कहते हैं। कुसंस्कार को या पापवद्धं क किया को भी म्रथमं कहते हैं।

**ध**नन्वय-हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होना।

भ्रनुविद्ध-सम्बद्ध या ज्याप्त को भ्रनुविद्ध कहते हैं।

भ्रननुविद्ध-सम्बद्ध या व्याप्त नहीं रहना ।

भ्रनुपलंभ- भ्रपाप्त होना या उपलब्ध नहीं होने को भ्रनुपलंभ कहते हैं।

श्रप्रयोजक हेतु—''सपक्षव्यापक पक्ष व्याकृतः हि उपाधि आहित सम्बन्धः हेतुः'' ग्रवीत् सपक्ष में व्यापक श्रौर पक्ष से व्याकृत होने वाला उपाधियुक्त श्रप्रयोजक कहलाता है ।

भगौरुषेय-पुरुष प्रयत्न से रहित को मगौरुषेय कहते हैं। सनुसंघान-जोड को मनुसंघान कहते हैं। अंतरंग – ''श्रम्यिश्वारि प्रतिनियतम् श्रन्तरंगम्'' श्रयीत् श्रम्यिश्वारपने से नियत होने को अन्तरंग कहते हैं।

श्रवविषाएा--घोड़े के सींग (नहीं होते )

अनुगत प्रत्यय-पह गो है यह गो है ऐसे सदशाकार ज्ञान को अनुगत प्रत्यय कहते हैं। अपनीति-हटाना

मनितशयव्यावृत्ति--- मितशय रहित पने का हट जाना मर्थात् मितशय माना ।

श्रन्थ सर्प विलय्नेश त्याय—प्रत्था सर्प चींटी प्रादि के कारण विल से निकलकर इधर उधर धूमता है और पुनः उसी विल में प्रविष्ट होता है जैसे ही जैनेतर प्रवादी प्रनेकांतमय सिद्धांत को प्रथम तो मानते नहीं किन्तु घूम फिर कर श्रन्य प्रकार से उसी को स्वीकृत कर लेते हैं उसे श्रन्थ सर्प विल प्रवेश न्याय कहते हैं।

- (आ) आलोककारएावाद—श्रालोक प्रयात् प्रकाश ज्ञानका कारए। है ऐसा नैयायिक मानते हैं। आवरण—ढकने वाला वस्त्र या कमं आवि पदार्थ।
  - प्रावारक—शब्द को एक विशिष्ट वायु रोकती है उसे भावारक कहते हैं ऐ<mark>सा भीमांसक</mark> मानते हैं।
- (ई) ईश्वरवाद—नैयायिक वैशेषिक, सांस्थादि प्रवादीगण ईश्वर कतृंस्व को मानते हैं, इनका कहना है कि जगत् के यावन्मात्र पदार्थ ईश्वर द्वारा निर्मित हैं, वह सबं शक्तिमान् सवैज सवैदर्शी है इत्यादि।
- (उ) उद्योतकर-न्यायदर्शन का मान्य ग्रन्थकार ।

उद्भुतवत्ति-प्रगट होना ।

उदात-उच्चस्वर से बोलने योग्य शब्द । ऊंचे विचार को भी उदात कहते हैं।

उभयसिद धर्मी—प्रमाण तथा विकल्प द्वारा सिद्ध धर्मी (पल) को उभयसिद्ध धर्मी कहते हैं। उपलंभ—प्राप्त या उपलब्ध को उपलंभ कहते हैं।

उदंचन--जल सिंचने का पात्रविशेष।

- (ऊ) ऊह—तर्क प्रमाण को कहते हैं।
- (क) कामला—पीलिया रोग को कामला कहते हैं। किचित्र — भूलपत्रानी।

कवलाहार—श्ररहंत ग्रवस्था में भगवान केवली भोजन करते हैं ऐसा क्वेताम्बर नानते हैं। कबल ग्रयति ग्रास का ग्राहार कवलाहार कहलाता है।

क्रमानेकांत-कामिक अनेकांत को क्रमानेकांत कहते हैं। द्रव्य में पर्यायें क्रम से होती हैं उसे भी क्रमानेकांत कहते हैं। कालात्ययापदिष्ट –प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाघित हेतु को कालात्ययापदिष्ट हेत्वामास कंहते हैं । कुमारिल – मोमांसक मत के ग्रंथकार । कर्क –सफेंद घोड़ा ।

कारककारण-कार्यं को करने वाले कारण की कारककारण कहते हैं।

(ख) खपुष्प—आकाश का फूल (नहीं होता) ख— प्राकाश, तथा लोपको ख कहते हैं। खरविवाला – गधे के सींग (नहीं होते)

(ग) ग्राह्य-प्राह्त - प्रहल करने योग्य तथा प्रहल करने वाला। गृहीवप्राही - जानी हुई वस्तु को जानने वाले ज्ञान को गृहीतप्राही कहते हैं। गमक हेतु -- साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु। गोत्रस्खलन - मुख से कुछ प्रत्य कहना चाहते हुए भी कुछ प्रत्य नागादिका उच्चारल हो जाना गोत्रस्खलन कहलाता है।

गम्यमान-ज्ञात हो रहा अर्थ।

- (व) चर्यामार्ग-जैन साधु प्राहारार्थं निकलते हैं उस विधि को चर्यामार्थ कहते हैं। चंतन्य प्रभव प्रालादि—चंतन्य के निमित्त से होने वाले स्वासादिप्राला। चित्रकान—प्रतेक प्राकार जिसमें प्रतीत हो रहे उस ज्ञान को चित्रज्ञान कहते हैं। चोदना—मीमांसक वेद को चोदना भी कहते हैं। चोदना का ग्रथं प्रस्त तथा प्ररेग्सा भी होता है।
- (छ) छिन्नमूल—जिसका मूल छिन्न हुमाहो उसे छिन्नमूल कहते हैं वेद को प्रमाण मानने वाले मीमांसक म्रादिका कहना है कि वेद कर्त्ता का छिन्नमूल है म्रर्थात् उसका मूल में ( शुरु में ) हो कोई कर्त्ता नहीं है।
- (ज) जाति न्यायग्रंय में सामान्य को या सामान्यधर्मको जाति कहते हैं। जन्य का नाम भी जाति है, तथा माता पक्ष को संतान परम्थरा को जाति कहते हैं।

जैमिनि---मीमांसक मत के मान्य ग्रंथकार।

जन्य-जनक—उत्पन्न करने योग्य पदार्थ को जन्य ग्रौर उत्पन्न करने वाले को जनक कहते हैं।

(तं) तादात्विक — उसकाल का, तत्काल का। त्रिटरा — टेव।

> त्रेरुप्यवाद—बौढ हेतु के तीन अंग या गुए। मानते हैं—पक्षधर्म, सपक्षसस्व भौर विपक्ष व्यावृत्ति, इसी को त्रैरुप्यवाद कहते हैं।

त्रिगुणात्मक—तीन गुण वाला, प्रवान तस्व में सस्व रज और तम ऐसे तीन गुण होते हैं ऐसा सांख्य मानते हैं।

तकं प्रमाखादा—जहां जहां साधन (हेतु) होता है वहां वहां साध्य भवश्य होता है इत्यादि रूप से साध्य साधन को सर्वोपसंहार से कात करने वाला ज्ञान तर्क प्रमाख कहलाता है। इसी को तर्क प्रमाखवाय कहते हैं।

- (द) द्रश्य वाक्य--शब्द रूप वचन रचना एवं लिखित रचना को द्रश्य बाक्य कहते हैं। रूप्टेष्ट विरुद्ध बाक्--एट-प्रत्यक्ष और इष्ट मायने परोक्ष इन दोनों प्रमाणों से विरुद्ध वचन को इप्टेष्ट विरुद्ध वाक् कहलाती है।
- (घ) धर्म-पुण्य । धर्म द्रव्य । सच्चे शास्त्रत सुख में घरने वाला धर्म ।
- (न) निर्जरा—कर्मों का एक देश क्षय होना या ऋड़ जाना निर्जरा कहलाती है। निवर्त्तमान—नास्ति रूप से प्रतिभासित होने वाला ज्ञान । जौटता हुमा। निःश्येयस - मोक्ष या मक्ति ।

में रात्म्यभावना—चित्त सन्तान का निरूवय नाश होता है प्रयांत मोक्ष में भारमा नष्ट होता है, ऐसा बौद्ध का कहना है, जगत के यावन्यात्र विवाद तथा संकल्प विकल्प श्रास्मा मूलक है भता भारमा का भास्तित्व ही स्वीकार नहीं करना चाहिये ऐसा माध्यमिक श्रादि बौद्ध का कहना है। इसो भावना को नैरास्म्य भावना कहते हैं।

निरवयव-अवयव रहित।

निरन्वय-मूल से समाप्त होना।

(प) परिच्छेद-जानने योग्य।

प्रधान-सांख्य मत का एक तत्त्व, प्रमुख को भी प्रधान कहते हैं।

प्रकृति—सांख्य के प्रधान का दूसरा नाम प्रकृति है। प्रकृति का ग्रथं स्वभाव भी है।

प्रमेय-प्रमाण द्वारा जानने योग्य पदार्थ।

प्रवर्तमान-प्रस्तित्व रूप से प्रमृत्ति करने वाला प्रमारा।

प्रशस्तमति-यौग मत का ग्रन्थकार।

प्रकृतिकर्तृ त्ववाद -- सांख्य का कहना है कि प्रकृति नाम का जड़ तत्त्व जगत का कर्ता है।

प्रेक्षावान्-बृद्धिमान् ।

परमौदारिक-सप्त धातु रहित ग्ररिहंतका शरीर।

परधात — जिस कर्म के उदय से पर के घात करने वाले शरीर के अवस्य बने उस कर्म को परधात नाम कर्म कहते हैं।

प्रत्यवाय-विघ्न ।

प्रास्मादि प्रभव प्रासादि-प्रास्मादि से उत्पन्न होने वाले प्रास्मादि ।

परम प्रकर्ष - उत्कृष्ट रूप से वृद्धि ।

प्रत्यभिज्ञान प्रामाण्यवाद-जोड़ रूप प्रत्यभिज्ञान को इस प्रकरण में प्रमाणभूत सिद्ध किया है। परिशोधक-विषय का शोधन करने वाला ज्ञान परिशोधक कहलाता है।

प्रत्यक्ष पृष्ट भावी विकल्प ज्ञान—निविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध मानते हैं।

पक्ष – साध्य के ग्राधार को पक्ष कहते हैं।

पांबरूप्यवाद — नैयाधिक हेतु के पांच गुएा मानते हैं —पक्ष धर्म, सपक्ष सस्व, विपक्ष ब्यावृत्ति,

प्रसज्य प्रतिषेध-सर्वथा निषेध या श्रभाव को प्रसज्य प्रतिषेध कहते हैं।

पर्युदासप्रतिषेच किसी अपेक्षा से निषेचया भावांतर स्वनाव वाले अभाव को पर्युदास कहते हैं।

पूर्ववदाशनुमान त्रीवध्यनिरास—नैयायिक स्रतुमान के तीन प्रकार मानते हैं—पूर्ववत्, शेषवत् स्रोर सामान्य तो हष्ट, इस मान्यता का जैन ने निरसन किया है।

प्रमाण सिद्ध धर्मी—प्रत्यक्ष प्रमाण से पक्ष के सिद्ध रहने को प्रमाण सिद्ध धर्मी कहते हैं। प्रतिज्ञा—षर्म धर्मी समुदायः प्रतिज्ञा, धर्म भ्रीर धर्मी प्रयात् साध्य भ्रीर पक्ष को कहना प्रतिज्ञा कहलाती है। यत या नियम मादि के लेने को भी प्रतिज्ञा कहते हैं।

प्रज्ञाकर गृप्त-बौद्ध ग्रन्थकार।

प्रभाकर—मीमांसक के एक भेद स्वरूप प्रभाकर नामा ग्रन्थकार के श्रक्षिप्राय को मानने वाले प्रभाकर कहलाते हैं।

प्रतिविहित---खंडित ।

प्रकररणसमहेत्वाभास≔वादी प्रतिवादी दोनों के पक्ष का हेतु समान रूप में स्वसाध्य का साघक होना प्रवर्षित तुल्य बल वाला होना प्रकररणसम नामा हेरवाभास है, इसको यौग मानते हैं।

प्रतिबन्ध-प्रविनाभाव सम्बन्ध का दूसरा नाम प्रतिबन्ध है।

प्रतिबन्धक---रोकने वाला।

प्रेरणा-वेद ।

पौरुषेय--पुरुषकृत ।

प्रक्षालिताशुचिमोदक परित्यागन्याय-कोई भिन्नु ब्रादि मार्ग से मोदक (लडूू) ले जा रहा था हाथ से मोदक नाली में गिरा उसको लोग वज्ञ पहुंचे तो उठाकर घो लिया किन्तु पीछे स्तानि तथा लोक की हुँखी के कारण उसकी छोड़ दिया उसी प्रकार पहले किसी बात को स्वीकार करके पोछे अयादि के कारण उसकी छोड़ देना "प्रक्षालिता-श्चिमोदकपरित्याण्याय" कहलाता है।

(ब) बुद्धिमद्धेतुक-बुद्धिमान कारए। से होने वाला

बुमुक्षा-भोजन की वांछा।

बला तैल-सर्व शब्दों को श्रवश की शक्ति को उत्पन्न करने बाला तेल।

 (भ) भावनाज्ञान — किसी एक विषय में मनके तल्लीन होने से उसका सामने नहीं होते हुए भी प्रत्यक्षवत् प्रतिभास होने को भावना ज्ञान कहते हैं।

भाव वाक्य-वन्तन द्वारा ग्रंतरंग में होने वाला ज्ञान ।

भाट्न-मीमांसक का एक प्रभेद-भट्ट नाम के ग्रंथकार के सिद्धांत को मानने वाला।

 (म) महाभूत—पृथिवी, जल, प्रिन, वायु प्रौर प्राकाश इनको महाभूत कहते हैं, इनके सूक्ष्म महाभूत तथा स्थूल महाभूत ऐसे दो भेद हैं।

महान्-प्रकृति तत्व से महान् (बुद्धि) उत्पन्न होता है ऐसा सांख्य मानते हैं।

मिद्र — निदा

महानस-रसोई घर

मोझ स्वरूप विचार—भनन्तचतुष्टय स्वरूप मोझ होता है इसको इस प्रकरण में सिद्ध किया है।

- (य) योगज धर्म-ध्यान के प्रभाव से होने वाला प्रतिशय ज्ञान श्रादि ।
- (र) रथ्या पुरुष-पागल, गली में भ्रमण करने वाला।
- (ल) लिग-लिगी सम्बन्ध—साधन भीर साध्य का सम्बन्ध। लिशत लक्षर्गा—सिंतिन (सामान्येन-झातेन) लक्षर्गा-विशेष प्रतिपत्ति, प्रयात् सामान्य के झात होने से उसके द्वारा विशेष का निश्चय होना लक्षित लक्षर्गा कहलाती है।
- (व) विवर्त्त-पर्याय, प्रवस्था।

विपाकान्त - फल देने तक रहने वाला (कर्म)

व्यक्ति - विशेष भेद-प्रभेद

विपयंय-विपरीत,

व्याप्य-व्यापक--"व्यापकं तदतन्त्रिष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव क" प्रयात्--

बाच्य-बाचक-कहने योग्य पदार्थ को वाच्य और कहने वाले शब्द को वाचक कहते हैं। व्यारक्षप्रतिपत-अनुमान व्याकरण या अन्य किसी विषय में प्रवीसा परुष को व्यारक्षप्रतिपत

कहते हैं।

विकल्प ज्ञान—यह घट है इत्यादि साकार ज्ञान को विकल्प ज्ञान कहते हैं। विपक्ष—जहां साध्य नहीं रहता उस स्थान को विपक्ष कहते हैं, प्रतिपक्ष को भी विपक्ष कहते हैं। वादी-प्रतिवादी—वाद विवाद में जो पुरुष पहले भ्रपना पक्ष उपस्थित करता है उसे वादी ग्रीर उसके विरुद्ध पक्ष रखने वाला प्रतिवादी कहलाता है।

विकल्पसिद्धवर्षी – जो घर्मी अर्थात् पक्ष प्रत्यक्ष से सिद्ध न हो उसे विकल्पसिद्ध वर्षी कहते हैं। वैदापौक्षेयवाद – वेद को प्रपोक्षेय अर्थात् किसी भी पुरुषादि द्वारा रचा नहीं है ऐसा मीमांसक आदि परवादी मानते हैं उसको वेदापौक्षेयवाद कहते हैं।

व्याचिरूया—कहने की इच्छा,

ध्यंजकष्विन—व्यंजकष्विन नामा कोई एक पदार्थ है वह शब्द को प्रगट करता है ऐसा शब्द निस्य बादो भोमांसक म्रादि का कहना है।

वासना-संस्कार, ब्रासक्ति,

विप्रकृष्ट--दर,

भ्यवस्था 'विशिष्ट स्थिति कारगुं व्यवस्था' विशिष्ट स्थिति का जो कारगु है उमे व्यवस्था कहते हैं।

बिनप्टाक्ष—नष्ट हो गई है प्राले जिसकी उसे बिनष्टाक्ष कहते है । ब्यावृत्तप्रस्यय—यह इससे भिन्न है इत्यादि झाकार वाले ज्ञान को ब्यावृत्तप्रस्यय कहते हैं । ब्यंजककारएा—बस्तु को प्रगट या प्रकाशित करने वाला कारएा ब्यंजककारएा कहलाता है । व्यय्य-ब्यंजक—प्रगट करने योग्य को ब्यंग्य और प्रगट करने वाले को ब्यंजक कहते हैं ।

ब्यवच्छेद्य-ब्यवच्छेदक — पृथक् करने योग्य अपना जानने योग्य पदार्थको ब्यवच्छेद कहते हैं और पृथक् करने वाले अथवा जानने वाले को ब्यवच्छेदक कहते हैं।

व्यधिकरणासिद्ध हैःवाभास—साध्य और हेतु का ग्राधिकरणाभिन्न भिन्न होना व्यधिकरणासिद्ध हेरवाभास कहलाता है।

(श) शाबलेय—चितकवरी गाय स्रादि पशु।

क्षड्य निस्यत्ववाद—शब्द आकाश गुग्ग है एवं वह सर्वथा निस्य एक ग्रीर व्यापक ऐसा मीमांसक ग्राप्टि सानते हैं।

(स) संवर - कमों का ग्राना एकना संवर कहलाता है,

सदुपलंभ प्रमाण पंचक-भिस्तित्व को प्रहण करने वाले प्रत्यक्ष श्रनुमान, धागम, उपमा श्रीर श्रमिति ये पांच प्रमाण हैं ऐसा बीमांसक श्रादि मानते हैं, इनका कहना है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल सन् या प्रस्तित्व को ही आन सकते हैं प्रसन् या श्रभाव को नहीं। स्वार्थातिलंधन-धपने विषय का उल्लंघन,

साध्यक्षमीं—म्रनुमान द्वारा जिसको सिद्ध करना है उसको साध्य तथा उस साध्य के रहने के स्थान को धर्मी कहते हैं।

सुनिध्विता संभवत् बाधक प्रमाण्—िज्समें नियम से बाधक प्रमाण् संभव न हो उस प्रमाण् को सुनिध्वित प्रसंभव बाधक प्रमाण् कहते हैं।

संवाद-विवक्षित प्रमाण का समर्थन करने वाला प्रमाण संवाद कहलाता है।

सन्दिग्धव्यतिरेक-हेतु का विषक्ष में व्यतिरेक क्रयात् नहीं रहना संशयास्पद हो तो उस हेतु को सन्दिग्ध व्यतिरेक कहते हैं।

सत्तासमवाय – वस्तु की सत्ता ग्रव्हांत् ग्रस्तित्व समवाय नामा किसी अन्य पदार्थ से होता है ऐसा सत्तासमवाय मानने वाले नैयायिकादि प्रवादी कहते हैं।

सर्ग-रचना, उत्पत्ति ।

समर्थ स्वभाव-जिसमें स्वयं समर्थ स्वभाव होवे।

सर्वेज्ञत्वदाद—सर्वज्ञ की मीमांसक नहीं मानते उस मान्यता का इस सर्वज्ञत्वदाद प्रकरण में खण्डन किया है।

सत्कार्यवाद—सांस्य प्रत्येक कार्य को कारला में सवा से मौजूद ही ऐसा मानते हैं, इस मान्यता को सत्कार्यवाद कहते हैं, इनका कहना है कि बीज में अंकुर, मिट्टी में घट इत्यादि पहले से ही रहते हैं।

समवशरण-अहँत तीर्षंकर भगवान की घर्षोपदेश की सभा जिसमें ब्रसंस्य भव्य प्राणियों की मोक्षमार्ग का उपदेश एवं शरण मिलती हैं।

संतान - बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षाण अंगुर मानते हैं, प्रयात् वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होती हैं किन्तु तस्सम तत्काल दूसरी पादुर्जूत होती है उसी को संतान कहते हैं। व्यवहार में प्रपने पुत्र पुत्रियों को भी संतान कहते हैं।

नुष्पत-निद्रित ।

सान्वयाचितसंतान—यह चित्त है यह चित्त है इस प्रकार के श्रन्वय सहित चित्त ग्रयोत् चैतन्य की परंपरा को सान्वयाचित्त सन्तान कहते हैं।

स्वाप---निद्रा।

स्त्रीमुक्ति विचार—व्वेताम्बर स्त्रियों को उसी पर्याय में मुक्ति होनामानते हैं उसकाइस प्रकरण में खंडन किया है।

सचेलसंयम—बस्त्र सहित संयम, स्त्रियों के वस्त्र सहित संयम ही संभव है, वह वस्त्र त्याग नहीं कर सकती ग्रतः इसके संयम को सचेल संयम कहते हैं। स्मृतिप्रामाण्यवाद—स्मरण् ज्ञान को इस प्रकरण् में प्रमाणभूत सिद्ध किया है। समारोप ब्यवच्छेदक—संशय, विषयंय और धनध्यवसाय को समारोप कहते हैं इनको दूर करने वाले प्रमाण को समारोप व्यवच्छेदक कहते हैं।

वाल प्रमाण का समाराप व्यवच्छदक कहत ह। संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध —नाम झौर नाम वाले पदार्थ के सम्बन्ध को संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध कहते हैं। सक्कत—एक बार,

सपक्ष-पक्ष के समान साध्य धर्म जिसमें रहे उसको सपक्ष कहते हैं।

सदसद् वर्ग-सद् वर्ग-सद्भाव रूप पदार्थों का समूह, असद् वर्ग-अभाव रूप पदार्थों का समूह इन दोनों को सदसद् वर्ग कहते हैं।

सकल व्याप्ति—पक्ष भीर सपक्ष दोनों में हेतु की व्याप्ति रहना सकल व्याप्ति कहलाती है। सारमकम्—प्रारमा सहित शरीर को सात्मक कहते हैं।

सम्प्रदाय विच्छेद--परम्परा का विच्छेद-नष्ट होना।

सहज योग्यता-स्वभाव से होने वाली योग्यता की सहज योग्यता कहते हैं।

स्फोटबाद—गो, घट ग्रांदि शब्द द्वारा तद् वाच्य पदार्थ का ज्ञान नहीं होता किन्तु निरवयव एक व्यापक स्फोट नामा श्रमूलं वस्तु द्वारा गो ग्रांदि पदार्थों का ज्ञान होता है, व्यंजक-व्यनि ग्रांदि से उस स्फोट की श्रभिव्यक्ति होती है भीर उससे श्रथं बोध होता है ऐसा भट होरे ग्रांदि वैयाकरणों का पक्ष है उसका इस प्रकरण में खंडन किया है।

संवेदन प्रभव संस्कार-ज्ञान से उत्पन्न होने वाला संस्कार।

सर्वाक्षेप-पूर्ण रूप से स्वीकार।

संकलन-जोड

स्विवेचित - भली प्रकार से विचार में लाया गया।

स्वरूप परिपोष-स्वरूप को पृष्ट करना।

सिद्ध साध्यता-जो प्रसिद्ध है उसको साध्य बनाना सिद्ध साध्यता नामका दोष है।

सारूष्य — बौद्ध ग्रन्थ में सदृश या समानाकार को सारूष्य नाम से कहा जाता है।

(ह) हेतु —''साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः'' साध्य के साथ जिसका श्रविनाकाव सम्बन्ध है उसे हेतु कहते हैं। कारएग को या निमित्त को भी हेतु कहते हैं।



#### भारतीय दर्शनोंका स्नति संक्षिप्त परिचय-

# जैन दर्शन

जैन दर्शन में सात तत्व माने हैं—जीव, भ्रजीव, भ्रास्तव, बंध, संबर, निजंरा धीर मोक्ष । जिसमें चैतन्य पाया जाता है वह जीव है, चैतनता से रहित प्रजीव है (इसके पांच भेद हैं-पुद्गल, धर्म, प्रथमं, प्राकाश, काल) जीवके विकारी भावोंसे कमाँका जीवके प्रदेशोंमें भागा धालव है, उन कमाँका जोव प्रदेशोंके साथ विशिष्ट प्रकारते निश्चित प्रविध तक सम्बद्ध होना बंध कहलाता है, परिणाम विशेषद्वारा उन कमाँका धाना रुक जाना संवर है। पूर्व संचित कमाँका कुछ कुछ फड़ जाना निजंरा है भीर संपूर्ण कमाँका जीवसे पृथक होना मोख कहलाता है। जीव, पुद्गल, धर्म, प्रथमं, प्राकाश, धीर काल दसअंकार छह सुक्यांका उत्पर्धन सातत्वारों के संवर्ण करा करा है। जीव तत्वार्म धाकाश धीर कास अंतर्भिव करें तो जीव तत्वार्म जीव द्वय्य थीर धनीव तत्वार्म पृद्गल, धर्म, भ्रथमं धाकाश धीर कास अंतर्भिव हते हैं, प्रास्त्रव, वंध, सवर, निजंरा धीर सोक्ष ये पांच तत्व जीव धीर प्रजीव स्वरूप पुद्गल प्रय जड़ तत्व जो कर्म है इन दोनों के संयोग से बनते हैं। चैतना स्वरूप जीव द्वय्य है, पुद्गल प्रयात् इत्या जो कर्म है इन दोनों के संयोग से बनते हैं। चेतना स्वरूप जीव द्वय्य है, पुद्गल प्रयात् इत्या जो कर्म है इन दोनों के संयोग से बनते हैं। चेतना स्वरूप जीव द्वय्य है,

धर्मं द्रव्य — जीव धौर पुद्गलके गमन शक्तिका सहायक अपूर्णं द्रव्य । अधर्मं द्रव्य-जीव धौर पुद्गलके स्थिति का हेतु । सम्पूर्णं द्रव्योंका भवगाहन करानेवाला भाकाश है और दिन, रात, वर्षं श्रादि समयोंका निमित्त भूत अमूर्तं काल द्रव्य है ।

प्रमाण संख्या—मुख्य दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष झौर परीक्ष, दोनों प्रमाण ज्ञान स्वरूप हो है, भ्रात्माके जिस ज्ञानमें विशदपना [स्पष्टतया ] पाया जाता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। श्रविशदपना [भ्रत्पष्टता ] जिसमें पाया जाता है वह परीक्ष प्रमाण है। इसके स्मृति, प्रत्योभज्ञानादि भेद हैं।

इन प्रमाराों में प्रामाण्य [सत्यता] अभ्यस्तदशामें स्वतः अनम्यस्तदशा में परसे आधा करती है।

जगत में यावन्यात्र कार्य होते हैं उनके प्रमुख दो कारए। हैं, निमित्त भीर उपादान, जो कार्योत्पत्ति में सहायक हो वह निमित्त कारए। है और जो स्वयं कार्य रूप परिएामे वह उपादान कारए। है जैसे वट रूप कार्य का निमित्त कारए। कुंभकार, चक्र खादि है भीर उपादान कारए। मिट्टी है। कारए। से कार्य कर्षाचित् भिन्न है, और कर्षाचित् सभिन्न भी है। प्रत्येक तस्व या द्रव्य सम्बद्धा पदार्घ स्रनेक स्रनेक [सनंक] गुए। वभौको लिये हुए हैं सीर इन गुए। धर्मीका विवक्षानुसाक प्रतिपादन होता है इसीको ग्रनेकाल्त-स्यादाद कहते हैं, वस्तु स्वयं अपने निजी स्वरूपसे प्रनेक गुणुषमं युक्त पायी जाती है, उसका प्रकाशन स्यादाद (कर्षाचतवाद) करता है। बहुत से विद्यान ग्रमेकाल्त और स्यादादका ग्रमं न समक्षकर इनको विपरीत रूपसे मानते हैं, अर्थात् वस्तुके ग्रमेक गुणु प्रमाको निजी न मानना तथा स्यादाद को शायद शब्दसे पुकारना, किन्तु यह गलत है, स्यादादका ग्रमं शायद या संशयवाद नहीं है, ग्रमितु किसी निश्चित एक रष्टिकोएसे (जो कि उस विविक्षत वस्तुमें ग्रमावित हो। वस्तु उस रूप है ग्रीर ग्रन्थ दृष्टिकोएसे ग्रन्थ स्वरूप है, स्यादाद भनेकाल का यहां विवेचन करे तो बहुत विस्तार होगा, जिज्ञासुग्रीको तस्वार्थवात्तिक, स्लोकवार्तिक ग्रादिमूल यन्य या स्यादाद-ग्रनेकाल नामके लेख, निवस, ट्रेक्ट देखने वाहिये।

सृष्टि यह संपूर्ण विश्व (जगत) मानादि निघन है प्रयोग् इसको म्रादि नहीं है मौर अंत भी नहीं है, स्वयं बादवत इसी रूप परिणामित है, समयानुसार परिणामन विचित्र २ होता रहता है, जमत रचना या परिवर्तनके लिये ईश्वर को जकरत नहीं है।

पूर्वोक्त पुर्गल— जड़ तस्वके दो भेद हैं, अगु या परमागु श्रीर स्तंध दृश्यमान, ये विश्वके जितने भर भी पदार्थ हैं सब पुर्गल स्कंध स्वरूप हैं, चेतन जीव एवं धर्मादि द्रश्य श्रमून-अदृश्य पदार्थ हैं। परमाग्रु उसे कहते हैं जिसका किसी प्रकार से भी विभाजन न हो, सबसे श्रन्तिम हिस्सा जिसका श्रव हिस्सा हो नहीं सकता, यह परमाग्रु नेत्र गम्य एवं सूक्ष्मदर्शी दुर्वीन गम्य भी नहीं है। स्निम्धता एवं कक्षता धर्म के कारण परमाग्रुकों का परस्पर सबंध होता है इन्होंको स्कंध कहते हैं। खेन दर्शनमें सबका कर्ता हर्ता ईस्वर नहीं है, स्वयं प्रत्येक जीव श्रपने प्रपने कर्मोंका निर्माता एवं हर्ता है, इस्वर भगवान या श्राप्त कृतकृत्य, ज्ञानमय, हो चुके हैं उन्हें जीवके भाग्य या सृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं है।

मुक्ति मार्ग-सम्यव्दर्शन, सम्यव्जान भीर सम्यक् वारित्र स्वरूप पृक्ति का मार्ग है, समीचीन सःवोंका श्रद्धान होना सम्यव्दर्शन है, मोक्षके प्रयोजनभूत तस्वोंका समीचीन ज्ञान होना सम्यव्जान है, पापाचरण के साथ साथ संपूर्ण मन वचन प्रादि की क्रियाका निरोध करना सम्यव्जारित्र है, भ्रयद्वा पारंभद्वामों अधुभ या पापारूप किया का (हिंसा, फूंड प्रादिका एवं तीव्र राग द्वेषका) स्थान करना सम्यक् वारित्र है। इन तीनोंको परनत्रय कहते हैं, इनसे जीवके विकारके कारण जो कर्म है उसका भ्राना एवं बंधना इक जाता है।

मृक्ति—जीवका सपूर्ण कर्म घौर विकारी भावोंमे मुक्त होना मुक्ति कहलाती है, इसीको मोक्ष, निर्वाण आदि नामोंसे पुकारते हैं। मुक्तिमें सर्वात आत्माके मुक्त भवस्या हो जानेपर वह शुद्ध बुद्ध, ज्ञाता द्रष्टा परमानंदमय रहता है, सदा इसी रूप रहता है, कभी भी पुनः कर्म मुक्त नहीं होता । स्वनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख ग्रौर अनंतवीयं से युक्त आत्माका अवस्थान होना, सर्वदा निराकुन होना हो मुक्ति है। जैन दर्शन में — जगतक विषयमें, आत्माक विषय में, कर्म या भाग्यके विषयमें धर्मात् पुष्प पाप के विषयमें बहुत बहुत प्रिथक सुरुमसे सुरुम विक्षेत्रन पाया जाता है, इन जगत धादिक विषयमें जितना गहुन, सुरुम, धौर विस्तृत कथन जैन प्रत्योमें है जतना धन्यत्र अंशमात्र भी दिलाई नहीं देता। यदि जगत् या सृष्टि प्रवर्षत् विस्त्रके विषयमें प्रध्ययन करना होवे तो त्रिलोकसार, तस्वार्य-सूत्र, लोक विभाग धादि प्रत्य पठनीय हैं। धारमा विषयक ध्रध्ययन ने परमात्मप्रकास, प्रवचनसार समयसारादि प्रत्य उपयुक्त हैं। कर्म-पुष्प पाप धादिका गहुन गंभीर विवेचन कर्मकार (गोम्मटसार ) पंचसंग्रह धादि धनेक प्रत्योमें वाया जाता है। विश्वक संपूर्ण व्यवहार संवष्में पूर्ण एवं स्रोज पूर्ण कथन पाया जाता है। अस्तु।

#### बौद्ध दर्शन

यह दर्शन क्षिणुक्तवाद नाम से भी कहा वा सकता है क्योंकि प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ समूल चूल नष्ट होकर सर्वथा नया ही उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध ने माना है। इनके चार भेद हैं। वैभाषिक, सौनान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। वैभाषिक बाह्य भीर अन्यंतर दोनों ही (हश्य जड़ पदार्थ और चेतन भारमा) पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान गम्य हैं, वास्त्रविक हैं। ऐसा मानता है। सौनान्तिक बाह्य पदार्थों को मात्र अनुमान-गम्य मानता है। योगाचार तो बाह्य पदार्थों की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता। मात्र विज्ञान-गम्य मानता है। योगाचार तो बाह्य पदार्थों की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता। मात्र विज्ञान तत्व को सत्य मानता है भारमिक न बहिरंग पदार्थ मानता है प्रौर न अन्तरंग पदार्थ को ही। सर्वथा झूल्य मात्र तत्व है ऐखा मानता है। इन सभी के यहां क्षणुभंगवाद है। बौद्ध ने दो तत्व माने हैं। एक स्वलक्षण भीर दूसरा खामान्य लक्षण। सजातीय भीर विज्ञातीय परमागुओं से असंबद्ध, प्रतिक्षण विनाशशील ऐसे जो निरंश परमागु हैं उन्हीं को स्वलक्षण कहाती है, अचवा देंग, काल भीर आकार से नियत वस्तु का जो स्वरूप है—ससाधारणता है वह स्वलक्षण कहाते हैं, अववा देंग, काल भीर आकार से नियत वस्तु का जो स्वरूप है—ससाधारणता है वह स्वलक्षण कहाते हैं।

सामान्य---एक कल्पनात्मक वस्तु है। सामान्य ही चाहे सदंश हो, दोनों ही वास्तविक पदार्थ नहीं है।

प्रमाण — प्रविसंवादक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं उसके दो भेद हैं प्रधाित बौढ प्रमाण की संस्था दो मानते हैं, प्रत्यक्ष भीर अनुमान । कल्पना रहित (निश्चय रहित) प्रभ्रान्त ऐसं ज्ञान को प्रस्था प्रमाण कहते हैं। भीर व्याप्तिज्ञान से सम्बन्धित किसी धर्म के ज्ञान से किसी धर्मी के विषय में बो परोक्ष ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाण कहताता है। प्रमाण चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे अनुभान हो सभी साकार रूप ज्ञान है। ज्ञान घट श्रादि वस्तुसे उत्पन्न होता है उसी के प्राकार को घारण करता है भीर उसी को जानता है। इसी को "ततुरुपत्ति, तदाकार, तदष्यवसाय" ऐसा कहते हैं।

प्रामाण्य (प्रमासा का फल) प्रमासा रूप ही है। चार आर्य सत्य दुःस, समुदय, निरोघ श्रीर मार्ग इसका बीच होना चाहिए । तथा पांच स्कंध-रूपस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध, संस्कारस्कंध श्रीर विज्ञानस्कंघ इनकी जानकारी भी होनी चाहिए, क्योंकि इनके ज्ञान से मुक्ति का मार्ग मिलता है। मुक्ति के विषय में बौद्ध की विचित्र मान्यता है, चित्त ग्रर्थात् ग्रात्मा का निरोध होना मुक्ति है। दीपक बुक्त जाने पर किसी दिशा विदिशा में नहीं जाकर मात्र समाप्त हो जाता है उसी प्रकार मात्मा का भ्रस्तित्व समाप्त होना मुक्ति है। "प्रदीप निर्वाण वदात्म निर्वाणम्" नैयायिकादि ने तो मात्र भारमा के गुराज्ञान ब्रादिका अभाव मुक्ति में स्वीकार किया है किन्तु बौद्ध ने मूल जो भारम द्रव्य है उसका ही स्रभाव मिक में माना है उनकी मान्यता है कि पदार्थ चाहे अड़ हो चाहे चेतन प्रतिक्षरा नये-नये उत्पन्न होते हैं पूर्व चेतन नयी संतान को पैदा करते हुए नष्ट हो जाता है जब तक इस तरह से संतान परम्परा चलती है तब तक संसार भीर जहां वह रुक जाती है वहीं निर्वाण हो जाता है। सृष्टि के विषय में बौद्ध लोग मौन हैं। बुद्ध से किमी शिष्य ने इस जगत के विषय में प्रश्न किया तो उन्होंने कहा था कि मृष्टि कब बनी? किसने बनायी? ग्रनादि की है क्या? इत्यादि प्रश्न तो बेकार हो हैं ? जीवों का क्लेश, दुःख से कैसे छुटकारा हो इस विषय में सोचना चाहिए। प्रतीत्य समत्पाद, अन्यापोहवाद, क्षरा भंगवाद, श्रादि बौढों के विशिष्ट सिद्धान्त हैं। प्रत्मीत्य समत्पाद का दूसरा नाम सापेक्ष कारणवाद भी है। ग्रर्थात् किमी वस्तु की प्राप्ति होने पर श्रन्य वस्तु की उत्पत्ति । शब्द या वाक्य मात्र अन्य अर्थ की व्यावृत्ति करते हैं, वस्तु को नहीं बताते । जैसे किसी ने ''घट'' कहा सो घट शब्द घट को न बतलाकर श्रघट की व्यावृत्ति मात्र करता है इसी को अन्यापोह कहते हैं। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण विशरणशील है यह क्षण भगवाद है। इत्यादि एकान्त कथन इस मत में पाया जाता है।

#### न्याय दशंन

न्याय दर्शन या नैयायिक मत में १६ पदार्थों का (तत्वों का) प्रतिपादन किया है, प्रमास्य प्रमेय, संशय, प्रयोजन, रुप्टांत, सिद्धान्त, श्रवयव, तर्क, निस्तृय, वार, जल्प पितण्डा, हेरवाभास छल, जाति, निगृह स्थान इन पदार्थों का विस्तृत वस्तृत न्याय वास्तिक श्रादि ग्रन्थों में पाया जाता है। प्रमास्य प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति इस प्रकार भी संक्षेप से तत्त्व माने जाते हैं,

प्रमाण संख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा, घागम इस प्रकार नैयायिक ने चार प्रमाण माने हैं। प्रमाकरणं-प्रमाणं, प्रर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं, कारक साकल्य प्रमा का करण है अतः प्रमाण माना गया है।

प्रामाण्य वाद—प्रमाए। में प्रमाणता पर से ही प्राती है क्योंकि यदि प्रमाए। में स्वतः ही .प्रामाण्य होता तो यह ज्ञान प्रमाए। है या ग्रप्रमाए। है ऐसा संदाय नहीं हो सकता था। कार्यं कारए। भाव—स्याय दर्शन में कार्य भिन्न है और कारए। भिन्न है, यह सिद्धान्त सांख्य से सर्वथा विपरीत है। अर्थात् सांख्य तो कारए। कार्य में सर्वथा अभेद ही मानते हैं और नैवायिक सर्वथा भेद हो, ग्रतः सांख्य सत्कार्य वादी और नैयायिकादि असत्यकार्यवादी नाम से प्रसिद्ध हुए।

कारएा के तीन भेद हैं-

(१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण (३) निमित्त कारण

सामान्य से तो जो कार्य के पहले मौजूद हो तथा प्रन्यथा सिद्ध न हो वह कारए। कहुलाता है। समवाय सम्बन्ध से जिसमें कार्य की उत्पत्ति हो वह समवायी कारए। कहुलाता है, जंसे वस्त्र का समवायी कारए। तन्तु (धागा) है। कार्य के साथ धयवा कारए। के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए जो कारए। होता है उसे धसमवायी कारए। कहुते हैं, जंसे तन्तुओं का प्रापस में संयोग हो जाना वस्त्र का धसमवायी कारए। कहुताया। समवायी कारए। और असमवायी कारए। से भिन्न जो कारए। हो उसको निमित्त कारए। समम्प्रना चाहिये। जंसे वस्त्र की उत्पत्ति में जुलाहा तुरी, वेस, धलाका, ये सब निमित्त कारए। होते हैं।

सृष्टि कलूं त्ववाद - यह संसार ईव्वर के द्वारा निमित है, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीर प्रादि समाम रचनायें ईव्वराधीन हैं, हां इतना जरूर है कि इन चीओं का उपादान तो परमाणु है, दो परमाणुमों से द्वधणुक की उत्पत्ति होती है, तीन द्वधणुकों के संयोग से श्वणुक या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। वार त्रस रेणुप्रों के संयोग से चतुरेणु की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार आगे आगे जगत की रचना होती है। परमाणु स्वतः तो निष्क्रिय है, प्राण्यों के प्रदृष्ट की प्रपेक्षा लेकर ईश्वर ही इन परमाणुमों में किया आरम्भ कराना ईश्वरेच्छा के प्रधीन है, ईश्वर ही अपनी इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति, धीर प्रयत्न शक्ति से जगत रचता है।

परमाणु का लक्ष्म — घर में छत के छेद से सूर्य की किरएों प्रवेश करती हैं तब उनमें जो छोटे-छोटे कए। दृष्टि गोचर होते हैं वे हो तब रेणु हैं, ग्रीर उनका छठवां भाग परमाणु कहलाता है परमाणु तथा इष्टगुक का परिमाए। अणु होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता श्रीर महत् परिए॥ म होने से त्रसरेणु प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

ईश्वर—ईश्वर सर्वशक्तिमान है जगत तथा जगत वासी मात्मायें सारे के सारे ही ईश्वर के म्राधीन हैं। स्वर्ग नरक म्राव्यिमें जन्म दिलाना ईश्वर का कार्य है, वेद भी ईश्वर कृत है-ईश्वर ने रचा है।

मुक्ति का मार्ग—जो पहले कहे गये प्रमासा प्रमेय ब्रादि १६ पदार्थया तत्त्व हैं उनका ज्ञान होने से निथ्याज्ञान श्रयीत् श्रविद्याका नाश होता है। मिथ्याज्ञान के नाश होने परक्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म, भौर दुर्जों का नास होता है। इस प्रकार इन मिथ्याज्ञान भ्रादि का स्रभाव करने के लिये यातस्य ज्ञानप्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाताहै वह मोक्ष या कुक्ति का मार्ग (उपाय)है।

मुक्ति दुख से अत्यन्त विमोध होने को अपवर्गया मुक्ति कहते हैं, मुक्त अवस्या में बुढि, सुख, दुख, इच्छा, हेप, प्रयत्न, घमं, अवमं, संस्कार इन नी गुणों का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है नैयायिक का यह मुक्ति का प्रावास बड़ा ही विचित्र है कि जहां पर आत्माके ही खास गुण जो ज्ञान भ्रीर सुख या प्रानन्द हैं उन्हों का वहां अभाव हो जाता है। अस्तु।

#### वैशेषिक दर्शन

वेशेषिक दर्शन में सात पदार्थ माने है, उनमें द्वय, गुरा, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय ये छ: तो सद्भाव हैं भौर प्रभाव पदार्थ प्रभावरूप ही है।

द्रव्य—जिसमें गुरा भीर किया पायो जाती है, जो कार्य का समवायी काररण है उसकी द्रव्य कहते हैं। इसके नौ भेद हैं, पृथ्वी, जल, भ्रांग, बायु, भ्रांकाश, काल, दिशा, आत्मा, भन।

गृत्त — जो द्रव्य के ऋाश्रित हो और स्वयं गृत्त रहित हो तथा संयोग विभाग का निग्पेक्ष कारत्ता न हो वह गुत्ता कहलाता है। इसके २४ भेद है, रूप, रस, गन्ध, स्वर्श, संख्या, परिमात्ता वेग, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुक्त्व, द्रवस्व, स्तेह, शब्द, खुद्धि, सुल, दुःख, धर्म, प्रधर्म, इच्छा; द्वेष, प्रयस्त, संस्कार।

कर्म—जो इव्य के आश्रित हो गुण रहित हो तया संयोग विभाव का निरपेक्ष कारण हो वह कर्म है। उसके मेद हैं उत्कोषण, अवक्षेपण, आकृत्वन, प्रसारण, गमन।

सामान्य—जिसके कारण वस्तुम्रों में श्रनुगत (सहत्र) प्रतीति होती है वह सामान्य है वह व्यापक भ्रीर नित्य है।

विशेष-समान पदार्थों में भेद की प्रतीति कराना विशेष पदार्थ का काम है।

समव।य—प्रश्नुतसिख पदार्थों में जो सम्बन्ध है उसका नाम समत्राय है। ग्रुगा गुग्री के संबंध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं।

प्रभाव—पूल में ग्रभाव के दो भेद हैं-संसर्गाभाव और प्रन्योन्यामाव । दो वस्तुक्रों में रहने वाले संसर्ग के ग्रभाव को संसर्गाभाव कहते हैं। प्रन्योन्यामाव का मतलब यह है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में ग्रभाव है। संसर्गामाव के तीन भेद हैं, प्रागभाव, प्रघ्वंसाभाव, प्रस्यंताभाव। इनमें प्रन्योन्यामाव जोड़ देने से ग्रभाव के चार भेद होते हैं। वैशिषक दर्शन में वेद को तथा मृष्टि को नैयायिक के समान ही ईश्वर इन्त माना है, परमाणुवाद ग्रय्यात् परमाणु का लक्षस्य, कारस्य कार्य भाव ग्रादि का कथन नैयायिक सरश हो है। प्रमाण संस्था-प्रमाण के तीन भेद माने हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम। वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं प्रमाण में प्रामाण्य पर से घाता है।

मुक्ति का मार्ग—निवृत्ति लक्षणः घर्म विशेष से साधम्य ग्रीर वैधम्यं के द्वारा द्रथ्यादि छह पदार्घी का तत्व ज्ञान होता है ग्रीर तत्व ज्ञान से मोझ होता है।

मुक्ति—बुढि प्रादि के पूर्वोक्त नौ नुर्हों का विच्छेद होना मुक्ति है। ऐसा नैयायिक के समान मुक्ति का स्वरूप इस दर्शन में भी कहा गया है नैयायिक ग्रौर वैशेषिक दर्शन में प्रिषिक साहस्य पाया जाता है, इन दर्शनों को यदि साथ ही कहना हो तो यौग नाम से कथन करते हैं।

#### सांख्य वर्शन

सांख्य २५ तस्व मानते हैं। इन २५ में मूल दो ही वस्तुएं हैं-एक प्रकृति और दूसरा पुरुष १ प्रकृति के २४ भेद हैं। मूल में प्रकृति अ्यक्त और मध्यक्त के भेद से दो भागों में विभक्त है। व्यक्त के ही २४ भेद होते हैं। प्रयांतृ स्थक प्रकृति से महान ( बुद्धि ) उत्पन्न होता है महान से आहंकार, आहंकार से सोलह गए। होते हैं वे इस प्रकार हैं—स्पर्णन, रसना, ध्रारण, चलु ध्रीर कर्ण ये पांच जानेन्द्रियां हैं। वाग, पािण, पाद, पायु, और उपस्व ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। रूप, गम्म, स्पर्ण, रस, शब्द ये पांच तन्मात्राये कहलाती हैं। इस प्रकार ये पण्डह हुए धीर सोलहवां मन है। जो पांच रूप आदि तन्मात्राये हैं उनसे पंचभूत पैदा होते हैं। पृथ्वी, जल, आग्नि, वायु धीर धाकाश। इस प्रकार प्रकृति या ध्रपर नाम प्रधान के २४ भेद हैं, पथ्चीसवां भेद पुरुष है, इसो को जीव धाशासा धानामों से पुकारते हैं। यह पुरुष प्रकृति से सबंबा विपरीत लक्षण बाला है ध्रयांन् प्रकृति में जड़त्व, ध्रविकेत, त्रगुरात्व, विकार धादि धर्म रहते हैं भीर इनसे विपरीत पुरुष में चेतनत्व, विवेक, त्रिगुरात्वीतत्व, अविकारोशव धादि धर्म रहते हैं। यह पुरुष कृतस्व नित्य है, इसमें भोकतृत्व गुरा तो पावा जाता है किन्तु कर्न्द व गूण नहो पाया जाता।

कारण कार्य सिद्धान्त - योग दर्शन से सांस्य का दर्शन इस विषय में नितान्त भिन्न है, वे ग्रसन् कार्य वादी है, ये सत्कार्यवादी हैं। कारण में कार्य मौजूद ही रहता है, कारणद्वारा मात्र वह प्रकट किया जाता है ऐसा इनका कहना है। किसी भी वस्तु का नाश या उत्पत्ति नहीं होती किन्तु तिरोभाव ग्राविभीव (प्रकट होना भीर खिप जाना) मात्र हुग्रा करता है। सत्कार्य बाद को सिद्ध करने के लिये सांस्य पांच हेत् देते हैं—

प्रथम हेतु—यदि कार्यं उत्पत्ति से पहले कारण में नहीं रहता तो असत् ऐसे धाकाश कमल को भी उत्पत्ति होनी चाहिये।

दितीय हेतु—कार्यकी उत्पत्तिके लिये उपादान को ग्रहण किया जाता है जैसे तेल की उत्पत्तिके लिए तिलों का ही बहुण होता है, बालुका का नहीं। तृतोय हेतु—सब कारएों से सब कार्यों को उत्पत्ति नहीं होती है । ऋषितु प्रतिनियत कारए। से ही होती है, अतः कारए। में कार्य पहले से ही मौजूद है ।

चतुर्थ हेतु—समर्थ कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है प्रसमर्थ से नहीं।

: पंचम हेर्नु — यह भी देखा जाता है कि जंसा कारण होता है। वैसा ही कार्य होता है। इस सरह इन हेतुओं से कारण का कार्य में सदा रहना सिंख होता है।

. प्रिष्ट क्रम—प्रकृति (प्रधान) धौर पुरुष के संसर्ग से जगत की मृष्टि होती है। प्रकृति जड़ है। धौर पुरुष निष्क्रिय है। धतः दोनों का संयोग होने से ही सृष्टि होती है। इस सांस्य दर्शन में सबसे बड़ी धादवर्य कारो बात तो यह है कि ये लोग बुढिको (ज्ञान को) जड़ मानते हैं, धात्मा चेतन तो है किन्तु ज्ञान सुन्य है।

प्रमाण संस्था-प्रत्यक्ष, प्रनुमान श्रीर धागम इस प्रकार तीन प्रमाण होते हैं "इंद्रियवृत्ति, प्रमाण मं ' इन्द्रियों के व्यापार को सांख्य प्रमाण मानते हैं। प्रामाण्य वाद के विषय में इनका कहना है कि प्रमासा हो चाहे अप्रमासा हो दोनों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ही आता है। ईश्वर के विषय में इनमें मतभेद है। प्राचीन सांख्य निरीश्वर वादी थे अर्थात् एक नित्य सबं शक्तिमान ईश्वर नामक कोई ब्यक्ति को नहीं मानते थे, किन्त अर्वाचीन सांख्य ने नाम्निकपने का लांछन दर करने के लिये ईव्वर सत्ता को स्वीकार किया। यों तो चार्वाक और मीमांसक को छोड़कर सभी दार्शनिकों ने ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञको स्वीकार किया है। किन्तु जैनेतर दार्शनिकों ने उसको सर्वशक्तिमान, संसारी जीवों के कार्योंका कर्ता आदि विकृत रूप माना और जैन ने उसको धनन्त शक्तिमान. कृतकृत्य श्रीर सम्पूर्ण जगत का जाता दृष्टा माना है न कि कर्ता रूप श्रस्तु। सांख्य ने मुक्ति के विषयों में प्रपनी पथक ही मान्यता रखी है। मृक्ति अवस्था में मात्र नहीं अपित् संसार श्रवस्था में भी परुष (ब्रात्मा) प्रकृति से (कर्मादि से ) सदा मुक्त ही है। बंध और मुक्ति भी प्रकृति के ही होते हैं। पुरुष तो निलेंग ही रहता है। पुरुष भीर प्रकृति में भेद विज्ञान के होते ही-पुरुष प्रकृति के संसर्गजन्य भाष्यात्मिक भाषिभौतिक भौर भादिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से छूट जाता है। प्रकृति (कमें) एक नर्तकी के समान है, जो रंग स्थल में उपस्थित दर्शकों के सामने भपनी कलाको दिखाकर हट जाती है। वह एक बार पुरुष के द्वारा देखे जाने पर पुनः पुरुष के सामने नहीं आती। पृष्य भी उसको देख लेने पर उपेक्षा करने लगता है, इस प्रकार अब सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता ग्रतः मोक्ष हो जाता है, इसलिये प्रकृति ग्रीर पुरुष के भेद विज्ञान को ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष ग्रवस्था में मात्र एक जैतन्य धर्म रहता है। ज्ञानादिक तो प्रकृति के धर्म हैं। ग्रतः मोक्ष में वंशेषिकादि के समान ही ज्ञानादिका ग्रभाव सांख्यने भी स्वीकार किया है।

सर्वज्ञ को नहीं मानने वासे मोमांसक और चार्वाक हैं उनमें से यहां मोमांसक मत का संक्षिप्त विवरस दिया जाता है मीमांसक मत में वेद वाक्यों का म्रथं क्या होना चाहिए इस विषय को लेकर भेद हुए हैं जो 'भाग्निष्टोभेन यजेत'' इत्यादि वेद वाक्य का अर्थ भावना परक करते हैं। उन्हें भाष्ट्र कहते हैं, जो नियोग रूप करते हैं वे प्रभाकर ध्रौर जो विधि रूप ग्रंथ करते हैं वे वेदान्ती कहलें ते हैं। मीमांसक वेद को अपोश्येय मानते हैं। जबकि ईश्वर कर्ता मानने वाले नैयायिकादि दार्शनिक वेद को ईश्वर हुत रबीकार करते हैं। भीमांसक चूंकि ईश्वर सत्ता को नहीं मानते अतः मृष्टि को अनादि निधन मानते हैं। इस जगत का न कोई कर्ता है ध्रीर न कोई हत्ती है। शब्द को नित्य तथा सर्वध्यापक मानते हैं क्योंकि वह नित्य व्यापक ऐसे आकाश का गुण है। शब्द की प्रभिव्यक्ति तालु आदि के द्वारा होती है न कि उत्पत्ति, जिस प्रकार दोषक घट पट आदि का मात्र प्रकाशक (अभि-व्यंजक) है। उसी प्रकार तालु आदि का व्यापार मात्र शब्द को प्रगट करता है, न कि उत्पन्न करता है।

तत्त्व संख्या—मीमांसक के दो भेदों में से भाट्ट के यहां पदार्थ या तत्त्वों की संख्या ४ मानी हैं-द्रव्य, गुएा, कर्म सामान्य श्रीर श्रभाव । प्रभाकर आठ पदार्थ मानता है द्रव्य, गुएा, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, साहत्य श्रीर संख्या । द्रव्य नामा पदार्थ भाट्ट के यहां स्वारह प्रकार का है। पृथ्वी, जल, श्रीन, वाबु, श्राकाश, दिशा, काल, श्रात्मा, मन, तम श्रीर शब्द । इसमें से तम को छोड़ कर १० भेद प्रभाकर स्वीकार करता है।

प्रमाण संस्था—भाटुकी प्रमाण संस्था छः है प्रत्यक्ष, ग्रनुमान, उपमान, ग्रयोगित, प्रागम स्रीर श्रभाव । प्रमाकर स्रभाव को छोडकर पाँच प्रमाण स्वीकार करता है ।

प्रामाण्यवाद—सभी भीमांसक प्रमाणों में प्रामाण्य सर्वया स्वतः ही रहता है ऐसा मानते हैं । स्रामाण्य मात्र पर से ही जाता है। भीमांसक सर्वज को न मान कर सिर्फ धर्मज को मानते हैं स्वयीत् वेद के द्वारा धर्म-प्रथम प्रादि का जान हो सकता है किन्तु इनका साक्षात् प्रत्यक्ष जान नहीं होता है। मुक्ति के विषय में भी भोमांसक इतना ही प्रतिपादन करते है कि वेद के द्वारा घर्म ग्रादि का जान प्राप्त हो सकता है। किन्तु आरमा में सर्वया रागादि दोषों का प्रभाव होना ग्राध्यक्ष हत्या पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष जान होना भी ग्रश्यक्ष है। कोई-कोई भीमांसक दोषों का ग्रभाव ग्राद्य प्रन्यों में स्वांकार करके भी सर्वज्ञता को नहीं मानते हैं, इनके वेद या भीमांसाक्ष्वोक्षवातिक ग्रादि प्रन्यों में स्वांका मार्ग ही विशेष रूपेण विश्वत है। यक्ष, पूजा, जप, भक्ति भादि स्वर्ग गुख के लिये ही प्रतिपादित हैं "ग्रान्वश्रोमन यजेत स्वगंकामः" इत्यादि वाक्य इसी बात को पुष्ट करते हैं। इनका ग्राप्ति क्ये रामांसक दो प्रत्ये हैं। इस प्रकार वेद को वावनेवाले प्रमुख दर्शन नैयायिक, वेदिक्त सांस्य ग्रीर भीमांसक हैं, इनके भावांतर भेद भीर भी हैं जैसे वेदांती शब्दादितवादी, सांकरीय, सास्करीय इत्यादि, इन सवर्ग वेद प्रामाण्यकी मुख्यता है।

#### चार्थाक दर्शन

चार्वाक का कहना है कि न कोई ती थंकर है न कोई वेद या धम है। कोई भी व्यक्ति पदार्थ को तक से सिद्ध नहीं कर सकता। ईश्वर या भगवान भी कोई नहीं है। जीव-पृष्वी, जल, प्रान्त, बायु इन भूत चतुष्टय से उत्पन्न होता है और भरने के बाद शरीर के साथ भस्म होता है, भारा जीवन का लक्ष्य यही है कि—

> यावत् जीवेत् मुखं जीवेत्, ऋरां कृत्वा घृतं पिवेत् । भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमनं कुतः ॥१॥

जब तक जीना है तब तक सुल से रहे। कर्ज करके खूब घी ग्रादि भोग सामग्री भोगे ! क्योंकि परलोक में जाना नहीं, ग्रास्या यह शरीर रूप ही है पृषक् नहीं, शरीर यहीं भस्म होता है उसी के साथ चैतन्य भो समाप्त होता है, पुनर्जन्म है नहीं। चार्वाक के यहां दो ही पुरुषायं हैं अर्थ भीर काम। परलोक स्वयं नरक भादि कुछ नहीं। पुण्य, पाप, षमं, श्रधमं ग्रादि नहीं हैं, जब जीव जनमता है तो पृथ्वी भादि से एक चंतन्य शक्ति पृंदा हो जाती है। जैसे भाटा, गुड़, महुमा ग्रादि से मदिरा में मदक्तरक शक्ति पेदा होती है। यम नामा कोई तत्व नहीं है। जब परलोक में जाने वाला भ्रास्मा ही नहीं है तो थमं किसके साथ जायेगा? वर्म क्या है इस बात को समक्रना भी नतिन है। जीवनका चरम लक्त्य माल ऐहिक मुल्तों होती है। यम प्राप्त हो वार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाग्य मानता है। जिस बस्तु मान भ्रमारा नहीं है तहीं है तो है। जब मार हो नहीं है तहीं है। चेद भी सा हो नहीं है तहीं है, क्योंकि उसमें साध्य और साधन को ब्यान्ति सिद्ध नहीं होती है। जब मारमा हो नहीं है तब सर्वक्र भी कोई नहीं है, न उसके हारा प्रतिपादित घमं है। ज्ञान तो रोरेर का स्वभाव है ग्रास्मा का नहीं, ऐसा इस नास्तिकवादी का कहना है, इसीलिये उसको भीतिकवादी, नास्तिकवादी, लोकायत नामों से पुकारते हैं। वर्तमान में प्राय: प्रधिक संस्था में इसी भौतिक मत का प्रचार है।



# शुद्धि पत्र

da	पंक्ति	<b>यगुढ</b>	शुद
ş	2	दृष्टांता	<b>बृष्टा</b> न्तः
5	१३	होते हैं	होते
११	¥	तरोनापलभ्यते	तत्तेनोपलम्यते
88	₹•	पदार्थके व्यक्तिचरित	पदार्थके साथ व्यभिचस्ति
१६	१०	बतलाइये	बतलाये
१=	१०	एकल	एकस्व
२४	Y	ग्रत्रेवार्थ	<b>भ</b> त्रेवार्षे
२७	२७	(किन्तू)	किम्सु
3 X	3	कर्मति	कर्मे ति
3 €	38	मित्रता	भिन्नता
¥϶	20	हानि है	हानि है, जैसे रत्नादिके ग्रावरणकी हानि देखी जाती है, इस प्रकार
8 \$	28	भीर भ्रत्यंत	भौर उसका भ्रत्यंत
88	٤	प्रस्यात्मकेऽस	प्रचयात्मकेऽर्थे
४६	२३	वंसे ही योगीज्ञान	वैसे ही योगीके ज्ञान <b>का प्रतिबंधक कर्स</b> हटने पर योगीज्ञान
ሂ፡፡	२४	सवंज्ञ सिद्ध	सर्वज्ञपना सिद्ध
६०	११	कात्यायनी ग्रादिके मत का	कात्यावनी भादिके भनुमानके भतिषाय के साथ एवं जैमिनी भादिके
Ęĸ	<b>१</b> •	ज्ञायक	साधक
90	5	नहीं होगा	नहीं मानेगा
€७	9.9	बचालेते	बना लेते
98	6.8	मानसका चूम	महानसका घूम
७६	१⊏	प्रत्यभिकान भी मानना	प्रत्यक्ष ज्ञान भी मानना
3 ج	₹	भम्यास के	अम्यास से
800	<b>१</b> २	तो उसमें भी	तो भी उसमें

प्रमेयकमल	मात्त ण्ड	

ሂ၀		प्रमेयकमल मार्त्त ण्डे		
	-c-		হার	

श्र १६ तथा सफेद झाहि तथा कृष्ण आदि १२४ ११ अनिष्टपाय अनिष्याय १४४ १६ ही तम्मत है ही प्रमूत है १४७ ६ न सदकरणादुपादान मदकरणादुपादान १६६ २२ अविभाव अविनाभाव १६६ २२ अविभाव अविनाभाव १६६ २२ अविभाव अविनाभाव १६६ २२ अविभाव अविनाभाव १६६ २० अतं कर लेते हैं। १८० ११ अर्ग कर लेते हैं। १८० ११ जुणों का होनेसे गुणों का नाश होनेसे १८४ १ परिहाराय परिहारायं १८६२ २७ अविभाव भनका १८० ६ अविभाव भनका १८० ६ अविभाव भनका १८० ६ अविभाव अव्यापि १८३ २७ आत्र अन्यकं आत्र अन्यकं १८४ १० जान हेतु जानका होत्र १८४ १० जान हेतु जानका होत्र १८४ १० जान हेतु जानका समत्व १८४ १० जान समत्व जानका समत्व १८४ १० जान हेतु जानका समत्व १८४ १० जान समत्व जानका समत्व १८४ १० जान हेतु जानका समत्व १८४ १० जान समत्व जानका समत्व १८४ १० जान हेतु जानका समत्व १८४ १० जान समत्व जानका समत्व १८४ १० जान समत्व जानका समत्व १८४ १० जान समत्व जानका समत्व १८४ १० जान होते जानका समत्व १८४ १० जान होते जानका समत्व १८४ १० जानका समत्व १८४ १० जानका समत्व १८४ १० जानका समत्व १८४ विभाव पुष्प योद्य पाय १८४ १० जानका समत्व	98	पंक्ति	মন্ত	शुद्ध
१२४ ११ प्रिनष्टपांच प्रतिष्यांच   १४४ १६ ही प्रसृत है ही प्रसृत है १४७ ६ न सदकरएादुपादान मदकरएादुपादान १६६ २२ प्रतिमान प्रतिवाभाव १६६ २२ प्रतिवद्ध साम्प्यं प्रतिव्ध स्थ स्थ साम्प्यं प्रतिव्ध साम्प्यं प्रतिव्ध स्थ साम्प्यं प्रतिव्ध साम्प्यं साम्प्यं प्रतिव्ध साम्प्यं साम्प्यं साम्प्यं प्रतिव्ध साम्प्यं साम्प्यं प्रतिव्ध साम्प्यं प्रतिव्ध साम्प्यं साम्प्यं प्रतिव्ध साम्प्यं साम्पं साम्प्यं साम्पं साम्यं साम्पं सामं साम्पं सामं सामं सामं सामं सामं सामं सामं साम	•	38	तथा सफेद ग्रादि	तथा कृष्ण ग्रादि
१४५         १६         ही प्रमुत है         हो प्रमुत है           १४७         ६         न सदकरएणादुपादान         मदकरएणादुपादान           १६६         २२         प्रविवास प्रमुद्ध         प्रतिवृद्ध सामध्ये         प्रतिवृद्ध सामध्य सा		2.5	श्रनिष्टपाद्य	ग्रनिष्पाद्य
१५७         ६         न सदकरएादुणदान         मदकरएादुणदान           १६६         २२         प्रविमान         प्रविनामान           १८६         १५         सरामी भी         सरामी भी         हैं           १८८         २         प्रतिबद सामध्ये         प्रतिवृत सामध्ये           १८३         २७         प्रत कर लेते हैं।         प्रताराय कर लेते हैं।           २००         ११         पुणें का होनेसे         पुणों का नास होनेसे           २०५         १         परिहाराय         परिहारार्थ           २०५         १         प्रयाज स्व           २१०         श्रम्य जम्यके         प्रवाप           २१०         श्रम्य जम्यके         प्रवाप           २१०         श्रम्य जम्यके         प्रवाप           २१०         श्रम्य जम्यके         प्रावम्य अव           २१०         श्रम्य जम्यके         प्रान्य स्व           २१०         श्रमा समस्य         जानका स्व           २१०         श्रमा समस्य         प्रानियमें           २३०         भे सित्य—         प्राम्य           २४०         श्रोम किक्ट         प्राम्य           २००         श्री किक्ट         प्राम्य           २००         प्राम्य         प्राम्य           २००	-		ही प्रस्त है	ही प्रसूत है
१६६         २२         प्रविभाव         प्रविनामाव           १८८         १४         सरागी भी         सरागी भी हैं           १८८         २०         प्रतिबद सामध्ये         प्रतिवृत सामध्ये           १८६         २०         प्रत कर लेते हैं।         प्रताय कर लेते हैं।           २००         ११         गुणों का होनेते         पुणों का नाय होने से           २००         ११         परिहाराख         परिहाराई           २००         २०         भवका         मनका           २१०         १०         भाव स्थान्य         भाव प्रत्य           २१०         १०         भाव स्थान्य         भाव स्थान्य           २१०         १०         आत स्थान्य         आतम्य स्थान्य           २१०         १०         आत स्थान्य         मान स्थान्य           २१०         १०         आत स्थान प्रत्य         मान स्थान प्रत्य           २१०         १०         आत स्थान प्रत्य         मान स्थान प्रत्य           २१०         १०         आत स्थान प्रत्य         मान प्रत्य           २१०         १०         भात स्थान प्रत्य         भात प्रत्य           २००         १०         भात स्थान प्रत्य         भात प्रत्य           २००         १०         भात स्थान प्रत्य         भात प्रत्य     <		Ę	न सदकरणादुवादान	मदकर <b>गा</b> दुपादान
१६६ २ प्रतिबद्ध सामय्यं प्रतिहृत सामय्यं १६३ २७ ग्रंत कर लेते हैं। ग्रंतराय कर लेते हैं। २०० ११ गुणों का होनेसे गुणों का नाश होनेसे २०० ११ गुणों का होनेसे गुणों का नाश होनेसे २०४ १ परिहाराय परिहारायं २०० २६ भवका मनका २१० ६ ग्रंपादि ग्रंपापि २१० ६ ग्रंपादि ग्रंपापि २१३ २७ ग्रंपादि ग्रंपापि २१३ १० ग्रांप कर्मके प्रत्य प्रत्यके २१४ १० ग्रांप हेतु जानका हेतु २१४ १० ग्रांप हेतु जानका हेतु २१४ १० ग्रांप हेतु जानका हेतु २१४ १० ग्रांप ससःव जानका हेतु २१४ १० ग्रांप ससःव जानका हेतु २१४ १० ग्रांप ससःव ग्रांप प्रांपापि २३० ४ सेन्द्रिय— सहिन्द्र्य— २४१ १२ ग्रांद ग्रंपापा २३० १६ ग्रांप विकल्प्य २६० २३ ग्रेप विकल्प्य २६० ६ ग्रंपा २०० ग्रेप पापा जाता है ] तक निरस्त समफें। ३०० ६ ग्रंप स्थाप प्रमाणका	-	२२	ग्रविभाव	ग्रविनाभाव
१६३ २७	१=१	१५	सरागी भी	•
२०० ११ नुणों का होनेसे पुणों का नाश होनेसे २०४ १ परिहाराय परिहारार्थ २०० २६ भवका मनका २१० ६ भ्रषादि मनका २१० ६ भ्रषादि मनका २१० ६ भ्रषादि मनका २१० १ मानका म्रात्य मनका २१४ १ मानका मनका मनका २१४ १ मानका मनका २१४ १० मान हेतु मानका मनवा २१४ १० मानका मनवा २१४ १० मानका मनवा २१४ मानको मनवा २१० १० मोनका २१० १० मोनका २०० ६ मानका	१८८	2	प्रतिबद्ध सामर्थ्य	
२० १ परिहाराथ परिहारार्थ २० २६ भवका मनका २१० ६ प्रघादि छद्यापि २१३ २७ झन्य जन्यके मन्य प्रन्यके २१४ १ ज्ञानस्यान्तरभव ज्ञानस्यान्तरभव २१४ १० ज्ञान हेतु ज्ञानका हेतु २१४ १० ज्ञान हेतु ज्ञानका हेतु २१४ १० ज्ञान स्वतः ज्ञानका स्वतः २१० ४ खोत्रय— सहित्य— २१० १० ज्ञानियों प्रनित्यों २१० १० ज्ञानका पुरुषके २१० १० ज्ञानका पुरुषके २१० १० चोत्रय पुष्प योग्य पाप २०० २३ ज्ञोर विकल्प प्रोर विकल्प्य २६० २० पंक्ति २० के अंतिम वाक्य, [प्रतः यहां] से लेकर २२ वीं पंक्ति के	£39	२७	श्रांत कर लेते हैं।	श्रंतराय कर लेते हैं।
२०	२००	११	गुणों का होनेसे	गुग्गों का नाश होने <b>से</b>
२१० ६ श्राचि श्रद्यापि ११३ २७ श्राच्य जन्मके श्राच्य ध्राच्य ध्राच ध्राच्य ध्राच ध्रा	२०५	8	परिहाराथ	परिहारार्थ
२१३ २७ झन्य जन्मके भ्रत्य भ्रत्यके २१४ १ जानस्यान्तरागव जानस्यान्तरागव २१४ १० जान हेतु जानका हेतु २१४ १० जान हेतु जानका हेतु २१४ १० जान हेतु जानका झसत्व २१८ ४ हुष्टिनोस्त्रीवद् कुर्ट्टिनोस्त्रीवद् २१४ १४ भ्रानित्यमें भ्रीन्यमें २३० ४ तेन्द्रिय— स इन्द्रिय— २४१ १२ श्राद यदि २४१ १६ भ्रात्मा का युद्धके २४१ १६ भ्रात्मा का युद्धके २०१ १८ योग्य पुष्य योग्य पाप २०० २३ और विकत्य भ्रीर विकत्य्य २६२ २० पंकि २० के अंतिम वाक्य, [श्रदः यहां] से लेकर २२ वीं पंक्ति के भ्रातम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समभें। ३०० द इत्युक्यानं इत्युपसंस्थानं ३१३ २४ प्रमारा प्रमाराका	२०८	२६	भवका	<b>म</b> नका
२१४ १ ज्ञानस्थान्तराभव ज्ञानस्थान्तराभव २१४ १० ज्ञान हेतु ज्ञानका हेतु २१४ १० ज्ञान हेतु ज्ञानका छत्। २१४ ११ ज्ञान ससस्य ज्ञानका प्रसस्य २१८ ४ जुडिनोस्त्रीवद् जुन्ट्नोस्त्रीवद् २१४ धानिस्थमें प्रनिद्यमें २३० ४ सेन्द्रिय— स इन्द्रिय— २४१ १२ ध्रदि यदि २४१ १६ धास्मा का युह्यके २७१ १८ योग्य युष्य योग्य पाप २०० २३ धौर विकल्प धौर विकल्प्य २०० २३ धौर विकल्प आहेत्यां ज्ञानस्थ ज्ञानस्थ ज्ञानस्थ ज्ञानस्थ उत्पर्वस्थानं ३०० ८ इत्युष्यां इत्युषस्थानं ३१३ २४ प्रमारण प्रमारणका	280	3	श्रघादि	ग्रदापि
२१४ १ ज्ञानस्यान्तराभव ज्ञानस्यान्तराभव २१४ १० ज्ञान हेतु ज्ञानका हेतु २१४ ११ ज्ञान ससस्य ज्ञानका अधस्य २१८ ४ कुष्टिनोस्त्रीवद् कुर्ट्टिनोस्त्रीवद् २१४ १४ ज्ञानिस्यमें अनित्यमें २३० ४ सेन्द्रिय— स इन्द्रिय— २११ १२ अदि २१३ १६ ज्ञास्मा का पुरुषके २७१ १६ प्रोस्मा का पुरुषके २७१ १६ प्रोस्मा का पुरुषके २०१ १६ प्रोस्मा का पुरुषके २०१ १६ प्रोस्मा का प्रमार विकल्प्य २०० २३ और विकल्प और विकल्प्य २६३ २० पंक्ति २० के अंतिम वाक्य (ज्ञात खाता है) तक निरस्त समफ्रें। ज्ञानम्' ज्ञानम्' ३०० ६ इत्युषस्थानं ३१३ २४ प्रमारण प्रमारणका	₹₹₹	२७	ग्रन्य जन्यके	ग्रन्य ग्रन्यके
२१ ४ वान प्रसस्य ज्ञानका श्रमस्य २१८ ४ कुष्टिनीस्त्रीवद् कुरिट्नीस्त्रीवद् २२४ १४ ज्ञानिस्यमें ज्ञानस्यमें २३० ४ तेन्द्रिय— स इन्द्रिय— २४१ १२ श्रदि यदि २४१ १६ ज्ञास्मा का पुरुषके २७१ १८ योग्य पुष्य योग्य पाप २८० २३ ग्रीर विकल्प ग्रीर विकल्प्य २८३ २० पंकि २० के अंतिम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समर्भे । ज्ञातम् ज्ञानम् ज्ञानम् ज्ञानम् । ३०० ८ इत्युषस्थानं इत्युषस्थानं ३१३ २४ प्रमारण प्रमारणका		8	ज्ञानस्यान्तराभव	ज्ञानस्यान्त <b>रभ</b> व
२१ ४ कुष्टिनीस्त्रीवद् कुर्टिनीस्त्रीवद् २२४ १४ प्रानित्यमें प्रनित्यमें २३० ४ तेन्द्रिय— स इन्द्रिय— २४१ १२ श्रदि यदि २४१ १२ श्रदि यदि २४१ १६ यात्मा का पुस्पके २७१ १६ योग्य पुष्प योग्य पाप २६० २३ प्रोर विकल्प प्रोर विकल्प्य २६३ २० पंक्ति २० के अंतिम वाक्य [ श्रदः यहां ] से लेकर २२ वीं पंक्ति के प्रतिम वाक्य [पाया जाता है ] तक निरस्त समभें । २६६ ५ जातम्" जानम्" ३०० ६ इत्युषस्थानं इत्युषसंश्यानं ३१३ २४ प्रमारण प्रमारणका	288	80	ज्ञान हेतु	ज्ञानकाहेतु
१२४ १४ आतित्थमें अनित्यमें २३० ४ तेन्द्रिय— स इन्द्रिय— २५१ १२ अदि यदि २५१ १६ आहमा का पुरुषके २७१ १८ योग्य पुष्य योग्य पाप २०० २३ और विकल्प और विकल्प २०३ पैक्त २० के अंतिम वाक्य [आतः यहां] से लेकर २२ वीं पंक्ति के अंतिम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समभें। २०० ८ इत्युपक्यानं इत्युपसंख्यानं ३१३ २५ प्रमारण प्रमारणका	२१५	8 8	ज्ञान ग्रसत्व	ज्ञानका <b>ग्रस</b> त्व
२३० ४ तेन्द्रिय— स इन्द्रिय— २५१ १२ श्रदि यदि २५१ १६ श्रादम का पुस्पके २५१ १६ योग्य पुष्प योग्य पाप २५० २३ ग्रीर विकल्प ग्रीर विकल्प्य २५३ २० पंक्ति २० के अंतिम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समफें। २५६ ५ जातम्" जानम्" ३०० ६ इत्युषक्यानं इत्युपसंक्यानं ३१३ २५ प्रमारण प्रमारणका	२१=	¥	कुष्टिनीस्त्रीवद्	- 1
२५१ १२ श्रदि यदि २५१ १६ याःमा का पुस्पके २५१ १६ याःमा का पुस्पके २५१ १६ योग्य पुष्प योग्य पाप २६० २३ ग्रीर विकल्प प्रीर विकल्प्य २६३ २० पंक्ति २० के अंतिम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समफें। २६६ ५ जातम्" जानम्" ३०० ६ इत्युषक्यानं इत्युषसंक्यानं ३१३ २५ प्रमारण प्रमारणका	228	18	<b>भा</b> नित्य <b>में</b>	
२५१     १२     श्रदि     यदि       २५३     १६     ग्रामा का     पुरुषक       २७१     १८     योग्य पुष्प     योग्य पाप       २८०     २३     ग्रोर विकल्प     ग्रोर विकल्प       २८३     पंक्त २० के अंतिम वाक्य, [ग्रदा: यहां] से लेकर २२ वीं पंक्ति के       ग्रातम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समभें।       २८८     १     जातम"       ३००     ८     इत्युपक्यां व्यप्तसंत्र्यां व्यप्तसंत्र्यां व्यप्तसंत्र्यां व्यप्तसंत्र्यां व्यप्तसंत्र्यां प्रमाएका	230	¥	सेन्द्रिय	स इन्द्रिय
२०१ १८ योग्य पुण्य योग्य पाप २०० २३ और विकल्प और विकल्प्य २० २३ और विकल्प और विकल्प्य २०३ पंक्ति २०के अंतिम वाक्य, [अतः यहां] से लेकर २२ वीं पंक्ति के अंतिम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समफ्रें। २०८ ५ जातम्" जानम्" ३०० ६ इत्युपक्यानं इत्युपसंख्यानं ३१३ २४ प्रमारण प्रमारणका		१२	ग्रदि	यदि
२६० २३ प्रीर विकल्प प्रीर विकल्प्य २६३ २० पंक्ति २० के अंतिम वाक्य, [प्रतः यहां] से लेकर २२ वीं पंक्ति के अंतिम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समफ्रें। २६६ ५ जातम्" जानम्" ३०० ६ इत्युपस्थानं इत्युपसंस्थानं ३१३ २४ प्रमारण प्रमारणका	२४३	39	ग्रात्मा का	पूरुषके
२८३ २० पंक्ति २० के अंतिम वाक्य, [ब्रजः यहां] से लेकर २२ वीं पंक्ति के अंतिम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समर्भे । २८८ ५ जातम् जानम् जानम् । ३०० द इत्युषस्थानं इत्युषसंस्थानं ३१३ २५ प्रमाण प्रमाणका	२७१	१=	योग्य पुण्य	योग्य पाप
श्रंतिम बाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समर्भे । २८६ ५ जातम्" ज्ञानम्" ३०० ८ इत्युपस्थानं इत्युपसंस्थानं ३१३ २५ प्रमाएा प्रमाएका	250	23	ग्रौर विकल्प	भ्रौर विकल्प्य
२८८ ५ जातम्'' ज्ञानम्'' ३०० द इत्यूपस्थानं इत्यूपसंस्थानं ३१३ २५ प्रमास प्रमासका	२८३	२०	पंक्ति २० के अंतिम	वाक्य, [ग्रतः यहां] से लेकर २२ वीं पंक्ति के
३०० द इत्युषस्थानं इत्युषसंस्थानं ३१३ २४ प्रमाएा प्रमाराका			<b>ग्रं</b> ति	तम वाक्य [पाया जाता है] तक निरस्त समभें।
३१३ २४ प्रमास प्रमासका	२८६	x	ज्ञातम्"	ज्ञानम्''
	₹00	5	इत्यु प <b>रू</b> या नं	डत् <b>युपसं</b> रूया <b>नं</b>
३१४ = प्रतिपत्तिदाङ्य प्रतिपत्तिदाङ्य	₹₹₹	२×	प्रमाग	प्रमासका
	₹१¥	5	प्रतिपत्तिदाङ्ख	प्रतिप तिदाक्यं

ás	पंक्ति	<b>च</b> शुद्ध	<b>गुढ</b>
३२१	₹ \$	तीन रूप	तीन रूपोंसे
330	8	दुपयुक्तफलवत्	दुपभुक्तफलवत्
333	8	म्राध्यक्षागमयोः	प्रध्यक्षागमयो:
३३४	१३	वैकल्प	वैकल्य
388	२६	<b>मागमक</b>	भगमक
<b>३</b>	28	ग्रन्यथा	भ्रयवा
३६८	ĸ	पतिपत्तव्यं	प्रतिपत्तव्यं .
३७२	88	प्रमास धर्मीके	प्रमारण सिद्ध धर्मीक
३७४	१६	साध्य विनाभावी	साध्याविनाभावी
३८७	२०	बाष्यसन्निकर्षादि	सन्निकर्षादि
362	२४	पहले ज्ञान	पहलेका ज्ञान
800	Ę	परिसामीति	परिसामी
800	<b>२२</b>	परिसामी	परिगामीति
४०२	<b>?</b> -	भरिएस्तत एव ॥६६॥	भरिएः प्राक्तत एव ॥६१॥
808	२४	भरिएास्तत एव ॥६८॥	भरिएाः प्राक्तत एव ॥६१॥
838	3 \$	श्रपीरुवेय श्रथया	ग्रपीरुपेय है ग्रथवा
348	8	पतिपत्ति	प्रतिपत्ति
860	80	उसका सामान्यका	उस सामान्यका
४६३	3	सवितंकोप्येकेन	सवित कोप्येकेन
४६६	×	उद्ध्वंवृत्ति	<b>ऊ</b> ष्वं वृत्ति
8=0	3	खंगे	लड्गे
855	१६	वृद्धि	बुद्धि
838	8 8	नहीं होता ऐसा	नहीं होता तो कफांश के विषय में
			भी ऐसा
883	5	तस्यात्मभूपः	तस्यात्मभूतः
₹ 8 3	११	हमेशा उक्त	उक्त
x 3 o	39	वयोंकि ज्ञापक ग्रयीत् प्रतीतिका	क्योंकि ज्ञापकके निरुचयकी ग्रापेक्षा
		हेतुनहीं हो सकता जो निश्चय	
		रूप हो।	

६४२	प्रमेयकमल मार्स	ण्डे

ás	पंक्ति	<b>म</b> शुद्ध	शुद्ध
* \$ \$	25	सम्बद्ध	संबंध
Ø€¥	28	फिर भागे	फिर ग्रगो
XXX	२४	प्रतिसिद्ध	प्रतिषिद्ध
**	99	भाव तो भी	भावभी
240	Ę	एतेषां मध्य	एतेषा मध्ये
*07	₹\$	वाच्य	वाक्य
¥=8	40	स्पष्टकरण	स्पृष्टकरगा
XZX	२६	विद्यमान	ग्रविद्यमान
X E &	X	स्यात्मनस्याभिषाना	स्यात्मनस्तथाभिधाना
प्रद	२४	विकुहित	विकृटि्टत
६२३	20	श्रथस्येव	ग्रथंस्येव
६२६	₹€	मेनार्था	मेनार्थ
€30	8	श्रप्रेत प्रतिबधक	<b>अ</b> पेतप्रतिबंधक
६३०	20	<b>भ</b> प्रयोजक	अप्रयोजक हेतु

